"IT IS A REPRODUCTION OF EARLIER EDITION OF BENGALI SCRIPT PUBLISHED IN THE YEAR 1933"

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् *

श्रीमद् महाकवि श्रील-कविकर्णपूर गोस्वामि प्रभुपादविरचितः

श्रीश्रीमदलङ्कारकौस्तुभः

श्रीहरिदास शास्त्री

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

श्रीमन् महाकवि श्रील-कविकर्णपूर गोस्वामि विरचितः

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभः

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य्य,

काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क

वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन

श्रीहरिदासशास्त्रिणा

सम्पादित ।

सद्ग्रन्थ प्रकाशक

श्रीहरिदास शास्त्री

श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस ※ श्रीहरिदास निवास

कालीदह, वृन्दावन, जिला-मथुरा

(उत्तर प्रदेश) पिन-२८११२१

मुद्रक—प्रकाशक

श्रीहरिदास शास्त्री

श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस * श्रीहरिदास निवास

कालीदह, वृन्दावन, जिला-मथुरा (उ० प्र०)

पिन २८११२१

प्रकाशन तिथि—२३-२ ८६

"If any defect is found in this book, please return the copy by V P P to the Publisher for exchange free of cost or postage"

प्रथम संस्करण—१०००

"This publication has been brought out with Financial assistance from Government of India Ministry of Human Resource Development"

Price Rs 77— (Rupees Seventy Seven only)

प्रकाशन सहायता—७७ ००

* श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयत *

विज्ञप्ति:

कलियुग प वन स्व भजन विभजन प्रयोजनावतार श्रीश्रीभगवच्छ्रीकृष्ण चत य महाप्रभु कृपालब्ध कवित्व शक्ति सम्पन्न श्रीकवि कणपूर गोस्वामी रचित श्रीमदलङ्कार कौस्तुभ नामक अ वर्थनामा अनवद्य ग्र थ प्रकाशित हुआ।

परमान द सेन' कवि कणपुर का पूवनाम है, पुरीदास नामसे भी आप ख्यात हैं। श्रीमन् महाप्रभु प्रदत्त नाम ही कणपूर है। श्री चै यचरितामृत ग्रन्थक आदि १०।८२ मे उक्त है।

"चतन्यदास, रामदास, आर कणपूर। शिवान देर तीन पुत्र प्रभुर भक्तशूर"

आप का ज म—१५२४ खृष्टाब्द मे काञ्चन पल्ली–काचडापाडा नामक वङ्ग प्रदेश मे हुआ था। १४९४ शकाब्द मे इ होने श्रीचत यच द्रोदय नाटक की रचना की उसके चार वत्सर के पश्चात् 'श्रीगौर-गणोद्द शदीपिका' नामक ग्र थ प्रणयन किया, एव क्रमश आनन्दवृ दावन चम्पू, श्रीचैत य चरितमहाकाव्य, आर्य्याशतक कृष्णा ह्निक कौमुदी अलङ्कार कौस्तुभ, श्रीमद् भागवत के दशमस्क ध की टीका, श्रीचैत य सहस्रनाम स्तोत्र प्रभृति ग्र थो की रचना की। पद्यावली साहित्य रचना मे भी आपका दान अनवद्य है।

सात वत्सर वयस के समय सस्त्रीक शिवान द सेन जिस समय पुत्र परमानन्द सेन को पुरीधाम में अवस्थित श्रीचत य महाप्रभु के समीप मे उपस्थित किये थे उस समय आपने श्रीमन् महाप्रभु के पदाङ्गुष्ठ लेहन कर अपूव कवित्व पूण एक श्लोक का विरचन इस प्रकार किया।

"श्रवसो कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनरमणीना मण्डनमखिल हरिर्जयति॥

चत य चरितामृत ग्रन्थक अन्त्य १६।१७-७५ मे लिखित है—'आर दिन प्रभु कहेन पड पुरीदास' एक श्लोक करि तिँहो करिला प्रकाश, सात वत्सरेर शिशु, नाहि अध्ययन। ऐछे श्लोक करे लोके चमत्कृत हन।"

रस मात्र मे ही काव्य का वशिष्ट्य है, श्रीकृष्ण भक्ति विज्ञ व्यक्तिवृ द उस रस को प्राकृत रस एव भगवद् विषयक रस रूप मे विभक्त करते हैं।

"प्राकृत विषया भगवद्विषया श्चास्मिन् मता भेदा।
पूर्वे पुरुबीभत्सा स्फुटमपेर सवशर्म दातार।
श्रीमद् भागवताख्य पञ्चमवेद प्रमाण हि॥

यथा—न यद्वचश्चित्र पद हरेर्यशो जगत् पवित्र प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद् वायस तीथमुशन्ति मानसा न यत्र हसा निरमन्त्युशिकक्षया।
नून दवेन निहता ये चाच्युतकथासुधा।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथा पुरीषमिव विड्भुज॥

त्वक् श्मश्रु, रोमनख केशपिमद्धमन्त मांसास्थिरक्तकृमिविटकफपित्त वात ।
जीवच्छव भजति कान्तमतिर्विमूढा याते पदाब्ज मकरन्दमजिघ्रती स्त्री ।।
निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तम श्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् । इत्यादि ।
तत् काव्य पु वदुद्दिष्ट दोषाद् दुष्ट गुणाद् गुणि ।
अलङ्कारादलङ्कारि क्रुराद दोषाद् विनश्यति ।
रसा भागवतास्तेतु विज्ञातव्या रसामृतात्
ते गम्या व्यञ्जनावृत्या यागम्या शब्दवृत्तिषु ।।"

प्राकृत मे रस शब्द से निबिड बीभत्स रस का बोध होता है । किन्तु श्रीभगवद् विषयक रस तो प्राणि मात्र मे आत्मीय बुद्धि उत्पन्न कर परम कल्याण प्रदान करता है, इस विषय मे पञ्चम वेद स्वरूप श्रीमद् भागवत ही प्रमाण है । उक्त है—

सव सुलक्षणान्वित हृदय हारिणी वाणी भी यदि श्रीहरि के यश वणन मे प्रवृत्त नही होती है तो, उसको वायस तीर्थ कहते हैं । उच्छिष्ट गर्त्त मे काक की प्रवृति होती है, किन्तु कमनीय मानस सरोवर मे विहरण रत हसगण उसका सेवन नही करते हैं । अर्थात् समदर्शी श्रीहरि के गुण वणन रत मन कभी भी मासलनायिका वर्णन मे लुब्ध नही होता है ।

सव जन हित कारिता मे जो हित है, वह हित दु खद कृत्रिम भोग्यास्पद विषय सेवन से नही हाता है । अतएव कथित है—जो लोक विड्भोजन कारी पशु के समान असत् वार्त्ता को सुनते रहते है, उन सब को दवने विनष्ट किया है, जानना होगा, कारण सर्वजन हितकर अमृतमय अच्युत की चरित्र कथा को परित्याग उ होने किया है ।

प्राकृत मे आरोपित नश्वर का त कान्ता बुद्धि के द्वारा रसास्वादन होता है, किन्तु विवेकी व्यक्ति का कथन है—स्त्री वृन्द, त्वक श्मश्रु, रोम, नख केश युक्त, मास अस्थि रक्त, कृमि, विट, कफ, पित्त, एव वायु पूण जीवित शव का भजन का त मति से करती रहती हैं, वे सव ही विमूढा हैं, किन्तु जिन्होने श्रीहरि के चरणार विन्द की सुगन्ध को प्राप्त किया है, वे वसा नही करती हैं ।

पशु हत्याकारी निर्दय व्यक्ति एव आत्मघाती व्यक्ति को छोडकर उत्तम श्लोक के गुणानुवाद से कोई भी व्यक्ति विरत नहीं होता है, क्योकि तृष्णा शून्य व्यक्तिगण उसका गान करते है । और वह गुणानुवाद भवौषध होते हुये भी मन श्रवण को मुग्ध करता है ।

मानव शरीर के समान मानव रचित क व्य भी दुष्ट होता है, और गुणो से गुणी होता है, अलङ्कार से अलङ्कृत होता है, अ यथा क्रूरनादि दोष से वह व्यक्ति विनष्ट हो जाता है । रस शब्द से भागवत रस को ही कहा जाता है, उसका परिज्ञान भक्ति रसामृतसिन्धु से करना आवश्यक है, रस का जो अश शब्द सङ्केत से ज्ञात नही हाता है, उसका परिज्ञान भी व्यञ्जना वृत्ति से होता है ।

'विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद्रसनिष्पत्ति " भरत मुनिकृत इस सूत्र के अनुसार रस प्रक्रिया का वणन हुआ है । विभावयत्युत्पादयतीति विभाव , कारणम्, अनुपश्चात भावो भवन यस्य सोऽनुभाव

कारणम्, विशेषेण आभिमुख्येन चरितु शील यस्येति व्यभिचारी सहकारी एतेषां सयोगाद् सम्ब धाद् रसस्य निष्पत्ति रभिव्यक्ति कार्य कारण सहकारित्वेन लोके या रस निष्पत्ति सामग्री सब काव्ये नाट्ये च विभावादि व्यपदेशा भव तीति सम्प्रदाय । कारणमत्र- निमित्तम् ।

विभावानुभाव एव सञ्चारिभाव के सयोग से अर्थात् सम्ब ध से रस निष्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति - साक्षात् कार होता है। लोक मे कार्य कारण सहकारी शब्द से जिस को कहा जाता है, काव्य नाट्य मे उसी को विभाव अनुभाव व्यभिचारी कहते हैं।

आलम्बन उद्दीपन भेद से विभाव द्विविध हैं, स्थायिभाव के आश्रय को आलम्बन विभाव, एव जो उसको उद्दीप्त करता है, उसको उद्दीपन विभाव कहते हैं।

एभिरेव व्यञ्जकैस्तु त्रिभिरुद्रेकमागतं ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भाव स्थायी रसायते ॥

व्यञ्जक जो विभाव अनुभाव एव व्यभिचारिभाव है, ये तीन उद्रिक्त होकर आस्वादाङ्कुर के बीज स्वरूप स्थायिभाव को रसरूप मे परिणत करते हैं। अतएव वे सब रस के प्रति कारण नहीं हैं, कि तु रसाभि यक्ति के प्रति कारण हैं। स्थायी की नित्यता हेतु उसके परिणाम स्वरूप रस को भी नित्यता सिद्ध है। स्थायिभाव का निरूपण यह है—

आस्वादाङ्कुर क दोऽस्ति धम कश्चन चेतस ।
रजस्तमोभ्या हीनस्य शुद्ध सत्त्वतया सत ॥
स स्थायी कथ्यते विज्ञ विभावस्य पृथक्तया
पृथग् विधत्व यात्येषा सामाजिकतया सताम् ॥

रजोगुण एव तमोगुण रहित शुद्ध सत्त्व नाम से अभिहित चित्त का एक धम ही स्थायिभाव है, रज स्तमोगुण से रहित होने के कारण सामाजिक गण अविद्या रहित होते हैं। अतएव उन सबके शुद्ध सत्त्व भी माया वृत्ति नहीं है, किन्तु चिद्रूप ही है, उन सब का रसास्वाद तत्तद्धम निष्ठ होने पर भी ह्लादिनी शक्ति की आनन्दात्मक वृत्ति ही है। किन्तु जडात्मक नही है। कारण जड परिणाम स्वरूप कभी भी आनन्द स्वरूप हो ही नहीं सकता।

स्थायिभाव एक होने पर भी आलम्बन उद्दीपणात्मक विभावद्वय के भेदसे स्फटिक जवाकुसुम न्यास से विभिन्नाकार होते है, इस प्रकार स्थायि रूप धम- प्रपञ्चा तर्गत सामाजिक का रसास्वादक होता है। किन्तु भगवत् पाषद वृ द का वा भगवत् पाषद के अनुगत साधक वृ द का रसास्वादक नहीं होता है, उन सब मे स्वत सिद्ध जो सब स्थायिभाव हैं, वे ही रसास्वादक होते हैं।

स्थायिभाव अष्टविध है, काव्य प्रकाश के मत मे निर्वेद को स्थायिभाव मान कर शा त रस नामक नवम रस होते हैं भोजराज के मत मे वत्सलता एव प्रेम को मानकर एकादश रस होते हैं, वात्सल्य मे ममकार, एव प्रेम मे चित्त द्रव स्थायी है। अतएव रसज्ञ व्यक्तिगण दृश्य एव श्रव्य काव्य मे एकादशविध रस को मानते हैं। भक्ति रसामृत सिन्धु कारके मतमे मुख्य गौण भेद से द्वादशविध रस हैं।

शृङ्गारे रतिरुत्साहो वीरेस्याच्छोक विस्मयो।

करुणाद् भुतयो र्हासो दास्यभीति र्भयानक ।
जुगुप्सा बीभत्स सञ्ज्ञे कोपो रौद्रेऽप्रनाटचगा ।।

चित्त रञ्जक धम विशेष को रति कहते हैं, वह सुखभोग का आनुकूल्य करती है। उक्त चित्त रञ्जकता-प्रीति मत्री, सौदाद्द एव भाव शब्द से अभिहित होती है।

प्रधानत वह द्विविध हैं, सम्प्रयोग विषया, एव असम्प्रयोग विषया, उसके मध्य मे सम्प्रयोग विषय को रति शब्द से एव असम्प्रयोग विषय को प्रीति शब्द से कहते हैं। यहा स्त्री पुरुष व्यवहार को बुधगण सम्प्रयोग कहते हैं। सखा की पत्नी मे एव पति के सखा मे जो चित्त रञ्जकता है, उसको प्रीति कहते हैं। जिस प्रकार द्रौपदी एव श्रीकृष्ण को पारस्परिक प्रीति है, स्त्री गण की सखी के सहित एव पुरुष गण की सखा गण के सहित उक्त प्रीति को मत्री कहते हैं।

रति श्चेतो रञ्जकता सुखभोगानुकूल्यकृत् ।
सा प्रीति मैत्री सौहार्द्द भाव सञ्ज्ञा स गच्छति।
सम्प्रयोग स्त्री पुरुष व्यवहार सता मत ।
असम्प्रयोग विषया सैव प्रीति निगद्यते।
सैव चेतो रञ्जकता।
सखि पत्न्या पतिसखे द्रौपदी कृष्णयोर्यथा ।
द्वयो सखीषु सखिषु सैव मैत्री निगद्यते ।
द्वयो स्त्री पुरुषयो स्त्रीणा सखीषु पुरुषाणा सखिषु।
मनोवृत्तिमयी प्रीति मैत्री स्पर्शादि कोचिता ।
निर्विकारा सदकभासा सौहार्द्द मितीष्यते ।

देवता विषयक रति को भाव कहते है।

"सैव देवादि विषया रतिर्भवश्च कथ्यते"

वह चित्त रञ्जकता के विषय देवता, गुरु प्रभृति होने से भाव शब्द से अभिहित होती है। श्रीकृष्ण के प्रति देवत्व सव व्यापकत्व रूप से जो चित्त रञ्जकता रति है। वही भाव है, यही भक्ति रस होगा।

रति के अन नर श्रवण कीर्त्तनादि भजन पुन पुन होने से रति का जो उत्कष होता है, वह प्रथम पाक से भाव रूप मे परिणत होता है। यहा पाक शब्द से पुन पुन भजन को जानना होगा। पूर्वाचार्य्य वृ द के मत मे वह इस प्रकार है—

यथेक्षूणा रसो ह्याग पाकात् पाकान्तर गुड ।
गुडोऽपि पाकत पाके चरमे स्यात् सितोपला ।।
सैव रतिर्भाव पूर्वराग रागाख्य पाकत ।
अनुराग स प्रणय प्रेमाख्या पाक मागत
स्नेह पाकमथो याति महारागोऽयमुच्यते ।।

नर तम्य भजन से भाव,—पूव राग, राग, अनुराग, प्रणय प्रेम, स्नेह एव चरम अवस्था मे महाभाव रूप मे परिणत होता है। यही आनन्दोत्कष की परमावधि रूप है।

निर्विकार चित्त मे जो प्रथम विकार है— अर्थात् रति का प्रथम पाक है, वह भाव नाम से अभिहित होता है। इस प्रकार महाभाव, गोपिकागण मे ही है, अपर भक्त वृ द मे नही है। अतएव भा० १०।४७।५६ मे उद्धव ने "कृष्णे ववचव परमात्मनि रूढ भाव" शब्द से उन सब के भावोत्कष का कीर्त्तन किया है। भा० १०।४७।६१ मे तो उन्होने "आसामहो चरणरेणु जुषामह स्याम्" शब्द से गोपियो की चरण रेणु की प्राथना की है, किन्तु सान्निध्य मे रहते हुये भी कभी भी रुक्मिणी लक्ष्मी प्रभृतियो की चरण रेणु की प्राथना नही की है। शास्त्र के किसी भी स्थल मे यह देखने मे नहीं आता है।

सितोपला—'मिश्री मिसरी' मत्स्यण्डिका शब्द से ख्यात है, मत्स्यण्डिका का चरम पाक से उत्पन्न पश्चिम प्रदेश मे प्रसिद्ध एक प्रकार सुमिष्ट पदाथ सितोपला 'ओला है। यहा विकार शब्द का अथ हैं— अपर विषय मे आसक्ति रहित चित्त मे ही प्रथम विक्रिया रूप भाव होता है। जिस की अभिव्यक्ति हेतु विभावादि को कारण कहा क्या है?—उसको कहते हैं—

वहिरन्त करणयो र्व्यापारान्तर रोधकम्।
स्व कारणादि सश्लेषिचमत्कारि सुखरस ॥

वहिरिन्द्रिय एव अन्तरिन्द्रिय सम्बन्ध मे व्यापारान्तर का रोधक-अथ च स्वकारणीभूत विभावादि के सहित सम्मिलित चमत्कार जनक जो सुख है—उसको रस कहते है।

उत्तम प्रकृति अनुकाय्य गण मे यह रस स्वत सिद्ध रूप से रहता है। काव्यादि मे सामाजिक वृन्द मे उक्त रस आभिमू त होता है। उन मे सवरसाभिव्यक्ति शाली आन द वीज स्वरूप एक मात्र चित्त धर्म विशेष स्थायी होता है

जिस प्रकार एक ही दधिवस्तु सिता, मरिच, कर्पू रादि के सहित मिलित होकर रसालानामकपेय वस्तु होती है उसका आस्वादन के समय मे चित्ररस का प्रत्यक्ष होता है। उस प्रकार रसका भी आस्वादन होता है। यह रस उत्तम सम्पत्ति सम्पन्न अप्राकृत अनुकार्य्यो मे एव भक्तो मे होता है।

रस- आन द धर्मा होने के कारण, वह एक प्रकार ही होता है। किन्तु भाव ही रति प्रभृति उपाधि भेद से विभिन्न प्रकार होते हैं। जिस प्रकार शरावगत सलिल समूह का तारतम्य होने पर भी उस मे सूर्य्य का प्रतिविम्ब एक प्रकार ही होता है, रस मे भी उस प्रकार उपाधिगत भेद है, आन द गत किसी प्रकार भेद नहीं है।

रसस्यानन्द धर्मत्वादेकध्य भाव एव हि।
उपाधिभेदान्नानात्व रत्यादय उपाधय ॥

जिस प्रकार सितोपला का पाकान्तर नहीं हता है, जिस प्रकार महाराग का भी परमानन्द स्वरूप हाने के कारण—पाकान्तर नहीं है, उस प्रकार रस का भी जानना होगा। अतएव रस के विविध प्रकार नही हैं।

प्राकृत अप्राकृत एव आभास भेद से यह रस त्रिविध होते हैं, प्राकृत अर्थात्—लौकिक, जिस प्रकार मालती माधव निष्ठ है। अप्राकृत -जिस प्रकार श्रीकृष्ण राधादि निष्ठ है।

अनौचित्यादि प्रवर्त्तित से ही आभास होता है वह त्रिविध है—प्रसिद्ध, कृत्रिम, एव सिद्धि ।

यदुक्तम्—यद्यप्यय रसाभास परोढ रमणीरति ।
तथापि ध्वनि वैशिष्ट्यादुत्तम काव्यमेव तत् ॥

रसाचार्य्य वृ द के मत मे यद्यपि परोढ रमणी विषयिणी रति से रसाभ स होता है, तथापि ध्वनि वैशिष्ट्य हेतु वह उत्तम काव्य के मध्य मे परिगणित होता है। तथापि 'रस एव उभय का आभास एव भाव शा त्यादि का क्रम नहीं है। इस प्रकार कथन हेतु एव आभास भी चमत्कार दशा मे ध्वनि शब्द वाच्य होता है। इस प्रकार कथन हेतु प्राकृत स्थल मे ध्वनि मर्य्यादा निब धन उसका उत्तम काव्यत्व होता है। औचित्य रीति के अनुसार उसकी उत्तमता नहीं होती है।

'अप्राकृते तु परोढ रमणी रतिरेव सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते। न तस्या अनौचित्य प्रवर्त्तितत्वम्। अलौकिकत्व सिद्धे भूषणमेव, नतु दूषणमिति न्यायात्, तर्का गोचरत्वाच्च। तथा च (महाभारते उद्योग पर्वणि) 'अलौकिकाश्च ये भावा न ता स्तर्केण योजयेत्' इति च।

व्रज वधूना कृष्णक तान मानसत्वेन स्व पति ष्ठुत्वाभावात्तषाञ्च माया कलित तच्छायानुशीलनेन तदङ्ग सङ्गमात्, प्रत्युत केवलानुरागमात्रोपाधितया चेतोरञ्जक ताया शुद्धत्वमेव ॥"

अप्राकृत स्थल मे पराढ रमणी रति ही सर्वोत्तम रूप से कीर्त्तित है। उक्त रति का अनौचित्य प्रवर्त्तितत्व नहीं है। कारण, नियम इस प्रकार है कि—अलौकिकत्व सिद्धि हेतु वह भूषण ही है, दोष नही है। विशेषत उक्त प्रयत्न समूह तक गोचर नहीं हैं। जो सब भाव-अलौकिक हैं मनुष्य मति प्रभव तर्क के द्वारा उन सब भावो की परीक्षा करना समीचीन नहीं है। महाभारत के उद्योग पर्व मे इस प्रकार कथित हुआ है।

व्रजबधू वृ द की श्रीकृष्ण मे एकाग्र चित्तता हेतु स्वपतिनिष्ठता नही थी। एव उन सब के माया ग्रहीत शरीर मात्र को अनुशीलन होने के कारण उन सब के पति वृ द भी उन सब के सहित ससग करने मे अक्षम थे। अतएव केवल अनुरागमात्रोपाधि हेतु चित्त रञ्जकता भी विशुद्ध ही है।

शान्ति प्रभृति पञ्चविध रति के मध्य मे श्रृङ्गार रति सर्वोत्तमा है। वह रति द्विविधा है। स्वकीया एव परकीया। स्वकीया—रुक्मिण्यादि निष्ठा, एव परकीया—व्रजसुन्दरी निष्ठा है। उक्त उभय प्रकार के मध्य मे व्रजसु दरी की रति सर्वोत्तमा है।

समस्त वेदेतिहास पुराणादि के मध्य मे सारभूत श्रीमद् भागवत मे श्रीकृष्ण ने कहा है। "न पारयेऽहं निरवद्य सयुजा" तुम सबके अनुरूप भजन करने मे मैं असमर्थ हूँ। तुम सबने दुजर गृह श‍ृङ्खल को छेदन किया है। श्रीमदुद्धवने भी कहा है—जिन्होने स्वजन एव आर्य्यपथ को परित्याग करके भजन किया है।

श्रीमदुज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थके नायक भेद प्रकरण १६ मे श्रीरूप गोस्वामि पाद ने कहा है। "अत्रैव परमोत्कर्ष श्रृङ्गारस्य प्रतिष्ठित ' इत्यादौ महानुभावाना दृश्य श्रव्य काव्यादौ परकीया सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते—इत्यर्थ ।

रस ग्र थ मे काव्य गत रस का विचार करना ही कर्त्तव्य है। काव्य- दृश्य एव श्रव्य भेद से द्विविध हैं। दृश्य काव्य मे विभावादि शब्दोपात्त एव नटाश्रय एव अभिनेय पदार्थाश्रय होते हैं, श्रव्य काव्य मे केवल विभावादि केवल शब्दोपात्त होते है। अनुकार्य्य—अर्थात् नट जिसका अनुकरण करता

है, वह उसका जो रसग्रह होता है, इसकी सम्भावना क्या है ? अनुकर्त्ता अर्थात् अनुकरण कारी जो नट है, रस—तद्गत भी नहीं होता है, कारण, केवल शिक्षण एवं अभ्यासादि प्रकाश कौशल के द्वारा आस्वादकता ही नहीं हो सकती है ।

कदाचित् यावतीय बाह्य वस्तु विषयक ज्ञान शून्यता वशा यदि अनुकर्त्ता मे देखने मे आती है तो उसको सामाजिक मान लेना चाहिये । किन्तु तादृश दशापन्न नटका उस प्रकार अनुकरण जीवन्मुक्त व्यक्ति के आहार विहार के समान प्राक्तन संस्कार से ही होता है । ऐसा कहना पड़ेगा । इस से प्रमाणित हुआ है कि—रसास्वाद सामाजिक को ही होता है ।

नट वृन्द—जब अनुकार्य्य के चरित्रानुकरण करते हैं, तब उस चरित्र दर्शन श्रवण से इस प्रकार चमत्कारातिशय उत्पन्न होता है कि—उसके प्रभाव से पदार्थान्तर की उपलब्धि विलुप्त होने से तन्मात्र की स्फूर्त्ति होती रहती है । एव रामसीता का रतिकला कौशल कैसा अद्भुत है, राम रावण का यह सग्राम कैसा विचित्र है । प्रेत पिशाचादि के ये सब कार्य्य कितने विस्मय कर हैं । इस प्रकार समस्त रसो मे ही चमत्कार पूर्ण वैचित्र्यातिशय की स्फूर्त्ति होती रहती है । कारण—रस मे चमत्कारातिशय ही सार पदार्थ है, जिसको छोडकर रस रस शब्द से अभिहित नही होता है । स्वत्र ही उत्तम चमत्कार सार वस्तु रूप मे प्रतीयमान होने पर समस्त रस ही उद्भूत होते हैं । विज्ञ रसज्ञ व्यक्ति वृन्द का कथन इस प्रकार ही है ।

उक्त अद्भुतातिशय की स्फूर्त्ति के समय मिथ्या, सशय एव सादृश्यादि प्रत्यय के अतिरिक्त इस प्रकार एक अनिर्वचनीय प्रत्यय विशेष का आविर्भाव होता है कि—कृत्रिम विभावादि भी अकृत्रिमवत् प्रतीयमान होते हैं । एव चित्र लिखित रमणी की, प्रतिमादि मे सुस्पष्ट प्रतीति होती है । यह रामसीता की मूर्त्ति है, यह रामचन्द्र सीता शोक समाकुल हैं । यह है—दश कन्धर रावण, यह है—दशरथ, यह जनोद्वेगकर भीषण व्याघ्र है । यह शव समूह के मासादि भक्षणोन्मत्त पिशाचादि की नृत्य सङ्कुल श्मशान भूमि है ।

उस समय सामाजिक गण के चित्तस्थित रज तमोभाव निज रस वासना से विधृत होने के कारण, उस स्वच्छतर चित्त मे एक मात्र अनिर्वचनीय आनन्द का आविर्भाव होता है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—एक ही चित्त मे रति, शोक, विस्मय प्रभृति यावतीय स्थायिभाव की स्थिति कैसे हो सकती है ? कारण, वे सब परस्पर इस प्रकार विसदृश होते हैं कि—उन सब की एकत्र अवस्थिति की सम्भावना ही नहीं है । एव यति प्रभृति के चित्त मे कैसे रतिस्थायी हो सकती है ? कारण, संयमी व्यक्ति वृन्द के चित्त मे भय शोकादि की सत्ता ही कहाँ है ?

समाधान हेतु वक्तव्य यह है कि—आस्वादाङ्कुर के बीज स्वरूप जो अनिर्वचनीय चित्तधर्म है, वही यावतीय रसगत चमत्कार का ग्राहक है ।

भयानक, बीभत्सादि काव्य एव नाट्य मे ही रस होते हैं, लौकिक मे वे सब रस नहीं हैं । एतज्जन्य नाट्य मे अष्टविध रसका उल्लेख किया गया है ।

नाट्य व्यतीत लौकिक स्थल मे जहाँ पूर्वोक्त रस लक्षण का योग है, उस प्रकार शृङ्गारादि कतिपय रसका ही रसत्व सिद्ध होता है ।

नाट्य समूह के मध्य मे, शृङ्गार रस का आदित्व हेतु प्रथमत उसको कहना उचित होने पर भी विशेष रूपसे उसका वर्णन अग्रिम ग्रन्थ मे होगा । कारण, वह विस्तृत अङ्गका है, सूची कटाह न्याय से

वीर रस का वर्णन प्रथम हुआ है।

प्राकृत एवं अप्राकृत भेद से वीर रस द्विविध होने पर भी यहां अप्राकृत का ही उदाहरण प्रस्तुत होते, सजातीय एवं विजातीय प्रत्यालम्बन भेद से अप्राकृत वीर रस भी द्विविध होते हैं।

विजातीयालम्बन अप्राकृत वीर रस का उदाहरण—

"गुण कर्णाकृष्ट कर किशलय तूण शिखरे
धनुश्चक्रीभूत निपतदिषुवृन्द तत इत ।
रिपून् भूमौ सुप्तान् कलयति सम देव निकरे
जरासन्धस्याजौ जयति भुजवीर्यं मुरभिद ॥"

जरासन्ध के युद्ध मे भगवान् मुरवैरी के अपूर्व भुजवीर्य्य की जय हो, जिस भुजवीर्य्य के प्रभाव से युद्धदर्शी देवगण एक ही समय देखे थे कि—भगवान् के गुण–सर्वदा आकर्ण कर्षित होकर है, कर पल्लव निरन्तर तूणाग्रभाग मे विराजित है, शरासन सतत वक्रीभूत होकर है। वाण समूह–अनुक्षण इतस्तत निक्षिप्त हो रहे हैं। शत्रु समूह भी निरन्तर भूतल मे प्रसुप्त हो रहे हैं।

यहां उत्साह स्थायी है एवं वह उभयनिष्ठ है, जरासन्ध आलम्बन विभाव है, एवं जरासन्ध के सम्बन्ध मे श्रीकृष्ण भी आलम्बन विभाव है। परस्पर की वीरता उद्दीपन विभाव है। वाण वर्षण विषय मे हस्त लाघव—अनुभाव है। गर्व, उग्रता अमर्ष, चपलतादि–व्यभिचारिभाव है। उन सबो के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव रसत्व प्राप्त होता है रस अनुकार्य स्वरूप प्रकृत श्रीकृष्ण मे परोक्ष एवं काव्य श्रवण हेतु सामाजिक के पक्ष मे प्रत्यक्ष है। इस प्रकार अन्यान्य स्थल मे विचार करना आवश्यक है।

करुण रसका उदाहरण—

दो र्गुप्ताया मधुविजयिनो हा कथं द्वारवत्या
मन्यायोऽस्यामयमुदभवद् धन्त निष्कल्मषायाम् ।
जात जात सुतमपहरत्येष मेऽकालमृत्यु
को मा याता हरि हरि हहा हा हता हा हता स्म ॥

अत्र शोक, स्थायी, एष एक निष्ठ। पुत्रनाश आलम्बनम्, पुत्रगत ममताद्युद्दीपनम्। अनुभाव–शिरस्ताडनादि। व्यभिचारी—विषाद दैन्य–ग्लान्यादि। अयं तु सामाजिक गतएव, नानुकार्य्य गत परोक्षेऽपि। अय सामाजिक गतोऽप्य प्राकृत कृष्णाश्रयत्वात्।

हाय ! मधुसूदन के बाहुबल के द्वारा रक्षिता, पापस्पर्श शून्या यह जो द्वारका नगरी है, इस में भी क्या इस प्रकार अन्याय होने लगा है ? जब ही मेरा पुत्र होगा, उसी समय क्या अकालमृत्यु उसको अपहरण कर ले जावेगी ? हाय ! इस विपद से कौन व्यक्ति मुझको उद्धार करेगा ? मै तो निहत हो गया।

यहां शोक स्थायी है, एवं यह एकनिष्ठ है। पुत्रनाश आलम्बन है। पुत्रगत ममतादि उद्दीपन है, मस्तक मे कराघातादि अनुभाव हैं, दैन्य, ग्लानि, विषाद प्रभृति व्यभिचार भाव हैं।

यह रस सामाजिक गत है, यह अनुकार्य्यगत नहीं है। अनुकार्य्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु सामाजिकगत होने पर भी कृष्णाश्रयता होने के कारण, यह अप्राकृत है।

अद्‌भुत रस का निदर्शन—

आलोक सखि लोकलोचन मुदा मुद्रेक मुद्भावयन्
सोमस्तोम निदाघधाम निवह प्रद्योत-सद्योहर ।
मेघे माघवने मणावपि घृणानिर्वाहको नीलिमा
सामानाधिकरण्यमत्रकिमहो चित्र तमस्तेजसो ॥

अत्र विस्मय स्थायी एष एकनिष्ठ । आलम्बन—श्रीकृष्ण, उद्दीपन—तल्लावण्यादि, अनुभाव—रोमाञ्चादि, व्यभिचारी आवेग मति चापल्यादि। अय परोक्षोऽनुकार्य्यगता, प्रत्यक्ष सामाजिक गत, अयमप्राकृत एव ।

हे सखि ! यह अति विचित्र है कि—अन्धकार एव तेज, ये दो परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं। यह श्रीकृष्ण रूप—एक आधार मे एक समय मे अवस्थित है। देखो, इसकी अद्भुत नीलिमा, असख्य सुधाकर एव प्रभाकर की प्रभा को सहसा अपहरण करके एव मेघ मण्डल तथा इन्द्रनीलमणि के प्रति भी घृणा उत्पादन पूर्वक लोक लोचन का अपूर्व प्रीति विस्तारकारी आलोक रूप मे विराजित है।

यहा विस्मय स्थायी है, एकनिष्ठ है, आलम्बन—श्रीकृष्ण हैं उद्दीपन-लावण्यादि है, अनुभाव रोमाञ्चादि हैं, व्यभिचारी आवेग मति—चापल्यादि हैं। यह परोक्ष-अनुकार्य्य गत है, प्रत्यक्ष सामाजिक गत है, यह अप्राकृत ही है।

हास्य रस का दृष्टान्त—

उन्मत्ताभि र्वसन्तोत्सव रभस मदैर्गोदुहा कन्यकाभि
क्षोदै सिन्दूर चन्द्रागुरुमलयरुहा हा धिगन्धी कृतोऽस्मि ।
जाड्य ग धाम्बुसेकैरजनि तत इतो धावितु नास्मि शक्तो
व्यापद्येऽह वयस्य प्रियसखमव मा मस्त्विह ब्रह्महत्या ॥

अत्र भगवद् सखो विदूषका ब्राह्मण वटु मधुमङ्गलो वक्ता। हास स्थायी, एष बहु निष्ठ । आलम्बन वसन्तोत्सवादि, उद्दीपन विदूषकस्य वैकलव्यम्, अनुभाव—नयन स्फारतादि, व्यभिचारि श्रम-मद चपलता ग्लान्यादि ।

वसन्तोत्सव हेतु हर्ष एव मदभर से उन्मत्त होकर गोप कन्या गण—सिन्दूर कर्पूर एव अगुरु चन्दन चूर्ण से मुझ को अन्धप्राय कर दिये हैं, अधिक तु अविरल सुग ध सलिल सिञ्चन से मुझ मे जड़ता आ गई है। इतस्तत धावित होकर पलायन करने की शक्ति भी मेरी नहीं है। हे सखा कृष्ण! मै तुम्हारा प्रिय सखा हूँ, मेरी रक्षा करो, ब्रह्म हत्या न करो।

यहाँ विदूषक मधुमङ्गल वक्ता है, हास्य स्थायी भाव है, यह हास्य अनेक निष्ठ हैं, वसन्तोत्सव आलम्बन है, विदूषक की विह्वलता उद्दीपन है, नेत्र विकासादि अनुभाव है, एव श्रम, मद, चपलता ग्लानि प्रभृति व्यभिचारि भाव है।

स्मित हास्य प्रहास भेदसे ये त्रिविध है। श्रेष्ठ व्यक्ति के हास्य को स्मित कहते हैं, जिस मे अधरौष्ठ का स्वल्प विस्फारण होता है। द त श्रेणी लक्षित नहीं होती हैं। यह उत्तम है।

जिस मे दशन द्युति का विकाश होता है, गण्ड स्थल मे प्रफुल्लता उत्पन्न होती है, कण्ठ से किञ्चित कलस्वर निर्गत होता है, उस का नाम हास है। यह मध्यम है।

जिस हास्य से शरीर घर्माक्त एवं नयन रक्तवर्ण एव अश्रुपूर्ण होते हैं, उत्कट कटु शब्द के सहित मुख गह्वर विस्तृत होता है, एव दन्त पङक्ति प्रकाशित होती है उसको प्रहास कहते है। यह अधम है।

अधरौष्ठ स्फारतया सृक्कण्योरेव विस्फुरत
अलक्षित द्विज धीरा उत्तमाना स्मित विदु ।
विकसद् दशन द्योतो गण्डा भोगे प्रफुल्लता
किञ्चित् कल कण्ठरवो यत्र हास स मध्यग ।
सधर्म साश्रुताम्राक्ष स्फुट घोर कटुस्वन ।
व्यात्ताननो व्यक्त दन्त प्रहासो ग्राम्यो उच्यते ।।

भयानक–दष्ट्रा कोटि कठोर कूट कटुना ब्रह्माण्ड भाण्डस्थितं
सर्वंचर्वयसीव हन्त वदनेनोद्गीर्ण पूर्णार्च्चिषा ।
जिह्वाग्रेण समग्रमुग्रमहसा लेलिह्यसे रोदषी
त्रस्त मामिह पाहि पाहि भगवन् पार्थोऽप्यपार्थोऽभवम् ।।

अत्र अर्जु नस्य भय स्थायी, सचकनिष्ठ । आलम्बन—विश्वरूप प्रवर्तक श्रीकृष्ण, उद्दीपन तद्गत दष्ट्र द अनुभा —पाहि पाहीति क तय्यम् व्यभिच री अपार्थोऽभवमिति द यम् । एष च कृष्णाल ब न वस्तु सामग्री ।।अध्येनानुकार्य्येऽपि रसता प्र क प्राप्त एव। अत्र भयेऽपि कृष्ण स्फूर्त्तेस्तत् सम्ब धादा द एवेत्यप्राकृत एव, न तु मालत्यादौ शार्दूल दालम्बनेन मकर दस्य भय विना द । सति शौर्य्ये उत्साह एव स्थायी भवति । तेन कदाचिदान दो जयते, न भयत । तेन प्र कृते न रसता ।।

भयानक रसका दृष्टान्त तुम्हारे जो वदन मण्डल–कठोर पवत शृङ्ग के समान द ताग्र भाग के द्वारा उत्कट है, जिस म पूर्ण ज्योति उद्गीर्ण हो रही है, उस के द्वारा ब्रह्माण्ड भाण्डस्थित पदार्थ जसे चर्वित हो रहे हैं और उग्र दीप्ति इस प्रकार है। जिस के द्वारा समस्त स्वग मर्त्य लोक जसे लेहित हो रहे है। हे भगवन् ! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो मै नितान्त भीत हू। मेरा पार्थ नाम आज व्यर्थ हो गया।

यहा अर्जु न का भय स्थायी है, यह एक निष्ठ है। विश्वरूप प्रवर्त्तक श्रीकृष्ण आलम्बन हैं, तदीय दष्ट्रादि–उद्दीपन हैं, रक्षा करो, रक्षा करो, यह कहकर जो कातरता पकटित हुई है, वह अनुभाव है। मेरा पार्थनाम व्यर्थ हुआ है इस वाक्य से जो दैन्य प्रतीत होता है, वह व्यभिचारि भाव है।

यहाँ श्रीकृष्ण आलम्बन होने के कारण हेतु समूह का सन्निधान वशत अनुकार्य्य रूप अर्जु न मे प्रथम ही रसता हुआ है। भय मे भी कृष्ण स्फूर्त्ति होने के कारण कृष्ण सम्ब ध मे आनन्दोदय हुआ है, सुतरा उसका अप्राकृत कहना होगा। मालत्यादि स्थल मे शा दूलादि आलम्बन के द्वारा भय व्यतीत मकरन्द मे आनन्दोत्पत्ति नही हुई है। शूरता की विद्यमानता मे उत्साह ही स्थायी होता है। उस मे कदाचित् आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है। भयस्थल मे वैसा सम्भव नहीं है। अतएव प्राकृत स्थल मे उसका रसत्व नही है।

अथ बीभत्स —दैत्येन्द्राणा मथित वपुषामन्त्रभेदोऽस्थि मज्जा
मासासृक्स्थपुट पटलीस्वाद मोद प्रमत्ता

कौमोदकया मधुविजयिन कीर्त्तिमुत् कीर्त्तयन्त
साद्धँ गृध्रैँ विदधति मुद प्रेतरङ्का विशङ्का ।।

अत्र देवासुर सग्रामावसानमालोकयता व्योम चारिणा जुगुप्सा स्थायी, स चैक निष्ठ । शवशरीराद्या लम्बनम्, प्रेतरङ्काद्युद्दीपनम् अनुभाव —मुख वकृत्यादि, व्यभिचारि ग्लानि द यादि । एतै परिपुष्टा जुगुप्सा जुगुप्सव यद्यपि, तथापि भगवत् कृतिरियमिति भगवत् स्मरणादेवान द । प्राकृते तु न त्वानन्द, अपि तु नट व्यापार दशनात् सामाजिकानामेव तत्र रस ।

बीभत्स रस का निदर्शन—कौमोदकी गदा का आघात से मथित देह दत्येन्द्र वृन्दका अत्र भेद होने के कारण –दरिद्र प्रेतवग निभय से अस्थि, मज्जा मास, शोणित, त्वक,नाडी ग्रथि प्रभृति का स्वाद ग्रहण पूवक आन द से उन्मत्त होकर मधु सूदन की कीर्त्ति का कीतन करते करते गृध्र कुलके सहित महा आनन्द प्रकाश कर रहे हे ।

इस मे देवासुर सग्राम समाप्ति के समय सग्राम दशन कारी गगन विहारीओ मे जुगुप्सा स्थायीभाव है । यह एक निष्ठ है । शव शरीरादि आलम्बन है । प्रेतवृ द- उद्दीपन है, मुख विकृति प्रभृति- अनुभाव हैं, ग्लानि द यादि व्यभिचारी हैं ।

उक्त सामग्री समूह के द्वारा परिपुष्ट जो जुगुप्सा है—वह जुगुप्सा है—वह जुगुपसा व्यतीत अपर कुछ भी नहीं है । तथापि वह भगवान् का काय्य होने के कारण अन्यका स्मरण से आनन्दोदय हुआ है । प्राकृत स्थल मे उस प्रकार आन द नहीं हो सकता है । वहा नट के प्रयत्न को देखकर सामाजिक मे रसाविर्भाव होता है ।

अ य उदाहरण यह है—

दृशैव करुणार्द्र या सह चरान् समुज्जीवय
अघस्य जठर गतो गरल जातवेदो व्यसून् ।
तदन्त्र धमनी वसा रुधिरमज्जलालादिभि ।
प्लुतोऽप्यनवलिप्तवच्छुचिरुचि स जीयाद्धरि ।।

अत्र भगवत एवानन्दत्वात्तदन्त्रादि दशनेनाप्यानन्द एव लीलावताम्,
तथात्वाद्भक्तानाञ्च सामाजिकानाञ्च तस्य स्फुर्त्तावेव ।।

विषाग्नि के द्वारा जिन सब सहचर का जीवनान्त हुआ था, करुणार्द्र दष्टि पात से ही उन सब को उज्जीवित करके अघासुर के जठर के मध्य मे प्रवेश पूवक जो भगवान् उस असुर के अन्त्र, धमनी, वसा, रुधिर, मज्जा, लालादि द्वारा आपलुत होकर भी उन सब के द्वारा अस्पृष्ट के समान निमल कान्ति से प्रकाशित हुये थे, उन श्रीभगवान् की जय हो ।

यहाँ भगवान् की आन द रूपता हेतु अन्त्रादि को देखकर लीला परायण पाषदवृन्द मे भी आन दोदय हुआ था । कारण, वे सब भी आनन्दमय हैं । भक्ति परायण सामाजिक की आनन्दस्फूर्त्ति के स्थल मे ही रसाविर्भाव होता है ।

अथ रौद्र —"स्पर्शेनापि न वेद्य एव भवता मृत्योर्मुख गच्छता

किं दोर्मण्डलचण्डिमैष भवते विज्ञापनीयो मया।
येनाखण्डलशौण्डय खण्डन कृता गेण्डूकृतोऽय गिरि
किं रे कष्टमरिष्ट दुष्ट तनुषे गोष्ठस्य न तिष्ठ रे॥"

अत्र कोपः स्थायी, एष एकनिष्ठ उभय निष्ठश्च, अत्र तूभय निष्ठ एव। आलम्बनम् योऽयम्। उद्दीपनम्—अन्यो यविक्रम, अनुभव-वागाडम्बर्य्यादि, व्यभिचारी—गर्वादि। एव स्फुटोऽय रसः। स च भगवति परोक्ष, सामाजिक प्रत्यक्षः। आद्ये विजानायालम्बनोऽप्राकृत, द्वितीयेऽप्राकृत एव॥

रौद्र रस का दृष्टान्त यह है—हे दुरात्मन् अरिष्ट! तु हमारे गोष्ठ का उत्पीडन कर रहा है? मुहूर्त काल अपेक्षा कर, अथवा, तू स्पर्श मात्र मे ही मर जायेगा। तू मुझको कैसे जानेगा? मेरे बाहु मण्डलकी प्रचण्डता का अनुभव तेरे को कैसे कर ऊँगा? इस भुजदण्ड से आखण्डल का पराक्रम खण्डित हुआ था। इस के प्रभाव से ही गोवर्द्धन गिरि कन्दुकवत् उत्क्षिप्त हुआ था।

यहाँ कोप स्थायी है वह एकनिष्ठ एव उभयनिष्ठ है। यहा उभय निष्ठ है। उभय ही उभय का आलम्बन हैं। परस्पर का आलम्बन—उभय ही हैं। परस्पर का विक्रम—उद्दीपन है, वागाडम्बरादि—अनुभाव है, गर्वादि व्यभिचारी है, इस रीति से यह रस परिपुष्ट हुआ।

यह रस भगवान् मे परोक्ष एव सामाजिक मे प्रत्यक्ष है। प्रथमोक्त एक निष्ठता स्थल मे वह विजानीय आलम्बन भी अप्राकृत है। द्वितीयोक्त स्थल मे वह अप्राकृत नही है।

अथ शान्त —वयोजीर्णं ह्याधिक् तदपि नहि जीर्णो मदभर
श्लथ चर्म्माङ्गेयस्तदपि नहि राग श्लथ इव।
रदा शीर्णा शीर्णस्तदपि नहि मोह कथमय
जन कसारातेश्चरणकमलाय स्पृहयतु॥

अत्र निर्वेद स्थायी, सचक निष्ठ। आलम्बन—ससार दुःखम् उद्दीपन—पुण्य तीर्थादि अनुभाव—विषयासक्तित्याग, व्यभिचारी—मति-स्मृति धृत्यादि। एष रसोऽनुकार्य्ये परोक्ष, सामाजिक प्रत्यक्ष। चमत्कारी चायम्।

शान्त रस का उदाहरण—वयस जीर्ण हुआ, किन्तु मदका प्राबल्य कुछ भी जीर्ण नहीं हुआ। प्रत्येक अङ्ग के चर्म्म शिथिल हुआ किन्तु विषय राग शिथिल नहीं हुआ। दन्त समूह शिथिल हो गये, किन्तु मोह अणुमात्र भी शिथिल नही हुआ। यह अधम व्यक्ति, कसे कंस ध्वस कारी श्रीकृष्ण के पादपद्म के प्रति स्पृहाशील होगा?

यहा निर्वेद स्थायी है, यह एक निष्ठ है। ससार दुःख आलम्बन है पुण्य तीर्थादि उद्दीपन है, विषयासक्ति त्याग—अनुभाव है। मति धृति स्मृति व्यभिचारि भाव है। यह रस अनुकार्य मे परोक्ष, एव सामाजिक मे प्रत्यक्ष है, अति चमत्कार जनक भी है। महाभारत मे लिखित है—

"यच्च काम सुख लोके यच्च दिव्यसुख महत्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हत षोडशी कलाम्॥"

इस मे चमत्कारातिशय के अतिशय्य हेतु आनन्द का अतिशय्य होता है। एव कृष्ण भक्ति मे

उपयोग होने से यह रस अप्राकृत होता है । जिस प्रकार निर्वेद व्यभिचारी होकर भी शान्तरस स्थायिता प्राप्तकर रस रूप होता है । उस प्रकार उक्त रति देवादि विषया होने से भाव शब्द से अभिहिता होती है । इस वाक्य मे उल्लिखित पारिभाषिक भाव ही स्थायित्व को प्राप्तकर उस विभावादि सामग्री सम्मिलन से भक्ति रस मे परिणत होता है । उक्त भक्ति रस- श्रीकृष्णाश्रित होकर रत्यादि विविध स्थायिभाव के सहित मिलित होकर दशविध होते है । उक्त भेद समूह का उदाहरण- ग्रन्थान्तर मे देख लेना चाहिये ।

अथ वात्सल्यम् —"आराज्जानुकरोपसर्पण परो जातस्मित सञ्चर

ऋङ्कारोह मनाप्लुवन् रुरुदिषा विम्लानचन्द्रानन ।

अभ्यासाथमुपेक्षितोऽपसरण प्रक्रान्तया सत्वर

कण्ठेकृत्य यशोदया न ननेत्याश्वासि बालो हरि ॥"

वात्सल्य का उदाहरण—बालक श्रीकृष्ण, सम्प्रति जानु एव हस्त के द्वारा समीप देश मे सञ्चरण करने मे समथ होने के कारण, एकदिन सामने यशोदा को देखकर उनके क्रोड मे आरोहणाथ हँसकर धावित हुये, यशोदा पुत्र का गमन अभ्यासाथ उनको अङ्क मे लेने मे उपेक्षा करके पश्चाद् भाग मे अपसरण करने लगी । उस समय बालक जननी के क्रोड मे आरोहण कर न पाने से म्लान मुख से रोदन करने का उपक्रम किये थे । यह देखकर जननी सत्वर उनको कण्ठ मे स्थापन किये एव ना, ना, ना, तुमको क्या अनादर कर सकती हूँ । इत्यादि वाक्यो से आश्वास प्रदान करने लगी ।

यहा ममता स्थायी है । यह एक निष्ठ है । श्रीकृष्ण आलम्बन है, कर चरण के द्वारा तदीय सञ्चरण उद्दीपन है, कण्ठ मे ग्रहण एव आलिङ्गनादि अनुमान है । हर्षादि व्यभिचारी है । यह रस व्रजेश्वरी निष्ठ होकर परोक्ष है, एव सामाजिक निष्ठ होकर प्रत्यक्ष होता है । उभय प्रकार ही अप्राकृत हैं ।

यहा प्रेम रस का विशेष वणन है । उदाहरण यह है—

प्रेयास्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद

स्त्व मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलाप ।

त्व मे ते स्यामहमिति च यत्तच्च नो साधु राधे

व्यवहारे नौ नहि समुचितो युष्मदस्मत् प्रयोग ॥"

अत्र चित्तद्रव स्थायी, स चोभय निष्ठ । आलम्ब मन्योऽन्यम्, उद्दीपनमन्योन्य गुणपरिमल, अनुभाव —विशिष्ट निर्वचनाभाव व्यभिचारी—मत्यौत्सुकादि । परोक्ष श्रीकृष्ण राधयो, सामाजिकाना प्रत्यक्ष, प्रेमरसे सर्व रसा अन्तभवन्तीति प्रेमाङ्ग शृङ्गारादयोऽङ्ग मिति विशेष ।

केषाञ्चिच मते श्रीराधा कृष्णयो शृङ्गार एव रस । तन्मतऽप्येत दुदाहरण ना सङ्गतम् । शृङ्गारोऽङ्गी प्रेमाङ्गम्, अङ्गस्यापि क्वचिदुद्रिक्तता भवन्तु प्रेमाङ्गी— शृङ्गारोऽङ्गमिति विशेष ॥

तथा च—उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखण्ड रसत्वत ।

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ ॥

हे राधे ! मै तुम्हारा प्रियतम हूँ, तुम मेरी प्रेयसी हो, ये सब उक्ति, अथवा तुम मेरा जीवन हो,

मै तुम्हारा जीवन हू, ये सब वाक्य प्रलापमात्र हैं, और तुम मेरी, मै तुम्हारा, इस प्रकार जो प्रयोग है, वह साधु प्रयोग नहीं है, कारण—हम दोनो के कथोपकथन मे युष्मद् एव अस्मद् शब्द का प्रयोग कभी हो ही नहीं सकता।

यहाँ चित्तद्रव स्थायी हैं, वह उभय निष्ठ है। उभय ही परस्पर के आलम्बन है। परस्पर गुणोत्कष उद्दीपन है, जिसका विशेष कहना होगा, उसका निवचन करने मे असमथ होने पर अनुभाव होता है, मति औत्सुक्यादि व्यभिचारी है

यह श्रीकृष्ण, एव राधा के पक्ष मे परोक्ष है एव सामाजिक के पक्ष मे प्रत्यक्ष है, समस्त रस इस मे अन्तर्निविष्ट होने पर इस के अङ्गादि अति विस्तत है।

विज्ञ व्यक्ति के मत मे श्रीकृष्ण राधा के सम्बन्ध मे शृङ्गार ही रस है इस मत मे भी शङ्गार अङ्गी है, एव प्रेम अङ्ग है। सुतरा यह उदाहरण असङ्गत नही होगा, कारण, अङ्गी की अपेक्षा अङ्गका कदाचित् आधिक्य भी होता है, किन्तु हमारे मत मे तो प्रेम ही अङ्गी है, शङ्गार उसका अङ्ग है।

प्रेम मे अखण्ड रस की सत्ता विद्यमान होने के कारण—समुद्र मे तरङ्ग के समान य वतीय रस एव भाव उस मे सवदा आविर्भूत एव तिरोभूते होते रहते है।

अथ भक्ति रस—"जय श्रीमद् वृन्दावन मदन नन्दात्मज विभो,
प्रियाभीरी वृन्दारिक निखिल वृन्दारकमणे।
चिदानन्दस्यन्दाधिकपदरविन्दासव नमो
नमस्ते गोविन्दाखिल भुवमकन्दाय महते॥"

अत्र देव विषयत्वाच्चेतो रञ्जकता रतेरेव भाव। स एव स्थायी, आलम्बनम् श्रीकृष्ण, उद्दीपनम् त महिमादि, अनुभाव, हृदय द्रवादि, व्यभिचारी—निर्वेद द यादि। परोक्षो भक्तानाम्, सामाजिकाना तु प्रत्यक्ष।

यद्यपि भगवान् सव रस कदम्ब सम्बलित तथापि मूत्त शङ्गार एव, सावर्ण्यात् तद्दवत वाच्च तथाहि 'रस शङ्गार नामाय यामल कृष्ण दैवत' इति। एवञ्च सर्वेषामेव रसाना वर्णा देवताश्च ब द्धव्या।

भक्ति रस का दृष्टान्त—हे विभो! श्रीव दावन मदन नन्दन दन तुम्हारी जय हो,प्रियतमा गोपाङ्गना ही तुम्हारी सुराङ्गना के सदश है। तुम निखिल सुरव द के शिरोभूषण हो, तुम्हारे चरणारवि दमकरन्द चिदान द धारा स भी मधुर है। हे गोवि द! निखिल विश्वबीज स्वरूप अति महान् स्वरूप को मै पुन पुन नमस्कार करता हू।

यहा देवता विषयक होने के कारण—चित्तरञ्जकता रति ही भाव है। वही यहाँ स्थायी है। श्रीकृष्ण—आलम्बन है, तदीय महिमादि उद्दीपन हैं, हृदय द्रवादि अनुभाव है। निर्वेद दन्यादि व्यभिचारी हैं। भक्त वृन्द के पक्ष मे यह परोक्ष है, सामाजिक के पक्ष मे प्रत्यक्ष हे।

यद्यपि भगवान् सव रस सम्बलित हैं, तथापि आप ही शङ्गार रस के देवता हैं, एव उस रस का वण उनके वण के समान होने के कारण आप मूर्त्तिमान् शृङ्गार है।

कथित है—शृङ्गार नामक यह रस श्यामवण है, एव शङ्गार रस के देवता श्रीकृष्ण ही है। इस प्रकार समस्त रसो का भी वण एव देवता है—

श्रीकृष्ण ही सब रसात्मक हैं उदाहरण यह है। ५।३७

शृङ्गारी राधिकाया सखिषु सकरुण क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे
बीभत्सो तस्य गर्भे व्रजकुल तनयाचेल चौर्ये प्रहासी।
वीरो दैत्येषु रौद्रो कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन
स्तेये भीमान् विचित्रो निजमहसि शमी दामब धे स जीयात्॥"

जो राधिका के प्रति शृङ्गार रस शाली है, सखागण-अघासुर के विषानल दग्ध होने पर उन सब के प्रति करुण है, अघासुर के उदर मे प्रवेश के समय बीभत्स रसमय है। व्रजकुलनाव द के वस्त्रहरण समय मे हास्यरस परायण है, दुर्दा त दैत्य दलन मे वीररसाश्रयी है, क्रुद्ध सुरपति के प्रति रौद्र रसावतार हैं हैयङ्गवीन हरण मे भीति विह्वल हैं, निज तेज दर्श न कर विस्मय निमग्न है। दामब धन मे शान्त रस सम्पन्न हैं, उन भगवान् वासुदेव की जय हो।

यह ग्रन्थ दशम किरणो से (अध्यायो से) विभक्त है।

प्रथम किरण मे—' ध्वनि नाद ब्रह्म का निणय है, एव योग शास्त्र की रीति से 'परापश्यन्ती' प्रभृति नादो का सर्वोत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है।

ध्वनि की काव्य प्राणता प्रतिपन्न करने क पश्चात् रसापकर्षकदोष रहित यथा सम्भव गुणालङ्कार एव रसात्मक शब्दार्थद्वय का ही काव्यत्व निणय हुआ है। कवि लक्षण मे—कहा गया है—स बीज ही कवि है, अलङ्कारादि शास्त्रज्ञ, सरस, प्रतिभा शाली होना भी आवश्यक है, बीज' शब्द से प्राक्तन सस्कार विशेष को जानना होगा, जिस से काव्य निर्माण एव काव्यास्वादन मे योग्यता होती है। काव्य भी त्रिविध हैं। उत्तम (विशिष्टध्वनयुक्त) मध्यम (मध्यम ध्वनि युक्त) एव अधम—(अस्पष्ट ध्वनियुक्त), ध्वनि से ध्वन्यन्तर उत्पन्न होने से वह काव्य उत्तमोत्तम सज्ञा मण्डित होता है।

द्वितीय किरण मे—वर्णित विषय—स्फोट वाद—प्रसङ्ग में आ तर एव बहि स्फोट द्वयका निणय, वर्णात्मक शब्द क साधु एव असाधु भेद, जाति, क्रिया गुण एव द्रव्य भेद से उसके चातुर्विध्य, मुख्य, लाक्षणिक एव व्यञ्जक भेद से शब्द त्रिविध एव रूढ, योगरूढ एव यौगिक भेद से वे त्रिविध हैं,—

समास शक्ति के बहु विधत्व निरूपण पूवक अभिधादि वृत्तित्रय का प्रति पादन हुआ है। विविध अथ शक्ति विशिष्ट शब्द का प्रकृताथ बोध का निर्धारक हैं—सयोग, वियोग विरोध, साहचर्य, अन्य शब्द का सान्निध्य, देश काल, सामथ्य, औचित्य, लिङ्ग अथ प्रकरण व्यक्ति प्रभृति।

अथ का भी व्यञ्जकत्व निर्धारक है—ब द्धव्य, वक्ता, प्रकृति, काकु प्रकरण, देश एव कालादिका वशिष्ट्य।

तृतीय किरण मे—ध्वनि का वणन है। रस रूप ध्वनि व्यतीत अन्य ध्वनि-काव्य का प्राण है, किन्तु रसाख्य ध्वनि ही आत्मा है। ध्वनि भेद—लक्षणा मूलक ध्वनि अविवक्षित वाच्य है, यह दो प्रकार, (१) अर्थान्तरोपसक्रान्त एव (२) अत्य त तिरस्कृत वाच्य। अभिधा मूलक ध्वनि -विवक्षित वाच्य—एव लक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य (२)एव अलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य भेद से द्विविध है। इन सब के ५१ प्रकार भेद के लक्षण एव उदाहरण सन्निविष्ट है, प्रभृति प्रत्ययादि से उत्पन्न वस्त्वलङ्कारादि व्यङ्ग्य वाच्य का उदाहरण प्रदशन पूवक त्रिविध सङ्कर का वणन हुआ है। ध्वनन—एव अनुध्वनन रूप मे ध्वनि के व्यापार द्वय हैं, जहाँ केवल ध्वनन है वह उत्तम काव्य है, कि तु जहा ध्वनन एव अनुध्वनन है, वही उत्तमोत्तम काव्य है।

चतुथ किरण मे—अर्थात् गुणीभूत व्यङ्ग्य निणयात्मक इस किरण मे ध्वनि वशिष्ट्य के अष्ट भेद प्रदर्शित हुये हैं (१) स्फुट, (२) अपराङ्ग, (३) वाच्य प्रपोषक (४) कष्ट गम्य, (५) सन्दिग्ध प्राधान्य (६) तुल्य प्राधान्य, (७) काकु गम्य, एव (८) अमनोज्ञ।

पञ्चम किरण मे—रस भाव एव उसका भेद निरूपित है। भरत मुनिके मत मे विभावान भावादि रस निष्पत्ति के ज्ञापक है। रति, रस, रसाभासादि—सामाजिक की रसास्वादन पद्धति वर्णित है। रस का सार ही चमत्कार हे। शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत हास, भयानक, बीभत्स, रौद्र शान्त, वात्सत्य, प्रेम,—दृश्य एव श्रव्य काव्य के एकादश रस हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ कार के मत मे प्रेमरस मे ही समस्त रसो का अन्तर्भाव है। भक्तिरस शृङ्गार के सम्भोग एव विप्रलम्भ दो भेद होते हैं। पूवराग की अभिल ष चि तादि दश अवस्था हैं। भावी, भवन् एव भूत भेद से विरह तीन प्रकार होते हैं। मान भी द्विविध होते हैं—
ईर्ष्यासम्भूत एव प्रणय सम्भूत।

परस्पर अवलोकनादि मधुपानान्त सम्भोग की निवृत्ति, सप्रपञ्च विरह एव मानादि नायक भेद एव तदीय गुण समूह, नायिका भेद, अभिसारिकादि अष्ट अवस्था भावहावादि अलङ्कार समूह, सखी दूती प्रभृति, उद्दीपन विभाव, अनुभाव सात्विक एव व्यभिचारि प्रभृति, एव भावोदय प्रभृति विषयो का सुस्पष्ट निरूपण है।

गुण विवेचनात्मक षष्ठ किरण मे—माधुर्य्यादि गुण त्रय निरूपण, अथ व्यक्ति, उदारतादि सप्त अतिरिक्त गुणो के उदाहरणादि हैं।

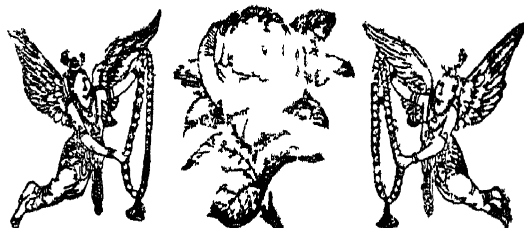
शब्दालङ्कार निरूपणात्मक सप्तम किरण मे—वक्रोक्ति, श्लेष, अनुप्रास, यमक, भाषाश्लेषादि एव चित्र काव्य का वणन हैं।

अर्थालङ्कार निरूपणात्मक अष्टम किरण मे—उपमादि अलङ्कारो के लक्षण, भेद एव विस्तृत उदाहरण हैं। अवशेष मे शब्दालङ्कार के दोषादि वर्णित हैं।

रीति निरूपणात्मक नवमकिरण मे वदर्भी प्रभृति रीति चतुष्टय का निरूपण है।

दोष निणयात्मक दशम किरण मे पद, पदांश, वाक्य, अथ एव रस गत दोषो का निर्द्धारण हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ति कृत "सुबोधिनी" टीका सलग्न है। काव्यालङ्कार विवेचन मे श्रीमदलङ्कार कौस्तुभ नामक ग्रन्थ अतीव उपादेय है।

हरिदास शास्त्री



※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः ※

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभीय-
कारिकाणां स्वरूपम्

[प्रथमकिरणः]

१। शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रसो
गुणा माधुर्याद्या उपमितिमुखोऽलङ्कृतिगणः।
सुसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्यपुरुषो
यदस्मिन् दोषः स्याच्छ्रवणकटुतादिः स न परः॥
२। कविवाङ्निर्मितिः काव्यं निपुणं कविकर्म तत्॥
३। सबीजो हि कविर्ज्ञेयः स सर्वागमकोविदः।
सरसः प्रतिभाशाली यदि स्यादुत्तमस्तदा॥
४। बीजं प्राक्तनसंस्कारविशेषः काव्यरोहभूः॥
५। प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा मता॥
६। उत्तमं ध्वनिवैशिष्ट्यो मध्यमे तत्र मध्यमम्।
अवरं तत्र निस्पन्दं इति त्रिविधमादितः॥
७। ध्वनेर्ध्वन्यन्तरोद्गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमम्।
शब्दार्थयोश्च वैचित्र्ये द्वे यातः पूर्वपूर्वताम्॥
८। यशः प्रभृत्येव फलं नास्य केवलमिष्यते।
निर्म्माणकाले श्रीकृष्णगुणलावण्यकेलिषु॥
९। चित्तस्याभिनिवेशेन सान्द्रानन्दलयस्तु यः।
स एव परमो लाभः स्वादकानां तथैव सः॥

—※—

[द्वितीयकिरणः]

१। आकाशस्य गुणः शब्दो वर्ण-ध्वन्यात्मको द्विधा॥
२। सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।

आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दुसमुद्भव ।
नादो बिन्दुश्च बीजञ्च स एव त्रिविधो मत ।।
३ । भिद्यमानात् परादृबिन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत् ।
स रव श्रुतिसम्पन्न शब्दब्रह्माभवत् परम् ।।
४ । साध्वसाधुतयाद्योऽपि साधवश्च चतुर्विधा ।
जाति-क्रिया गुण-द्रव्यै मुख्यो लाक्षणिकस्तथा ।।
५ । व्यञ्जकश्चेति सङ्केत ईशेच्छा तत्र तत्त्वकृत् ।।
६ । योगरूढाश्च रूढाश्च यौगिकाश्चेति ते त्रिधा ।।
७ । वृत्तित्रयात् पुनस्त्रेधा वृत्तयस्त्वभिधादय ।।
८ । यस्योच्चारणमात्रेण सहज यत् प्रतीयते ।
तस्य तत्र तु या वृत्ति साभिधा लक्षणा पुन ।।
९ । मुख्यार्थ बाधे शक्यस्य सम्बन्धे याऽन्यधीभवेत् ।
रूढ्या प्रयोजनेनापि सा द्विधा भिद्यतेऽथ सा ।
सारोपा सारोप्यमाण आरोपविषयोऽपि च ।।
१० । यत्र व्यक्तौ आदिनान्तर्निगीर्णे चरमे सति ।
भवेत् साध्यवसाना सा भिदे द्वे द्विविधे इमे ।।
११ । गौणे शुद्धे च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतोऽपि च ।
सादृश्यहेतुका तूक्ता सम्बन्धान्तरहेतुका ।।
१२ । पराक्षेप स्वसिद्ध्यर्थं परस्मिन् स्व-समर्पणम् ।
ययोस्ते लक्षणे शुद्धे प्रागुपादान-लक्षणे ।।
१३ । पूर्वैश्चतुर्भिर्भेदै सा द्वाभ्यामाभ्याञ्च षड् विधा ।
गूढव्यङ्ग्या गतव्यङ्ग्या व्यक्तव्यङ्ग्येति सा त्रिधा ।।
१४ । अभिधा लक्षणाक्षेप-तात्पर्याणा समाश्रित ।
व्यापारो ध्वननादिर्यं शब्दस्य व्यञ्जना तु सा ।।
१५ । अर्थोऽपि व्यञ्जको ज्ञेयो नानार्थानाञ्च भेदका ।
सयोगाद्या अथार्थाना व्यञ्जकत्वस्य हेतव ।।
१६ । बोद्धव्य-वक्तृप्रकृति—काकुप्रकरणै सह ।
देश-कालादयश्चार्थे वैशिष्ट्याद्व्यङ्ग्यबोधका ।।

[तृतीयकिरणः]

१ । शब्दार्थादिभिरर्थैश्च ध्वन्यतेऽसाविति ध्वनि ॥

२ । रसो भावस्तदाभासो वस्त्वलङ्कार एव च ।
भावानामुदय शान्ति सन्धि शवलता तथा ।
सर्वं ध्वनिस्तज्जनित्वे काव्यञ्च ध्वनिरुच्यते ॥

३ । उभयोरभिधामूल-लक्षणामूलयोस्तयो ।
अविवक्षितवाच्योऽन्त्यस्तत्र वाच्य द्विधा भवेत् ॥

४ । अर्थान्तरोपसङ्क्रान्तमत्यन्त वा तिरस्कृतम् ।
ध्वनिर्यस्त्वभिधामूलस्तत्र वाच्य विवक्षितम् ॥

५ । तथापि व्यङ्ग्यनिष्ठ स्यात् स च द्वैविध्यमृच्छति ।
कोऽपि लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमोऽपर ॥

६ । रसो भावस्तदाभासो भावशान्त्यादिरक्रम ॥

७ । यत्रानुध्वनिना व्यङ्ग्य लक्ष्यते क्रमपूर्वकम् ।
स तु लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दार्थोभयशक्तिभुः ॥

८ । आद्यो द्विधैवालङ्कारवस्तुनोर्द्योतनाद्भवेत् ॥

९ । अर्थशक्त्युद्भवोऽर्थस्तु व्यञ्जक स्वयमुद्भवी ।
कवे प्रौढोक्तिनिष्पन्नो वक्तुस्तत्कल्पितस्य च ॥

१० । वस्तुत्वालङ्कृतित्वाभ्या ते द्वैविध्येन षट् स्मृता ॥

११ । वस्तुना वस्त्वलङ्कारावलङ्कारेण तेषु चेत् ।
व्यज्येते अप्यलङ्कारवस्तुनी द्वादशापि तत् ॥

१२ । शब्दार्थभूरेक एव वाक्येऽष्टादशधा त्विमे ॥

१३ । वाक्य एव द्विशक्त्युत्थ पदे सप्तदशापरे ॥

१४ । पञ्चत्रिंशत्ततो भेदा प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ।
सप्तचत्वारिंशदत पदाशाद्या रसाञ्जका ।

१५ । तेन तस्य त्रयो भेदा प्रबन्धेऽपि स कथ्यते ॥

१६ । भेदास्तेनैकपञ्चाशत्ते तावद्भि पृथक् पृथक् ।
गुणनीयास्तेन चन्द्र-व्योमर्तु-पक्ष-सख्यका. (२६०१) ॥

१७ । सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।
चतुर्गुणे कृते वेद--ख-वेद-ककुभ (१०४०४) स्मृता ॥

१८ । शुद्धभेदैर्युतास्ते स्यु शरेषुयुगखेन्दव (१०४५५)

१९ । इति पूर्वविलिखित न सर्वेषामुदाहृति ।
भवेद्दयोग्यत्वमात्रत्वादाधिक्यमपि गम्यते ॥

२० । सशयास्पदतानुग्राह्यानुग्राहकतापि च ।
एकव्यञ्जक-सश्लेष सङ्करस्त्रिविधो मत ॥

—*—

[चतुर्थकिरणः]

१ । स्फुटमपराङ्ग वाच्य-,प्रपोषक कष्टगम्यश्च ।
सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधाना-काकुगम्ये च ।
अमनोज्ञञ्चेति गुणी,-भूतव्यङ्ग्यस्य भेदा स्यु ॥

२ । प्रागुक्तध्वनिसख्या, एभिर्गुणितास्तथाष्टाभि ।
खयुगतुर्वह्नि-वसवो, ध्वनिसाङ्कर्यात् पुनर्द्वेधा ॥

३ । व्योमदिङ्नागपक्षार्क-हयर्तु-रजनीकरा ।
गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदा विज्ञेया सूक्ष्मबुद्धिभि ॥

—**—

[पञ्चमकिरणः]

१ । विभावो द्विविध स्यादालम्बनोद्दीपनाख्यया ।
आलम्बन तदेव स्यात् स्थायिनागाश्रयो हि यत् ।
यत्तानेवोद्दीपयति तदुद्दीपनमिष्यते ॥

२ । एभिरेव व्यञ्जकैस्तु त्रिभिरुद्रेकमागतै ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भाव स्थायी रसायते ॥

३ । आस्वादाङ्कुरकन्दोऽस्ति धर्म कश्चन चेतस ।

रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया सत ॥

४ । स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया ।
पृथग्विधत्वं यात्येष सामाजिकतया सताम् ॥

५ । शृङ्गारे रतिरुत्साहो वीरे स्याच्छोक-विस्मयौ ।
करुणाद्भुतयोर्हासो हास्ये भीतिर्भयानके ।
जुगुप्सा बीभत्स-सञ्ज्ञे कोपो रौद्रेऽष्ट नाट्यगा ॥

६ । रतिश्चेतोरञ्जकता सुखभोगानुकूल्यकृत् ।
सा प्रीति-मैत्री सौहार्द-भावसञ्ज्ञाश्च गच्छति ॥

७ । या सम्प्रयोगविषया सा रति परिकीर्तिता ।
सम्प्रयोग· स्त्रीपुरुष- व्यवहार सता मत ।
असम्प्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते ॥

८ । सखिपत्न्या पतिसखे द्रौपदीकृष्णयोर्यथा ।
द्वयो सखीषु सखिषु सैव मैत्री निगद्यते ॥

९ । मनोवृत्तिमयी प्रीतिर्मैत्री स्पर्शादिकोचिता ।
निर्विकारा सदैकाभा सा सौहार्दमितीष्यते ॥

१० । सैव देवादिविषया रतिर्भावश्च कथ्यते ।

११ । या सम्प्रयोगविषया साऽप्यवस्थाविशेषत ।
पाकात् पाकान्तर प्राप्य चरमे पर्यवस्यति ॥

१२ । बहिरन्त करणयोर्व्यापारान्तर-रोधकम् ।
स्वकारणादि-सश्लेषि चमत्कारि सुख रसः ॥

१३ । रसस्यानन्दधर्मत्वादैकध्य भाव एव हि ।
उपाधिभेदान्नानात्व रत्यादय उपाधय ॥

१४ । प्राकृताप्राकृताभासभेदादेष त्रिधा मतः ॥

१५ । अप्राकृतोऽपि द्विविध प्रत्यालम्बनभेदतः ।
सजातीय विजातीय प्रत्यालम्बनमिष्यते ॥

१६ । अधरौष्ठस्फारतया सृक्कण्योरेव विस्फुरत् ।
अलक्षितद्विज धीरा उत्तमाना स्मित विदु ॥

१७ । विकसद्‌दशनद्योतो गण्डाभोगे प्रफुल्लता ।
किञ्चित्कल कण्ठरवो यत्र हासः स मध्यमः ॥

१८ । सघर्म साश्रु ताम्राक्ष स्फुटघोरकटुस्वन ।
व्यात्ताननो व्यक्तदन्त प्रहासो ग्राम्य उच्यते ॥

१९ । अभिलाष पूर्वरागस्तस्यावस्था दश स्मृता ॥

२० । अभिलाषश्चिन्तनश्च स्मृतिश्च गुणकीर्त्तनम् ।
उद्वेगश्च प्रलापश्चोन्मादश्च व्याधिरष्टम ।
जडता नवमी ज्ञेया मरण दशम स्मृतम् ॥

२१ । ईर्षाप्रणयसभूतो द्वेधा मान प्रकीर्त्यते ।
अन्यासक्ते प्रियतमे ईर्ष्यामानो भवेत् स्त्रिया ॥

२२ । स्वप्नाद्‌वा श्रवणाद्‌वापि चित्रादेर्वा विलोकनात् ।
साक्षादाकस्मिकाद्‌वापि दर्शनाद्‌दुर्लभे जने ॥

२३ । प्राक्तनी रतिरुद्‌भूता सप्राप्ते पूर्वमेव सा ।
पाकद्वयान्तरे पूर्वरागता प्रतिपद्यते ॥

२४ । अथ नैल कौसुम्भो, माञ्जिष्ठश्चाथ हारिद्र ,
रागश्चतुर्विधोऽत,-श्चातुर्विध्येन हि प्रकृते ॥

२५ । नैल स एष कथितो, न कदाचिद्‌ध्वसति शोभतेऽत्ययम् ।
कौसुम्भ स हि विदित , स्थित्वापैति प्रशोभते पूर्वम् ॥

२६ । माञ्जिष्ठ स हि य. किल, नापैत्येवातिशोभतेऽजस्रम् ।
हारिद्र स तु बोध्यो, यात्यपि न च शोभते यस्तु ॥

२७ । सर्वशुद्धरसवृन्दकन्दल, सर्वनायकघटाकिरीटग ।
अत्यलौकिकगुणैरलङ्कृतो, गोकुलेन्द्रतनय सुनायक ॥

२८ । कृती कुलीन सश्रीकस्त्यागी यौवनरूपभाक् ।
दक्षोऽनुरक्त उत्साही तेजोवैदग्ध्यभूषित ॥

२९ । सत्य शौच दया कान्तिरास्तिक्य धैर्यमेव च ।
औदार्यं प्रश्रयः शील क्षान्ति प्रह्वोऽनहङ्कृति ॥

३० । उदात्त उद्धतश्चैव प्रशान्तो ललितस्तथा ।

सर्वेऽमी धीर-शब्दाद्याश्चत्वारो नायका स्मृता ॥

३१ । आत्मश्लाघारहित , क्षमी गम्भीरो महासत्त्व ।
धीरोदात्त स्थेयान्, निगूढमानो दृढव्रत सुवचा ॥

३२ । आत्मश्लाघानिरतो, मायी चण्डश्च चपलश्च ।
धीरोद्धत स कथितो-,ऽहङ्कृतिझङ्कारनि शङ्क ॥

३३ । उभयगुणव्यतिरिक्तो, भूयान् साधारणैश्च गुणै· ।
धीरप्रशान्तसञ्ज्ञो, भवति द्विजवैश्यजातिक: साधु· ॥

३४ । मृदुल कलाकलापो, निश्चिन्तो मधुरवैदग्ध्य: ।
प्रथमरसप्रधानो, ललितकथो धीरललित स्यात् ।
सर्वेऽनुकुल-दक्षिण ,शठ धृष्टत्वेन षोडशधा ॥

३५ । एकाश्रितोऽनुकुल , समरागो दक्षिणस्तु सर्वासु ।
शठ एकत्रैव रतो, बहिरन्यत्र प्रियोऽप्रियो मनसि ॥

३६ । अपराद्धश्च विशङ्को, दृष्टे दोषेऽपि मिथ्यावाक् ।
तर्जन-ताडनयोरपि, कृतयोर्निर्लज्ज एव धृष्ट स्यात् ॥

३७ । षोडशविधास्त एते, पुनस्त्रिधा चोत्तमादिभेदेन ।
अष्टाधिकचत्वारिंशद्-,भेदा नायका कथिता. ॥

३८ । पुनरेते स्युर्दिव्या, दिव्याऽदिव्या अदिव्याश्च ।
स सतुश्चत्वारिंश-,च्छतमेक तेन तद्भेदा· ॥

३९ । धीरप्रशान्त-शठयो-,र्धृष्टस्य च भेदवर्जितैरपरै: ।
लीलावशात सर्वै-,रविरुद्धत्वाद्विरुद्धेऽपि ।
गोकुलराजकुमार-,स्तेन पर सर्वनायकाधीशः ॥

४० । धीरोदात्तो गुरुषु, ज्ञातिषु धीरोद्धतो विपक्षेषु ।
मायाविषु नियतमसौ, व्रजपुर्यां धीरललित. स्यात् ॥

४१ । अनुकूलो राधाया, सर्वास्वपरासु दक्षिणः कथित ।
लीलावशात् कदाचन धृष्टोऽपि शठश्च कुत्रापि ॥

४२ । सहायरा स्यु सहचरास्ते भवन्ति चतुर्विधा ।

४३ । सखायश्च प्रियसखास्तथा नर्मसखा अपि ।

प्रियनर्मसखाश्चान्ये तेषु दूतस्त्रिधा मत ॥

४४। निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा सन्देशहारक ॥
द्वयोरिङ्गितमादाय स्वयमुत्तरदायकः।
सुश्लिष्ट कुरुते कार्य्यं निसृष्टार्थः स उच्यते ॥

४५। प्रमित वक्ति कार्यस्य चान्त याति मितार्थकः।
यथोक्तमेव वदति य स सन्देशहारकः ॥

४६। शोभा विलासो माधुर्य्यं गाम्भीर्य्यं धैर्य—तेजसी।
औदार्य्यं ललितञ्चेति गुणा अष्टैव सात्त्विका ॥

४७। शौर्य्यं दाक्ष्यञ्च सत्त्वञ्च महोत्साहोऽनुरक्तता।
घृणा नीचेऽधिके श्रद्धा सा शोभा मिलितोच्यते ॥

४८। रम्यवेशविभूषाद्यैर्विलास. शिल्पकौशलम् ॥

४९। येन केनापि वेशेन माधुर्यं रमणीयता ॥

५०। भी-शोक-क्रोध-हर्षाद्यैर्गाम्भीर्यमविकारिता ॥

५१। स्वभावादप्रतिच्यावो धैर्य शोके महत्यपि ॥

५२। अवक्षेपावमानादे प्रयुक्तस्य परेण यत्।
निर्वापक भवेत्तेजो दानं प्रश्रयभाषणम्।
अमित्रेषु च मित्रेषु साम्यमौदार्यमिष्यते ॥

५३। वाग्वेशयोर्मधुरता शृङ्गारे ललित तु तत् ॥

५४। स्वकीया परकीयेति नायिकादौ द्विधा मता।
ऊढानूढेति च पुन परकीया भवेद्द्विधा ॥

५५। मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वकीया तु त्रिधा भवेत्।
मध्या-प्रगल्भयोर्भेदा षड् धीरादिप्रभेदतः।

५६। कनिष्ठ-ज्येष्ठरूपत्वात्तयोर्द्वादशधा मतम् ॥

५७। तेन त्रयोदश स्वीयाः परोढा स्यादलौकिके।
त्रयोदशविधा सापि तेन षड्विंशतिर्भिदाः ॥

५८। अवस्थाभिरथाष्टाभिरष्टोत्तरशतद्वयी ॥

५९। कन्या ज्येष्ठकनिष्ठत्वान्मृदुमध्यमृदुत्वतः।

चतुर्भेदास्ततस्तासां स द्वादशशतद्वयी ॥

६० । अत्युत्तमप्रकृत्यादितया ता स्यु पुनस्त्रिधा ।
षट्त्रिंशत् सहिता तेन षट्शती नायिकाभिदा ॥

६१ । तत्र सिद्धाः सुसिद्धाश्च नित्यसिद्धा इति त्रिधा ।
स्त्रियोऽवतीर्णास्तेन स्युर्वसुशून्यग्रहेन्दव (१९०८) ॥

६२ । स्वकीया तु कृतोद्वाहा पित्राद्यैः स्वयमर्पिता ॥

६३ । या तु व्यूढापि गोपेन लोकधर्म्मानपेक्षिणी ।
कृष्णैकताना रागेण परोढा व्रज एव सा ॥

६४ । पित्रादि-दानात् प्रागेव पित्रादेरप्यसम्मतौ ।
यातानुरागा या कन्या सा भैष्मी कुण्डिने यथा ॥

६५ । पितृभ्रात्रादिसङ्कोचात् स्वधाष्टर्यादिभयादपि ।
गूढा यस्या रतिर्गाढा सर्वथा सुरसायते ॥

६६ । कात्यायनीव्रतपरा सा कन्या सर्वदा व्रजे ॥

६७ । एवंविधैव कविभि परकीयैव वर्ण्यते ।
परपाणिग्रहीता तु कृष्ण एव हि शोभते ।
नैवान्यनायके यस्मात्तस्मान्नान्यत्र सा किल ॥

६८ । अभिनवविकसितयौवन-,मदनविकारा मृदुर्माने ।
वार्त्तायामपि सुरतेः, पराङ्मुखी सत्रपा मुग्धा ॥

६९ । मध्या सुललितसुरता, मध्यम-समुदीर्णयौवना नोच्चै ।
व्रीडावतीषदीषत्-,प्रागल्भ्या निभृतवैदग्ध्या ॥

७० । तरुणी मदनमदान्धा, रतिरणकुशला दरव्रीडा ।
भावोन्नता प्रगल्भा वैदग्ध्याक्रान्तनायका कथिता ॥

७१ । प्रियं वैदग्ध्यवक्रोक्त्या मध्याधीरा वदेद्रुषा ॥

७२ । धीराधीरा तु रुदितैरधीरा निष्ठुरोक्तिभि ॥

७३ । यदि प्रगल्भा धीरा स्यादवहित्थावहेलया ।
उदास्ते प्रकृतात् कोपादादरं दर्शयेद्बहि ॥

७४ । धीराधीरप्रगल्भा तु साकूतैर्वचनैर्मुहु ।

प्रियमुच्चै खेदयति पराऽवीक्ष्यैव निन्दति ।।
७५। मुग्धा मध्या प्रगल्भा च मिश्रभावात् पुनर्नव ।।
७६। गाढ़ानुरागा प्रागेव लब्धसङ्गापि हैतुके ।
विरहे वर्धितोत्कण्ठा विरहोत्कण्ठिता मता ।।
७७। सङ्केतस्थं प्रिय ज्ञात्वा सह सख्यैकिकाथवा ।
गतधीर्याऽभिसरति सा भवेदभिसारिका ।।
७८। अन्यासक्तेन कान्तेन खण्डिताशा तु या निशि ।
प्रातस्तद्भोगचिह्नानि वीक्ष्योद्विग्ना तु खण्डिता ।।
७९। दूतीभि प्रार्थ्यमानोऽपि गन्तास्मीत्युक्तवानपि ।
दैवान्नायाति यत्कान्तो विप्रलब्धेति सा स्मृता ।।
८०। कोपेनान्तरिता या तु कलहान्तरिता तु सा ।।
८१। वासगेहे वेश-भूषा-ताम्बूल-वसनादिभि ।
सुसज्जाऽपेक्षते कान्त सा स्याद्वासकसज्जिका ।।
८२। कार्यान्तरेण प्रवास गते सति मनोऽधिपे ।
तन्मनस्कैव या तिष्ठेत् सा स्यात् प्रोषितभर्तृका ।।
८३। निरन्तर प्रेमवशात् पार्श्ववर्त्तीव यत्प्रिय ।
वाग्वश-प्राय आभाति सा स्यात् स्वाधीनभर्तृका ।।
८४। यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसख्यका ।
अलङ्कारास्तत्र भाव-हाव-हेलास्त्रयोऽङ्गजा ।।
८५। शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यश्च प्रगल्भता ।
औदार्य्य धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजा ।।
८६। लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्बोकः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायित कुट्टमित विभ्रमो ललित मद ।।
८७। विकृत तपनं मौग्ध्य विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसित चकित केलिरनुभावादिमे पृथक् ।।
८८। निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथमविक्रिया ।
आलम्बनोद्दीपनोत्थ-भावादपि स च द्विधा ।।
८९। हृन्नेत्रादिविकारैस्तु व्यक्तोऽसौ याति हावताम् ।।

९० । हेला स एवाभिलक्ष्यविकार परिकीर्त्यते ॥

९१ । हेलैव शोभा लावण्य–रूप-वेशादिभिर्युता ॥

९२ । शोभैव मन्मथोन्माथात् कान्तिरुद्दीपितद्युति ॥

९३ । कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्युच्यते बुधैः ॥

९४ । सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्य्यं रमणीयता ॥

९५ । प्रगल्भता निर्भयत्वमौदार्यं विनय. सदा ॥

९६ । सुखे दु खेऽपि महति धैर्यं स्यान्निर्विकारता ॥

९७ । अङ्गैर्वेशैरलङ्कारैर्लीला कान्तानुकारिता ॥

९८ । यानस्थानासनादीना मुखनेत्रादिकर्म्मणाम् ।
विशेषो दयितालोके विलास परिकीर्त्त्यते ॥

९९ । स्तोकाऽप्याकल्परचना विच्छित्ति कान्तिपोषकृत् ॥

१०० । गर्वेण वस्तुनीष्टेऽपि विव्वोक स्यादनादर ॥

१०१ । अमर्ष-हास-वित्रास-शुष्करोदन-भर्त्सनै ।
निषेधैश्च रतारम्भे किलकिञ्चितमिष्यते ॥

१०२ । तद्भावभुग्नमनसो वल्लभस्य कथादिषु ।
मोट्टायित समाख्यात कर्णकण्डूयनादिकम् ॥

१०३ । स्तनग्रहास्यपानादौ क्रियमाणे प्रियेण चेत् ।
वहि क्रोधोऽन्तरप्रीतौ तदा कुट्टमित विदु ॥

१०४ । त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु ।
भूषाणा स्वपदादन्यपदे न्यासस्तु विभ्रम ॥

१०५ । सुकुमारतयाङ्गाना विन्यासो ललित भवेत् ॥

१०६ । मदो विकार सौभाग्य यौवनाद्यवलेपज ॥

१०७ । वक्तु योग्येऽपि समये न वक्ति व्रीडया तु यत् ।
तदेव विकृत वाच्य चेष्टा स्मरविकारजा ॥

१०८ । तपन प्रियविच्छेदे प्रतीतस्यापि वस्तुन ।
अप्रतीतवदापृच्छा प्रियाग्रे मौग्ध्यमेव तत् ॥

१०९ । अर्धार्धभूषारचना गात्रे विष्वग्विलोकनम् ।

रहसीषत्कथारम्भो विक्षेपः स्यात् प्रियागमे ।।

११० । कुतूहल रम्यतस्तुसमालोके विलोलता ।।

१११ । हसित स्याद्वृथाहासो नवयौवनगर्वज ।।

११२ । कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकित स्याद्भयोदय ।।

११३ । विहारे सह कान्तेन क्रीडित केलिरिष्यते ।।

११४ । प्रत्येक सप्तविंशता योगेऽष्टाविंशतिस्त्वगी ।
रसबाणर्षिसख्या (७५६) स्युस्ते पुन सेङ्गिता यदि ।
पक्षेन्द्विषुबिन्दुसख्या (१५१२) स्युरन्योन्यगुणिता ननु ।।

११५ । मुग्धा-मध्या-प्रगल्भाना त्रिविधानीङ्गितान्यपि ।।

११६ । दृष्टा तनोति मन्दाक्ष सम्मुख नैव वीक्षते ।
प्रच्छन्न तत् प्रतिकृति चित्रादौ स्पृहयेक्षते ।।

११७ । बहुधा पृच्छ्यमानापि रमणेन न जल्पति ।
तटस्थै कथ्यमानाया शुकैर्वा निज- लालितैः ।
तत्कथाया श्रुती दत्ते नेत्रे त्वन्यत्र यच्छति ।।

११८ । अकाण्डे नीवि-धम्मिल्लमोक्ष-सयमन--क्रिया ।
अलकोल्लासनमिषाद्भुजामूलप्रदर्शनम् ।।

११९ । सखीभि सह सवादो निर्हेतुर्मधुराक्षर ।
परस्पर परीहासो मन्दमन्द प्रियान्तिके ।।

१२० । चुम्बति लीलाकमल, परिरभते प्रियसखीमपि च ।
मुकुरे निजमुखकमल, निरीक्ष्य तिलक करोति कृष्णाग्रे ।।

१२१ । निरुपाधिप्रीतिपरा सदृशी सुखदु खयो ।
वयस्यभावादन्योन्यहृदयज्ञा सखी भवेत् ।

१२२ । छायेव याऽनुसरति सैव प्रियसखी स्मृता ।।

१२३ । सुरसे नर्मणि रता सैव नर्मसखी भवेत् ।।

१२४ । न सङ्कोचं यया याति कान्तेन शयितोत्थिता ।
आत्मनो मूर्तिरन्येव प्रियनर्मसखी तु सा ।।

१२५ । दूतीभाव समये, परिजनभावस्तु वेशभूषादौ ।

उपदेष्टृता च माने, तस्मिन् गाढे तु गर्हकत्वञ्च ॥

१२६ । वृन्दावन षड्‌ऋतव सह—वर्त्तमाना
कुञ्जा मणीन्द्रगृहतोऽपि मनोविनोदा । ।
कर्पूरभासि यमुनापुलिनानि हस-
कारण्डवादि—ललित नलिनीवनञ्च ॥

१२७ । चन्द्रश्च चन्दनमरुच्च मनोहराणि
गोवर्धनादि-गिरिकन्दरमन्दिराणि ।
रोलम्ब कोकिल-मयूरनिनादमिश्रै-
र्नानाविहङ्गविरुतैर्हरितोऽपि हृद्या ॥

१२८ । स्थायिभावस्य कार्याणि कटाक्षादीनि यानि तु ।
अनुभावास्तानि बोध्या न सख्या तेषु वर्त्तते ॥

१२९ । अलङ्काराश्च ये प्रोक्तास्तेषा मध्ये च केचन ।
कालेऽनुभावता यान्ति तथा तानीङ्गितानि च ॥

१३० । सात्त्विका अपि येऽन्येऽष्टौ तेऽपि यान्त्यनुभावताम् ॥

१३१ । स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभेदश्च वेपथु ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृता ॥

१३२ । निर्वेद-ग्लानि-शङ्काश्च मदासूया-श्रमा अथ ।
आलस्य-दैन्य-चिन्ताश्च मोह स्मृति-धृती अपि ॥

१३३ । व्रीडा चपलता हर्ष आवेग-जडते अपि ।
विषादौत्सुक्य-गर्वाश्च निद्रापस्मार एव च ॥

१३४ । विमर्ष-सुप्तचमर्षाश्चाप्यवहित्थोग्रतेत्यपि ।
उन्माद-व्याधि-मतयो वितर्क-मरणे अपि ।
त्रासश्चेति त्रयस्त्रिशदुच्यन्ते व्यभिचारिण ॥

१३५ । स्वजुगुप्सा तु निर्वेदो ग्लानिर्विकृतिराकृते ।
अनिष्टाशङ्कन शङ्का मदो मद्यादि-मत्तता ।
दोषदृष्टिरसूया स्याद्व्यायामचलान्तता श्रम ॥

१३६ । शक्तौ च कर्मवैमुख्यम लस्य दैन्यमात्मनि ।
अयोग्यबुद्धिश्चिन्ता तु किं भावीति विचिन्तनम् ॥

१३७। विचित्तता तु मोह स्यात् स्मृतिः प्रागवृत्त चिन्तनम् ।
धैर्यं धृतिस्त्रपा व्रीडा लौल्य चपलता मता ॥

१३८। हर्षश्चित्तस्य विस्फार आवेगस्त्वरया मद ।
निष्पन्दत्वन्तु जडता विषादस्तु विषण्णता ॥

१३९। उत्कण्ठैवौत्सुक्यमाहुर्गर्वोऽहङ्कार एव हि ।
निद्रा निद्रैव स्खलन फेननिष्ठीव-पूर्वकम् ॥

१४०। अपस्मार परामर्शो विमर्षो निद्रया विना ।
स्वप्नस्तु सुप्तिरित्याहुरमर्ष कोप एव हि ॥

१४१। अवहित्थाकारगुप्तिरुग्रता तीव्रतैव हि ।
अनवस्थितचित्तत्वमुन्मादो हृद्व्यथादिक ॥

१४२। व्याधिर्यथार्थस्मरण मति. सशय एव हि ।
वितर्को मरण प्राणत्यागस्त्रासो भयोदय ॥

१४३। अपस्मारञ्च निर्वेद मरणञ्च विना किल ।
त्रिशदेवात्र निज्ञेया शृङ्गारे व्यभिचारिण ॥

१४४। भवन्त्येकैकशस्त्वेते स्वातन्त्र्येण पृथक् पृथक् ।
उदय प्रशमश्चापि पृथगेव निरूप्यते ॥

१४५। द्वाभ्याञ्च बहुभिश्चापि शावल्य सहिता द्वयो ।
सन्धिर्लक्षणमेतेषा यथास्वमुपदर्श्यते ॥

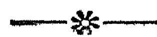
१४६। तात्कालिक हेतुमेत्य तत्कालोद्भूततोदय ।
प्रशमो निजसामग्र्या प्रागुद्भूतस्य सक्षय ॥

१४७। अन्योऽन्यानुग्राहकानुग्राह्यत्वात् सह-सस्थिति ।
अन्योऽन्य-निरपेक्षत्वात् स्व-स्व स्वातन्त्र्यतोऽथवा ॥
सपक्षाणा विपक्षाणा शावल्य परिकीर्त्तितम् ॥

१४८। एकस्य गमनारम्भो ह्यन्यस्यागमनोदय: ।
सन्धि स्यादथवा तुल्योदयस्तुल्यशमो द्वयो ॥

१४९। उदयाद्यैश्चतुर्भिस्तु शावल्यमपर भवेत् ।
तत् स्यात् षोडशधा तत्र प्रस्तारक्रम इष्यते ॥

१५० । सन्ध्युत्तरा स्युश्चत्वारस्तथान्ये शवलोत्तरा ।
चत्वार एव प्रशमोत्तरा अभ्युदयोत्तरा ॥
१५१ । एव स्याद्विशति सन्धे सन्धिनाप्युदयस्य च ।
उदयेन शमस्यापि शमेनापि त्रिधा पुन ॥
१५२ । तथैवोदयसन्धिश्च शमसन्धिरिति स्मृते ।
पञ्चविशतिरेते स्युरन्योऽन्यस्थितिभेदत ॥
१५३ । प्रत्येकमेकैकयोगे मिथोऽङ्गाङ्गित्वभावत ।
एकोनत्रिशता त्रिशद्विन्दुसिन्धुमतङ्गजा (८७०) ॥
१५४ । एतैश्च पञ्चविशत्या वाणग्रहमतङ्गजा (८९५) ॥
१५५ । पुनरेतै प्रागुगणितैस्तै सेङ्गित-निरिङ्गितै ।
अलङ्कारै शवलितै पक्षचन्द्रशरे दुभि. (१५१२) ॥
१५६ । शावल्येन भवन्त्येते विन्दुवेदकरद्विपै ।
वेदाग्निचन्द्रसख्याका (१३४८२४०) स्तेषा दिग्दशन भवेत् ॥
१५७ । एतान् कार्त्स्न्येन निर्वक्तु वाणी शक्नोति नो नर ॥
१५८ । भावान्तरसमावेशादुक्तिवैचित्र्यतोऽपि च ।
उत्तरङ्गतयाङ्गित्वादुन्मादो बहुधा मत ॥
१५९ । तत्र प्रलाप आलाप सलापो विप्रलापक ।
अनुलाप. सुप्रलाप. परिलापो विलापक ।
अपलाप प्रतीलापो वैचित्र्य दशधा गिराम् ॥
१६० । एव स्वबुद्धिकौशल्यादनुमेया सुबुद्धिभि ।
ग्रन्थगौरवभीत्यैव मया नोदाहृता परे ॥
१६१ । अनेनैव हि मार्गेण कवयो भावकोविदा ।
विदध्युर्भाविकाव्यानि तेनाय प्रक्रम कृत ॥



[षष्ठकिरणः]

१ । रसस्योत्कर्षक कश्चिद्धर्मोऽसाधारणो गुण ।

शौर्यादिरात्मन इव वर्णास्तद्व्यञ्जका मताः ॥

२ । गुणस्य व्यञ्जका वर्णास्ते माधुर्यादय पुन ॥

३ । माधुर्यमपि चौजश्च प्रसादश्चेति ते त्रय ।
केचिद्दशेति ब्रुवत एष्वेवान्तर्भवन्ति ते ॥

४ । अर्थव्यक्तिरुदारत्व श्लेषश्च समता तथा ।
कान्तिः प्रौढि समाधिश्च सप्तैते तैः समं दश ॥

५ । प्रसाद एवौजोमिश्रशैथिल्यात्मा भवेद्यदि ।
तदार्थव्यक्तिरित्येत विकटत्वमुदारता ॥

६ । पदानामेकरूपत्व सन्ध्यादावस्फुटे सति ।
श्लेषो मार्गभिद एव समतोज्ज्वल्यमेव हि ॥

७ । कान्तिः साभिप्रायतया समासव्यासयो सतो ।
वाक्यार्थे पदविन्यास पदार्थे वाक्यनिर्मिति ।
प्रौढिरारोहावरोह-क्रम समाधिरिष्यते ॥

८ । तेष्वेवान्तर्भवन्त्येक एके वैचित्र्यबोधका. ।
एके दोषपरित्यागाद्गतार्था इति नो दश ॥

९ । अर्थव्यक्ति प्रसादान्त प्रौढिर्वैचित्र्यबोधिका ॥

१० । समता तु क्वचिद्दोषो वैषम्य यत्र वाञ्छ्यते ।
सजातीय- विजातीय- युगपद्वर्णने सति ॥

११ । ग्राम्यकष्टत्वादिहानादपारुष्योररीकृतौ ।
ऐज्ज्वल्यरूपा या कान्तिः सा माधुर्यान्तरस्थिता ।
अन्ये त्वोजसि वर्त्तन्ते तेन तेन पुनर्दश ॥

१२ । रञ्जकत्व हि माधुर्यं चेतसो द्रुतिकारणम् ।
सम्भोगे विप्रलम्भे च तदेवातिशयोचितम् ॥

१३ । चेतोविस्ताररूपस्य दीप्तत्वस्य हि कारणम् ।
ओज स्याद्वीर-बीभत्स- रौद्रेषु क्रमपुष्टिकृत् ।

१४ । श्रुतिमात्रेण यत्रार्थ सहसैव प्रकाशते ।
सौरभ्यादिव कस्तूरी प्रसाद सोऽभिधीयते ॥

१५। स सर्वेषु रसेष्वेव सर्वास्वपि च रीतिषु ।
उपयुक्तो व्यञ्जकाः स्युर्वर्णाश्च रचना अपि ॥
१६। स्पर्शा स्ववपञ्चमाध स्था अटवर्गा लघु रणौ ।
माधुर्यव्यञ्जका वर्णा नैकरूपा क्रमेण चेत् ।
१७। इत्यादे खल्वनुप्रास-रीतिरूढस्य वर्त्मनः ।
माधुर्यबहुलत्वेऽपि गौडीया रीतिरिष्यते ॥
१८। योग आद्य-तृतीयाभ्या चेद्द्वितीय-चतुर्थयो ।
उपर्यधो द्वयोर्वापि रेफेण सह चेद्युतिः ॥
१९। शषौ टवर्गश्चानन्त्यो वृत्तिदैर्घ्यं तथौजसि ॥
२०। अटवर्गैररेफैश्च क्ख ग्घाभ्याञ्च विवर्जितै ।
अयुक्तैश्च महाप्राणैर्मध्यता प्रतिपद्यते ॥
२१। शृङ्गारेऽप्येष चारु स्यात् करुणादौ भवेन्न वा ।
माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैर्युक्तश्चेदतिसुन्दर ।
गाढबन्ध स आख्यातः पाठे वदनपूर्तिकृत् ॥
२२। प्रसादस्य व्यञ्जिका तु केवल रचना मता ।
न तत्र वर्णप्राधान्य प्रसाद्यो विशदार्थता ॥
२३। यद्यपि गुणपरतन्त्रा, रचनाद्यास्तदपि वक्त्रादे ।
औचित्यात्तदधीना, भवन्ति तस्माद्गुणोऽपि तदधीन ॥

—*—

[सप्तमकिरणः]

१। एकेनार्थेन यत् प्रोक्तमन्येनार्थेन चान्यथा ।
क्रियते श्लेष-काकुभ्यां सा वक्रोक्तिर्भवेद्द्विधा ॥
२। श्लेषोऽपि च भवेद्द्वेधा सभङ्गाभङ्गभेदत ॥
३। अनुप्रास्यत इत्यर्थेऽनुप्रासो वर्णसाम्यतः ॥
४। स च द्वेधा छेकवृत्तिभेदाच्छेकः सकृत्तया ।
माधुर्यव्यञ्जकत्वेन स एव हृद्यपनागर ॥

५। एकस्याप्यथवाऽनेकस्याम्रेडिततया यदि।
न्यास स्याद्वृत्त्यनुप्रास एष च द्विविधो भवेत् ॥
६। माधुर्यौजोऽनुकूलत्वात् कोमलो लाट इष्यते ॥
७। तात्पर्यमात्रभेदे स्याल्लाट इत्युच्यतेऽपरे ॥
८। पदस्याप्येष तत्रैव वृत्तावन्यत्र वा पुनः।
वृत्त्यवृत्त्योश्च वा नाम्न सारूप्ये स्यादथापर ॥
९। यमक त्वर्थभिन्नाना पदादीना समाऽऽकृति.।
क्वचिन्निरर्थकाणाञ्च सार्थानर्थवता क्वचित् ॥
१०। एतच्च पादजत्वेन नवधा प्रथमस्य तु।
द्वितीयेन तृतीयेन चतुर्थेनेति तत्त्रिधा ॥
११। द्वितीयस्तु तृतीयेन चतुर्थेनेति च द्विधा।
तृतीयस्तु चतुर्थेनेत्येक एवेति षड्भिद· ॥
१२। प्रथमस्त्रिष्वपीत्यन्य इति सप्त द्वय पुनः।
प्रथमस्तु चतुर्थेन द्वितीयस्तत्परेण च।
प्रथमस्तु द्वितीयेन तृतीयस्तत्परेण च ॥
१३। अर्धश्लोकश्लोकयोश्चावृत्त्या द्वेधा भवेदथ।
तेनैकादशभेदा· स्यु· पादभागे च पूर्ववत्।
नवधेति भिदा ज्ञेया विंशतिर्यमकोद्भवा ॥
१४। पादस्य तु त्रिखण्डत्वे त्रिंशद्भेदा प्रकीर्त्तिता।
चतुःखण्डत्वे च पुनश्चत्वारिंशद्भवेद्भिदा ॥
१५। आद्यन्तमध्यभेदेन क्रमादथ समुच्चयात्।
अन्तादिभेदेन पुनर्बहुधा यमकक्रिया ॥
१६। भिन्ना अप्यर्थभेदेन युगपद्भाषणक्षमा।
त्यजन्ति भिन्नरूपत्व शब्दा यच्छ्लेष एव स ॥
१७। स प्रकृति-लिङ्ग-वर्ण,-प्रत्यय-भाषा-विभक्ति-पद-वचनैः।
अष्टविधो निरपेक्ष-,स्तुल्योभयवाच्य एव नवम· स्यात् ॥
१८। नटानाञ्च कवीनाञ्च मार्ग· कर्कश एव य।
रसाभिव्यक्तये नासौ शक्तिज्ञप्त्यै स केवलम् ॥

१६ । चित्रं नीरसमेवाहुर्भगवद्विषयं यदि ।
तदा किञ्चिच्च रसवद्यथेक्षो पर्वचर्वणम् ॥

२० । पुनरुक्तवदाभासः पुनरुक्तवदेव यः ॥

—※—

[अष्टमकिरणः]

१ । यथाकथञ्चित् साधर्म्यमुपमा सा भवेद्द्विधा ॥

२ । पूर्णा लुप्तेति पूर्णा तु धर्मेणेव-यथादिभिः ।
उपमानोपमेयाभ्यामियमेवेव--वादिभिः ॥

३ । युक्ता श्रौती समाद्यैस्तु सा स्यादार्थी च तद्धिते ।
वाक्ये समासे चेत्येते षोढा लुप्ता तु लोपतः ।
धर्मवाद्युपमानानामेक-द्वि-त्रि-क्रमेण हि ॥

४ । धर्मलोपे क्रमेणैषा पूर्णावत् षड्विधोचिता ।
किन्तु तद्धितगा श्रौती लुप्तायां नेति पञ्चधा ॥

५ । क्यचि कर्माधारकृते कर्तृकर्मकृते णमि ।
क्यङि चेति पुनः पञ्चेवादिलोपे यथाक्रमम् ।

६ । उपमानानुपादाने द्वैधं वाक्य-समासयोः ।
इवादेरनुपादाने द्वैधं स्यात् क्विप्समासयोः ॥

७ । धर्म्मोपमानयोर्लोपे द्वैध वाक्यसमासयोः ।
धर्म्मेव-वादि-लोपे तु द्वैध स्यात् क्विप्समासयो ॥

८ । उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि ।
धर्म्मोपमेयलोपेऽन्या त्रिलोपे तु समासगा ॥

६ । एवं दशैकादश च लुप्ता स्यादेकविंशतिः ।
पूर्णाः षड़ेव तेन स्युरुपमाः सप्तविंशतिः ॥

१० । एकत्वमुपमेयानामुपमानामनेकता ।
धर्मैकरूप्यवैरूप्ये द्वेधा मालोपमा भवेत् ॥

११ । उपमेयस्योपमात्वमुत्तरोत्तरतो यदि ।

अभिन्नभिन्नहेतुत्वे द्विधा सा रसनोपमा ॥

१२। एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयोपमा।
एकवाक्ये विपर्यास उपमेयोपमा द्वयो॰ ॥

१३। उपमानस्य निन्दायामयोग्यत्वे निषेधतः।
प्रशसा योपमेयस्य सोपमेयोपमाऽपरा ॥

१४। असम्भाव्य समुद्भाव्योपमानेऽसम्भवोपमा।

१५। सम्भावनोपमानेनोपमेयोत्कर्षहेतुका।
उत्प्रेक्षा नूनमित्यादि-शब्दद्योत्या स सशय॰ ॥

१६। भेदानुक्तौ तदुक्तौ तु सन्देह॰ रूपक तु तत्।
यत्तादात्म्यं द्वयोस्तच्च द्विधेवेति विदुर्बुधा।
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ॥

१७। आरोप्यमानश्चारोपविषयो यत्र शब्दगौ।
तदादिरारोप्यमाण॰ शाब्द आर्थश्च तत्परम् ॥

१८। आरोपविषयाभावेऽप्यारोप्य यदि तत् परम्।
उक्तं प्रसङ्गि निःसङ्गमेकमेव विवक्षितम्।
मालारूपकमन्यत्तु ज्ञेयं मालोपमानवत् ॥

१९। श्लिष्टस्य वाचकस्यानुरोधादारोप एव य।
सोऽन्यस्यारोपहेतुश्चेत् परम्परित--नामकम् ॥

२०। भेदे सत्यपि तद्या तु प्रकृतस्यान्यथाकृति।
सापह्नुतिरनेकार्थप्रतिपादकता यदि।
एकार्थस्य तु शब्दस्य तदा श्लेषः स कथ्यते ॥

२१। श्लिष्टैर्विशेषणैरेव विशेष्यस्यान्यथास्थिति।
समासयोक्तिरसम्बन्धरूप यत्तुपमाकृति ॥

२२। निदर्शनैषा दृष्टान्तप्राया यत्र क्रियैव हि।
वक्ति स्वरूप हेतुश्च साऽन्याऽप्रासङ्गिकस्य वाक्।
प्रासङ्गिक--कथायां स्यादप्रस्तुतप्रशसनम् ॥

२३। कार्यकारणसामान्यविशेषेषु तदन्यगौ।
प्रस्तुतेषु च तुल्ये च तुल्यगौ॰ पञ्चधैव तत् ॥

२४ । प्रतीयमानस्यारोपानारोपाभ्यां पुनर्द्विधा ॥

२५ । निगीर्णस्योपमानेनोपमेयस्य निरूपणम् ।
यत् स्यादतिशयोक्तिः सा तदेवान्यतया यदि ।
निरूप्यते सा द्वितीया यद्यर्थेन तु कल्पना ॥

२६ । यद्यसम्भविनोऽर्थस्य सा तृतीया विपर्यये ।
कार्य-कारणयोरन्या प्रतिवस्तूपमा तदा ॥

२७ । सामान्यस्य स्थितिर्वाक्य उपमानोपमेययो ॥

२८ । सर्वेषामेव धर्म्माणां दृष्टान्त प्रतिबिम्बवत् ।

२९ । स च साधर्म्म्य--वैधर्म्म्यभेदेन द्विविधो मत ॥

३० । कारकैक्ये क्रिया बह्वो व्यत्ययेऽपि च दीपकम् ॥

३१ । माला स्यात् पूर्वपूर्वञ्चेदुत्तरोत्तरमृच्छति ॥

३२ । प्रकृताना चैकदोक्तिरुच्यते तुल्ययोगिता ॥

३३ । चकारेणापि साक्षेप्या व्यतिरेको विलक्षण ।
उपमानात् द्वयोरुत्कर्षापकर्षार्थशंसिनोः ॥

३४ । हेत्वोरुक्तौ त्रयाणां वाऽनुक्तौ शब्दार्थशक्तिभिः ।
आक्षिप्त सति च श्लेषे स स्याद्बहुविधः पुन ॥

३५ । आक्षेपो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषविवक्षया ।
निषेधो वक्ष्यमाणत्वेनोक्तत्वेन च स द्विधा ॥

३६ । हेतुरूपक्रियाभावे फल यत् सा विभावना ॥

३७ । विशेषोक्तिः कारणेषु सत्सु कार्यस्य नोदयः ।

३८ । यथासख्य यथासख्य क्रमिकाणां यदन्वयः ॥

३९ । यस्मिन् विशेष सामान्य समर्थ्यते परेण यत् ।
साधर्म्म्यादथ वैधर्म्म्यात् स न्यासोऽर्थान्तरस्य हि ॥

४० । विरोध स विरोधाभो जातिर्जात्यादिभिर्गुण ।
त्रिभिर्द्वाभ्यां क्रियाद्रव्य द्रव्येणैवेति ते दश ॥

४१ । स्वभावोक्ति स्वभावस्य वर्णन यन्मुखे स्तुति ।
निन्दा वा हृदये व्याजस्तुति स्यात्तत्तदन्यथा ॥

४२ । सहोक्तिः सा सहार्थेन शब्देनैका क्रिया यदि ।

विनोक्ति सा विनैकेनान्यस्य चेत् सदसत्कृति ॥

४३। समासमाभ्यां निमयः परिवृत्तिरुदीर्यते ॥

४४। अतीतानागतार्थाना साक्षात्त्वमिव भाविकम् ॥

४५। पदवाक्यार्थताहेतो काव्यलिङ्ग प्रकीर्त्यते।

४६। विना वाचक- वाच्यत्व यत्र वस्तु प्रतीयते।

पर्यायोक्त तत् समृद्धिरुदात्त वस्तुनः परा ॥

४७। प्रधानमपि यत्राङ्गमेकस्मिन् यत्र साधके।

साधकान्तरनिर्देश स समुच्चय इष्यते ॥

४८। गुणो गुणक्रियाभ्याञ्च क्रियया च क्रियापरः ॥

४९। अनेकस्मिन् क्रमेणैक पर्यायोऽन्यो विपर्ययात् ॥

५०। साध्यसाधनसद्भावेऽनुमानमनुमानवत् ॥

५१। विशेषोक्ति परिकर स्यात् साकूतैर्विशेषणै ॥

५२। प्रकृतस्थगन छद्म व्याजोक्तिरनिषेधभाक् ॥

५३। प्रश्नपूर्वकमाख्यान तत्सामान्य-व्यपोहनम्।

तस्य तस्यापि च ज्ञेये व्यङ्गत्वे स्यादथापरम्।

अप्रश्नपूर्वक वाच्य परिसख्या चतुर्विधा ॥

५४। यथोत्तर पूर्वपूर्वहेतुकस्य तु हेतुता।

तदा कारणमाला स्यात् क्रिययान्योऽन्यकारणम् ॥

५५। वस्तुद्वय तदान्योऽन्य प्रश्नस्योन्नयन यदि।

उत्तरश्रुतिमात्रेणोत्तर स्यात् प्रश्नतोऽपि वा ॥

५६। आकारेणेङ्गितेनापि सूक्ष्मार्थो यत्र लक्ष्यते।

प्रकाश्यते वाऽन्यस्मै च स सूक्ष्म कीर्त्यते द्विधा ॥

५७। सार सावधिरुत्कर्षो यद्भवेदुत्तरोत्तरम् ॥

५८। अत्यन्तभिन्नाधारत्वे युगपद्भाषण यदि।

धर्मयोर्हेतुफलयोस्तदा सा स्यादसङ्गति ॥

५९। कारणान्तरसाहाय्यात् कार्य यत् सुकर भवेत्।

कर्तुं विना प्रयत्नेन स समाधिरितीर्यते ॥

६० । श्लाघ्यत्वेन भवेद्योग्यो यदि योगस्तदा समम् ॥

६१ । अत्यन्तवैसादृश्येन योगो यदतिदुर्घटः ।
कर्तुं क्रियाफलाभाव प्रत्युतानर्थसम्भव ॥

६२ । गुणक्रियाभ्या ते एव कार्य-कारणयोश्च यत् ।
परस्पर विरुध्येते विषम· स चतुर्विध ॥

६३ । आधेयाधारयोर्भूम्नोर्मिथस्तत्प्रतियोगिनौ ।
ततोऽप्यधिकभूमानौ स्यातां तदधिकं भवेत् ।

६४ । अपकार्यपकारार्थमसामर्थ्येन तत्प्रियम् ।
हिनस्ति यत्तदीयोक्ति प्रत्यनीक स्तवो यदि ॥

६५ । तुल्येन लक्ष्मणाऽस्तोकेनान्यद्यदि निगूह्यते ।
सहजेनेतरेणापि तन्मीलितमपि द्विधा ॥

६६ । स्थाप्यते खण्ड्यते वापि पूर्वं पूर्वं परेण यत् ।
विशेषणतया वस्तु सा द्विधैकावली भवेत् ॥

६७ । पूर्वानुभूतस्मरण तत्समाने विलोकिते ।
स्मरण भ्रान्तिमास्तद्धीरतस्मिन् साम्यभाजि यत् ॥

६८ । उपमानस्य धिक्कार उपमेयस्तुतौ यदि ।
प्रतीपमुपमानस्य धिक्कृत्यै चोपमेयता ॥

६९ । प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन गुणैकत्व-विवक्षया ।
ऐक्य निबध्यते योगाद्यत् सामान्यं तदिष्यते ॥

७० । आधारस्य प्रसिद्धस्याभावेऽप्याधेयदर्शनम् ।
एकस्य युगपद्वृत्तिरनेकत्र स्वरूपतः ॥

७१ । एकस्यैवातिचित्रस्य वस्तुन करणेन हि ।
तत्सामान्यान्यवस्तुना करण स भवेत्त्रिधा ॥

७२ । विशेष स्वगुण त्यक्त्वा प्रगुणस्य समीपगम् ।
तस्यैव गुणमादत्ते यद्वस्तु स्यात् स तद्गुण ॥

७३ । न गृह्यते यदि गुणस्तस्य स स्यादतद्गुण ॥

७४ । यद्वस्तु साधित येन करणेन तदन्यथा ।

तेनैव यदि तस्य स्यात्तदा व्याघात इष्यते ॥
७५। उपमादय एतेऽमी व्याघातान्ता क्रमेण हि ।
द्विषष्टिसंख्या एवैतेऽलङ्कारा बहव पुन ॥
७६। संसृष्ट्या सङ्करेणापि भूय संसृष्टिरत्र सौ ।
क्रियाशब्दार्थोभयभू सा क्रमेण प्रदर्श्यते ॥
७७। सङ्करस्त्वङ्गाङ्गिभावो बहूना वा द्वयोश्च वा ।
सहावस्थानबाधेन भवेन्नो वेत्यनिश्चये ।
सङ्करोऽनिश्चयाख्य स्यादयथास्थान प्रदर्श्यते ॥
७८। एकत्र विषये व्यक्तमुभयालङ्कृतिर्यदि ।
तदापर सङ्करः स्यादिति त्रिविध एव स ॥
७९। शब्दालङ्कृतय शुद्धास्त्रिचत्वारिंशदीरिता (४३) ।
ता परस्पर संसृष्ट्या तावता गुणनेन हि ॥
८०। षड्बिन्दुवसुचन्द्रा (१८०६) स्युश्चित्र चेत्तत्र गण्यते ।
तदा तस्य बहुत्वेऽपि स्यादैक्य तेन तद्युतौ ॥
८१। मुनिबिन्दुभचन्द्रा॰ (१८०७) स्यु सङ्करेण त्रिधा पुन ।
चन्द्रपक्षाब्धिबाणा (५४२१) स्यु शब्दालङ्कारसंग्रहे ॥
८२। अर्थालङ्कृतय शुद्धा द्विषष्टिस्तत्प्रभेदत ।
अश्वनागशशाङ्का (१८७) स्युस्तावता गुणनेव ते ॥
८३। इतरेतरसंसृष्ट्या ग्रहर्तुग्रहसिन्धुभि ।
युतोऽग्नि (३४९६९) रेते च पुन सङ्करेण त्रिरूपिणा ।
अश्वबिन्दुग्रहाम्भोधिबिन्दुचन्द्रा (१०४९०७) प्रकीर्तिता ॥
८४। शब्दालङ्कारसंसृष्ट्या वाजिसिन्धुमतङ्गजै ।
द्विबि द्वब्धीभषड्बाणा(५६८७००८४७)उभयालङ्कृतिग्रहाः॥
८५। रसवत्-प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहित-समाख्यया ।
रसालङ्कृतयोऽप्यन्याश्चतस्रो रसपोषिका ॥
८६। अथैषा कथ्यते दोषो वैफल्य वृत्त्ययोग्यता ।
प्रसिद्धेश्च विरुद्धत्वमनुप्रासे मलत्रयम् ॥

८७। पादत्रयगतत्वेन यमनं यमकस्य तु।
अप्रयुक्ततया दोष उपमायान्तु हीनता।
आधिक्यञ्च भवेज्जातिप्रमाणाभ्यां तदापि स॰ ॥

८८। लिङ्गस्य वचनस्यापि कालस्य पुरुषस्य च।
विध्यादेरपि भेदे चासाम्यासम्भाव्ययोरपि ॥

८९। सारूप्ये लिङ्गभेदस्तु न दोषो न च वा गुणः ॥

९०। उत्प्रेक्षाया यथाशब्द एवमन्येऽपि सूक्ष्मत ॥

——*——

[नवमकिरणः]

१। रीतिः स्याद्वर्णविन्यासविशेषो गुणहेतुक ॥

२। वैदर्भ्यादि-विशेषेण चतुर्धा सा निगद्यते ॥

३। अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वास मस्तगुण--भूषिता।
वैदर्भी सा तु शृङ्गारे करुणे च प्रशस्यते ॥

४। पाकोऽस्यस्याः सहाय स्यादाम्रवार्त्तांकु-पाकवत् ॥

५। पूर्वपूर्वदशायाश्चेदुत्तरोत्तर-रम्यता।
तदा रसालपाकः स्याद्विपरीते तदान्यकः ॥

६। कथाप्रायो हि यत्रार्थो माधुर्यप्रायको गुणः।
न गाढता न शैथिल्य सा पाञ्चाली निगद्यते ॥

७। निष्ठुराक्षरविन्यासाद्दीर्घवृत्तिर्युतौजसा।
गौडी भवेदनुप्रासबहुला वा समन्ततः ॥

८। शैथिल्य यत्र मृदुलैर्वर्णैर्लादिभिरुत्कटम्।
सा लाटी स्याल्लाटजनप्रियानुप्रासनिर्भरा ॥

——*——

[दशमकिरणः]

१। रसापकर्षको दोषो रसोऽत्रास्वाद उच्यते ॥

२। अपकर्षस्ततस्थगन स च द्वेधा निरूप्यते ॥

३। श्रुतिकट्वादयस्तत्रादावुच्यन्ते समासत ।
पदे वाक्ये पदांशेऽर्गी अर्थे चेति चतुर्विधा ॥

४। श्रवणकठोरमसस्कृत--,मसमर्थञ्चाप्रयुक्तनिहतार्थे ।
व्यर्थमवाचकमपि चा-,नुचितार्थं ग्राम्यमप्रतीतञ्च ।

५। अश्लील सन्दिग्ध, नेयार्थमथो समासग क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयाश, विरुद्धमतिकृच्च षोड़शैतानि ॥

६। एवमन्ये यथास्थल ज्ञेया वाक्ये तथैव च ॥

७। प्रतिलोमाक्षरमाहत--,नष्टविसर्गञ्च स.हताहीनम् ।
हतवृत्त हीनाधिक-,कथितपद प्रस्खलत्प्रकर्षञ्च ॥

८। ससमाप्त-पुनरुपात्ते, नश्यन्मतयोगसङ्कीर्णे ।
अर्धान्तरैकवाचक,--मनभिहितार्थ प्रसिद्धिधूतमपि च ॥

९। अपदस्थपदसमास, गर्भित--भग्नक्रमाक्रमाण्यपि च ।
अमतपरार्थञ्चेति, ज्ञेय दोषान्वित वाक्यम् ॥

१०। रणितादि नूपुरादिषु, विहगादिषु कूजितादीनि ।
स्तनितादि च जलदादौ, भेर्यादिषु भाङ्कृतादीनि ॥

११। मणितादीनि च सूरते, रवादि भेदादिषु प्रसिद्धिरियम् ।
अस्या विपर्यये स्यात, प्रसिद्धिधूतदूषण वाक्ये ॥

१२। विषादे विस्मये हर्ष कोपे दैन्येऽवधारणे।
उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य-विषये च प्रसादने ।
अनुकम्पादिके चापि पौनरुक्त्य न दुष्यति ॥

१३। कष्टोऽपुष्टव्याहत-,पुनरुक्त -ग्राम्य-दुष्क्रमा अपि च ।
सशयितो हेतुहत , प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ॥

१४। अनवीकृत सनियमोऽ ,नियमेऽनियमस्तथा सनियमे च ।

सामान्ये सविशेष , सामान्ययुतो विशेषे च ॥

१५ । साकाङ्क्षो निर्वाहे, पूरणकारी विरूपसहचरितः ।
व्यङ्ग्यविरुद्धो विध्यनु--,वादाऽयुक्तस्तथाऽश्लील ।
त्यक्तपुन स्वीकृत इति, दुष्टा अर्थास्तु विशतिस्त्रियुत। ॥

१६ । किन्त्वय चित्रकाव्यादौ न दोषो न च वा गुण ॥

१७ । कर्णावतसादिषु यत् कर्णादि--शब्द ईक्ष्यते ।
तत्साश्निध्यादिबोधार्थं तज्ज्ञेय न प्रयोजयेत् ॥

१८ । रसाना शब्दवाच्यत्व स्थायिनां व्यभिचारिणाम् ।
विभावस्यानुभावस्य व्यक्तौ कष्टा च कल्पना ॥

१९ । प्रतिलोमविभावादिग्रहो दीप्तिरभीक्ष्णश ।
वृथाविस्तारह्रासौ च तथाङ्गस्यातिविस्तृति ॥

२० । अङ्गिनोऽनभिसन्धान प्रकृतीनां व्यतिक्रम. ।
अनङ्गस्य प्रकटन रसदोषा इमे स्मृताः ॥

२१ । एकाश्रयत्वे रसयोर्न विरोध प्रवर्त्तते ।
भिन्नाश्रयत्वे विरोध शान्त-शृङ्गारयोर्यथा ॥

—※—

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयत ※

विषयसूची

तृतीयकिरण.

चतुर्थकिरणः

पञ्चमकिरणः

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभस्य संज्ञाविशेषानुक्रमः

(दक्षिणपार्श्वस्थाङ्का किरण क्रमिकश्लो. सख्यानामिति ज्ञेयम्)

— ※※ —

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभोद्धृत-ग्रन्थ-ग्रन्थकृन्नाम-सूची

(दक्षिणपार्श्वस्थाङ्का किरण क्रमिकश्लोकसंख्यानामिति ज्ञेयम)

[का—कारिका]



श्रीश्रीमदलङ्कारकौस्तुभ-श्लोकसूची

[मातृकाक्रमेण श्लोकानां चतुर्णामिव चरणाना निर्देशिका]

(श्लोक प्रतीकाना दक्षिणपार्श्वस्थाङ्का किरण श्लोक सङ्ख्यानामिति ज्ञेयम)



** श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् **

श्रीमद् महाकवि श्रील-कविकर्णपूर गोस्वामि प्रभुपाद विरचित·

श्रीश्रीमदलङ्कारकौस्तुभः

प्रथम किरणः

अथ काव्यसामान्योद्देश

** श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः **

ग्रन्थारम्भे स्वाभीष्टदेवता–नाम–गुण–कीर्त्तनात्मक मङ्गलमङ्गीकुर्वन् ग्रन्थकारो ग्रन्थस्य निर्विघ्ना परिसमाप्तिमाशास्ते—

स्वानन्द रससतृष्ण, कृष्णचैतन्य विग्रहो जयति ।
आपामरमपि कृपया, सुधया स्नपयाम्बभूव भूमौ य ॥१॥

श्रीश्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ति ठक्कुरपाद विरचिता

सुबोधिनी

प्रथम किरण

अथ काव्यसामान्योद्देश·

** श्रीश्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः **

अद्वैतप्रकटीकृतो नरहरि-प्रेष्ठ स्वरूपप्रियो
नित्यानन्दसख सनातनगति श्रीरूप हृत् केतन ।
लक्ष्मीप्राणपतिगदाधररसोल्लासी जगन्नाथभू
साङ्गोपाङ्गसपार्षदो स जयता देव शची नन्दन ॥

अथ सोऽयं कवि मुकुट मणि श्रीकविकर्णपूर गोस्वामी स्वकृत श्लोकानां स्वयमेव व्याख्यामाह— ग्रन्थारम्भ इति । ग्रन्थकारोऽत्र स्वयमेव निर्विघ्नां परिसमाप्तिमाशास्ते,—मत्कृत ग्रन्थस्य निर्विघ्ना परिसमाप्ति भवत्वितीच्छतीत्यर्थ । स्वानन्देति—चैतन्यनामा विग्रह श्चैतन्य विग्रह । कथम्भूतः ? कृष्ण— श्रीकृष्णाभिन्न, स जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते, स्वीया जो भजनानन्द रसस्तत्रस्वयमेव सतृष्ण, यो भूमौ

कवि मुकुट मणि श्रील कवि कर्णपूर गोस्वामि चरण स्वकीय अलङ्कार कौस्तुभ नामक ग्रन्थ की निर्विघ्न परि समाप्ति कामना से ग्रन्थारम्भ मे निज अभीष्ट देवता का नाम गुण कीर्त्तनात्मक मङ्गलाचरण कर रहे हैं । निज आनन्द रस मे सतृष्ण, श्रीकृष्णाभिन्न चैतन्य विग्रह भगवान् की जय हो । जो भूतल मे

स जयति येन प्रभवति, दृशि सुदृशा व्यञ्जनावृत्ति ।
अतिशयित पद पदार्थो, ध्वनिरिव मुरलो ध्वनिमु रारातॆ ॥२॥

जयति रवाकम्मक , सर्वोत्कर्षवचन स्तेन नमस्कारोऽपिव्यज्यते,-"स्वापकष बोधानुकूल व्यापार विशेषोनमस्कार " इति न्यायात् । सर्वोत्कर्षं दशयति-पद वकुण्ठादि स्थानम्, पदार्थो

निष्ठन् पामर पय्य त कृपया सुधया स्नपयाञ्चकार निमज्जयति स्म । अथवा—स्वेषु राधिकादि भक्त जनध्वान द दायका यो रस शृङ्गाराख्य स्तत्र सतष्ण स्तद् रसमास्वादयितुमिच्छन् श्रीकृष्णचत य स्य विग्रह सन् भूमौ स्थित पामर पय्यन्त कृपा रूपया सुधया स्नपयाम्बभूवेत्य वय ॥१॥

'जि अभिभवे' इति परिभवाथक जिधातु सकम्मक । अतस्तद् व्यावृत्त्यथमाह जयतीति । जयति सकम्मक तेन- नमस्कारो व्यज्यत स्वनिष्ठो योऽपकषबोधानुकूल व्यापार , स नमस्कार इति नमस्कार लक्षणम् । अत्र तु स्वापेक्षया तदुत्कष बोधकाले तुल्यवित्ति वेद्यता यायेन स्वस्मिन्नप्यपक षबोधो जायते। तादृश बाधानुकूलव्यापारो जयतीति प्रयोग एव नमस्कार । तेन ग्रन्थ कारस्यापि वाचनिक नमस्कार सिद्धिरिति भाव । 'पद व्यवसिति त्राण स्थान लक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु' इत्यभिधानात् पदशब्दोऽत्र वकुण्ठादि स्थान विशेष वाचक स्तथा पदाथ शब्दोऽपि वास्तव वस्तभूत ब्रह्मान द रूप पदाथ विशेष वाचक ताभ्या पद पदार्थाभ्या सकाशाद् योऽतिशय उत्कष स्तद् विशिष्ट , तथा च पद पदार्थाभ्या सकाशादतिशयित इति राजदन्त्यादि वादतिशयित इति पूर्वनिपात । अतएव ताभ्यामतिशयोति अत्रातिपूवकाकमक-शीधात रुत्कर्ष वाचक । तत्र तत्र वकुण्ठे ब्रह्मानन्दे च दुलभ इति । ननु तदपेक्षया मुरलीध्वना उत्कर्ष बोधे सति कथ तत्र मुरलीध्वने दु लभता प्रतीति यथा मुखाच्छन्द्र पेक्षया म दहासोऽतिशयित इत्युक्त न च मुखे म द

अवस्थित होकर आपामर जन गण का कृपारूप सुधारस से अभिषिक्त किये हैं । स जयति पद सर्वोत्कष का सूचक है । अथवा निज राधिकादि भक्त वृन्द को आन द दायक जो शृङ्गार शुचि, उज्ज्वल नामक रस है उसमे सतष्ण हैं, अर्थात् उस रस का सम्यक रूप से आस्वादन कराने के इच्छुक होकर कृष्णच त्र श्रीकृष्ण चतन्य विग्रह रूप मे भूतल मे अवतीण होकर पामर पय्य त समस्त जन गण को कृपा रूपा सुधा के द्वारा अभिषिक्त किये हैं । इस प्रकार अन्वय प्रथम श्लोक का है । (१)

पद पदाथ मे अतिरिक्त ध्वनि नामक वस्तु का जिस प्रकार काव्य मे सर्वोत्कर्ष दृष्ट होता है उस प्रकार जिस ध्वनि के प्रभाव से सु दशना गोपाङ्गना वृन्द क नयनाश्रु प्रवाहित होने से अञ्जन रेखा का विलोप हेतु व्यञ्जना अर्थात् विगताञ्जना वृत्ति सञ्जात होती है, वकुण्ठादि पद एव ब्रह्मान द पदाथ से भी उत्कष शाली अर्थात् उस स्थान मे भी सुदुल्लभ मुरारि की उस मुरली ध्वनि की जय हो ।

'जय हो' यहा 'जि' धातु अकम्मक एव सर्वोत्कष वाचक है उस के द्वारा नमस्कार भी व्यञ्जित हो रहा है । कारण निज अपकष बोध जनक व्यापार का नाम नमस्कार है एव निज अपेक्षा अपर का उत्कष बोध के समय अपने मे अपकष बोध स्वत ही होता है । ध्वनि के समान मुरलीध्वनि' इस उपमालङ्कार से ग्रन्थ का प्रात पाद्य विषय भी प्रदर्शित हुआ है । ध्वनि, यहा व्यङ्ग्यभूत उत्तम काव्य विशेष है । ध्वनि शब्द से नाद ब्रह्म का भी बोध होता है (२)

टीका का अथ —'जि अभिभवे' परिभवाथक जि धातु सकम्मक है । अतएव उसकी व्यावृत्ति हेतु कहे हैं—जयतीति । जयति-यहा अकमक है । उससे नमस्कार बोध होता है नमस्कार का लक्षण स्व

व तुभूतो ब्रह्मानन्दस्ताभ्य मप्यतिशयी,—तन तत्रापि दुर्ल्लभ इत्यर्थं । तत्र बीजमाह येनेत्यादि । येन हेतु भूतेन सुदृशा गोपाङ्गनाना दृशि नेत्रे व्यञ्जना विगताञ्जनावृत्ति प्रभवति,—आनन्दाश्रुधौतत्वात् । ग्रन्थस्याभिधेयमप्युपमालङ्कारेण दशयति— ध्वनिरिति । ध्वनिरुत्तम काव्यतत्त्व व्यङ्ग्यभूत यत् किमपि, स कीदृश ? अतिशयितौ पद पदार्थो येन, -

---

हासम्य दुलभता प्रतीति भवतीति चेत् उच्यते, अत्रातिश्य पदमुत्कष विशेष—वाचकम । सच उत्कष विशेषो वकुण्ठे ब्रह्मानन्दाभ्या वृ दावनस्य य उत्कषस्तस्य हेतुरूप । तथा च मुरलीध्वनौ वृ दावनोत्कष हेतु रूपोत्कषस्तदवसिद्धयति । यदि वकुण्ठे ब्रह्मानन्दे च मुरलीध्वनिनतिष्ठुर्तेत्याक्षेपबलादेव तत्र तत्र दुलभता प्रतीत स्यादेवेत्यभिप्राय । तत्रोत्कष विशेष हेतुमाह येन मुरलीध्वनिना हेतुभूतेन गोपाङ्गनाना नेत्र विगतमञ्जन यत्र तथाभूता वृत्ति सत्ता प्रभवति—जायते, आनन्दाश्रुधौतत्वात् । तथा च वृ दावने एव सव पुरुषाथ शिरोमाण भूतस्य मुरलीध्वनि हेतुक गोपाङ्गना प्रेमोदयस्य सम्भव नतु वकुण्ठे । ब्रह्मानन्दे तु प्रेमसामान्यस्य गन्ध एव नास्तीति भाव । तस्माद् वकुण्ठे ब्रह्मानन्दे प्येतादृशानन्द जनकत्वाभावात् मुरलीध्वने रुत्कष इति भाव ।

ग्रन्थस्याभिधेयम्—प्रतिपाद्यमुत्तम काव्यस्य तत्त्वम् स्वरूपम् । अतिशयितौ—अतिक्रान्तौ पद पदार्थौ

निष्ठो योऽपकष बोधानुकूल व्यापार स नमस्कार ॥ अपने मे जो अपकष बोधानुकूल व्यापार है, वही नमस्कार है । यहा निज अपेक्षा अपर का उत्कष बोध के समय 'तुल्य वित्ति वेद्यतान्यायसे' निज मे भी अपकष बोध होता है । उस प्रकार बोधानुकूल व्यापार ही जयति' प्रयोग मे नमस्कार है । अतएव ग्रन्थ कार का भी वाचनिक नमस्कार निष्पन्न होता है । 'पद' शब्द क अथ हैं व्यवसिति अर्थात् चेष्टा आरम्भ, निश्चय, अनुष्ठान, अभिप्राय, त्राण स्थान, चिह्न चरण । अत पद शब्द—वकुण्ठादि स्थान विशेष का वाचक है, तथा पदाथ शब्द भी वास्तव वस्तुभूत ब्रह्मानन्द रूप पदाथ विशेष का वाचक है । उस पद पदाथ से जो अतिशय उत्कष- तद्विशिष्ट है । अतएव पद पदाथ से अतिशयित यह समास सूत्र 'राजदन्तादित्वात्' से निष्पन्न है एव पूव निपात है । अत पद पदाथ से अतिशयित' यहा अति पूव अकमक शी धातु उत्कष वाचक है, वकुण्ठ एव ब्रह्मानन्द मे दुलभ है ।

मुरली ध्वनि का उत्कष होने पर वहा मुरली ध्वनि की दुलभता प्रतीति होती है, जिस प्रकार मुखादि अङ्ग की अपेक्षा मन्दहास उत्कष मण्डित है—इस प्रकार कहने पर मुख मे मन्दहास की दुर्लभता प्रतीति नही होती है ? उत्तर मे कहते हैं— अतिपद यहा उत्कष विशेष का वाचक है । वह उत्कष विशेष वैकुण्ठ एव ब्रह्मानन्द से वृन्दावन का जो उत्कष है, उसका हेतु रूप है । अतएव मुरली ध्वनि मे वृन्दावन उत्कष हेतु रूप उत्कष तब सिद्ध होगा, यदि वकुण्ठ एव ब्रह्मानन्द मे मुरली ध्वनि न हो, इस प्रकार आक्षेप से ही वकुण्ठ एव ब्रह्मानन्द मे दुलभता प्रतीति ही होगी, यह अभिप्राय है । उत्कष के प्रति हेतु को कहते हैं जिस मुरली ध्वनि के कारण गोपाङ्गनाओ के नयन अञ्जन रहित होते हैं । आनन्दाश्रु के द्वारा अञ्जन धौत हो जाता है । अतएव वृन्दावन मे ही सव पुरुषाथ शिरोमणि स्वरूप मुरली ध्वनि हेतुक गोपाङ्गनाओं का प्रेमोदय सम्भव है, किन्तु वकुण्ठ मे ऐसा नही होता है, ब्रह्मानन्द मे तो प्रेम सामान्य की गन्ध भी नही है । यही तात्पय्य है । अतएव वकुण्ठ मे एव ब्रह्मानन्द मे भी इस प्रकार आनन्द जनकत्व का अभाव हेतु मुरली ध्वनि का उत्कष है ।

पद पदार्थातिरिक्त इत्यथ । सुष्ठु पश्यन्तीति सुदृश आलङ्कारिका स्तेषा दृशि ज्ञाने येन व्यञ्जनावृत्ति प्रभवति प्रभु र्भवति ॥२॥

किञ्च, ध्वनिर्नाद ब्रह्म, तदुक्तम्--(शङ्कराचार्य्यस्य प्रपञ्चसारतन्त्रे ३।४३)

"मूलाधारात् प्रथममुदितोयस्तु तार पराख्य,
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धि युङ् मध्यमाख्य ।
वक्त्रे वैखर्य्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तो सुषुम्णा बद्धस्तस्माद् भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घ ॥'

तस्यापि सर्वोत्कर्ष शालित्व तत एव सववेद सिद्धे । तत् पक्षे,-अति अतिशयेन

येन,—पद पदार्थाभ्यामतिरिक्तो भिन्न इत्यथ । अतिक्रमणार्थकोऽति पूर्वक शीधात सकमक, यथा एक एव जिधातुरुत्कर्षार्थकश्चेदकमक पराभवक हेतु सकर्मकस्तथात्रापि । स्वस्मिन् स्वस्याति क्रमणासम्भवादति क्रमणलिङ्गेनैव पदे अर्थे च ध्वेन भेद प्रतीति स्यादेवेति भाव । 'दृशि ज्ञाने' इति दृक ज्ञाने ज्ञातरित्रिषु" इत्यमर ॥२॥

अथ योग शास्त्रमते प्रणव–घटकी–भूतनाद रूप ब्रह्मात एव सृष्टच त्पत्ति, एव वर्णात्मका सर्वे शब्दा नित्या एव । कण्ठ ताल्वाद्यभिघातेन तेषा प्राकटचमेवोत्पत्ति स्त मतमालम्ब्याह—किञ्चेति तदुक्त योग शास्त्रे,– यस्तु तारो नादो वर्णरूप सन् नाभिरूप मूलाधारात् प्रथममुदय प्राप्नुचेत परेत्याख्या सज्ञा यस्य तथाभूतो भवति । अथ अनन्तर पश्चात् स एव तारो हृदय चित्त गतश्चेत्तदा पश्यन्त्याख्यो भवति, बुद्धियुक्त श्चेन्मध्यमाख्य, वक्त्रे कण्ठे गतश्चेद् वखरीत्याख्या सज्ञायस्य तथाभूत । प्रणव घटकी भूत नादस्य स्वरूपानुभवस्तु रोदन समये नासिका द्वारा यथा कथञ्चिद् भवतीत्याह -रुरुदिषोजन्तो नासामध्य स्थित सुषुम्णा नाड्या बद्ध, तथा च नासा द्वारव यथा कथञ्चिन्नादस्वरूप प्रत्यक्षो भवतीति भाव । तस्माद् वखरी दशापन्नात्तारात् पवन प्रेरितो वर्ण समूहो वहि सर्वेषा प्रत्यक्ष विषयो भवती यथ ।

ग्रन्थ का अभिधेय—प्रतिपाद्य उत्तम काव्य का तत्त्व–स्वरूप है । अतिशयित— जिस के द्वारा पद पदार्थ का अतिक्रम हुआ है । अर्थात् पद -पदार्थ-से अतिरिक्त भिन्न अर्थ है । अतिक्रमणार्थक-अतिपूर्वक 'शी धातु' सकर्म्मक है । जिस प्रकार एक ही 'जि' धातु उत्कर्षार्थक यदि हो तो अकर्म्मक होता है, पराभवक हेतु होने से सकर्म्मक होता है, यहाँ पर भी वसा जानना होगा । निज मे निज का अतिक्रमण होना सम्भव न होने से पद एव अर्थ मे ध्वनि की भेद प्रतीति होगी यही तात्पर्य्य है, 'दृशि' धातु ज्ञान अर्थ मे प्रयुक्त होता है । अमर कोष मे उक्त है--'दृक ज्ञाने ज्ञातरित्रिषु" ॥२॥

—योगशास्त्र मे उक्त है नाद प्रथमत मूलाधार से उत्पन्न होकर परा नाम प्राप्त होता है । अनन्तर क्रमश हृदय गत होकर पश्यन्ती नाम से एव बुद्धि युक्त होकर मध्यमा नाम से, तथा कण्ठ गत होकर वखरी नाम से अभिहित होता है । रोदन मे प्रवृत्त बालक के नासिका मध्यस्थित एव सुषुम्णा नाडी द्वारा बद्ध होकर वह नाद अनुभूत होता है । इस प्रकार पवन प्रेरित होकर वर्ण समूह साधारण के प्रत्यक्ष विषय होते रहते हैं ।

प्रणव घटक उक्त नाद का भी सर्वोत्कर्षशालित्व है । कारण उससे वेदादि निखिल पदार्थ की सिद्धि हुई है । उस पक्ष मे 'अतिशयित पद पदार्थ, इस विशेषण से अति—अत्यन्त, शयित सुप्त पदार्थ

शयितौ सुप्तौ पद पदार्थौ यस्मिन्, परम्परया वर्ण पदादीना सर्वेषा ध्वनिरेव वीजमिति भाव । व्यज्यतेऽनया सर्व मिति व्यञ्जना माया, युट प्रत्ययसिद्धे, तस्या वृत्ति प्रपञ्चो येन प्रभवतीति । सुदृशा ज्ञानिना ज्ञाने, शेषोभय पक्ष-स्वीकार काव्योपयोगित्वात् ॥३॥

परापश्य ती दशापन्नस्तु योगिनामेव प्रत्यक्षो भवति, नत सर्वेषामित्यपि बोध्यम् । ननु नादस्य सर्वोत्कर्ष कुत ? तत्राह—तस्यापीति वेदाद्यखिल पदाथ सिद्धे हेतुत्वेनैव तस्य सर्वोत्कष इति भाव । सुप्तो प्रलये लीनतया स्थितौसृष्टि समये ततो नि सरत इति भाव ।

व्यञ्जना इति ण्य तात् युच् प्रत्ययेन सिद्धा, तस्या मायाया वृत्तिजगद् रूप प्रपञ्चो येन नादरूप चैतन्य सम्ब धेन ज्ञानिना ज्ञाने प्रभवति—ज्ञानिना ज्ञेयो भवतीत्यर्थ । शेषोभय पक्षो दृष्टान्त रूप शब्द ध्वनि पक्षो नाद पक्षश्च । तत्र काव्यस्य प्राण रूपत्वादेव ध्वनेरुपयोगित्वम् काव्याद्यखिलोत्पादकत्वेन च नादस्योपयोगित्वमिति बोध्यम् ॥३॥

जिस मे है, – इस प्रकार अथ समझना होगा । कारण,—ध्वनि ही परम्परा सम्ब ध मे वण पदादि समूह की उत्पत्ति का कारण है । एव ' जिस के द्वारा व्यञ्जित होता है । इस अथ मे यट प्रत्यय सिद्ध व्यञ्जना शब्द से माया, उसकी वृत्ति -अर्थात् जगत् प्रपञ्च सम्यग दर्शित ज्ञानि वृ द क ज्ञान मे आविर्भूत होता है, इस प्रकार अथ अभिप्रेत है । शेषोक्त ध्वनि एव नाद—उभय पक्ष ही काव्य मे उपयोगी होने के कारण-स्वीकाय्य हैं ।

टीका का अर्थ—योग शास्त्र के मत मे प्रणव घटकीभूत नादरूप ब्रह्म से ही सृष्ट्यादि की उत्पत्ति होती है । इस रीति से वर्णात्मक समस्त शब्द ही नित्य है । कण्ठ तालु प्रभृति के अभिघात से उन सब का प्राकट्य होता है । इस मत को अवलम्बन कर कहते हैं । किञ्च, योगशास्त्र मे उक्त है—जो तार-नाद वण रूप को प्राप्तकर नाभिरूप मूलाधार से प्रथम उदित होकर परा सज्ञा को प्राप्त करता है, अन तर हृदय--चित्तगत होकर तार- "पश्य ती' नाम को प्राप्त करता है, यदि यह बुद्धि गत होता है, तो मध्यमा वक्त्र-कण्ठ गत होकर वखरी नाम से अभिहित होता है । प्रणव घटकीभूत नाद का स्वरूपानुभव-रोदन समय मे नासिका द्वारा यथा कथञ्चित् रोदन समय मे जन्तु की नासिकास्थित सुषुम्णा नाडि के द्वारा बद्ध होता है, अतएव नासिका के द्वारा ही नादका प्रत्यक्ष होता है । यह तात्पय्य है ।

अतएव वखरी दशापन्न तार से पवन प्रेरित वण समूह समस्त व्यक्ति के प्रत्यक्ष होते हैं । 'परापश्यन्ती' योगी के प्रत्यक्ष होती है परा पश्यन्ती सज्ञा प्राप्त नाद सबका प्रत्यक्ष नहीं होता ।

नादका सर्वोत्कष कसे होता है ? उत्तर मे कहते हैं—तस्यापीति । उससे वेदादिनिखिल पदाथ निष्पन्न होने के कारण-उसका सर्वोत्कष है । यह तात्पय्य है ।

प्रलय समय मे लीनरूप मे स्थित होने के कारण--सृष्टि समय मे उसका निर्गमन है ।

"व्यञ्जना" ण्यन्त के उत्तर युच प्रत्यय सिद्ध है माया की वृत्ति जगद् रूप प्रपञ्च जिस से होता है, नाद रूप का अनुभव योगियो के ज्ञान मे होता है । शेषोभयपक्ष दृष्टान्त रूप शब्द ध्वनि पक्ष एव नाद पक्ष है । काव्य का प्राण स्वरूप होने के कारण ध्वनि उपयोगी है, एव काव्यादि समस्त वस्तु का उत्पादक होने के कारण-नाद की उपयोगिता है । इस प्रकार जानना होगा ॥३॥

प्रकारान्तरेणोक्तमर्थं स्तौति,—

गोकुलललनामोदी, नानाविध एव स खलु भावानाम् ।
शाबल्य प्रशमोदयसन्धि सुगन्धिश्चमत्कारी ॥

अत्रापि त्रय एव पक्षा । स इति मुरलीध्वनि, काव्यध्वनिर्नादश्च । आद्ये भावानां व्यभिचारि प्रभृतीनाम्, द्वितीयेऽपि तेषामेव, तृतीये भूतानाम् । आद्ये गोकुल-ललना गोपाङ्गना, द्वितीये गोर्वाचि, कुल वर्णादि स्तस्य ललनमीप्सा तृतीये गोर्वाग् देवता सैव कुल

—उक्तमर्थ ध्वनेरुत्कर्षम् । अत्रापीति- मुरलीध्वनि, शब्दध्वनि, नाद ध्वनयः त्रय पक्षा । स इति नानाविधोभवति, आद्य —मुरलीध्वनिपक्षे, स भावाना व्यभिचारिसात्त्विक प्रभृतीना सन्धि-शाबल्य प्रशमोदय सुष्ठु गन्धो यस्य स । तथा च स ध्वनि भाव शाबल्य -भावशान्ति-भावोदय भाव-सन्धिरूप पुष्प सुगन्ध युक्त वृक्षा यथा स्वकाव्य रूपै पुष्प सुगन्ध युक्त स्तथा ध्वनिरपि स्वकाव्य भूतै भावशाबल्यादि पुष्प सुगन्धिभिरेव शोभित इत्यर्थ ।

द्वितीये-शब्द ध्वनि पक्षेऽपि तथा व्यभिचारि भावादीना शाबल्यादिभि सुगन्धि ।

तृतीये—नाद ध्वनि पक्षे, भावाना भूताना शबलादिभि । मुरलीध्वनि पुन कीदृश ? गोकुल ललनामोदी,—गोकुलाङ्गना आमोदयतीत्यर्थ । द्वितीये शब्द ध्वनि पक्षे,— तस्य वर्णादि ललन प्राप्तीच्छा

—प्रकारान्तर से ध्वनि का उत्कर्ष प्रति पादन करते हैं । उक्त ध्वनि- अर्थात् मुरलीध्वनि, काव्य ध्वनि एवं नाद विविध प्रकार होते हैं । वह भाव समूह की सन्धि, शाबल्य, प्रशम एवं उदय से सुशोभित गोकुलललनामोदी एवं अतिशय चमत्कार का जनक है । प्रथम पक्ष मे भाव,—व्यभिचारी, सात्त्विक प्रभृति भाव है, गोकुलललना गोपाङ्गना है ।

द्वितीय पक्ष में भाव—पूर्वोक्त व्यभिचारी प्रभृति हैं, गो शब्द का अर्थ—वाक् है, उसके कुल-अर्थात् वर्णादि हैं, ललन शब्द का अर्थ—प्राप्तीच्छा है । तृतीय पक्ष मे—भाव समूह शब्द का अर्थ भूत समूह हैं, एवं गो—वाग् देवता है, वही कुल ललना स्वरूप है, शाबल्य मिश्रित भाव प्रशम-नाश, उदय—सृष्टि, सन्धि-सन्धान है । ये सब अर्थ तीन पक्ष मे ही समान है । शब्दार्थ चमत्कारात्मक एवं काव्य का स्वरूप निरूपक इस ग्रन्थ म शब्द एवं अर्थ का प्राधान्य हेतु एवं तदुभय वर्ण मूलत्व एवं वर्ण का ध्वनि मूलत्व हेतु यहाँ नाद ब्रह्म स्वरूप ध्वनि का वर्णन सक्षेप से हुआ ।

टीका का अर्थ—मूलोक्त उक्तमर्थ--का अर्थ है- ध्वनि का उत्कर्ष अत्रापीति शब्द से मुरलिध्वनि शब्द ध्वनि नाद ध्वनि रूप त्रिविध पक्ष सूचित हुये हैं । वह ध्वनि--विविध हैं, प्रथम मुरलि ध्वनि पक्ष मे—व्यभिचारि सात्त्विक प्रभृति भावो के सन्धि शाबल्य प्रशमोदय के द्वारा सुष्ठु गन्ध है जिसका, वह तथा च,—वह ध्वनि,-भाव शाबल्य-भावशान्ति भावोदय भाव सन्धि रूप-पुष्पो के द्वारा सुगन्ध युक्त वृक्ष जिस प्रकार निज काव्यरूप पुष्प समूह के द्वारा सुगन्ध युक्त है, उसी प्रकार ध्वनि भी निज काव्य भूत भाव शाबल्य प्रभृति पुष्पों के द्वारा सुगन्धित होकर शोभित है ।

द्वितीय पक्ष मे—शब्द ध्वनि पक्षमे भी वे सब व्यभिचारि भाव समूह भी शाबल्य प्रभृति द्वारा सुगन्धित हैं ।

ललना। शाबल्य मिश्रीभाव, प्रशमो नाश, उदय सृष्टि, सन्धि सन्धानम्, पक्षत्रयेऽपि तौल्यम् ॥४॥

अस्मिन् ग्रन्थे शब्दार्थयो प्राधान्येन तयोश्च वर्ण मूलत्वेन,
वर्णानाञ्च ध्वनि मूलत्वेन, ध्वनेर्नाद ब्रह्मण उद्देश कृत ।

अथ ध्वने काव्य प्राणत्व दर्शयिष्यन् काव्यस्य शरीरादि स्वरूपमाह—

शरीर शब्दार्थौ ध्वनि रसव आत्मा किल रसो
गुणा माधुर्य्याद्या उपमितिमुखोऽलङ्कृति गण ।
सुसस्थान रीति स किल परम काव्य पुरुषो
यदस्मिन् दोष स्याच्छ्रवण कटुतादि स न पर ॥

था स चासौ आमोदी चेति। वर्णस्य प्राप्तिरत्रोच्चारणमेव। तथा च चमत्कृत ध्वन्यर्थस्य स्फूर्त्तौ सत्या काव्यात्मक—वर्णनामुच्चारणेच्छा जायत इत्यर्थ ।

तृतीये नादपक्षे—गौर्वाग देवता—सरस्वती सैव कुलललना, तामामोदयतीत्यर्थ । तौल्यमिति पक्षत्रयेऽपि शाबल्यादेरेक एवार्थ ॥४॥

—ननु अत्र ग्रन्थे नादात्मक ध्वने वर्णने किं प्रयोजनमित्यत आह-अस्मिन्निति। शब्दार्थ चमत्कारात्मक काव्यस्य निरूपणेऽस्मिन् ग्रन्थे शब्दार्थयो प्राधान्यम् तयो शब्दार्थयो वर्ण मूलत्वेन, तत्र च शब्दस्य वर्णघटितत्वेन वर्णमूलत्वम्, अर्थस्य तु वर्ण बोध्यत्वेन वर्णमूलत्व ज्ञेयम्। वर्णाना नादस्वरूप ध्वनि मूलत्वेन नादब्रह्मण उद्देशो नाम्ना कीर्त्तन कृत । नाद ब्रह्मैव सर्वेषा वर्णाना मूलभूतमिति पूर्वमेवोक्तम्। काव्य प्राणत्व दर्शयिष्यन् दर्शयितुम्। ध्वनिरसैव प्राणा, यथा पुरुषस्य चातुर्य्य वैदग्ध्यादयो गुणास्तथा

तृतीय पक्ष मे-अर्थात् नाद ध्वनि पक्ष मे भाव समूह शाबल्य प्रभृति द्वारा सुगन्धित हैं।

मुरली ध्वनि किस प्रकार है ? गोकुल ललनामोदी गोकुलाङ्गना को आमोदित करती रहती है। शब्द ध्वनि रूप द्वितीय पक्ष मे वर्णादि की-ललन प्राप्तीच्छा जिस से होती है, वही आमोदी है, वर्ण की प्राप्ति यहाँ उच्चारण ही है। अतएव चमत्कार रूप ध्वन्यर्थ की स्फूर्त्ति होने पर काव्यात्मक वर्ण समूह की उच्चारणेच्छा होती है। नाद पक्ष रूप तृतीय मे गो शब्द का अर्थ वाग देवता सरस्वती है, वही कुल ललना है उस को आनन्दित करती रहती है। पक्षत्रय मे ही शाबल्य प्रभृति का समान अर्थ है ॥४॥

—सम्प्रति ध्वनि का काव्य प्राणत्व प्रदर्शन हेतु काव्य के शरीरादि वर्णित हो रहे है। काव्य का शरीर शब्दार्थ, ध्वनि प्राण, रस आत्मा, माधुर्य्यादि गुण, उपमा प्रभृति अलङ्कार, रीति अङ्ग सौष्ठव, काव्य पुरुष इस रीति से सुलक्षण सम्पन्न होता है। यदि इस मे कोई दोष हो तो श्रुतिकटुतादि प्रसिद्ध दोष ही तन्मध्ये गण्य है, अन्यथा क्षुद्रतर दोष समूह दोष के मध्य मे धर्त्तव्य नहीं हैं, कारण, वे रस के अपकर्षक नही हैं, किन्तु क्षुद्रतर दोष भी यदि दैवात् कदाचित् उपस्थित होता है तो वह दोष रूप मे धर्त्तव्य नही है। फलत काव्य सर्वथा निर्दोष होना ही विहित है।

यदि दोषोभवेत्तदा श्रवण कटुतादि प्रसिद्ध स्फुटदोष एव दोष, नतु पर क्षुद्रतरः, रसानपकर्षत्वात्। सोऽपि यदि भवति, अतो निर्दोष एवासौभवितुमर्हतीत्यर्थ ।

उद्देशो, लक्षण, परीक्षा चेति ग्रन्थस्य त्रयो व्यवहारा। तत्रादौ शब्दादीनामनेनैव श्लोकेनोद्देश कृत । लक्षण परीक्षे कर्त्तव्ये ॥५॥

काव्यस्य माधुर्य्याद्या एव। उपमितिरुपमान मुखमादिर्यस्य तथा भूतोपमानाद्यलङ्कार एव काव्य पुरुषस्य-अलङ्कृति गण कुण्डल द्यलङ्कार समूह गौडी प्रभृति रीतिरेव काव्य-पुरुषस्य सुसस्थानमङ्गादि सौष्ठवम्। परम सल्लक्षण युक्त काव्य पुरुष। स श्रवण कटुतादिरेव दोष न पर, तस्मादन्य क्षुद्रतर दोषो न दोषोभवतीत्यर्थ । तत्र हेतु —रसानपकर्षकत्वादिति। समर्थेन कविना क्षुद्रतर दोषोऽपि स्वकृत कार्ये न प्रवेशनाय इत्याह-सोऽपीति।

स क्षुद्रतर दोषोऽपि दैवाद् यदि भवति तदा न दोष, अतएवासौ काव्यपुरुषो निर्दोष एव भवितु महतीत्यर्थ । ग्रन्थस्य त्रयो व्यवहारा इत्युक्तत्वाद् ग्रन्थकारेणोद्देशादय स्त्रय एव वक्तव्या इत्यर्थ । तत्र तासु उद्देश लक्षण परीक्षासु मध्ये आदौ ग्रन्थारम्भ एव शब्द र्थ ध्वनि रस गुणालङ्काररीतीनाम्। अनेन काव्य पुरुषस्य वर्णन श्लोकेनोद्देश कृत । वर्णनीयार्थाना प्रथमतो नाममात्रेण कथनमुद्देश ।५॥

ग्रन्थारम्भ मे ग्रन्थ का उद्देश, लक्षण एव परीक्षा करण व्यवहार सिद्ध है। उस के मध्य मे काव्य पुरुष वर्णनात्मक श्लोक द्वारा ही रसालङ्कारादि का उद्देश्य किया गया है। अधुना लक्षण एव परीक्षा करना कर्त्तव्य है।

इस ग्रन्थ मे नादात्मक ध्वनि वर्णन का प्रयोजन क्या है? उत्तर मे कहते हैं–अस्मिन्निति। शब्दार्थ चमत्कारात्मक काव्य का निरूपण रूप काव्य म शब्दार्थ का प्राधान्य है, शब्दार्थ का मूल वर्ण है, शब्द वर्णघटित होने के कारण–वर्ण मूलक है, अर्थ भी वर्ण बोध्य होने के कारण वर्ण मूलक है, यह जानना होगा। वर्ण समूह नाद स्वरूप ध्वनि मूलक होने के कारण नाद ब्रह्मका उद्देश किया, अर्थात् नामके द्वारा कीर्त्तन किया गया। पहले कहा गया है कि नाद ब्रह्म ही समस्त वर्णो का मूल स्वरूप है।

काव्य प्राणत्व दर्शाने के निमित्त कहते हैं। ध्वनि-प्राण है, जिस प्रकार पुरुष के चातुर्य्य वदग्धी प्रभृति गुण होते हैं, उस प्रकार काव्य के गुण माधुर्य्य प्रभृति हैं। उपमिति–उपमान-मुख आदि है, जिस का उस प्रकार उपमानादि अलङ्कार, काव्य पुरुष के अलङ्कृति गण–कुण्डलादि अलङ्कार समूह है। गौडी प्रभृति रीति ही काव्य पुरुष के सुसस्थान अङ्गादि सौष्ठव हैं। परम सल्लक्षण युक्त काव्य पुरुष है। उस मे श्रवण कटुतादि ही दोष होता है, अन्य नहीं, उससे अन्य क्षुद्रतर दोष, दोष नहीं होता है, उस मे हेतु-वे रसापकर्षक नहीं होते हैं। समर्थ कवि के पक्ष मे क्षुद्रतर दोष को भी निजकृत काव्य मे प्रवेश कराना उचित नहीं है, उसको कहते हैं-यदि क्षुद्रतर दोष भी दैवात् उपस्थित होता है, तब दोष नही होता है। अतएव उक्त काव्य पुरुष, निर्दोष होना ही समीचीन है। ग्रन्थ के त्रिविध व्यवहार होते हैं–इस प्रकार कथनानुसार ग्रन्थ कार के द्वारा ही उद्देश लक्षण परीक्षा नामक व्यवहार त्रय का निर्वाह करना आवश्यक है। उस के मध्य मे अर्थात् उद्देश लक्षण परीक्षा के मध्य मे ग्रन्थारम्भ मे ही शब्दार्थ ध्वनिरस गुणालङ्कार रीति प्रभृति का नामत उल्लेख हुआ है। इससे काव्य पुरुष का वर्णन श्लोक मे हुआ है। वर्णनीय पदार्थों का प्रथमत नाममात्र से कथन ही उद्देश है ॥५॥

अथ किं तत् काव्यम् ?—यस्य पुरुषत्वेन शरीरादीनि कथितानीत्यपेक्षायां काव्य-लक्षणमाह—

कविवाङ् निर्म्मितिः काव्यम्

वागित्युक्ते कवि वाङ्मात्रस्यैव काव्यत्वापत्तिः, निर्मितिरित्युक्ते कविकृत शिल्पान्तरस्यापि, वाङ् निर्मितिरित्युक्ते व्याख्यातृविशेषस्य च यस्य कस्यापि व्याख्या कौशलस्यापि। असाधारण चमत्कारिणी रचना हि निर्म्मितिः। तेन रसापकर्षक दोष रहित यथासम्भव गुणालङ्कार रसात्मक शब्दार्थयुगलं काव्यमिति लक्षणस्य स्वरसः ॥६॥

तेन (काव्य प्रकाशस्य प्रथमोल्लासे) "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः

टी १- अथेति कवि वागित्युक्ते कविकृत वचन मात्रस्यैव काव्यत्वापत्तिः, कविवाङ् निर्मितिरित्युक्ते कविकृत चित्रादि-शिल्पस्य काव्यत्वापत्तिः, वाङ् निर्मितिरित्युक्ते कविभिन्न व्याख्यातृ विशेषस्य यस्य कस्यापि व्याख्या कौशलस्यापि काव्यत्वापत्तिः। अतः कविरिति विशेषणं देयम्। तेनासाधारण चमत्कार कारिणी रचनेति व्याख्यानेन काव्य प्रकाशोक्त दोषाभाववैशिष्ट्य शब्दार्थोभयवत्त्वादि विशेषणं विनात्र निर्वाहः कृतः। यतः स्तत्र तत्र दोष सहिते गुण रहिते च काव्य भासेऽसाधारण चमत्कारकारि रचना भावादेव न कविवाङ् निर्मितिरूप काव्यलक्षणस्य समन्वयः, दोषराहित्यादिक लक्षणस्य स्वरस एव स्वतः सिद्धमेव, नतु तत्तद् विशेषणं लक्षणे देयमिति भावः ॥६॥

जिस के शरीरादि का वर्णन पुरुषाकार से हुआ है उस काव्य पदार्थ क्या है ? इस प्रकार आकाङ्क्षा से उसका लक्षण निर्णय करते हैं। 'कवि वाङ् निर्मिति काव्य है। 'कवि वाक्य' मात्र को लक्षण में कहने से कवि के यावतीय वाक्य की काव्यत्वापत्ति होगी। 'कवि निर्म्मिति काव्य' कहने से—कविकृत अन्यान्य शिल्प की भी काव्यत्वापत्ति होगी। 'वाङ् निर्मिति काव्य' इस प्रकार लक्षण करने से व्याख्याता विशेष कृत व्याख्या कौशल की भी काव्यत्वापत्ति होगी। किन्तु असाधारण चमत्कार कारिणी रचना को ही निर्म्मिति कहते हैं। एवं रसापकर्षक दोष रहित एवं यथा सम्भव गुणालङ्कार रसात्मक जो शब्दार्थ युगल वही काव्य है, उक्त लक्षण का अभिप्राय वही है ॥

कविकृत वचन मात्र को ही काव्यत्वापत्ति होगी। केवल कविवाक्य' काव्य है, कहने से कविवाङ् निर्मिति' कहने से कविकृत चित्रादि शिल्प की काव्यत्वापत्ति होगी, वाङ् निर्म्मिति' कहने से कविभिन्न व्याख्यान कर्त्ता जिस किसी का व्याख्या कौशल को भी काव्यत्वापत्ति होगी, अतः लक्षण में 'कवि' विशेषण देना आवश्यक है। अतएव 'असाधारण चमत्कार कारिणी रचना' काव्य है, इस प्रकार व्याख्या करने से काव्य प्रकाश ग्रन्थ कारोक्त दोषाभाव वैशिष्ट्य, गुण वैशिष्ट्य शब्दार्थोभयवत्त्वादि विशेषण के बिना ही अलङ्कार ग्रन्थकारने काव्य लक्षण का निर्वाह किया। कारण, वहाँ दोष रहित, गुण रहित काव्याभास में उक्त लक्षण की प्रसक्ति नहीं होगी, कारण वहाँ असाधारण चमत्कारि रचना नहीं है। उक्त लक्षण में दोष राहित्य तो स्वाभाविक है, अतः उस उस विशेषण देना लक्षण में आवश्यक नहीं है, तात्पर्य यही है ॥६॥

क्वापि" इति लक्षण "कुरङ्गनयना" इत्यादावपि पर्य्याप्त भवति, सगुणालङ्कार निर्दोष शब्दाथत्वात् । (साहित्य दर्पणे १।३) "वाक्य रसात्मक काव्यम्" इति च लक्षण 'गोपीभि सह विहरति हरि " इत्यादौ च पर्य्याप्त स्यात्, रसात्मकवाक्यत्वात् । व्यतिरेकेण दोष, यद् वाक्य न भवति, तत् काव्य न भवतीत्यायाते, (योगवाशिष्ठ रामायण उत्पत्ति ४,२०, शरण देव कृत दुर्घट वृत्तौ २१२८)

अधुना दोषाद्घाटनाथ काव्य प्रकाशकृतो लक्षणमुत्थापयति--तनेति । दोषरहितौ स गुणौ शब्दार्थौ यत्र तत् काव्यम् । कथम्भूतौ शब्दार्थौ ? कुत्रापि काव्यविशेषेऽनलङकृतौ ईषदलङ्कार विशिष्टौ ईषदर्थे नञ । तथा च कुत्रापि स्थले अस्पष्टालङ्कार विशिष्टावित्यथ । एवञ्च स्फुटदोषाभाववत्वे सति तथा स्पष्टास्पष्टालङ्कारान्यतर—विशिष्टत्व सति दोषाभाव विशिष्ट गुण विशिष्ट शब्दार्थोभयवत्त्वमिति काव्य लक्षणम् । कुरङ्गस्य नयने इव नयने यस्य स्तथाभूता इत्यादौ शब्दाथयोर्दोषाभाव गुणालङ्कारादीना सत्त्वात् तादृश लक्षण पर्य्याप्तमतिव्याप्त भवति । स्वमत त्वसाधारण चमत्कारकारि रचनाभावादेव तत्र न दोष ।

कस्य च मत (साहित्यदर्पणे) "वाक्य रसात्मक काव्यम्" इति लक्षणम्, तदपि दुष्टम्, यतो गोपीभि सह हरि ... इत्यादावतिव्याप्ति । श्रृङ्गार- रसात्मकत्वस्य वाक्यत्वस्य च तत्र सत्त्वात् "कूर्म्मलोम पटच्छन्न शशशृङ्ग धनुधर" इत्यादौ न वाक्यत्वमस्ति, परस्पराविताथ बोधक पद—समुदायत्व वाक्यत्वमिति तल्लक्षणात् । अत्र तु शृङ्गे शशस्यान्वयाप्रसिद्धेरवाक्यत्वमिति भाव ।

कस्यचिन्मते रीतिरेव काव्यस्यात्मा, रीति गौडी प्रभृति त मते रीतिमत्व काव्यस्य लक्षणम्, तदपि न साधीय,—रीत र्बाह्यगुणत्वात् हेयगुणत्वाच्च । तथा च सदोष गुणालङ्काराभाव विशिष्टे च रीतिमति काव्याभासे दोष स्यादिति भाव ।

काव्य प्रकाश ग्रन्थकार के मत मे सगुण, सालङ्कार कदाचित् निरलङ्कार, अदोष शब्दाथ युगल ही काव्य है । उस को काव्य लक्षण मान लेने से "कुरङ्गनयना' इत्यादि स्थल मे भी उक्त लक्षण पर्य्याप्त होता है, कारण, उक्त वाक्य मे भी सगुण, सालङ्कार, एव निर्दोष शब्दाथ युगल हैं ।

साहित्य दपणकार के मत मे- रसात्मक वाक्य काव्य है" इस प्रकार लक्षण है । कि तु उक्त लक्षण "गोपाङ्गना वृन्द के सहित हरि विहार कर रहे है" -यहा अतिव्याप्त होगा, कारण यह भी रसात्मक वाक्य है । एव व्यतिरेक मे भी दोष होगा । कारण, जो वाक्य नही है, वह काव्य नही है । उक्त लक्षण का तात्पर्य्य उस प्रकार होता है । किन्तु वह असङ्गत नही है । कारण, 'शश शङ्ग निर्मित धनुर्धारी यह बध्या पुत्र आकाश पुष्प द्वारा रचित शेखरसे अलङकृत होकर कूर्म्मलोमज वस्त्र परिधान पूवक विराजित है इस श्लोक मे वाक्य न होने पर काव्यत्व दृष्ट होता है ।

वामनाचार्य्य के मत मे 'रीति ही काव्य की आत्मा है । यह सङ्गत नही है, कारण, रीति वाह्य गुण विशेष मात्र है ।

कतिपय व्यक्ति क मत मे चमत्कार वर्णन निपुण व्यक्ति ही कवि ह, एव उसका उस प्रकार काव्य ही काव्य है । इस लक्षण सुन्दर नहीं है कारण, इस मे अन्योयाश्रय दोष है । जो लोकोत्तर चमत्कार

"कूर्म्मलोम पटच्छन्न शशशृङ्गधनुर्धर । एष वन्ध्यासुतोभाति खपुष्पकृतशेखर ॥"

इत्यस्य वाक्यत्वाभावेऽपि काव्यत्व दर्शनात् । यस्तु (वामन कृत काव्यालङ्कारेण) "रीतिरात्मा काव्यस्य" इति पठति, न तदपि साधीय,-रीतेर्वाह्यगुणत्वात्, यत्तु (काव्य प्रकाशे १।२) "लोकोत्तर चमत्कार वर्णनानिपुण कविस्तस्य कर्म काव्यम्" इत्यपि न साधु,—अन्यो याश्रय-दोष प्रसक्त तथाहि-लोकोत्तर चमत्कार वर्णना निपुणा वाक् काव्य मिति परस्पराश्रय ।

यस्त्विति लोकोत्तर वर्णनाया निपुण कविस्तस्य लोकोत्तर चमत्कार वर्णना निपुण वाक काव्यमिति लक्षणमन्योन्याश्रयदोषेण दुष्टम् । तथा च काव्य लक्षण घटित कविलक्षण, कवि लक्षण घटित काव्य लक्षणमित्यवान्तर यथा स्वरूपम् । एवं सति काव्य लक्षणे कविज्ञानापेक्षा कविलक्षणे काव्य ज्ञानापेक्षा, अत उभयोरेव ज्ञानासम्भवादिदमपि लक्षण न साधीय इत्यथ ।

ननु कविवाङ निर्मितिरिति लक्षणस्यापि कविकृते काव्यमित्र स्य स्या कौशले दोष प्रसङ्ग । न च निर्मिति पदेनाप धारण चमत्कारकारि रचनारूप ऽथ पूर्वमुक्त , अत पिङ्गलछन्दोमञ्जर्य्यादि रूपच्छ द शास्त्रोक्त तादश रचनायास्तत्र व्याख्या कौशले अभावान्न दोष इति वाच्यम् -कविपदस्य वाक्य पदस्य च वयर्थ्यापत्त । न यकृत व्याख्या कौशले शिल्पकर्म्मणि च निर्मिति पदाथ तादश रचनाया अभावादेव न कुत्रापि दोषावकाश इत्यता हेतोराह-पारिभाषिकीति । कवे पारिभाषिक लक्षण स्वयमेव वक्ष्यति । लक्षणान्तरमाह-अथवेति ।

अवगति प्रतीति , येन गोत्वरूपासाधारण धर्मेण 'अय गौ , अय गौ ' इत्यनुगताकारा समानाकारा

वणना मे निपुण है, वही कवि है, एव लोकोत्तर चमत्कार वर्णना निपुणा वाणी ही काव्य है । इस रीति से सुस्पष्ट परस्पर सापेक्षता रूप लक्षण दोष होता है । अतएव 'कविवाङ निर्मिति काव्य' ही उत्तम काव्य लक्षण है, यहा 'कवि' पद पारिभाषिक सज्ञा है,अतएव परस्पराश्रय दोष नही होगा । अथवा गलकम्बलादि विशिष्ट यावनीय गो पदार्थ के प्रत्येक मे जिस प्रकार यह गो, यह गो, इस प्रकार अनुगताकारा गोत्वजाति है, काव्यत्व भी उस प्रकार जाति है । जिस असाधारण धम के द्वारा पदाथ की प्रतीति होती है, वही जाति है । गो समूह मे गोत्व एक असाधारण धम है । इस प्रकार शब्दाथ सङ्घात मे सहृदय हृदयास्वाद्य काव्यत्व रूप असाधारण धम है, सुतरा काव्यत्व जाति है । ७ ८

सम्पति दोषाद् घाटनाथ काव्य प्रकाश कृत काव्य लक्षण का उट्टङ्कन करते हैं । दोष रहित गुण युक्त शब्दाथ जहा है, वह काव्य है । किस प्रकार शब्दाथ ? काव्य विशेष मे अनलङ कृती, ईषदलङ्कार विशिष्ट, ईषदथ म नञ है । अतएव—स्थल विशेष मे अस्पष्टालङ्कार विशिष्ट ही काव्य होगा । साराथ यह है—स्फुट दोषाभाव होने पर भी तथा स्पष्ट अस्पष्टालङ्कारा यतर विशिष्ट होकर दोषाभाव विशिष्ट गुण विशिष्ट शब्दार्थोभयवत्त्व ही काव्य का लक्षण है ।

"कुरङ्ग के नयन के तुल्य नयन है जिसका वाक्य मे शब्दाथ मे दोषाभाव एव गुणालङ्कारादि विद्यमान होने के कारण उक्त काव्य लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । निज कृत काव्य लक्षण मे असाधारण चमत्कार कारि रचनाभाव की विद्यमानता होने पर दोष नहीं है

तत् साधूक्तम्—"कविवाङ निर्मिति काव्यम्" इति, कविरिति पारिभाषिकीय सज्ञ ति परस्पराश्रय दोषोऽपि निरस्त ।

अथवा, काव्यत्व नाम गोत्वादिवज्जातिरेव यथा सास्नाद्यवच्छवतीषु गो व्यक्तिषु प्रत्येकमथ गौरयगौरित्यनुगताकारा येनासाधारण-धर्म्मेणावगति, स एव जाति लक्षण

भवति। स एव गोत्वरूपो धर्म्मोजाति, तथात्रापि शब्दाथ समूहस्य काव्यत्व लक्षणो धमविशेष एव काव्यत्व जाति। ननु गोत्वजातौ हलिकलोकादि सर्वेषामनुगत प्रतीतिरेव प्रमाणम् काव्यत्व जातौ त कि प्रमाणम्? तत्राह—स काव्यत्वरूपो धम्म सहृदय हृदयास्वाद्य तथा च सवत्र काव्ये सहृदय ना काव्यत्व रूपणानुगता प्रतीतिरेव काव्यत्व जातौ प्रमाणमितिभाव। न च प्रत्येक वणनिष्ठ कत्व खत्वादि जातिभि काव्यत्व जाति सङ्कीर्णा स्यात्, तथा हि कत्वाद्यभाववति केवलवाक्षर घटित चित्र काव्ये काव्यत्व वत्तते, काव्यत्वाभाववति च केवलककाररूपाक्षरे कत्वजातिवत्तते, एकस्मि नेव ककार घटित काव्ये काव्यत्व जाति कत्वजातिश्च वत्तते। अत परम्परात्यन्ताभाव-समानाधिकरणत्वे सति एकाधिकरण वृत्तित्वरूप

साहित्य दपणोक्त काव्य लक्षण है—'वाक्य रसात्मक काव्यम्' यह लक्षण भी दोष मक्त नहीं है। कारण, 'गोपाभि सह विहरति हरिरित्यादावतिव्याप्ति" हरि गोपीयो के सहित वहार कर रहे हैं। श्रृङ्गार रसात्मक वाक्यत्व नहीं है। "कूम्मलोम पटच्छन्न शशशङ्ग धनुर्धर" यहा वाक्य नही है, 'परस्परान्विताथ बोधक पद समुदायवत्त्व वाक्यत्वम' यह वाक्य का लक्षण है। "कूम्मलोम पटच्छन्न शशशङ्गधनधर" यहा शृङ्ग मे शशका अन्वय अप्रसिद्ध होने के कारण वाक्यत्व नही है। यही आशय उक्त कथन का है।

किसी के मतमे रीति काव्य की आत्मा है। इस मत मे रीतिमत्त्व काव्यका लक्षण है। यह भी निर्दोष लक्षण नहीं है,रीति-बाह्य गुण है,एव हेय गुण युक्त है। उक्त लक्षण का मानने पर सदोष गुणालङ्काराभाव विशिष्ट रीतिमति काव्याभास मे दोष होगा।

कवि शब्द का अथ- लोकोत्तर वणना मे निपुण है, उस के द्वारा निर्मित लोकोत्तर चमत्कार वणना निपुण वाक्य ही काव्य है। इस प्रकार लक्षण करने से उक्त लक्षण अन्योन्याश्रय दोष युक्त होगा, कारण,—काव्य लक्षण घटित कवि लक्षण है, एव कवि लक्षण घटित काव्य लक्षण है, यही अन्योन्याश्रय रूप है। ऐसा होने पर काव्य लक्षण मे कविज्ञानापेक्षा है, एव कवि लक्षण मे काव्य ज्ञानापेक्षा है। अत उभय का ज्ञान होना असम्भव हेतु—यह लक्षण निर्दुष्ट नहीं है।

कहा जा सकता है कि—"कविवाङ निर्मिति" काव्य लक्षण भी निर्दोष नही है, कारण, कविकृत काव्य भिन्न व्याख्या कौशल मे उक्त लक्षण चला जायेगा। यदि कहा जाय कि- लक्षणोक्त 'निर्मिति' पदका अथ है—असाधारण चमत्कारकारि रचना। अत पिङ्गल छन्दोमञ्जरी प्रभृति छन्द शास्त्रोक्त रचना मे व्याख्या कौशल का अभाव हेतु दोष नही होगा, इस प्रकार कहना भी युक्ति युक्त नही है। कारण लक्षणोक्त कवि पद एव वाक्य पद व्यथ हो जायेगा अन्य कृत व्याख्या कौशल मे एव शिल्प कम्म मे निर्मिति पदाथ तादृश रचना का अभाव निबन्धन कुत्र पि दोषावकाश नही है। इस हेत कहते हैं कवि पद पारिभाषिक सज्ञापर है। कवि का पारिभाषिक लक्षण स्वय ही कहेंगे। लक्षणान्तर कहते हैं-

कोऽप्यसाधारण धर्म्मो गोत्वम्, तथा शब्दार्थ सघातस्य सहृदय हृदयास्वाद्य कोऽपि काव्यत्व लक्षणो धम्म विशेष काव्यत्व जाति । ७ ८

निपुण कवि–कमतत् ॥

अथ काव्य कविकर्म्मेति कवि जिज्ञासाया तत् स्वरूपमाह—

स वीजो हि कविर्ज्ञेय स सर्वागमकोविद ।

मरस प्रतिभाशाली यदिस्यादुत्तमस्तदा ॥

एतेन द्वये कवय सम्भवन्ति, अरोचकिन, सतृणाभ्यवहारिणश्चेति वामन (काव्यालङ्कार सूत्रे १।२।१)। तत्र सतृणाभ्यवहारिण कवय एव न भवन्ति, अनादृतत्व तु ।

साङ्कर्य्य दोषेण काव्यत्व जाति दुष्टेति वाच्यम । अत यन्मते साङ्कर्य्यस्य न जातिबाधकत्वम्’ तन्मतनालम्ब्यवोक्तमता न दोष ॥७ ८।

ननु काव्यत्वस्य जाति रूपत्वे कवि घटित काव्य लक्षणस्यासम्भवात् कथमालङ्कारिकरलङ्कार शास्त्रे उत्तम मध्यमादि भदन कवेलक्षण क्रियते ? तत्राह—अथेति । काव्यत्वस्य जातित्वेऽपि काव्यमिति पद यौगकवृत्या कवे कम काव्यमिति व्याकरण सिद्ध भवति, अतस्तन कवि जिज्ञासाया कवेलक्षण सुसङ्गतमेवेति भाव । एतेन पारिभाषिक कवि लक्षण करणे न द्वये द्वि प्रकारा कवयो भवन्ति, द्वय

अथवेति—अनगति शब्द का अथ है—प्रतीति । जिस से गोत्वरूपासाधारण धम के द्वारा ‘अय गौ अय गौ ’इस प्रकार अनुगताकारा समानाकारा प्रतीति होती है,वही गोत्वरूप धम जाति है । उसी प्रकार भी शब्दाथ समूह का काव्यत्व लक्षण धम विशेष ही काव्यत्व जाति है।

गोत्व जाति मे हलिक लोक की भी अनुगत प्रतीति हाती है, अन वह प्रमाण है, कि तु काव्यत्व जाति मे प्रमाण क्या है ? उत्तर मे कहते है—काव्यत्व रूप धम सहृदय हृदयास्वाद्य है, अतएव सवत्र काव्य मे सहृदयो की काव्यत्व रूप से अनुगता प्रतीति ही काव्यत्व जाति मे प्रमाण है ।

कहा जा सकता है—प्रत्येक वणनिष्ठ कत्व खत्व जाति के द्वारा काव्यत्व जाति सङ्कीर्णा हा जायेगी, क वाद्यभाववति कवलकाक्षर घटित चित्र काव्य मे कत्व जाति है, एव काव्यत्वाभाववति कवल ककार रूपाक्षर मे कत्वजाति,—काव्यत्व जाति भी है, अत परस्परात्यन्ताभाव सामानाधिकरणत्वेसति एकाधि करण वृत्तित्व रूप साङ्कर्य्य दोष के द्वारा काव्यत्व जाति दुष्टा हागी । इस प्रकार कथन भी समीचीन नही है । कारण, जिस मत से स ङ्कर्य्य जाति का बाधक नही होता, उस मत के अवलम्बन से यह लक्षण हुआ है । अतएव यह लक्षण निदुष्ट है ॥७ ८॥

काव्य का जातित्व होने मे भी ‘कवि कम्म काव्य’ इस रूप मे काव्य पद व्याकरण सिद्ध होने के कारण, कवि किस को कहा जा सकता है ? इस प्रकार जिज्ञासा उपस्थित होने पर कविका स्वरूप निरूपण करते है—जो सवीज हैं, वे ही कवि हाते है, वे काव्य अलङ्कारादि बहु शास्त्रज्ञ प्रतिभाशाली होने से उत्तम होते हैं ॥

काव्यत्व का जाति रूप हाने से कवि घटित काव्य लक्षण होना असम्भव होगा, कि तु आलङ्कारिक

अरोचकिन एव कवय । तेन हि 'सवीज' इत्यैव कविलक्षणम्, अन्यानि तु विशेषणानि – सवीजकविरीदृश स्यादि यथ । किं तद् वीज यन सवीज इति ज्ञेय कविरित्याह,–॥८॥

वीज प्राक्तन संस्कार विशेष काव्यरोह भू ॥

रोहश्च द्वेधा–निर्म्मातृमूल, स्वादकमूलश्च, य विना निर्म्मातु स्वादयितुञ्च न शक्यते। तेनोत्पत्त्यास्वादयोरेवास्य कारणता।

द्वयस्य बहु वचनेऽपि प्रयोग साधु, नतु 'द्वि' शब्द इव नित्य द्विवचनान्त । ६॥

अरोचकिन इति यथातिसुकुमारा महान्तो जना असंस्कृत विरस वस्तु अरोचकिनो भवन्ति, तथैव कविदुनकृष्ट सर्वजन मदष अथवा गुणालङ्कार रहित च काव्ये ऽरोचकिनो भवन्ति । यथा च पशव स्तृण सहितान्यादि भाजि भवन्ति तथैव । दुष्ट काव्य दोष सहित काव्याखादका भवन्तीति द्विविधा कवयो वामन सम्मता इत्यर्थ । अन्यानि सर्वागम - कवित्व, अलङ्काराद्यनेक शास्त्र विज्ञ, सरस, प्रतिभा शालीति पदानि विशेषण बोधकान्येव, नतु कवि लक्षण घटकानि । तथा च सबीज काव कीदृश स्यात् ? इत्याकाङ्क्षायां तदृश विशेषणानि ज्ञेयानि । काव्योत्पादक प्राक्तन संस्कार विशेष, काव्यरोहभू काव्य रोह स्थानम् । रोहश्चेति द्विविध - निर्म्माण रूप, आस्वादन रूपश्च । अस्य संस्कार विशेषस्य कारणता बोध्या । तथा च काव्योत्पत्ति काव्यास्वादनोभय हेतुभूत प्राक्तन संस्कार विशेषवान् कविरिति कविलक्षणम्

गण कैसे अलङ्कार शास्त्र मे उत्तम मध्यम दि भेद से कवि का लक्षण करते हैं ? उत्तरमे कहते हैं-काव्यत्व जाति होने पर भी कवि पद यौगिक वृत्ति मे 'कवे कर्म्म काव्यम' इस रीति से व्याकरण सिद्ध होगा, अतएव कवि विषयक जिज्ञासा मे कवि लक्षण सुसङ्गत ही होगा । इस प्रकार पारिभाषिक कवि लक्षण करने का कारण द्वि प्रकार कवि होंगे, द्वय शब्द का साधु प्रयोग बहु वचन मे भी होता है, किन्तु 'द्वि' शब्द का तुल्य नित्य द्वि वचनान्त नहीं है ॥६॥

वामनाचार्य्य के मत मे अरोचकी एव सतृणाभ्यवहारी भेद से कवि द्विविध होते हैं, जिस प्रकार असंस्कृत विरस पदार्थ मे अति सुकुमार महत् व्यक्ति वृन्द की प्रवृत्ति नही होती है, उस प्रकार स दोष अथवा गुणालङ्कारादि रहित काव्य मे जिन सब की रुचि नहीं होती है, वे सब अरोचकी है। पशुगण,- जिस प्रकार तृण सहित भोज्य पदार्थ भक्षण करते है, उस प्रकार जो सदोष साधारण काव्य का आस्वादक है, वे ही सतृणाभ्यवहारी हैं।

सतृणाभ्यवहारी को कवि नहीं कहा जा सकता है, कारण- उन सबका समादर सभ्य समाज मे नहीं होता है किन्तु अरोचकी ही वास्तविक कवि है । कवि लक्षण मे सवीज कवि हैं—कहा गया है, वह वीज क्या है ? प्राक्तन संस्कार विशेष ही बीज है, वही काव्य प्ररोह भूमि है। रोह भी निर्म्माण मूलक एव आस्वाद मूलक भेद से द्विविध है। उस को छोड़कर काव्य निर्म्माण का स्वाद ग्रहण नही हो सकता है। अतएव उत्पत्ति एव आस्वाद उभयके प्रति ही प्राक्तन संस्कार कारण है। इससे काव्योत्पत्ति एव काव्यास्वादन एतदुभय के हेतुभूत जो प्राक्तन संस्कार विशेष है तादृश संस्कार शाली व्यक्ति ही कवि है, यही निगलितार्थ है। उभयविधकवि—प्रतिभाशाली होने से उत्कृष्ट होते है,वह प्रतिभा क्या है ? नव नवोल्लेख शालिनी प्रज्ञा का नाम ही प्रतिभा है ।

क्वासौ प्रतिभेत्याह–

प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभागता ।। (भामहालङकारे) ।।१०-११।।

अथोक्त लक्षण काव्य कियत् प्रकारक भवतीत्याकाङ्क्षाया तद्भेदानाह,–

उत्तम ध्वनि वैशिष्ट्ये मध्यमे तत्र मध्यमम् ।

अवर तत्र निष्पन्द इति त्रिविधमादित ।।

व्यङ्ग्यमेव ध्वनि । यत्तु (काव्य प्रकाशे ११४) "इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्

तेन कविभि ने काव्यास्वादन वति सहृदये आस्वादन हेत प्राक्तन सस्कार सत्त्वेऽपि काव्योत्पत्ति हेतुभूत सस्काराभावेनोभय हेतुभूत प्राक्तन सस्कार विशेषवत्त्व रूप लक्षणस्य न समन्वय इति भाव । नव नवोल्लेख शालिनी नव नवाथ रचनाया समर्था प्रज्ञा बुद्धि प्रतिभा भवति ।।१०-११।।

ध्वनेर्वैशिष्ट्य उत्तमत्वे काव्यमुत्तम भवति, ध्वनेर्मध्यमत्वे काव्य मध्यम भवति, ध्वने निष्पन्दे अस्पष्टे सहृदय हृदय शीघ्रमप्रकटे सत्यवर निकृष्ट काव्यम् । ननु काव्य ध्वानवस्य तद्द्वैध्येन काव्यस्यापि त्रविध्यमुक्तम् ? तत्राह– व्यङ्ग्य व्यञ्जनावृत्तिभिर्बोध्य वस्तु ध्वनि । काव्य प्रकाशकृतोक्त ध्वनि लक्षण-माह—यत्त्विति । यस्मिन् काव्ये वाच्याद् वाच्यार्थापेक्षया व्यङ्ग्यार्थेऽतिशयिन्युत्कृष्टे सतीदमुत्तम काव्य बुध ध्वनि कथि। इति काव्यस्यैवयद्ध्वनित्वमुक्तम्, तत्त्वसङ्गतम्,—प्रामाणिकाना काव्य ध्वनि

जिस प्रकार अति सुकुमार महान् व्यक्तिगण असस्कृतविरसवस्तु मे रुचिशील नही होते है, उस प्रकार उत्कृष्ट कविजन सदोष अथवा, गुणालङ्कार रहित काव्य मे रुचिशील नही होते है। जिस प्रकार पशु वृन्द तृण सहित अनादि भोजन करते है, उस प्रकार निकृष्ट कविगण, दोष रहित काव्यास्वादक होते हैं, अत द्विविध कवि वामन सम्मत होते हैं।

सर्वागम कोविद, अलङ्कारायनेक शास्त्र विज्ञ, सरस प्रतिभाशाली पद समूह विशेषण है, किन्तु कवि लक्षण मे निविष्ट नही है, सवीज कवि किस प्रकार होते है ? इस प्रकार जिज्ञासा पूर्ति हेतु उक्त विशेषण समूह दिये गये है।

काव्योत्पादक प्राक्तन सस्कार विशेष ही काव्यरोह भू—काव्य रोहस्थान है। रोह भी द्विविध है उत्पत्तिरूप, एव आस्वादन रूप,सस्कार विशेष की ही कारणता है। अतएव काव्योत्पत्ति काव्यास्वादनोभय हेतुभूत प्राक्तन सस्कार विशेषवान् कवि है, यह पूर्णाङ्ग कवि लक्षण है । इससे कविभिन्न काव्यास्वादन रत सहृदय मे आस्वादन हेतु प्राक्तन सस्कार विद्यमान होने पर भी काव्योत्पत्ति हेतु भूत सस्काराभाव हेतु उभय हेतुभूत प्राक्तन सस्कार विशेषवत्त्व रूप लक्षण का समन्वय नही नवनवोल्लेख शालिनी– नव नवार्थ रचना मे समर्था प्रज्ञा बुद्धि ही प्रतिभा होती है ।।१०-११।।

अनन्तर यथोक्त लक्षण काव्य कतिविध है, इस प्रकार आकाङ्क्षा से उसका भेद निर्देश करते हैं।

विशिष्ट ध्वनि विद्यमान होने पर काव्य उत्तम होता है, मध्यम होने से काव्य मध्यम होता है, एव ध्वनि निष्पन्द अर्थात् अस्पष्ट होने पर निकृष्ट काव्य होता है।

प्रथमत काव्य, तीन प्रकार होते हैं। यहा व्यङ्ग्य ही ध्वनि है, काव्य प्रकाश ग्रन्थ कार के मत

ध्वनि र्बुध कथित' इति काव्यस्यैव ध्वनित्वम्, तत्तु ध्वनि-सम्बन्धाद् ध्वनिरिति लक्षणा, किंवा ध्वन्यतेऽनेनेति करण साधनेन। वस्तुतस्तु ध्वन्यत इदमिति कर्म्म साधनमेव ॥१२॥

पुनश्च—ध्वनेर्वैन्यन्तरोद गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमम्।
शब्दार्थयोश्च वैचित्र्ये दृष्टे यात पूव पूर्वताम् ॥

व्यवहाराभावात्। अत काव्य ध्वनि पद प्रयोग ध्वनि सम्बन्ध तु लक्षणिकत्वेन गौण एव, नतु साक्षात् मुख्य प्रयोग। नन्वनेन काव्येनार्थोध्व यत शब्दयत—इति करण साधनेन काव्येऽपि ध्वनि पदस्य साक्षात् प्रयोग इष्ट एवेत्याह—किं वेति।

ननु काव्य प्रामाणिकाना न कदापि ध्वनि पदस्य मुख्य प्रयोग अतो ध्वनि पद न करण साधनम्, किन्तु काव्येनद वस्तु ध्वन्यत इति कर्म्म साधनमेव, अतएव ध्वनि पदस्य मुख्य प्रयोगो व्यङ्ग्यार्थ एव नतु काव्ये। काव्ये तु ध्वनि सम्बन्धाल्लाक्षणिक एवेत्यर्थ सक्षपेणाह—वस्तुतस्त्विति ॥१२॥

ध्वनिरिति यस्मिन् काव्ये व्यङ्ग्यार्थस्यापि ध्वन्यर्थ सम्भवति, तत् काव्यमुत्तमोत्तम भवति।

मे—वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ उत्कृष्ट होने मे उस काव्य को बुधगण ध्वनि कहते हैं। इस श्लोक मे जिस काव्य को ध्वनि कहे हैं, वह 'ध्वनि सम्बन्ध हेतु ध्वनि" है, इस प्रकार लाक्षणिक प्रयोग है। अथवा जिस के द्वारा ध्वनित होता है—इस प्रकार करण साधन होगा वस्तुत जो ध्वनित होता है, इस अर्थ मे उक्त पद कर्म्म वाच्य मे निष्पन्न हुआ है।

उत्तमत्व के प्रति ध्वनि वशिष्ट्य कारण होने पर, ध्वनि वशिष्ट्य से उत्तम काव्य होगा, ध्वनि मध्यम होने मे मध्यम काव्य होगा, एव ध्वनि, निष्पन्न होने से अर्थात् अस्पष्ट होने से सहृदय के हृदय मे आशु अर्थ बोध न होने से अवर निकृष्ट काव्य होता है। ध्वनि क्या है? जिससे काव्य के त्रिविध भेद होते हैं? उत्तर—व्यङ्ग्य-व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा बोध्य वस्तु ध्वनि है।

काव्य प्रकाश ग्रन्थ कारोक्त ध्वनि लक्षण को कहते हैं—जिस काव्य मे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अतिशय उत्कर्ष मण्डित होता है—उसको बुधगण उत्तम काव्य कहते हैं। उस काव्य को जो ध्वनि कहते हैं, वह कथन असमीचीन है। प्रामाणिको के काव्य मे ध्वनि व्यवहार नहीं होता है। अत काव्य मे जो ध्वनि पद का प्रयोग होता है वह ध्वनि सम्बन्ध मे होता है, एव गौण प्रयोग है। किन्तु साक्षात् मुख्य प्रयोग नहीं है।

काव्य के द्वारा अर्थ ध्वनित होता है—इस प्रकार करण साधन के द्वारा काव्य मे ध्वनि शब्द का साक्षात् प्रयोग इष्ट है। इस प्रकार कहना भी उचित नहीं है। काव्य के प्रति ध्वनि शब्द प्रयोग मुख्य रूपसे प्रामाणिक व्यक्ति गण नहीं करते हैं। अतएव ध्वनि पद-करण साधन निष्पन्न नही है। किन्तु काव्य से वस्तु ध्वनित होती है—इस प्रकार कर्म्म साधन है, अतएव ध्वनि पद का मुख्य प्रयोग व्यङ्ग्यार्थ ही होता है। किन्तु काव्य मे नही होता है। ध्वनि सम्बन्ध से काव्य मे ध्वनि शब्द का प्रयोग लाक्षणिक ही होता है। सक्षेप से कहते हैं-ध्वन्यते इदमिति कर्म्म साधनमेव ॥१२॥

शब्दार्थ का वचित्र्य विद्यमान होने पर ध्वनि से ध्वन्यन्तर का आविर्भाव होता है, एव उक्त काव्य

यदि ध्वनि वशिष्ट्ये ध्वन्यन्तर वैशिष्ट्य स्यात्, यदि वा शब्दार्थयो वैचित्र्यञ्च भवति, तदा काव्यमुत्तमोत्तमम्। एव शब्दाथ वचित्र्ये सति द्वे मध्यमावरे पूर्व-पूर्वता यात, मध्यममुत्तम भवति, अवर मध्यम भवतीत्यथ। शब्दार्थयोरिति 'काकाक्षि'-गोलक न्यायेनोभयत्र याजनोयम् ॥१३॥

क्रमेणोदाहरणानि-

गौरीमचयितु प्रसूनविचये श्वश्रू निदिष्टा हरे
क्रीडा काननमागता वयमहो मेघागमश्चाभवत्।

शब्दाथयोर्वैचित्र्ये सति द्वे मध्यम वरे काव्ये पूर्व पूवता यात। 'ध्वने ध्वन्यन्तरोद्गारे' इत्यस्याथमाह-यदिति।

ननु यत्र काव्ये ध्वनि वशिष्टचमात्र वत्तते, नतु ध्वने ध्वन्यन्तरम्, अथच शब्दाथयो वचित्र्य वत्तते तदुत्तममपि काव्य शब्दाथ वचित्र्याद्धेतो रुत्तमोत्तम भवतीत्याह-यदिवेति। एवमिति—तथा च यत् काव्य ध्वनेमध्यमत्वान्मध्यम भवति, तत् काव्यस्यापि शब्दाथस्य च चमत्कारो वत्तत चेत्तदा मध्यममपि काव्य मुत्तम भवति। एव ध्वन्यथस्यास्पन्देसति यत् काव्यमवर भवति, तत् काव्यस्यापि शब्दाथयोश्चमत्कारो वत्तते चेत्तदाऽवरमपि काव्य मध्यम भवतीत्यथ। 'काकाक्षि गोलक' न्यायेनेति शब्दाथयोश्च वशिष्ट्ये इति पदस्य 'काकाक्षि गोलक' न्यायेनोत्तमोत्तममित्यत्र द्वे यात पूव पूवतामित्यत्र चा वयो बोद्धव्य ॥१३॥

तत्र वाच्यार्थापेक्षया ध्वन्यथस्योत्कर्षे सत्युत्तम काव्य भवतीत्युदाहरणमाह—गौरीमिति। श्रीकृष्णेन

उत्तमोत्तम होता है। उक्त स्थल मे मध्यम अधम काव्यद्वय -पूव पूवता अर्थात् उत्तम, मध्यम रूपत्व को प्राप्त करते हैं। तात्पर्य्य यह है कि—जहा ध्वनि वशिष्टय से ध्वन्यन्तर का वशिष्टय होता है, अथच शब्दाथ का वैचित्र्य भी रहता है, वही उत्तमोत्तम काव्य है। जो काव्य, ध्वनि की मध्यमता हेतु मध्यम है, अथच उस मे शब्दाथ का चमत्कारित्व भी है, वह उत्तम काव्य के मध्य मे परिगणित होता है। एव ध्वन्यथ का अप्रकाश हेतु जो काव्य निकृष्ट है, उस मे शब्दार्थ का चमत् कारित्व विद्यमान होने पर वह मध्यम काव्य मे परिगणित होता है॥

जिस काव्य मे ध्वन्यथ का भी ध्वन्यथ विद्यमान होना सम्भव है, वह काव्य उत्तमोत्तम होता है। शब्दाथ का वचित्र्य विद्यमान होने से मध्यम एव अवर काव्य उत्तम एव मध्यम होता है।

"ध्वनि से ध्वन्यन्तरोदभव होने से"—जो कहा गया है, उसका विवरण कहते हैं—जिस काव्य में ध्वनि वशिष्टचमात्र है, किन्तु ध्वनि से ध्वन्यन्तर नहीं है, अथच शब्दाथ का वचित्र्य है, वह उत्तम काव्य भी शब्दाथ का वचित्र्य विद्यमान हेतु उत्तमोत्तम होता है। उसी प्रकार जो काव्य ध्वनि की मध्यमता के कारण मध्यम है, उस मे यदि शब्दाथ का चमत् कारित्व विद्यमान होता है तो, मध्यम होने पर भी वह उत्तम होता है। एव ध्वन्यथ विद्यमान न होने से जो काव्य अवर होता है, उस मे शब्दाथ का चमत् कारित्व विद्यमान होने से वह अवर होने पर भी मध्यम काव्य होता है। काकाक्षि गोलक न्याय से अर्थात् एक नेत्र गोलक उभय नेत्र मे जिस प्रकार गमनागमन करता है, उस प्रकार शब्दाथ वैशिष्टय पद भी उत्तमोत्तम का विधायक है। इस प्रकार जानना होगा ॥१३॥

प्रेङ्खोला परितश्च कण्टकलता श्यामाश्च सर्वादिशो
नोविद्म प्रतिवेशवासिनि गुरो किं भावि सम्भावितम् ॥

अत्र वाच्याद् भावि श्रीकृष्ण सङ्गम जन्य नखक्षत स्थगनरूपस्य व्यङ्ग्यस्य वशिष्ट्याद्युत्तमत्वम् ॥१४।

सह मिलनाथ गता वृन्दावन मध्ये कापि व्रजसुन्दरी श्रीकृष्णेन सह मिलनात् पूर्वमेवाकस्मात् तत्रागतां पड़ोसीनीति प्रसिद्धा कामपि प्रतिवेशनी दृष्टवा स्वीयागमन पुष्पचयननिमित्तमिति उक्तम्। एव दवात् सम्भोगानन्तरमनया सह पुनर्मिलन चेत् सम्भोग चिह्ननखक्षतादिक दृष्टवा किञ्चिद् वदिष्यतीत्यधुनव सम्भोग चिह्न कण्टकक्षतत्वेन वक्त च तस्या अग्रे स्व खेदमभिनयति। श्वश्रू निदिष्ट सती हरे क्रीडाकानन वृन्दावनमागता मेघागमश्चेत्यनेन 'श्याम श्च सर्वादिश' इत्यनेन च शीघ्र गृह गन्तु न शक्नोमीत्यतोऽत्र मम विलम्बश्च भविष्यतीत्यपि ध्वनितम्। हे प्रतिवशेवासिनि! अद्य गुरुजनस्य किं सम्भाविन भावि, कीदृशी सम्भावना भविष्यतीति न जाने,तत गुरुजनोऽपि यदि विलम्ब नखक्षतञ्च दृष्टवा किञ्चिद् वदिष्यति, तदा त्वामेव साक्षित्वेनोपन्यस्य हे प्रतिवेशिनि। त्वन्निकटे तदानीं मया यत् सम्भावितम् तदत्र मम ललाटे फलितमित्यपि वक्ष्यामीति स्वाभिप्रायश्च ध्वनित,। प्रेङ्खोलाश्चञ्चला कण्टक युक्ता लता इत्यनेन शीघ्र गृहागमन समये मम कण्टकक्षतञ्च भविष्यतीति ज्ञापितम्। अत्र भावी य श्रीकृष्णस्य सङ्गमस्तस्य स्थगन सवरणम् ॥१४।

गौरी अच्चन हेतु पुष्प चयन निमित्त श्वश्रू की आज्ञा से हरि के क्रीडा कानन मे उपस्थित होने पर वहाँ मेघाडम्बर उपस्थित हुआ। सम्प्रति चतुर्दिक मे कण्टक लता पवन द्वारा दोदुल्यमान हो रही है। दिङ मण्डल श्यामवर्ण हुआ है, हाय प्रतिवेश वासिनी, (पडोसिनी) मै नहीं जानती हूँ, आज इस घटना से गुरुजन को क्या सम्भावना होगी? यहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा से गति विलम्ब एव नखक्षतादि चिह्न अनुमेय हैं। भावी श्रीकृष्ण सङ्ग सङ्गोपन रूप व्यङ्ग्यार्थ के वैशिष्ट्य हेतु उत्तमत्व हुआ है ॥१४॥

वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ का उत्कर्ष होने के कारण उत्तम काव्य होता है, अत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं— गौरीमिति। श्रीकृष्ण के सहित मिलनार्थ गता वृन्दावन के मध्य मे एक व्रजसुन्दरी, कृष्ण के सहित मिलन के पूर्व ही वहा अकस्मात् आगत पड़ोसिनी- अर्थात् प्रतिवेशिनी को देखकर निज आगमन पुष्प चयन हेतु हुआ है—यह कही थी। एव दैवात् सम्भोग के अनन्तर उस के सहित पुनर्वार यदि मिलन हो ता सम्भोग चिह्न नखक्षतादिक को देखकर वह कुछ कहेगी अत सम्प्रति सम्भोग चिह्न को कण्टकक्षत रूपसे प्रकाश करने के निमित्त उसक समीप मे खेद के सहित अभिनय करती है—सास- श्वश्रू - के आदेश से पुष्पाहरण हेतु श्रीहरि के क्रीडा कानन वृन्दावन मे आई हू मेघागम भी हुआ है, श्यामलिमा व्याप्त चतुर्दिक हैं, इस से आशु गृह गमन कर न सकूँगी, यहा मुझ को विलम्ब होगा, यह भी ध्वनित हुआ। हे प्रतिवेश वासिनि! अद्य गुरु जन के मन मे क्या होगा, जिस प्रकार सम्भावना होगी-मैं नहीं जानती हूँ उस से गुरुजन भी यदि विलम्ब एव नखक्षत को देखकर यदि कुछ कहें तो तुम्हें साक्षी मानकर तुम्हारे निकट उस समय जो कुछ सम्भावन मैंने की थी, मेरे भाग्य मे वही हुआ यह भी मै कहूँगी, यह ध्वनित हुआ। प्रेङ्खोला चञ्चला, कण्टक युक्त लता है, इस से सत्वर गृह गमन समय मे कण्टकक्षत

मध्यम यथा—

उत्तमस्य पुरुषस्यवनान्त , सत्यमालिकुसुमाय गतासी ।
आययुमधुकरास्तव पश्चाद्- दु शक परिमलो हि वरीतुम् ।।

अत्र (अमर कोष वनौषधिवर्गे) "पुन्नागे पुरुषस्तुङ्ग केशर"

इत्यादिनोत्तमस्य पुरुषस्य प्रकृष्ट-पुन्नागस्य। पक्षे,-पुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्यैवेति व्यङ्गयमेव स्फुटम् ।।१५।।

अवर यथा—

ऊज्जत् स्फूर्जगर्जनैर्वारि वाहा , प्रोद्यद विद्युद्दामविद्योतिताशा ,
अद्रावद्रौ विद्रुता द्राघयन्ते, दन्ति भ्रान्त्यासिह सङ्घप्रकोपान् ।।

अत्र केवल शब्द वैचित्र्याद ध्वने निस्पन्द भावाच्चावरत्वम् ।।१६।।

उत्तमस्य श्रेष्ठस्य नागकेशर इति प्रसिद्धस्य पुरुषस्य पुन्नागस्य वन मध्ये पुष्पाथ त्व गतासी , भ्रमरस्तवपश्चादाययु , अता हि निश्चित पुन्नागस्य परिमलस्त्वया सवरातु दु शक । श्रीकृष्ण पक्षे, त्वदङ्गस्थ श्रीकृष्णस्य परिमल आच्छादयितुमशक्य च , अत्र श्लेष प्राप्तत्वेन ध्वनेमध्यमत्वम् ।।१५।।

अवरमिति । ऊज्जन् बलवान् स्फूर्जदाटोपो यत्र तथा भूत गर्जनै करण वारिवाहा मेघा अद्रौ प्रति पर्वते विद्रुता धावन्त स त दन्ति भ्रान्त्या श्यामाकारा एते हस्तिन प्रति पर्वते भ्रमन्तीति हस्ति भ्रान्त्या सिंह समूहस्य प्रकोपान् द्राघय ते दीर्घान् कुर्वन्ति । दीर्घ शब्दस्य द्राघादेश । कीदृशा ? प्रकर्षेणोद्यन्ती या विद्युन्माला तया प्रकाशिता आशा दिक त ।।१६।।

होने की सम्भावना है, यह सूचित हुआ । यहा भावी जो कृष्ण सङ्गम-उसका स्थगन-अर्थात् सवरण हुआ ।।१४।।

मध्यम यथा—'हे सखि ! तुम उत्तम पुरुष के कानन के अभ्यन्तर मे पुष्प हेतु सत्य ही गई थी, देखो, मधुकर वृ द तुम्हारे पश्चात् पश्चात् आ रहे हैं मै जानती हू कि—उसका परिमल गोपन करना अतीव कठिन कार्य्य है ।

अमरकोष मे पुन्नाग, पुरुष, कशरादि शब्द की पर्य्यायता निबन्धन यहाँ उत्तम पुरुष शब्दसे उत्कृष्ट पुन्नाग वृक्ष एव पक्षान्तर मे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है, इस प्रकार व्यङ्गयार्थ परिस्फुट ही हुआ है ।

उत्तम, श्रेष्ठ नागकेशर इति प्रसिद्ध पुरुष पुन्नाग के बन मध्य मे पुष्पार्थ तुम गई थी, भ्रमर गण - तुम्हारे पीछे पीछे आ गय हैं, अत यह निश्चित है, कि— तुम्हारे पक्ष मे पुन्नाग का परिमल को गोपन करना असम्भव है । श्रीकृष्ण पक्ष मे, तुम्हारे अङ्गस्थ श्रीकृष्ण का परिमल को आच्छादन करना सामर्थ्य के बाहर है । यहाँ श्लेष प्राप्त होने के कारण ध्वनि का मध्यमत्व है ।।१५।।

अवर काव्य जलद मण्डली समुद्यत विद्युद्दाम से दिग दिगन्त को विद्योतित करके अद्रि अद्रि मे प्रधावित हो रही हैं, एव महाडम्बर के सहित गभीर गर्जन से दन्ति भ्रान्ति उत्पन्न करके सिंह सङ्घ का

ध्वने र्ध्वन्यन्तरोद्गारे उत्तमोत्तमत्व यथा---

यातासि स्वयमेव रत्न पदकस्यान्वेषणार्थं वना

दायातासि चिरेण कोमल तनु क्लिष्टासि हा मत्कृते ।

श्वासो दीघतर स कण्टक पद वक्षो मुख नीरस

का ते ह्रीरसमञ्जसा सखि गति दूरे रह सुभ्रुवाम् ॥

इत्यत्र त्व तदानयनार्थं न गतासि, अपि तूपभोगाथमेवेति ध्वनिरेक । अन्योऽपि वक्तृ प्रकृति प्रकरण वैशिष्ट्यात् प्रतिभासते । तथा हि प्रकरण तावत् प्रिय सखीमेना श्रीकृष्णेन

काचिद् यूथेश्वरी स्वसखीं श्रीकृष्ण सम्भुक्ता कत्त स्वकण्ठस्थित पदकानयन मिषेण कुञ्जमध्ये प्रेषिता तत्र स्थितनश्रीकृष्णेन सह सम्भोगान तर स्वनिकटे आगत्य लज्जया अधोमुखीं ता प्रति सप रहास माह—यातेति। वक्ष सकण्टक पद कण्टक चिह्नेन सह वत्तमानम्, हे सखि ! रह एका ते दूरे सुभ्रुवा गातरह ञ्जसा भवति, अतस्त्वयावौ असमञ्जस कृतम् अधुना पश्चात्तापे कि भविष्यति ? त्वमिति तदानयनाथ पदका नयनार्थं न यातासि, किन्तु श्रीकृष्णेन सहोपभोगाथम् । अन्योऽपि ध्वनिवक्तृवैशिष्ट्यात् प्रकृति वशिष्ट्यात् प्रकरण वैशिष्ट्यात् प्रतिभाषते, सख्या सह प्रेमानुब ध प्रकरण वशात राधयव कृष्णेन

प्रकोप वर्द्धन कर रही हैं ।

यहाँ केवल शब्द वैचित्र्य निबन्धन एव ध्वनि की निस्पन्दता क कारण अवरत्व हुआ है ॥१६॥

अवरा अर्ज्जन्—बलवान् स्फुजवाटोप जहाँ है उस प्रकार गजन के द्वारा बार बार मेघ समूह अद्रि अद्रि मे प्रति पवत मे विद्रुत धावित हो रहे हैं। दन्ति भ्रान्त्या-श्याम वण के ये सब हस्ती हैं, प्रति पवत मे भ्रमन् कर रहे हैं, इस प्रकार हस्ती भ्रान्ति से सिंह समूह का क्रोध वर्द्धित कर रहे हैं। द घ शब्द का द्राघ आवेश हुआ है, किस प्रकार हैं—प्रकृष्ट रूप से प्रकाशित जो विद्युन्माला है, उस क द्वारा उद्भासित जो दिक् है, ॥१६॥

ध्वनि से ध्वन्य तर उद्गार होने से उत्तमोत्तम काव्य होता है। उदाहरण—सखि ! तुम रत्नपदक अन्वेषणाथ स्वय गई थी ? देखो, वन मे प्र यागमन करने मे कितना विलम्ब हुआ। हाय ! तुम कोमलाङ्गी हो, मेरे निमित्त तुमने कितना कष्ट किया। तुम्हारा निश्वास दीघतर हुआ है, एव वक्ष स्थल भी कण्टकित,तथा मुख मण्डल भी नीरस हुआ है, इसमे तमको लज्जित होने का क्या है ? विजन प्रदेश मे कुल कामिनी वृन्द का दूर गमन सवथा अनुपयुक्त है।

यहाँ, तुम उक्त पदक लाने को नहीं गई, उपभोगाथ ही गई थी। इस प्रकार एकध्वनि प्रतीत हो रही है, एव वक्त्री की प्रकृति एव प्रकरण वशिष्ट्य मे अ य एक ध्वनि भी प्रतिभाषित हो रही है।

श्रीराधा ने प्रेमानुब ध हेतु उक्त प्रिय सखी को श्रीकृष्ण क सहित सङ्गता करने के निमित्त उस प्रकार युक्ति की थी, रत्न पदक आनयन क छद्म से सखी को जब कुञ्ज मे प्रेरण करूंगी? तब तुम उस से मिलना। यही यहा का प्रकरण है पश्चात्, सखी, उस रीति स कुञ्ज से प्रत्यागमन होने पर उस को अपराधिनी करने के निमित्त श्रीराधा का परिहास, आकार गोपन, असूयादि विविध भावमिश्रण हैं, एव

सह सङ्गमयितु तेनैव सह श्रीराधया प्रागेव युक्ति कृता, यदासौ मया प्रहीयते, तदास्या सङ्गस्त्वया करणीय इति । पश्चात्तथा समागताया तस्या तामपराद्धा कर्त्तु तस्या परिहासा-वहित्थासूयादि भावशाबल्यम्, सख्याश्च ह्री- साध्वस कोपादि- भावशबल्यमिति बहव एव ध्वने पल्लवा । तेन ध्वने ध्वन्यन्तरोद्गारोऽत एव विधस्थले उत्तमोत्तमत्व ज्ञेयम् ।।१७।।

शब्दार्थ वैचित्र्येणोत्तमत्तमत्व यथा -

नवजलधर धामा कोटि कामावतार प्रणयरसयशोर श्रीयशोदा किशोर ।
अरुणदरुणदीर्घापाङ्गभङ्गचा कुरङ्गी, रिव निखिल कृशाङ्गीरङ्गिणि त्व क्व यासि ।।

अत्र शब्दार्थ वैचित्र्येण वाच्यादतिशायिना ध्वनिना च उत्तमोत्तमत्वम् । ध्वनिस्तु हे

सह प्राक युक्ति कृतेति ध्वनि । ध्वने ध्वयन्तर यथा समागतायामिति । परिहास स्पष्ट । अवहित्था श्रीकृष्णेन सह सवाद रूपाकार गोपणम् सुभ्रु वा दूरे गतिरसमञ्जसेत्यनेनासूया इत्यादि भाव शाबल्य यूथेश्वर्या सख्याश्च साध्वस भयम् एतादश मद्विडम्बने त मेवहेतु रिति प्रणयकोपश्च ।।१७।।

नवीन मेघस्येव श्याम कान्तियस्य, तथा कोटि कन्दर्पा अवतारा यस्य, सौन्दर्यातिशयेन तेषामवतारीत्यथ । प्रणय रसरूप यशो राति ददाति,एवम्भूतो यशोदाकिशोरोऽरुणापाङ्गभङ्गचा निखिल कृशाङ्गीररुणत्—रुरोध । तत्र दृष्टान्त —कुरङ्गी हरिणीरिव, तस्मात् हे रङ्गिणि ! त्व कुत्र यासि ?

सखी की भी लज्जा, भीति, प्रणय कोपादि विविध भाव मिश्रण है । इस रीति से ध्वनि के बहुतर पल्लव हैं । अतएव ध्वनिका ध्वन्यन्तरोद्गार हेतु एव विध स्थलमे उत्तमोत्तमत्व हुआ है,यह जानना होगा ।१७।

किसी यूथेश्वरी, निज सखी को श्रीकृष्ण सम्भुक्ता करने के निमित्त निज कण्ठ स्थित पदक अनयन च्छल से कुञ्ज मे भेजी थीं वहा श्रीकृष्ण के सहित सम्भोग के अन तर निज समीप मे आकर लज्जा से अधोमुखी सखी को परिहासमय वाक्य कही थी—यातेति । वक्ष स्थल मे कण्टक चिह्न वत्तमान है, हे सखि ! एकान्त दूर देश मे कुल ललना के पक्ष मे जाना असमीचीन है ।

अत तुम ने पहले ही असमञ्जस किया, अधुना पश्चात्ताप करने से क्या होगा ? तुम तो पदक लाने को नहीं गई थी, कि त श्रीकृष्ण के सहित सम्भोग हेतु गई थी । अपर भी ध्वनि—वक्तृवशिष्ट्य से प्रकृति वशिष्टच से, प्रकरण वशिष्टच से प्रतिभाषित होती है । सखी के सहित प्रेमानुबन्ध प्रकरण हेतु राधाने ही कृष्ण क सहित पहले युक्ति की, यह ध्वनि है । ध्वनि से जो ध्व य तर होती है, उसका वणन—सखी का प्रत्यागमन समय मे परिहासमय उक्ति मे सुस्पष्ट है । अवहित्था-श्रीकृष्ण के सहित सवाद रूप आकार गोपन है, ललना के पक्ष मे दूर गमन असमीचीन है— इस के द्वारा असूया प्रकटित हुई है अत भाव शाबल्य हुआ है । यूथेश्वरी एव सखी का भय हुआ है इस प्रकार तुमने विडम्बना की है- यह प्रणय कोप भी है ।।१७।।

शब्दाथ व चत्र्य से उत्तमोत्तमत्व होता है— उदाहरण—नवजलधर सदृश रूप, कोटि कामो का अवतार स्वरूप, प्रणय रस यश प्रदाता श्रीयशोदा किशोर, अरुण दण दीघ अपाङ्ग भङ्गि के द्वारा कुरङ्गी कुल के समान निखिल कृशाङ्गी को निरुद्ध किये है । हे रङ्गिणि ! तुम कहाँ जा रही हो ?

रङ्गिणि! कुतुकिनि! त्वमति प्रसिद्धा गुणवती। क्व यासि? तत्रैव याहि, यत्र श्रीयशोदा किशोरी निखिल कृशाङ्गीररुणत् रुरोध। कया? अरुण दीर्घापाङ्गभङ्ग्या। कुरङ्गीरिवेत्युपमालङ्कारेणापाङ्ग भङ्ग्या वागुरात्वेन रूपकालङ्कारो ध्वनित। वस्तुतस्तु क्व यासीति तत्र किं यासि, मा याहीति लक्ष्योऽथ, कोटि कामावतार इति प्रलोभन द्वारा तत्रैव याहीति व्यङ्ग्योऽथ अत्राविश्वासङ्क मा कार्षी, यत प्रणयरस यशोर प्रणय रस यश प्रद। नवजलधर धामेति—स्वधाम्नैव सवतस्तिमिरमुत्पाद्य नि शङ्कमलक्ष्यो भूत्वा विहरति, अत लोकभीतिरपि न कार्य्येति बहव एव ध्वने पल्लवा ॥१८॥

शब्दार्थ वैचित्र्ये मध्यमस्योत्तमत्व यथा

शिक्षितानि सुहृदा न गृहीता, न्युक्षितासि निज गवरसेन।

तत्र मा याहीति लक्ष्यार्थस्य वचित्र्यम् शब्द वचित्र्य तु स्पष्टमेव। एव वाच्यार्थाद् ध्वन्यर्थस्यौत् कर्षेणोत्तमोत्तमत्वम्। हे रङ्गिणि—इत्यस्य व्याख्या हे कुतुकिनि, अपाङ्गभङ्ग्या वागुरात्व मृगबन्धनीत्वम् ॥१८॥

यहाँ शब्दार्थ वचित्र्य हेतु, विशेषत वाच्यार्थ की अपेक्षा ध्वनि का उत्कर्ष हेतु उत्तमोत्तमत्व हुआ है।

ध्वनि इस प्रकार है—हे कतूहलिनि! तुम अति प्रसिद्धा गुणवती हो, कहाँ जा रही हो? वहा जाओ, जहाँ श्रीयशोदा किशोर निखिल गोपाङ्गनावृन्द को निरुद्ध किये हैं, किस रीति से निरोध किये हैं? रक्त अरुण दीर्घ अपाङ्गभङ्गि द्वारा। 'कुरङ्ग समूह के समान' इस उपमा के द्वारा अपाङ्ग भङ्गि का वागुरात्वरूप रूपकालङ्कार ध्वनित हुआ है। वस्तुत 'कहाँ जा रही हो? इस वाक्य मे, 'क्यो वहा जा रही हो, वहा न जाना,' इस प्रकार लक्ष्यार्थ का बाध होता है। 'कोटि कामका अवतार स्वरूप' इस विशेषण पद के द्वारा प्रलोभन दिया गया है, अर्थात् वहा जाओ, इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ सूचित हुआ है। 'प्रणयरसयश प्रदाता' इस विशेषण से—अविश्वास न करना। यह बोध होता है। 'नव जलधर रमणीय रूप' विशेषण के द्वारा इस प्रकार इस प्रकार अभिप्राय सूचित हुआ है—वह निज श्यामल रूप च्छटा से चतुर्दिक मे तिमिर उत्पादन करके सब के अलक्ष्य म नि शङ्क विहार कर रहे है, अतएव लोक भीति भी वहाँ नहीं है। इस प्रकार ध्वनि के बहुतर पल्लव यहा प्रकाशित हुए हैं ॥१८॥

जिस की कान्ति नवीन मेघ के समान है धाम शब्द का अर्थ कान्ति है। तथा कोटि कन्दर्प- जिस के अवतार हैं सौन्दर्यातिशय से उसके अवतारी वह है। प्रणयरूप यश प्रदान करता है, इस प्रकार यशोदा किशोर, अरुण अपाङ्ग भङ्गि के द्वारा निखिल कृशाङ्गी को अवरुद्ध किया है। इस मे दृष्टान्त—कुरङ्गी—हरिणी के समान। अर्थात् हरिणी को जिस प्रकार अवरुद्ध करता है—उस प्रकार अवरुद्ध किया है। अत हे रङ्गिणि! तुम कहा जा रही हो? वहा न जाना, इस प्रकार लक्ष्यार्थ वचित्र्य है। शब्द वचित्र्य किन्तु सुस्पष्ट है। इस प्रकार वाच्यार्थ से ध्वन्यर्थ का उत्कर्ष होने के कारण उत्तमोत्तमत्व है। हे रङ्गिणि! इस की व्याख्या—हे कुतुकिनि है, अपाङ्ग भङ्गि के द्वारा जो वागुरात्व है—उस से मृगबन्धनीत्व का बोध होता है ॥१८॥

दीक्षित कुल बधूबधयागे, वीक्षित सखिसनन्द कुमार ॥

अत्र ध्वनेमध्यमत्वेऽपि शब्दार्थ वैचित्र्य परिपुष्ट्या उत्तमत्वमेव । १९॥

शब्दार्थ वैचित्र्येऽवरस्य मध्यमत्व- यथा—

कानन जयति यत्र सदा सत् का न नन्दति यदेत्यसुखश्री ।
का न नन्द तनये प्रणयोत्वा, कानन धयति वा न हि तस्य ॥२०॥

अत्र ध्वनेर्निस्पन्दतायामवरत्वेऽपि मध्यमत्वम् ।

शिक्षितानीति—हे सखि ! नन्दन वनस्य दर्शन कदापि न कर्त्तव्यमिति शिक्षितानि न गृहीतानि यतोऽहं कुलाङ्गना, मच्चित्त चाञ्चल्य क कर्त्तु शक्नोतीति निज गर्व रसेनोक्षितासि-सिक्तासि य कुलाङ्गनाबधे दीक्षित स नन्दकुमारस्त्वयेक्षित । अत्रास्माक शत सहस्र शिक्षिता अपि अनादृत्यात्यौत्सुक्येन त्वया तस्य दर्शन कृतम्, अधुना तु तेन सह मिलन विना त्वत् प्राणा न स्थास्यन्ति, यत कुलाङ्गना बध दीक्षित । अत स्त्वत् प्राणरक्षाथ मस्माभि सखिभिरेव तन सह मिलने यतनीयमिति यूथेश्वरी प्रति सखीनाश्वासो ध्वनि । अस्य ध्वने गूढत्वाभावेन मध्यमत्वम् यद्वा, अत्र सती कुलवतीरपि कृष्णो मोहयितु क्षम इति ध्वनि । अस्य वाच्यार्दतिशयित्व नास्तीति मध्यमत्वम् ॥१९॥

काननमिति । यत्र सत् कानन वृन्दावन जयति, यत् काननमेत्य प्राप्य का सुखश्री सुख सम्पत्ति न नन्दति, न समृद्धा भवति । का सुन्दरी श्रीकृष्ण प्रणयाथ न उत्का, नोत्कण्ठिता । धैर्य्य लज्जावती का कुलाङ्गना तस्य कृष्णस्यानन न धयति, न पान करोति । 'धेट पाने' धातु सुखसम्पत्तिश्च रमणमेवेति ध्वनि तस्माद् वाच्याथ एव चमत्कारी ॥२०॥

शब्दाथ वैचित्र्य से मध्यम काव्य का उत्तमत्व है—दृष्टान्त—हे सखि ! तुमने निज गर्व रस से उक्षित (सिक्त) होकर सुहृद् गणके उपदेश वाक्य समूह को ग्रहण नहीं किया । इस हेतु कुलबधूबधयाग मे दीक्षित नन्द कुमार तुम्हारे द्वारा दृष्ट हुये हैं ।

यहाँ ध्वनि का मध्यमत्व होने पर भी शब्दाथ का वैचित्र्य परिपोषण हेतु उत्तमत्व हुआ है ।

शिक्षितानिति—हे सखि ! नन्द नन्दन का दर्शन न करो, इस प्रकार शिक्षा वाक्य को तुमने ग्रहण नहीं किया । कारण मै कुलाङ्गना हूँ, मेरा चित्त को चञ्चल कौन कर सकता है ? इस प्रकार निज गर्व रस के द्वारा तुम सिक्त हो, जो कुलाङ्गना बध काय्य मे दीक्षित है, उस नन्द कुमार को तुमने देख लिया है । हम सब की शत सहस्र शिक्षा को भी तुमने अनादर करके अति उत्सुकता से नन्द कुमार का दर्शन किया, अधुना उसके सहित मिलन के विना तुम्हारा प्राण रह नहीं सकता, कारण वह कुलाङ्गना बध हेतु दीक्षित है । अत तुम्हारे प्राण रक्षाथ हम सब सखी गण को यत्न करना कर्त्तव्य है । यूथेश्वरी के प्रति सखी गण की आश्वास ध्वनि—इस प्रकार है । यहाँ ध्वनि का गूढत्व न होने पर मध्यमत्व हैं । अथवा, सती कुलवती नारी को भी मुग्ध करने मे कृष्ण सक्षम है—यह ध्वनि है । वाच्य से ध्वनि का अतिशयित्व न होने के कारण—मध्यमत्व हुआ है ॥१९॥

शब्दाथ वैचित्र्य से अवर काव्य का भी मध्यमत्व होता है—दृष्टान्त—जहाँ सत् वृन्दावन कानन

यश प्रभृत्येव फल नास्य केवलमिष्यते ।
निर्म्माण काले श्रीकृष्ण–गुणलावण्य–केलिषु ।।
चित्तस्याभिनिवेशेन सान्द्रानन्दलयस्तु य ।
स एव परमो लाभ स्वादकाना तथैव स ।।

(काव्य प्रकाशे १।२) 'काव्य यशसेऽथकृते' इत्यादीन्येव केवल न फलानि, अपि तूक्त प्रकार श्रीकृष्णगुणानुवादादिकृत आनन्दश्च ।।२१ २२।।

इति श्रीमदलङकार कौस्तुभे काव्यादि सामान्योद्देशो नाम
प्रथम किरण ।।१।।

'काव्य यशसेऽथकृते' इ त वदता काव्यप्रकाश कृता काव्य निर्म्माणस्य फल यशोऽथ प्राप्त्यमङ्गल निवृत्त्यादि फलमुक्तम्, स्वमते तु तत्तत् फलस्य तच्छत्वात् तत्तन्न मुख्य फलम्, मुख्य फल तु निर्म्माण समये श्रीकृष्ण गुण लावण्य केलिषु चित्तस्याभिनिवेशन सा द्रान दे मज्जनमेवेत्याह—स्वश इति ।।

इति सुबोधिन्या प्रथम किरण ।।१।।

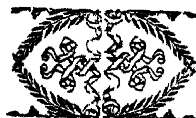
विराजित है जिस को प्राप्त करने से किस सुख सम्पत्ति की वृद्धि नहीं होती है ? कौन सु दरी श्रीकृष्ण प्रणय के निमित्त उत्कण्ठिता नहीं होती है ? कौन धैर्य्य लज्जावती कुल कामिनी तदीय मुख चन्द्र की सुधा का आस्वादन नहीं करती है ?

यहा ध्वनि की निष्प दता हेतु अधमत्व होने पर भी शब्दाथ वचित्र्य से मध्यमत्व हुआ।

काननमिति—जहा सत् कानन वृन्दावन जययुक्त है। जिस कानन को प्राप्त कर किसको सुख सम्पत्ति समृद्धा नहीं होती है। कौन सु दरी—श्रीकृष्ण प्रणयाथ उत्कण्ठिता नहीं होती है ? धैर्य्य लज्जावती कौन कुलाङ्गना है—जो कृष्णानन को पान नहीं करती है। धेद ध तु पानाथक है। सुख सम्पत्ति रमण ही है—यह ध्वनि है। अतएव वाच्याथ ही चमत्कारी है।।२०।।

काव्य प्रकाश ग्र थकार के मत मे यश , सम्पत्ति अशुभ शान्ति, लौकिक परमान द प्रभृति काव्य निर्म्माण के जो फल स्वीकृत हुये हैं, काव्य निर्म्माण के वे ही केवल फल नहीं हैं, किन्तु, काव्य निर्म्माण समय मे श्रीकृष्ण के केलि लावण्य गुण ग्रामादि विषय मे चित्ताभिनिवेश हेतु चित्त में जो निम्मल निविड आनन्द उत्पन्न हो ता है वही परम लाभ है अन्य ा य फल आनुषङ्गिक मात्र है। वास्तविक काव्यास्वाद परायण व्यक्ति वृन्द को उस प्रकार परम लाभ होता है।।२१–२२।।

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे काव्यादि सामान्योद्देशो नाम
प्रथम किरण ।।१।।



द्वितीयकिरणः

अथ शब्दार्थवृत्तित्रयनिरूपणम्

अथ काव्य पुरुषस्य शरीरत्वेन निर्दिष्टयो शब्दार्थयो शब्दे निरूपिते एवार्थनिरूपणमिति प्रथमत शब्द एव निरूप्यते ।

आकाशस्य गुण शब्दो वर्ण ध्वन्यात्मको द्विधा ।।

वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्चेति द्विधा । यद्यपि वर्णा नित्यास्तथापि तदभिव्यक्ति शरीरस्थ वायुनैव भवति । अत उक्तम्—(शङ्कराचार्य्यकृतप्रपञ्चसारतन्त्रे ३।४३) "तस्मात् पवन प्रेरितो वर्ण सङ्घ " इति ।।१।।

नित्यत्व प्रकारश्च यथा–

सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद्बिन्दु समुद्भव ।

शब्दार्थ वृत्तित्रय निरूपणम्

वर्ण ध्वन्यात्मकेत्यस्य व्याख्या—वर्णात्मक इति । ननु वर्णाना नित्यत्वमते वर्णघटितकाव्ये कथ कवि जन्यत्व व्यवहार ? यद्यपीति । अभिव्यक्तिरिति । तथाच, नित्यसिद्ध वस्तुन कविकृत प्राकट्य मेव, नतु वास्तव ज यत्वमिति भाव । अत उक्त प्रथम किरणे ।।१।।

सकलात् कला अंशोऽवयव स्तत् सहितात् मूर्त्तादित्यथ तथा च मूर्त्तात् सच्चिदानन्दरूप विभवात्

शब्द एव अर्थ काव्य पुरुष के शरीर रूप मे निर्दिष्ट हुये हैं। उसके मध्य मे शब्द निरूपण के अनन्तर ही अर्थ निरूपण करना समीचीन होने के कारण–प्रथमत शब्द निरूपित हो रहा है।

शब्द आकाश का गुण है, वह वर्णात्मक एव ध्वन्यात्मक भेद से द्विविध हैं, यद्यपि वर्ण समूह नित्य हैं, तथापि शरीरस्थ वायु के द्वारा उन सब की अभिव्यक्ति होती है, इस हेतु प्रथम किरण मे लिखित है- वर्ण समूह पवन प्रेरित होकर सब के प्रत्यक्षीभूत होते है ।।१।।

'वर्ण ध्वन्यात्मक'—इस की व्याख्या है—'वर्णात्मक' वर्ण नित्यत्व वादी के मत मे वर्ण घटित काव्य मे कवि जन्यत्व व्यवहार कैसे सम्भव होगा ? उत्तर मे कहते हैं—यद्यपीति । अभिव्यक्तिरिति, नित्यसिद्ध वस्तु का प्राकट्य कवि के द्वारा होता है, किन्तु वास्तविक जन्यत्व नही है। अतएव प्रथम किरण मे कथित है—

मूलाधारात् प्रथम मुदितो यस्तु तार पराख्य
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ मध्यमाख्य ।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तो सुषुम्णा
बद्ध स्तस्मात् भवति पवनप्रेरितो वर्ण सङ्घ ।।१।।

नादो विन्दुश्च वीजञ्च स एव त्रिविधो मत ।
भिद्यमानात् पराद्विन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत् ।
स एव श्रुति सम्पन्न शब्द ब्रह्माभवत् परम् ॥

सकलादिति मूर्त्तात्, नादो घोष , तथा च (भा० ११।१२।१७) "प्राणेन घोषेण गुहा प्रविष्ट" इति विन्दु प्रणव , स च वीजम्,–सववर्ण प्रभवत्वात् ॥२--३॥

मूत्त सच्चिदान द स्वरूपात् परमेश्वरादित्यथ । अस्मात् स्वरूपभूता चिच्छक्ति पथग बभूव, ततश्च चिच्छक्ति सकाशात् परमेश्वरस्वरूपो नाद पृथग बभूव, नादात् परमेश्वरस्वरूप भतो वि दुरपि पृथग बभूव । स एव विन्दु वर्णाना प्राकट्ये वीज रूपत्वाद वीजरूपश्च स एव परमेश्वर एव, भिद्यमानात् पृथग भूतात् परात् परमेश्वर स्वरूपा नादाद वि दु , विन्दो सकाशादुभयात्मा वण ध्व या मा रव शब्दो ऽभवत् । स एवोभयात्मा रवएव सर्वेषा श्रुतौ कर्णेन्द्रिये सम्पन्न सन् प्रत्यक्ष गोचरो भवति, नतु नादविन्दू। परमेश्वर एव वि दु द्वारा वर्णात्मका भवतीति उभयात्मक शब्द पर ब्रह्म ह्यभवत् । नाद शब्दस्य घोष वाचित्वे ईश्वर स्वरूपत्वे च प्रमाणमेकादश स्क धोक्त पद्यमाह—(भा० ११।१२।१७)

'स एष जीवो विवर प्रसूति , प्राणेन घोषेण गुहा प्रविष्ट ॥" इति ।

अस्यार्थ —जीवयतीति जीव परमेश्वरो विवरेष्वाधारादिषु चक्रेषु प्रसूनिरिव प्रसूतिरभिव्यक्तिर्यस्य स । तामेवाभिव्यक्तिमाह—घोषेणेति । घोषेण पराख्येन नादवता प्राणेन सह गुहामाधार चक्र प्रविष्ट इत्यथ । स च प्रणव सर्वेषा वर्णाना प्रादुर्भावे प्रयोजकत्वाद् वीजम ॥२--३॥

वण समूह का नित्यत्व इस प्रकार है । सच्चिदानन्द विभव मूर्त्तिमान् परमेश्वर से प्रथमत चित् शक्ति पृथक होती है । तत् पश्चात् उस चित् शक्तिसे नाद, एव नादसे विन्दु, पथक रूपसे प्रकाशित हुआ, विज्ञ व्यक्ति गण—उस शक्ति को नाद, वि दु एव वीज रूप मे जानते हैं । पथग भूत उस परम विन्दु से वण एव ध्वन्यात्मक शब्द प्रादुर्भूत हुआ था, उक्त उभयात्मक शब्द ही श्रवणेन्द्रिय गोचर होते हैं, वही शब्द ब्रह्म रूप परम पदाथ है । यहाँ नाद शब्द से घोष को जानना होगा ।

श्रीमद् भागवत के एकादशस्कन्ध मे उक्त है—वह परमेश्वर नाद विशिष्ट घोष के द्वारा गुहा अर्थात् आधार चक्र मे प्रविष्ट होते हैं।

विन्दु शब्द से यहा प्रणव को जानना होगा । वह वीज है अर्थात् समस्त वर्णो का उद्भव कारण हैं ॥२–३॥

सकलात्—कला—अश—अवयव-उसके सहित मूत्त विग्रह से मूत्त सच्चिदानन्द विभव से—मूत्त सच्चिदानन्द स्वरूप से- अर्थात् श्रीपरमेश्वर से स्वरूप भूता चिच्छक्ति पथक हुई थी, अनन्तर चिच्छक्ति से परमेश्वर स्वरूप नाद पृथक आविर्भूत हुआ, नाद से परमेश्वर स्वरूपभूत वि दु भी पथक् आविर्भूत हुआ, वही विन्दु—वण समूह के प्राकट्य विषय मे वीज रूप होने के कारण— वीज रूप है । वह परमेश्वर ही है । परमेश्वर के स्वरूप से पथक होकर आविर्भूत नाद से वि दु, एव वि दु मे वण एव ध्वनि स्वरूप रव-शब्द उत्पन्न हुआ । वण एव ध्वनि स्वरूप रव ही सब की कर्णेन्द्रिय मे सम्पन्न होकर प्रत्यक्ष गोचर होता

है, कि तु नाद वि दु उस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं होता है।

परमेश्वर ही वि दु के द्वारा वर्णात्मक होता है, अत उभयात्मक शब्द ही पर ब्रह्म है। नाद शब्द का ईश्वर स्वरूपत्व एव घोष वाचित्व मे एकादश स्कन्धोक्त पद्य प्रमाण है—(भा० ११ १२ १७)

"स एष जीवा विवर प्रसूति प्राणेन घोषेण गुहा प्रविष्ट ।
मनोमय सूक्ष्ममुपेत्य रूप मात्रा स्वरो वण इति स्थविष्ठ ॥

अथ भाव । ईश्वर स्ताजत् स्वमायावशात् प्रपञ्चात्मना भाति, तत् प्रपञ्चाध्यासाच्च जीवानामनादया कर्त्तृत्वादि ततो विप्रतिषेधाधिक र तदानी सत्त्वशुद्धच्यथ कर्म्माणि बुविहयुक्तम् । सत्त्वे च शुद्धे पुन कर्म्म जाड्य परिहाराय भक्ति विक्षेप कर्म्मादर परित्यज्य दढ विश्वासेन भजेत्युक्तम्। जाताया तु विद्याया न किञ्चित् कत्तव्यमस्तीति। तत्र तावदीश्वराद् वागादोन्द्रिय द्वारा जीव ससृति कारण भूत प्रपञ्चोद्गममाह सार्द्ध श्चतुर्भि । स एषोऽपरोक्ष । जीवयतीति जीव परमेश्वर । अपरोक्षत्वे हेतु विवरेषु आधारादि चक्रेषु प्रसूति रभिव्यक्तियस्य स । तामेवाभिव्यक्तिमाह घोषेणेति। घोषेण पराख्येन नादवता प्राणेन सह गुहामाधार चक्र प्रविष्ट सन मनोमय सूक्ष्म रूप पश्यन्त्याख्य मध्यमाख्यञ्च मणि पूरचक्र विशुद्धि चक्रे चापेत्य प्राप्य वक्त्रे मात्रा ह्रस्वादि स्वर उदात्तादि वण ककारादि रित्येव वखर्य्यरिय स्थविष्ठ ऽतिस्थविष्ठोऽतिस्थूलो नाना वेदशाखात्मको भवति। तथा च श्रुति । चत्वारि वाक परिमितानि पद नि तानि विदु र्ब्राह्मणा ये मनीषिण । गुहाया त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्यावद न्ति। अभियुक्त श्लोकश्च या सा मित्रावरुण सदनादुच्चर ती त्रिषष्टि वर्णानन्त प्रकट करण प्राण सङ्गात् प्रसूते तां पश्यन्ती प्रथममुदिता मध्यमा बु द्ध सस्था वाच वक्त्रे करण विशदा वखरीञ्च प्रपद्ये॥

श्रुतेरथ —वाक परिमितानि व च परिमितानि शास्त्र निर्णीतानि चत्वारि पदानि स्थानानि परा पश्यति मध्यमा वखरीति। तानि च ये ब्राह्मणा मनीषिणोऽध्यात्म कुशलास्ते विदु । तेषा मध्ये आदौ त्रीणि पदानि गुहाया शरीरे आधार नाभि हृदयेषु निहितानि नेङ्गयन्ति न जानन्ति। तुरीय वखर्य्याख्य मनुष्या वदन्ति। मनुष्याणा वदने वत्तमानोऽथ बोधक शब्दो भवतीत्यथ ।

श्लोकाथ —ता त्रिविधा भारती प्रपद्ये। या सा भारती मित्रावरुण सदनादग्नीषोम स्थानादुच्चर ती उद् भव ती । मित्रोऽग्निवरुण सोमस्तयो सदनमावासस्थान परमात्मा यत श्वासस्य शीतोष्णत्व तस्मादुच्चर ती त्रिषष्टि वर्णान् जनयन्ति अ इ उ वर्णा ह्रस्वदीर्घप्लुत भेदेन त्रिविधा नव। ऋ कार प्लुत हीनो द्विविध । ल कारोऽपि द्विविधो दीर्घहीन । सन्ध्यक्षराणि ह्रस्व हीना षट्। एव एकविंशति स्वरा, स्पर्शा पञ्च विंशति, कादयो मान्ता । यादयोऽ तस्था उष्माणश्च, अनुनासिका पञ्च। अनुस्वार विसर्गौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ चेति त्रिषष्टि । एतान् वर्णान् वायु सङ्गज न् प्रकट करणे बुद्धि गत । प्रत्यक्षरूपरिन्द्रियर त पश्यति नतूच्चारयति सा पश्यन्त्याख्या ता प्रथममुदितामुत्पन्नाम। बुद्धि सस्थामुच्चारयामीति विचारयुक्ता मध्यमाम्। मुखेऽवस्थिता करणविशदां—स्थान प्रयत्न निर्म्मला वखरीञ्च प्रपद्ये॥

जीवयतीति -सब को जो जीवित करते हैं, वह जीव है— अर्थात् परमेश्वर हैं। विवरो मे आधारादि चक्र मे प्रसूति के तुल्य- प्रसूति—अभिव्यक्ति है जिसका वह। उस अभिव्यक्ति को कहते हैं—घोषेणति। घोष—जो पराख्य नाद है, उस नादयुक्त प्राण के सहित गुहा आधार चक्रमे प्रविष्ट। इस प्रकार जानना होगा। वह प्रणव समस्त वर्णो का प्रादुर्भाव के प्रति प्रयोजक हेतु बीज है ॥२ ३॥

तथा च (भा० १२।६।३७)

"समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मण परमेष्ठिन । हृद्याकाशादभून्नादोवृत्तिरोधाद्विभाव्यते ।।"

(भा० १२।६।३९) "ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्त प्रभव स्वराट "इत्यारभ्य (भा० १२।६।४३) ततोऽक्षर समाम्नायमसृजद् भगवानज" इति भागवते। तेन नादस्य नित्यत्वात् तदात्मकस्योङ्कारस्य च नित्यत्वम्, स्वराडिति पूर्वोक्ते। तदात्मकस्य वर्ण समूहस्य च तथा। आकाशस्य नित्य द्रव्यत्वे तद् गुणस्यापि नित्यत्वम्, गुणाश्रयोहि द्रव्यमिति गुण गुणिनो समवाय सम्बन्धात्। तेन पवन-प्रेरणाप्रेरणवशादेवाभि-

---

प्रणव एव वर्णात्मक सन् प्रकटो भवतीत्यत्र प्रमाण द्वादशस्कन्धस्य पद्य द्वयमाह—तथा चेति। अस्यार्थो यथा—चतुर्मुख ब्रह्मणो हृदि य आकाश स्तस्मान्नादोऽभवत्, य कर्णपट पिधानेन श्रोत्रवृत्ति निरोधादस्मदादिभिरपि विभाव्यते—विभाव्यते। ततोऽभूदिति—त्रिवृत् त्रिमात्र—अकारोकारमकारात्मक ओङ्कार। अव्यक्तात् परमेश्वरात् प्रभव प्राकट्य यस्य स, स्वराट् स्वतन्त्र एव हृदि प्रकाशमान। 'ततोऽक्षर समाम्नायमसृजद् भगवानज' इत्यस्यार्थो यथा—

ततस्त्रिवृदोङ्कारादक्षराणां समाम्नाय समाहार भगवानसृजत्।
तदात्मकस्य ओङ्कारात्मक वर्ण समूहस्य तथा नित्यत्वम् ।।

शब्दस्य नित्यत्वे प्रमाण मुक्त्वा युक्तिमाह—आकाशस्य नित्य द्रव्यत्व इति। तद् गुणस्य तन्मात्र वृत्तिगुणस्य, तथा च यो गुणो नित्यद्रव्य मात्र वर्त्तते, सतु नित्यो भवति। अतएव आकाशमात्र वृत्ति द्वित्व बहुत्वादि सङ्ख्याना तद्वृत्ति सयोगानाञ्चानित्यत्वेऽपि न क्षति—तेषामाकाशमात्र वृत्तित्वाभावात्। एतन्मते रागद्वेषेच्छा प्रयत्नादयो नात्मनोगुणा नित्यस्यात्मनो गुणाना नित्यत्व प्रसङ्गादपि त्वन्त करण गुणा एव। परमाणवोऽपि त्रसरेणो रकाना नातिरिक्ता। एव पञ्चम स्कन्धे परमाणूनामज्ञान कल्पितत्वेनानित्यत्वमुक्तम्। एव नित्य दिक् कालावपि न परमेश्वरातिरिक्ताविति बोध्यम्।

भा० १२।६।३७ मे उक्त है—हे ब्रह्मन्! समाहितात्मा भगवान् ब्रह्मा के हृदयवर्त्ति आकाश से नाद उद्भूत हुआ था। श्रवणेन्द्रिय की वृत्ति रोध करने से उस नाद का अनुभव होता है। उससे त्रिमात्र अर्थात् अकार, उकार, एव मकारात्मक अव्यक्त प्रभव एव स्वराट् अर्थात् जो स्वतन्त्र होकर ही हृदय मे प्रकाशित होता है, उस प्रकार ओँकार आविर्भूत हुआ था। इस प्रकार उपक्रम करके कहा गया है—अनन्तर भगवान् अक्षर समूह का सृजन किये।

इस रीति से नादका नित्यत्व हेतु तदात्मक प्रणव का भी नित्यत्व सिद्ध हो रहा है। उसका प्रमाण स्वरूप 'स्वराट' इत्यादि भागवतीय श्लोक उद्धृत हुआ। इससे प्रणवात्मक वर्ण समूह का नित्यत्व प्रमाणित हुआ। एव आकाश का नित्य द्रव्यत्व हेतु उसका एकमात्र गुण शब्द का भी नित्यत्व युक्तिसिद्ध है। कारण,—गुण, गुणी का समवाय सम्बन्ध हेतु द्रव्यमात्र ही गुण का आश्रय हैं। सुतरां नित्य द्रव्य मात्र वृत्ति गुण भी नित्य है वायु का प्रेरण अप्रेरण हेतु शब्दकी अभिव्यक्ति एव अनभिव्यक्ति होती रहती है। वस्तुत वह नित्य पदार्थ है। इस प्रकार अन्त करण मे उपलभ्यमान त्व हेतु उसका नाम आन्तर स्फोट है। भा० १२।६।४० में कथित है—'शृणोति य इम स्फोटम्" जो इस ओँकार को आन्तर स्फोट

व्यक्त्यनभिव्यक्ती। वस्तुनस्तु नित्यनव तेषामित्ययमान्तर स्फोट। उक्तञ्च,(भा० १२।६।४० "शृणोति च इम स्फोटम्" इति द्वादशस्कन्धे। अतएवके आचार्य्या शब्दार्थमान्तर स्फोट शब्द ब्रह्मेत्याहु। यथा (पुण्यराजकृत वाक्य पदीय प्रकाशे १।४८) "निरश एवाभिन्नो

गुणाश्रयो द्रव्यमिति द्रव्यसामान्य लक्षणम्, गुण गुणिनो शब्द काशयो समवाय सम्ब आश्रित्य गुणाश्रयो नित्यद्रव्यस्य लक्षणमिति बाध्यम्। तेन शब्दाना नित्यत्वेन हेतुना तेषामुत्पत्तिनाशौ पवन प्रेरणा प्रेरण वशादभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिरूपावेव। वस्तुतस्त्विति वस्तु तस्त तेषा वर्णाना नित्यता एवेति हेतोर तदुपलभ्यमानोऽय नित्यो वण आ तर स्फोट इति प्राचा प्रवादाऽपिसङ्गच्छत।

ननु स्फोट शब्दस्या दृष्टाश्रुतत्वेनाप्रामाण्य न शङ्कनीयम्। यतो द्वादशस्क धे स्फोट शब्दस्य श्रवणमस्त्येवेत्याह– उक्तञ्चेति। अस्यार्थो यथा– ननु कोऽसौ परमेश्वर ? य परमेश्वर, इममोङ्कारम, अन्त करण मात्र वेद्यतया आ तर स्फाट शृणोति, अतएवके आचार्य्या, शब्दश्चार्थश्च शब्दाथ तद तरे वोपलभ्यमान चेदान्तर स्फोटम्, तत्र शब्द स्फोट शब्द ब्रह्मेत्याहु। तत्र दृष्टान्त--यथेति। निरशो न कस्याप्यश, अतएवाभिन्न एक इत्यथ। नित्यो ज्ञानस्वरूपश्च, एवम्भूत ओङ्कार शब्दाथ वस्तु मात्राणा

रूप मे श्रवण करते रहते है।' इस रीति से उक्त स्फाट का विषय लिखित है। अतएव कतिपय पूर्वाचार्य्य कहते है—शब्दाथ ही आ तर स्फोट है, एव शब्द स्फोट ही शब्द ब्रह्म है। यह अ तर स्फोट शब्दाथमय है। वह किसी का अश नही है, किसी से भिन्न भी नही है, एव क्षयोदय रहित ज्ञान स्वरूप है ।।४।।

प्रणव ही वर्णात्मक होकर प्रकट होता है इस विषय मे प्रमाण रूपमे द्वादश स्क द के पद्य द्वय का उद्धृत करते हैं। तथाचेति -इस का अथ इस प्रकार है- चतुर्मुख ब्रह्माके हृदय मे जो आकाश विद्यमान है उस से नाद हुआ। जिस को हम सब भी कर्णद्वय को आच्छादित कर श्रोत्र वृत्ति निरोध करने से जान सकते हैं। उससे त्रिवृत् त्रिमात्र अकार, उकार, एव मकारात्मक ओङ्कार आविर्भूत हुआ। अव्यक्त परमेश्वर से प्रभव अर्थात् प्राकट्य हुआ जिस का, वह स्वराट स्वत व ही हृदय मे प्रकाशमान हैं। उससे अक्षर समाम्नाय का सजन भगवान् ने किया। इसका अथ यह है—अनन्तर त्रिवृत् ओङ्कार से अक्षर समूह का समाम्नाय समाहार का सृजन भगवान् ने किया। तदात्मक अर्थात ओङ्कारात्मक वण समूह का नित्यत्व है।

शब्द के नित्यत्व मे प्रमाण को कहकर युक्ति को कहते है– आकाश नित्य द्रव्य होने क कारण– उसका गुण अर्थात् उस मे ही जो गुण रहता है, वह नित्य है, अर्थात् जो गण नित्य द्रव्य मे रहता है,वह नित्य होता है। अतएव आकाश वृत्ति द्वित्व बहुत्वादि सख्या ओ कार एव उसमे जो सयोग विद्यमान है, उन सब का अनित्य होने पर भी क्षति नही है, अर्थात् उक्त नियम का व्यतिक्रम नही हुआ है। कारण उक्त द्वित्व प्रभृति केवल आकाश मे ही नही रहते हैं, अ यत्र भी रहते हैं। इस मत मे राग, द्वेष, इच्छा प्रयत्न प्रभृति आत्मा क गण नही है, आत्मा नित्य होने के कारण गुण समूह भी नित्य होगे, कि तु वे सब अ त करण के गुण है। परमाणु समूह भी त्रसरेणु से अतिरिक्त नही हैं अतएव पञ्चम स्कन्ध मे वर्णित हैं—अज्ञान कल्पित होने के कारण— परमाणु अनित्य है। एव नित्य दिक काल भी परमेश्वर से अतिरिक्त नही हैं।

नित्यो बोध स्वभाव शब्दार्थमयमान्तर स्फोट " इति ॥४॥

प्रयागश्च (योगवाशिष्ठ रामायणे, निर्वाण २ ४२)

"जानान्ध मूकबधिरस्यान्त स्वीय परामृश ।
स्व वाक शब्दार्थयो बोध आन्तर स्फोट एव स ॥"

प्रादुर्भावकत्वात् शब्दार्थमय । एतन्मते प्रणव वेद वे दीना -वेषा सृष्टिरिति बोध्यम्, अन्तरेण यत्नस्य मानत्वात् । स प्रणव आन्तर स्फोटोऽव्यक्त इत्यर्थ ॥४॥

पद्मास्य उदाहरण यथा—जन्मान्धमूकबधिरस्य पुरुषस्य चक्षु कर्ण वागिन्द्रियाणामभावात् स्वीयान्त करण एव स्वत एव शब्दार्थयो परामर्शे जात सति स्वीय वाक्यस्य शब्दार्थस्य चान्तरे ऽवबोधो भवतीत्यान्तर स्फोट । ... घटेन जलमानये त वाक्य श्रवण विना घटकरणक जलाहरणस्य बोधाभावात् शाब्द बोध करणात् प्रत्यक्ष वर्ण ज्ञान सहित चरमवर्ण ज्ञानत्वेन कारणता वक्तव्या । एव सति द्वितीयदर्श

गुणाश्रय द्रव्य है—यह द्रव्य सामान्य का लक्षण है । गुण गुणी का, एव शब्द आकाश का समवाय सम्बन्ध हेतु नित्य गुणाश्रय नित्य द्रव्य का लक्षण है । अतएव शब्द समूह नित्य होने पर भी उसका उत्पत्ति नाश पवन के प्रेरण अप्रेरण से अभिव्यक्ति अनभिव्यक्ति रूप ही हैं । वस्तुत वर्णो की नित्यता होने के कारण अन्त करण में उपलब्ध यह नित्य वर्ण आन्तर स्फोट है इस प्रकार प्राचीनों का कथन सत्य होता है ।

अदृष्ट एव अश्रुत होने के कारण स्फोट अप्रामाण्य है—इस प्रकार कहना समीचीन नहीं है । कारण,—श्रीमद् भागवत के द्वादश स्कन्ध मे स्फोट शब्द का उल्लेख है । कहते हैं— उक्तञ्चेति । इसका अर्थ—परमेश्वर कौन है ? उत्तर मे कहते हैं—जो परमेश्वर है, वह इस ओङ्कार को—अन्त करण से ही जाना जाता है, अत आन्तर स्फोट को सुनता है । अत कतिपय आचार्य्य शब्दार्थ,-अन्त करण मे यदि उपलब्ध होता है, तो उसको आन्तर स्फोट कहते है । शब्द स्फोट को शब्द ब्रह्म कहते है । उस मे दृष्टान्त यथेति । निरंश-किसी का अंश नहीं है, अतएव अभिन्न एक है । नित्य ज्ञान स्वरूप भी है, इस प्रकार ओङ्कार शब्दार्थ वस्तु मात्रों का प्रादुर्भावक होने के कारण शब्दार्थमय है । इस मत मे प्रणव से ही वेदादि सब की सृष्टि है—यह अन्तर मे उपलब्ध होता है । वह प्रणव आन्तर स्फोट अव्यक्त है ॥४॥

योगवाशिष्ठ रामायण मे लिखित है—जो जन्मान्ध मूक वा वधिर हैं, उन मे चक्षुरादि इन्द्रिय के अभाव हेतु अन्त करणमें स्वत शब्दार्थ का परामर्श होने पर वाक्य एव शब्दार्थ का बोध उनका होता है । वही आन्तर स्फोट है ।

वैयाकरणिक पण्डित गण शाब्द बोध के प्रति बहि स्फोट को ही कारण कहते हैं । उनके मत मे पूर्व पूर्व वर्णोच्चारण से जो संस्कार अभिव्यक्त होता है उस उस संस्कार के सहित जो चरम वर्ण संस्कार है, उस संस्कार निष्ठ पद जन्य एक पदार्थ बोध जनकता पद स्फोट है । इस प्रकार पूर्व पूर्व पदोच्चारण से जो संस्कार अभिव्यक्त होता है, उस उस संस्कार के सहित जो चरम पद का संस्कार —उस संस्कार निष्ठ वाक्य जन्य एक वाक्य बोधकता ही वाक्य स्फोट है । इस प्रकार पद स्फोट एव वाक्य स्फोट ही शब्द ब्रह्म का लक्षण है । चरम वर्ण ज्ञान निष्ठ व्यक्ति स्फोटत्व रूप धर्म एकमात्र, नित्य, पदाभिव्यङ्ग्य एव अखण्ड

वैयाकरणास्तु वहि स्फोट माहु । तत्र पूर्व पूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्त-तत्तत् सस्कार सह कृत चरमवर्ण सस्कार निष्ठ पद जन्यैक पदार्थता प्रत्यायकता पदस्फोट । एव पूव पूर्व पदोच्चारणाभिव्यक्त तत्तत् सस्कार सहकृत चरम पद सस्कार निष्ठ वाक्य जन्यक वाक्यार्थ प्रत्यायकता वाक्यस्फोट । एतदुभयलक्षण शब्द ब्रह्म।

तथा च (पुण्य राजकृत वाक्य पदीय प्रकाशे २।२६)"एकएव नित्य पदाभिव्यङ्गोऽखण्डो व्यक्ति स्फोटो जाति स्फोटो वही रूप" इत्याहु । व्यक्ति स्फाट पुरस्कारेण जाति स्फोट । अत आहु —(काव्य प्रकाशे १।४) 'बुधै व्यैयाकरणै । इति काव्य प्रकाशकृत ।

ज्ञा काले प्रथम वण ज्ञानस्य नाशादेव क्रमेण चरम वण ज्ञान काले पूव पूव वण ज्ञानाना नाशात् कथ शब्द बोध ? तथा विशखल तत्तद् वण ज्ञानात् तादश ज्ञान ज य सस्काराद्वा शाब्द बोधापत्ति श्चेत्यतोऽत्र वयाकरणाना समाधान यथा—घट करणक जलाहरणस्य शाब्द बोध प्रति स्फोट एव कारणम्, नत तत्तद् वण ज्ञानाना तादश ज्ञान जन्य सस्काराणा वा कारणत्वम् । स्फोटत्वन्तु यादृश यादशानु पूर्वी ज्ञान विशिष्ट चरमवण ज्ञानानन्तर घट करणक जलाहरण प्रतीति जायते, तादश चरम वण ज्ञान निष्ठोऽसाधारण जाति विशेष । सतु घट करणक जलाहरण विषयक शाब्द बुद्धित्वावच्छिन्न ज यता निरूपित जनकतावच्छेदकतया सिद्ध । नच न्यायमत सिद्ध तादृशानुपूर्व्यवच्छिन्न चरम वण ज्ञानस्यव कारणत्व कथ न स्वीक्रियते ? अल स्फोटत्व रूप स्वतन्त्र धम स्वीकारेणति वाच्यम्, आनुपूर्वी घटित धम्मस्य कारणतावच्छेदकत्वे महा गौरवात् । तथाहि—घोच्चारणाव्यवहितोत्तर टोच्चारण घटितानुपूर्वी शरीरेतदव्यवहितोत्तरत्व नाम तत् क्षण ध्वसाधिकरण क्षण ध्वसानधिकरत्वे सति तत्क्षण ध्वसाधिकरणत्व

है, तादृश अनेक पद घटित महावाक्य स्फ ट ही जाति स्फोट है ।

इस प्रकार व्यक्ति स्फोट के सहित जाति स्फोट ही महावाक्य ज य शाब्द बोध के प्रति कारण है, यही वहि स्फोट है । इस हेतु काव्य प्रकाशकार ने कहा है, "बुध वैयाकरण" बुध गण ने इस मत को अङ्गीकार किया है । बुध गण शब्द का अथ उन्होने 'वयाकरण गण' किया है ।

अपर पण्डित गण इस मतको नही मानते है, वे कहते है—पूव पूव वण का अनुभव कारी व्यक्ति को चरम वण स्मरण के समय सहकारिता की दढता हेतु पूव पूव वर्णानुभव जनित सस्कार के सहित चरम वण सम्बन्ध विशिष्ट अथच, पदव्युत्पादन कालीन ज्ञान के सहित जो श्रवणेन्द्रिय है, उस से एक समय मे ही पूव पूव प्रतीत एव वत्तमान बहु वण घटित पद की प्रतीति होती है ।

पूव परिचित पदाथ का अभिज्ञान के स्थल मे ही इस प्रकार होता है । 'यह वह देवदत्त है' इस प्रकार प्रत्यक्ष पदाथ ज्ञानके समय भी पूर्वानुभूत तत् काल एव तद्देश रूप अवस्था भी स्फुरित होती रहती है । अतएव स्फाट मानने की आवश्यकता नही है ।' यह कथन समीचीन नहीं है ।

कारण,—पदव्युत्पादन के समय स्फ ट के द्वारा ही शाब्द बोध होता है । इस विषय मे अनेक प्रमाण है । प्रत्यक्ष एव अर्थापत्ति-प्रमाण की सम्भावना भी है । जसे "गौ" कहने से औकार एव विसर्ग की प्रतीति नही होती है । गल कम्बलादि विशिष्ट पदाथ की ही प्रतीति होती है— यह प्रत्यक्ष है । एव

तन्मन्ये नसहन्ते। तथाहि पूर्वं पूर्वं वर्णानुभवतश्चरमवर्ण श्रवण काले पूर्व पूर्ववर्णानुभवजनित संस्कार सह कृत चरम वर्ण सम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमय ग्रहणानुगृहीतेन श्रोत्रेण युगपदेव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पद जन्य प्रतीति र्जायते, सहकारि दार्ढ्येन प्रत्यभिज्ञान वदेव। प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षेऽपि अतीतादि पूर्वावस्थास्फुरत्येव, तेन कृत स्फोटेनेति, तन्न।

तथाहि पदव्युत्पादन समयो हि स्फोट कृतएव। न च तत्र प्रमाणाभाव। प्रत्यक्षार्थापत्त्यो सम्भवात्। यथा 'अयं गौ' इत्युक्ते न हि गकारौकारविसर्गा एव प्रतीयन्ते, अपि तु सास्नादिमत् किमपीति प्रत्यक्षम्। अयं गौरित्यत्र किं गकारादयो वर्णा व्यस्ता एवार्थ प्रत्यायका, किं समस्ता? नाद्य, इतर वर्ण वयर्थ्यात् नापि द्वितीय, उत्पन्न प्रध्वस्ताना

रूपम्, एतादृश नन्ताव्यवहितोत्तरत्वघटित गुरुधर्मस्य कारणतावच्छेदकत्व प्रसङ्ग। एवं घटेन जलमाहरेति जल घटेनाहरेति द्विधानुपूर्व्यवच्छिन्नस्य कारणत्वे परस्पर व्यभिचार वारणाय कारण ज्ञान वशिष्टचमपि कार्यत वच्छेद के निवेशनीयमिति कार्यतावच्छेदकेऽपि महागौरव प्रसङ्ग। यन्मते साङ्कर्य न जाति बाधकम्, तन्मतमालम्ब्योक्तम्। अतएव वैयाकरण मतमेव साधीय। अतस्तन्मत मुपन्यस्यति वैयाकरणास्त्विति।

तत्र वैयाकरण मते पूर्व पूर्व वर्णोच्चारणाभिव्यक्तस्तत्तदुच्चारण संस्कार, तादृश संस्कारोऽन्य पूर्व पूर्व वर्णोच्चारणाव्यवहितोत्तर घटितानुपूर्वीत्यर्थ। तथा च तादृशानुपूर्वी विशिष्टस्य चरम वर्णस्य संस्कार स्चरमवर्ण ज्ञानम्, तन्निष्ठ पद जन्यक पदार्थ प्रत्यायकतेत्यस्य समुदायार्थो यथा तादृशानुपूर्वी विशिष्ट चरम वर्ण ज्ञान निष्ठ पद जन्य पदार्थ बोध जनकतावच्छेदक धर्म पदस्फोट, पदस्फोटत्व स्फोटत्व विशिष्ट पद ज्ञान मेव पद स्फोट, वाक्य स्फोट स्तु तत्तदवान्तर पद स्फोट सहित महास्फोट स्वरूप इत्याह एवमिति।

'यह गौ है' इस प्रकार वाक्य स्थल मे ग कारादि वर्ण समूह पृथक पृथक रूपसे अर्थ बोधक होते हैं, अथवा समूह रूपसे होते हैं? प्रथम पक्ष युक्ति युक्त नहीं हो सकता है, कारण एक वर्ण के द्वारा अर्थ की प्रतीति होने ने अपर वर्णोच्चारण की व्यर्थता होती है। द्वितीय पक्ष भी सङ्गत नही है। कारण, जो उत्पन्न होकर ही विनष्ट होता हैं, उस प्रकार वर्ण समूह का एक समय मे ज्ञान होना असम्भव हैं। समस्त एवं व्यस्त भाव भिन्न अपर प्रकार भी नही है। अतएव वर्णका वाचकत्व अनुपपन्न होने से जिस से अर्थ प्रतीति होती है, उस प्रकार वर्णातिरिक्त अथच वर्णाभिव्यङ्ग्य अर्थ प्रतीतिकर नित्य स्फोट ही स्वीकार्य्य है। इस रीति मे स्फोट अर्थापत्ति प्रमाण सिद्ध है।

स्फोट स्वीकार न करने से यावतीय संस्कार विशृङ्खल होकर पदजन्य पदार्थ बोध कराने मे असमर्थ होते हैं। प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा स्थल मे भी जो अतीत अवस्था की स्फूर्त्ति होती है, वह भी विचार सिद्ध नहीं है। एवं श्रवणेन्द्रिय के द्वारा जो पूर्व पूर्वानुभूत वर्ण संस्कार के सहित चरम वर्ण सम्बन्ध विषयिणी पद प्रतीति होती है वह भी प्रमाण सिद्ध नहीं है। कारण,— यही वही देवदत्त है' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप क्या है? वह पूर्वानुभूत देश कालादि का संस्कार जनित स्मृति विशेष ही है।

श्रोत्र के सहित सदसत् बहु वर्ण विषयकज्ञान होना भी सम्भव नहीं है। एवं प्रत्यभिज्ञा एक ही

सामस्त्याभावात् । (सर्वदर्शनसंग्रहे पाणिनिदर्शने २७ संख्यकानुच्छेदे) "न च व्यास समासाभ्यामन्य प्रकारोऽस्ति तस्माद्वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ यद् बलादर्थप्रतीति, स एव स्फोटो वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्याथ—प्रत्यायको नित्यएव" इत्यर्थापत्तिरपि । स्फोटानङ्गीकारे सव एव संस्कारा विशृङ्खला सन्त पदजन्यपदार्थप्रतीतौ न शक्नुवन्ति,

---

एतदुभयलक्षण पदस्फोट वाक्य स्फोट लक्षण शब्द ब्रह्म एव । तथा चेति—व्यक्ते स्फोटो भाव प्रधान निर्देशात् स्फोटत्वमित्यथ तथा च चरमवण ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ स्फोटत्व रूपो धर्मो नित्योऽखण्ड-पदाभिव्यङ्ग्यश्च । एव तादृशानेक पद घटित महावाक्य स्फोट एव जाति स्फोटपद वाच्य । तथा च व्यक्ति स्फोट सहित जाति स्फोट एव महावाक्य जन्य शाब्द बोधे कारणम् अतो वैयाकरणमतस्य सर्वोत्कर्षादेव काव्य प्रकाश कृतापि बुधशब्देन वैयाकरण एवोक्त इत्याह - अत आह ुरिति ।

ननु पूर्वोक्त दोष वारणाय चरमवर्णस्य श्रवणो द्भवज यज्ञान काले पूव पूव वर्णाना संस्कारवशात् पुनरपि तेषा ज्ञानादेव शाब्दबोध स्वीकरणीय, अतो न दोष इत्याह— तमिति । त स्फोटवादम्, अन्ये अज्ञा न सहन्ते-इति पूव पूव वणमनुभवत पुरुषस्य चरमवण सम्ब धेन श्रोत्रेण युगपदेव पूव पूर्वातीत वर्णावगाहिनी पद प्रतीति जायते, तदनन्तर वाक्याथ विषयक शाब्द बोधो जायते । श्रोत्रेण चोद्देशेन ?

ज्ञान नहीं है । उसका स्वरूपाश मे संस्कार ज यता हेतु, एव "यही वही देवदत्त है" वहा 'यही' अश की दशनेन्द्रिय जन्यता हेतु वह स्मरण ग्रहण रूप ज्ञान द्वयात्मक है । नयन, केवल सन्निहित वस्तु ग्राहक होने के कारण, उसका अभाव हेतु, प्रत्यभिज्ञा के प्रति पूर्वानुभूत 'वही' इस अश मे नयन को करण नही कहा जा सकता है । एव 'वही' इस अश मे जसे संस्कार हेतु स्मरण होता है, 'यही' इस अश मे उस प्रकार संस्कार की भी सम्भावना नही है । इदमश मे केवल चक्षु सन्निकष निबन्धन ज्ञान उत्पन्न होता है, चक्षु सन्निकष के अभाव से उस प्रकार ज्ञान नहीं होता है । इस रीति से चक्षु के सहित अन्वय व्यतिरेक भाव एव स्मरण जनक इद पदाथ अनुभव का अभाव है । अतएव स्फोट ही स्वीकार्य्य है । वैयाकरणिक-गण—इस प्रकार कहते है ।

तात्पय्य यह है कि—अ नुपूर्वीरहित संस्कार समूह का क्रमश परस्पर आनुपूर्वीरूप सम्बन्ध कारित्व ही स्फोटत्व है ।

इस प्रकार स्फोट को न मानकर तत्तद्वण ज्ञान ज य शाब्द बोध स्वीकार करने से "रस" स्थल में "सर" एव "दी" स्थल मे "दीन" इस प्रकार प्रतिलोम पाठ से भी रेफ सकारादि वर्ण जन्य संस्कार की विद्यमानता हेतु "सर" एव "नदी" पदाथ का शाब्द बोध हो सकता है । वस्तुत अनुलोम संस्कार से यादृशाथ विशिष्ट पद व्युत्पादित होगा, प्रति लोमोच्चारित उनसब वर्णो से तादृश अथ बोध नहीं होगा । ऐसा होने पर अनुलोम प्रतिलोम पद के मध्य मे भेद ही नहीं रहेगा ॥५॥

प्रयोग उदाहरण प्रस्तुत करते है—ज मान्ध मूक बधिर की चक्षु कर्ण वागिन्द्रिय के अभाव हेतु निजा त करण मे ही स्वत ही शब्दार्थ का परामश उत्पन्न होने पर स्वीय वाक्यस्थ शब्दार्थ का अवबोध अन्तर मे होता है, अत आ तर स्फोट होता है ।

'घटेन जलमाहर' इस प्रकार वाक्य श्रवण के विना घट करणक जलाहरण का बोध होना सम्भव

नापि प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षेऽप्यतीतापि पूर्वावस्था स्फुरति । न वा सदसदनेक वर्णावगाहिनी पद प्रतीति श्रोत्रेण जन्यते, 'सोऽयं देवदत्त' इति प्रत्यभिज्ञानस्य तत्त्वांशे संस्कार जनित स्मृति विशेष वात् श्रोत्रेण सदसदनेक वर्णावगाहाभावाच्च । नहि प्रत्यभिज्ञानमेक ज्ञानम्,

---

पदार्थानुपपत्ति जनको य समयस्तस्य ग्रहण ज्ञानम्, तदनगृहीतेन तत् सहकृतेनत्यर्थ । तथा च "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते । इति मीमांसक मतानुसारेण कालस्यापि विषयविधया करणत्वमुक्तम् ।

तत्र दृष्टान्त —सहकारीति । सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञा स्थले यथा चक्षु सन्निकर्ष जन्येद पदार्थ ज्ञान काले पूर्व प्रतीत तत् काल तद्वेषरूप तत्रापि तादश पत्यक्षे भासते, तथात्रापि चरमवर्णस्य श्रवणेन्द्रिय जन्य ज्ञान पूर्व पूर्वातीत वर्णस्यापि संस्कार वशाद् भान भविष्यतीति तेन कृत व्यर्थं स्फोटेनेति ।

तन्नेति—यत् समये ऽतीत सर्व वर्ण घटित पदानां युष्माक मत पुन प्रतीति भवति, तत्र समये स्फोट कृत शाब्द बोध एव भवति नत्वतीत वर्णानां पुन प्रतीति रित्यर्थ । अत्र प्रमाणाभावो न वक्तव्य, यत प्रत्यक्ष प्रमाणमर्थापत्ति प्रमाण च वर्तते । तत्र च प्रथमत प्रत्यक्षप्रमाणमाह—

नहीं है अत शाब्द बोध हेतु प्रत्येक वर्ण ज्ञान सहित चरम वर्ण ज्ञान को कारण कहना आवश्यक है। ऐसा होने पर द्वितीय वर्ण ज्ञान के समय प्रथम वर्ण ज्ञान का नाश हो जाने के कारण, क्रमश चरम वर्ण ज्ञान के समय पूर्व पूर्व वर्ण ज्ञान का नाश हेतु शाब्द बोध कैसे होगा ? तथा विशृङ्खल तत्तद् वर्ण ज्ञान से तादश ज्ञान जन्य संस्कार से वा शाब्द बोधापत्ति । यहाँ वैयाकरण गण इस प्रकार समाधान करते हैं- घट करण जलाहरण का शाब्द बोध के प्रति स्फोट ही कारण है किन्तु तत्तद् वर्ण ज्ञान का अथवा तादश ज्ञान जन्य संस्कार का कारणत्व नहीं है । स्फोट यह है— यादृश यादृश आनुपूर्वी ज्ञान विशिष्ट चरम वर्ण ज्ञान के अनन्तर घट करणक जल हरणक प्रतीति होती है, तादश चरम वर्ण ज्ञान निष्ठ असाधारण जाति विशेष । वह घट करणक जलाहरण विषयक शाब्द बुद्धित्वावच्छिन्न जन्यता निरूपित जनकता- वच्छेदक के द्वारा सिद्ध है । इस से न्यायमत सिद्ध तादश आनुपूर्वी अवच्छिन्न चरम वर्ण ज्ञान को कारण मानना ही समीचीन है स्फोट रूप स्वतन्त्र धर्म को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है । इस प्रकार कथन सङ्गत नहीं है, कारण, अनुपूर्वी घटित धर्म्म को कारणतावच्छेदक मानने से महागौरव होगा । जैसे 'घट' स्थल मे 'घ' कार उच्चारण के अव्यवहित उत्तर 'ट' कार उच्चारण घटित आनुपूर्वी शरीर मे जो अव्यवहितोत्तरत्व का निवेश हुआ है, उस का अर्थ है—तत् क्षण ध्वंसाधिकरण क्षण ध्वंसानधिकरण होकर तत् क्षण ध्वं साधिकरणत्वरूप । इस प्रकार अनन्त अव्यवहितोत्तरत्व घटित गुरुधर्म्म का कारणतावच्छेदकत्व होगा । एवं 'घटेन जलमाहर' स्थल मे 'जलं घटेन आहर' स्थल मे द्विधानुपूर्वी अवच्छिन्न को कारण मानने पर परस्पर व्यभिचार वारण हेतु कारण वैशिष्ट्य का निवेश करना कारणतावच्छेदक मे आवश्यक है इससे कार्य्यता अवच्छेदक मे भी महागौरव होगा । जिस मत मे साङ्कर्य्य, जाति बाधक नहीं है, उस मत को अवलम्बन करके ही उक्त लक्षण हुआ है । अतएव वैयाकरण मत ही उत्तम है । अत उस मतका उट्टङ्कन करते हैं । वैयाकरणास्त्विति । वैयाकरणिक के मत मे पूर्व पूर्व वर्णोच्चारण के द्वारा अभिव्यक्त तत्तदुच्चारण संस्कार स्फोट है, यहाँ तादृश संस्कार—पूर्व पूर्वोच्चारण के अव्यवहितोत्तर घटित आनुपूर्वी है । फलितार्थ यह है—तादशानुपूर्वी विशिष्ट चरम वर्ण का संस्कार- चरम वर्ण का ज्ञान है तन्निष्ठ पदजन्य एक पदार्थ प्रत्यायकता का समुदायार्थ इस प्रकार है-तादृशानुपूर्वी विशिष्ट चरमवर्ण ज्ञान निष्ठ

तदशे सस्कार जन्यतया, इदमशे चक्षु जन्यतया च स्मरण ग्रहणात्मकत्वात् । नच तदशेऽपि चक्षु करणम्, तस्य सन्निहितग्राहितया तदभावात् । नापीदशे सस्कार–चक्षुरन्वय व्यतिरेकानुविधानात्, स्मरण हेतु व्यवसायाभावाच्च । तेन स्फोट एव अङ्गीकार्य्य इति

गौरित्युक्ते नातीत ग कारादं प– प्रतीति, कि तु स.स्नाद्यवयव विशिष्ट गोपदार्थस्य प्रतीतिरित्यत्र सर्वेषामनुभव एव प्रमाणम् ।

अर्थापत्ति प्रमाणमाह—गौरित्यत्र केवल ग कारस्य कारणत्वेऽन्य वर्णोच्चारणस्य वयर्थ्यापत्ति, केवल ग काराच्चारणात् शाब्दबोधापत्तिश्च । नादि द्वितीय इति वण समूह ज्ञानानामेकदाऽसत्त्वेन द्वितीय पक्षोऽपि निरस्त । तस्मात् पद ज य शाब्द बोधा यथानुपपत्त्या स्फोट सिद्ध । इत्य यथानुपपत्ति-रेवात्र प्रम णम् । यथा स्थूलो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्रापी त्वा यथानुपपत्ति प्रमाणेन रात्रि भोजित्व सिद्ध ।

नापि वण समुदय ज्ञानाना तादशज्ञान जन्य सस्काराणा वा कारणत्व वक्तु शक्यम्, यतो विशङ्खलाद् वर्णाना ज्ञानात् सस्काराद्वा शाब्द बोधाशक्तिरित्याह—स्फोटानङ्गीकारेति । यच्च सोऽय दे– त्त इति

पद जन्य पदार्थ बोध जनकता वच्छेदक धम पद स्फाट है पद स्फोटत्व– फोटत्व विशिष्ट पद ज्ञान ही पद स्फोट है । वाक्य स्फोट—तत्तदवान्तर पद स्फोट के सहित महा स्फोट स्वरूप है । इस को कहते हैं– एवमिति ।

एतदुभय लक्षण—पद स्फोट वाक्य स्फोट लक्षण शब्द ब्रह्म ही है । भाव प्रधान निर्देश होने के कारण स्फोट शब्द से स्फोटत्व को जानना होगा । तथा च –चरमवण ज्ञान व्यक्ति निष्ठ स्फोटत्व रूप धम नित्य अखण्ड एव पद के द्वारा अभिव्यङ्ग्य है । एव तादृश अनेक पद घटित महावाक्य स्फोट ही जाति स्फोट है । तथाच - व्यक्ति स्फोट के सहित जाति स्फाट ही महा वाक्य ज य शाब्द बोध मे कारण है, अत वयाकरण मत का सर्वोत्कर्षत्व होने के कारण– काव्य प्रकाश ग्रन्थ कार ने भी बुध शब्द का अथ वयाकरण किया है । इस को 'अत आहु' शब्द से कहा है ।

पूर्वोक्त दोष निवारण हेतु चरम वण का श्रवणेन्द्रिय ज्ञान के समय पूव पूर्व वर्णों का सस्क र विद्यमान होने के कारण पुनर्वार उन सब का ज्ञान से शाब्द बोध स्वीकार करना कत्तव्य है । इस से दोष की सम्भावना नहीं है इस को कहते है- अपर अज्ञ व्यक्ति गण स्फोट वाद को स्वीकार नहीं करते है ।

पूव पूव वर्णो का अनुभव कारी पुरुष की चरम वण के सम्बन्ध से कर्णेन्द्रिय मे युगपद ही पूव पूव अतीत वर्णाभिगाहिनी पद प्रतीति होती है । किस प्रकार कर्णेन्द्रिय से ? पदव्युत्पत्ति जनक जो समय है उसका ग्रहण ज्ञान है, उसके अनुग्रह से– अर्थात् उस ज्ञान के सहित । मीमासकने कहा है -'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते' ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जहाँ काल की प्रतीति नहीं होती है इस नियम से काल का भी विषय के द्वारा करणत्व होता है । उस मे दृष्टा त उद्धृत करते हैं "सह कारीति" 'सोऽय देवदत्त ' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञास्थल मे जिस प्रकार चक्षु सन्निकर्ष जन्य इद पदाथ ज्ञान के समय पूव पतीत तत् काल तद् देशरूप उस प्रकार प्रत्यक्ष मे प्रतिभासित होता है, उस प्रकार यहाँ भी चरम वण का श्रवणेन्द्रिय ज्ञान मे पूव पूव अतीत वण का भी सस्कार के कारण भान होता है, अत स्फोट

वैयाकरणा तेन पृथक् सम्बन्धाना संस्कारणा क्रमेण परस्पर सम्ब ध कारित्व स्फोटत्वम् । अ यथा रस सर नदी दीन इत्येतेषा प्रतिलोम पाठेऽपि रेफ–सकारादीना संस्कारोऽस्ति,

---

प्रत्यभिज्ञानात्मक चाक्षुष प्रत्यक्ष दृष्टा ती कृत्य श्रवणेन्द्रिय जन्य चरमवण ज्ञानेऽप्यतीत वणस्य संस्क र वशाद् भानमुक्तम्, तदपि दुष्टमित्याह—नापि प्रत्यभिज्ञान इति । अत्र प्रथमतो दृष्टा तमेवासिद्धमित्याह प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञाने तद्देश तत् काल रूपातीता पूर्वावस्था न स्फुरति । न वा दार्ष्टान्तिके श्रोत्रेणातीत वर्णावगाहिनी चरमवण विषयक प्रतीति ज यते तत्र हेतु — सोऽयमिति । अत्रातीत देश कालरूपतत्ताया स्मरणम्, चक्षु सन्निकृष्टेद पदार्थस्य प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न तु तत्ताविशिष्टेय पदार्थस्यैक ज्ञानम्, यतस्तत्तांशे चक्षु सन्निकर्षाभावेन चाक्षुष प्रत्यक्षे तस्य भानासम्भवात् ।

एत मत अलौकिक सन्निकष रूप ज्ञान लक्षणाया प्रत्यासत्तित्वेनङ्गीकारादिति । नापीदमश इति ।

मानना असमीचीन है । 'तन्नेति' के द्वारा समाधान करते हैं । जिस समय मे अतीत समस्त वण घटित पदो की आप के मत मे पुन प्रतीति होती है उस समय मे स्फोट कृत शाब्द बोध ही होता है । किन्तु अतीत वर्णो की पुन प्रतीति होती है । इस मे प्रमाण नहीं है इस प्रकार कहना भी समीचीन नहीं है । कारण- -प्रत्यक्ष प्रमाण एव अर्थापत्ति प्रमाण है । उस मे प्रथम त प्रत्यक्ष प्रमाण को कहते हैं गौ' कहन स--अतीत 'ग कारादि की पुन प्रतीति नहीं होती है । किन्तु सास्नादि अवयव विशिष्ट गो पदाथ की प्रतीति होती, यह सब का अनुभव ही प्रमाण है ।

अर्थापत्ति प्रमाण को कहते हैं— गौ' केवल ग' कार कारण होने से अन्योच्चारण की वयर्थ्यापत्ति, कवल 'ग' कारोच्चारण से ही शाब्द बोधापत्ति द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, समूह का ज्ञान एक समय मे न होने के कारण–द्वितीय पक्ष भी निरस्त हुआ। अतएव पद जन्द शाब्द बोध अ यथा न हो एतज्जन्य स्फोट सिद्ध हुआ । यहा अन्यथा अनुपप त्त ही प्रमाण है । जिस प्रकार 'स्थूल देवदत्त दिवस मे भोजन नहीं करता है, यहा भ जन के विना स्थूल रहना असम्भव है अतएव रात्रि भोजन सिद्ध होता है । वण समुदाय का ज्ञान एव तादृश ज्ञान जन्य संस्कार को कारण मानना आप के पक्ष मे असम्भव है । कारण विगड खल वर्णो का ज्ञान से अथवा संस्कार से शाब्द बोध होगा । इस विवरण को कहते हैं–'स्फोटानङ्गी कारेति' वाक्य के द्वारा । एव सोऽय देवदत्त " स्थल मे प्रत्यभिज्ञानात्मक चाक्षुष प्रत्यक्ष को दृष्टा त कर श्रवणेन्द्रिय ज य चरम वण ज्ञान मे अतीत वर्ण का संस्कार हेतु भान होता है, यह जो कहा है, वह भी ठीक नहीं है । "नापि प्रत्यभिज्ञान" । इस के द्वारा कहा है । यहा प्रथमत दृष्टान्त ही असिद्ध है । प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञान में तद्देश—तत् काल रूपातीतापूर्वावस्था का स्फुरण नहीं होता है । एव दार्ष्टान्तिक मे श्रवणेन्द्रिय से अतीत वर्णावगाहिनी चरम वण विषयक प्रतीति भी नहीं होती है । इस मे हेतु- है— सोऽयमिति' यहा अतीत देशकाल रूप का स्मरण–चक्षु सन्निकृष्ट इद पदार्थ का प्रत्यक्ष--इस प्रकार ज्ञान द्वय ही हैं, किन्तु विशिष्ट रूप मे इद पदाथ का एक ज्ञान नहीं है । कारण- पूर्वा श मे चक्षु सन्निकष न होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष का भान नहीं होगा । इस मत मे अलौकिक रूप ज्ञान लक्षणा प्रत्यासत्ति स्वीकृत नहीं है । 'नापीदम' जिस प्रकार संस्कार हेतु देवदत्तका स्मरण होता है, उस प्रकार इद अश मे भी स्मरण कहना आवश्यक है । इस प्रकार भी कहना ठीक नहीं है । इद अश मे चक्षु सन्निकष होने से ज्ञान होता है, चक्षु सन्निकष का अभाव से नहीं होता है । अ वय व्यतिरेक से उक्त ज्ञान हुआ । स्मृति जनक 'इद

नतु तेऽनुलोमसंस्कारत्वेन पदं व्युत्पादयन्ति, अन्यथा भेदो न स्यात् ॥५॥

साध्वसाधुतयाद्योऽपि,

आद्यो वर्णात्मकः शब्दोऽपि साधुतयाऽसाधुतया च द्वेधा भवति ।

किन्नाम साधुत्वम्, किं साधु जनोदितत्वम्, किमुतसूनृतत्वम्, उताहो वेदवाक्यस्थत्वम्,

---

यथा तत्त्वांश संस्कार वशात् स्मरणम्, तथेदमंशेऽपि स्मरण वाच्यमित्यपि न सम्भवति, इदमंशे चक्षु सन्निकर्षे सति ज्ञान तदभावे च न, इत्यन्वयव्यतिरेकात्, स्मृति जनकस्येद पदार्थस्यानुभवाभावाच्च। तेनेति ॥५॥

सुनतत्व स्निग्धत्वादि गुण विशिष्टत्वम् । आद्येति असाधु चाण्डालादि प्रयुक्तेत्यस्येत्यर्थ —परुष संस्कृतस्य कठोर संस्कृतस्य संज्ञा शब्दाना चत्र-डित्थादि शब्दाना प्रकृति-प्रत्ययाभ्यामन्वयव व्युत्पत्त्य सिद्धे । व्याकरण निष्पाद्यत्व साधुत्वमित्यर्थ । अतएव डित्थादि शब्दा । प्रकृति प्रत्ययाभ्यामन्वयव व्युत्

पदार्थ का अनुभव नही होता । स्फोट का साराथ को कहते हैं—पथक सम्बन्ध रहित एव आनपूर्वी रहित संस्कार समूह का प्रत्येक वर्णोच्चारण का क्रमश परस्पर आनुपूर्वी रूप सम्ब ध विशिष्ट चरम पद ज्ञान मे शाब्द बोधत्व-कारणतावच्छेदक स्फ टत्व है। अत यादृश यादृश आनुपूर्वी विशिष्ट चरम वण ज्ञ न होने से तत्तदर्थ शाब्द बोध होता है, तादृश ज्ञान विशिष्ट जाति विशेष ही स्फोट हे । वह जाति तत्तदर्थ विषयक शाब्द बोध जनकतावच्छेदक सिद्धा है । जिस प्रकार तृणारणिमण्यादि जन्यता वच्छेदक द्वारा व ह्नि निष्ठ जाति विशेष की सिद्धि होती है, उस प्रकार तत्तत् शाब्द बोध जनकता अवच्छेदक द्वारा चरम वण ज्ञान निष्ठ जाति विशेष की स्फोटत्व सिद्धि है। स्फोट न मानने पर एव तत्तद् वण ज्ञान ज य शाब्द बोध स्वीकार करने से सरोवर वाचक सर शब्द का प्रतिलोम से रस पाठसे भी सरोवर बोध होगा। नदी शब्द का भी प्रतिलोम से दीन पाठ से भी नदी का भी ब ध होगा। संस्कार अर्थात् प्रत्येक वण ज्ञान ज य संस्कार है। कि नु प्रति लोम से उच्चारित वण समूह अनुलोम से उच्चारित वण समूह का संस्कार युक्त नहीं होते हैं, अत अनुलोम प्रति लोम द्वारा उच्चारित वण समूह से एक प्रकार शाब्द बोध नही होता है। उभय को एक मानने पर नदी-दीन -रस -सर शब्द का पृथक शाब्द बोध नही होगा ॥५॥

आद्य—अर्थात् वर्णात्मक शब्द भी साधुता एव असाधुता भेद से द्विविध है। यहा साधुत्व किस प्रकार है ? यह प्रश्न होता है। साधुजन प्रयुक्त होने से साधु । स्निग्धत्वादि गुण विशिष्ट होने से, साधु, किंवा वेद वाक्य के अन्तगत होने से ही साधु, अथवा, प्रकृति प्रत्यय व्युत्पादित होने से साधु हो सकता है।

प्रथम कल्प को स्वीकार करने से चण्डालादि प्रयुक्त संस्कृत का असाधुत्व होगा, द्वितीय कल्प मे कर्कश शब्द की असाधुता होगी। तृतीय मे अस्मदादि कृत शब्द का एव चतुथ मे—चत्र डित्थादि संज्ञा शब्द का असाधुत्व उपस्थित हो सकता है।

अतएव व्याकरण निष्पादित शब्द ही साधु शब्द है। ऐसा होने पर डित्थादि संज्ञा शब्द का भी यह 'डित्थ' यह 'डवित्थ' इत्यादि स्थल मे विभक्ति उत्पत्ति हेतु साधुत्व सिद्ध हुआ। एव भ्रान्त पुरुष उच्चारित 'गावी' प्रभृति शब्द का भी साधुत्व प्रतिषिद्ध हुआ। तथापि भ्रान्त पुरुष प्रयुक्त 'गावी' प्रभृति

प्रकृति प्रत्यय व्युत्पादितत्व वा ? आद्ये चण्डालादि प्रयुक्तस्य संस्कृतस्याप्य साधुत्वापत्ते, द्वितीये परुषसंस्कृतस्य, तृतीय ऽस्मदादिकृतसंस्कृतशब्द न मध्यस धुत्वापातात्, एतेन संज्ञाशब्दानामपि, तेन व्याकरणप्रणीतत्व साधुत्वमिति । तथासति डित्थादीना संज्ञा शब्दानामपि डित्थोऽयं इति थ.ऽयमिति विभक्तयु तुपत्त साधुत्वम्, नतु गावी प्रभृतीना भ्रान्त प्रणीत वात् । तथापि त यत् व्यवहारनिष्पत्ति स्तद्विज्ञाना तत् स्मारित गो शब्दादि द्वारा, अज्ञाना त-ज्ञ परम्परा प्राप्त संस्कार द्वारेव । प्राकृतस्य तु साधु समत्वात् साधुदभवेन तत्तद् व्याकरणप्रणीतत्वाच्च साधुत्व ॥६॥

प्रत्ययमावेऽपि डित्थोऽयं मत्यादौ सुविभक्ति साहित्येन व्याकरण निष्पन्नत्वमस्त्येव । नत्विति—यथा वच धातो बहु वचन देवदत्ता वचन्तीति प्रयोगोऽसाधु ना त्यन्त्वोवचे प्रयोग' इति सूत्रात्, तथैवात्र केवल—गो शब्दात्तरापत्यार्थक प्रत्ययेन गावीति प्रयोगोऽप्यसाधु । अतोगावीति प्रयोगो भ्रान्त प्रणीत एव ।

ननु कथं भ्रान्तोक्त गावीपद प्रयोगादपि विशेषदर्शिनामर्थ—प्रत्ययो जायते ? तत्राह—तथापीति । तरसाधु पद रसाधु शब्द स्मारित साधु शब्दाद् विज्ञाना शाब्दबोध ? अज्ञानामविशेषदर्शिनामज्ञ परम्परा प्राप्त-गावी शब्दादेव शाब्दबोध, नाटकादौ विशेष दर्शिना शौरसेनिकादि प्राकृत शब्द साधु शब्द साध समत्वात्, साधूद्भव व साधच्चरितत्वे तत्तत् प्राकृत लङ्केश्वर व्याकरण प्रणीतत्वाच्च प्राकृत शब्द स्यसाधुत्वम् ॥६।

शब्द के द्वारा जो व्यवहार निष्पत्ति होती है, उसका कारण—उस प्रकार शब्द के द्वारा विज्ञ व्यक्ति का 'गो' शब्द स्मरण होता है, एव अज्ञ व्यक्ति गण- अज्ञ परम्परा प्राप्त उस प्रकार असाधु शब्द संस्कार द्वारा ही अर्थ बोध करते हैं। प्राकृत भी साधु शब्द तुल्यता हेतु एव साधु शब्द से उद्‌भावनार्थ नाना व्याकरण प्रणीतत्व हेतु साधुत्व सिद्ध होता है।

सुनत्व—स्निग्धत्वादि गुण विशिष्ट आद्य-असाधु चाण्डालादि प्रयुक्त शब्द का। परुष संस्कृत-कठोर संस्कृत का संज्ञा शब्द चत्र- डित्थादि शब्दो का प्रकृति प्रत्यय के द्वारा अवयव का अर्थ बोध नहीं होगा। व्याकरण निष्पाद्य का ही साधुत्व है। अतएव डित्थादि शब्दों का प्रकृति प्रत्यय के द्वारा अवयव व्युत्पत्ति न होने पर भी डित्थोऽयं इस प्रकार सुविभक्ति साहित्य से व्याकरण निष्पन्नत्व है ही' नत्विति जिस प्रकार वचधातु के बहु वचन मे' देवदत्ता वचन्तीति" प्रयोग असाधु है, नहि वचिरन्ति पर प्रयुज्यन्ते" "नात्य त्वोवचेप्रयोग" इस प्रकार निषेधसूत्र है। उसी प्रकार केवल गो शब्द के उत्तर अपत्यार्थक प्रत्यय के द्वारा गावी' प्रयोग भी असाध है। अतएव "गावी' प्रयोग भ्रान्त प्रणीत है।

भ्रान्तोक्त गावीपद प्रयोग से भी विशेषदर्शी का अर्थ बोध जो होता है—उस मे असाधु पदक द्वारा साधु शब्द स्मारित साधु शब्द से विज्ञ व्यक्तियो का शब्द बोध होता है। नाटकादि मे विशेषदर्शी व्यक्ति के पक्ष मे शौरसेनी प्रभृति प्राकृत शब्द साधशब्द हैं, कारण वह साधु शब्दसम है। साधूद्भवत्व से - अर्थात् साधूच्चरितत्व होने के कारण-तत्तत् प्राकृत लङ्केश्वर व्याकरण प्रणीत होने के कारण प्राकृत शब्द का साधुत्व है ॥६॥

साधवश्च चतुर्विधा । जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यैः । 'गौ पाचक शुक्लो डित्थ' इति क्रमाज्जात्यादिभिश्चातुर्विध्यम् । चकाराज्जातिरेव पदार्थ इति च मतम् । तथाहि गुड तण्डुलादि-पाक भेदेन पाचकोऽयं पाचकोऽयमिति पाचकत्वमस्ति। एव चन्द्र-चन्दन-

---

जातीति—जात्यादि वाचकत्वेन साधवश्चतुर्विधा भवन्ति । जात्यादिभिरिति- गौरिति साधु शब्द, गोत्वरूप जाति विशिष्ट यावद् गोरूप धर्म्मिवाचक इत्येको भेद । तथा पाचक इति साधु शब्द, पचन क्रियारूपो यो मनुष्यनिष्ठ धर्मस्तस्य वाचक इत्यपरो भेद । एव शुक्ल इति साधु शब्द, शवलरूपगुण विशेषो यो गवादि वृत्ति धर्म स्तस्य वाचक इत्यपरो भेद । तथा हि डित्थ इति साधु शब्द, डित्थ रूपक व्यक्ति मात्र वाचक । इत्येव क्रमेण साधु शब्द श्चतुर्विधा ज्ञेय ।

ननु य मते जात्यावेव शक्ति, न कदापि व्यक्तौ, त मते शाब्द बोधे व्यक्तिभान तु 'जात्या व्यक्ति राक्षिप्यते' इति न्याय सिद्धाक्षेप बलादेव, तन्मत साधु शब्दे जातिमात्र वाचकत्वेनकविध एवतदेवाह—चकारादिति । गुड तण्डुलादीना नानापाक भेदेन पाचकोऽयं पाचकोऽयमिति सवत्र पाचके पच धातो प्रयोगात् पाचकत्वमपि जाति विशेष ।

साधु शब्द भी जाति, क्रिया, गुण एव द्रव्य भेद से चतुर्विध होते है। जिस प्रकार 'गो' एक साधु शब्द है, वह गोस्वरूप जाति अर्थात् सामान्य धर्म्म विशिष्ट यावतीय गो रूप धर्मी का वाचक है, इस हेतु जाति भी एक भेद है। इस प्रकार 'पाचक' एक साधु शब्द है, वह पचन क्रियारूप मनुष्यनिष्ठ धर्म का वाचक है, अतएव क्रिया भी एक भेद है। शुक्ल एक साधु शब्द है, वह शुक्ल रूप गुण विशिष्ट यावतीय गवादिका वाचक है, एतज्जन्य गुण भी एक भेद है। एव डित्थ' एक साधु शब्द है, वह डित्थरूप एक व्यक्ति का वाचक है अतएव द्रव्य भी एक भेद है, इस प्रकार जात्यादि भेद से साधु शब्द चतुर्विध है, एव मूल श्लोक मे 'च' का उल्लेख हेतु जाति ही एक मात्र पदार्थ है। यह एक मत है। जिस प्रकार गुड तण्डुलादि विविध पाक भेद स्थल मे तत्तत् पाक कर्त्ता के प्रति यह 'इस प्रकार सवत्र 'पच' साधु का प्रयोग हेतु पाचकत्व को जाति मानना चाहिये। इस प्रकार चन्द्र, चन्दन, कुन्द पुष्पादि मे यह शुक्ल' है, इस प्रकार प्रयोग हेतु 'शुक्लत्व जाति है। बालक, वृद्ध, युवादि साधारण के द्वारा उच्चारित डित्थादि व्यक्ति मे 'यह डित्थ' है, इस प्रकार प्रयोग हेतु डित्थादि होते है ।।५।।

जातीति—जाति प्रभृति वाचक होने के कारण साधु शब्द भी चतुर्विध होते है। जात्यादि के द्वारा कथन का उदाहरण-यह है—'गौ' साधु शब्द है गोत्वरूप जाति विशिष्ट यावद् गो रूप धर्म्मिवाचक है, अत यह एक भेद है, 'पाचक' साधु शब्द है, पचन क्रिया रूप जो मनुष्य निष्ठ धर्म है, उसका वाचक होने के कारण यह एक भेद है। 'शुक्ल' साधु शब्द है, शवलरूप गुण विशेष जो गो प्रभृति मे अवस्थित धर्म है, उसका वाचक हेतु—यह एक भेद है। डित्थ' साधु शब्द है, एक व्यक्ति वाचक है। इस रीति से साधु शब्द चतुर्विध होते है।

जिस मत मे जाति मे ही शक्ति है, व्यक्ति मे कदापि नही उस मतमे शाब्द बोध मे व्यक्ति का भान जात्या व्यक्ति राक्षिप्यते' जाति के द्वारा व्यक्ति का अनुसंधान होता है, इस नियम से आक्षेप बल से होता है। उस मत मे साधु शब्द जाति मात्र वाचकत्व रूप मे एक विध ही है । गुड तण्डुलादि विविध पाक भेद से पाचक यह है पाचक यह है—इस प्रकार सवत्र पाचक मे पच धातु का प्रयोग होने के कारण पाचकत्व

कुन्दादिषु अय शुक्लोऽय शुक्ल इति शुक्लत्वम् । बालवृद्धयुवाद्युदीरितडित्थाद्यर्थेषु डित्थोऽय डित्थोऽयमिति डित्थादित्वमिति ।७॥

मुख्यो लाक्षणिकस्तथा । व्यञ्जकश्चेति ।

ते त्रेधा, ते शब्दा । मुख्यो वाचक, यस्तु सङ्केतमैश्वर धत्ते, स मुख्य । ऐश्वरमीश्वर

नन्वीश्वर कृतसङ्केत विशिष्टस्य शब्दस्य सवत्र ज तौ शक्तिरस्तु, आधुनिक पुरुषकृतस्य डित्थादौ सङ्केतेन विशिष्ट शब्दस्यक मात्र वृत्तित्वेन डित्थत्वस्य जातित्वाभावात् कुत्र शक्ति वक्तव्या ? इत्यत आह बाल वृद्धेति । यथा पुत्रे पितकृत सङ्केत विशिष्टस्य देवदत्त विष्णु दत्तादि शब्दस्य शक्ति बाल्य पौगण्डादि नाना शरीर वृत्ति—देवदत्तत्व विष्णु दत्तत्वादि जातौ वत्तते, तथव पुरुष कृत सङ्केताथ डित्थादावेकस्मिन्नेव वस्तुनि बाल वृद्धयुवादीना डित्थोऽय मित्यनुगत प्रतीति बलात् डित्थ वस्तु घटकीभूत—नानावयव वृत्ति डित्थत्वमपि जातिविशेष ।

यन्मते अवयवातिरिक्त--स्व त न्त्रावयविनोऽभावाद् घटत्वजाति र्नानावयववृत्तिरेव । तन्मतमालम्ब्य डित्थत्वमपि जातिरेवेति सव समञ्जसम् ॥७॥

न वीश्वर कृत सङ्केतविशिष्टशब्दस्यैव मुख्यत्वे उक्तेऽस्मदादि कृत सङ्केत विशिष्टस्य डित्थादि शब्दस्येश्वर कृत सङ्केताभावान्न मुख्यत्वम्, शक्तेरभावेन शक्यसम्बन्धरूप लाक्षणिकत्वमपि न सम्भवतीत्यत आह—अस्मदादीति । द्रव्यत्वे डित्थादि-तत्तद् द्रव्य मात्र वाचकत्वे स्व स्वार्थं प्रत्यौपचारिक

जाति विशेष है ।

ईश्वर कृत सङ्केत विशिष्ट शब्द की शक्ति सवत्र जाति मे हो ? कि तु आधुनिक पुरुष कृत डित्थादि सङ्केत होने क कारण विशिष्ट शब्द की एकमात्र वृत्ति होने के कारण, डित्थत्व का जातित्व नहीं हो सकता है, अतएव उक्त शब्द की शक्ति कहा माननी चाहिये ? उत्तर मे कहते हैं—बाल वृद्धेति । जिस प्रकार पितृ कृत सङ्केत विशिष्ट देवदत्त विष्णु दत्तादि शब्द की शक्ति--बाल्य-पौगण्डादि विविध शरीर वृत्ति देवदत्तत्व विष्णु दत्तत्वादि जाति मे है, उसी प्रकार पुरुष कृत सङ्केताथ डित्थादि एक वस्तु मे बालक वृद्ध युवक प्रभृति की डित्थ यह है, यह डित्थ है, इस प्रकार अनुगत प्रतीति के कारण डित्थ वस्तु घटकी भूत विविध अवयव वृत्ति डित्थत्व भी जाति विशेष है। जिस मत मे अवयव के अतिरिक्त स्वत त्र अवयवी नहीं है,—अत घटत्व जाति विविध अवयव वृत्ति ही है। उस मत को अवलम्बन करके डित्थत्व भी जाति है। इस से सामञ्जस्य पूण समाधान हुआ है ।।७।।

उक्त चतुर्विध शब्द भी मुख्य, लाक्षणिक एव व्यञ्जक भेद से त्रिविध होते हैं, यहा मुख्य शब्द से वाचक जो शब्द, ऐश्वरिक सङ्केत युक्त होता है, वही मुख्य है, ऐश्वरिक --अर्थात् ईश्वर कृत एव अस्मदादि कृत सङ्केत युक्त जो होता है, उसकी डित्थादि रूप किसी द्रव्य मात्र वाचकता होने पर भी स्वाथ के प्रति औपचारिक मुख्यता कही जाती है। घटादि स्थल मे ईश्वरेच्छा ही घटादित्व बोध कारक सङ्केत होता है। जिस प्रकार उत्तम वृद्ध का 'घट आनयन करो' इस प्रकार आदेश से मध्यम वृद्ध, कम्बुग्रीवादि व्यक्ति विशेष अर्थात् पदार्थ विशेष को एक स्थान से अ य स्थान मे ले जाने से समीपवर्त्ती बालक 'घट' शब्द के द्वारा ईदृशी व्यक्ति का कथन होता है, इस प्रकार सङ्केत बोध पूवक व्यक्ति मे ही घट शब्द की शक्ति

कृत सङ्केतम, अस्मदादि कृत सङ्केतमपि यो धत्ते, तस्य द्रव्यत्वे स्वार्थं प्रति मुख्यता।

सङ्केत ईशेच्छा तत्र तत्त्वकृत् "

तत्रघटादौ तत्त्वकृद् घटादित्व बोधकृत सङ्केत स्यात्। तथा हि कश्चिदगृहीत सङकेतो बाल कदाचिदुत्तमवृद्धेन घटमानयेत्युक्ते मध्यम वृद्धे कम्बु ग्रीवादिमन्त व्यक्ति विशेष स्थानात् स्थानान्तर नयति सति अहो घट शब्देनेदृशी व्यक्तिरिति प्रथम व्यक्तावेव घट शब्द शक्तिरिति प्रतिपद्यते। पुनस्तेनैव पटमानयेत्यप्युक्ते तद विजातीय व्यक्ति विशेष तथैव तस्मिन् नयति सति पुन सोऽपि घटाद्भिन्न पट, पटाद भिन्नोघट इति व्युत्पाद्यमान पुन रघटभिन्नो घट अपटभिन्न पट श्चेत्यपोह द्वारेण निश्चिन्वन पुनस्तेनैव घटान्तर पटान्तर ञ्चानयेत्युक्ते तस्मिन् घटपटयोराकारतो विसदृशौ घटपटावानयति सति पुनरय सशेते -

---

मुख्यता, यथार्थ मख्य व्यवहारस्तु ईश्वर कृत सङ्केत विशिष्ट शब्दस्येति बोध्यम्। तद्भिन्न भिन्नेति-घट भिन्न पटादि स्तद्भिन्नो घट एव, एतादृश रूपेण निवेशस्त अपोहद्वारा निर्द्धारणार्थमेव, नत्वासाधारण लक्षणे निवेशनाय तादृशरूपेण निवेशे प्रयोजनाभावाद् गौरवप्रसङ्गाच्च। तथाच तद वृत्तित्वे सति

है, प्रथमत वह यह समझ लेता है। पुनर्वार उक्त उत्तम वृद्ध पटानयन हेतु आदेश करने पर मध्यम वृद्ध घट से विजातीय व्यक्ति विशेष को स्थाना तरित करने से बालक पट घट से भिन्न है, एव घट, पट से भिन्न है, इस प्रकार ज्ञान लाभ करता है, एव घट से भिन्न जो पदार्थ, उससे घट भिन्न है, पट से भिन्न जो पदार्थ, उससे पट पदार्थ भिन्न है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के द्वारा निश्चय भी करता है। अन तर अपर एक घट एव पट आनयन की आज्ञा होने पर भी उस के अनुसार पूर्वानीत घट, पट से आकार गत किञ्चित् वैलक्षण्य विशिष्ट अपर एक घट एव पट आनीत होने से उक्त बालक इस प्रकार सशय करता है—अहा घट, पट, शब्द का सङ्केत विशेष,—विशेष व्यक्ति गत नहीं है, कारण, उक्त घट पट द्वय पूर्व घट एव पट से भिन्न है। अतएव घटादि पदार्थ मे इस प्रकार किसी असाधारण धर्म है, कि—जिस से "यह घट है, यह घट है" इस प्रकार अनुगताकारावगाही ज्ञानोत्पन्न होता है। इस प्रकार निश्चय करके उस जाति मे ही उसका सङ्केत अवधारण करता है।

यहा तदितर वस्तु से भिन्न जो वस्तु, उस वस्तु मात्र मे विद्यमानत्व ही तद्गत असाधारणत्व है। जिस प्रकार—गो का गलकम्बलादिमत्त्व है। अतएव गलकम्बलादि गो भिन्न पदार्थ मे अविद्यमान होकर गो मात्र मे अवस्थान करता है, अत वही गो का असाधारण धर्म्म है॥

ईश्वर कृत सङ्केत विशिष्ट शब्द का ही मुख्यत्व होने पर अस्मदादि कृत सङ्केत विशिष्ट डित्थादि शब्द का ईश्वर सङ्केत न होने से मुख्यत्व नही होगा। शक्ति का अभाव होने से शक्य सम्बन्ध रूप लाक्षणिकत्व भी होना सम्भव नही होगा। समाधानार्थ कहते है—अस्मदादीति। द्रव्यत्वे डित्थादि तत्तद् द्रव्य मात्र वाचकत्व होने पर निज निज अर्थ के प्रति औपचारिक मुख्यता है। यथार्थ मुख्य व्यवहार किन्तु, ईश्वर कृत सङ्केत विशिष्ट शब्द का ही है। यह जानना होगा। तद्भिन्न भि नेति-घट भि न—पटादि—तद्भि न घट ही है। इस प्रकार कथन—अपोह के द्वारा निर्धारण हेतु हुआ है, किन्तु असाधारण

'अहो घट पट शब्दौ न व्यक्ति विशेषविषयक सङ्केतौ, यत एतौ पूवघट पटतोभिन्नौ, तेन घटादिषु कश्चिदसाधारणो भविष्यति धम्म, यद् वशादय घटोऽयमपि घट इत्यनुगता-कारावगाहि ज्ञान जन्यते' इति निश्चित्य जातावेव सङकेतमवधारयति तद्भिन्न भिन्नाधिकरण मात्रवृत्तित्वमसाधारणत्वम्, यथा गो सास्नादि मत्वम् ।।८-६।।

योगरूढाश्च रूढाश्च यौगिकाश्चेति ते त्रिधा

ते शब्दा पुनस्त्रिविधा भवन्ति । योगरूढा पङ्कजादय । पङ्काज्जने 'ड' प्रत्ययेन पङ्कजनि कर्त्रभिधायकेन योगेनापि पद्मार्थ एव प्रतिपाद्यते, नतु कुमुदाद्यर्थ, इति योगार्थ पुरस्कारेणापि रूढ्यर्थ एवेति योगरूढ एव,- ईश्वर कृत सङ्केत महिम्ना झटिति पद्मस्यैव स्मृते । यदातु पङ्कज वर्त्म दौगत्यमित्यादि

तद्वितरावृत्तित्व तदसाधारणलक्षणमिति भाव । तत्र दृष्टान्त–यथेति । सास्नादि गलकम्बलादि गौर्भिन्ने न वर्त्तते, गवि वर्त्तत च । अतो गोरसाधारण धम सास्नादि ।।"८ ६।।

योगरूढ इति । ननु पद्मशब्दस्येव पङ्कज शब्दस्यापि पद्मत्व कथ शक्यतावच्छेदक नास्तम् ? तत एव कुमुद शवालादि वारण सम्भवेदित्यत आह—पङ्कजेति । पद्मपदेन केवल पद्मत्व रूपेण बाधो जायते, इति प्रामाणिकानामनुभववशात् पङ्कजनि कर्त्तृत्वेन यौगिक शक्ति पद्मत्वरूपेण रूढ शक्तिश्च स्वीकरणीयेति ज्ञेयम् । पद्मस्यवेति पङ्कजनि कर्त्तृ पद्मस्यव स्मृत । यदेति, वत्मदौगत्य पङ्कज पङ्काज्जातमित्यत्र पङ्कज शब्दस्य पङ्क कृतत्वेन लक्षणा पद्मे एव शक्ति । कस्यचिन्मते कम्मणि कुशल इत्यत्र कुश लातीत्यवयव व्युत्पत्ति विनव निपुणार्थे कुशल शब्दो लाक्षणिक स्तन्मत दूषयति—कम्मणीति । यथा तु आदित्य शब्दो ऽत्रापत्यार्थक ण्य प्रत्ययान्तस्तदा तु नादिते पुत्रसामा यस्य बोध, अपितु द्वादशादित्यरूप सूर्यस्य बोध,

---

लक्षण मे निवश करने के निमित्त नही हुआ है । उस प्रकार निवेश करने का प्रयोजन नहीं है, निवेश करने पर गौरव दोष होगा । असाधारण लक्षण यह है–'तद् वृत्तित्वे सति तदितरा वृत्तित्वम्' उस का दृष्टान्त,- सास्नादि गल कम्बलादि गो भिन्न मे नहीं रहते हैं गो मे ही रहते हैं, अत गो का असाधारण धम्म सास्नादि हैं ।।८–६।।

उक्त शब्द —योग रूढ़ रूढ एव यौगिक भेद से त्रिविध हैं। पङ्कजादि शब्द से—योगरूढ है। पङ्क शब्द पूर्व जन धातु के उत्तर 'ड' प्रत्यय के द्वारा पङ्क से जनन रूप क्रिया का कर्त्तृत्व बोध हेतु यौगिक शक्ति से पद्मार्थ प्रतिपादित होता है । अथच पङ्क जात कुमुद शवाल प्रभृति का ग्रहण निवारण हेतु योगार्थ पूर्वक होने से भी रूढयर्थ प्रतिभासित होता है, अत योग रूढार्थ मे ऐश्वरिक सङ्केत महिमा हेतु सत्वर पद्म की स्मृति होती है। पङ्कज वर्त्म दौगत्य' अर्थात् पथ की दुर्गति पङ्क से हुई है । इस प्रकार कहने से पङ्क जातत्व अर्थ में लक्षणा होगी। वस्तुत पङ्कज शब्द की शक्ति, पद्म में ही है। मण्डपादि शब्द रूढ हैं। जिस प्रकार पद्मार्थ वाचक पङ्कज शब्द मे पङ्कजनि कर्त्तृत्व विद्यमान है। उस प्रकार मण्डप अर्थात् गृह विशेष मे मण्ड पान कर्त्तृत्व नहीं है। अतएव योगार्थ व्यतीत केवल गृह विशेष का बोध हो रहा है, अत वह रूढ है। 'कम्मणि कुशल' कम्म मे कुशल है। यहाँ कुशल शब्द लाक्षणिक नहीं है। कारण, उक्त शब्द, नानार्थ बोधक है। कुशल शब्द से--क्षेम, पुण्य एव शिक्षित व्यक्ति का बोध होता है। किन्तु कोष

केनाप्युच्यते, तदा तत्र पङ्क कृतत्वेन लक्षणा, वस्तुतस्तु पद्मे शक्ति । रूढा मण्डपादय । यथा पद्मे पङकजनि कर्त्तृत्व वर्त्तते, तथा मण्डपे गृह विशेषे मण्डपानकर्त्तृत्व नास्ति, तेन केवल गृह विशेषो योगार्थं विनाऽपि गम्यत इति रूढ एव। कर्म्मणि कुशल इत्यत्र कुशलशब्दो न लाक्षणिक स्तस्य नानार्थत्वात्, 'कुशल क्षेमे पुण्ये च शिक्षिते' इति शिक्षितो निपुण, अतो मुख्य एव। एव मण्डप शब्दो रूढत्वेन गृह विशेषे मुख्य । यदा तु मण्डप भोजयेत्युक्ति स्तदा शब्दान्तर साहचर्य्यान्मण्डपानकर्त्तरि लाक्षणिक । आदितेयादि शब्दा यौगिका । अदितेरपत्यानीति ढक् प्रत्ययेन केवल योगार्थ एव । यदा तु अपत्यार्थ प्रत्ययान्तरेण 'ण्य' प्रत्ययेन निरुक्ति स्तदा नानार्थत्वेऽप्यादित्य इति देव पर्य्याये पठितोऽपि देव विशेषे शक्तिमत्त्वात् प्रत्ययमाहिम्ना योगरूढ एवार्थ ।

'आदित्या ऋभव' इति देव सामान्य पर्य्याये पठितोऽपि ।

ननु 'प्रकृत्यर्थान्वित स्वार्थ बोधकत्व प्रत्ययानाम्' इति न्यायात् प्रकृत्यर्थ सहितस्यैव प्रत्ययार्थस्य बोधो भवति, न तु स्वातन्त्र्येणत्याह– प्रकृतीति । मिलित्वा सम् –अभि वि आ इत्याद्युपसर्गा मिलित्वा समभिव्याहार रूपार्थ बोधका भवन्ति । पूर्ववदिति । कृत्तद्धितौ प्रकृत्यर्थ परौ सवत्रेति सर्वेष प्रत्ययेषु योगेन योग शक्त्या मुख्य एव र्थ । ननु तेषा मध्ये उणादि प्रत्ययो हि 'उणादयो बहुलम्'' इति सूत्रस्य बहून् अर्थान् लातीति व्युत्पत्त्या यस्मिन्नर्थे विहितस्तदतिरिक्तार्थमपि बोधयति ? तेनोणादि प्रत्ययो हि प्रायशो योगार्थं न प्रतिपादयति, अपि तु रूढार्थमपीत्याह – उणादय इति । कर्त्तृ बोधक डो प्रत्ययेन सिद्धस्य गो शब्दस्य प्रथमान्त पर घटितस्य 'गौ शेते' इति वाक्यस्य गमन कर्त्तु शयन रूपार्थे बोधिते सति लक्षणाया प्रसङ्गात् अत औणादिक प्रत्यय घटित गो शब्दस्य न प्रत्यय घटितावयवार्थो विवक्षणीय' अपि तु सास्नादि विशिष्ट एव रूढि । स च रूढचर्थश्च मुख्य एव, न लाक्षणिक ।

कार के मत मे शिक्षित अर्थात् निपुण अर्थ कुशल शब्द का मुख्य है। एव मण्डप शब्द, रूढत्व हेतु गृह विशेष मे मुख्य है। जहाँ 'मण्डप को भोजन प्रदान करो' कहा जाता है, वहाँ शब्दान्तर का साहचर्य्य हेतु मण्डपान कर्त्ता अर्थ मे मण्डप शब्द लाक्षणिक है। आदितेय प्रभृति शब्द—यौगिक हैं। कारण, अदिति अपत्य समूह इस अर्थ मे अदिति शब्द के उत्तर 'क' प्रत्यय के द्वारा वह केवल योगार्थ बोधक है। जहाँ ण्य प्रत्यय रूप अपत्यार्थ प्रत्ययान्तर के द्वारा उसका अर्थ होगा, वहा देव पर्य्याय में पठित होने के कारण, आदित्य शब्द, नानार्थ वाचक होने पर भी सूर्य्य रूप देव विशेष मे उसकी शक्तिमत्ता निबन्धन प्रत्यय महिमा से उसको योगरूढ कहना पडेगा।

स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग सख्या—कर्म्मादि स्वरूप प्रातिपदिकार्थ पञ्चविध हैं। प्रकृति शक्ति प्रकृत्यर्थ परा है। तिङ शक्ति, सख्या कर्त्त कर्म्म भावान्वित वर्त्तमानादि काल पर है। उपसर्ग समूह—का द्योतकत्व हेतु धात्वर्थ भेदक हैं। जिस प्रकार– सहार अभिहार, विहार, आहार है, एव स अभि–वि आ– उपसर्ग के एकत्र मिलन से समभिव्याहार होता है। उस प्रकार कृत्प्रत्यय एव तद्धित प्रत्यय भी प्रकृत्यर्थ पर है। प्रत्येक के सम्बन्ध मे पृथक पृथक सूत्र निर्म्मित हुये हैं। यावतीय यौगिक शक्ति से मुख्यार्थ प्रतीत

स्वार्थ—द्रव्य लिङ्ग-सख्या-कर्म्मात्मक पञ्चक प्रातिपदिकार्थ । प्रकृतिशक्ति प्रकृत्यर्थ परा। सुप् प्रत्ययशक्ति, सख्या कारकत्वोपरक्तप्रकृत्यथ परा। तिङ् शक्ति, सख्या कर्त्तृ कर्म्म भावोपरक्त वर्त्तमान काल परा। उपसर्गा—द्योतकाद्धात्वथ भेदका । यथा सहार, अभिहार, विहार, आहार, मिलित्वा समभिव्याहार । एव कृत्तद्धित प्रत्ययावपि पूर्ववत् । प्रत्येक सूत्रकरणात् सवत्र योगेन मुख्यएवार्थ ।

(पा० ३।३।१) 'उणादयो बहुलम्' इति बहुल ग्रहणात् प्रायशो न योगार्थ । तेन गच्छतीति (उणादि २२५) 'गमेर्डो' इति कृतेडो प्रत्यये 'गौ शेते'इत्यत्रापि मुख्याथ बाधे लक्षणा एव स्यात्, तेनोणादि प्रत्यये न योगाथ, अपि तु रूढ एवार्थ । स च मुख्य एव न लाक्षणक ।

मा अन्य पदार्थे शक्ति द्वेधा—तद् गुण सविज्ञान रूपाऽतद् गुण सविज्ञान रूपा च। कर्म्म धारयस्य शक्तिरुभयपदाथप्रधाना, तत् पुरुषस्य शक्तिरुत्तर पदाथप्रधाना, अव्ययीभावस्य शक्तिरव्ययाश प्रधाना, नञ तत् पुरुषस्य शक्ति नञथ प्रधाना, द्वन्द्व समासस्य शक्ति प्रत्येक पद प्रधाना। साहित्यस्य प्राधान्य यत्रवम्भूते समाहारे द्वन्द्वे एकत्व भवति, यथा धवश्चाश्वकर्णश्च धवाश्वकर्ण द्वौ वृक्ष विशेषौ। यदा तु साहित्याश्रयस्य तत्तद् वृक्षस्य प्राधान्यम्, तदतरेतर द्वन्द्व समासे द्वित्व बहुत्वे भवत, धव खदिरौवित्यत्र परस्पर साहित्यस्य द्वित्व सख्यया द्विवचनम्। धवखदिरपलाश इत्यत्र परस्पर सहितस्य बहुत्वाद् बहुवचनम्। द्वन्द्व समासस्य साहित्ये शक्तिरिति हेतो शाब्द बोधे साहित्यस्य भानम्। साहित्य मूलक इति—यत साहित्यस्यव द्वित्व प्रतीति नतु धव खदिरस्य वा। अत एकधवक खदिराभि प्रायेण धव खदिरौ पश्येत्यपि सङ्गच्छते।

होता है।

'उणादि प्रत्यय,—अनेकाथ का प्रक शक है। 'उणादयो बहुलम्' अर्थात् जिस अथ मे विहित होता है उस से अतिरिक्त अथ का बोध वह कराता है। इस हेतु—उणादि प्रत्यय प्रायश योगाथ प्रतिपादन न करके रूढाथ का ही प्रतिपादन करता है। जो गमन करता है—इस अथ मे 'गम' धातु के उत्तर 'ड' प्रत्यय होता है। गमधातु के उत्तर ड' प्रत्यय के द्वारा 'गो' पद निष्पन्न होने से 'गो शयन किया है' यहा मुख्याथ की बाधा होने से लक्षणा होती है। अतएव औणादिक प्रत्ययस्थल मे योगाथ प्रतीत न होकर रूढाथ प्रतीत ही होता है। वह रूढ्यर्थ ही मुख्य है लाक्षणिक नही है।

समास शक्ति विविध हैं। बहुव्रीहि की शक्ति—अन्य पदाथ मे है। वह शक्ति—द्विविध है, तद्गुण सविज्ञान एव अतद् गुण सविज्ञान। कर्म्म धारय की शक्ति उभय पद प्रधान है, तत् पुरुष की शक्ति—उत्तर पद प्रधान है अव्ययी भाव की शक्ति-अव्ययाश प्रधान है। नञ तत् पुरुष—न अथ प्रधान है, द्वन्द्व का प्रत्येक पद प्रधान है। उस के मध्य मे साहित्य प्राधान्य रूप समाहार द्वन्द्व मे एकत्व होता है। जिस प्रकार—धवाश्वकर्ण, जहा साहित्य का आश्रय स्वरूप तत्तद् वस्तु का प्राधान्य होता है,—उस प्रकार इतरेतर द्वन्द्व मे द्वित्व एव बहुत्व होता है, जिस प्रकार—धवखदिरौ। धव साहित्य विशिष्ट खदिर एव खदिर साहित्य विशिष्ट धव है, इस प्रकार परस्पर साहित्य स्थल मे भी उभय की प्राधान्य प्रतीति हेतु

समास शक्तिश्च विविधा। तथाहि बहुव्रीहेरन्य पदार्थे शक्ति, साच द्वेधा–तद् गुण सविज्ञान रूपा, तदितराच। उभयपदाथ प्रधाना कर्म्मधारयस्य, उत्तर पदार्थ प्रधाना तत्-पुरुषस्य। अव्ययाश प्रधानाऽव्ययीभावस्य, नञथ प्रधाना नञ् -तत् पुरुषस्य, प्रत्येक पद प्रधाना द्वन्द्वस्य। तत्र साहित्य प्राधान्ये समाहारे एकत्वम्, यथा- धवाश्वकर्णम्। साहित्याश्रय प्राधान्ये इतरेतर योगे द्वित्व बहुत्वे धव खदिरावित्यत्र धवसाहित्यवान् खदिर, खदिर साहित्यवान् धव इति साहित्येऽपि द्वयो प्राधान्याद द्विवचनमेव। एव धवखदिरपलाशा। इत्यत्र बहुवचनमेव। साहित्य मूलके द्वित्वादौ विभक्ति न प्रत्येक द्वित्वादिक बोधयति। धव खदिरौ पश्येति क्रिया तु प्रत्येक सम्बध्यते। एकशेषेतु लक्षणैव—पितराविस्येकस्य पितृ द्वयान्वयाभावात् पितृमातरावेव लक्ष्येते, पितृशब्दस्य जनकाथमात्रस्मृते। वाचकोऽपि शब्द समास सद्भावे सति लाक्षणिको भवति। धीवर इति कवत्तवाचक शब्द, धियावर इति

पित शब्दस्य जनके शक्ति। माता पितृभय बोधे लक्षणा।

तत्रोदाहरणमाह- एकशेष इति। माता च पिता चेत्येव शेषे कृते मात पितृभय बोधात् लक्षणात एवेति बाध्यम्। वाचकोऽपोति। धीवर शब्द कवर्त्ते रूढ, धियावर इति व्युत्पत्त्या सुबुद्धि जन बोधे लक्षणा। ननु मुख्याथस्य बाधाभावे कथ लक्षणा सम्भवतीति चेत् रूढि शब्दस्य मुख्यार्थो रूढ्यथ एव। अवयव व्युत्पत्त्या अर्थान्तरस्तु न मख्य, यथा, मण्डप शब्द। तथात्रापीति बोध्यम्।

सिद्धा कोषादौ प्रसिद्धा, अमरे यथा वासुदेव शब्द। पूर्व पद परिवृत्ति सहा इति वाक्य घटकी भूत पूर्वपद परिवृत्ति पूव पद समानाथक शब्दान्तर सह ते। वसुदेवेति,—वसुदेवमानन्दयतीत्यत्र वसुदेव शब्द एव परि वृत्तिसह, नतु न दन शब्द, यतो वसुदेव पुत्र इत्युक्ते वसुदेवस्यानन्दजनक प्रतीति न भवति। एव वसुदेवस्य जन्मकाले भ वि भगवदवतार सूचक दु दुभिवाद्य देवाश्चक्रु। अत स्तदथ बोधक आनक दुन्दुभि शब्दो न परि वृत्तिसह, किन्तु सुत शब्द एव परिवृत्ति सह। तथा च शूर सुतपुत्र शब्द परि वृत्ति

द्विवचन ही होता है। इस प्रकार 'धव खदिर पलाशा' स्थल मे बहु वचन है। साहित्य की प्रतीति हेतु विभक्ति साहित्य का अवयवीभूत प्रत्येक पदाथ का द्वित्वादि बोध नही होता है। कि तु 'धवखदिर दशन करो' यहा दशनादि क्रिया प्रत्येक के सहित अन्वित होती है। एकशेष स्थल मे लक्षणा ही स्वीकार करना पडेगा। 'पितरौ' यहा पितृ शब्द—जनक मात्र वाचक होने के कारण एक व्यक्ति का पित द्वय के सहित अन्वय न होने के कारण, पिता एव माता—उभय ही लक्ष्य है। वाचनिक शब्द भी समास होने पर लाक्षणिक होता है। धीवर' कवत्त वाचक है। किन्तु धी वर बुद्धि से श्रेष्ठ—इस प्रकार तृतीया तत् पुरुष समास के द्वारा जहा सुबुद्धि पुरुष प्रति पादित होता है, वहा लक्षणा होती है। कारण, रूढि शब्द रूढ्यथ ही मुख्याथ है अर्था तर समूह मुख्य नही हैं। इस प्रकार स्थलान्तर मे जानना आवश्यक है।

यौगिक शब्द—सिद्ध एव साध्य भेद से द्विविध है। वासुदेवादि शब्द सिद्ध है। वक्ता के इच्छानुसार रचित शब्द साध्य है। जिस प्रकार आनक दु दुभि प्रभृति। उक्त समूह के मध्य मे कतिपय शब्द—पूव पद परिवृत्ति सह है, परिवृत्ति- अर्थात् उक्त शब्द का समानाथक शब्द तर को जो सहन करता है, उसे

तृतीया तत् पुरुष समासेन सुबुद्धि प्रति पाद्यते । तत्र तु लक्षणैव । एवं सर्वत्र लक्षणा बोद्धव्या, दिङमात्रमुदाहृतम् ।

यौगिकास्तु शब्दा सिद्धा साध्याश्च । सिद्धास्तु वासुदेवादय । साध्या वक्तृस्वेच्छा क्लृप्ता आनकदुन्दुभि नन्दनादय । तेच पूर्वपदपरिवृत्ति सहा, उत्तर पद परिवृत्ति सहा, उभयपद परिवृत्ति सहाश्च । वसु देव नन्दन इति पूर्व पदस्य परिवृत्ति, आनकदुन्दुभिसुत इति पर पदस्य, शूर सुत पुत्र इत्युभयपदस्य । एवमुन्नेयम् । क्वाचिदुभय पदापरिवृत्ति, पत्ररथ गरुत्मान् गोसख्य इत्यादि ॥१०॥

मुख्यो लाक्षणिकोव्यञ्जक इति ये त्रिविधा पूर्वोक्तास्ते पुनरपि लक्ष्ययिष्यमाणाद् वृत्तित्रयाद्धेतोरिह प्रस्तूयन्ते,—

सह, पुत्र शब्दोऽपि परिवृत्ति सह । ननु कस्यचिच्छब्दस्य परि वृत्तिवर्त्तते, कस्यचिन्नेत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्तत्र शब्द शक्ति—स्वभावात् प्रामाणिकानामनुभव एव प्रमाणमिति बोध्यम् । पत्ररथ शब्द एव पक्षिवाची, नतु दलरथ, नापि पत्रस्य इन पक्षिवाची । गरुत्मान् शब्द एव गरुड वाची, नतु पक्षवान्, नापि अन्यार्थक लकारादि प्रत्ययान्तो गरुत्मादि शब्द । तथा गो सख्य शब्द एव गोपवाची, नतु धेनु सख्य, नापि गो सख्यान ॥१०॥

यद् वस्तु सहज प्रतीयते, तत्र तस्मिन् तस्य शब्दस्य या वृत्ति, सा अभिधा । व्यक्तौ चेदिति तत्तद् व्यक्ति मात्र एव स्वीकारे व्यक्ति भेदे ऽनन्तशक्ति-स्वीकारेण गौरवात् । सन्निकृष्ट तत्तद् गोव्यक्तौ शक्ति ज्ञानवत पुरुषस्य काश्या गौरस्तीति वाक्याद्सन्निकृष्ट काशीस्थ तत्तद् विषयक शाब्द बोधानुपपत्तेश्च,—

परिवृत्ति सह शब्द कहते हैं, जो वसुदेव को आनन्दित करते हैं, उनका नाम- वसुदेव नन्दन । यहाँ पूर्व पद परिवृत्ति सह है, कारण, वसुदेव पुत्रादि शब्द प्रयोग करने से उक्त अर्थ का बोध कभी भी नहीं होगा । एवं वसुदेव के जन्म काल मे देवगण -भगवान् के भावी अवतार सूचक आनक एवं दुन्दुभि वाद्य किये थे । आनक दुन्दुभि शब्द इस अर्थ मे व्युत्पन्न हुआ है । अतएव आनक दुन्दुभि शब्द पूर्व पद परिवर्त्तन के द्वारा उक्तार्थ का बोध कराने मे असमर्थ है । अथच सुत शब्द का परिवर्त्तन से उक्तार्थ की बाधा नहीं होता है । अत वह उत्तर पद परिवृत्ति सह है । 'शूरसुतपुत्र' यहाँ उभय पद -परिवृत्ति सह हैं । इस रीति से अन्यान्य पद को जानना होगा । कहीं पर उभय पद ही अपरि वृत्ति सह होते हैं । जिस प्रकार—पक्षि वाचक पत्र रथ शब्द है 'दल रथ वा पत्र स्यन्दन' इस रीति से उभय पद के किसी का परिवर्त्तन करने से उक्तार्थ बोध नहीं होगा । इस प्रकार गरुत्मान्, गो सख्य प्रभृति को जानना कर्त्तव्य है ॥१०॥

मुख्य, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक भेद से जो त्रिविध शब्द पूर्व मे वर्णित हुये है, उन सब की वृत्ति त्रय का लक्षण करना आवश्यक है अत पुनर्वार यहाँ उन सब का उल्लेख करते हैं ।

वृत्तित्रय हेतु उक्त शब्द समूह त्रिविध होते हैं । वृत्तित्रयका नाम—अभिधा, लक्षणा, एवं व्यञ्जना तन्मध्ये अभिधा ही शक्ति है ।

जिस शब्द का उच्चारण मात्र से सहज से जिसका बोध होता है, उस विषय मे उस शब्द को जो

वृत्तित्रयात् पुनस्त्रेधा,

ते शब्दा इति गम्यम् ।

वृत्तयस्त्वभिधादय ॥

वृत्तित्रयन्तु–अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनेति, अभिधव शक्ति ।

यस्योच्चारण मात्रेण सहज यत् प्रतीयते ।
तस्य तत्र तु या वृत्ति साभिधा ॥

यथा गो शब्दस्य सास्नादिमति प्राणिविशेषे वृत्ति । सा तु न व्यक्तौ' अपितु जातौ । व्यक्तौ चेत्तर्हि गो विशेष एव प्रतिपाद्यते, न तु गो मात्रम् । जातौ चेत्तर्हि व्यवहारानुपपत्ति, अतो ज्यात्याक्षिप्त-व्यक्तावेव, न तु तत्र तत्र लक्षणा,–आक्षेपलभ्यत्वात, अविनाभावो ह्याक्षेप ॥११-१२-१३॥

तत्र शक्ति ज्ञानाभावेन पद जन्य पदार्थोपस्थितेरभावात् । एष दोषस्तु सामान्य लक्षणाया प्रत्यासत्तित्वानङ्गीकार पक्षे एव बोध्य ।

ननु जातौ शक्ति स्वीकारे व्यक्तिज्ञानाभावेन कथ तत्तद् व्यक्ति विषयक व्यवहार सिध्यतीत्याह-तर्हीति । अतो जात्याक्षिप्तव्यक्तावेव व्यवहार इत्यथ । जातौ शक्ति वादिना मते व्यक्तिभानार्थं व्यक्तौ लक्षणा न स्वीकरणीया, व्यक्तिभानमाक्षेपादेव । अविनाभावो व्याप्ति । तथा च व्यक्ति भान विना जाति भानमनुपपन्नम्, अतो यत्र यत्र जातिभान तत्र तत्र व्यक्तिभानमावश्यकमेवेति व्याप्तिज्ञानादेव शाब्द बोधे व्यक्तिभानमिति ॥११-१२-१३॥

वृत्ति है, उस का अभिधा कहते है।

जिस प्रकार गो शब्द की वृत्ति,—गल कम्बल विशिष्ट प्राणि विशष मे है। उक्त वृत्ति,- व्यक्ति निष्ठ नहीं है, जाति निष्ठ है। व्यक्ति मे वृत्ति स्वीकार करने से गो विशष ही प्रतिपन्न होता है। गो साधारण प्रतिपन्न नहीं होता है। एव जाति मे शक्ति स्वीकार करने से भी व्यक्ति ज्ञान के अभाव से तत्तत् व्यक्ति विषयक व्यवहार भी नहीं होगा। अतएव जाति के द्वारा व्यक्ति आक्षिप्त होता है। एव उस से ही व्यवहार सिद्ध होता है। यहाँ व्यक्ति,—आक्षेप लभ्य होने के कारण लक्षणा करना नहीं पडेगा। कारण व्यक्ति के सहित जाति का जो अविनाभाव सम्बन्ध है—वही आक्षेप है। अर्थात् व्यक्तिभान व्यतीत जाति भान अनुपपन्न होने के कारण, जहाँ जहा जाति भान होगा। वहाँ वहाँ व्यक्ति भान होना आवश्यक है॥११ १२ १३॥

जिस वस्तु का बोध सहज से होता है, उस मे उस शब्दकी जो वृत्ति है, वह अभिधा है। तत्तद् व्यक्ति मात्र मे उक्त वृत्ति स्वीकार करने से व्यक्ति भेद से अनन्त शक्ति स्वीकार करनी पडेगी, इससे गौरव बोध होगा। सन्निकृष्ट तत्तद् गो व्यक्ति मे शक्ति ज्ञानवान् व्यक्ति को 'काशी मे गो है' इस वाक्य से असन्निकृष्ट क शीस्थ तत्तद् विषयक शाब्द बोध नहीं होगा। उसमे शक्ति ज्ञानाभाव हेतु पद जन्य पदार्थोपस्थिति नहीं

लक्षणा पुन ॥

मुख्यार्थ-बाधे शक्यस्य सम्बन्धे याऽन्यधीर्भवेत् ।

'गङ्गायां घोष' इत्याप्तोक्तौ कश्चित् परामृशति-गङ्गाया घोषान्वयाभाव द घोषशब्दोऽत्र धन्यर्थ नत्वाभीरपल्ल्यर्थ । तत प्र तवसतीति श्रुते गङ्गा शब्दो वा स्वसम्बन्धि-तीर मभिधत्ते, घोष शब्दो वा स्वसम्बन्धिन प्रतिबिम्बमभिधत्ते । उभयोरेव लाक्षणिकत्व सम्भाव्यते । तदत्र नेय रूढि लक्षणा, अपि तु प्रयोजनवती लक्षणैव । यदयमभ्रान्तो वक्ता, तत् प्रयोजनमेव विचार्यम् । यदि गङ्गा शब्दस्तट लक्षयति,तदा तस्य शैत्य पावनत्वादिकमेव

मुख्यार्थस्य बाधे जाते य शक्यस्य वाच्यस्य सम्बन्ध स्तस्मिन् सति शक्य सम्बन्ध ज्ञाने जाते सतीत्यर्थ । या अन्य पदार्थ विषयक धीर्भवेत् तादृशधी जनक शक्य सम्बन्धो लक्षणेति पर्यवसितार्थ , अधिकन्त्वेति । गङ्गापदस्य लक्षणापेक्षया घोषपदस्य लक्षणाया गङ्गाया स्वच्छत्व प्रतीतिरधिका, अतो ऽधिक प्रयोजनाभावात् घोषपदस्यैव लक्षणोचिता। एत मतमपि दूषयन्—पुनरिति । तमानय' इत्युक्त तत् पदेन घोष पदार्थस्य प्रति बिम्ब बोधस्वीकारे तस्यानयनमसम्भवम् । अतो गङ्गापदस्यैव तीरे लक्षणा वक्तव्या घोष पदस्याभीरपल्ल्या शक्तिरेव अतस्तदान्वय सङ्गच्छत इति निश्चिन्वन् गङ्गापदस्य समभिव्याहार विना केवल घोष प्रतिपन्ने सति, तमानयेत्युक्ते मुख्यार्थस्य बाधाभावे न लक्षणावकाश , किं तु गङ्गा पद प्रयोगादेव मुख्यार्थ बाध । अतो गङ्गापद एव लक्षणेति व्युत्पद्यते । इय लक्षणा जहत् स्वार्था, जहत् त्यजन् स्वार्थो यस्या तथा भूतापि गङ्गारूप स्वार्थस्य त्याग कुर्वत्यपीत्यर्थ । शक्य सम्बन्ध

है । यह दोष,—सामान्य लक्षणा को प्रत्यासत्ति न मानने से होगा । अत जाति मे शक्ति मानना आवश्यक है । किन्तु जाति मे शक्ति स्वीकार करने पर व्यक्तिज्ञान के अभाव हेतु कैसे तत्तद् विषयक व्यवहार होगा ? उत्तर मे कहते हैं—तर्हीति । जाति के द्वारा आक्षिप्त व्यक्ति मे व्यवहार होगा । जाति मे शक्ति मानने के पक्ष मे व्यक्तिभानार्थ व्यक्ति मे लक्षणा नहीं करनी पड़ेगी । व्यक्ति भान आक्षेप से ही होता है । अविनाभाव व्याप्ति का ही नाम है । अतएव व्यक्तिभान के बिना जाति भान होगा ही नहीं, अत जहा जहा जातिभान होता है, वहाँ वहाँ व्यक्तिभान आवश्यक है । इस रीति से व्याप्ति ज्ञान से ही शाब्द बोध मे व्यक्ति भान होता है ।।११ १२ १३।।

मुख्यार्थ की बाधा होने से जिससे शक्य (वाच्य) सम्बन्ध विशिष्ट अन्य पदार्थ विषयिणी प्रतीति होती है, उस को लक्षणा कहते हैं । लक्षणा का उदाहरण— गङ्गा मे घोष निवास करता है' यह एक आप्त वाक्य है । इस सम्बन्ध मे कतिपय व्यक्ति इस प्रकार परामर्श करते हैं— गङ्गा पदार्थ के सहित घोष पदार्थ का अन्वय असम्भव होने के कारण यहा घोष शब्द ध्वनि अर्थ का वाचक है आभीर पल्ली अर्थ का वाचक नहीं है । तत् पश्चात् 'निवास करता है' इस प्रकार प्रयोग होने से गङ्गा शब्द स्वसम्बन्धी तीरका प्रतिपादन करे, अथवा घोष शब्द- स्वसम्बन्धी प्रतिबिम्ब का बोधोत्पन्न करें, उभय शब्द का ही लाक्षणिकत्व सम्भव है । यहा यह लक्षणा- रूढि लक्षणा नही है । यह प्रयोजन लक्षणा है । कारण— इस वाक्य का वक्ता भ्रान्ति हीन है, अतएव उस प्रकार कथन का प्रयोजन क्या है । यहा वही विचार्य है । यदि गङ्गा शब्द से तट लक्षित है,तब उस का शीतत्व पावनादित्व ही प्रयोजन है । अथवा यदि घोष

मेव प्रयोजनम् । यदि वा घोष-शब्द स्व प्रतिविम्ब लक्षयति, तदापि घोषस्य तत्तीर नकस्यातिशय प्रतिपादनेन तदेव तीरगत शैत्य-पावनादित्वम्, अधिकञ्च गङ्गाजलस्य स्वच्छत्वम् । तेनाधिक प्रयोजन लाभे घोष शब्द एव लाक्षणिक इति परामर्शानन्तर पुनस्तमानयेति श्रुते गङ्गा शब्द एव लाक्षणिक न घोष शब्द इति निश्चिन्वन्, घोष प्रति

रूप लक्षणा घटकीभूत स्वसम्ब ध मात्रेण य स्वस्याविनाभावो व्याप्ति , गङ्गा सम्ब ध ज्ञानस्यावश्यकता रूपा तस्या सम्पादयित्री । कु तोऽस्त्रविशेष , तद्विशिष्ट पुरुषस्य प्रवेश तात्पर्यस्थले केवल पुरुषे कुन्त पदस्य न लक्षणा, कि तु कुन्त विशिष्ट पुरुष एव । 'शोणो रक्त गुण विशिष्टो धावति'इत्यत्र गुण व चक य शोण शब्दस्य गुण विशिष्टे लक्षणति सवत्र प्रसिद्धि ।

कस्यचिन्मते लक्षणा विना 'गुण वचना मतुपो लुक्' इत्यनुशासनेन शोण शब्दोत्तर मतुव लोपान्मुख्य एवाथ ।

ननु छत्रसहिताना छत्र रहितानाञ्चानेक पुरुषाणा गमन स्थले छत्रिणो गच्छन्तीति प्रयोग छत्र रहित-छत्र सहित पुरुष समूहे लाक्षणिक इत्याह सर्वेषामिति । छत्र रहिताना सर्वेषा छत्रित्वेना वयाभावान् मुख्याथस्य बाध अतोऽत्र छत्र्यछत्र्युभयत्र छत्रिपदस्य लक्षणा, तेनात्राप्यजहत् स्वार्था लक्षणा, बोद्धव्या ।

शब्द से उसका निज प्रतिविम्ब लक्षित होता है, ऐसा होने पर भी घोष का, उक्त तीरका अत्यन्त सामीप्य प्रतिपादन के द्वारा तीर गत उक्त शत्य पावनत्वादि एव तदतिरिक्त गङ्गाजल का स्वच्छत्व भी उक्त स्थल मे प्रयोजन है—यह समझना होगा । इस प्रकार जब अधिक प्रयोजन लाभ होता है, तब घोष शब्द ही यहा लाक्षणिक है । इस प्रकार परामश के पश्चात् यदि उस घोष को ले आओ' इस प्रकार प्रयोग दृष्ट होता है । ऐसा होने पर प्रतिविम्ब का आनयन असम्भव हेतु निश्चय होता है कि—यहा गङ्गा शब्द ही लाक्षणिक है, घोष शब्द नही । घोष निवास कर रहा है, उस को ले आओ, इस प्रकार अन्वय बोध नहीं होता है । अतएव वाक्य मे लक्षणा नही है, किन्तु 'गङ्गा मे घोष निवास कर रहा है'—इस प्रकार प्रयोग स्थल मे मुख्याथ बाध हेतु गङ्गा शब्द से उस के तीर मे लक्षणा करना होगा । यह लक्षणा, स्वाथ को परित्याग करके जहत् स्वार्था नाम से अभिहित होता है । किन्तु वह गङ्गादि रूप स्वाथ को परित्याग करने पर भी शक्य (वाच्य) सम्ब ध रूप जो गङ्गादि सम्ब ध है, उस से निज अविनाभाव व्याप्ति है, अर्थात् गङ्गादि सम्बन्ध ज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित होती है ।

कु त समूह प्रवेश कर रहे है —यहा कु त नामक अस्त्र विशिष्ट पुरुष समूह का प्रवेश रूप तात्पर्य हेतु कन्त पद की लक्षणा केवल पुरुष मे नही है, कि तु कुन्त विशिष्ट पुरुष मे लक्षणा है, इस हेतु उसको अजहत् स्वार्था कहते हैं । शोण अर्थात् रक्त गुण विशिष्ट धावित हो रहा है, यहा लक्षणा स्वीकार न करके "क्वचित् गुण वाचक शब्द के उत्तर विहित मतुप प्रत्यय का लोप होता है " इस अनुशासन के अनुसार लुप्तमतुप के द्वारा ही मुख्याथ अभिहित होता है । यह मत-कतिपय व्यक्ति का है । 'छत्री गमन कर रहा है' यहा छत्र के सहित एव छत्र रहित यावतीय पुरुष के सहित छत्रित्व रूप का अन्वय न होने के कारण ईदृश लक्षणा को समूहार्थी लक्षणा कहते हैं ।

'रथोगच्छति' 'रथ गमन कर रहा है'—यहा जहदजहत् स्वाथ लक्षणा है । कारण, निज आकषक

वसति तमानय' इत्युक्ते नान्वयबाध रतेन वाक्ये न लक्षणा अपितु गङ्गा शब्द एवेति व्युत् पाद्यते । इय तु लक्षणा जहत् स्वार्थापि स्वसम्बन्ध मात्रेण स्वाविनाभाव प्रतिपादयित्री ।

'कुन्ता प्रविशन्ति' इत्यादावजहत् स्वार्था, कुन्तधारित्वेन कु त सहित प्रवेशात् । 'शोणो धावति' इत्यत्र न लक्षणा, (पतञ्जलि वार्त्तिके) ''क्वचिद् गुण वचनान्मतुपोलुगिष्ट'' इति

ननु रथा गच्छति' इत्यादौ गमनानुकूल यत्नवत्त्व रूपस्य गमन कर्त्तृत्वस्य रथेऽचेतनत्वेन बाधितत्वात् कथ शाब्द बोध ? न च रथ पदस्य रथ प्रेरक पुरुष लक्षणा स्वीकर्त्तव्या । तथा सति पुरुषस्य सचेतनत्वेनतस्मिन् गमन कर्त्तृत्व न बाधितमिति वाच्यम् केवल पुरुषो गच्छती यनुक्त्वा रथस्य गमन तात् पर्य्येण रथा गच्छन्तीति वक्तृ पुरुषस्य विवक्षितार्थस्य रथ निष्ठ बाधित गमनस्यासिद्धे । तस्मादेव वाच्यम्—यथा रथ पदस्य पुरुषे लक्षणा, तथा गमध तोरपि रथ निष्ठ गमन विशेषे लक्षणा विवक्षणीया । तथा च रथ निष्ठ गमनानुकूलयत्नवान् पुरुष इत्याकारक शाब्दबोधसिद्ध । एव सति लक्षणया रथ वृत्तित्वावच्छिन्न गमनत्वरूप धम विशेषस्य शाब्द बोधे भानेऽपि गमधातो शक्यतावच्छेदकस्य निरवच्छिन्न गमनत्वजातिरूप स्वार्थस्य तादश शाब्दबोधेऽभाने । जहत् स्वार्था एव गम धात्वर्थस्य गमन विशेष भानेनाजहत् स्वार्था च । तस्मादेकैव लक्षणा जहदजहत् स्वार्था भवतीति कस्यचिदेक देशिनो

पुरुष मे रथ का गमन सिद्ध होने मे पुरुष मे रथ पद का शक्य सम्बन्ध हेतु रथ कर्त्तृक गमन की असम्भावना निब धन तदशे वह जहत् स्वार्था है, एव गमनाश मे अजहत् स्वार्था है । यह मत सवथा विचार सह न होने के कारण--आख्यात की शक्ति- यत्नमे है,अचेतन रथादि मे वह सम्भव नहीं है । अतएव ईदृश स्थल मे प्रेरक पुरुष के सहित रथ की लक्षणा गमन क्रियानुकूल सयोग रूप व्यापार मे है ।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं—यह लाक्षणिक प्रयोग नहीं है । कारण—आख्यात का अनुकूल व्यापार प्रधानता प्रयुक्त चेतन अचेतन, उभयत्र ही यत्न एव सयोग रूप धात्वर्थानुकूल व्यापार की विद्यमानता हेतु आख्यात का प्रयोग मुख्य है । अर्थात् यत्न के समान व्यापार मे भी आख्यात की शक्ति की विद्यमानता हेतु सचेतन कर्त्ता का व्यापार स्थल मे व्यापारत्वरूप मे ही यत्न का बोध होगा, एव अचेतन कर्त्तृक स्थल मे व्यापारत्व रूप मे ही यत्न का बोध होगा, एव अचेतन कर्त्तृक स्थल मे व्यापारत्व रूप मे सयोगादिका बोध होगा ।

मञ्च समूह उच्च शब्द कर रहे है—यहा अचेतन मञ्च के पक्षमे उच्च शब्द करना असम्भव है, अत मञ्चस्थ पुरुष का प्रत्यायन हेतु स्वसम्ब ध मात्र मे वह जहत् स्वार्था है, सुतरा उस को प्रयोज वती वा रूढि लक्षणा नहीं कहते हैं ।।१४–१५।।

मुख्यार्थ की बाधा होने पर वाच्य का सम्ब ध बोध होने पर अन्य पदार्थ विषयिणी जो बुद्धि होती है–तादश बुद्धि जनक शक्य सम्बन्ध लक्षणा है । यह साराथ है । अधिकञ्चेति । गङ्गा पदकी लक्षणा की अपेक्षा, घोष पद की लक्षणा से गङ्गा मे स्वच्छत्व प्रतीति अधिक होती है । अत अधिक प्रयोजन लाभ हेतु घोष पद की लक्षणा करना ही उचित है । इस मत म दोष प्रदर्शन करते हैं—पुनरिति । 'तमानय' इस प्रकार कहने से तत् पद के द्वारा घोष पदार्थ का प्रतिबिम्ब बोध स्वीकार करने पर उसका आनयन असम्भव हागा । अत गङ्गा पद की तीर मे लक्षणा करना आवश्यक है । घोष पद की शक्ति, आभीर

लुप्तेनापि मतुपा मुख्यार्थ एवाभिधीयते। 'छत्रिणो गच्छन्ति' इति समूहार्थे लक्षणा, सर्वेषां छत्रित्वेनान्वयाभावात्।

'रथो गच्छति' इत्यत्र जहदजहत् स्वार्था, स्वाकर्षक गमनेन शक्यसम्बन्धात् स्व कर्तृक गमनाभावादशतो जहत्स्वार्था गमनांशेनाजहत्स्वार्था। केचिदाख्यातस्य प्रयत्न वाचक

मतमाश्रित्याह—रथोगच्छतीति। स्वस्य रथस्याकर्षको य पुरुष स्तस्माद्रथस्य गमनेन पुरुषे रथपदस्य शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा सम्भवादित्यर्थ। स्वकर्त्तृकेति रथकर्त्तृक गमनासम्भवादन्वयसम्भवाद् अन्वयानुपपत्ति रूप लक्षणा बीजमपि दर्शितम्। अंशत इति-गमधातोर्यत्नरूपांशस्य गमनत्व जातिरूप स्वार्थस्य शाब्द बोधेऽभानेन तदंशे जहत् स्वार्था लक्षणा, गमनांशेनेति गमधात्वर्थस्य गमन विशेषस्य भानेन तदंशे अजहत् स्वार्था च। एत मत नात्य तविचार सहमतो मता तर माह—केचिदिति। आख्यातस्य यत्ने शक्तिरतोऽचेतने रथाणै यत्नाभ वात् व्यापार रूपार्थे लक्षणा पठन्ति। व्यापाराऽत्र स्वप्रेरक पुरुषेण सह रथ गमन क्रियानुकूल संयोग,—तथाच गमनानुकूलव्यापाराश्रयोरथ इत्याकारको बोध सिद्ध इति भाव।

कस्यचि मते रथो गच्छतीत्यत्र लक्षणव, नास्ति, कि तु मुख्य एवाय प्रयोग। तन्मतमुप न्यस्यति केचिदिति। आख्यातस्य न यत्न मात्रे शक्ति, कि तु व्यापारत्व रूपेण व्यापारे शक्ति। व्यापारत्व रूप

पल्ली मे है। अत उसका आनयन सङ्गत है। इस प्रकार निश्चय कर—गङ्गा पद के सहित पाठ न होने पर केवल 'घोष प्रति वसति'—'तमानय' कहने पर मुख्याथ का बाधक न होने पर लक्षणा नहीं होगी। किन्तु गङ्गा पद प्रयोग से ही मुख्याथ की बाधा होगी। अतएव गङ्गा पद मे ही लक्षणा समीचीन है। यह लक्षणा जहत् स्वार्था है जहत् त्यजन् स्वार्थो यस्या तथा भूतापि गङ्गारूप स्वाथस्य त्याग कुर्वत्यपीत्यथ। गङ्गा रूप अथ को त्याग करने के कारण—जहत् स्वार्था है। शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा के घटकीभूत स्व सम्ब ध मात्र से जो निज अविनाभाव है। वह व्याप्ति है। गङ्गा सम्ब ध ज्ञान की आवश्यकता रूपा उसकी सम्पादयित्री है। कुन्त— अस्त्र विशेष है, तद् विशिष्ट पुरुष का प्रवेश तात्पर्य्य स्थल मे केवल पुरुष मे कुन्त पद की लक्षणा नही है। कि तु कुन्त विशिष्ट पुरुष मे ही लक्षणा है। शोण रक्त गुण है, तद् विशिष्ट धावित होता है। यहाँ गुण वाचक शोण शब्द का गुण विशिष्ट मे लक्षणा सवत्र प्रसिद्ध है। किसी के मत मे लक्षणा क विना ही 'गुण वचन के उत्तर मतुप प्रत्यय लोप होता है' इस प्रकार नियम से शोण शब्द के उत्तर मतुप प्रत्यय लोप होने के कारण मुख्य अथ ही है।

छत्र सहित एव छत्र रहित अनेक व्यक्ति के गमन स्थल मे छत्री सव जा रहे हैं, प्रयोग -छत्र रहित पुरुष समूह मे लाक्षणिक है। कहते हैं—सर्वेषामिति। छत्र रहित सब का अन्वय छत्रित्व के सहित न होने के कारण मुख्याथ का बाध है, अत यहा छत्री, अछत्री उभयत्र ही छत्री पद की लक्षणा है, अतएव यहा पर भी अजहत् स्वाथ लक्षणा जानी होगी।

'रथो गच्छति' यहा गमनानुकूल यत्नवत्त्व रूप गमन कर्त्त त्व रथ मे अचेतनत्व के कारण बाधित है अत शाब्द बोध होना कसे सम्भव है ? रथ पद की लक्षणा रथ प्रेरक पुरुष मे करना कर्त्त व्य है। ऐसा होने पर पुरुष सचेतन होने के कारण उस में गमन कर्तृत्व बाधित नही होता है, इस प्रकार नहीं

त्वादचेतने तदभावाद्, व्यापारे लक्षणा पठन्ति, केचिदाख्यातस्यानुकूलव्यापार प्रधानतया चेतना चेतनयो र्धात्वर्थानुकूल्य व्यापारस्य सत्त्वादाख्यात प्रयोगो मुख्य एवेति।

'मञ्चा क्रोशन्ति' इत्यत्र स्वसम्बन्ध मात्रेण जहत् स्वार्थव, नेय प्रयोजनवती, नवा रूढि लक्षणा। ॥१४-१५॥

धर्मस्तु यथा यत्ने तथा रथ पुरुष सयोगे च वर्त्तते। अतो व्यापारत्व रूपेणोभयत्र शक्ति। तथा च सचेतन कर्त्तृ समभिव्याहार स्थले व्यापारत्व रूपेण यत्नस्य बोधो जायते, अचेतन कर्त्तृक स्थले व्यापारत्व रूपेण सयोगादि बोधो जायते इति न कुत्रापि लक्षणाया अवकाश। एवभिप्रायेणाह— आख्यातानुकूलेति। आख्यातस्याख्यातार्थस्यानुकूल व्यापारस्य प्रधानतया मख्यतया चेतने पुरुषे अचेतने रथे च धात्वर्थानुकूल व्यापारस्य यत्नस्य सयोगस्य च यथा सख्येन सत्त्वादाख्यातघटितो रथो गच्छतीति प्रयोगो मुख्य एव, नतु लाक्षणिक। मञ्चा इति— अचेतन मञ्चस्य क्रोशन सम्भवान्मञ्च पदेन मञ्चस्थ क्रोशनासम्भवान्मञ्च पदेन मञ्चस्थ पुरुषे लक्षणा। इयन्तु प्रयोजनवती रूढि लक्षणयोरतिरिक्ता निरर्थिका एव। १४ १५॥

कह सकते। केवल पुरुषो गच्छति' इस प्रकार न कह कर रथ का गमन तात्पर्य से रथो गच्छति' कहने वाले व्यक्ति के पक्ष मे विवक्षितार्थ रथ निष्ठ अबाधित गमन असिद्ध होगा। इस हेतु यहा इस प्रकार कहना उचित है—जिस प्रकार रथ पद की लक्षणा पुरुष पद मे है, उस प्रकार गमधातु को भी रथ निष्ठ गमन विशेष मे लक्षणा है। तथा च रथ निष्ठ गमनानुकूलयत्नवान् पुरुष इस प्रकार शाब्द बोध निष्पन्न होता है। इस प्रकार होने पर लक्षणा के द्वारा रथ वृत्तित्वावच्छिन्न गमनत्व रूप धर्म्म विशेष का शाब्द बोध मे भान होने से गम धातु का शक्यतावच्छेदक निरवच्छिन्न गमनत्व जातिरूप स्वार्थ का तादृश शाब्द बोध मे भान होने से जहत् स्वार्था होती है। एव गमधात्वर्थ का गमन विशेषमे भान होने से अजहत् स्वार्था भी होती है। अतएव एक ही लक्षणा जहत् अजहत् स्वार्था लक्षणा होती है— इस प्रकार एक देशी के मत को अवलम्बन कर कहते हैं—'रथो गच्छति' रथ का आकर्षक पुरुष है, अतएव रथ का गमन से पुरुष मे शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा होना सम्भव है। रथ कर्त्तृक गमन असम्भव हेतु अन्वय अनुपपत्ति रूप लक्षणा का कारण भी प्रदर्शित हुआ। गम धातु का भी निरवच्छिन्न गमनत्व जाति रूप स्वार्थ का शाब्द बोध मे भान होने पर उस अश मे जहत् स्वार्थ लक्षणा है। गमधातु का गमन विशेष भान होने पर उस अश मे अजहत् स्वार्थ लक्षणा है। यह मत अत्यन्त विचार पूर्ण नहीं है। अत मतान्तर को कहते है। केचिदिति आख्यात की शक्ति,—यत्न मे है,अत अचेतन रथादि मे यत्न न होने से व्यापार रूप अर्थ मे लक्षणा करते हैं। यहाँ व्यापार—स्व प्रेरक पुरुष के सहित रथ गमन क्रियानुकूल सयोग है। तथा च गमनानुकूल व्यापाराश्रय रथ है— इस प्रकार बोधासिद्ध होता है। किसी के मत मे 'रथोगच्छति' यहा लक्षणा है ही नहीं। किन्तु यह प्रयोग मुख्य है। उस मत को लिखते हैं– आख्यात की शक्ति,—यत्न मात्र मे ही नहीं है किन्तु व्यापारत्व रूप व्यापार मे शक्ति है। व्यापारत्व रूप धर्म जिस प्रकार यत्न मे है, उस प्रकार रथ पुरुष सयोग मे भी है, अत व्यापारत्व रूप से उभयत्र शक्ति है। तथा च—सचेतन कर्त्ता का साहचर्य से व्यापारत्व रूप यत्न का बोध होता है, अचेतन कर्त्ता के स्थल मे व्यापारत्व रूप यत्न का बोध होता है, अचेतन कर्त्तृक स्थल मे व्यापार रूप से सयोगादि का बोध होता है। इस रीति से कहीं पर लक्षणा का

रूढ्या प्रयोजनेनापि सा द्विधा,

सा लक्षणा द्विधा भवतीत्यथ । 'विष्वक्सेन' इत्यादौ विसूची सेना यस्येति बहुतर सेनापति महाराजादौ व्युत्पन्नत्वेऽपि शक्त्या भगवत्यपि भगवद् भक्त विशेषे एव रूढि ॥१६॥

साधक लक्षणा तु द्विविधेत्याह रूढ्येति, । रूढि लक्षणा तु शक्ति तुल्यैव, अतोऽस्यापि साधकत्व बाध्यम् । विषु शब्दोऽव्यय सववाची, तेन विषु सवतोऽञ्चति गच्छतीति विषुची सव्व्यापिका सेना यस्येति व्युत्पत्त्या विष्वकसेन शब्द ऽवयवव्युत्पत्त्या महाराज बोधक । "विष्वक सेनो जनार्दन" इ यभिधानाच्छक्त्या भगवद् वाचक , रूढि लक्षणया भग तु पाषद विशेष ल क्षणिक । तथाच—रूढे र्योगापहारितेति नियमन विष्वकसेन शब्देन पाषद बोध एव भवति, नतु योग शक्त्या महाराजादि बोधो भवति ।

न च रूढे प्र ति बाधकत्वात् शक्त्या भगवद् बाधोऽपि मास्त्विति वाच्यम्, यतो रूढिर्योगमपहरतीति न्यायेन योग शक्त्या प्रत्यय घटित प्रकृति ज य महाराज दीना बोध एव न जायते । नतु 'विष्वक सेनो जनादन' इत्यभिधानात् समुदाय शक्त्या भगवद् बोधे रूढे प्रतिब धकत्व सम्भवतीति बोध्यम् ॥१६॥

अवकाश ही है । इस अभिप्राय से ही कहा गया है—आख्यातानुकूलेति । आख्यातार्थ का अनकूल व्यापार प्रधान रूप से एव मुख्य रूप से चेतन पुरुष मे एव अचेतन रथ मे धात्वर्थानुकूल व्यापार का यत्न, सयोग का क्रमश होने के कारण आख्यात घटित 'रथो गच्छति' प्रयोग मुख्य ही है । कि न्त-ल क्षणिक नही है ।

मञ्चा इति । अचेतन मञ्च का क्रोशन असम्भव हेतु, मञ्च पदसे मञ्चस्थ पुरुष मे लक्षणा है । यह लक्षणा– प्रयोजनवती रूढि लक्षणा से अतिरिक्त है एव निरर्थिका है ॥१४ १५॥

रूढि एव प्रयोजन वशत लक्षणा द्विविधा होती हैं । 'विष्वक सेन' यहा विषुची अर्थात् सव व्यापिका सेना है– जिस की, इस व्युत्पत्ति से बहुतर सेना विशिष्ट महाराजादि का बोध होने पर भी शक्ति -अर्थात् सङ्केत हेतु वह भगवान् एव तदीय भक्त विशेष मे रूढि है ॥१६॥

साधक लक्षणा किन्तु दो प्रकार होती हैं । रूढि लक्षणा कि तु शक्ति तुल्य ही है अत इस को साधक जानना चाहिये । विष शब्द अव्यय है, एव सववाची है, उस से विषु सवतोऽञ्चति गच्छतीति विषु ची सव व्यापि का सेना है, जिस की—इस प्रकार व्यु त पत्ति से विष्वक सेन शब्द—अवयव व्युत्पत्त के द्वारा महाराज का बोधक है । विष्वक सेनो जनादन ' इस अभिधान के कथन से वह भगवद् वाचक है रूढि लक्षणा के द्वारा भगवत् पाषद विशेष मे लाक्षणिक है । 'रूढि र्योगापहारिणी' नियम से विष्वक सेन शब्द के द्वारा पाषद का बोध ही होगा किन्तु योग शक्ति के द्वारा महाराजादि का बोध नहीं होगा ।

रूढि का प्रति ब धक होने पर शक्ति के द्वारा भगवान् का भी बोध भी न हो इस प्रकार कहना भी समीचीन नही है । कारण– रूढि र्योगमपहरतीति' नियम से योग शक्त्या के द्वारा प्रत्यय घटित प्रकृति जन्य महाराजादि का बाध ही नही होगा । किन्तु 'विष्वक सेनो जनादन ' इस अभिधान के कथन से भगवद् बाध मे रूढि का प्रति ब धक होना सम्भव है ॥१६॥

गङ्गायां घोष प्रतिवसति' इत्यादौ प्रयोजनम्, तत्तु शैत्य- पावनत्वादि। अत उक्तम् (कुमारिल भट्ट कृत श्लोकवार्त्तिके)

"अभिधेयाविनाभूत प्रतीति लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाण गुणैर्योगाद् वृत्ते रिष्टा तु गौणता ॥"

इति, (काव्य प्रकाशे २।१३) "व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने" इति वचनाद् व्यङ्ग्य सहिता प्रयोजनवती लक्षणव प्रयोजिका, न रूढि लक्षणा ॥१७--१८॥

भिद्यते सा ।

सा प्रयोजनवती लक्षणा भिद्यते, द्विविधा भवतीत्यर्थ ।

सारोपा सारोप्यमाण आरोप विषयोऽपिच ॥

अभिधेयस्य शक्यस्याविनाभूतोऽसाधारण सम्बन्ध विशेष विशिष्ट स्तस्य प्रतीतियस्या सा लक्षणोच्यते। उदाहरणन्तु गङ्गायां घोष इत्यादि लक्ष्यमाण गुणस्य सादृश्यस्य योगाद्धेतो वृत्ते गौणता इष्टा, गौणी वृत्तिर्भवतीत्यर्थ। तथा च एतन्मते सादृश्य लक्षणास्थले गौणी वृत्ति शक्ति लक्षणातिरिक्ता स्वतन्त्रा वृत्तिरिति भाव। उदाहरण तु—गौर्वाहिक इत्यादि। वहि स्तिष्ठतीति औणादिक -प्रत्ययात् ग्रामस्यान्ते-स्थित नीच जाति र्वाहिक स तु गौ, गो सदृश। व्यङ्ग्यनेति रूढि लक्षणा व्यञ्जना वृत्ति रहिता प्रयोजनवती लक्षणा व्यञ्जना वृत्ति सहितेति प्रामाणिकानां वचनाद् व्यङ्ग्य सहिता प्रयोजनवती लक्षणैव प्रयोजिका सार्थिका, नतु रूढि लक्षणा। एतन्मते रूढ लक्षणापि व्यर्थेति बोध्यम् ॥१७-१८॥

सा प्रयोजनवती लक्षणा सारोपा। भक्तमते उदाहरणम्— अमृत श्रीकृष्ण गुण श्रवणम्। अन्यमते

गङ्गा मे घोष रहता है। इत्यादि स्थल मे प्रयोजन वशत लक्षणा है। प्रयोजन—यहां शैत्य पावनत्वादि हैं। अतएव श्रीकुमारिलभट्टने कहा है—शक्यार्थ का अविनाभूत अर्थात् असाधारण सम्बन्ध विशेष विशिष्ट पदार्थ—जिस से प्रतीत होता है—उस को लक्षणा कहते हैं। लक्ष्यमाण का गुण,—अर्थात् सादृश्यादि धर्म की विद्यमानता स्थल मे उक्त वृत्ति की गौणता स्वीकृत है। अर्थात् गुण योग हेतु वह गौणी वृत्ति है। रूढि स्थल मे उक्त लक्षणा व्यङ्ग्य रहित एवं प्रयोजन स्थल मे व्यङ्ग्य सहिता होती है।

उक्त कथन हेतु व्यञ्जना वृत्ति सहिता प्रयोजनवती लक्षणा ही प्रयोजिका है, अर्थात् स्वार्थिका है, रूढि लक्षणा का उस प्रकार सार्थकय नहीं है ॥१७-१८॥

अभिधेय—शक्य का अविनाभूत असाधारण सम्बन्ध विशिष्ट विषय प्रतीति जिस की है, वह लक्षणा है। उदाहरण— गङ्गायां घोष' यहाँ लक्ष्यमाण गुण सादृश्य के योग से वृत्ति की गौणता है अर्थात् गौणी वृत्ति होती है। इस मत मे सादृश्य लक्षणा स्थल मे गौणी वृत्ति—शक्ति लक्षणा से अतिरिक्त स्वतन्त्रा वृत्ति है। उदाहरण- गौर्वाहिक' वहिस्तिष्ठतीति औणादि प्रत्यय से ग्राम के शेष भाग मे अवस्थित जाति विशेष को वाहिक कहते हैं। वह गौ, गो सदृश है। रूढि लक्षणा व्यञ्जना वृत्ति रहिता प्रयोजनवती लक्षणा व्यञ्जना वृत्ति सहिता है, इस प्रकार प्रामाणिक के वाक्य से व्यङ्ग्य के सहित प्रयोजनवती लक्षणा ही प्रयोजिका अर्थात् सार्थिका है, किन्तु, रूढि लक्षणा नहीं, इस मत मे रूढि लक्षणा भी व्यर्थ है ॥१७-१८॥

यत्र व्यक्तौ।

यत्र लक्षणायामारोप्यमाण आरोप विषयश्च स्फुटौ, सा सारोपा। यथा अमृत श्रीकृष्ण-गुण श्रवणम्। अत्रामृतमारोप्यमाणगुणश्रवणमारोपविषयो द्वावेव स्फुटौ। 'गौर्वाहीक' इत्यन्ये ॥१९-२०॥

आदिनान्तर्निगीर्णे चरमे सति। भवेत साध्यवसाना सा।

सा सारोपा साध्यवसाना भवेत्, आदिना आरोप्यमाणेन चरमे आरोपविषयेऽन्तर्निगीर्णे सति। यथा 'अमृतमेवेदम्' इत्यारोप्यमाणेनामृतेन गुण श्रवण मारोपविषयोऽन्तर्निगीर्ण। 'गौरेवायम्' इत्येके ॥२१॥

तु गौर्वाहीक इति ॥१९-२०॥

सूत्रस्थादिनेत्यस्य व्याख्या—सारोप्यमाणेनेति- अमृतेनेत्यथ। चरमे—इत्यस्य व्याख्या,—सारोप विषय इति कृष्ण कथा-श्रवणे—इत्यथ —

अन्त निर्गीर्णे सतीति नेद कृष्ण कथा श्रवणम्, अपितु अमृत मेवेति वाक्ये, एव कारेण-कृष्ण कथा श्रवणस्य निषेधे सतीत्यथ। सारोपास्थले त्वमृतकृष्णकथा श्रवणयोरभेद प्रतीत्या द्वयोरेव वाक्ये प्रवेश न तु साध्य वसानास्थले इवापरस्य निषेध। अय वाहिको न भवति, अपि तु गौरेवेत्युदाहरण भक्त भिन्नाना ज्ञेयम् ॥२१॥

उक्त प्रयोजन वती लक्षणा विविध प्रकार होती हैं। जहाँ आरोप्यमाण एव आरोप विषय उभय ही परिस्फुट होते है उसका नाम सारोपा लक्षणा है। जसे—श्रीकृष्ण गुण श्रवण अमत है। यहाँ आरोप्यमाण अमृत एव आरोप विषय गण श्रवण, उभय ही परिस्फुट हुए है। "गौ र्वाहीक" को उदाहरण रूप मे कतिपय व्यक्ति उपस्थित किये हैं।

प्रयोजन वती लक्षणा सारोप्य है। भक्तमत मे उदाहरण—श्रीकृष्ण गुण श्रवण अमृत है। अ य मत मे—'गौ र्वाहीक' उदाहरण है ॥१९-२०॥

वहिर्देश मे अवस्थानार्थक वहिस शब्द के उत्तर उणादि प्रत्यय द्वारा निष्पन्न वाहीक शब्द ग्राम के प्रा त भाग मे स्थित मानव का बोधक है। वह गौ है, अर्थात् गो सदश है। आरोप्य माण कत्त क आरोप विषय अन्तर्निगीण होने से उक्त सारोपा लक्षणा साध्य वसाना नाम से अभिहिता होती है। यह 'महत है' यह आरोप्य माण अमृत कत्तृ क आरोप विषय स्वरूप गुण श्रवण अ त निगीण हुआ है। अर्थात् शब्द श्रवण व्यतीत ही आक्षेपादि के द्वारा प्रतीत हुआ है।

अपर व्यक्ति गण— गौर्वाहीक' उदाहरण के समान यहाँ 'गौरेय, 'यह व्यक्ति गौ ही है' इस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत करते है।

सूत्र मे जो आ द शब्द का प्रयोग है—उसकी व्यारया—सारोप्यमाणेन अमृतेन' इस प्रकार है। चरमे—इसकी व्याख्या—सारोप विषय—'कृष्ण कथा श्रवणे' इस प्रकार है। अन्तर्निगीर्णे—सतीति—यह कृष्ण कथा श्रवण ही नहीं है, किन्तु अमृत ही है। यहा एव कारके द्वारा-अथ होता है-कि कृष्ण कथा

भिदे द्वे द्विविधे इमे ॥

गौणे शुद्धे च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतोऽपि च ।

एतौ भेदौ सादृश्याद गौणौ, सम्बन्धान्तरत शुद्धौ भवत इत्यर्थ· ॥२२--२३॥

सादृश्य हेतुका तूक्ता सम्बन्धान्तरहेतुका ॥

यथा 'भगवद भक्ति र्महत्‌ सङ्ग', 'भगवद् भक्ति रेवायम्' -अत्र कार्य्य कारणभाव सम्बन्ध 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यन्ये क्वचित्तादर्थ्याद् यथा-'कृष्णसेवार्थो व्यापार कृष्णसेवा ।' क्वचित् स्व स्वामिभाव सम्बन्धाद यथा--'कृष्णस्य सखाकृष्ण' । क्वचित्तात्

इमे सारोपा साध्यवसान द्वे द्विविध भवत । सादृश्य सम्बन्धेनारोपे सति द्वे गौणे भवत, सम्बन्धान्तरारोपे सति द्वे शुद्ध भवत ॥२२-२३॥

महत्‌ सङ्गो भगवद् भक्ति जनक इति लक्ष्यार्थ इत्यत्र सारोपा, भक्ति रेवायमिति साध्यवसाना भक्ति जनकाना मध्ये महत्‌ सङ्ग यथा भक्ति जनक स्तथा नान्य । एत दश जनकतातिशयरूप प्रयोजनवर्त्त्य लक्षणेति ज्ञेयम् । अत्र व्यापार कृष्ण सेवा' इत्यत्र तादर्थ्य सम्बन्ध लक्षणा । कृष्णस्य सखा सुबल, कृष्ण एवात्र सख्यातिशय एव प्रयोजनम् । गोपपदस्य रूढि शक्त्या गोप जातावेव प्रयोग । तदतिरिक्ते गोपालन कर्त्तरि वश्यजातौ गोपव्यवहारस्त लाक्षणिक एव । यथा- 'मण्डप भोजय' इत्यत्र मण्डप शब्दा गृहे रूढिरपि मनुष्ये लाक्षणिक । एतन्मतमालम्ब्याहु-कृष्ण गोपालनाद् गोपो न भवति, किन्तु गोप जातिरेव । तत्र गोपजाते यथा कर्म्मान्तिर विहाय गोपालन अत्यासक्ति स्तथा श्रीकृष्णस्यापि

श्रवण का निषेध करने पर । सारोपास्थल मे अमृत एव कृष्ण कथा श्रवण मे अभेद प्रतीति होने के कारण उभय का ही वाक्य मे प्रवेश हुआ है । किन्तु साध्यवसानास्थल के समान अपर का निषेध नही हुआ है । यह वाहीक—नहीं है किन्तु "गौ है यह उदाहरण-भक्त मिश्रो के पक्ष मे है । इस प्रकार जानना होगा ॥२१॥

सारोपा एव साध्य वसाना—उभय लक्षणा ही द्विविधा होती हैं । सादृश्य सम्बन्ध मे आरोप होने पर उभय ही गौण होती हैं । एव सम्बन्धान्तर मे आरोप होने से उभय ही शुद्ध होती हैं ॥२२ २३॥

सारोपा एव साध्यवसाना -उभयविध लक्षणा ही द्विविध होती हैं । सादृश्य क सम्बन्ध मे आरोप होने से उभय लक्षणा ही गौणी होती हैं, एव सम्बन्धान्तर मे आरोप होने से उभय लक्षणा ही शुद्ध होती हैं । उसके मध्य मे सादृश्य हेतु का उक्त लक्षणा का उदाहरण इस के पहले टङ्कित हुआ है, सम्प्रति सम्बन्धान्तर हेतु को कहते हैं । यथा सारोपास्थल मे "महत सङ्ग भगवद् भक्ति" अर्थात् महत सङ्ग ही भगवद् भक्ति जनक है । एव साध्यवसानास्थल मे भगवद् भक्ति ही यह है" अर्थात् भक्ति जनक पदार्थ के मध्य मे महत सङ्ग क तुल्य उपाय और नहीं है । यहाँ कार्य्य कारण भाव सम्बन्ध का वर्णन हुआ ।

अपर व्यक्ति गण—' घृत ही आयु है, एव यह आयु ही है । इस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, कदाचित् तादर्थ्य सम्बन्ध मे यह लक्षणा होती है । यथा कृष्ण सेवा निमित्त व्यापार इस अर्थ मे ' कृष्ण

कर्म्मादि यथा—'कृष्णो गोपालनाद गोप'। सर्वत्र प्रयोजनम्, न रूढि ॥२४॥

परात्क्षेप स्वसिद्धचर्थं परस्मिन् स्वसमर्पणम्।
ययोस्ते लक्षणे शुद्धे प्रागुपादानलक्षणे ॥

प्राग्वर्त्तिनी उपादानलक्षणपदे ययोस्ते। तेन उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा वेत्यर्थ। उपचारेणामिश्रत्वात् शुद्धे। पृथक्त्वेन वर्त्तमानयोर्द्वयोरैक्यारोप उपचार। तत्र 'वेणुर्गायति, वीणा श्रुतिमनुकुर्वन्ति' इति वेण्वादिभि स्व सिद्धचर्थं स्व स्व वादकाना परेषा श्रीकृष्ण-

---

गोपालने आसक्तचतिशय एव लक्षणाया प्रयोजनम्। सवत्र सारोपा साध्यवसानास्थले प्रयोजनम्, प्रयोजनवती लक्षणा, नतु रूढि ॥२४॥

पुनर्लक्षणाया भेदद्वयमाह—परात्क्षेप इति। स्वस्य सिद्धचथ परात्क्षेप। यथा—'कुन्ता प्रविशन्ति' इत्यत्र कुन्तस्याचेतनस्यप्रवेशसिद्धचथ परस्य पुरुषस्याक्षेप। तत्रोपादानलक्षणा ज्ञेया। एव 'गङ्गाया

सेवा" किसी स्थल मे स्व स्वामी भाव सम्बन्ध मे भी लक्षणा होती है। यथा—कृष्ण के सहित अतिशय सख्य प्रकाश हेतु कृष्ण के सखा के प्रति 'यह कृष्ण है'—यह प्रयोग है।

कही पर तात्कम्य सम्ब ध मे भी लक्षणा होती है। यथा—गोपालन कम्म हेतु श्रीकृष्ण के उद्देश्य मे "गोप" इस प्रकार प्रयोग हुआ है। गोप जाती के समान गोपालनमे श्रीकृष्ण की अत्य ताशक्ति बोधन ही यहा प्रयोजन है। ये सब स्थल मे ही प्रयोजनवती लक्षणा, रूढि नहीं है ॥२४॥

महत्सङ्ग—भगवद्भक्ति जनक है, यह लक्षणाथ है। यहाँ सारोपा है, यही भक्ति है—यह साध्यवसाना है। भक्ति जनको के मध्य मे महत् सङ्ग जिस प्रकार भक्ति जनक है, उस प्रकार अन्य नही है। इस प्रकार जनकतातिशय रूप प्रयोजनवती यह लक्षणा है, यह जानना होगा। 'अय व्यापार कृष्णसेवा' यहाँ तादर्थ्य सम्बन्ध मे लक्षणा। 'कृष्ण का सखा सुबल है'—यहाँ कृष्ण मे सख्यातिशय ही प्रयोजन है। गोपपद की रूढि शक्ति के द्वारा गोप जाति मे ही प्रयोग होता है। तद्भिन्न गोपालन कर्त्ता वश्य जाति मे गोप व्यवहार किन्तु लाक्षणिक ही है। जिस प्रकार—'मण्डप भोजय' यहाँ मण्डप शब्द गृह मे रूढि होने पर भी मनुष्य मे लाक्षणिक है। इस मत को अवलम्बन कर कहते हैं—कृष्ण गो-पालन काय्य करने के कारण गोप नहीं है, किन्तु गोप जाति ही है। अत गोप जाति की अतिशय आसक्ति, अन्य कम को छोडकर जिस प्रकार गो पालन मे है, उस प्रकार कृष्ण की भी अतिशय आसक्ति गोपालनमे है, लक्षणा का प्रयोजन यही है। सवत्र सारोपा साध्यवसाना स्थल मे प्रयोजन है। यह प्रयोजनवती लक्षणा है, किन्तु रूढि नहीं है ॥२४॥

जिस लक्षणा मे निज अन्वय सिद्धि हेतु मुख्याथ भिन्न का आक्षेप होता है, उसको उपादान लक्षणा कहते हैं। एव जहा मुख्याथ भिन्न का अन्वय सिद्ध हेतु स्वाथ का परत्र समपण होता है, उसको लक्षण लक्षणा कहते हैं। यहाँ पृथक रूपमे वत्तमान पदाथद्वय का ऐक्यारोप का नाम उपचार है। एव तादृश उपचार मे मिश्रित न होने के कारण उक्त लक्षणाद्वय शुद्ध है।

उपादान लक्षणा का उदाहरण—वेणु गाती रहती है। वीणा, श्रुति का अनुकरण कर रही है। यहाँ वेणु वीणा का स्वातन्त्र्य से गान करणादि असम्भव हेतु उस उस पद के द्वारा अथसिद्धि हेतु स्व स्व

ललितादेर्नामाक्षेपः कृत इत्युपादानलक्षणा। यत्र यत्राविनाभावोऽर्थापत्तिर्वा, तत्र तत्र नोपादानलक्षणा,—प्रयोजनरूढ्योरभावात्। यथा—'गौरनुबन्ध्य' इति श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, नतु शब्देनोच्यते, "विशेष्यं नाभिधागच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे" इति न्यायात्। उक्तञ्च वाक्यपदीये—"गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः" इति। एवं क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डिम्, गृह भक्षयेत्यादिषु आक्षेप एव। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, रात्रौ भुङ्क्ते' इति तु अर्थापत्त्यैव गम्यत इत्यादिषु नोपादानलक्षणा। केवलं 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादिषु सा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ शैत्यपावनत्वादि-स्वगुणसमर्पणलक्षणेन लक्षणलक्षणा ॥२५॥

घोष' इत्यत्र परस्मिन् तीरे गङ्गागुणस्य शैत्यपावनत्वादेः समर्पणम्, तत्र लक्षणलक्षणा ज्ञेया। एतादृशे द्विविधे एव लक्षणे शुद्धे ज्ञेये। 'प्र गुणादानलक्षणे' इत्यस्य व्याख्यामाह—प्रागवर्त्तिनीति। द्वयोरैक्यारोप इति गौर्वाहीक इत्यत्रोपचार इ यथ। तत्र वेणोरिति वेणो स्वात न्त्र्येण गानासम्भवाद्वेणुपदेन श्रीकृष्णस्याक्षेप कृत। वीणागानशास्त्रोक्ता श्रुतिमनुकुर्वन्तीति। यत्रेति—यत्र जातिव्यक्त्योरविनाभावो व्याप्तिरूपसम्बन्ध, तत्र जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते। अत्रापि अर्थापत्त्या रात्रिभोजित्वसिद्धि। अतस्तत्र तत्र स्थले नोपादानलक्षणा। तत्र हेतु—लक्षणाबीजया प्रयोजन रूढ्योरभावात्। गो पदस्य व्यक्तौ लक्षणाया न प्रयोजनं न वा रूढि, प्रयोजन विनैव सर्वत्र वृथा लाक्षणिकप्रयोगस्तु विशेषदर्शिनामनुचितमिति बोध्यम्। एतदेवाह—यथेति। श्रुत्युक्त गोपदार्थस्य

बाधक परभूत श्रीकृष्ण ललितादि का आक्षेप होता है।

जहाँ जाति एवं व्यक्ति का अविनाभावसम्बन्ध है, अथवा जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा तात्पर्यसिद्धि होता है, उस उस स्थल मे लक्षणा बीज स्वरूप रूढि एवं प्रयोजन का अभाव हेतु उपादान लक्षणा नहीं होती है। जैसे—गो बन्धन करना होगा' यहाँ श्रुति विहित गो बन्धन कार्य कैसे सम्पादित होगा। इससे जाति के द्वारा व्यक्ति आक्षिप्त होगा। अर्थात् गोत्व जाति कर्त्तृक गोत्वविशिष्ट गोस्वरूप प्रतीयमान होगा, अन्यथा शब्द के द्वारा शक्ति का लक्षणा हेतु उक्त व्यक्ति की प्रतीति नहीं होगी।

नियम इस प्रकार है—विशेषणीभूत गोत्वादि अर्थ मे जो शक्ति पर्यवसित हुई है, तादृशी अभिधा, विशेष्य स्वरूप गो प्रभृति व्यक्ति को प्रकाश करने मे सक्षम नहीं है। वाक्यपदीय ग्रन्थ मे उक्त है—गो व्यक्ति स्वरूपत गो पदार्थ नहीं है, एवं गो भिन्न अन्य पदार्थ भी नहीं है, किन्तु गोत्व जाति का सम्बन्ध हेतु गो—अर्थात् गो पदजन्य शाब्दबोध का विषय है।

उक्त स्थल मे जिस प्रकार लक्षणा का प्रयोजन नहीं है, उस प्रकार 'कट कृत हो' कहने से कर्त्ता, सुम करो, कहने से कटादि कर्म, एवं प्रवेश करो, कहने से गृह, एवं अन्न ग्रासादि कहने से भक्षण करो,—आक्षेप लभ्य है। स्थूलाकृति देवदत्त दिन मे भोजन नहीं करता है, अर्थात् वह रात्रिभोजी है। अर्थापत्ति से इसका बोध होता है। अतएव उक्त स्थलसमूह मे उपादानलक्षणा नहीं है। केवल 'कुन्ता प्रविशन्ति' स्थल मे उक्त लक्षणा है। 'गङ्गायां घोष' गङ्गा मे घोष निवास करता है। यहाँ शैत्य पावनत्वादि स्वगुण समर्थन हेतु लक्षणलक्षणा है ॥२५॥

गोत्वस्य स्वकर्त्तृक बन्धन कथ स्यादिति पुरुषस्य परामर्शे जाते सति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, नतु गोशब्देन शक्त्या लक्षणया वा व्यक्तिरुच्यते।

विशेषणे गोत्वे क्षीणा पर्यवसिता शक्ति – सामर्थ्य यस्यास्तथाभूता अभिधा विशेष्य गोव्यक्ति न गच्छेत्, विशेष्ये न तिष्ठेदित्यर्थ। उक्तञ्च वाक्यपदीये व्याकरणे—गौर्गोव्यक्ति स्वरूपेण सास्नादि मत्त्वादिना गौन गो पदार्थ। नाप्यगौ र्गोभिन्नानामश्वादिपदार्थानामर्थ, किन्तु गोत्वाभिसम्बन्धाद् गोत्वजाति-सम्बन्धाक्षेपवशाद् गौ र्गोपदज शब्दबोधविषय। यथा गोपदस्थले अक्षेपलभ्य व्यक्तौ प्रयोजनाद्यभावाल्लक्षणा नास्ति, तथैव कट क्रियतामित्युक्ते कर्त्ता आक्षेपलब्ध, तत्रापि लक्षणा नास्तीत्याह—क्रियतामिति। एव 'त्व कुरु' इत्युक्ते कट कर्माक्षेपलभ्यम्, प्रविशेत्युक्ते गृह कर्माक्षेपलभ्यम्, पिण्डीमन्नादिग्रासमित्युक्ते भक्षयेति क्रिया आक्षेपलभ्या, इत्यादिष्वाक्षेप एव, नतु लक्षणा, प्रयोजन-रूढ्योरभावादिति भाव। केवलमिति—वेणुर्गायति, कुन्ता प्रविशन्तीत्यादौ सा उपादानलक्षणा। शक्त्या कुन्तविशिष्ट इत्युक्ते कुन्तस्य विशेषणत्वेनोपलक्षणतया कदाचित्तद्रहितस्यापि तु पुरुषस्य

पुनर्वार लक्षणा के भेदद्वय को कहते हैं—पराक्षेप इति। निज सिद्धि हेतु पराक्षेप होता है। जिस प्रकार 'कुन्ता प्रविशन्ति' स्थल मे अचेतन कुन्त अस्त्र का प्रवेश सिद्धि हेतु पर पुरुष का आक्षेप होता है। अत यह उपादान लक्षणा है। एव 'गङ्गाया घोष' स्थलमे पर तीर मे गङ्गागुण शैत्य पावनत्वादि का समर्पण हुआ है। यहा लक्षणलक्षणा है। एतदृश द्विविध मे शुद्ध लक्षणा है। 'प्रागुपादान लक्षणे' इसकी व्याख्या करते है—प्रागवर्त्तिनीति— द्वयारव्यारोप इति। 'गौर्वाहीक' यहा उपचार है। तत्र वेणोरिति। स्वतन्त्र रूपसे गान करना वेणु के पक्षमे असम्भव है। अत वेणु पद से श्रीकृष्ण का आक्षेप हुआ है। इस प्रकार वीणा गान शास्त्रोक्ता श्रुतिमनुकुर्वन्तीति। यहाँ जानना होगा—जहा जाति व्यक्ति की अविनाभाव व्याप्ति है, अर्थात् सम्बन्ध है, वहा जाति के द्वारा व्यक्ति का आक्षेप होता है। 'पीना देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहा अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा रात्रिभोजित्व की सिद्धि होती है। अतएव उक्त स्थल मे उपादानलक्षणा नही होती है। कारण, उक्त लक्षणा—बीज अर्थात् प्रयोजन रूढि का अभाव है। गो पदकी व्यक्ति मे लक्षणा करने मे प्रयोजन वा रूढि नही है, प्रयोजन के विना ही सर्वत्र बोध होता है। वृथा लाक्षणिक प्रयोग विज्ञ व्यक्ति के पक्ष मे अनुचित है, यह जानना होगा। इसको कहते हैं—श्रुत्युक्त गो पदार्थ का गोत्व का निज कर्त्तृक बन्धन कैसे होगा? अत पुरुष का अनुसन्धान होने पर जाति के द्वारा व्यक्ति का ग्रहण होता है। किन्तु गो शब्द से शक्ति का लक्षणा द्वारा व्यक्ति का ग्रहण नहीं होता है।

विशेषण गोत्व मे क्षीण—पर्य्यवसिता शक्ति, अर्थात् सामर्थ्य जिसकी, इस प्रकार अभिधा, विशेष्य—गो व्यक्ति को प्रकाश करने मे सक्षम नहीं है। अर्थात् विशेष्य मे शक्ति नहीं रहती है। व्याकरण सम्बन्धीय ग्रन्थ वाक्यपदीय मे उक्त है—गौर्गो व्यक्ति स्वरूपेण सास्नादिमत्त्वादिना गौन गोपदार्थ। नाप्यगौ र्गोभिन्नानामश्वादिपदार्थानामर्थ, किन्तु गोत्वाभिसम्बन्धाद्गोत्वजातिसम्बन्धाक्षेपवशाद् गौर्गोपदज शब्दबोधविषय। जिस प्रकार गोपद स्थल मे आक्षेपलभ्य व्यक्ति मे प्रयोजनादि अभाव लक्षणा नही है, उस प्रकार 'कट क्रियताम्' इस कथन मे कर्त्ता आक्षेपलब्ध है, वहाँ लक्षणा नही है। इसको कहते है—क्रियतामिति। एव 'त्व कुरु' कहने पर 'कट' कर्म आक्षेपलभ्य है। 'प्रविश' कहने से 'गृह' कर्म आक्षेपलभ्य है, उक्त स्थल समूहमे आक्षेपलभ्य है, किन्तु लक्षणा नही है, प्रयोजन रूढि नहीं है।

पूर्वैश्चतुर्भिर्भेदैः सा द्वाभ्यामाभ्याञ्च षड्विधा ।
पूर्वैः सारोपादिभिराभ्यामुपादानलक्षणा-लक्षणलक्षणाभ्याम् ॥२६॥

गूढव्यङ्ग्या गतव्यङ्ग्या व्यक्तव्यङ्ग्येति
सा त्रिधा ।
सा लक्षणा । गतव्यङ्ग्येह नाद्रियते ॥२७॥

गूढव्यङ्ग्या यथा—

उत्कीर्णैरिव चित्रितैरिवनवोद्भिन्नैरिवोद्यद्वय
कुन्दे विभ्रमितैरिव स्मरकलाशाणे निशातैरिव ।
मग्नोन्मग्नतयालसैरिव भृशं लावण्यवापीजले
केयं केलिकलानिधिः सुबल ! मे चेतो हरत्यङ्गकैः ॥२८॥

प्रवेश सम्भवात् । अत कुन्तस्य प्राधान्येन प्रवेशनार्थ कुन्ता इति लाक्षणिक पदमुक्तम् । एवमेव सर्वत्र लक्षणाया प्रयोजन ज्ञेयम् ॥२५॥

पूर्वैरिति—गौणशुद्धभेदेन सारोपा द्विविधा, तथा साध्यवसानापि द्विविधा । एव क्रमेण चतुर्भि र्भेदैरित्यर्थ ॥२६॥

नाद्रियते इति । तथा च गूढव्यङ्ग्या व्यक्तव्यङ्ग्येति द्विधैव लक्षणा ॥२७॥

हे सुबल ! कय केलिकलानिधिरङ्गकै सर्वैर्मे चेतो हरति । कथम्भूत ? उत्कीर्णैरिव, उत्कीर्णत्वमस्त्रेण वर्धकिकृतकाष्ठादिपुत्तलीना निर्माणसौष्ठवातिशय, तेनाङ्गस्य निर्माणविशेषोध्वनित ।

केवलमिति—'वेणुर्गायति' 'कुन्ता प्रविशन्ति' यहा उपादान लक्षणा है । शक्ति के द्वारा कुन्त विशिष्ट कहने पर विशेषण रूपमे कुन्त का ग्रहण होता है । कदाचित् उपलक्षण होने पर कदाचित् कुन्त रहित पुरुष का भी प्रवेश सम्भव होगा । अत कुन्त को प्राधान्य देकर प्रवेश कराने के निमित्त 'कुन्ता' यहा लाक्षणिक पद कहा गया है । इस रीति से ही सवत्र लक्षणा का प्रयोजन जानना होगा ॥२५॥

उक्त रीति से शुद्ध एव गौण भेद से पूर्वोक्त सारोपा एव साध्यवसाना लक्षणा चतुर्विध है । अधुना उपादानलक्षणा एव लक्षणलक्षणा का वर्णन हुआ है । इसके सहित लक्षणासमूह षडविध है । अर्थात् गौण एव शुद्ध भेद से सारोपा द्विविधा हैं, तथा साध्यवसाना भी दो प्रकार हैं । इस प्रकार क्रम से चार प्रकार भेद के सहित उपादान लक्षणा लक्षणलक्षणा के योग से षड विध लक्षणा हैं ॥२६॥

उक्त लक्षणा—गूढ व्यङ्ग्या, गतव्यङ्ग्या एव व्यक्त व्यङ्ग्या भेद से त्रिविध हैं । उसके मध्यमे गतव्यङ्ग्या यहा आदृत नहीं है ॥२७॥

गूढ व्यङ्ग्य का उदाहरण—हे सखे सुबल ! कौन यह केलिकलानिधि कामिनी, सुकुमार अङ्ग समूह के द्वारा मेरा चित्त हरण कर रही है ? जिस कामिनी के अङ्गसमूह मदीय नयनयुगल मे उत्कीर्ण के तुल्य, चित्रित के तुल्य, नवोद्भिन्न के सदृश, उदीयमान वयोरूप कुन्द मे विभ्रमित के समान, कामदेव के कलारूप शाणास्त्र मे निशात के तुल्य, लावण्यरूप दीर्घिका के सलिल मे निविड रूपमे मग्न एव उन्मत्तता हेतु अलस के सदृश विराजित हैं ॥२८॥

अत्रोत्कीर्णादिना लाक्षणिकानां पदानां व्यङ्ग्यं गूढं तथा प्रकाशते। तथा हि— उत्कीर्णैरिति निर्माणविशेष, चित्रितैरिति नानावर्णत्वात् कर-चरण-नयन-भ्रूलतादिषु ये ये वर्णास्तैश्चित्रितत्वम्, नवोद्भिन्नैरित्यङ्कुरत्वारोपेण कोमलत्वं ध्वन्यते। उद्यद्वय कुन्द इति सुबलितत्वम्, स्मरकलाशाण इति हि स्मरकृतशाणतया चेतोभेदकत्वम्, मग्नोन्मग्नतयेति, लावण्याधिक्यम्। इदं त्वस्पष्टमेव।

अगूढा यथा—

लीलाविलासमहुरिम गरिमा आहीर अकुमारि आण।
कण्हाणुरा अगरुणा, विअड्ढभाअ पढाइदो झत्ति॥

अत्र पठित इत्यगूढं व्यङ्ग्यम् ॥२९॥

उद्यद्वय एव कुन्द, 'कुंद' इति प्रसिद्धस्तत्र भ्रमि प्राप्त, स्मरस्य कलारूपे शाणे खरात इति प्रसिद्धे निशातस्तीक्ष्णीकृत, तेन कन्दर्पकृततीक्ष्णत्वेनाङ्गस्य चेतोभेदकत्वमायातम्। लावण्यतया या वापी— दीर्घिका, तस्या जले भृशमतिशयेन मग्नोन्मग्नतयालस शोभमान, अनेन लावण्याधिक्य ध्वनितम् ॥२८॥

लीलेति—'लीलाविलासमधुरिमगरिमा आभीरकुमारिकानाम्। कृष्णानुरागगुरुणा विदग्धभाव पाठितो झटिति।' अत्र पाठित इत्यगूढं विदग्धभाव वैदग्ध्य पाठित इति। तेन श्रीकृष्णप्रेयसीषु वैदग्ध्यादिक सव शीघ्रमयत्नेनैव स्वयं प्रकाशितमभूदिति व्यक्त चव्यङ्ग्यम् ॥२९॥

हे सुबल! यह कौन केलिकलानिधि है? जो स्वीय अङ्गसमूह द्वारा मदीय चित्तापहरण कर रही है? किस प्रकार अङ्गसमूह के द्वारा, वर्द्धकि के अस्त्र के द्वारा निर्मित काष्ठ पुत्तलिका के समान, निर्माण सौष्ठवातिशययुक्त है। इससे अङ्गसमूह का निर्माणातिशय ध्वनित हुआ है। उद्यद्वय ही कुंद कुँद खरात इस प्रकार प्रसिद्ध यन्त्र से घूमाकार निर्मित। स्मर—कामदेव के कलारूप शाण मे अर्थात् प्रसिद्ध खरात के द्वारा तीक्ष्णीकृत। इससे कन्दर्पकृत तीक्ष्णीकृत होने के कारण अङ्गसमूह की चित्त मे प्रवेशयोग्यता सूचित हुई है। लावण्यरूपी जो दीर्घिका है उसके जलमे अतिशयरूपमे मग्न उ मग्न होने के कारण अतिशय शोभित है। इससे लावण्यातिशय ध्वनित हुआ है ॥२८॥

यहाँ उत्कीर्णादि लाक्षणिक पद का व्यङ्ग्यार्थ गूढ भाव से प्रकाशित हुआ है। तथा हि—उत्कीर्ण पद से सौष्ठवातिशय, चित्रित पद से कर चरण नयन भ्रूलता का जो विविध वर्ण द्वारा चित्रितत्व, नवोद्भिन्न पद से अङ्कुरत्वारोप हेतु कोमलत्व, उदीयमान वयस, कुन्द पद से सुबलितत्व, कामदेव के कलारूप शाणास्त्र से निशात पद से स्मरकृत शाणितत्व हेतु चित्तभेदकत्व एव मग्न उ मग्न पद से लावण्याधिक्य का अनुभव अस्पष्ट भाव से ही हुआ है।

आभीर कुमारिकाओं की लीलाविलास मधुरिमगरिमा का विदग्धभाव का अध्ययन कृष्णानुराग गुरुने कराया है। "लीलाविलासमधुरिमगरिमा आभीरकुमारिकाणाम्।
कृष्णानुरागगुरुणा विदग्धभाव पाठितो झटिति॥"

यहाँ पाठित—अध्ययन कराया है। यह अगूढ विदग्ध भाव को पढाया है। इससे श्रीकृष्ण प्रेयसीवृन्द मे वैदग्ध्यादि समस्त आशु अयत्नसे ही स्वयं प्रकाशित होते हैं। यह व्यक्तव्यङ्ग्य है ॥२९॥

अथ का नाम व्यञ्जनेति व्यञ्जनालक्षणमाह,—

अभिधा-लक्षणाक्षेप तात्पर्य्याणां समाप्तित ।
व्यापारो ध्वननादिर्य शब्दस्य व्यञ्जना तु सा ॥

'गङ्गाया घोष' इत्यत्र गङ्गाशब्द प्रथम वाचकत्वेनाभिधावृत्तिक, अन्यथा— अन्वयाभाव एव न स्यात्। अनन्तरमभिधासमाप्तौ लक्षणामाश्रित्य तट लक्षयति। तदनन्तर लक्षणा समाप्तौ व्यञ्जनामाश्रित्य शैत्य पावनत्वादिक प्रयोजन व्यनक्ति। लक्षणाया सव्यङ्ग्या व्यङ्ग्यतया निरूपितत्वात् सव्यङ्ग्यलक्षणैव व्यञ्जनाजननी ॥३०॥

अभिधेति। समाप्तित —इत्यभिधादिजन्यबोधसमाप्त्यनन्तर ध्वननादिध्वन्यर्थबोधस्यादि कारण यो व्यापारो वृत्तिविशेष, सा शब्दस्य व्यञ्जनेत्यर्थ। तत्पद कुत्रचिदुद्देश्यलिङ्ग कुत्रचिच्च विधेयलिङ्ग गृह्णातीति नियमेनात्र विधेयलिङ्गग्रहणात् सेति स्त्रीलिङ्गम्। अन्यथेति—अन्वयाभावलक्षणास्थले प्रथमतोऽभिधा-जन्यबोधस्यास्वीकारे अन्वयाभावो लक्षणाबीजम न्वयानुपपत्तिर्न स्यात्। प्रथमतोऽभिधया गङ्गापदार्थे घोषपदार्थस्यान्वयानुपपत्तिज्ञानादेव लक्षणाया प्रवृत्तिरतोऽभिधाया अभावे लक्षणैव न भवतीति भाव।

ननु व्यञ्जनया यादृशार्थबोधो भविष्यति, तादृशार्थबोधो लक्षणयैव भविष्यति, अल व्यञ्जनाया स्वतन्त्रवृत्तित्वस्वीकारेणेत्याह—लक्षणाया इति। लक्षणा हि द्विविधा—व्यङ्ग्यसहिता व्यङ्ग्यरहितेति च। तत्र व्यङ्ग्यसहितैव लक्षणाव्यञ्जनाजननी व्यञ्जनावृत्तिजन्य ज्ञानोत्पादिकेति पूर्वपक्ष ॥३०॥

'व्यञ्जना' किसको कहते हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा उपस्थित होने पर उसका लक्षण निर्दिष्ट हो रहा है। अभिधा, लक्षणा, आक्षेप एव तात्पर्य्य जन्य बोध समाप्त होने के पश्चात् ध्वन्यर्थ बोध का कारणीभूत जो व्यापार प्रतीयमान होता है, तादृश शब्द की वृत्ति को ही व्यञ्जना कहते हैं।

'गङ्गा मे घोष रहता है' यहा गङ्गा शब्द प्रथमत अभिधावृत्ति द्वारा गङ्गा पद का वाचक होता है। अभिधाजन्य बोध प्राप्ति न होनेसे अन्वयाभावरूप लक्षणा का कारण स्फुटित नही होता है। अभिधा प्राप्ति के पश्चात् उक्त शब्द लक्षणा को आश्रय करके तट पदार्थ को बोध कराता है। अनन्तर लक्षणा समाप्त होने से व्यञ्जना को आश्रय करके शैत्य पावनत्वादिरूप उक्त वृत्ति अङ्गीकार का प्रयोजन होता है।

सव्यङ्ग्यत्व एव अव्यङ्ग्यत्वरूप मे लक्षणा का भेद निरूपित होने पर भी सव्यङ्ग्य लक्षणा ही जननी है ॥३०॥

समाप्तित —अभिधादिजन्य बोध समाप्ति के अनन्तर ध्वननादि ध्वन्यर्थ बोध का आदि कारण जो व्यापार वृत्तिविशेष है, उसी को शब्द की व्यञ्जना वृत्ति कहते हैं। तत् पद कही पर उद्देश्यलिङ्ग होता है, कहीं पर विधेयलिङ्ग होता है। इस नियमसे यहा विधेयलिङ्ग का ग्रहण होने से 'सा' स्त्रीलिङ्ग प्रयोग हुआ है। अन्यथेति। लक्षणा स्थल मे प्रथम—अभिधाजन्य बोध स्वीकार न करने पर अन्वयाभाव रूप लक्षणा का बीज उपलब्ध नही होगा। प्रथम—अभिधा के द्वारा गङ्गा पदार्थ मे घोष पदार्थ का अन्वय अनुपपत्ति ज्ञान से ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। अत अभिधा के अभाव से लक्षणा ही नही होगी। सारार्थ यह है।

(काव्यप्रकाशे द्वितीयोल्लासे २८, २९)—

"प्रयोजनेन सहित लक्षणीय न लक्षयेत् ।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य फलमन्यदुदाहृतम् ।"

इत्युक्ते "शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाव" इत्युक्तेश्चाभिधालक्षणयोरुपक्षीणत्वात्,

---

अत्र समाधानमाह—प्रयोजनेन शैत्यपावनत्वादिना स हित लक्षणीय तीर न लक्षयेत्, न लक्षणाजन्य बोधविषयो भवेत् । अभिधाया निवृत्यनन्तरम न्वयानुपपत्तिज्ञानाद् यथा लक्षणाया प्रवृत्तिस्तथा लक्षणाया निवृत्यनन्तरमहो अनेन विशेषदर्शिना गङ्गातीरे घोष इत्यनुक्त्वा गङ्गाया घोष इति प्रयोग कथ कृत ? तस्माल्लक्षणाव्यङ्ग्य शैत्यपावनत्वादिकमेतदभिप्रेत भविष्यतीति परामर्शात् व्यञ्जनावृत्त्या शैत्य पावनत्वादिबोधो भ ति । ननु एकस्मिन्नेव क्षणे लक्षणया शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीरबोध सर्वेषामनुभव प्रसिद्ध इति भाव ।

अत्रार्थे प्राचीनाना सम्मतिमाह—ज्ञानस्येति । अभिधालक्षणाज यज्ञानविषय प्रवाहतीरादि, अन्यो व्यञ्जनार्थभिन्नफल व्यङ्ग्यार्थशैत्यपावनत्वादिबोधो अभिधालक्षणयोरविषय, उदाहृत प्राचीन रिति शेष ।

व्यञ्जना के द्वारा जिस प्रकार बोध होता है, उस प्रकार अर्थबोध लक्षणा के द्वारा जब होता है, तब स्वतन्त्ररूप से व्यञ्जना वृत्ति को मानना निष्प्रयोजन है। समाधान हेतु कहते है—लक्षणा दो प्रकार हैं, व्यङ्ग्यसहिता ए। व्यङ्ग्यरहिता। उसमे व्यङ्ग्यसहिता लक्षणा ही व्यञ्जना जननी है। अर्थात् व्यञ्जनावृत्तिजन्य ज्ञानोत्पादिका है—यह पूर्वपक्ष है ।।३०।।

प्रयोजन के सहित तीरादि लक्षणीय को कहने मे सक्षम नही होता है। कारण, अभिधा लक्षणादि जन्य ज्ञानका विषय प्रवाह तीरादि एक रूप पदार्थ है। व्यङ्ग्यार्थ स्वरूप शैत्य पावनत्व फलादि अन्य एकरूप पदार्थ है। एव अभिधा लक्षणा द्वारा वाचनिक लाक्षणिक शब्दादि का विराम, अर्थात् शाब्दबोध समाप्ति के पश्चात् व्यापाराभाव होता है, अर्थात् पुनर्वार उस उस वृत्ति के द्वारा अर्थान्तर बोधक सामर्थ्य का अभाव होता है। ये सब प्राचीन उक्ति हेतु अभिधा एव लक्षणा का निज निज अर्थ बोधन के अनन्तर उपक्षीणत्व स्वीकृत होता है। एव आकाङ्क्षा, योग्यता एव आसक्तियुक्त पदसमूह ही वाक्य है, एव तादृश वाक्यार्थ तात्पर्यार्थ सिद्ध होने से जहा वाक्य व्यतीत भी एक पद का पदांश का व्यञ्जकत्व हेतु ध्वनि काव्यत्व अङ्गीकृत होता है, वहाँ उक्त पद का पदांश मे तात्पर्य वृत्ति का अनादर हेतु—अभिधा, लक्षणा एव तात्पर्य से भिन्ना व्यञ्जना नामिका चतुर्थ एक वृत्ति का स्वातन्त्र्य अवश्य स्वीकार करना होगा ।।३१।।

समाधान हेतु कहते हैं—शैत्य पावनत्वादि प्रयोजन के सहित लक्षणीय तीर की लक्षणा नहीं होगी। अर्थात् लक्षणा जन्य बोध विषय नही होगा। अभिधा निवृत्ति के अनन्तर अन्वयानुपपत्ति ज्ञान से जिस प्रकार लक्षणा की प्रवृत्ति होती है, उस प्रकार लक्षणा की निवृत्ति के अनन्तर अहो विज्ञ व्यक्तिने 'गङ्गा तीर मे घोष है' इस प्रकार न कहकर 'गङ्गा मे घोष है' ऐसा क्यो कहा ? इस हेतु लक्षणा व्यङ्ग्य शैत्य पावनत्वादि इसका अभिप्रेत है, इस प्रकार विचार से शैत्य पावनत्वादि बोध होगा। किन्तु एक समय मे ही लक्षणा के द्वारा शैत्य पावनत्वादि विशिष्ट तीर का बोध होना—अनुभव प्रसिद्ध नहीं है।

आकाङ्क्षादिमत् पदकदम्बस्य वाक्यत्वे वाक्यार्थस्यैव तात्पर्य्यार्थत्वे वाक्य विनापि एकस्य च पदस्य पदांशस्यापि व्यञ्जकत्वेन ध्वनिकाव्यत्वाङ्गीकृते स्तात्पर्य्यार्थस्याप्यनादराद्व्यञ्जना-नाम तुरीयावृत्तिरङ्गीकार्यैव ॥३१॥

ननु गङ्गाया घोष इत्यत्राभिधालक्षणाभ्या प्रवाहतीरबोधानन्तर गङ्गापदात् पुनर्लक्षणयैव शैत्य-पावनत्वादि बोधो भवतु, किं व्यञ्जनास्वीकारेणेत्यत प्राचीनाना वचनान्तरमाह—शब्दबुद्धीति। वाचनिक-लाक्षणिकशब्दादीना विरम्य अभिधया वा सकृच्छाब्दबोधमुत्पाद्येत्यर्थ । व्यापाराभाव पुनरपि लक्षणया अभिधया वार्थान्तरबोधे सामर्थ्याभाव , किन्तु स्वतन्त्रव्यञ्जनावृत्त्या अर्थान्तरबोधे सामर्थ्यमस्तीति भाव । तथा च यादृशवृत्त्या सकृच्छाब्दबोधो जातस्तादृशवृत्त्या पुनस्तत्पदजन्यशाब्दबोधो नोत्पद्यत इति सिद्धान्त । उपक्षीणत्वात् शैत्यपावनत्वादिबोधेऽप्रयोजकत्वादित्यर्थ ।

ननु लक्षणायातिरिक्ता या तात्पर्य्यवृत्तिस्तयैव शैत्यपावनत्वादिबोधो भवतु, कथ व्यञ्जनाया स्वतन्त्रवृत्तित्व स्वीकर्त्तव्यम् ? तत्राह—आकाङ्क्षेति। आकाङ्क्षायोग्यतासत्तियुक्तपदसमूहात्मकत्व वाक्यम्। तादृशवाक्यार्थमेव तात्पर्य्यत्वम्। अतस्तादृशवाक्यार्थस्यैव तात्पर्य्यार्थत्वे सिद्धे यत्रैकपदस्य पदांशस्य ध्वन्यर्थबोधकत्वम्, तत्रैकपदस्य तात्पर्य्यवृत्तेरसम्भवाद् व्यञ्जनाया स्वतन्त्रवृत्तित्व स्वीकरणीय-मित्यर्थ । तुरीयेति—अभिधालक्षणातात्पर्य्यातिरिक्ता चतुर्थीवृत्तिर्व्यञ्जना नाम्नी स्वीकार्य्यैवेत्यर्थ ।

इस विषय मे प्राचीन सम्मति को कहते हैं—ज्ञानस्येति। अभिधा लक्षणा जन्य ज्ञान विषय—प्रवाह तीरादि हैं। अन्य व्यङ्ग्यार्थ भिन्न फल है। व्यङ्ग्यार्थ शैत्य पावनत्वादि बोध—अभिधा लक्षणा का विषय नहीं है। प्राचीन पण्डितों का कथन इस प्रकार है।

'गङ्गाया घोष' यहा अभिधालक्षणा के द्वारा प्रवाह तीर बोध के अनन्तर गङ्गा पद से पुनर्वार लक्षणा के द्वारा ही शैत्य-पावनत्वादि बोध हो, व्यञ्जना स्वीकार करने की आवश्यकता क्या है ? प्राचीन व्यक्तियों का इस प्रकार कथन को कहते हैं—शब्दबुद्धीति। वाचनिक लाक्षणिक शब्द प्रभृति एक बार शाब्दबोध उत्पन्न करके विरत हो जाते हैं, अर्थात् पुनर्वार लक्षणा अभिधा के द्वारा अर्थबोध नहीं होता है, अर्थात् सामर्थ्य नहीं रहती है। किन्तु स्वतन्त्र व्यञ्जनावृत्ति की सामर्थ्य अर्थान्तर बोध मे है। अतएव जिस वृत्ति के द्वारा एकबार शाब्दबोध होता है, उसके द्वारा पुनर्वार शाब्दबोध उत्पन्न नहीं होता है, इस प्रकार सिद्धान्त है। उपक्षीणत्वात्—अर्थात् शैत्य पावनत्वादि बोध के प्रति कारण नहीं है।

लक्षणा के अतिरिक्त जो तात्पर्य्य वृत्ति है, उससे शैत्य पावनत्वादि बोध हो, व्यञ्जना का स्वतन्त्र वृत्तित्व मानने की आवश्यकता क्या है? उत्तर मे कहते हैं—आकाङ्क्षेति। आकाङ्क्षा योग्यतासत्ति युक्त पद समूहात्मक वाक्यत्व है। उस प्रकार वाक्यार्थत्व ही तात्पर्य्यत्व है। अत तादृश वाक्यार्थ का ही तात्पर्य्यार्थत्व सिद्ध होने पर जहा एक पद का पदांश का वा ध्वन्यर्थ बोधकत्व है, वहा पद की तात्पर्य्यवृत्ति असम्भव होने के कारण व्यञ्जना का स्वतन्त्रवृत्तित्व स्वीकार करना कर्त्तव्य है। तुरीयेति—अभिधा लक्षणा तात्पर्य्य से अतिरिक्ता वृत्ति व्यञ्जना नामिका स्वीकार्य है। अनन्तर जहा एकपद की ही ध्वनि के द्वारा ध्वनि का व्यवहार होता है, वहाँ एकपदमे तात्पर्य्य होना असम्भव के कारण व्यञ्जना वृत्ति स्वीकार्य है। इसका कथन पूर्वमे हुआ है ॥३१॥

तथा हि—भणिओ वल्लवइणा, अज्जसुत्तमहुपुरी गन्ता ।
इअ भणिअ अज्जात्र, पिअइ बहूसवणपुडएण ॥
(भणितो वल्लवपतिना अद्य सुतो मधुपुरीं गन्तौ ।
इति भणितमाय्यया पिबति बधू श्रवणपुटकेन ॥)

इत्यत्र पिबतीति पद लाक्षणिकम्, तेन गृहशून्यत्वमस्या अभिलषितमित्यस्यार्थस्य व्यञ्जकत्वात् पुनर्व्यञ्जना वृत्तिमाश्रित्य व्यञ्जक भवति ।

ये तु 'सोऽयमिषोरिव दोघदीर्घोऽभिधाव्यापार' ।' इत्यधिदधति, त एव प्रष्टव्या —कि भवद्भिरभिधाया दीघदीघव्यापारत्वेन लक्षणाव्यञ्जनयोरेव खण्डन क्रियते, कि व्यञ्जनाया एव ? आद्यश्चेत्तदा 'गङ्गाया घोष ' इत्यत्र गङ्गायामित्यत्रान्वयायोगात् मुख्याथबाधेऽभिधैव नास्ति, तदभावात् कथ तस्या दीर्घदीर्घत्वम्, येन तटो लक्षणीय ? द्वितीयश्चेत्तदा

अथ यत्र तपदस्यैव ध्वनिना ध्वनिकाव्यमिति व्य हारस्तत्तकपदस्य तात्पर्य्यासम्भवाद् व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार्येति पूवमुक्तम् ॥३१॥

तत्रोदाहरणमाह—तथा हीति । "भणितो वल्लभपतिना अद्य सुतो मधुपुरीं गन्ता ।
इति भणित आयया पिबति बधू श्रवणपुटकेन ॥"

वल्लवपतिना व्रजराजेन, आयया जटिलया, पिबतीति—पिबति शब्दस्य पानासम्भवात् पिबति पद सादरश्रवणे लाक्षणिकम् । तेन लाक्षणिकपदप्रयोगेन अस्या बध्वा गृहशून्यत्वम्, गृहे पतिराहित्य-मभिलषितमिति निश्चितम् । एतादश गृहशून्यत्वरूपाथस्य पुनर्व्यञ्जनावृत्तिमाश्रित्य व्यञ्जक पिबतीति लाक्षणिकपदमेव भवति ।

अथ—अन्विताभिधानवादिना मते अपदार्थाना शाब्दबोधे सवथा भान नास्ति । तन्मते विशेषण-विशेष्ययो शाब्दबोधे सम्बन्धभानाथ विशेषणान्वित एव विशेष्ये विशेष्यपदस्याभिधा स्वीकरणीया, विशेषणादिपद कवल तात्पर्य्यमात्रग्राहकम् । एव सति विशेषणान्विते अभिधेव लक्ष्याथव्यङ्ग्यार्थान्वितेऽपि

वल्लवपति के निर्देशानुसार अद्य मेरा पुत्र मधुपुरी को जायेगा, आर्या जटिला का इस वाक्य को गोपबधू श्रवणाञ्जलि से पान कर रही है ।

यहा आदरातिशय से श्रवण कर रही है, इस अर्थमे पान कर रहीं है, यह पद लाक्षणिक है, एक व्यञ्जना वृत्ति को आश्रय करके उक्त पद 'गृहशू यता इसकी अभिलषणीय है' इस अथ का व्यञ्जक है ।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं– अभिधाव्यापार—शर के वेगाख्य सस्कार जात व्यापार के समान अति दीघतर है । अर्थात् अभिधा की निज सामर्थ्य ही इस प्रकार है कि—उससे उसका व्यञ्जनारूप दीघतर व्यापार स्वीकार करना कत्तव्य है ।

उन सबको जिज्ञास्य यह है कि—अभिधा का दीघ दीघ व्यापारत्व हेतु आप सब लक्षणा व्यञ्जना को स्वीकार नहीं करते है, अथवा केवल व्यञ्जना को अस्वीकार करते है? यदि प्रथमपक्ष अभिमत होता है तो—'गङ्गा मे घोष निवास करता है' यहा गङ्गा पदाथ के अन्वय के अयोग्यता हेतु जब मुख्यार्थ

'पि अ इ बहू सवण पुडएण' इत्यत्र वचनस्य पेयत्वरूपमुख्यार्थबाधे लाक्षणिकतया लक्षणया सादरश्रवणरूप लक्ष्यमर्थं जनयित्वा पिबतीति शब्द उपक्षीण । गृहशून्यत्वमस्या अभीष्ट मित्यपरोऽर्थ केन प्रत्याय्यताम् ? उपक्षीणत्वे तु शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाववादिन एव साधका ।

नन्विदमनुमानेनैव साधनीयम्, किं व्यञ्जनया ? तथाहि—'इअ भणिअ अज्जाए पिअइ बहूसवणपुडएण' इत्यत्र इय गोपवधू पत्युर्गृहान्तरितत्वाभिकाङक्षिणी श्वश्रूक्तगृहपतिप्रवास श्रवणे साभिलाषत्वात् । या नैव सा नैव यथा तदितरेति केवलव्यतिरेकीहेतुरिति चेन्न साभिलाषत्वहेतो प्रमाणान्तरादप्राप्तेरसिद्धत्वम्, अनुमानान्तरात्तत्प्राप्तौ प्रसाध्याङ्गत्वञ्च ।

विशेष्यपदस्याभिधा वक्तव्या । अल लक्षणा व्यञ्जनारूपस्वतन्त्रवृत्तिद्वयस्वीकारेण । एतन्मत दूषयितु मुपन्यस्यति—येत्विति । इषोर्वाणस्य वेगाख्यसस्कारवशाद् दीघदीघक्रियारूपव्यापार इव अभिधाया अपि स्व सामर्थ्यवशात् सोऽय लक्षणा व्यञ्जनारूपदीघदीघव्यापार स्वीकत्तव्य इति येऽभिदधति—वदन्ति, त एव प्रष्टव्या ।

आद्यश्चेति, गङ्गाघोषयो सम्बन्धभानाथ घोषाधिकते प्रवाहे गङ्गापदस्याभिधा वाच्या, तत्र गङ्गाया घोषस्यान्वयासम्भवात् । मुख्याथबोधेनाभिधव नास्ति, कुतो लक्ष्याथव्यङ्ग्याथयोर्भानाथमभिधाया दीघदीघव्यापारस्य सम्भावनापि ?

ननु गङ्गाया घोषस्यान्वयासम्भवाल्लक्षणाया स्वतन्त्रवृत्तित्वमस्तु, व्यङ्ग्यार्थेत्वनुपपत्त्यभावात् कथ व्यञ्जनाया स्वतन्त्रवृत्तित्व स्वीकरणीयमिति द्वितीयपक्षस्याथ, तमपि दूषयति—द्वितीय इति ।

की बाधा हो रही है, सुतरा अभिधा का अस्तित्व ही नही रहता है । तब कैसे उसका दीघ दीघ व्यापार स्वीकार किया जा सकता है, जिससे तट पदाथ लक्षित हो सकता है ?

यदि द्वितीय पक्ष अभिप्रेत होता है तो—'गोपबधू श्रवणाञ्जलि द्वारा पान कर रही है' इस वाक्यमे पेयत्वरूप मुख्याथ की बाधा होने पर लाक्षणिकता हेतु लक्षणा द्वारा स दर श्रवणरूप लक्ष्य अथबोध करा कर जब 'पान कर रही है' यह क्रिया उपक्षीण हो गई, तब 'गृहशून्यता इसकी अभिलषणीय है' इस प्रकार अथबोध किस उपाय से हो सकता है ? कारण—पूर्वाचार्यवृन्द के मतमे शब्दसमूह निज निज अथबोध कराकर उपक्षीण होते हैं ।

अभिधा, लक्षणा द्वारा वाचनिक लाक्षणिक शब्दादिका शाब्दबोध समाप्ति के पश्चात् व्यापाराभाव होता है । अर्थात् पुनर्वार उक्त वृत्ति के द्वारा अर्थान्तर बोधन सामथ्य का अभाव होता है ।

कह सकते हैं कि—अनुमान के द्वारा उक्त अथ का समाधान करेंगे, व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार का प्रयोजन क्या है ? 'आर्या जटिला का वाक्य को गोपबधू श्रवणाञ्जलि से पान कर रही है' यहाँ गोपबधू—पति का गृहान्तरितत्व की अभिलाषिणी है, कारण—वह श्वश्रू कथित पति प्रवास श्रवणमे अभिलाषिणी है । जो बधू, पति का गृहान्तरितत्व की काङक्षिणी नही है, वह कभी भी श्वश्रू कथित पति प्रवास श्रवण मे अभिलाषिणी नहीं होती है । जिस प्रकार कृष्णानुरागिणी भिन्ना नारी है, अर्थात्

किञ्च, पत्युगृ हान्तरितत्वाभिकाङ्क्षित्वमेवास्या न साध्यम्, अपि तु गृहशून्यत्वे सति कृष्णोऽनाभिसार्य इति वस्त्वेव। 'तत् कुतो लभ्यताम्' पुनरनुमानान्तर कार्यम्—तथाहि इय स्वगृहाधिकरणककृष्णाभिसारकाङक्षिणी, श्वश्रूक्तपतिप्रवाससादरश्रवणे सति पत्युर्गृहान्तरितत्व प्रति साभिलाषत्वादिति चेन्न, गृहशून्यत्वे साभिलाषत्व हेतु, कृष्णाभिसाराकाङक्षित्व साध्य प्रति नकान्तिक, तदन्यथापि तत् सम्भवात्। प्रकरणवशादिति चेत्, पूर्ववद्दोषापत्ति ॥३२॥

ननु पिबतीति पदमेव लक्षणाया सादरश्रवणमुक्त्वा पुनर्लक्षणया गृहशून्यत्वरूप व्यङ्ग्यार्थं कथयिस्यतीत्यत आह—उपक्षीणत्वे त्विति। पुनर्लक्षणाया अर्थान्तरबोधस्यासामर्थ्ये त्वित्यर्थ।

नन्विति। इद गृह विहाय पत्युरन्यत्रगमनमस्या अभिलषणीयमनुमानेनैव साधनीयम्। अनुमान प्रकारमाह—तथाहीति। इति भणितमाध्यया। पिबति बधू श्रवणपुटकेनेत्यत्र इय गोपवधूरिति पक्षोद्देश, पत्युगृ हान्तरितत्व गृहव्यवधान गृहाद यत्रगमनमिति यावत्। तथा च पत्युगृ हत्यागपूर्वकान्यत्र गमनाभिलाषिणत्व साध्यमिति भाव श्वश्रूक्तगृहपतिप्रवासश्रवणे साभिलाषत्वादिति हेतुप्रयोग।

अत्रान्वये दृष्टान्ताभावेनान्वयसहचरज्ञानजन्यान्वयव्याप्तिज्ञानासम्भवादता व्यतिरेकसहचरज्ञानजन्य व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमाह—या नवमिति या बधू पत्युगृ हान्तरितत्वाकाङक्षिणी न भवति, तथा च साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपव्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमेव हेतुरिति भाव। तत्र दृष्टान्त यथेति।

पतिप्रेमानुरागवती नारी जिस प्रकार उस प्रकार दशापन्ना नहीं होती है, उस प्रकार है। इस प्रकार केवल व्यतिरेकी हेतु के द्वारा अनुमान की विलक्षण सिद्धि होती है। किन्तु विचार करने से—यहाँ साभिलाषत्वरूप हेतु की असिद्धि होती है। कारण—अपर किसी प्रमाण द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं होती है। अनुमानान्तर के द्वारा उक्त अभिलाषरूप ज्ञान की प्राप्ति होती है—कहने से प्रसाध्याङ्ग नामक दोष की प्रसक्ति होती है। कारण, प्राकृत अनुमान स्थलमे जो साभिलाषत्वरूप हेतु का अङ्गत्व स्वीकार करते हैं, अपर एक अनुमान के द्वारा उक्त हेतु का हेतुत्व सिद्ध करना पडेगा।

और भी—पति का गृहान्तरितत्वाकाङक्षित्व ही यहा साध्य है, ऐसा भी नहीं। गृहशून्य होने पर श्रीकृष्ण कहा अभिसारित होगे, यही साध्य है। किन्तु उक्त तात्पर्य्यलाभ हेतु पुनर्वार अपर एक अनुमान करना होगा। जिस प्रकार—यह बधू, स्वगृहे कृष्णाभिसार आकाङक्षिणी है, कारण—श्वश्रू कथित पति का प्रवास सवाद को आदरपूर्वक सुनकर यह तदीय गृहान्तरित्व विषय मे साभिलाष भाव को प्रकाश करती रहती है। किन्तु, यह भी निर्दोष नहीं है। कारण, कृष्णाभिसार विषय मे साकाङक्षत्वरूप साध्यत्व के प्रति गृहशून्यता विषयमे साभिलाष रूप हेतु अव्यभिचारी नहीं है। श्रीकृष्णाभिसार मे आकाङक्षा न होने पर भी पति के प्रति विद्वेष हेतु तदीय प्रवासमे बधू का साभिलाषत्व की सम्भावना है।

कह सकते हैं कि—गोपीविषयक प्रकरण हेतु यहा हेतु को व्यभिचार शङ्का नहीं की जा सकती है। यह भी मनोरम नहीं है। कारण, इस हेतु के हेतुत्व सिद्धि निमित्त हेतुत्व का घटक कृष्णानुरागित्वादि का ज्ञानार्थ पुनर्वार अनुमानान्तर को स्वीकार करने से पूर्वोक्त प्रसाध्याङ्गत्वरूप दोष हो सकता है। अर्थात् अनवस्था दोष प्रसङ्ग होगा ॥२३॥

किञ्च, – हिअअ च्चेअ अणच्छ माण सिणि ण उणमदे अग ।
आलिग न्त पआण, णहग्ग पडिबिंबिअ कण्ह ।।
(हृदय चैवानच्छ, मनस्विनि न पुनस्तेऽङ्गम् ।
आलिङ्गन्ति पदाना, नखरा प्रतिविम्बित कृष्णम् ।।)

इत्यत्रास्या पादनखरा इति मानेनावृतसर्वाङ्गत्व निमीलितनयनत्वञ्च, अन्यथा चरणोपा त गतस्य कृष्णस्य दर्शनासहिष्णुतोपपत्ते । पश्चात् सखीवचसा सम्भ्रम पदसम्वरणञ्च, तदनु च मानस्य शैथिल्यम्, कृष्णस्य च प्रणयज-विनयमाहात्म्याच्चरणान्तिकमागतस्यापि

तदितरा कृष्णानुरागिणी या बन्धूस्तद्भिन्ना पतिविषयकानुरागवतीत्यर्थ । केवलेति—केवलव्यतिरेक व्याप्तिविशिष्टो हेतुरिति भाव । अत्रानुमाने हेत्वसिद्धिरूपदोषमाह—नेति । न च लक्षणया सादरश्रवणस्य बाध सति स्वयमेव पत्यु प्रवासेऽभिलाषस्यापि बाधो भविष्यति, कथ साभिलाषत्वरूपहेतुज्ञानस्यासिद्धिरिति वाच्यम, अनभिलषितवस्तुनोऽपि सादरश्रवण-सम्भवात् । यथा केनचिदुक्तस्य 'अद्य एव ग्राम राजा धक्ष्यति' इति वचनस्य ग्रामदाहेऽभिलाषाभाववत् पुरुषकर्त्त कसादरश्रवणमनुभवसिद्धम्, तद्वदत्रापि पत्य प्रवासेऽभिलाषाभ वेऽपि तस्या स दरश्रवणसम्भवात् ।

ननु व्यभिचाराभावसम्पादक नानाविशेषणविशिष्टहे त्वन्तरेण साभिलाषत्वस्यानुमान कार्यम्, तदा तु न दोष इत्याह—अनुमाना तरादिति । तस्य साभिलाषत्वरूपज्ञानस्य प्राप्तौ प्रसाध्याङ्गत्व प्रसाध्याङ्ग त्वरूपदोषस्य प्रसङ्ग इत्यर्थ । अनुमाना तरेण साभिलाषत्वरूपहेतु प्रसाध्य तस्य हेतो प्रकृतानुमानेऽङ्गत्वमेव दोष । तथाहि—साभिलाषत्व साधकस्याव्यभिचारिहेतोर्ज्ञानार्थ पुनरप्यनुमानान्तर कार्यमिति रीत्या अनवस्थाप्रसङ्गात् ।।३२।।

व्यञ्जनावृत्तेरस्वीकारे दोषा तरमप्य ह—किञ्चेति । अनुमानप्रकारमाह—तथाहीत । इय बधूरिति पक्ष । स्व गृहाधिकरणककृष्णाभिसरकाङक्षित्व साध्यम्, श्वश्रूक्त पतिप्रवासे सादरश्रवणसमान कालीनपतिप्रवासविषयकाभिलाषवत्त्वरूपहेतुसाहशसाध्य प्रति नकान्तिक नाव्यभिचारी । व्यभिचारमेव स्पष्टयति—नदिति । कस्याश्चित् श्रीकृष्णाभिसारे आकाङक्षाया अभावेऽपि पति प्रति द्वेषादेव पतिप्रवासेऽभिलाषसम्भवात् ।

किञ्च, अयि मनस्विनि ! तुम्हारा हृदय ही अनच्छ है, अर्थात रोषावेश मे कलुषित है, किन्तु अङ्ग उस प्रकार अनच्छ नहीं है । देखो, तुम्हारे चरण नखर, प्रतिविम्बित श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर रहा है ।

यहाँ मानिनी श्रीराधा का चरणनखर इस प्रकार निर्देश होने के कारण, अभिमान हेतु नखरातिरिक्त तदीय अन्यान्य अङ्ग आवृत है, इस पतीत होता है । उनका नयनत्व भी उस प्रकार प्रतीत होता है । कारण, नयन उन्मीलित होने पर चरणसमीप मे समागत श्रीकृष्ण का दर्शन कर उनकी असहिष्णुता होती । अर्थात् श्रीकृष्ण को चरण प्रान्तमे पतनोद्यत निरीक्षण कर वह स्थानान्तर को चली जाती । इस प्रकार सखी वचन के अनुसार सम्भ्रम के सहित राधिका कर्त्तृ क चरण सम्बरण, अन तर मान का शैथिल्य, प्रणय हेतु विनय के कारण श्रीराधिका के चरण समीपमे समागत होने पर भी

तत्स्पर्शाक्षमत्वम्, सख्याश्च कृष्णपक्षपातित्वम्, स्व सखीमानक्षये साग्रहत्वञ्चेत्यादीनि वस्तूनि एकयत्र व्यञ्जनया गम्यन्ते । भवद्भिरत्र कत्यनुमानप्रयोगा कर्त्तव्या ? तेन लाघवाद् व्यञ्जना एव श्रेयसीति स्थितम् ॥३३॥

अर्थोऽपि व्यञ्जको ज्ञेय,

अथ इति जात्यपेक्षया वाच्य लक्ष्य व्यङ्गचस्त्रय एवार्था गृह्यन्ते ॥३४॥

ननु गोपीना प्रकरणवशाद्धेतौ कृष्णरागिणीत्व विशेषण देयमित्यताऽन्यस्मिन्या तदभावादेव न व्यभिचार इत्याह—प्रकरणेति । पूर्ववदिति—हेतु घटकस्य कृष्णानुरागिणीत्वस्य पतिप्रवासे साभिलाषत्वादेर्ज्ञानार्थ पुनरप्यनुमानान्तरस्वीकारेण पूर्ववत् प्रसाध्याङ्गत्वरूपदोष पत्ति स्यथ ।

व्यञ्जनावृत्तेरस्वीकारमते पुनरपि दोष तरमाह—किञ्चेति । मानिनी श्रीराधिका प्रति श्रीकृष्णपक्षपातिनी काचित् सखी आह—हिअअमिति । 'हृदयमेवानच्छ मनस्विनि न पुनस्तेऽङ्गम् ।
आलिङ्गन्ति पदाना नखरा प्रतिविम्बित कृष्णम् ।'

हे मनस्विनि मानिनि ! नखरा इति पदेन नखरेष्वेव प्रतिविम्बनम्, नत्वङ्गेषु । इद त्वन्गाङ्गानामावरणे एव सम्भवतीत्याह—मानेनावृतसर्वाङ्गत्वमिति । अन्यथा नयनस्यामीलने प्रणामार्थ चरणापातगतस्य कृष्णस्य दर्शनेन सद्य श्रीकृष्णस्य सम्मुखस्थितावसहिष्णुत्वोपपत्तेरसहिष्णुता स्यादित्यर्थ । तथा च—श्रीकृष्णस्य प्रणामोद्यममालक्ष्यव तत उत्थाया यत्र गमन प्रसज्जतेति भाव । कृष्णस्य चेति—विनयवशात् चरणनिकट प्राप्तस्यापि कृष्णस्य मानभङ्ग विना चरणस्य स्पर्शाक्षमत्व प्रतिविम्बितमालिङ्गन्तीति पदेन मानक्षये साग्रहत्वम्, साग्रहेण सह वर्त्तमानत्वम् ॥३३॥

अथ इति—तथा च यथा पदस्य व्यञ्जनावृत्तिरुक्ता, तथापदजन्यार्थस्यापि व्यञ्जनावृत्तिवक्तव्या । एव वाच्य लक्ष्य व्यङ्गचार्थाना व्यञ्जनावृत्ति सम्भवतीत्यर्थ । नन अर्थोऽपीत्येकवचन न सम्भवतीत्यत आह—जात्यपेक्षयेति । वस्तुतस्त्रय एवार्था इति बहुवचनमेव ॥३४॥

मानभञ्जन व्यतीत श्रीकृष्ण—चरण स्पर्श करने मे अक्षम होते थे । सखी श्रीकृष्ण पक्षपातित्व एव स्वसखी का मानक्षय हेतु आग्रहशीलत्व, ये सब पदार्थ—एक व्यञ्जना वृत्ति द्वारा उपलब्ध होते हैं । अनुमानवादिगण के पक्षमे यहा विविध अनुमान प्रयोग करना ही होता है । अतएव लाघवता निबन्धन व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर है ॥३३॥

पद के समान अर्थ को भी व्यञ्जक जानना चाहिये । यहाँ सामान्य धर्मो को आश्रय कर 'अर्थ' इस प्रकार एक वचनान्त पद का प्रयोग हुआ है । साराथ यह हैकि—वाच्य, लक्ष्य एव व्यङ्गच ये तीन प्रकार अर्थ की ही व्यञ्जनावृत्ति स्वीकृत हुई है ।

जिस प्रकार पद की व्यञ्जनावृत्ति कही गई है, उस प्रकार पदजन्य अर्थ का भी व्यञ्जनावृत्ति माननी चाहिये । एव वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्गचार्थ की व्यञ्जनावृत्ति सम्भव है । अर्थोऽपि—यहा एक वचन का प्रयोग सम्भव नही है ? कहते है—जाति को लक्ष्य कर प्रयोग सम्भव है । वस्तुत 'त्रय एव अर्था' इस प्रकार बहु वचन ही है ॥३४॥

क्रमेणोदाहरणानि—अज्जे घरकरणिज्ज, सव्व णित्वाहिद जेव्व ।
एण्हिं समसमणत्थ, जउणाइ सिणाणमदिसदु ॥

'आर्य्ये ! गृहकरणीय सर्वं निर्वाहितमिव । इदानीं श्रमशमनार्थं यमुनाया स्नानमादिशतु' अत्र निश्चिन्ताह यमुनास्नानच्छलेन तत्तटे खेल त कृष्णमवलोक्य तत्रैव विश्रमण करोमिति वाच्यार्थेनव व्यज्यते । लक्ष्यस्य यथा—'भणिओ वल्लअवइणा' इत्यादौ 'पिअइ बहू सवणपुडएण' इत्यत्र च श्वश्रूक्तपतिप्रवाससादराकर्णन लक्ष्यम्, तेन स्वगृहशून्यत्वे सति श्रीकृष्णोऽत्राभिसार्य्य इति व्यङ्ग्यम् ॥३५॥

व्यङ्ग्यस्य यथा—इध वृन्दावनमज्झे, णीसकणिसुत्तमो रमिआण अरो ।
अलिमेत्तभुत्तकुसुमो, रमणिज्जो जामुणो कुञ्जो ॥
(इह वृन्दावनमध्ये, नि शङ्कनिसुप्तमयूरमृगनिकर ।
अलिमात्रभुक्तकुसुमो, रमणीयो यामुनकुञ्ज ॥)

अत्र निर्जनत्व व्यङ्ग्यम्, तेन समुचितमिदमेव सङ्केतस्थानम् । हे सखि ! तदत्रैव कृष्ण सङ्गमनीय इति व्यङ्ग्यान्तरम् ॥३६॥

अज्जेति— आर्य्ये गृहकरणीय सर्वं निर्वाहितमेव ।
इदानीं श्रमशमनाथ यमुनाया स्नान समादिश्यताम् ॥' वाच्यार्थेनवेति—अत्र श्लोके पदस्य व्यञ्जनावृत्तेरभावादत्र निश्चिन्ताहमित्यादिव्यङ्ग्यार्थो वाच्याथस्यव भवति, नतु पदस्येत्यथ, लक्ष्यस्येति—भणितो वल्लवपतिनेत्यादौ, पिबति बधू श्रवणपुटकेनेत्यत्र सादरश्रवण लक्ष्याथ, तेन लक्ष्यार्थेन व्यञ्जनावृत्त्या स्वगृहशून्यत्वादिव्यङ्ग्यार्थो ज्ञेय ॥३५॥

इध इति—'इह वृन्दावनमध्ये नि शङ्कनिषुप्तमयूरमृगनिकर ।
अलिमात्रभुक्तकुसुमो रमणीयो यामुन कुञ्ज ॥' तेत व्यङ्ग्यार्थेन समुचितमित्यादि व्यङ्ग्यार्था तर बोध्यम् ॥३६॥

क्रमश उदाहरण प्रदर्शित होता है । 'आर्य्ये' गृह काय तो सम्पन्न हुआ है, अधुना आदेश करें, यमुना मे जाकर स्नान के द्वारा श्रमापनोदन करूँ ।

इस श्लोक मे 'सम्प्रति मै निश्चिन्त होकर यमुना स्नानच्छल से तदीय तटमे क्रीडाशील श्रीकृष्ण को अवलोकन कर उस स्थान मे ही विश्राम करूँगी' इस प्रकार व्यङ्ग्याथ—वाच्याथ द्वारा ही उपलब्ध हो रहा है । लक्ष्याथ पूर्व श्लोक मे है—'वल्लवपति के निर्देशानुसार अद्य मेरा पुत्र मधुपुरी गमन करेगा । आर्य्या जटिला का इस वाक्य को गोपबधू श्रद्धाञ्जलिपुट से पान कर रही है ।'

यहाँ श्वश्रू कथित पति का प्रवास सवाद को सादर से श्रवण करना ही लक्ष्य है । एव उसके द्वारा 'गृहशून्य होने पर उस गृह मे कृष्ण अभिसारित होगे' यही यहा व्यङ्ग्य है ॥३५॥

व्यङ्ग्याथ इस प्रकार है—'हे सखि वृन्दावन के मध्य मे यमुनातट सन्निविष्ट यह कुञ्जवन कीदृश रमणीय है ! देखो, मृग एव मयूरगण निश्चिन्त मन से यहाँ निद्रित हैं ।' उस श्लोकमे कुञ्ज का

नानार्थानाञ्च भेदका । संयोगाद्या,

नानार्थानां शब्दानां नियमं प्रति संयोगादय एव सहाया भेदका निर्धारका भवन्ति । आदिशब्देन वियोगादयश्च । तथाहि—संयोगश्च वियोगश्च विरोधसहचारिता ।

साक्षिध्यमन्यशब्दस्य देशः सामर्थ्यमौचिती ।
लिङ्गमर्थः प्रकरणं कालो व्यक्तिरिमा दिशः ॥

क्रमेणोदाहरणानि यथा—

स कौस्तुभो भाति विधुः शेते विधुरकौस्तुभः ।—संयोग-वियोगौ ।
रामार्जुनौ तथा कर्णार्जुनौ सह नियुध्यतः ।—विरोधः ।
राधामाधवयोः क्रीडा मधुमाधवयोर्दिने ।—सहचारिता ।

ननु नानार्थविधुप्रभृतिशब्दानां कदाचित् कृष्णादिवाचकता, कदाचिच्चन्द्रादिवाचकता, अत्र नियामकाभावः । नापि शक्तिलक्षणादीनां कस्या अपि वर्त्तेर्नियामकता सम्भवति, अतो वस्त्वन्तरस्य संयोगवियोगादिरेवात्र नियामक इत्याह—नानार्थानाञ्चेति । एतन्मते तात्पर्यस्य वृत्तित्वाभावेन तज्ज्ञानस्य कारणता नास्ति । श्लिष्टनानार्थस्थले व्यञ्जकपदसमभिव्याहारेण व्यञ्जनावस्यैव निर्वाह इति ज्ञेयम् । नियमं प्रतीति 'स कौस्तुभो भाति विधुः' इत्यत्र विधुशब्दार्थस्य श्रीकृष्णस्यैव बोधः, नतु च द्रस्येत्येतादृशः नियमः प्रतीत्यर्थः । दिशो दिग्दर्शनमात्रम् । शेते इति—कौस्तुभवियुक्तो विधुः शेते इत्यत्रापि कृष्णस्यैव बोधः, नतु चन्द्रस्य, चन्द्रे कौस्तुभस्य संयोगाभावाद् वियोगोऽप्यसम्भवः । 'नासंयुक्तस्य वियोगः' इति नियमादिति भावः । 'रामार्जुनौ युध्यतः' इत्यत्र परशुराम सहस्रार्जुनयोरेव बोधः' नतु दशरथपुत्रपाण्डुपुत्रयोः, शास्त्रे तयोर्विवादाश्रवणात् । एवं कर्णार्जुनावित्यत्रापि न सहस्रार्जुनस्य बोधः,

---

निर्जनत्व ही व्यङ्ग्य है । एवं इससे 'यही समुचित सङ्केत स्थान है, अतएव सखि ! इस स्थान में मेरे सहित श्रीकृष्ण को सम्मिलित करो ।' इस प्रकार अन्य एक व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है ॥३६॥

नानार्थ शब्द स्थलमें प्रकृतार्थ बोध हेतु संयोगादिरूप सहाय ही निर्द्धारक होता है । 'संयोगादि' पद स्थित आदि शब्द के द्वारा वियोगादि को जानना होगा । उक्त विषय में प्रमाण यह है—संयोग वियोग, विरोध, सहचारिता, अन्य शब्द का साक्षिध्य, देश, काल, सामर्थ्य, औचित्य, लिङ्ग, अर्थ, प्रकरण, व्यक्ति प्रभृति शब्दार्थ की विशेष प्रतिपत्ति के प्रति कारण है ।

क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'कौस्तुभाश्रित विधु विराजित हैं ।' 'कौस्तुभशून्य अवस्थामें विधु शयन कर रहे हैं ।' उभयत्र ही कौस्तुभ शब्द का संयोग, वियोग हेतु विधु शब्द श्रीकृष्ण का प्रतिपादक हुआ है, चन्द्र का नहीं । कारण, चन्द्र में कौस्तुभ संयोग की सम्भावना नहीं है, एवं जिसमें जिसकी सम्भावना नहीं है, उससे उसका वियोग भी सम्भावित नहीं होता है । 'राम एवं अर्जुन, एवं कर्ण—अर्जुन परस्पर युद्ध में प्रवृत्त हुए हैं ।' यहाँ रामार्जुन शब्द से परस्पर विरोध श्रवण हेतु परशुराम एवं कार्त्तवीर्यार्जुन ही बोधित हुआ है । दशरथ तनय एवं पाण्डु तनय का बोध नहीं होता है । एवं द्वितीय अर्जुन शब्द से पाण्डुतनय का बोध होता है । कार्त्तवीर्यार्जुन का बोध नहीं होता है ।

कृष्णस्य मुनिवर्यस्य ।— अन्यशब्दस्य सान्निध्यम् ।

व्रजेऽसौ परमेश्वर ।— देश । असौ श्रीनन्दो व्रजे राजेत्यर्थं ।

मधुना कोकिलो मत्त प्रमत्ता मधुना बधू ।—सामर्थ्यमौचिती च ।

उत्पद्यहृदये तस्या पीडको मकरध्वज ।—लिङ्गम् । कामत्वे पीडकत्वमेव लिङ्गम् ।

स्थाणु कृष्णगुणामोदी— अर्थ ।

देवो जानाति मे मन ।—अत्र प्रकरणवशाद् युष्मदि ।

चित्रभानुर्विभातीति दिनेऽर्को निशि पावक ।— काल ।

शास्त्रे भागवतम्, भागवत स्याद्भगवज्जने ।—व्यक्ति ।

एष्वभिधालक्षणयोरनवसरत्वात् संयोगादेरेव व्यञ्जकता । यथा— ॥३७-४३॥

किन्तु पाण्डवस्तत्र । 'मधुमाधवयो' इति माधव शब्दाऽत्र वैशाखवाची तत्सहचारेण मधु शब्दोऽपि चैत्रवाची, नतु वसन्तवाची । कृष्णस्येति—मुनिवर्यपदसान्निध्यात् कृष्णशब्दोऽत्र वेदव्यासवाची, नतु कृष्णवाची । मधुनेति—वसन्तस्य कोकिलवध्वोमत्तोत्पादने सामर्थ्यमौचित्य च वर्त्तते, नतु मधुशब्दस्यार्थान्तररूपमदिराया । मकरध्वजपदनात्र कन्दर्पस्यैव बोध नतु समुद्रस्य, तस्य हृदये पीडाजनकत्वाभावात् । स्थाणुशब्देन महादेवस्यैव बोध, नतु शाखापल्लवादिरहितशुष्कवृक्षस्य, तस्य कृष्णगुणामोदिपदार्थत्वाभावात् । कमप्य दरणीय पुरुष प्रति केनाप्युक्तम्—'देवो जानाति मे मन' इति । अत्र प्रकरणवशाद् देवशब्दो युष्मदर्थक एव, नतु 'राजा भट्टारको देव' इत्यभिधानाद्राजबोधक । पावकोऽग्नि । व्यक्तिरिति— व्यक्तिशब्देनात्र पुनपुसकादिलिङ्गमेव बोध्यम् । तथाहि नपुसकलिङ्गत्वे भागवत शास्त्रम्, पुलिङ्गे भागवतो वैष्णव इत्यर्थ । एष्विति— विधुशब्दस्य नानार्थत्वेन कृष्णचन्द्रयोरुभयोबोधकत्वेऽपि कौस्तुभसयोगरूपव्यञ्जकपदसान्निध्याद्व्यञ्जनावृत्त्यैवश्रीकृष्णमात्रबोधकत्वमिति ज्ञेयम् ॥३७ ४३

मधु माधव शब्द—वैशाख वाचक है, एव उसके साहचर्य से मधु शब्द भी चैत्र वाचक है, वसन्त वाचक नहीं है । 'मुनिश्रेष्ठ कृष्ण हैं' यहा मुनि शब्द का सान्निध्य हेतु कृष्णशब्द—वेदव्यास वाचक है । 'यही व्रजमे परमेश्वर हैं' यहा 'व्रज' देश वशिष्ट्य निबन्धन यही—अर्थात् श्रीनन्द ही व्रज के अधिपति है, इस प्रकार समझना होगा । 'मधु समागम मे कोकिलकुलमत्त एव बधूमण्डली मत्त हुई हैं ।' यहा कोकिल एव बधू की मत्तता उत्पादन सामर्थ्य एव औचित्य है—मधु मे । मधु शब्द से वसन्त का बोध होता है, मदिरा का नहीं । 'मकरध्वज उसके हृदय मे उदित होकर पीडा प्रदान कर रहा है ।' यहाँ मकराकार ध्वज म पीडादायकत्व की असम्भावना हेतु मकरध्वज पद से कन्दर्प का बोध होता है । कन्दर्प बोधन के पक्ष मे पीडादायकत्व ही यहाँ प्रमाण है । 'स्थाणु कृष्णगुण से आमोदित होते हैं ।' यहा स्थाणु शब्द से महादेव का बोध होता है, किन्तु शाखा-पल्लवादिरहित शुष्क वृक्ष का बोध नहीं होना है । कारण, उनके गुण से आमोदप्राप्तिरूप प्रयोजन की सम्भावना शुष्क वृक्षमे नहीं है । 'देव मेरा अन्त करण को जानते हैं ।' यहा प्रकरण हेतु देव शब्द युष्मद अर्थ का वाचक है नृपादिका वाचक नहीं है । 'चित्रभानु प्रदीप्त है' यहा कालानुसार अर्थ बोध होगा । अर्थात् दिवसमे होनेसे सूर्य का, एव रात्रिकालमे होनेसे—अग्नि का बोध होगा । भागवत शब्द क्लीबलिङ्गमे प्रयुक्त होनेपर शास्त्र का बोध होगा, पुरुषोत्तम लिङ्गमे प्रयुक्त होनेपर भगवद्भक्तजन बोधक होगा ॥३७ ४३॥

अद्यालोकिघनप्रभ सखि मया कश्चिद्विहारक्रमे
लोलत्केशरमालिकाविलुलितग्रीवो हरि कानने ।
य सद्यस्तनकुम्भिकुम्भनिकरक्षोदे नखभ्रशिभि
र्मुक्तौघैर्धवली करोति यमुनातीरे निकुञ्जस्थली ॥

अत्रानेकार्थशब्दानामनेकससगस्य व्यञ्जकता । एवमनुकरणशब्दानाञ्च व्यङ्ग्य प्रति वाक्यार्थ एव व्यञ्जक ॥४४॥

अधुना क व्ये उदाहरणमाह—अद्येति । हे सखि ! अद्य कानने विहारक्रमे गमनपरिपाट्या कश्चिद्धरि सिंहो मया आलोकि । कीदश ? घना निबिडा प्रभा यस्य तथाभूत । पुन. कीदश ? लोल ती चाञ्चल्ययुक्ता या केशराणा स्क धस्थितरोमविशेषाणा मालिकाश्रेणीतया विलुलिता मर्दिता अर्थात्तया विशिष्टा ग्रीवा यस्य स । य सिंह कुम्भिकुम्भनिकराणा हस्तिकुम्भसमूहाना सद्यस्तने तत्क्षणात्पन्ने क्षोदे नखक्ग्णकविदारे सति क्षोदसमये नख करणभ्र शिभिरध पतितर्मुक्तासमूहैर्निकुञ्ज स्थलीर्धवली करोति ।

पक्षे,—कानने श्रीवन्दावने विहारक्रमे प्रेयसीभि सह विहारपरिपाट्या स्थितो हरि श्रीकृष्णो मया आलोकि । कीदश ? घनस्य मेघस्येव प्रभा यस्य स । पुनश्च लोल ती या केशराणा नागकेशराणा माला तया विलुलिता ग्रीवा यस्य स । य श्रीकृष्ण सद्यस्तत्क्षणे स्तनरूपाणा हस्तिकुम्भसमूहाना नखाघातेन क्षोदे सति तत्समये हारत्रोटनात् नखभ्र शिभिर्मुक्तासमूहैर्यमनातीरे निकुञ्जस्थलीधवलीं करोति । अत्र विशेषणीभूताना घनविहारकेशरपदादीनामनेकार्थसम्बन्धेन विशेष्यस्य नानार्थहरिपदस्याप्यर्थ द्वयमात्र बोधकत्वम्, नत्विन्द्रादिबोधकत्वमिति ज्ञेयम् ॥४४॥

उक्त विषयसमूह का उदाहरण काव्य मे इस प्रकार है—हे सखि ! सद्यस्तनकरिकुम्भ समूह के विदारण समय मे जिनके नखरच्युत मुक्ता कलाप से यमुनातीर सन्निहित निकुञ्जस्थली धवलीकृत होती है, विलोल केशरमालिका द्वारा जिनके ग्रीवादेश सतत शोभित है, अद्य वनस्थल मे विहार क्रम से घनप्रभ वह हरि मदीय दृष्टि गोचर हुये है।

इस श्लोक का एक अथ इस प्रकार है,—सद्यस्तन, अर्थात् तत्क्षणोत्पन्न करिकुम्भ भेदन से जिसका नखभ्रष्ट मुक्ता कलाप से निकुञ्जकानन धवलीकृत होता है, जिसका ग्रीवादेश, केशरमालिका अर्थात् जटाजाल से विलुलित है । घनप्रभ अर्थात् निविड कातियुक्त तादृश किसी हरि को अर्थात् सिंह को वनस्थल मे उसका गमन समयमे मैने देखा है ।

पक्षा तर मे—वनस्थल मे—वृन्दावन मे, विहार क्रम—प्रेयसीवृ द के सहित विहार परिपाटि, स्तनरूप करिकुम्भ को नखराघात से विदारण समयमे मुक्ताहारच्छेदन हेतु—सद्य अर्थात् तत्क्षणात् जिनके नखरच्युत मुक्ताकलाप से कुञ्जस्थली धवलित होती है, केशरमालिका से अर्थात् नागकेशर पुष्प माल्य से जिनका ग्रीवादेश विमर्द्दित होता रहता है । घन अर्थात् मेघतुल्य प्रभाशाली तादश श्रीकृष्ण को अद्य मैने देखा है । यहाँ घन, विहार, केशरादि पदसमूह के अनेकाथ सम्बन्ध हेतु 'हरि' पद अथद्वयमात्र का बोधक हुआ है । किन्तु इ द्रादि बाधक नही हुआ है, इस पकार जानना होगा ॥४४॥

यथा—आसा रासविलास-लास्यलहरीमास्वाद्य वाद्यच्छलात्
ता धिक ता धिगिति प्रभाष्य मुरज स्वर्नर्त्तकीर्निन्दति ।
ते-नाना गरिमाधमा इति मुहु पाठस्वरोच्चारणात्
तासा हन्त जुगुप्सते भगवती वाणी च गानक्रमान् ॥

अत्र ते नाना इति पाठ । गरिमाधमा इति गान्धार-ऋषभ-मध्यम धैवत-पुनर्मध्यमा इति तानविशेषस्वरा, ताभ्या ते, नानाविधो योऽगरिमा तेनाधमा इत्यर्थो व्यज्यते ॥४५॥

अथार्थानां व्यञ्जकत्वस्य हेतव ॥

अर्थाना सामान्यत्वेन प्रागुक्ताना वाच्यादीना व्यञ्जकत्वे विशेषहेतव उच्यन्ते ।

अथ यत्र मृदङ्गादीना निरर्थकध्वन्यात्मक-शब्दोत्पत्तिर्जायते, तत्र कवयस्तु यथाकथञ्चिद्वर्णात्मक शब्दस्य सादृश्यमुपलभ्य निरर्थकध्वन्यात्मकशब्देऽपि सार्थकत्वमारोप्य काव्य कुर्वन्तीत्याह—एवमिति । मृदङ्गस्य येऽनुकरणशब्दा वर्णात्मकशब्दस्य सदृशत्वेन प्रतीयमानाव्यक्तध्वन्यात्मक ता धिगिति शब्दास्तेषा सार्थकत्वेनारोपविषयीभूताना स्वर्नर्त्तकीर्धिगिति यो वाक्यार्थ, स तु व्रजसुन्दरीणा सर्वोत्कर्षरूपव्यङ्ग्यार्थ प्रति व्यञ्जक इत्यर्थ । मुरजो वाद्यस्य मृदङ्ग । तासा व्रजसुन्दरीणा रागज्ञापक 'ते नाना' इति कण्ठस्य पाठ । एव 'गरिमाधमा' इत्यक्षरा स्वरा गान्धारादिस्वरवाचका इत्यर्थ । तथा च व्रजसुन्दर्यो यथा रागबोधकान् 'ते नाना' इत्यक्षरान् पठन्ति, सरस्वती तु तदेवाक्षररकार प्रश्लिष्य गन्धर्वाणा गानक्रमान् जुगुप्सते निन्दति । एतदर्थमेव स्पष्टतया आह—अत्रेति । तानविशेषस्वरास्तानविशेषस्वर वाचका इत्यर्थ । सरस्वतीकृतमर्थमेवाह—ताभ्यामिति । ताभ्या पाठस्वरोच्चारणाभ्यामित्यर्थ । ते गन्धर्वा, नानाविधो योऽगरिमा तेनाधमा, गरिमा गुरुत्व, तद्भिन्न नीचत्वम् । तथा च व्रजसुन्दर्यपेक्षया गानशास्त्रे नीचत्वेन गन्धर्वा अधमा इत्यर्थ श्लेषेण व्यज्यत इति भाव ॥४५॥

इदानीं पूर्वोक्त वाच्यलक्ष्य व्यङ्ग्यार्थानामुत्कृष्टसमभिव्याहारवशादुत्कृष्टध्वनिबोधकत्वमाह—अथेति ।

इस प्रकार अनुकरण शब्द स्थल मे वाक्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक होता है । यथा—व्रजसुन्दरीवृन्द की रासविलास कालीन नृत्यलहरी का स्वादग्रहण करके मृदङ्ग वाद्यच्छल से 'ताधिक ताधिक्' इस प्रकार शब्द उच्चारणपूर्वक उस शब्द के अर्थान्तर मे उन सबको धिक उन सबको धिक, जसे इस प्रकार कहकर स्वर्गस्थ नर्त्तकीवृन्द की निन्दा कर रहा है । एव गान के समय उक्त सुन्दरीगण का पुन पुन 'ते नाना' इस प्रकार पाठ स्वरोच्चारण एव गान्धार, ऋषभ, मध्यम, धवत एव पुनर्वार मध्यम, इन सबके आद्यक्षर को लेकर गरिमाधमा यह तानविशेष स्वरवाचक शब्द का जो उच्चारण है, इन दोनो क च्छल से 'ते नाना गरिमाधमा' इस शब्द के अर्थान्तर मे वे नानाविध गरिमा मे अधम हैं' यह कहकर भगवती सरस्वती जसे गन्धर्ववृन्द के गीतिक्रम की निन्दा कर रही है ।

यहा अनुकरण शब्द से तत्सादृश्यात्मक शब्द का आरोप हेतु जो वाक्यार्थ उपलब्ध हो रहा है । वही व्रजसुन्दरीवृन्द का सर्वोत्कर्षरूप व्यङ्ग्यार्थ का व्यञ्जक हुआ है ॥४५॥

वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य भेद से जिस अर्थत्रय का वर्णन पूर्वमे सामान्यत हुआ है, उस अर्थ का व्यञ्जकत्व पक्षमे बोद्धव्य, वक्ता, प्रकृति, काकु, प्रकरण, देश एव कालादिविशिष्ट हेतु होने के कारण

बोद्धव्य-वक्तृप्रकृति-काकुप्रकरणैः सह ।

अत्र (प्रथमकिरणे १७ सख्यकपद्ये) 'यातासिस्वयमेव' इत्यादौ तदानयनार्थं न गता। अपि तूपभोगार्थमिति बोद्धव्य वशिष्ठ्यम् । या प्रतीयमुक्ति साबोद्धव्या योग्या, अयो चेद् भवति, तदाध्वन्यर्थो न सङ्गच्छते । वक्तृवैशिष्ट्य प्रकृतिवैशिष्ट्य प्रकरणवैशिष्ट्याञ्चात्र वक्त्री श्रीराधा, सा च सवश्रेष्ठत्वरूपवशिष्ट्यवती । प्रकृतिश्च तस्या सखी प्रति स्नेह श्रीकृष्णाङ्गसङ्गप्रापण व्याजेन करोतीति यत्, सख्याश्च प्रकृतिर्निजप्रियसखीदूत्यार्थं गता कृष्णेन सह सभोग कथमपि न सम्भवेदिति तथैव ज्ञेया । अतस्तस्या वैशिष्ट्यात्तथावि प्रकरणश्च तत्र मन्तव्यम्, तेन तद्वैशिष्ट्याच्च द्वितीयध्वनिपल्लव ॥४६ ४७॥

काकुवैशिष्ट्य यथा—

अइ जासि जहि विविन, रिक्त घेत्तूण कुसुमभाअण सुमुहि ।
पच्चा अमिस्ससि तुम, न केअल भा अणेण पुण्णेण ॥

अर्थाना वाच्य लक्ष्य व्यङ्ग्यर्थाना व्यञ्जकत्वे विशेषा बोद्धव्यादयो हेतव उच्यन्ते । यमुद्दिश्य वदति बोद्धव्यस्तस्य वशिष्ट्ये उत्कर्षे सति ध्व यर्था प्रवत्तन्ते । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । तत्र 'यातासि' इति पूवमेवोत्तम ध्वनिकाव्योदाहरणे उप यस्तम्, ता तदानयनाथ न गतासि, किन्तु श्रीकृष्णेन सहोपभोगाथ वशिष्ट्स्य फलतोऽथमाह—सा बोद्धव्य योग्या इति । तदा च वैशिष्ट्यपदस्य योग्यत्वमेवाथ इति भा वक्तप्रकृतिप्रकरणाना वशिष्ट्यञ्चात्रव श्लोके ज्ञेयम् । यद्यत सखी प्रति स्नेहात् सव करोति, अतस्त प्रकृतेवशिष्ट्याद्बहवो ध्व यर्था सम्भवन्ति, एव प्रकरणवशिष्ट्यादपि ज्ञेयम् । तथाहि प्रकरण त प्रियसखीमेना श्रीकृष्णेन सह सङ्गमयितु तेनव सह श्रीराधाया प्रागेव युक्ति कृता, यदसौ मया प्रही तदास्या सङ्गस्तथा करणीय इत्यादयो ध्वनयोऽत्र ज्ञेया ॥४६ ४७॥

'अइ जासि' इति । 'अयि यासि याहि विपिन रिक्त गृहीत्वा कुसुमभाजन सुमुखि । प्रत्यागमिष

उन सबका उल्लेख करते हैं । उसके मध्यमे 'सखि तुम रत्न पदक अन्वेषणाथ स्वय ही गई थ पूर्वोक्त इस श्लोक मे 'तुम उस रत्न पदक को लाने के निमित्त नही गई, किन्तु उपभोगाथ ही गई यह अथ, बोद्धव्य वशिष्ट्य से अर्थात् जिसको उद्देश्य कर कहा गया है, उसका उत्कर्ष हेतु उप हुआ है । जिसके प्रति यह कथन हुआ है, वह बोद्धव्य योग्य न होने से ध्वन्यथ भी सङ्गत नहीं हो वक्तृवशिष्ट्य, प्रकृतिवैशिष्ट्य एव प्रकरणवशिष्ट्य भी इस श्लोकमे विद्यमान हैं । कारण, स्वय श्रीर वक्त्री है । आप सवश्रेष्ठत्वरूप वशिष्ट्यशालिनी हैं । सखी के प्रति स्नेह परायणा होकर छलपू श्रीकृष्ण प्राप्ति घटना आप करती हैं । अत तदीय प्रकृति वशिष्ट्य एव तथाविध प्रकरण वशिष्ट्य अनु होता है । इस रीति से यहाँ द्वितीय ध्वनि पल्लव उल्लसित हुआ है ॥४६ ४७॥

काकुवशिष्ट्य यथा—अयि सुमुखि ! तुम रिक्त पुष्पपात्र लेकर वनको जा रही हो जाओ, कि केवल पुष्पपात्र पूण करके ही प्रत्यावत्तन नहीं करोगी । यहाँ केवल पुष्पपात्र परिपूर्ण करके ही तुम

(अयि यासि याहि विपिन, रिक्त गृहीत्वा कुसुमभाजन सुमुखि ।
प्रत्यागमिष्यसि त्व, न केवल भाजनेन पूर्णम् ॥)

अत्र न केवल कुसुमभाजनेनैव पूर्णेनागमिष्यसि, अपितु पूर्णेन मनोरथेनापि, इति नञ् काकु द्योत्यम् ॥४८॥

देशवैशिष्ट्य यथा—

जउणासी अरसिसिरा, कमलवणीप अणधूअकिसलअग्गा ।
जह वल्लीधरपल्ली, धण्णा पेक्खन्ति त देस ॥
(यमुनाशीकरशिशिरा, कमलवनोपवनधूतकिसलयाग्रा ।
यत्र वल्लीगृहपल्ली, धन्या प्रेक्षन्ते त देशम् ॥)

अत्र देशवैशिष्ट्यश्लाघया कृष्णेन सह तत्र मा रमयेति सखी प्रति काचित् स्वमनोरथ प्रकाशयति ॥४६॥

कालवैशिष्ट्य यथा—

एण्हि जलहरसमये, रमणिज्जा रअणवल हीत्त ।
णिवडन्तवारिधारा, गहीरतरमुहरगब्भकुहराओ ॥

त्व न केवलेन भाजनेन पूर्णेन ॥' अत्र नञ् पदोच्चारणे या काकुस्तया द्योत्यमपि तु पूर्णेन मनोरथेनेति ध्वन्यथरूप वस्तु ॥४८॥

जउणेति—'यमुनाशीकरशिशिरा कमलवनोपवनधूतकिशलयाग्रा ।
यत्र वल्लीगृहपल्ली धन्या पश्यन्ति त देशम् ॥' वल्लिभिर्निर्मितानि कुञ्जगृहाणि तेषा पल्लीसमूहो यत्र वृन्दावनदेशे तिष्ठति, त देश धन्या जना पश्यन्ति ॥४६॥

एण्हिमिति—'इदानीं जलधरसमये रमणीया रत्नवलभ्य ।
निपतद् वारिधारागभीरतरमुखरगभकहरा ॥' अत्र वलभी शब्द 'वाङ्गलाघर'

लौटोगी। अर्थात् मनारथ को भी पूण कर प्रत्यावत्तन करोगी। यह ध्व यथ— नञ गर्भ काकु द्वारा द्योतित हुआ है ॥४८॥

देश वशिष्ट्य का उदाहरण—यमुना का जलकण स्पश से जो सतत सुशीतल है, जहा पल्लव का अग्रभाग कमलवन ससर्गि समीरण से विकम्पित होता रहता है, जहाँ तादृश लतागृह पल्ली विराजमान है, पुण्यकर्मा व्यक्ति ही उस देश का दशन करत हैं।

इस श्लोक मे देश वशिष्ट्य की प्रशसा के द्वारा किसी नायिका 'श्रीकृष्ण के सहित इस स्थानमे सङ्ग सम्पादन करो' इस प्रकार निज मनारथ को प्रकाश सखी के निकट कर रही है ॥४६॥

इस वर्षा समय मे निपतित वारिधारा से कुञ्जगभ विवर गभीरतररूप मे प्रतिध्वनित होने से रत्नमय वलभी (सर्वोपरिस्थ गृह विशेष, वाङ्गला घर) अति रमणीय हुआ है। इस श्लोक मे— 'श्रीकृष्ण को वहा पर ले आऊँगी' सखी इङ्गित क्रमसे सङ्केत जिज्ञासु होने पर कालवशिष्ट्य उसके प्रति

(इदानीं जलधरसमये, रमणीया रत्नवलभ्य ।
निपतद्वारिधारा, गभीरतरमुखरगर्भकुहरा ॥)५०॥

आदिशब्दात् प्रसिद्धिवैशिष्ट्य यथा—

करकिशलयलीलाम्बुज निमीलनोन्मीलनातिकुतुकिन्या ।
दक्षिणमक्षिमुरारे, पिधीयते मुच्यते च सिन्धुजया ॥

अत्र मुरारेदक्षिणमक्षिप्रसिद्धिवशिष्ट्यात् सूर्य्यात्मकमिति व्यज्यते ॥५१॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे शब्दार्थवृत्तित्रयनिरूपणो
नाम द्वितीय किरण ॥२॥

इति प्रसिद्ध, सर्वापहिस्थ गृहविशेषवाचक । निपतद्वारिधारया गभीरतरमखरा घोरशब्दविशिष्टा गर्भकुहरा यासा ता, कुञ्जगर्भास्तु सच्छिद्रा । एतेन कुञ्जस्यारमणीयत्वमुक्तम् ।.५०॥

करकिशलयेति—करपल्लवस्थलीलाकमलस्य निमीलनो मीलने मुद्रणे विकसने च कुतुकिन्या सिन्धुजया लक्ष्म्या भगवतो दक्षिणनेत्र कदाचित् पिधीयते, आच्छन्न क्रियते, कदाचि मच्यते च । तथा च सूर्य्यरूप दक्षिणनेत्र यदाच्छन्न क्रियते, तदा चन्द्ररूपवामनेत्रस्य दर्शनेन लीलाकमल मुद्रित भवति । यदा तु मुच्यते, तदा सूर्य्यदर्शनेन लीलाकमल प्रफुल्ल भवतीत्यर्थ । भगवतो दक्षिणनेत्रस्य सूर्य्यत्व सवशास्त्रे प्रसिद्धम् । अत प्रसिद्धवशिष्ट्यादेव नेत्रस्य सूर्य्यत्व ध्वनितमिति ॥५१॥

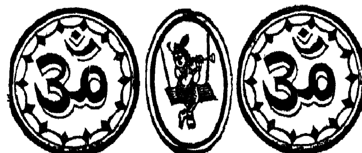
इति सुबोधिन्या द्वितीयकिरण ॥२॥

यह व्यङ्ग्यार्थ कथित हो रहा है कि—इस वर्षा समय मे कुञ्जगृह रमणीय नहीं है, भवन ही सम्प्रति रमणीय है ॥५०॥

आदि शब्द से प्रसिद्धि वशिष्ट्य को जानना होगा। उसका उदाहरण—भगवती कमला, करपल्लवस्थित लीलाकमल का निमीलन एव उन्मीलन मे कौतूहलवती होकर भगवान् मुरान्तक के दक्षिण नयन एकबार आच्छादित एकबार उन्मुक्त करती रहती है। यहा भगवान् मुरारि का दक्षिण नयन प्रसिद्धि वशिष्ट्य हेतु सूर्य्यात्मक रूपमे व्यञ्जित हुआ है।

अर्थात् सूर्य्यरूप दक्षिण नेत्र को जब आच्छादित करती हैं, उस समय वाम नेत्र का दर्शन से लीला कमल मुद्रित होता है। जिस समय उन्मीलन करती है, उस समय सूर्य्य दर्शन से लीलाकमल प्रफुल्ल होता है। भगवान् का दक्षिण नेत्र—सूर्य्य रूपमे शास्त्रप्रसिद्ध है। अत प्रसिद्ध वशिष्ट्य हेतु नेत्र का सूर्य्यत्व ध्वनित हुआ है ॥५१॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदास शास्त्रिकृतानुवादे शब्दार्थ
वृत्तित्रयनिरूपणो नाम द्वितीय किरण ॥२॥



तृतीयकिरणः

अथ ध्वनिनिर्णय

अथ 'ध्वनिरमव' इति काव्यप्रकरणत्वेन निरूपितस्य ध्वनेर्भेदमाख्यातु ध्वनिशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह,—

शब्दार्थादिभिरन्यैश्च ध्वन्यतेऽसाविति ध्वनिः ॥

ध्वनन ध्वनि, ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनि, ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिरिति भावकरणाधिकरण-साधनोऽपि ध्वनिर्भवति। तन्निरासार्थं ध्वन्यतेऽसाविति कर्मसाधन एवेति प्रतिजानीते ॥१॥

अथ ध्वनिनिर्णय

शब्दार्थादिभिरिति शब्द श्च अर्था व च्य लक्ष्य यङ्ग्याश्च। आदिशब्देन श्लेषस्थले पदार्थान्तर-सम्बन्धश्च तरेवम यरनुकरणशब्दश्च ध्व यते व्यञ्ज वृत्त्या बोध्यतेऽसौ शैत्यपावनत्वादिव्यङ्ग्यरूपोऽर्थो ध्वनि कर्मसाधनमेव, नतु ध्वनन ध्वनिरिति भावसाधनम्, तथा सति ध्व यर्थविषयकज्ञानेऽपि ध्वनि-व्यवहारापत्ते।

नवा ध्व यतेऽनेनेति करणसाधनम्, तथा सति ध्वनिकरणे काव्येऽपि ध्वनिव्यवहारापत्ते। नवा ध्वन्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणसाधनम्, तथा सति ध्वनिविषयकज्ञानाधिकरणेऽपि पुरुषे ध्वनिव्यवहारापत्त। तस्मात् कर्मसाधनेन शैत्यपावनत्वाद्यर्थ एव ध्वनिशब्दो योगरूढिरिति भाव ॥१॥

"शरीर शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रसो
गुणा माधुर्याद्या उपमिति मुखोऽलङ्कृतिगण।
सुसस्थान रीति स किल परम काव्यपुरुषो
यदस्मिन् दोष स्याच्छ्रवणकटुतादि स न पर॥"

इस वाक्य मे ध्वनि को काव्य का प्राणस्वरूप कहा गया है। सम्प्रति उसका भेद प्रदर्शन हेतु ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं। शब्द एव अर्थादि एव अनुकरण शब्द द्वारा जो ध्वनित होता है, उसको ध्वनि कहते हैं। यहा ध्वनन—ध्वनि यद्द्वारा ध्वनित होता है, उसका नाम ध्वनि है। जिसमे ध्वनित होता है, उसका नाम ध्वनि है। इस प्रकार भाव, करण एव अधिकरण वाच्य मे भी ध्वनिशब्द साधन की सम्भावना को देखकर उसका निरास करने के निमित्त 'जो ध्वनित होता है' इस उक्ति के द्वारा ध्वनिशब्द की कर्म साधनता ही स्वीकृत हुई है।

शब्द, अर्थ, वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य आदि शब्द से श्लेष स्थल मे पदार्थान्तर सम्बन्ध इन सबके द्वारा एव अनुकरण शब्द के द्वारा 'ध्वन्यते' व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा बोध होता है। शैत्य पावनत्वादि व्यङ्ग्यरूप अर्थ, ध्वनि—कर्मसाधन निष्पन्न ही है। किन्तु ध्वनन ध्वनि' इस प्रकार भाव साधन निष्पन्न नहीं है। ऐसा होने पर ध्वन्यर्थ विषयक ज्ञान मे भी ध्वनि व्यवहार होने लगेगा। 'ध्वन्यतेऽनेन' इस प्रकार करण साधन करनेसे ध्वनिकरण काव्यमे भी ध्वनि व्यवहार होने लगेगा। एव ध्वन्यतेऽस्मिन्निति इत्याधिकरण साधन करने से ध्वनिविषयक ज्ञानाधिकरण होने पर भी पुरुषमे ध्वनि व्यवहार होने लगेगा। अतएव कर्मसाधन के द्वारा शैत्यपावनत्व प्रभृति अर्थमे ध्वनि शब्द— योगरूढि है। यह अभिप्राय है ॥१॥

तदेव किमित्याह—रसो भावस्तदाभासो वस्त्वलङ्कार एव च ।
भावानामुदय शान्ति सन्धि शवलता तथा ।
सर्वं ध्वनिस्तज्जनित्वे काव्यञ्च ध्वनिरुच्यते ॥

रसाख्यध्वनेरन्ये ध्वनयस्तु प्राणा , रसाख्यस्तु ध्वनिरात्मेत्यदोष । रसादय पश्चाद्वक्ष्यन्ते, ॥२॥
सम्प्रति अमुभूताना ध्वनीना भेदा दश्यन्ते—

उभयोरभिधामूल-लक्षणामूलयोस्तयो ।
अविवक्षितवाच्योऽन्त्यस्तत्र वाच्य द्विधा भवेत् ।

तयोध्वन्योरन्त्यो लक्षणामूलो ध्वनिरविवक्षितवाच्य स्यात् । तत्राऽविवक्षितवाच्ये ध्वनौ वाच्य द्विधा भवतीत्यथ । किन्तत् द्वैधमित्याह,—

अर्थान्तरोपसक्रान्तमत्यन्त वा तिरस्कृतम् ।

एव वाच्यम्, अजहत्स्वार्थतया अपरार्थेनोपसक्रान्त भवति, अन्यज्जहत्स्वार्थतया स्वविपरीतेनार्थेनाक्रान्त भवतीति द्वैधम् ॥३-४॥

तद्देवेति—तत् ध्वनतेश्च कमध्वनिपदबोध्य, किमित्यपेक्षायामाह—रस इति । तदाभासौ रसाभासो भावाभासश्च । वस्तु शत्यपावनत्वादि च, उपमाद्यलङ्कारश्च, व्यभिचारिभावानामुदय उत्पत्तिश्च सन्धिश्च शवलता च सवमिति एते सर्वे अर्था ध्वनिपदवाच्या इत्यथ । काव्ये ध्वनिव्यवहारस्तु न मुख्य , किन्तु लाक्षणिकत्वाद्गौण एवेत्याह—तज्जनीति । तस्य ध्वन्यथस्य जनिरुत्पत्तियस्मात् तथाभूतत्वे इत्यथ । एव सति ध्वनिजनकत्वेनव काव्ये ध्वनिव्यवहार ' नतु साक्षात् ।

ननु काव्यपुरुषस्य कदाचिद् ध्वनय प्राणा उच्य ते, कदाचिद् ध्वनिरात्मेत्युच्यते, तत्र को निर्धार इत्यपेक्षायामाह—रसाख्येति । रसाख्यध्वनिभिन्ना ये ध्वनयस्ते प्राणा , रसाख्यध्वनिस्तु आत्मवेति व्यवस्थया न दोष ॥२॥

अमु भूताना वस्त्वलङ्काररूपाणा ध्वनीनाम् । तयो प्राणात्मस्वरूपयोध्व योरुभयोरेवाभिधामूल लक्षणामूलयामध्ये अन्त्यो लक्षणामूलध्वनिरविवक्षित वाच्यो भवेत् ॥३ ४॥

कमसाधन द्वारा निष्पन्न ध्वनि शब्द है । इस प्रकार कथन का अभिप्राय क्या है ? कहते हैं—रस, भाव एव रसाभाव, भावाभास, वस्तु, अलङ्कार, भावसमूह का उदय, शान्ति, सन्धि एव शवलता ये सब ध्वनि पदवाच्य है, एव उस ध्व यथ का उत्पत्तिकारण निबन्धन काव्य मे भी ध्वनि शब्द का प्रयोग होता है ।

ध्वनि को काव्यपुरुष की आत्मा एव प्राण कहा गया है, किन्तु रसाख्य ध्वनि जो ध्वनि, वही प्राण है, एव रसाख्य ध्वनि ही आत्मा है । इस प्रकार व्यवस्था करने से पूर्वोक्ति मे दोष स्पश नही होगा ॥२॥

उसके मध्य मे रसादि का वणन करेंगे । सम्प्रति प्राणस्वरूप ध्वनि का भेद प्रदर्शित हो रहा है ।

अभिधामूलक एव लक्षणामूलक उक्त उभय ध्वनि के मध्य मे अन्त्य अर्थात् लक्षणामूलक ध्वनि अविवक्षित वाच्य है । अविवक्षित वाच्य ध्वनिस्थल मे वाच्य द्विविध होते हैं—अर्थान्तरोपसक्रान्त वाच्य

क्रमेणोदाहरणानि— फलमपि फल माकन्दाना सिता अपि ता सिता,
अमृतममृत द्राक्षाद्राक्षा मधूनि ममून्यपि ।
सह तुलयितु तेनैतेषा न किञ्चन युज्यते,
सुबल यदय सारङ्गाक्ष्या भवत्यधरोऽधर ॥

अत्र द्वितीयफलादि शब्दा निन्दाद्यथसक्रान्ता । तथा हि—फल नानावस्थ पाक एव कदाचिन्मधुर भवति, तेन तन्निन्द्यमेव । सिता पाकपौन पुन्येनैव निमला भवन्ति, नत्वारम्भ एव । अमृत देवैरपि पीयते । द्राक्षा पूववदेव । मधूनि सरघोच्छिष्टानि । अधरस्तु अधर एव, सर्वाण्येतान्यधरयतीत्यधर । 'सह तुलयितु तेनैतेषा न किञ्चन युज्यते' इति विशेषवचनादुपमेयद्वितीयपदेस्तुत्यर्थ एव व्यङ्ग्य, न तूपमान-द्वितीयपदवद्धेयाशता ॥५॥

श्रीकृष्ण सुबल प्राह—फलमपीति । अत्र द्वितीयफलशब्द कादाचित्क मधुरे लाक्षणिक । तथा च माकन्दानामाम्राणा फल कदाचिन्मधुरमिति लाक्षणिको बध्य, पश्चाद् व्यञ्जनावृत्त्या फले नि द्यत्वबोधो लक्षणामूल । अत्र द्वितीयलाक्षणिक फलपदेन फलत्वरूपेण फलबोधो न भवति, अत एवाय ध्वनिरविवक्षित वाच्य स्यात् । अथच प्रथमफलपदस्य फलरूपार्थो वाच्यो व्यङ्ग्यीभूतनि द्यत्वेन सक्रमितश्च भवति । एवमेव सवत्र सितादिपदेऽपि बोध्यम् । सिता मिश्रीति प्रसिद्धा ।

हे सुबल ! तेन राधया अधरेण सह तुलायतु तेषामाम्रादीना मध्ये किञ्चन वस्तु न युज्यते । अमृत देवर्निकृष्टैरपि पीयत इति हेतोरमृतस्यापि नि द्यत्वम् । द्राक्षा पूववत् पाकावस्थायामेव मधुरा, द्वितीयमधुपदस्य सरघोच्छिष्टे लक्षणा । सरघा मधुमक्षिका । अधरस्तु अधरयति—सापेक्षया सार्वाण्येव स्वादुवस्तूनि निकृष्टयतीत्यथ । विशेषवचनादिति उपमेयस्याधरोऽधर इति वाक्यस्य द्वितीयेऽधरपदे स्तुत्यर्थो व्यङ्ग्य, नतूपमानीभूताना फलमपि फलमित्यादिवाक्याना द्वितीयफलादिपदस्येव हेयाशतारूपार्थो व्यङ्ग्य । अत्र सवत्रोपमानस्य तिरस्कार एव व्यङ्ग्यो बोध्य ॥५॥

एव अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य । प्रथम—अजहत् स्वाथलक्षणा हेतु अपराथ मे उपसक्रान्त होतो है । द्वितीय—जहत् स्वाथ लक्षणा हेतु स्व विपरीत से आक्रान्त हाती है ॥३ ४॥

क्रमश उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—आम्र फल भी फलमात्र ही है, सिता भी सिता है, अमृत भी वह अमृत है, द्राक्षा एव मधु भी मधुमात्र है । हे सुबल ! इन सब पदार्थों के सहित उसकी तुलना करना युक्तियुक्त नहीं है । कारण, हरिणाक्षी श्रीराधिका का वह अधर वास्तविक ही अधर है ।

इस उदाहरण से द्वितीय फलादि शब्द, निन्दादि अपर अथ मे सक्रान्त हुआ है । कारण, फल की विभिन्न अवस्था होती है । उसके मध्यमे पक्व अवस्था मे ही फल कदाचित् मधुर होता है । अतएव वह निन्दनीय है । सिता भी पुन पुन पाक के द्वारा ही निमल होती है । पहले उस प्रकार नहीं होती है । अमृत भी असख्य देववृन्द के द्वारा सवदा पीत होता है । द्राक्षा भी सिता के समान परिपाक अवस्था मे मधुर होती है । मधु भी मधुमक्षिका की उच्छिष्ट है । किन्तु अधर वस्तुत ही अधर है । अर्थात् उक्त वस्तुसमूह को अधरीकृत वा निम्नीकृत करता है । अत उसका अधर नाम साथक हुआ है । उक्त पदाथसमूह के सहित इसकी तुलना करना समीचीन नहीं है ।

यथा वा—प्रेम्णा विद्रुतमेकवद् यदुभयोस्तन्मानस मानस
सर्वास्वेव दशासु यन्नवनव तत् सौहृद सौहृदम्।
यत् कृष्णस्य विनोदभूरहरहस्तद् यौवन यौवन
तद्विच्छेदविधौ न यत् परिचयस्तज्जीवन जीवनम्।।६।।

स्वविपरीतार्थेनाक्रान्त यथा—
सौभाग्यमेतदधिक मम नाथ कृष्ण, प्राणैर्ममात्मनि सुख प्रणयेन कीर्त्ति।
दृष्टश्चिरादसि कृपापि तवेयमुच्चै र्न स्मर्यते न भवतात्मगृहस्य मार्ग ।।

माथुरविरहेण व्याकुला श्राराधा ललिता प्रत्याह— प्रेम्णेति। उभयो कान्ताकान्तयो प्रेम्णा विद्रुत सत् यदेकवद्भ ि, तन्मन एव मानस मन पदवाच्यम्। अत्र द्वितीयमानसपदस्य मन पदवाच्यत्व रूपेण लक्षणा। अतएव द्वितीयमानसपदे—अविवक्षितवाच्यत्वस्य सिद्धि। तेन लाक्षणिकपदे। मनस श्लाघनीयत्वरूपोऽर्थो व्यङ्ग्य। तथा च प्रथममानसपदस्य मनोरूपो वाच्यो व्यङ्ग्योभूतश्लाघनीयत्व रूपार्था तरेण सक्रमितश्चेति भाव। श्रीकृष्णविच्छेदे सति यस्य जीवनस्य न परिचय, न विद्यमानता, तज्जीवन जीवनम्।।६।।

काचित् खण्डिता श्रीकृष्ण प्रति सोल्लुण्ठ वचनमाह—एतत्तवागमन ममाधिकसौभाग्यम्, अधिक सौभाग्यजनकमित्यर्थ। एव त्वद्विच्छेदे मम प्राण कर्त्तृभि सुखमतनि, विस्तृत चक्रे। एव मद्विषयकेन त्वत् प्रणयेन मम कीर्त्तिरतनि। चिराद् बहुकालानन्तर यत्त्व दृष्टोऽसि, तेन महती कृतापि तया अतनि, तथा मद्गृह तवात्मगृह तादृशात्मगृहस्य मार्गस्त्वया न स्मर्यते, इति न, अपितु स्मर्यत एव। अत्रेति—

इस प्रकार विशेष निर्देश हेतु अधर वस्तुत ही अधर है, इस उपमेय वाक्य मे द्वितीय अधर पदसे स्तुत्यर्थ व्यङ्ग्य हुआ। उपमान स्वरूप द्वितीय फलादि पद के समान हेयत्वरूप अर्थ की प्रतीति कभी नहीं होती है।।५।।

द्वितीय उदाहरण यह है—परस्पर के प्रेम से द्रवीभूत होकर जो एकरूप प्रतीयमान होता है, प्रणयी एव प्रणयिनी का वह मन ही मन है। समस्त अवस्था मे ही जो नव नव रूप धारण करता है, वह सौहृद्य है। जो श्रीकृष्ण का नित्य विनोदोत्पन्न करने मे सक्षम है, उस यौवन ही यौवन है। श्रीकृष्ण विच्छेद के सहित जिसका परिचय नही हुआ है, उस जीवन ही जीवन है।।६।।

स्व विपरीत अर्थाक्रान्त का उदाहरण—हे नाथ श्रीकृष्ण! मेरा अतीव सौभाग्य है कि—तुमने यहाँ पर पदार्पण किया। तुम्हारा विरह से मेरा जीवन कितना सुखी बना। एव मेरे प्रति तुम्हारा प्रणय विस्तृत कीर्त्ति को प्रकाश किया है। अनेक दिनो के पश्चात् तुमने जो दर्शन दिया है, वह तुम्हारी अतीव करुणा ही है। अतएव तुमने जो निज गृह पथ को भूल ही गया है, इस प्रकार कभी भी कहा नहीं जा सकता है।

श्रीकृष्ण के प्रति खण्डिता नायिका की यह परिहासमय उक्ति है। यहाँ सौभाग्य पदकी लक्षणा असौभाग्य मे है। सुखी पद की लक्षणा—दु खी मे है। इस प्रकार क्लेश मे भी प्राण निर्गत नहीं हुआ, अतएव मेरा प्राण दु खदायक है, यह भावार्थ है।

अत्र सौभाग्यमित्यसौभाग्यम्, सुखमिति दुःखम्, कीर्त्तिरकीर्त्ति, कृपा अकृपा, आत्मगृहस्येति परगृहस्येति, स्वविपरीतेनाक्रान्तम् ॥७॥

ध्वनिर्यस्त्वभिधामूलस्तत्र वाच्यं विवक्षितम् ।
तथापि व्यङ्ग्यनिष्ठं स्यात् स च द्वैविध्यमृच्छति ।
कोऽपि लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमोऽपरः ॥

अभिधामूलध्वनौ तु विवक्षितमपि वाच्यं व्यङ्ग्यनिष्ठम् । स च ध्वनिर्लक्ष्यक्रमं व्यङ्ग्योऽलक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमश्चेति द्विविधः । लक्ष्यः क्रमप्राप्तः व्यङ्ग्यः यत्र स तथा, अलक्ष्यो व्यङ्ग्यस्य क्रमो यत्र स तथा । क्रमस्तु विभावादिभिर्व्यज्यमान एव रसः, न तु विभावादय इति । लाघवाच्छतपत्र पत्रशतीयुगपद्वेधाभिमानवद् यत्र क्रमो न लक्ष्यते, स तावदक्रमः ।

सौभाग्यपदस्यासौभाग्ये लक्षणा, सुखपदस्य दुःखे लक्षणा, एतादृश क्लेशेऽपि यस्मात् प्राणा न निर्गताः, तत एव मत् प्राणाः मद्दुःखदायकाः इति भावः । मद् गृहं तव परगृहम्, न तु स्वगृहम् । सर्वत्रविरुद्धलक्षणाभिर्मद्विषये त्वं प्रेमशून्य इत्यर्थो व्यज्यते । तथा च स्वस्मिन्नायकस्य प्रेमशून्यत्वरूपो व्यङ्ग्यो लक्षणामूलस्तथा वाच्यार्थस्य तिरस्कारः स्पष्ट एवेति भावः ॥७॥

विवक्षितमपीति—विवक्षितमपि वाच्यं व्यङ्ग्यनिष्ठं व्यङ्ग्ये पर्यवसानं स्यादित्यर्थः । तथा वाच्यार्थस्य विवक्षायामपि व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्यम्, न तु वाच्यार्थस्येति भावः । लक्ष्यमिति—वस्त्वलङ्कारादिरूपव्यङ्ग्यार्थानां हृदये उत्पत्त्यन्तर्धानरूपः क्रमः सर्वेषां लक्ष्य इत्यर्थः । अलक्ष्य इति—रसादिरूपव्यङ्ग्यार्थानां हृदये उत्पत्त्यन्तर्धानरूपक्रमो न लक्ष्य इत्यर्थः । क्रमस्त्विति—विभावादिभिर्व्यज्यमानो यस्योत्पत्त्यन्तर्धानक्रमः, स रस एव, न तु विभावादय इत्यर्थः । ध्वनिविषयकज्ञानस्योत्पत्त्यन्तर्धाने ध्वनेरप्युत्पत्त्यादिव्यवहारः । तत्र दृष्टान्तः—लाघवादिति । शतपत्रस्य कमलस्य शतसंख्यकपत्राणां

मेरा गृह – तुम्हारा परगृह है, निज गृह नहीं है । सर्वत्र विरुद्ध लक्षणा के द्वारा मेरे विषय में तुम प्रेमशून्य हो – यह ध्वनित हुआ है । अतएव अपने प्रति नायक का प्रेमशून्यत्वरूप व्यङ्ग्य लक्षणामूलक है । वाच्यार्थ का तिरस्कार सुस्पष्ट है । अर्थात् सौभाग्य—असौभाग्य, सुख—दुःख, कीर्त्ति—अकीर्त्ति, कृपा—अकृपा, निजगृह—परगृह, इस रीति से यावतीय वाच्यार्थ स्व-विपरीत अर्थ से आक्रान्त हैं ॥७॥

अभिधामूलक ध्वनि स्थल में वाच्यार्थ विवक्षित होने पर भी व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है । उक्त ध्वनि लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य एवं अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य भेद से द्विविध हैं । वस्तु अलङ्कारादि रूप व्यङ्ग्यार्थ का हृदय में उत्पत्ति एवं अन्तर्धानरूप क्रम, जहाँ लक्ष्य होता है, उसको लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं । एवं रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ का हृदय में उत्पत्ति एवं अन्तर्धानरूप क्रम—जहाँ लक्ष्य नहीं होता है, उसको असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं । क्रम शब्द से यहाँ विभावादि का बोध नहीं होता है, किन्तु विभावादि के द्वारा व्यज्यमान रस का ही जानना होगा ।

शत संख्यक कमलपत्रसमूह का एककालीन वेधस्थल में प्रत्येक पत्र का प्रत्येक वेधक्रम तुल्य शीघ्रता हेतु जहाँ रसादि व्यङ्ग्य का उत्पत्त्यादि क्रम लक्षित नहीं होता है, उसको अक्रम कहते हैं । रस, भाव,

रसो भावस्तदाभासो भावशान्त्यादिरक्रमः ॥

रसादयस्त्वक्रमोऽलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्च इत्यर्थः । आदिशब्दाद भावोदय-भावशावल्य भावसन्धय । अयमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो रसनिरूपणे दर्शयिष्यते ॥८-१०॥

सम्प्रति लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो दश्यते—

यत्रानुध्वनिना व्यङ्ग्य लक्ष्यते क्रमपूर्वकम् ।
स तु लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दार्थोभयशक्तिभू ॥

अनुध्वनिरनुरणन, ध्वनेरेव दीघदीघभाव, प्रतिध्वनिरिव वा । स तु लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः शब्दशक्तिभू, अर्थशक्तिभू, शब्दार्थोभयशक्तिभूश्चेति त्रिधा ॥११॥

आद्यो द्विधवालङ्कार वस्तुनो द्योतनाद् भवेत् ॥

आद्य शब्दशक्तिभूर्द्विधव भवेत् । एवकारस्तु अर्थशक्तिभववत् शब्दशक्तिभवोऽपि द्वादशधेति, परमत व्यावर्त्तयति, अथवालङ्कारस्यैव, वस्तुन एव, नान्यतरविशिष्टस्यैवेत्यथ ॥१२॥

सूच्या वेधे जाते सति प्रत्येकपत्रस्य य प्रत्येकवेधस्तस्योत्पत्त्यादिक्रमो लाघवात् सूचीकरणकवेधनिष्ठशाघ्रयान्न लक्ष्य । अतएव मया युगपदेकक्षण एव सर्वेषा वेध कृत इति तेषामभिमानो यथा, तथात्रापि रसादि व्यङ्ग्यानामुत्पत्त्यादिक्रमोऽपि न लक्ष्य ॥८ १०॥

अनुरणनमिति—यथा घण्टादिनामेकनादोत्तरमपरनादाना क्रमो ज्ञायते, यथा वा ध्वन्युत्तर प्रतिध्वनिर्ज्ञायते, तथव येषा ध्वनीनामुत्पत्त्यादिक्रमो लक्ष्यते, स लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ॥११॥

अथवेति—आद्यो द्विधवेत्यत्र एवकारोऽलङ्कारवस्तुनोरित्यनन्तरमेव योजनीय । तथा चालङ्कारस्यव द्योतनात्, नतु वस्तुविशिष्टालङ्कारस्य । एव वस्तुन एव द्योतनात्, नत्वलङ्कारविशिष्टस्य वस्तुन । एव सति केवलालङ्कारस्य द्योतनात्तथा केवलवस्तुना द्योतनाद्यो द्विविधा भवतीत्यथ ॥१२॥

उसका आभास एव भावशा त्यादि अक्रम हैं । अर्थात् असलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य है ।

भावशान्त्यादि—यहाँ आदि शब्द से भावोदय, भाव शवलता एव भावसन्धि को ग्रहण करना कत्तव्य है । असलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य, रस निरूपण प्रकरण मे प्रदर्शित होगा ॥८ १०॥

सम्प्रति लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य प्रदर्शित हो रहा है । जहाँ अनुध्वनि हेतु क्रमपूवक व्यङ्ग्य लक्षित होता है, उसको लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं । अनुध्वनि शब्द से अनुरणन—अर्थात् ध्वनि का ही दीघ दीघ भाव—भाव अथवा प्रतिध्वनि के समान जो प्रतीत होता है—को जानना होगा । उक्त लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, शब्दशक्त्युद्भव, अथशक्त्युद्भव एव शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव भेद से त्रिविध हैं ॥११॥

शब्दशक्त्युद्भव उक्त व्यङ्ग्य, वस्तु एव अलङ्कार उभय का द्योतक होने के कारण द्वि प्रकार होते हैं । 'दो प्रकार ही होते हैं' इस प्रकार सावधारण निर्देश के द्वारा अथशक्त्युद्भव के समान शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि भी द्वादशविध होती हैं । इस प्रकार मतविशेष की व्यावृत्ति की गई है ।

अथवा केवल अलङ्कार एव केवल वस्तु का द्योतन हेतु द्विविध होती हैं । वस्तुविशिष्ट अलङ्कार वा अलङ्कारविशिष्ट वस्तु का द्योतन नही है । इस प्रकार तात्पर्य्य को जानना होगा ॥१२॥

अत्रालङ्कारद्योतक शब्दशक्तिमूर्यथा—

आशामात्रे विउसदुय पद्मिनीचक्रबन्धु सिद्धाभोग सततमनिशामोदमैत्रीकषाय ।
राधाश्लेषादिषु निरवधि यापृत शोणपादो, रोचि पूरैहरतुभजता शीतता कृष्णच द्र ॥

अत्र शब्दशक्त्याद्भुतश्चन्द्र इति प्रसिद्धचन्द्राद्व्यतिरिक्तैरखिलैरेव गुणैर्व्यतिरेकालङ्कारो ध्वनित । यद्यप्यसौ ध्वनित्वेनालङ्कार्य एव, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कार एव । एवमन्येऽपि ॥१३॥

आशामात्रे-इति । अय कृष्णरूपश्च द्रो रोचि पूरै कान्तिप्रवाहै शीतता ज ड्य हरतु । प्रसिद्ध च द्रस्तु शीतता करोति । तथाय भजता जनानामाशामात्रेणव विलसन्न दयो यस्य स । अत्र शब्दश्लेषेणास्य आशामात्रे दिकसामान्ये उदय, प्रसिद्धच द्रस्य तु पूर्वाशायामेवादय । अय पद्मिनीसमूहाना बधु स तु द्वेषो, अयन्तु सतत सिद्ध आभाग परिपूर्णता यस्य तथाभूत, स तु कदाचित् पूर्णिमायामेव सिद्ध भोग । अनिश निरन्तरमामोदमत्रीकषाया यस्य तथाभूत स । कषाय शब्दोऽत्र माधुर्य्यवाचक, "मधुरऽपि कषाय स्यात्" इत्यनुशासनात् ।

अत्रापि शब्दमात्रश्लेषेण निशाभिन्नेऽपि काले आमोदादया यस्य स, प्रसिद्धचन्द्रस्य तु निशायामेव । राधाभा आलङ्गनादि कमसु निरवधिव्यापारयुक्त, स तु राधाश्लेष दिनक्षत्रषु कदाचित् सयुक्त । अय शोणपादो रक्तचरण, स तु श्वेतपाद, अत्र प दशब्द किरणवाची । अत्राशादिशब्दाना परिवृत्त्यसहत्वादेव शब्दशक्त्युद्भवोऽय ध्वनिरिति ज्ञयम् ।

अलङ्कार द्योतक शब्दशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य का उदाहरण—आशा मात्रमे ही जिनका उदय ह ता है, जो पद्मिना चक्र के बन्धु है । जिनकी नित्य परिपूणता प्रसिद्ध है, जो अनिशामोदमत्री द्वारा माधुयमय हैं, निरवधि राधाश्लेषादि व्यापृत शोणपाद वह श्रीकृष्ण चन्द्रकान्ति प्रवाह प्रभाव से सेवापरायण जनगण की जडता को अपहरण करें ।

कृष्णचन्द्र—आशा मात्र से ही अर्थात् सेवकवृन्द की आकाङक्षा मात्र से ही उन सबके समीप से उदित होते है । अपर चन्द्र आकाश मात्र में अर्थात् केवल पूवदिक मे ही उदित होता है । यह पद्मिनी चन्द्र का अर्थात् पद्मिनी कामिनीकुल का बन्धु है । प्रसिद्ध चन्द्र—पद्मिनी एव चक्र अर्थात् पङ्किजिनी एव चक्रवाक का शत्रु है । इनकी नित्य परिपूणता प्रसिद्ध है । च द्र की परिपूणता कदाचित् पूर्णिमा तिथिमे हो प्रसिद्ध है । यह अतिशय अर्थात् निरन्तर आमोद एव मत्री द्वारा माधुयमय है । चन्द्र—अनिशा मे अर्थात् निशा भिन्न काल मे आमोद मैत्री द्वारा माधुयमय नहीं हो सकता है । यह श्रीराधा का आश्लेष अर्थात् आलिङ्गनादि विषय मे सवदा व्यापृत है । चन्द्र—अनुराधा-अश्लेष दि नक्षत्र के सहित कदाचित् सयुक्त होता रहता है । यह शोणपाद अर्थात् सुलोहित चरण है । चन्द्र श्वेतपाद हैं, अर्थात् श्वेतकिरण है । इस प्रकार शब्दशक्ति से प्रसिद्ध चन्द्र से अतिरिक्त उक्त गुणसमूह के द्वारा कृष्णच द्र अपूव रूपमे प्रतीयमान होते हैं । अत इस श्लोक मे व्यतिरेक अलङ्कार ध्वनित हुआ है ।

यद्यपि ध्वनित्व प्रयुक्त इसको अलङ्कार न कहकर अलङ्कार्य्य कहना समीचीन है, तथापि जिस प्रकार अवधूत व्यक्ति—वर्णाश्रमादि को परित्याग करने पर भी पूर्वावस्था का अनुस धान करके उसको ब्राह्मण श्रमण कहा जाता है, उस प्रकार यहाँ पर भी व्यतिरेक ध्वनि का ग्रहण करने पर भी

वस्तुद्योतको यथा—दधती समधुपराग, परिमलमेकान्तसुकुमारा।
गुणकलिता ललिते मम, भूषितकण्ठा त्वमेव वनमाला ॥

अत्र शब्दशक्त्या कवेर्वनमालाललितयो साधर्म्यं निरूप्य प्रयासे व्युपरते सति वस्तुभूत कश्चिदर्थ स्फुरति। स च त्वमेव वनमाला, नान्येति, त्वा प्रत्येव मे समादर, नतु तस्याम् तेन त्वदालिङ्गनमेव मे प्रेय इति वस्तु ॥१४

अर्थशक्त्युद्भवोऽथस्तु व्यञ्जक स्वयमुद्भवो।
कवे प्रौढिक्तिनिष्पन्नो वक्तुस्तत्कल्पितस्य च ॥

अलङ्कार्य एवालङ्काराश्रय एव, ध्वनेस्तु प्राणत्वात्, प्राणस्य च शरीरारम्भकत्वात्। शरीर त्वलङ्काराश्रय एव, नत्वलङ्काररूपम्। कथ व्यतिरेकालङ्कारस्य ध्वनिरूपत्वमित्याक्षेप। श्रमणोऽवधूत, यद्यप्यवधूतस्य वर्णाश्रमादिक किमपि नास्ति, तथापि पूर्वदृष्टस्य ब्राह्मणस्य स्मरणाद्ब्राह्मण भिन्नेऽवधूते कदाचिद्ब्राह्मणोऽयमिति प्रतीतिर्जायते यथा, तथालङ्कारभिन्नेऽपि ध्वनावलङ्कारप्रतीतिर्जायत इति भाव ॥१३

हे ललिते! भूषितकण्ठा सती त्वमेव मे वनमाला, मधुपस्य भ्रमरस्यानुरागेण सह वर्त्तमान परिमल सुगन्ध दधती। ललिता पक्षे, तवाधरमधुपानकर्त्तुममानुरागेण सह वर्त्तमान परिमल सुगन्ध दधती, गुण सूत्र वदाग्ध्यादिश्च। प्रेय इत्यभीष्टमित्यर्थ। इति वस्तुध्वनि। मधुपादिशब्दाना परिवृत्तिसहत्वाच्छब्दशक्त्युद्भव ॥१४॥

तन्निबद्धवक्तृप्रौढीति—कविना स्वकृतश्लोके निबद्धा उक्ता ये वक्तारस्ते दूतीनायिकाप्रभृतयो बहवो भवन्ति। तेषा प्रौढोक्तिभिनिष्पन्न शरीर यस्य स। कवे प्रौढिक्तीति अर्थशक्त्युद्भवो यो ध्वनिरिति

अलङ्कार रूपमे कथित हो रहा है। अर्थात् अलङ्कार भिन्न मे भी ध्वनिमे अलङ्कार की प्रतीति होती है। इसी रीति अन्य समस्त की उदाहरण प्रस्तुत कर लेना चाहिये ॥१३॥

वस्तु द्योतक का उदाहरण—अयि ललिते! तुम एकान्त सुकुमार एव गुणगुम्फित तथा मधुप राग के सहित पवित्र परिमल को धारण कर रही हो। हे कण्ठभूषणकारिणि! तुम्ही हो मेरी वनमाला। इस श्लोक मे वनमाला के पक्ष मे मधुप अर्थात् भ्रमर का राग, अर्थात् अनुराग के सहित परिमल वा सुगन्ध धारण कर रही हो। इस प्रकार अर्थ बोध होता है।

ललिता पक्षमे—मधुप अर्थात् तुम्हारा अधरमधु पानकारी जो मै हूँ मेरा अनुराग के सहित जनमनोहर गन्ध को धारण कर रही हो। इस प्रकार अर्थ प्रतीत होता है।

गुण अर्थ से सूत्र, पक्षान्तर मे वदग्ध्यादि को बोध होता है। इस प्रकार शब्दशक्ति से वनमाला एव ललिता का साधर्म्य निरूपण के अनन्तर कवि का प्रयास निवृत्त होने पर अन्य एक अर्थ स्फुरित होता है - तुम्हीं मेरी प्रिया हो, अपर नही। अर्थात् तुम्हारे प्रति मेरा सम्यक आदर है, अपर के प्रति नहीं। अतएव तदीय आलिङ्गन ही मेरा अभीष्ट है। इस स्थल मे यही वस्तु है ॥१४॥

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि त्रिविध हैं। स्वत सम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध एव कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध। तन्मध्ये स्वत सम्भवी व्यङ्ग्य - केवल कवि की उक्ति के द्वारा प्रथित होता है, इस प्रकार नहीं है। किन्तु लोक व्यवहार मे भी यथायथ रूपमे सम्भाव्यमान होता है। अपर दो प्रकार किन्तु लोक

अथशक्त्युद्भवो यो ध्वनि, स त्रिधा भवति – स्वत सम्भवी, कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर, तन्निवद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीरश्चेति । तत्र स्वत स्वम्भवी न केवल कविभणितिमात्रनिष्पन्न, व्यवहारेऽपि समुचितत्वेन सम्भाव्यमान ॥१५॥

अन्यौ कविना तन्निबद्धवक्त्रा च प्रतिभानमात्रेण व्यवहारासिद्धावपि निर्मितौ ।

वस्तुत्वालङ्कृतित्वाभ्या ते द्वैविध्येन षट स्मृता ॥

तत्रयो भेदा, वस्तुरूपतया, अलङ्कारत्पतया च षट् प्रकारा स्यु ।

वस्तुना वस्त्वलङ्कारावलङ्कारेण तेषु चेत् ।

व्यज्येते अप्यलङ्कारवस्तुनी द्वादशापि तत् ॥

तेषु षड् विधेषु चेद्यदि वस्तुना वस्तु चालङ्कारश्च व्यज्यते, अलङ्कारेण अलङ्कारो वस्तु च व्यज्यते, तत्–तदा द्वादशापि भवन्तीत्यथ ॥१६-१७॥

सूत्रे अथशक्त्युद्भवोऽथस्तु व्यञ्जक इत्या व्यञ्जकपदद्दृष्ट्या अत्रापि व्याख्याया व्यञ्जको यो ध्वनि, स त्रिधेति व्याख्येयम् । एव सति यत्र काव्ये ध्वनेध्व यन्तरोद्गारो वत्तते, तादृशोत्तमोत्तमकाव्यस्थितोत्तमोत्तमध्वनेरेव लक्षणम्, अतएव द्वादशभेदा वक्तव्या । यत्र ध्वनध्व यन्तर नास्ति, केवलध्वनिमात्र, तदथ लक्षणान्तरमनुस धेयम् ॥१५॥

अन्यौ—इति । स्वत सम्भवि ध्वनिभिन्नौ, कविवाङनिष्पन्नकविनिबद्धवक्तृवाङनिष्पन्नध्वनी इत्यथ । तौ तु कविना कविनिबद्धवक्त्रा च प्रतिभानमात्रेण स्ववचनेनव निर्मितौ । तत्र तत्र लोकव्यवहारासम्भवेऽपि चतुर्मुखो ब्रह्मा इव कविरेव सृष्टिकर्त्तेति भाव । अतएवोक्त काव्यप्रकाशे

व्यवहार सिद्ध न होने पर भी कवि के द्वारा अथवा कवि निबद्ध व्यक्ति के द्वारा, केवल प्रतिभा द्वारा निर्मित होते हैं । उक्त त्रिविध ध्वनि के प्रत्येक के वस्तु—अलङ्कार भेद से षड विध भेद कल्पित होते हैं।

उक्त षड विध भेद के मध्य मे वस्तु द्वारा वस्तु वा अलङ्कार, एव अलङ्कार के द्वारा अलङ्कार वा वस्तु व्यञ्जित होने से द्वादशविध भेद होते हैं ।

कवि निजकृत श्लोक मे जो कुछ दूती नायिका प्रभृति के कथोपकथन निबद्ध किये हैं, उन सबकी उक्ति ही कविप्रौढोक्ति निष्पन्न है । अथशक्त्युद्भव जो ध्वनि है, इस कथन से अथ व्यञ्जक होता है । यहा पर की व्याख्या मे व्यञ्जक जो ध्वनि है—वह त्रिविध है, इस प्रकार अथ करना चाहिये । अतएव जिस काव्य मे ध्वनि से ध्व यन्तर का उद्गार होता है, तादृश उत्तमोत्तम काव्यस्थित उत्तमोत्तम ध्वनि का ही लक्षण है, इसके ही द्वादश भेद होते हैं । जहा ध्वनि के ध्वन्यन्तर नही है, केवल ध्वनिमात्र ही है, तदर्थ लक्षणान्तर का अनुस धान करना कर्त्तव्य है ॥१५॥

अपर दो अर्थात् स्वत सम्भवि ध्वनि भिन्न जो कविवाङनिर्मित, एव कवि निवद्ध वक्तृवाङनिर्मित ध्वनि । ये दो कविनिबद्ध वक्ता की प्रतिभा के द्वारा निज वचन से ही निर्मित हैं । वहा वहा लोक व्यवहार न होने पर भी चतुर्मुख ब्रह्मा के समान कवि ही सृष्टिकर्त्ता है । इसको लक्ष्य करके ही काव्य प्रकाश के प्रथमोल्लास मे उक्त है—‘नियतकृतनियमरहिताम्” ।

क्रमेणोदाहरणानि—गउलमहिन्दणन्दण, सुण्णघरे एत्थ मा पविस ।
उज्ज सही ए सामी, गोमी दूर गओ गोट्ठ ॥
(गोकुलमहेन्द्रनन्दन शून्यगृहेऽत्र मा प्रविश ।
अद्य सख्या स्वामी गोमान् दूर गतो गोष्ठम् ॥)

अत्र स्वामी, न तु प्रिय । गोमी बह्वीना गवा पति, तेन शीघ्र नायास्यति । दूरम्, न तु नेदीय, अतश्चिर व्याप्यास्या गृह शून्य भावि । तेनात्र नि शङ्कमेव प्रविश्य विलस्यतामिति वस्तु ॥१८॥

श्रूयते परिमले मल-शब्दो, मेखलादिषु खलाद्यभियोग ।
चन्दनादिरस एव हि पङ्को नीविकेशरसनादिषु बन्ध ॥

अत्र कवेरप्रयासरचनबलाद् व्रजलोके मलाद्यभावो वस्तुभूतोऽर्थ स्वत सम्भवी, तेन स्वभावोक्त्यलङ्कार इति द्वेधा ॥१९॥

(प्रथमोल्लासे १) "नियतिकृतनियमरहिताम्" इति । षट प्रकारा स्युरिति—षड भेदास्तु सामा याकारेणा पातत एवोक्ता । किन्तु वक्ष्यमाणद्वादशभेदान्तगता एव, न तु तदपेक्षया स्वतन्त्रा । अतएव षड भेदाना स्वतन्त्रोदाहरण न दत्तम् ॥१६ १७॥

क्रमेणोदेति—तत्र स्वत सम्भविनो ध्वनेवस्त्वन्तरव्यञ्जक वस्तुरूप प्रथमभेदमाह—गोउलेति । 'गोकुलमहेन्द्रनन्दनशून्यगृहेऽत्र मा प्रविश । अत्र सख्या स्वामी गोमान् दूर गतो गष्ठोम् ॥' अतश्चिर व्याप्य अस्य गृह शून्य भविष्यतीति वस्तुध्वनि । तेन वस्तु वस्तुध्वनिनात्र नि शङ्कमित्यादि वस्तुध्वनिरित्यथ ॥१८॥

अलङ्कारव्यञ्जक वस्तुरूप द्वितीयभेदमाह—श्रूयत इति । व्रजे मलाद्यभाव एव वस्तुभूतो

उक्त त्रिविध ध्वनि प्रत्येक—वस्तु एव अलङ्काररूप भेद से षड प्रकार हैं । उक्त षड्विध के मध्यमे वस्तु द्वारा वस्तु वा अलङ्कार एव अलङ्कार क द्वारा अलङ्कार वा वस्तु व्यञ्जित होने से उक्त ध्वनि द्वादशविध होती हैं ॥१६-१७॥

क्रमश उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—हे गोकुलनन्दन ! तुम इस शून्य घर मे प्रवेश न करो, कारण, अनेक गोधनशाली मेरी सखी का स्वामी आज सुदूर गोष्ठ को गया है । यहा 'स्वामी' शब्द का उल्लेख हुआ है, कि तु 'प्रिय' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है । इससे प्रतीत होता है—वह प्रिय नहीं है । वह बहु गोधनशाली है, अर्थात् अनेक गोधनो को लेकर सत्वर वह आ नहीं सकेगा । 'सुदूर गोष्ठ' अर्थात् गोष्ठ निकटवर्त्ती न होने क कारण—अनेक समय पर्य्यन्त गृह शून्य रहेगा, ये सब वस्तु ध्वनित हुई है ।

इससे बहुक्षण पर्य्यन्त गृहशून्य रहेगा, अतएव उस समय पर्य्य त नि शङ्क चित्त से इस घरमे प्रवेश कर विलासादि सम्पादन करो । इस प्रकार वस्त्व तर भी ध्वनित हुई है ॥१८॥

व्रजमे परिमलमे ही मल शब्द का प्रयोग होता है । खल शब्द का प्रयोग मेखलादिमे ही होता है । पङ्क शब्द—चन्दनादि प्रयुक्त जलमे होता है, एव निवि, केश, वसन बन्धमे ही बन्ध शब्द का प्रयोग होता है ।

गञ्जनान्न हि विभेषि गुरूणा, खञ्जनाक्षि यमुनामधुनागा ।
अञ्जनाभ इह कुञ्जर एक, कञ्जनालदलभञ्जनकारी ॥

अत्र सखीं प्रति सखी वदति । खञ्जनाक्षीति सम्बोधनमर्यादाया सखीरूपो वक्ता । अधुनेति अकालेऽपि यदगास्तेन स्नातु नागा, कृष्णसङ्गायैवागा इति काव्यलिङ्गालङ्कारस्तेन त्व गुरूणा गञ्जनान्न विभेषीति गुरुगञ्जने तव भय नास्ति, यथा कृष्णाङ्गसङ्गविरहे इति वस्तु ध्वन्यते। एव कुञ्जर इति कृष्णनामापह्नवेनापह्नुत्यलङ्कारेण कृष्णकुञ्जरयो सादृश्य-व्यञ्जनादुपालङ्कारश्चेति, स्वत सम्भविन श्लोकत्रयेण चातुर्विधम् ॥२०॥

कविप्रौढोक्तेश्चातुर्विध्य यथा—

स्पन्दते यदि पदादि तदासा, स्यन्दते मधुरिमामृतधारा ।
सङ्गत पवनजाद् व्रततीनामङ्गतो मधुकणा इव भूमौ ॥

अत्र कविप्रौढोक्तिरेव, न पूर्ववत् स्वत सम्भवी स चार्थ । यासा पदादिस्पन्दनमात्रेणाप्येव माधुर्यरसप्रतिपत्तिरित्यहो आसा लोकोत्तरतेति वस्तुभूतोऽर्थ । स च तासा रासादिनृत्यविधौ

व्यङ्ग्यस्तेन वस्तुना स्वभावोक्त्यलङ्कारो व्यङ्ग्य इत्यर्थ ॥१९॥

अञ्जनेति—अञ्जनस्येव आभा कान्तिर्यस्य स, ईदृश एक कुञ्जर कमलनालस्य दलभञ्जनकारी। कृष्णपक्षे, अतिशयासक्त्या सुन्दरीणामधररूपपद्मदलस्य भञ्जनकारी ॥२०॥

स्पन्दत इति—आसा व्रजसुन्दरीणा सावाद्यङ्ग यदि स्पन्दते चलति, तदा माधुर्यामृत स्यन्दते

यहाँ कवि की अप्रयासजात रचना से व्रज मे मलादि का अभावरूप अर्थ ही स्वत सम्भवी व्यङ्ग्य वस्तु है। एव उससे स्वभावोक्ति अलङ्कार व्यञ्जित हुआ है ॥१९॥

अयि खञ्जनाक्षि! गुरुजनगण की गञ्जना से तुम भीत नहीं हो। इसी समय तुम यमुना को गई थी, यमुना में अञ्जन प्रभाविशिष्ट एक कुञ्जर है। वह कञ्जनालदल भञ्जन करता रहता है।

इस श्लोक मे—सखी को सखी कहती हैं। 'खञ्जनाक्षि' इस प्रकार सम्बोधन हेतु सखीरूप वक्ता अनुमित होता है। 'इसी समयमे' इस उक्ति से जब तुम असमय मे जा रही हो, तब कृष्णाङ्ग सङ्ग हेतु तुम्हारा यह गमन है, यह स्नान हेतु नहीं है। इस प्रकार काव्यलिङ्गालङ्कार ध्वनित होता है। 'गुरुजन की गञ्जना से तुम भीत नहीं हो इससे कृष्णाङ्गसङ्ग विरह मे जिस प्रकार तुम भीत हो, इस प्रकार भय गुरुगञ्जना से तुम्हारा नहीं है, यह ध्वनित हुआ है। एव वहाँ 'अञ्जन के सदृश वर्णयुक्त एक कुञ्जर है' इस वाक्य के द्वारा कृष्णनाम का अपह्नव हेतु अपह्नुति अलङ्कार ध्वनित होता है। इस प्रकार श्लोक त्रय के द्वारा स्वत सम्भवी का चतुर्विधत्व प्रदर्शित हुआ ॥२०॥

कवि प्रौढोक्ति भी चतुर्विध है। उदाहरण—समीर सगम से लतावली के अङ्ग से जिस प्रकार मधुबिन्दु क्षरित होता है, उस प्रकार व्रजसुन्दरीवृन्द के पदादि अङ्ग स्पन्दित होने पर उससे माधुर्य की धारा क्षरित होती है।

इस श्लोक मे पूर्ववत् स्वत सम्भवी नहीं हुई है। कारण—माधुर्य्य, अमूर्त्त पदार्थ होने के कारण

वा कीदृश इति वस्तु व्यनक्तीति वस्तुना वस्तु । उत्तरार्द्धे व्रततीना पवनजात् सङ्गात् मधुकणा इवेति तासामपि व्रततिभिरुपमेत्युपमालङ्कारेण स्वभावोक्त्यलङ्कारो ध्वनित इति द्वेधा ।।२१।।

गोकुले कुलजबालबधूना, श्यामधामनि मनोरथभाजाम् ।
नोज्जगाम न जगाम विराम, सौहृद हृदय एव जुघूर्णे ।।

अत्र कविप्रौढोक्ति । नोज्जगामेति लज्जाधिक्य वस्तु, 'न जगाम विरामम्' इति हृदय-क्षोभातिशयो घूणनत्वे नोत्प्रेक्षित इति उत्प्रेक्षालङ्कारश्च ।।२२।।

स्तुम किन्त्वामम्भोधरसुभगशम्भोरधिशिर ,
पदाम्भोजरयाम्भो यदकृतपद भोस्तव तत ।

स्रवति । न पूववत् स्वत सम्भवोति माधुय्यस्यामूत्तत्वात् तस्य धारापतनासम्भवेन लोकव्यवहारे असमुचितत्वान्न स्वत सम्भवतीत्यथ ।।२१।।

गोकुल इति—श्यामधामनि श्रीकृष्णे मनोरथभाजा पूणरागवतीना कुलजबालबधूना सौहृद नोज्जगाम, नोदगत बभूव, लज्जया ताभिन व्यक्त चक्रे इत्यथ । कविप्रौढोक्तिरिति—सौहृदस्यामूत्तत्वेन घूणनक्रियाया असम्भवादिति भाव । तेन तेनेति । वस्तुव्यङ्ग्यद्वयेनेत्यथ । उत्प्रेक्षित इति—उत्प्रेक्षालङ्कारो व्यङ्ग्य इत्यथ ।।२२।।

उसकी धारा का पतन की असम्भाविता हेतु वह लोकव्यवहार सिद्ध नहीं है। सुतरां उसको कविप्रौढोक्ति कही जा सकती है। उसके द्वारा इस प्रकार वस्तु स्वरूप अथ व्यञ्जित हो रहा है कि—जिनके पदादि अङ्ग स्प दन मात्र से ही इस प्रकार माधुय्य रस का उच्छ्वास होता है, उन सबकी कसी लोकोत्तर रमणीयता है। इस प्रकार वस्तुभूत अथ से इस प्रकार वस्तु व्यञ्जित हो रही है कि—जो इस प्रकार लोकोत्तर रमणीय है, रासादि नृत्य के अवसर मे उन सबकी रमणीयता किस प्रकार अपूव भाव धारण करती है। एव 'समीर ससग से लतावली के अङ्ग से मधुबि दु क्षरण के समान' इस प्रकार उक्ति से लतावली के सहित व्रजसु दरीगण की उपमा एव उक्त उपमालङ्कार के द्वारा स्वभावोक्ति अलङ्कार की ध्वनि हुई है। इस रीति से दो प्रकार ध्वनि को जानना होगा ।।२१।।

गोकुल धाममे श्यामसुन्दर के प्रति अभिलाषवती कुलबालाओ का अपूव सौहाद्य उच्छ्वसित होकर हृदय से निगत नही हुआ है। अथच विराम प्राप्त भी नही हुआ है। केवल हृदय के मध्य मे ही घुमता रहता था।

यहा कविप्रौढोक्ति 'हृदय से उच्छ्वसित होकर निगत नही हुआ।' इस उक्ति के द्वारा कुलबालागण के लज्जाधिक्यरूप वस्त 'विराग प्राप्त भी नही है।' इस उक्ति के द्वारा उन सबके सौहृद्य की अत्य त दृढतारूप वस्तु एव उसके द्वारा हृदय के अभ्यन्तर मे ही घूणमान था' इस वाक्यमे हृदयगत क्षोभातिशय्य एव अमूत्त सौहृद्य वस्तु का घूणन असम्भव हेतु उत्प्रेक्षालङ्कार ध्वनित हुआ है ।।२२।।

हे मेघमधुरमूर्त्ति परमपुरुष ! आप का स्तव और हम क्या करें ? आपके पादपद्म से नि सृत

उमायै दत्त्वार्द्धं वपुरपदमर्द्धञ्च भवते,
गुणेभ्यो निर्मुक्त स परमभवद्ब्रह्म परम ॥

अत्र कविप्रौढोक्ति ।तत्र शम्भोरधिशिरो यद् यस्मात्तव पदाम्भ पदमकृत, तेन त्वमन्य एव कोऽपि सर्वोपरिवर्त्तमान स्तवविषयो नेत्यतिशयोक्त्यलङ्कार । तेन उमायै दत्त्वार्द्ध वपुरपरमर्द्धञ्च भवत इत्यादिना स वपुर्विरहेण पर ब्रह्माभवत्, त्वन्तु वपुषैव पर ब्रह्म इति वस्तु,—इति कविप्रौढोक्तिश्चतुर्द्धा ॥२३॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिर्यथा—परिपुट्टे परिपुट्ट, झीणे झीण समम्मि सम ।
माहव तीए अग, तुज्झ सिणेहेण घडिअ व ॥

(परिपुष्टे परिपुष्ट क्षीणे क्षीण समे समम् । माधव तस्या अङ्ग तव स्नेहेन घटितमेव ॥)
अत्र सा आयुषा जीवतीति न, अपितु तव स्नेहेनैवेति वस्तु । 'तुज्झ सिणेहेण घडिअ व' इति तस्या अङ्ग त्वत्स्नेहोपादानमिति अङ्गान्तराद्व्यतिरिक्त तदङ्गमिति व्यतिरेकालङ्कार, इति वस्तुनालङ्कार ॥२४॥

स्तुम इति । भो अम्भोधर सुभग ! मेघ इव सुन्दर, श्रीकृष्ण, यद् यस्मात्तदेव पदाम्भोजस्याम्भो गङ्गा महादेवस्याधिशिर शिरसि पदमास्पदमकृत, तत एव हेतो त्वा सर्वोत्कृष्ट किं स्तुम ? त्वच्चरणोदक स्पर्शेन स महादेवो गुणेभ्यो मुक्त सन् परब्रह्म अभवत् । हे परम ! ननु देहसत्त्वे महादेवस्य परमेश्वरत्वेन देहस्य नित्यत्वान्न नाशसम्भव, अत कविप्रौढोक्ति ॥२३॥

परिपुट्ठेति । 'परिपुष्टे परिपुष्ट क्षीणे क्षीण समे समम् । माधव तस्या अङ्ग तव स्नेहेन घटितमेव ॥' हे माधव ! तव स्नेहे परिपुष्टे सति अस्या अङ्गमपि परिपुष्ट भवति, अतस्तव स्नेहेन

मन्दाकिनी महादेव के मस्तक मे स्थित है । आप निज शरीर के एकार्द्ध उमा को एव अपरार्द्ध आपको देकर, गुणनिर्मुक्त होकर स्वय परमब्रह्म हुए हैं ।

यहाँ कवि प्रौढोक्ति है । महादेव के मस्तक को पादपद्म नि सृत धारा का आश्रयस्थान करण हेतु श्रीकृष्ण का सर्वोपरि वर्त्तमानत्व है । सुतरा श्रीकृष्ण स्तव का अविषय हैं । इस रीति से यहा अतिशयोक्ति अलङ्कार हुआ है । एव उस अलङ्कार के द्वारा उमा को शरीर का एकार्द्ध एव श्रीकृष्ण को शरीर का अपरार्द्ध दान करके शरीर शून्यता हेतु महादेव का परमब्रह्मत्व एव श्रीकृष्ण का शरीर धारण से ही परमब्रह्मत्व रूप वस्तु व्यञ्जित हुई है । इस रीति से कविप्रौढोक्ति चतुर्विध हैं ॥२३॥

कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति का उदाहरण – हे माधव ! श्रीराधा का शरीर जमे तुम्हारे स्नेह से ही निर्मित है, इस प्रकार बोध होता है । देखो, तुम्हारा शरीर परिपुष्ट रहने से ही श्रीराधा का शरीर परिपुष्ट होता है । तुम्हारा शरीर क्षीण होने से श्रीराधा का शरीर क्षीण होता है । तुम्हारा शरीर समान अवस्था मे रहने से श्रीराधा का शरीर भी समान अवस्था मे रहता है ।

यहा श्रीराधा जो निज आयु से ही जीवित रहती है—ऐसा नहीं, तुम्हारे स्नेह से ही जीवित रहती है, यह वस्तु है । श्रीराधा का शरीर मानो तुम्हारे स्नेह से ही निर्मित है, इस प्रकार बोध होता

श्रुतियुगमभिधत्ते श्रीलवृन्दावनेऽसौ, त्यनुदिशमिति नेत्रद्वन्द्वमात्माहृदीति ।
क्व नु भवसि महात्मन् ब्रूहि कष्टासवोऽमी त्वदनुसरणपान्था कण्ठ एव भ्रमन्ति ॥

अत्र कविनिबद्धानुरागिणीबालावक्त्री । अस्या प्रौढोक्तौ शब्दप्रत्यक्षानुभवरूप प्रमाणत्रय परस्परव्याहतमपि सर्वमेव प्रमाकरणम्, नतु कुत्रापि अप्रामाण्यमिति वस्तु, तेन च त्व व्यापकोऽसीति वस्तु, तेन एकस्य सर्वानुगतत्वाद्विरोधे विरोधालङ्कारो व्यतिरेको वा ।

निर्मितमस्या अङ्गम् । अङ्गान्तरादिति पञ्चभूतारब्धदेहान्तराद्व्यतिरिक्तमित्यर्थ । इति वस्तुना व्यङ्ग्योऽलङ्कार । अत्र कविनिबद्धवक्त्री दूती । यद्यपि लोकव्यवहारे देहस्य स्नेहारब्धत्वाभावात् प्रौढोक्तिस्तथापि ह्लादिनीरूपाणामासा देहस्य प्रेमारब्धत्वेन स्नेहारब्धत्व नासम्भवमिति बोध्यम् ॥२४॥

माथुरविरहेणात्यन्तव्याकुला काचिद्व्रजसुन्दरी श्रीकृष्णमुद्दिश्याह—श्रुतियुगमिति । हे महात्मन् श्रीकृष्ण ! रे मत्कर्णद्वय ! भवद्भ्या श्रीकृष्णो दृष्ट इति मया स्पृष्ट श्रुतियुग त्व वृन्दावने वससि इत्यभिधत्ते । तथा च साऽनुरागवशात् निरन्तर कृष्णो वृन्दावने वर्त्तते—इति कर्णेन शृणोतीति भाव ।

पुनर्मया पृष्ट नेत्रद्वन्द्वम्, त्व सर्वासु दिक्षु वर्त्तसे—इति वदति, अनुरागाधिक्यात् सर्वत्रैव त नेत्रेण पश्यतीति भाव । पश्चान्मया पृष्ट आत्माबुद्धि , त्व हृदये वर्त्तसे इति वदति, तथा च सा बुद्ध्या निरन्तर त हृदये पश्यतीति भाव । तेषा वचनेन मम निर्धारो न जात , अतस्त्व पृच्छ्यसे निश्चय कृत्वा वद, त्व कुत्र भवसि । कष्टा एतावत् पीडायामपि न नि सृतत्वाद् दु खरूपा मम प्राणास्त्वदनुसरणे तव पश्चाद्गमने पान्था पथिका स तस्त्वद्वार्त्तामप्राप्य स्वस्थान त्यक्त्वा कण्ठ एव भ्रमन्ति ।

अत्र यद्यपि लोकव्यवहारदृष्ट्या एकव्यक्तेरेकस्मिन् क्षणे स्थलत्रयसमवर्त्तित्वस्यासम्भवेन तज्ज्ञानस्यासम्भवात् प्रौढोक्तिस्तथाप्यचिन्त्यैश्वर्ये श्रीकृष्णे एकक्षणे स्थलत्रयवर्त्तित्व नासम्भवमित्याह—अस्या प्रौढोक्ताविति । प्रमाणत्रय परस्पर व्याहतम्, एकक्षणे स्थलत्रयवर्त्तित्वस्य प्रमात्मकज्ञानजननेऽसमर्थमपि सर्वमेव प्रमाणत्रय प्रमाकरणम् । कृष्णे न कस्यापि वस्तुनोऽसम्भव , अतो न कुत्राप्यप्रमाण्यमिति वस्तु व्यङ्ग्यम्, वस्तुव्यङ्ग्येन त्व व्यापकोऽसीति वस्तुव्यङ्ग्य वस्तुना व्यङ्ग्य वस्तुरूपएको भेद । पुनस्तेन व्यापकत्वरूपवस्तुनैकस्य परिच्छिन्नस्य सर्वत्रानुगतत्वविरोधेन विरोधालङ्कार ।

है । अर्थात् तुम्हारे स्नेह ही उसका शरीरका उपादानकारण है । सुतरां वह पञ्चभूतारब्ध साधारण शरीर की अपेक्षा पृथक है । इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार है । यहाँ वस्तुके द्वारा अलङ्कार व्यङ्ग्य हुआ है ॥२४॥

मेरे श्रवणयुगल कह रहे हैं—तुम श्रीवृन्दावन मे विहार कर रहे हो। नेत्रद्वय कहते हैं—तुम चतुर्दिक मे वर्त्तमान हो, आत्मा कहती है—तुम हृदय मे विराजित हो। हे महात्मन् ! मेरा यह कष्टसह प्राण, तुम्हारे अनुसरण पथ के पथिक होकर कण्ठ पथ मे ही परिभ्रमण कर रहा है। हाय नाथ ! सत्य कर कहो, तुम कहा हो ?

यहा कविनिबद्ध अनुरागिणी बाला ही वक्त्री है। उस बाला के प्रौढोक्ति हेतु शब्द, प्रत्यक्ष एव अनुभवरूप प्रमाणत्रय परस्पर व्याहत हुये हैं। अर्थात् एक समयमे स्थलत्रय वृत्तिता का प्रमा ज्ञानोत्पादन मे असमर्थ होने पर भी प्रमाण का कारण हुये हैं। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे कुछ भी असम्भव नहीं है । अतएव किसी भी स्थान मे अप्रामाण्य नहीं है। यह एक वस्तु है। उसके द्वारा श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता रूप वस्तु एव उसके द्वारा एक व्यक्ति के पक्ष मे सब स्थान मे अनुगतत्व रूप विरोध हेतु विरोधालङ्कार

क्व नु भवतीति प्रश्नेन सन्देहालङ्कार, तेन महात्मन्निति कदाचिद् यदि न ब्रूषे, तदा कपटी त्वमिति हेत्वलङ्कार। तेन कष्टासवोऽमी त्वदनुसरणपान्था कण्ठ एव भ्रमन्तीति मदसव सस्थान त्यक्तवन्त एव निर्णयमविज्ञाय कण्ठ एव घूर्णन्ते, अतो निर्णीय कथ्यतामिति वस्तु। 'इद पद्यमस्मद्गुरो' इति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिश्चतुर्धा।

शब्दार्थभूरेक एव,

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थो ध्वनिरेक एव। केषाञ्चिन्मतेऽत्रापि वस्त्वलङ्कारसद्भावादनेकविधत्व स्यात्, तन्निरासाय एवकार। किन्तु तन्मत न सङ्गच्छत इति न तेन लिखिष्यमाण-भेदाधिक्यमपि भेदानाम् ॥२५ २६॥

यथा—अशेषसन्तापहरो जनुर्भृता, सदावलाकामदमेदुरद्युति।
त्विषाञ्चयैर्माधवजीवनप्रदो, भवान् भुव श्यामयते घनो नभ ॥

यदि परमेश्वरत्वेन नाय विरोध इत्युच्यत, तथापि व्यतिरेकालङ्कारस्तु भवत्येवेत्याह—व्यतिरेको नेति। एतादृश पुरुषोऽयो नास्तीति पुरुषान्तराद्विलक्षणोऽयमिति व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थ। तथा च वस्तुव्यङ्ग्योऽलङ्कार इति द्वितीयो भेद। तेन च सन्देहालङ्कारेण तथा च मत्सन्देहनिवर्त्तक वाक्य यदि न ब्रूषे, तदा त्व न महात्मा, किन्तु कपटीति हेत्वलङ्कार। तेनालङ्कारव्यङ्ग्योऽलङ्कार इति तृतीयभेद।

तेन हेत्वलङ्कारेण मत्प्राणा कण्ठ एव घूर्णन्ते, अतो निर्णीय कथ्यतामिति वस्तुव्यङ्ग्य तथा चालङ्कारव्यङ्ग्य वस्त्विति चतुर्थो भेद। एव सति एकस्मिन्नेव श्लोके चतुर्धा भेदो द्रष्टव्य। अतएवतत् पद्य कवेरतिशयोक्तिद्योतकमिति ज्ञेयम्। तन्मत न सङ्गच्छत इति न, अपि तु सङ्गच्छत एव। तेन न मते लेखिष्यमाण भेदादपि भेदानामाधिक्य बोध्यम् ॥२५-२६॥

उभयशक्त्युद्भवध्वनेरुदाहरणमाह—यथेति। हे माधव! भवान् त्विषा चयै कान्तिसमूहैर्भुव

हुआ है। एव यदि परमेश्वररूप मे विरोध नहीं होता है, तो यावतीय पुरुष से श्रीकृष्ण का वलक्षण्य को मान लेने से व्यतिरेकालङ्कार हुआ है। 'हाय नाथ! तुम कहा हो' इस प्रश्न के द्वारा सन्देहालङ्कार हुआ है। 'महात्मन्' शब्द के द्वारा बोध होता है कि—'यदि तुम नहीं कहते हो, तुम किस स्थानमे हो, तब तुम कपटी हो।' यह हेत्वलङ्कार है।

यह कष्टसह प्राण तुम्हारे अनुसरण पथ का पथिक होकर कण्ठ पथ मे ही भ्रमण कर रहा है।' अर्थात् मेरा कठिन प्राण—सहसा निर्गत न होने पर भी निज स्थान से निर्गत हुआ है, एव निश्चय रूपसे जानने के निमित्त कण्ठ पथमे ही घूम रहा है। अतएव 'तुम निर्णय कर कहो कि—तुम किस स्थानमे हो' यह एक वस्तु है। ये सब इस श्लोकमे व्यञ्जित हुये है। यह श्लोक मदीय श्रीगुरुचरण के द्वारा विरचित है। इस प्रकार कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति के चार प्रकार भेद का प्रदर्शन हुआ ॥२५ २६॥

उभय शक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण—हे माधव! मेघ, जिस प्रकार कान्तिपुञ्ज से नभ स्थल को श्यामलित करता है, तुम भी उस प्रकार निज कान्ति समूह के द्वारा धरातल को श्यामल किये हो। तुम दोनो ही जीवनप्रद एव स्निग्ध द्युतिके हो, एव उभय ही प्राणिवृन्द के अशेष सन्तापहारक हो।

परमतेऽपि वस्त्वलङ्कारसद्भाव ॥२७॥

यथा वा—माधवन्तकृत् सुमनसामामोदैर्घ्राणतर्पण ।

राधाद्यपरपर्य्यायो माधव कस्य न प्रिय ॥२८॥

वाक्येऽष्टादशधा त्विमे ॥

इमेऽष्टादशधा ध्वनयो वाक्य भवन्तीत्यर्थ । अष्टादशधास्य तु अविवक्षितवाच्यस्य द्वौ भेदौ

श्यामयते श्यामा करोति, मेघस्तु त्विषाचयेनाकाश श्यामयत । एवमबलाना कामदश्चासौ स्निग्धद्युतिश्चेति तथाभूतो भवान्, मेघोऽपि बलाकया बकपङ्क्त्या शोभाज यमदो यस्य तथाभूतोऽश्चासौ स्निग्धद्युतिश्चेति । मेघपक्षे, जीवन जलम् । अत्र मेघकृष्णयोरुपमालङ्कार एव व्यङ्ग्य ननु व्यङ्ग्यान्तरम् । स चापमालङ्कारो बलाका जीवनादिरूपपरिवृत्त्यसह-पदव्यङ्ग्यत्वात् शब्दशक्त्युद्भव तथा देहधारिणामशेष सन्तापहर इति परिवृत्ति सह विशेषणपदज याथव्यङ्ग्यत्वादर्थशक्त्युद्भवश्चेति ज्ञेयम् । परमतऽत्रापि कष्टेन वस्त्वादिध्वनिसद्भाव स्वीक्रियत इति ॥२७॥

उभयशक्त्युद्भवस्योदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । काचिद्व्रजसुन्दरीगुरुजन शङ्कया श्लेषेण स्वसखीमाह—हे सखि ! माधवो वशाख कस्य न प्रिय, पक्षे श्रीकृष्ण । मधाश्चत्रस्यान्तकृत्—वशाखस्य प्रथमदिनारम्भ एव चत्रस्यान्तर्धानादिति ।

कृष्णपक्षे, मधुनाम्नो दत्यस्यान्तकृत् । सुमनसा स्वाङ्गपुष्पाणामामोदजनाना घ्राण तर्पयतीति पक्षे, शोभन मनो यासा तासा सुन्दरोणामामोद स्वीयाङ्ग गन्धर्घ्राण तर्पयतीति । राधादिशब्दत्वापर पर्य्यायो यस्य स, 'वशाखो माधवो राध ' इत्यभिधानात् ।

पक्षे—राधया एवाद्य प्रथम पर श्रेष्ठ पर्य्याय परिसरणमनुगतिर्यस्य स । अत्रापि वशाखकृष्णयो रुपमालङ्कारो व्यङ्ग्य, स च परिवृत्त्यसहो मधुपदसुमन पद राधापदव्यङ्ग्यत्वादेव शब्दशक्त्युद्भव । तथा परिवृत्तिसहान्तकृदामोद घ्राण तर्पणादि विशेषेण पदज याथव्यङ्ग्यत्वादर्थशक्त्युद्भवश्च ॥२८॥

जिस प्रकार मेघ सदा बलाका मद है, अर्थात् बलाका पङ्क्ति का बक पङ्क्ति का आनन्ददायक है, तुम भी उस प्रकार सदाबला कामद हो, अर्थात् सवदा अबलावृन्द को कामप्रद हो ॥२७॥

उभय शक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण—माधव—वशाखमास श्रीकृष्ण, किसका प्रिय नही है ? वशाखमास मधु—चत्रमास का अन्तकारी है । श्रीकृष्ण—मधु नामक दैत्य का अन्तकारी है । सुमना—पुष्प समूह के आमोद के द्वारा जनसमूह की घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करता है । पक्षमे—मनस्विनी गोपाङ्गना की घ्राणेन्द्रिय को आमोद द्वारा तृप्त करता है । एव राधादि अपर पर्य्याय—अर्थात् वशाख पक्षमे राधा प्रभृति अपर पर्य्याय शब्द है जिसका, तादृश कृष्ण के पक्षमे, राधा मे ही प्रथम एव पर पर्य्याय अर्थात् परिसरण है जिसका, उस प्रकार श्रीकृष्ण किसका प्रिय नही है । यहा वशाख कृष्ण मे उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है । वह परिवृत्ति असह—मधुपद, सुमन पद, राधापद- व्यङ्ग्य है । एव शब्दशक्त्युद्भव है । उस प्रकार परिवृत्ति सह—अन्तकृद् आमोद घ्राण तर्पणादि विशेषण पदज य अर्थ व्यङ्ग्य हेतु व्यङ्ग्य वशत अर्थशक्त्युद्भव है ॥२८॥

वाक्यमे अष्टादश प्रकार ध्वनि का भेद है । अविवक्षित वाच्य के दो भेद, अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्य

त वअण सो पफसो त रूअ त सरीरसोरब्भ ।
ते अहरमहुरिमाणो, दाणि हालाहल जाअ ॥
(तद्वचन स स्पशस्तद्रूप तच्छीरसौरभ्यम् ।
तेऽधरमधुरिमाण इदानीं हालाहल जातम् ॥)

अत्र तदादिपदान्यनुभवगोचरान् र्थान् प्रकाश्य पूवममृतवदासीत् सवमिति वस्तुप्रकाशयन्तीति पदगतो ध्वनि ॥३५॥

शब्दशक्त्युद्भवो यथा—मुग्धे पद्मिनि कुलजे, मा कार्षीरत्र विश्वासम ।
अनवस्थितोऽतिमदत , सोऽय साक्षादनेकप कृष्ण ॥

अत्रानेकप शब्द एकार्थोऽपि कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिवशादनेकाथता गत सन् 'मुग्धे' इत्यादि सम्बोधनत्रयार्थेन साधनेन साध्य स्वगतमनवस्थितत्वादिकम् । यथा—त्व मुग्धा,

---

निश्टे तवागमनमनुचितमित्युप लभ्भा ध्वनि । फलमपि फल माकन्दानामिति—पूर्वोक्तोद हरणस्य द्वितीयफलपदस्याधरापेक्षया नि दत्वध्वनौ सह तुलयितु तनतेषा न किञ्चन युज्यते— इति वाक्यान्तरस्यापेक्षा वत्तते । एव अन्येषा यूनताबोधस्य धराऽधर इति वाक्यस्यापेक्षा वत्तत । अतो न त न कवलपदमात्रे ध्व नरिति । सौभाग्यमेतदधिकमिति पूर्वोक्तोदाहरणस्य सौभाग्यादिपदाना विरुद्धलक्षणया प्रेमशून्यत्वरूप-ध्वन्यथबोधे न समथ्यत न भवतात्मगृहस्य माग इत्यादि बहुवाक्यानामपेक्षा वत्तत इति पदमात्रे ध्वनि ॥३४॥

अभिधामूलध्वने प्रभेदस्य शब्दशक्त्युद्भवस्य पदमात्र क्रमेणोदाहरणमाह—त वअण इति । "तद्वचन स स्पशस्तद्रूप तच्छरीरसौरभ्यम् । ते अधरमधुरिमाण इदानीं हालाहल जातम् ॥" अन वाक्या तर पेक्ष्य विना केवल ततपदनव वचनादिनाममृतत्व ध्वनितम् । अङ्गामात्रे विलसदुदय इति पूर्वोक्तपद्य प्रसिद्धच द्रादृव्यतिरेकालङ्काररूपध्वनावनेकवाक्यानामपेक्षा स्पष्टवेति ॥३५॥

मुग्ध इति—हे मुग्धे! अन कृष्णे विश्वास मा कार्षीं, यतोऽयमनवस्थितो धृष्ट इत्यथ । एवमतिमदादनेकपा मत्तो हस्ती च । ननु अनेकपशब्दोऽनेकजनपालन कत्तरि रूढिरेव, तत् कथमवयव-व्युत्पत्त्या तस्य हस्तिबोधकत्वमिति ? अत आह—अत्रेति । असम्भवोऽप्यथ , कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-वशात् सम्भवता प्राप्नोति । अतोऽनेकपद शब्दस्य हस्तिवाचकत्व नासम्भवमिति बोध्यम् ।

वह वचन, वह स्पश, वह रूप, वह शरार सौरभ, वह अधरमाधुय्य अधुना सब ही गरलमय हो गये हैं। इस श्लोक म 'वह पद समूह, अनुभवगोचर पदाथसमूह को प्रकाश करके पहले समस्त ही अमृतमय थे, इस प्रकार वस्तु को प्रकाश कर रहे है—अत उसको पदगत ध्वनि कहनी चाहिये ॥३५॥

अयि मुग्धे पद्मिनि! यह कृष्ण साक्षात् अनेकपदस्वरूप है। यह अनवस्थित एव अतीव मदशाली है। हे कुलजे! इसके प्रति विश्वास करना तुम्हारे पक्ष मे अनुचित है।

इस श्लोक मे अनेकप शब्दाथ वाचक होने पर भी कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति हेतु अनेकाथ का वाचक है। एव उस प्रकार अनेकाथ वाचक होकर मुग्धे इत्यादि सम्बोधन त्रयरूप साधन के द्वारा साध्य

अयमनवस्थित, त्व कुलजा, अयमतिमद, त्व पद्मिनी, अयमनेकपो हस्तीत्यर्थत्रय बोधयति। अनेक पातीति, अनेकेन पिबतीति च, अनेकबधूपतिर्मत्तहस्ती च। पद्मिनीति नायिकाविशेष, कमलिनीति च। त्व कुलजा, अयमनेक पिबतीति मत्तश्च, तेनात्र विश्वास मा कार्षी-र्यतोऽतिमदतोऽनवस्थित। मदो दान गवश्च, तेनास्य वश्य मर्दयिष्यतीति वस्त्वनन्तर वस्त्वन्तरश्च। हस्तिसाधर्म्याद् उपमालङ्कार, अनवस्थित इति हेत्वलङ्कार, अनेकस्य भर्त्तेति स्वभावोक्त्यलङ्कार—इत्यलङ्कार व्यञ्जक शब्दशक्त्युद्भव पदगत ॥३६॥

मुग्धे इ याद्येति—हे मुग्धे! हे पद्मिनि! हे कुलजे इति सम्बोधनपदाना मुग्धात्व पद्मिनीत्व-कुलजातत्वरूपार्थत्रयेण साधनेन साधनज्ञानेन श्रीकृष्णगतमनवस्थितत्वाद्यर्थत्रय साध्य, यथासख्येन बोधयति। तथा हि तत्र मौग्ध्य विलोक्यैव तव धार्ष्ट्य प्रादुर्भवति, न तु सर्वदा धृष्ट। एव तव कुलजात्माकर्ण्य सतु मत्तो भवति, नतु सदा मत्त। एवम यत्रापि।

यथासख्यमेवाह—यथेति। त्व मुग्धा, अयमनवस्थितो धृष्ट। अनेकप-शब्दस्य व्युत्पत्त्या नानार्थत्वमपि बोधयति—अनेकमिति। अनेक बधूजन पाति स्वाङ्गसङ्गदानेन रक्षतीति व्युत्पत्त्या अनेकप शब्दानेकबधूपतिशब्दयोस्तुल्यार्थत्वात्। अनेकप शब्देन अनेकबधूपति कृष्णो बोध्य। एवमनेकाधर पिबतीति व्युत्पत्त्यापि कामोन्मत्त कृष्ण एव बोध्य। तथा अनेकेन स्त्रीपुत्रादिना सह पिबतीति व्युत्पत्त्या हस्ती बोध्य। मत्तहस्तिन स्वभाव एवाय यत् स्त्रीपुत्रादिभि सहैव जल पिबति, पाययति च तान्।

यद्वा, अनेकाभ्या मुखशुण्डाभ्या पिबतीति। हस्तिपक्षे, मदोदान, मदजलमित्यर्थ। कृष्णपक्षे, मदो गव। तेन चेति। तेन वस्तुरूपव्यङ्ग्येनेत्यर्थ। अनवस्थितत्वेन धृष्टत्वेनातिमदत्वेन च हेतुना अय श्रीकृष्णस्त्वा न त्यक्ष्यति, कि तु त्वामवश्य मर्दयित्येव वस्त्वन्तर व्यङ्ग्यम्। अनवस्थितत्वेन हेतुना भावि मदनस्यानुमानात् हेत्वालङ्कारश्च व्यङ्ग्य।

वस्तुत श्रीकृष्णो नकस्य जगतो भर्त्ता, इत्यनेकप शब्देन स्वभावोक्त्यलङ्कारश्च बोध्य। पदगत

अनवस्थितत्व प्रभृति अर्थत्रय प्रकाशित हो रहे है। उक्त अर्थत्रय इस प्रकार हैं—

तुम मुग्धा हो, इस हेतु कृष्ण भी अस्थिर चित्त है। अर्थात् तुम्हारी मुग्धता को देखकर ही उसकी मत्तता भी इस प्रकार हुई है। तुम पद्मिनी हो, वह भी अनेकप है, अर्थात् हस्ती है। अनेक को पालन करता है, अथवा अनेक पान करता है। इस प्रकार व्युत्पत्ति से अनेकप शब्द से अनेक बधूपति का एव मदमत्त हस्ती का बोध होता है। पद्मिनी का अर्थ—नायिका विशेष एव कमलिनी है। मद शब्द का अर्थ—गव एव हस्ती की मदधारा है। तुम कुलजा हो, यह कृष्ण अनेक बधूजन के अधरादि पान करता है, एव मत्त भी है। सुतरा इसको विश्वास करना ठीक नहीं है। जब यह अति मदशाली है, अत यह अनवस्थित है। अतएव हस्ति के ससग से पद्मिनी के समान उसके ससग से तुम विमर्दित हो जाओगी। यह वस्तु है। अनवस्थितत्व एव अतिमदशालित्व हेतु तुमको यह अवश्य ही विमर्दित करेगा। यह वस्त्वन्तर है।

हस्ति का साधर्म्य हेतु उपमालङ्कार है। मदन के प्रति अनवस्थितत्व रूप हेतु का निर्देश होने से हेत्वलङ्कार हुआ है।

पदगतार्थशक्त्युद्भव स्वत सम्भवी यथा—

णिहुअणकधाहिं धण्णा, णिअपरिवार सुहावेन्ति ।
अप्पाण पि ण हु तदा, सुमरइदाणिं भणादु किं भोदी ॥
(निधुवनकथाभिधन्या निजपरिवार सुखापयन्ति ।
आत्मानमपि नहि तदा स्मरतीदानी भणतु किं भवती ॥)

अत्र न ता धन्यास्त्वमेव धन्या, तासा सखीभ्यो वयमतिसुखिन्य, त्वदानन्दावेशादेव वयमकथनेनाप्यानन्दभाज । तास्तु तत्कथयैवेति धन्यापदगत स्वत सम्भवी। अपरे तूह्या, ग्रन्थगौरवभयान्नोदाह्रियन्ते । वाक्यगता पूर्वमेव कियन्तो दर्शिता ॥३७॥

पञ्चत्रिंशत्तमो भेदा:,

ततोऽष्टादशभि सप्तदशभिश्चेत्यर्थ ।

इति - अत्र परस्परान्वित पदघटित वाक्य विनव केवल पद्मिनीपदेनव केवलानेकपादि पदेन च तत्तद् ध्वन्यथबोधा जायत इति भाव ॥३६॥

णिहुअणेति—'निधुवनकथाभिर्धन्या निजपरिव र सुखापयन्ति । आत्मानमपि न तदा स्मरति इदानीं भणतु कि भवती ॥' निधुवन—शब्दो नायिका नायकयो सम्भोगवाची। न वा धन्या इति तासा प्रेम्ण ऽल्पप्रमाणत्वेन सम्भोगजन्या न दस्याप्यल्पप्रमाणत्व । तथा च तासा सम्भोगसमये देहाद्यनुसन्धानसत्वात् सखीनामग्रे तत्समयोचितवृत्तान्तकथन सम्भवति, तव त्वान दाना सम्मर्द्देनात्मानु सन्धानमेव नासीत्, कुत सखीनामग्रे विशेषवार्ता कथनसम्भावनापि । अतस्तासा सखीभ्य सकाशाद् वयमतिसुखिन्य । अत्र वाक्य विनैवकेवलधन्यापदेन स्वत सम्भवी ध्वनि र्बोध्य ।

अपरे कविप्रौढोक्तिकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त्यादय। ध्वनय पूर्व कियन्त एव दर्शिता , न तु तत्रापि विस्तर कृत ॥३७॥

अथवा अनेक का भर्त्ता है, इस प्रकार अर्थ की विद्यमानता हेतु स्वभावोक्ति अलङ्कार है। यहाँ परस्परान्वित पदद्वय घटित वाक्य के बिना ही केवल कमलिनी पद के द्वारा एव केवल अनेकपादि पद के द्वारा विविध वस्तु एव अलङ्कार व्यञ्जक शब्दशक्त्युद्भव पदगत ध्वनि हुई है ॥३६॥

जो सम्भोग वृत्तान्त वर्णन करके निज परिवार वर्ग को सुखी करते हैं, वे धन्य है। किन्तु तेरा तो उस समय अपना स्मरण नहीं रहता है, सुतरा हे सखि ! तू कैसे उस समय के वृत्तान्त को वर्णन हम सबके पास करेगी ?

इस श्लोक में वे सब धन्या नहीं हैं, तुम्ही धन्या हो, उसकी सखियो से हम सब अधिक सुखी हैं। कारण, तुम्हारा अधिकतर आनन्दावेश हेतु तुम उस समय का वृत्तान्त न कहने पर भी हम सब अतिशय आनन्दभागिनी हैं। वे सब उक्त वृत्तान्तसमूह को सुनकर ही उस प्रकार आनन्दभागिनी होती हैं। इस प्रकार पद मे स्वत सम्भवी ध्वनि है। अन्यान्य ध्वनि भेद का उदाहरण प्रस्तुत सुधीगण स्वय ही करें। ग्रन्थगौरव भय के उसका उदाहरण प्रस्तुत नही करते हैं। पूर्व मे कतिपय वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण सक्षेप से प्रस्तुत किया गया है ॥३७॥

प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ।

अथशक्त्युद्भवो द्वादशविधो ध्वनि प्रबन्धेऽपि ।

सप्तचत्वारिंशदत.,

अतो हेतो सप्तचत्वारिंशद् भवन्ति ॥३८-४०॥

प्रबन्धे दिङमात्रमुदाह्रियते—

सहन्ति गन्ध विण वै जणा ण, णवप्पसूआ सअला हि गाओ ।
ण तेण दोहो ण पअप्पसङ्गो, अज्जे बहूओ तुह विण्णवेन्ति ॥
(सहन्ते गन्धमपि न वै जनाना नवप्रसूता सफला हि गाव ।
न तेन दोहो न पय प्रसङ्ग आर्य्ये बध्वस्त्वा विज्ञापयन्ति ॥)

अत्र बधूभि प्रेषितश्वश्रूधात्र्या नप्त्री तासा श्वश्रूप्रति कथयति ॥४१॥

तच्छ्रुत्वा सापि जरती तामाह—

करेमि किं णत्तिणि धत्ति आए, वएस्सरीं लम्भिअ विण्णवेहि ।
तुह्माण सव्व मह गोहणादि, धण जणाओ वि सुह च दुक्ख ॥

पञ्चत्रिंशत्ततो भेदा इति सूत्रम् । तस्य व्याख्या—तत इति । तथा च पूर्वोक्तवाक्यगताष्टादशभिस्तथा उभयशक्त्युद्भवध्वनेस्तु केवलपदगताष्टादशभिस्तथा उभयशक्त्युद्भवध्वनेस्तु केवलपदगतत्वासम्भवात्, अत पदगतसप्तदशभिश्च मिलित्वा पञ्चत्रिंशद्भेदा सिद्धा इति भाव । चतुर्भि पञ्चभिर्वा श्लोक सिद्धा या कल्पना कथा सा प्रबन्ध । तत्राथशक्त्युद्भवो द्वादशविधो ध्वनि सम्भवति । सप्तचत्वारिंशदत इति ॥३८-४०॥

सह तीति । 'सहन्ति गन्धमपि न वै जनाना नवप्रसूता सकला हि गाव । न तेन दोहो न पयः प्रसङ्ग आर्य्ये बधूस्त्वा विज्ञापयन्ति ॥'४१॥

करेमीति । 'करेमि किं नप्त्री धात्र्या व्रजेश्वरीं लब्ध्वा विज्ञापय । युष्माक सर्वं मम गोधनादिधन

उक्त रीति से पूर्वोक्त वाक्यगत अष्टादश एव पदगत सप्तदश भेद से पञ्चत्रिंशत् भेद होते हैं। प्रबन्ध मे भी अथशक्त्युद्भव द्वादशविध ध्वनि होती हैं। समष्टि मे सप्तचत्वारिंशत् ध्वनि भेद सुनिष्पन्न हुआ ॥३८ ४०॥

प्रब ध मे दिङमात्र उदाहरण यह है—आर्य्ये ! बधूगण विज्ञापित कर रही हैं, समस्त धेनु ही नवप्रसूता है, वे लोको की गन्ध को भी सहन नहीं करती हैं। इस हेतु दोहन अर्थात् दुग्ध का प्रसङ्ग कुछ भी नहीं है। इस श्लोकमे बधूगण कर्त्तृक प्रेरिता श्वश्रू धात्री नप्त्री बधूवृन्दकी श्वश्रू को कहती है ॥४१

सुनकर वृद्धा श्वश्रू बोली—हे धात्रिका नप्त्रि ! मैं क्या करूँगी। तुम व्रजेश्वरी के निकट जाकर कहो कि मेरा यह गोधन, परिजन, सुख, दु ख—सब कुछ तुम्हारे हैं। धेनु दोहन करना मेरे पक्ष मे

सुदुप्पओहा मद सव्व गाओ पुत्ता विदूरे किमह करेमि ।
विलोअणादो तुह णदणसस, सुदुप्पओहावि सअप्प ओहा ॥४२-४३॥

इति जरत्युत्तरान्ते गोष्ठेश्वरीं गत्वा तया यदुक्त तत्कथयति—

एव्व कखु ताए भणिदा गदाह, वएससरीं उत्तवदी समत्थ ।
उत्तेण ताए कुमरेण उत्त, गोसप्पओहो मम ण कखु होइ ॥
(एव खलु तया भणितागताह व्रजेश्वरमुक्तवती समस्तम् ।
उक्तेन तया कुमारेणोक्त गोसप्रदोहो मम न खलु भवति ॥)

इति चतु सवादप्रबन्धे बधूभि कृष्णसन्दशनार्थमुपायमनवेक्ष्य प्राकरणिक-दुष्प्रदोहगोदोहाभाव प्रसङ्ग श्वश्रू प्रति विज्ञापित । अत्रापह्नुति नामालङ्कार । तथा च गोदोहोपाय चि तयित्वा हे धात्रिका नप्त्रि ! गोष्ठेश्वरी गत्वा विज्ञापयेत्युत्तर दत्तमित्युत्तरालङ्कार । ततश्च 'सुदु प्रदोहा मम सर्वगाव' इति स्वभावोक्त्यलङ्कार । विलोकनादित्यादिनाऽतिशयोक्ति । तथा च सुखदोहे परिश्रमस्तस्य न भविष्यतीति वस्तु । गोसप्रदोह प्रभात प्रदोहो मत्तो न भवतीति निश्चयालङ्कारेण साय दोहस्तु मया कर्त्तव्य इति बधूनामाशय

जना अपि सुख च दु खम् । सुदुष्प्रदोहा मम सवगाव पुत्रा विदूरे किमह करोमि । विलोकनात्तवन दनस्य सुदुष्प्रदोहा अपि स्वय प्रदोहा ॥'४२-४३॥

जरत्या उक्तचतन्तर व्रजेश्वरीनिकट गत्वा तत्सव कथितम्, पश्चात्तया गोष्ठेश्वर्या यद्यदुक्त तत् सत्र पुनवधूनिकटे आगत्य धात्र्या नप्त्री कथयति—एवमिति । 'एव खलु तया भणिता गताह व्रजेश्वरीमुक्तवती समस्तम् । उक्तेन तया कुमारेणोक्त गोसप्रदोहो मम न खलु भवति ॥' गोस शब्द प्रात कालवाची । चतु सवादेति—बधूभि सह धात्रीनप्त्र्या सवाद प्रथम, पश्चाद्धात्रीनप्त्र्या सह

कष्टकर है । पुत्रसमूह दूरदेश मे हैं, अधुना मै क्या करूँ ? तुम्हारे पुत्र को एकवार देखने से धेनुवृन्द स्वय दुग्धदान करेंगी ॥४२ ४३॥

वृद्धा के कथनानुसार गोष्ठेश्वरी के निकटमे धात्रिका नप्त्री कही थी । अनन्तर व्रजेश्वरी कुमार को कहने से कुमारने कहा—गो दोहन करना सम्भव नहीं है ।

इस प्रकार चतु सवादमय प्रब ध मे प्रथम कृष्ण दशन हेतु उपायान्तर न देखकर सास के प्रति बधूगण क द्वारा कष्ट दोह्या धेनुवृन्द का दोहनाभाव वृत्ता त निवेदन । दोहनोपाय चिन्तनानन्तर सास बोली थी,—'तुम जाकर व्रजेश्वरी को कहो' इस प्रकार उत्तर प्रदान । यहा उत्तरालङ्कार है । अनन्तर धेनुवृन्द अति कष्ट दोह्या हैं । यहा स्वभावोक्ति अलङ्कार है । तुम्हारे पुत्रको देखने से धेनुवृन्द स्वय ही दुग्ध दान करेंगी' यहा अतिशयोक्ति है । उक्त अतिशयोक्ति के द्वारा सखकर दोहन विषय मे कुमार को कष्ट उठाना नहीं पड़ेगा—यह वस्तु है । 'मै गो दोहन कर न सकूगा'' यहा गो शब्द का अथ है—प्रभात, अत प्रभात समय मे गो दोहन करना मेरे पक्षमे सम्भव नहीं है । इस प्रकार अभिप्राय प्रकाश करने से निश्चयालङ्कार हुआ । उसके द्वारा 'साय काल मे गो दोहन अवश्य मै कर दूगा' इस प्रकार सङ्केत—

ज्ञात्वा छलेन सङ्केत कृत इति वस्तु—इति चतु श्लोक्या समुदित प्रबन्धो हि मुख्यो व्यञ्जक ।

तथा हि 'जनाना गन्धमपि न सहन्ते' इत्यन्यैरदोह्यत्व वस्तु । अत्र नवप्रसूता इति हेतोर्हेत्वलङ्कार । तेन 'कृष्ण विना नासा दोह' इति श्वश्र्वा कृष्ण आनायितव्य इति वस्त्वन्तरम् । न तेन दोह इत्यनेन पयोऽभावाद् वयमक्रिया स्म । अत्र मा कोप कार्षीरिति च वस्त्वन्तरम् । 'तुहाण सव्व' इत्यादिना विनयमहिम्ना कृष्णोऽवश्य व्रजेश्वर्या प्रेषयितव्य इति वस्तु ।

एव नाटकादिषु चेति तदभेदकथनेनानन्त्यप्रसङ्ग इति नात्र लिखिल । एव प्रबन्धेऽप्यन्य एकादशापि बोद्धव्या ।४४॥

पदांशाद्या रसाञ्जका ॥

पदाशवर्णरचना इति त्रितयमपि रसस्य व्यञ्जक भवति । रसोऽत्रासलक्ष्यक्रम ।

धात्रीनप्त्र्या सवद प्रथम, पश्चाद्धात्रीनप्त्र्या सह जरत्या सवादो द्वितीय, तदनन्तर व्रजेश्वर्या सह धात्रीनप्त्र्या सवादस्तृतीय, तदनन्तर व्रजेश्वर्या सह श्रीकृष्णस्य सवादश्चतुर्थ । इत्येव क्रमेण चतु सवादो ज्ञय । अतिशयोक्तिरिति विलोकनमात्रादेव प्रथम ता दुग्धा भविष्यन्ति, पश्चात् कृष्णस्ता धोक्ष्यतीति कार्यकारणविपर्ययात्मा अतिशयोक्तिरिति चतुर्थी । मुख्यो व्यञ्जक इति—पूर्वोक्ता व्यङ्ग्या न प्रधानीभूता, अतएव प्रबन्धो मुख्योऽमुख्यव्यङ्ग्यपरोऽपि सम्भवतीत्यर्थ । मुख्यव्यङ्ग्यानेवाह—तथा हीति। अत्र व्यङ्ग्यवस्तुनि, अदोह्यत्वे इत्यर्थ । अनन्त प्रसङ्ग इति—अनन्तध्वनिभेदप्रसङ्ग इति हेतोरत्र न लिखित ॥४४॥

पदाशादिभी रसस्य त्रयो भेदा । एव प्रबन्धस्थले एको भेद, एव क्रमेण चत्वारो भेदा सिद्धा ।

बधूवृन्द के आशय को जानकर ही किया गहा है—यह वस्तु है। ये सब व्यञ्जित हैं। उक्त श्लोकचतुष्टय मे स्थित प्रबन्ध ही मुख्य व्यञ्जक है ।

धेनुवृन्द अपर मनुष्य की गन्ध सहन नही करती है। अर्थात् अन्य कर्त्तृक वे अदोह्या हैं। यह वस्तु अपर के अदोह्यत्व के प्रति नवप्रसूतत्वरूप हेतु का निर्देश होने पर हेत्वलङ्कार है। एव तद्द्वारा कृष्ण व्यतीत अपर कोई दोहन कर ही न सकेगा। अतएव सास अवश्य कृष्ण को बुलावेगी। यह अन्य एक वस्तु है। इस हेतु दोहन अर्थात् दुग्ध का प्रसङ्ग नही हुआ है। इससे दुग्ध न होने के कारण—हम सबके प्रति कोप न करो, यह एक वस्तु है। 'मेरे गोधनादि समस्त ही तुम्हारे हैं' इस प्रकार विनय महिमा से सन्तुष्ट होकर व्रजेश्वरी कृष्ण को अवश्य ही प्रेरण करेगी। यह एक वस्तु है। ये सब व्यञ्जित हो रहे हैं।

नाटकादि मे भी इस प्रकार है। उक्त भेदसमूह का उल्लेख करने से ध्वनि के अनन्त भेद उपस्थित होगे। अत यहा उल्लेख नही किया गया है। इस प्रकार प्रबन्ध मे भी अपर एकादश प्रकार भेद को जानना होगा ॥४४॥

पदाश, वर्ण एव रचना भी रसव्यञ्जक है। यहा रस—असलक्ष्यक्रम है, इस हेतु उसके तीन भेद हैं।

तेन तस्य त्रयो भेदाः प्रबन्धेऽपि स कथ्यते । सोऽसलक्ष्यक्रम ।

भेदास्तेनैकपञ्चाशत्,

तेन पूर्वलिखित-सप्तचत्वारिंशता चतुर्भिरेतैश्चैकपञ्चाशद् भवन्ति ॥४५-४७॥

पदांशा पदैकदेशा । ते च—

प्रकृति प्रत्यय कालो वर्त्तमानादिरेव च । सम्बन्धो वचनञ्चापि पुरुषव्यत्ययोऽपि च ॥

तद्धित चोपसर्गश्च निपात सर्वनाम च । कर्मभूताधिकरणमव्ययीभाव एव च ।

तथा पूर्वनिपातश्च पदांशा परिकीर्त्तिता ॥

रचना च त्रिधा दीर्घ-मध्य-रिक्त-समासत ॥

दीर्घसमासा मध्यसमास'—असमासा चेत्यर्थ ।

वर्णा मृदुकठोराद्यास्ते पश्चात्प्रतिपादिता ॥

आद्य-शब्दान्मधुरा । एषां व्यञ्जकत्वे दिङ्मात्रमुदाहरणम् ॥४८ ५१॥

ननु वस्त्वलङ्कारादयोऽपि पदांशादीना ध्वनय सम्भवन्ति, तत् कथ पदांशादीना रसमात्रे व्यञ्जकत्वमुक्त वा चतुर्धाभेद कृत ? इत्यत आह—रसोऽत्रेति । रसशब्दोऽत्रासलक्ष्यक्रमसामान्य एव उक्त , न तु रसमात्रे । अत पदांशादिजन्यवस्त्वलङ्कारादयोऽप्यसलक्ष्यक्रमा भवन्तीति न दोष । तथा च रसो हि वाक्यजन्य पदजन्यपदांशादिजन्यबोधसामान्य एवासलक्ष्यक्रम, वस्त्वलङ्कारादयस्तु पदांशवर्णरचनाजन्यबोधे एवासलक्ष्यक्रमा , न तु वाक्यजन्यबोधे पदजन्यबोधे वा असलक्ष्यक्रमा , अतएव रसेन सह वस्त्वलङ्कारादीनामेतावानेव भेद । पदांशप्रकृत्युदाहरणे 'मा कुरु मानिनि मानम्' इति पद्ये 'कृञ' धात्वर्थस्य कृतेरैच्छिकत्वेन मानस्य न साहजिकत्वम्, अनोऽपराधाभावाद्विभावनालङ्कार ।

इति क्रमेण प्रत्ययादिजन्यवस्त्वलङ्कारव्यङ्ग्यस्यातिगूढत्वेन तत्र तत्र असलक्ष्यक्रमो ज्ञेय । वाक्यजन्ये पदजन्ये च बोधे वस्त्वलङ्कारव्यङ्ग्यस्यातिस्पष्टत्वेन तत्र तत्र सलक्ष्यक्रमोऽतो न किमप्यनुपपन्नमिति भाव ॥४५-४७॥

एवमेव प्रकृति-प्रत्यय-काल वर्त्तमानादिजन्यबोधेऽपि वस्त्वलङ्कारादीनामसलक्ष्यक्रमत्व ज्ञेयम् ॥४८ ५१

प्रबन्ध मे भी उक्त असलक्ष्यक्रम व्यञ्जक होता है । इस प्रकार पूर्वलिखित सप्तचत्वारिंशत् एव ये चार के योग से एकपञ्चाशत् सख्यक हैं ॥४५ ४७॥

पदांश शब्द से पद का एकदेश को जानना होगा । अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, वर्त्तमानादि काल, सम्बन्ध, वचन, पुरुषप्रत्यय, तद्धित, उपसर्ग, निपात, सर्वनाम, कर्मभूत अधिकरण, अव्ययीभाव एव पूर्व निपात—इन सबको जानना होगा । दीर्घ समास, मध्य समास एव असमास ये तीन प्रकार भेद के अनुसार रचना भी तीन प्रकार होती हैं ।

वर्णसमूह मृदु एव कठोर होते हैं । आद्य शब्द से मधुर को जानना होगा । इन सब व्यञ्जकत्व का उदाहरण दिङ्मात्र प्रदर्शित हो रहा है ॥४८ ५१॥

तत्र प्रकृतेर्यथा — मा कुरु मानिनि मान, सुहृदा वचन प्रवेशय श्रवणे ।
गोकुलमहेन्द्रतनयो, भवतु सनाथ प्रसादमासाद्य ॥

अत्र कृञ प्रकृत्या कृतेरैच्छिकत्वम्, तेन तन्मानकरण त्वदिच्छाधीनमेव, नतु साहजिकत्वम्, तस्यापराधाभावात्, तेन विभावनालङ्कार तन्मान्मा कुरु, त्यजेत्यर्थ । सुहृद्वचन तव श्रवणेप्रविशदपि न प्रवेष्टु शक्नोति,—तन्मनस श्रवणेन सहासयोगात् । तत् प्रवेशय, मनो दीयताम् । सुहृत्सम्बन्धित्वेन वचनस्य श्रवणप्रवेशो युक्त एवेति 'णिच् प्रत्यय ध्वनि ॥५२॥

एव सति रसस्योदाहरणमग्रे रसग्रन्थे वक्ष्यति । अत प्रत्ययादिनन्यत्रस्त्वलङ्कारव्यङ्ग्य ना मुदाहरणा याह—मा कुरु मानिनि मानमित्यादि । तव प्रसाद प्राप्य श्रीकृष्ण सनाथो भवत्वित्य वय । तथात्र कृञ् धात्वर्थ कृतिरुपाय एव सम्भवति, नतु फले ।

अत्राय क्रम - आदौ तृप्तिरूप फलेच्छा, तदन तर फलस्योपाये भोजने इच्छा, तदनन्तर तादृशेच्छा धीनाभोजनरूपोपाये कृति, तादृश कृत्यनन्तर भोजनक्रियासिद्धि ।

भोजने जाते सति तृप्तिरूप फल स्वतसम्भवति, नतु फले कृति सम्भवति । अन्यथा भोजन करोतीति तद्वत् तृप्ति करोतीत्यपि प्रयोग स्यात् । एव सति मानस्यापराधज यफलरूपत्व स्वीकारे तत्र फलरूपमाने कृतिन सम्भवति ।

कृतेरसम्भवादेव 'मान न कुरु' इति मानविषयककृतिनिषेधोऽपि न सम्भवति । अतो 'मान मा कुरु' इति वाक्येन मानस्यापराधजन्यफलत्व न बुध्यते, किन्तु श्रीकृष्णेन सह परिहासाथ स्वेच्छया मानस्य कृत्रिमत्वमेव बुध्यते इत्याह—अत्र कृञिति ।

कृञ प्रकृत्या कृञ पदेन मानविषयककृतेरच्छिकत्व श्रीकृष्णेन सह परिहासाथमेव कृत्रिमेच्छा-जन्यत्वमिति प्रथम व्यङ्ग्य वस्तु, तेन वस्तुना त्वन्मानकरण त्वदिच्छाधीन कृत्रिममेव, नतु साहजिकम्, नत्वपराधज यफलरूपम् । तत्र हेतु —तस्य कृष्णस्यापराधाभावादिति द्वितीय व्यङ्ग्य वस्तु । तेन वस्तु व्यङ्ग्यवस्तुना विभावनालङ्कारो बोध्य । 'कारण विना कार्य्योत्पत्तिर्विभावना' इति तल्लक्षणम् ।

एतादृश गूढार्थानुस धानेन वस्त्वलङ्कारादि ध्वनिबोधो ज यते, इत्यसलक्ष्यक्रमत्वमेषा वस्त्वादीना मुचितमेव । एवमुत्तरोत्तरपद्याशानामुदाहरणे सवत्रासलक्ष्यक्रम एव ज्ञेय इति भाव ॥५२॥

प्रकृति का उदाहरण यह है—अयि मानिनि ! मान न करो, सुहृद्वृन्द के वाक्य को श्रवण मे स्थान दो । गोकुलेन्द्रनन्दन तुम्हारा प्रसाद को प्राप्त कर कृष्ण सनाथ हो जाय ।

यहाँ कृञ धात्वर्थ जो कृति है, उसका ऐच्छिकत्व बोध होता है । इससे मानावलम्बन करना तुम्हारी इच्छाधीन है । वह स्वाभाविक नही है, कारण—उसका कोई अपराध नही है । इस प्रकार प्रतीति हेतु विभावन लङ्कार होता है, एव मान न करो, अर्थात् मान त्याग करो, इस प्रकार तात्पर्य्य प्रकाशित होता है ।

सुहृद्वचन तुम्हारे श्रवणमे प्रवेश करके भी प्रविष्ट होने मे सक्षम नही है । कारण—श्रवण के सहित तुम्हारा मन सयोग नहीं है । अर्थात् प्रवेश कराओ, अर्थात् मनोयोग करो । वह वचन, सुहृत् सम्बन्धीय होने के कारण—कर्णकुहर मे उसको प्रवेश कराना कर्त्तव्य है । इस प्रकार णिच् प्रत्यय की ध्वनि हो रही है ॥५२॥

प्रत्ययस्य यथा—आणिअ भअणदुआर, धरणीए पाइ आणिकुसुमाइ ।
पिअसहि किंति विसीदसि, पुणा वि चल तत्थ कुसुमत्थ ॥

अत्र कुसुमाहरणच्छलेन वृन्दावन गत्वा सङ्केतस्थले कृष्णमनागत वीक्ष्य कुसुमान्यादायैव गृहमागता पुन सङ्केतमुरलीध्वनश्रवणानन्तर पुनर्गमनोत्कण्ठया व्याजेन पातितकुसुमा काञ्चिन् प्रतिहृदयज्ञा सखी वदति—प्रियसखि ! किमिति विषीदसि भूमिपातितानि कुसुमानि देवदेयानि न भवन्ति, पुनरपि तत्र कुसुमार्थं गच्छ । मया ते गुरुजनो बोधनीय, न किञ्चिदपि ते भयमिति 'णिच' प्रत्ययस्यैव ध्वनि ॥५३॥

कालस्य यथा—सहजमरुण नेत्रद्वन्द्व स्वभावत एव ते,
सतत मुरलीध्वानक्रीडाविधौ व्रणितोऽधर ।
वनविहरणे रात्रौ गात्र स कण्ठकलाञ्छन,
कथमिव कृत स्वामिन् स्वा माऽपराधविसण्ठुल ॥

अत्र कृत इति 'क्त'प्रत्ययेनोक्तातीतकालेन मत्सम्मुखागमनात्पूर्वमेवात्मनस्तवापराधनिसण्ठुलयता

आणिअ भअण इति । आनीय भवनद्वार धरण्या पातितानि कुसुमानि । प्रियसखि किमिति विषीदसि पुनरपि चल तत्र कुसमार्थम् ॥' णिच प्रत्ययस्येति पातितानीत्यत्र णिच प्रत्ययस्येत्यथ ॥५३॥

भो प्राणप्रिये ! ममापराधाभावेऽपि मिथ्यापराध प्रदत्त्य अधिक कुध्यसि चेत्, भवतु, त्वद् वचनेनवममापराधकल्पनम्, तथापि त्वत्कृपव मम निस्तारकारणमिति श्रीकृष्णे वदति सति नाधुना तवापराधो जात, किन्तु मत्निकटागमनात् पूर्वमेव जात इति स्पष्टीकर्त्तुं कापि मानिनी सोल्लुण्ठवचनमाह—

प्रत्यय का उदाहरण—भवन के द्वार पर्यन्त आनयन कर पुष्पसमूह भूतल मे निपतित हुये । हे प्रियसखि ! विषाद करके और क्या होगा ? जाओ, पुनर्वार वहा से पुष्प ले आओ ।

इस श्लोक मे वर्णित है—एक गोपी पुष्पानयन च्छल से वृन्दावन मे उपस्थित होकर सङ्केत स्थलमे कृष्ण को अनागत देखकर पुष्पसमूह लेकर घरमे चली आई है । अथच परक्षण मे ही सङ्केतस्थान की मुरलीध्वनि को सुनकर पुनर्वार वहाँ उपस्थित होने के निमित्त उत्कण्ठिता होकर छल पूवक पुष्पसमूह को भूतल मे निपातित करते देखकर ममज्ञा सखी उसको कह रही है—हे सखि ! विषाद क्यों कर रही हो ? भूतल मे पतित पुष्प देवता को प्रदान किया नहीं जावेगा, पुनर्वार तुम वहाँ पुष्पचयनार्थ गमन करो । मैं तुम्हारे गुरुजन को समझा दूगी, तुम डरो मत ।

'पातित' यहाँ णिच प्रत्यय के द्वारा ये सब ध्वनि हुये हैं ॥५३॥

समय का उदाहरण—तुम्हारे नेत्रयुगल तो स्वभावत अरुणवण हैं, अधर तो मुरलीध्वनि के विलास हेतु स्वभावत ही सतत व्रणाङ्कित है । रात्रिकाल मे वनविहार हेतु शरीर तो सवदा ही कण्टकचिह्नयुक्त होकर रहता है । हे स्वामिन् ! क्यों तुम्हारे निज शरीर अपराध के द्वारा असमीचीन हो रहा है ?

जाता। तत परमेव मत्सम्मुखभागतोऽसीत्यतिशयोक्त्यलङ्कार । तेन च मा प्रति तव भयाधिक्यम्, ता प्रति तव प्रेमाधिक्यमिति वस्तु ।।५४।।

सम्बन्धस्य यथा—अइ पिअसि गोवि आण, पेअ कण्हस्सअहरपल्लअ मुरलि ।

णिअपरविवेअकुसला, अम्मो णो होन्ति सच्छिद्दाओ ।।

अत्र गोपिकानामेवेति स्व स्वामिभावसम्बन्ध, गोपिकाभिरेव पातु युज्यते, न त्वयेति व्यतिरेकालङ्कार । अर्थान्तरन्यासेनापि त्व सच्छिद्रा, इति व्यतिरेक ।।५५।।

वचनस्य यथा—विलासचेष्टा सखि केशिनाशिनो, हालाहलाभा प्रदहन्ति मे मन ।

कृन्तन्ति मर्माणि गुणा घुणा इव, प्रेमा विकारी हृदि हृद्व्रणो यथा ।।

अत्र 'प्रेमा' इत्येकवचन, प्रेम्ण एकनिष्ठत्वव्यञ्जकम्, तेन तस्य मय्येव प्रेमा, अतएव विकारी।

हे कृष्ण ! तव नेत्रद्वन्द्व सहजमरुणम्, नतु कस्या अपि प्रियाया अधररागेणारुणम् तव गात्र कण्टकचिह्नेन सह वर्त्तमानम्। हे स्वामिन् ! स्वात्मा स्वदेह कथमपराधेन विसष्ठुलोऽसमीचीन कृत इति सम्भोगचिह्नस्य स्पष्टदर्शनेऽपि यत्त्व मिथ्या वदसि, तत्र मयि विषये तव भयमेव कारणमित्याह—मा प्रतीति ।।५४।।

अइ इति ' अयि पिबसि गोपिकाना पेय कृष्णस्याधरपल्लवम् । मुरली निजपरविवेककुशला अहो न भवन्ति सच्छिद्रा ।।"५५।।

हृद्व्रणो यथा हृदि नानाविधपीडामय विकार करोति, तथव मयि विषये श्रीकृष्णस्य प्रेमा मम हृदि विकारी भवति। मय्येवेति—मयि विषये एव तस्य प्रेमा, नान्यत्र, अतो मद्धृदये नानाविधविकार मुत्पादयतीत्यथ । अत्रेति—पूव 'विलासचेष्टा ' एव 'गुणा ' इत्यत्र बहुवचनमुक्तम्। अत्र तु 'प्रेमा'

यहा 'कृत' 'क्त' प्रत्ययोक्त अतीत कालके द्वारा 'मेरे सम्मुख मे आने के पहले ही तुम्हारी यह अपराध विसष्ठुलता हुई है, उसके बाद ही तुम मेरे पास आये हो' इस प्रकार अथ प्रतीति हेतु अतिशयोक्ति अलङ्कार हुआ है। एव इसके द्वारा मेरे प्रति तुम्हारा भय अधिक है, एव उसके प्रति प्रेम अधिक है। इस प्रकार वस्तु व्यञ्जित हो रही है ।।५४।।

सम्बन्ध का उदाहरण—श्रीकृष्ण का जो अधरपल्लव गोपिकागण का पेय है, अयि मुरलि ! तुम उसको पान कर रही हो ? कसा आश्चय है ! जो सच्छिद्र होते हैं, वे विचार नहीं करते है कि—कौन वस्तु परकीय है।

यहा गोपिकावृन्द का ही पेय है, इस प्रकार स्व स्वामि भाव सम्बन्ध प्रतीत होता है। उससे गोपिकागण को ही पान करना चाहिये, तुमको नहीं। इस प्रकार व्यतिरेक अलङ्कार प्रतीत होता है। एव अर्थान्तर यास के द्वारा भी तुम तो छिद्रबहुला हो, हम सब अछिद्रा हैं, अर्थात् निर्दोषा हैं। इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार ध्वनित होता है ।।५५।।

वचन का उदाहरण यथा—हे सखि ! केशव की विविध चेष्टा हालाहल के समान मेरा चित्त को दग्ध कर रही है। तदीय गुणराशि घुण के समान मेरा मम को छेदन कर रही है। उसका प्रेम हृद्व्रण के समान मेरा हृदय मे विषम विकार उत्पन्न कर रहा है।

यहा 'प्रेम' एक वचन है। यह प्रेम का एकनिष्ठत्व का व्यञ्जक है। एव उसके द्वारा उनका प्रेम

अत्र वचनक्रमभङ्गदोष गुण एव ॥५६॥

पुरुषव्यत्ययस्य यथा— गतऽस्तमर्को विरतश्च घर्मो, वन न दूरे सुलभञ्च पुष्पम् ।
चलन्तु पुष्पाहरणाय सर्वा, पूजास्तु दवे शशिखण्ड चूडे ॥

अत्र चलाम इत्यर्थे चलन्तूत्तमपुरुष-व्यत्ययेन प्रथमपुरुषनिर्देश, नेन यूयमेव वयमित्यपृथगभावो वस्तु । देवे शशिखण्डचूड इति पृथग्ध्वनि — देवेशश्चासौ शिखण्डचूडश्चेति ॥५७॥

तद्धितस्य यथा— चिरविरहदहनदग्ध, प्रियसखि ! भस्मैव भावि वपुरेतत् ।
तदनेन विरचनीय, तत्करमुकुरस्य मार्जन त्वयका ॥

अत्र त्वयकेति तद्धितेन 'अक प्रत्ययेन मद्विच्छेदेन त्वमपि शोच्या भविष्यसि, मत्प्रणयेन हि त्वमेतावन्त काल तदङ्गमार्जनसौभाग्यभाजनमभू, मयि मृतायान्तु ते तथाविध सौभाग्य क्व ? तेन यदि मुकुरादिमार्जनयोग्यता भवति, तदेव कार्यमिति शोच्यता व्यज्यते ॥५८॥

इत्यकवचनप्रयोगेन सम्भाविताय क्रमभङ्गदोष, सोऽत्र नास्ति प्रत्युत ध्व यर्थबोधकत्वेन गुण एवेत्यर्थ ॥५६

कश्चित् पुष्पाहरणमिषेण वृन्दावनस्थ श्रीकृष्ण स्वसखीस्त्वरयति— गत इति । सूर्योऽस्त गत, अतएव घर्मोऽपि विरत । तस्माच्छीघ्र पुष्पाण्यानीय दवे शशिखण्डचूडे महादेवे पूजा अस्तु, प्रवृत्ता भवत्वित्यर्थ । श्लेषेण, दवेशश्चासौ शिखण्डचूडश्चेति तस्मिन् श्रीकृष्णे । पृथग ध्वनिारात श्लिष्टार्थस्यापि ध्व यन्तर्गतत्वादिति भाव ॥५७।

तद्धितेन 'अक' प्रत्ययनति निन्दार्थकाक प्रत्ययेनेत्यर्थ । मत्प्रणयेनेति त्वयि विषये मम प्रणयातिशय

मेरे प्रति ही है । इस हेतु इस प्रकार विकार उत्पन्न कर रह है, इस प्रकार बोध होता है ।

यहा अपर समस्त स्थल मे बहुवचन प्रयोग हुआ है । किन्तु 'प्रेम' शब्द मे एकवचन प्रयोग हुआ है । इसमे वचन प्रक्रमभङ्ग हेतु जो दोष हुआ था, व्यङ्गचार्थ सूचना हेतु वह गुणमे पर्यवसित हुआ ॥५६॥

पुरुष व्यत्यय का उदाहरण—सूर्य अस्तगत हुये हैं, उष्णता भी विरत हुई है, वन दूर नहीं है, एव पुष्प भी वहा सुलभ है । अधुना सब पुष्पाहरण हेतु चलो, देव— शशिखण्डचूड की पूजा सम्पन्न हो ।

यहा 'हम सब चलें' न कहकर, सब चलो, इस प्रकार कहने से उत्तमपुरुष का व्यतिक्रम करके प्रथमपुरुष का प्रयोग हुआ है । इससे तुम सब ही हम सब हैं इस प्रकार अभिन्न भावरूप वस्तु सूचित हो रही है । श्लेश के द्वार देवेश शिखण्डचूड अर्थात् श्रीकृष्ण की पूजा सम्पन्न हो, यह भी ध्वनित होता है ॥५७॥

तद्धित का उदाहरण—अयि प्रियसखि ! चिर विरहानल से दग्ध होकर यह शरीर अवश्य ही भस्मीभूत होगा । अतएव इस भस्म के द्वारा ही तुम उनके करस्थित दर्पण का मार्जन कार्य सम्पन्न करना ।

यहाँ मूलस्थित 'त्वयका इस पद मे निन्दार्थक अक प्रत्यय द्वारा प्रतीत होता है कि—मेरा विरह मे तम्हारी शोचनीय दशा होगी । मेरे प्रति प्रीति हेतु तुम एतावत् काल तदीय अङ्गमार्जनरूप सौभाग्य भाजन थे । मेरी मृत्यु होने पर तुम्हारा वह सौभाग्य नही रहेगा । तथापि यदि कदाचित् दर्पण मार्जन की योग्यता लाभ हो तो, मेरा भस्म के द्वारा उस कार्य सम्पन्न करना । इस प्रकार शोच्यता व्यञ्जित होती है ॥५८॥

उपसर्गस्य यथा—पततस्रे सास्रा भवति पुलके जात पुलका
स्मिते भाति स्मेरा सुमलिमणि जाते सुमलिना
अनासाद्य स्वालीर्मुकुरमभिवीक्ष्य स्ववदन
सुख वा दु ख वा किमपि कथनीय मृगदृश ॥

अत्र सूपसर्गेण मालिन्यातिशयो व्यज्यते, तेन च सखीना प्रणयाधिक्यम् ॥५९॥

निपातस्य यथा—दट्ठूण तसस वअण, कखणमेत्तेण क्खु हारिअ हिअअ ।
एव्व विअ अच्चरिअ, तुरिअ लद्ध अ तद्धिअअ ॥

अत्र चशब्दरूपनिपातेन तुल्ययोगितालङ्कार । निजहृदयहारणसमकालमेव तद्धृदय लब्धम्, अतोऽह हृदयशून्या नाभवमिति, तस्य हृदय मद्धृदयमेवेति वस्तुना द्वयेरेवौत्सुक्य वस्तु प्रतीयते ॥६०॥

ज्ञात्वेव श्रीकृष्णेन स्वाङ्गमार्जनसौभाग्य तुभ्य दत्तम्, मयि मृताया तु तादृशसौभाग्यसम्भावनव नास्ति । यदि कदाचित् मुकुरमार्जनकर्मणि योग्यताया प्राप्ति स्यात्तदा मद्देहभस्मनेव कार्यमित्यर्थ ॥५८॥

काचिद्धोलिकोत्सवे मिलिताना यूथेश्वरीणा समाज गता वृन्दा भङ्ग्या सखीना प्रेमोत्कर्ष ख्यापयितु किमपि प्रस्तौति—पततीति । हे मृगदृश ! यदा स्वाल्य सम्मुखवर्त्ति या न तिष्ठन्ति, तदेव दर्पणमानीय तत्र प्रतिबिम्बित स्व स्वमुख दृष्ट्वा मुखेऽभिव्यक्त सुख वा दु ख वा युष्माभिरस्माकमग्रे कथनीयम् । आल्यश्चेदग्रवर्त्ति यस्तदा दर्पणेन किं प्रयोजनम्, ता एव दर्पणस्थानीया । तासा दर्पणसाधर्म्यमाह—पततीति । युष्माकमश्रुजले पतति सति ता अपि सास्रा, एवम्भूता स्वालीरनास्वाद्य अप्राप्य ॥५९॥

दट्ठुणेति । 'दृष्ट्वा तस्य वदन क्षणमात्रेण खलु हारित हृदयम् ।
एवमेवाश्चर्य त्वरित लब्ध च तस्य हृदयम् ॥' अत्र लब्धञ्चेत्यत्र च शब्दगम्य-तुल्ययोगित्वमेवाह—निज हृदयेति । अव्ययसामान्यस्यैव निपातसज्ञा । अतश्चशब्दस्यापि निपातत्व ज्ञेयम् ।

उपसर्ग का उदाहरण—अयि मृगलोचनावृन्द ! तुम सबके समीप मे जब सखीवृन्द उपस्थित नहीं रहती हैं, उस समय दर्पण मे निज मुखमण्डल को अवलोकन करके सुख वा दु ख ज्ञात होकर उसका कीर्त्तन कर सकती है । किन्तु सखीमण्डली सम्मुखवर्त्तिनी होने पर तुम सबको दर्पण का प्रयोजन क्या है ? वे दर्पण का साधर्म्य धारण करती हैं । अतएव उनके द्वारा ही तुम सबके समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं ।

देखो, तुम सबके अश्रुबिन्दु पतित होने पर वे भी अश्रुमुखी होती हैं । तुम सबके शरीरमे रोमाञ्च होने पर उन सबके शरीर रोमाञ्चित होते है, तुम सब हँसने से वे भी सहास्य वदन होती है । तुम सबका मालिन्य होने पर वे भी सुमलिना होती हैं ।

इस श्लोक मे 'सुमलिना' इस पद मे सु उपसर्ग का प्रयोग हुआ है । उससे मालिन्य का आतिशय्य व्यञ्जित हो रहा है, एव तद्द्वारा सखीवृन्द का प्रणयाधिक्य प्रतीत होता है ॥५९॥

तदीय मुखमण्डल को अवलोकन करके क्षण मात्र मे ही मैने हृदय को खो दिया । एव आश्चर्य यह है कि—मैने भी उस रीति से आशु उनका हृदय को प्राप्त किया ।

इस श्लोक मे मूलस्थित 'च' शब्दरूप निपात के द्वारा तुल्ययोगिता अलङ्कार हुआ है । निज हृदय

सवनाम्नो यथा—मध्ये सूक्ष्मधिय सखोपरिषदो धृत्वा सखीभूमिका

मभ्यङ्गाय गृहीतपाणिकमल स्पर्शेन मा जानती ।

अहो दूरमपेहि नासि कुशला स्नातुञ्च वाञ्छाद्य मे

नेत्यन्न कुपिता यदीहितवती तत् केन विस्मय्यते ।।

अत्र यत्तद्भ्या वागगोचर व व्यङ्गचम् ।।६१।।

कमभूताधिकरणस्य यथा—अधिवससि तस्य हृदय, प्रियसखिराधे स चापि तव हृदयम् ।

द्वावेव पूणहृदयौ, प्रविशामो वा कथ हृदये ।।

अत्र आधारस्य कमभूतत्वे सवव्यापन व्यङ्गचम् । ग्रामे वमतीति ग्रामकदेशो गम्यते, ग्राममधिवसतीति ग्राम व्याप्यवेति चमत्कार ।।६२।।

तन्धृत्य मम हृदयमिवेति वस्त्वलङ्कारेण द्वयोरौत्सुक्य ध्वनितम् ।।६०।।

कदाचिद् राधिकाया मानभङ्ग उपायान्तरमप्रेक्ष्य स्वयमेव स्त्रीवेश धृत्वा तस्या निकटे गतवत श्रीकृष्णस्य तदानीं जातो य आन दातिशयस्तदौत्सुक्येन श्रीकृष्ण सुबल प्रत्याह—मध्ये इति । सूक्ष्मधिय सखीपरिषद सख सभामध्ये तासा साहाय्येन सखीभूमिका तलमदनकारिणी या सखी तस्या भूमिका वेश धृत्वा तलाभ्यङ्गाय गृहीत राधया पाणिकमल येन तथाभूत मा स्पर्शेन जानती, नेय स्त्री किन्तु पुरुष कृष्ण एवेति ज्ञातवती राधाह—हे अज्ञे ! त्व नवाना भवसि, तलाभ्यङ्गकर्मणि न कुशला, तस्माद् दूरमपेहि । स्वकौशलमभिव्यक्तीकर्तुमुद्यत मा वीक्ष्य पुन कुपिता सत्याह—मम स्नातमद्य वाञ्छा नास्ति, इत्यन्त कुपिता सा तस्मिन् समये यच्चेष्टितवती, तच्चेष्टित तेन विस्मय्यते ।।६१।।

अधीति । परस्परवासेनोभयोर्हृदये पूर्णे भवत । अतस्तत्रावकाशाभावेन कथ सखीना प्रवेश

को खोन के समय ही मैंने उनका हृदय को प्राप्त किया । अतएव मै हृदय शून्य नही हुआ, एव उनका हृदय मेरा ही हृदय है, इस प्रकार वस्तु के द्वारा उभय का औत्सुक्य रूप वस्तु प्रतीत हाती है ।।६०।।

सवनाम का उदाहरण—सूक्ष्म बुद्धि सखीमण्डली के मध्य मे उन सबके साहाय्य से मे सखीवेश ग्रहणपूवक तल मदन हेतु करकमल ग्रहण करने से अन्त कुपिता श्रीराधा स्पश के द्वारा मुझको जानकर 'अयि अनभिज्ञे ! तुम हटो, इस काय मे तुम निपुणा नहीं हो, स्नान करने की भी मेरी इच्छा इस समय नहीं है ।' इस प्रकार कहकर उन्होने जो चेष्टा की उसको क्या भूला जा सकता है ?

यहा 'यत् तत्' शब्द के द्वारा—'जिस प्रकार अङ्गभङ्गयादि किया, वह अवर्णनीय है' इस प्रकार व्यङ्गय हो रहा है ।।६१।।

कमभूताधिकरण का उदाहरण—प्रियसखि राधिके ! तुम उनका हृदय हो, एव वह तुम्हारा हृदय हैं, उभय समान रूपसे अधिवास करने के कारण—तुम दोनो पूणहृदय हो हम सब कसे उस हृदयमे प्रवेश कर सकती हैं ?

यहाँ आधार कमकारक होने के कारण सर्वाङ्ग व्यापन व्यङ्गय हुआ है । ग्राममे वास कर रहा है, कहने से ग्राम के एकदेश मे वास का बोध होता है । 'ग्राममधिवसति' कहने से समस्त ग्राम मे वास का बोध होता है । अतएव कर्मभूताधिकरण के द्वारा चमत्कारातिशयता का बोध होता है ।।६२।।

अव्ययीभावस्य यथा—कत्यायान्ति कति प्रयान्ति कति वा तिष्ठन्ति मूर्त्ता इव
प्रौढानन्दमहोत्सवा यदितरे श्रीद्वारकाया पुरि।
स्त्रीरत्नैरनुसौधरत्ननिकर निश्चिन्तमाक्रीडत
स्ते याता किल वासरा मम सखे येषु व्रजे क्रीडितम् ॥

अत्रानुसौधरत्ननिकरमित्यव्ययीभावेनाष्टोत्तरशत-षोडशसहस्रत्व व्यज्यते। याता एव तासा पुनरागमनाभावात्। ६३॥

पूर्वनिपातस्य यथा— आनन्दातिशयेन विस्मृतिवशाद्व्यस्तानुपूर्वीक्रमा
च्छेकच्छेक शुकाङ्गनाभिरुदयत् कौतूहल स्मारिता।
श्रीराधाहरिकेलिकौतुककथा प्रात सखीमण्डले
प्रत्यावर्त्तयते गतामपि निशा साक्षाद्विधत्ते च तौ ॥

सम्भवतीति ॥६२॥

द्वारकास्थ श्रीकृष्णो मधुमङ्गलमाह—हे सखे! यद् यस्माद् व्रजस्थादानन्दादितरे मम मूर्त्ता इव प्रौढानन्दमहोत्सवा द्वारकाभुवि कति वा आयान्ति, कति वा यान्ति, कति वा तिष्ठन्ति, किन्तु येषु वासरेषु मया व्रजे क्रीडित ते वासरा दिवसा याता एव, तेषा पुनरागमनाभावात्। मम कथम्भूतस्य? स्त्रीरत्न सहानुसौधरत्ननिकर सौधरत्ननिकर सौधरत्ननिकरे आक्रीडित। अत्र वीप्सायामव्ययीभाव समास। तेन चाष्टोत्तरशतषोडशसहस्रसौधव्यापकत्व क्रीडाया व्यज्यत ॥६३॥

एकदा प्रात काले श्रीराधाया निकटे सुहृत्पक्ष स्वपक्षाणा समाजे जाते भो ललिताद्य सख्य! अद्य रात्रिसम्बन्धिना निकुञ्जराजयोर्विलासवार्त्ता कथयतेति सुहृत्पक्षश्यामलया पृष्टा ललिताद्या कथयितु

अव्ययीभाव का उदाहरण—द्वारकास्थ श्रीकृष्ण, मधुमङ्गल को कहे थे—इस द्वारका नगरी मे प्रभूत आनन्द महोत्सव समूह जैसे मूर्त्ति धारण कर कितने हो आते रहत है, याते रहते है, एव विद्यमान है, उसकी सख्या नही है। मै तो यहाँ रत्नसौधयुक्त भवनसमूह मे स्त्रीरत्नसमूह के सहित निरन्तर क्रीडा परायण हूँ। किन्तु जब व्रजमण्डल मे आनन्द से जो दिन मैने अतिवाहित किया है, वह दिन पुनर्वार नही आयेगा। वे सब दिन अतीत होकर ही रहेंगे।

यहा प्रत्येक श्रेष्ठ सौधसमूह मे इस पद मे 'अनुसौधरत्ननिकरे' इस पद मे अव्ययीभाव समास हेतु अष्टोत्तरशत षोडश सहस्र सौध व्यापक क्रीडा ध्वनित हो रही है। वे सब दिन अतीत हुए है, अर्थात् वे सब दिन लौटकर नहीं आयेगे ॥६३॥

पूर्वनिपात का निदर्शन—आनन्दातिशय जनित्त विस्मृत्ति हेतु जिसका आनुपूर्वी क्रम विपर्यस्त होने से गृहपालित विदग्धशुक सारिका समूह—सबके कौतूहल उद्दीपन पूर्वक पूर्वोक्त वृत्तान्तसमूह का यथायथ स्मरण करा देते है। श्रीराधा हरिविषयिणी वे सब केलिकौतुक कथा का कीर्त्तन प्रभात समय मे सखीमण्डली मे ललितादि के द्वारा होने पर विगता यामिनी को जैसे प्रत्यावर्त्तन कर रही है, एव श्रीराधा तथा श्रीहरि को भी जैसे प्रत्यक्ष दिखा रही है।

अत्राल्पस्वरत्वेन चार्चितत्वेन च हरिशब्दस्यैव पूर्वनिपात उचित । तदन्यथाभावे श्रीराधेति पूर्वनिपातो हि तस्या वैदग्ध्यातिशयद्योतक । इति पदाशा । रचनाया वर्णाना च रीति ग्रन्थे व्यञ्जकत्व दर्शयिष्यते ।।६४।।

ते तावद्भिः पृथक् पृथक् । गुणनीयाः,

ते एकादशपञ्चाशद्भेदा एकैक तावद्भिरेकपञ्चाशता गुणनीया,—शुद्धत्वेन केवल वर्त्तमानत्वाभावात्, यावत् स्वप्रभेद मिश्रत्वयोग्यत्वाच्च ।

तेन चन्द्र व्योमर्त्तुपक्ष सख्यका (२६०१) ।।६५ ६६।।
सङ्करेण त्रिरूपेण ससृष्ट्या चैकरूपया ।
चतुर्गुणे कृते वेद-ख वेद ककुभ (१०४०४) स्मृता ।।

प्रवृत्त अपि तदानीमान दावेशेन विलसाना कस्यचित् कस्य चन्द्रावस्य विस्मरणादानुपूर्वीक्रमेण ता स्मारयन्ती स्मेत्याह—अ न दति । आन दातिशयेन ललितादीना जाता या विलासाशस्य विस्मृतिस्तया व्यस्तो य आनुपूर्वीक्रमस्तस्मात् तादृशव्यतिक्रमसहमानाभिश्छेकछेकशुकाङ्गनास्ताभिश्छेका विदग्धा या छेकशुकाङ्गना गृहपालितशुकाङ्गनास्ताभिरदयात् कुतूहल यथा स्यात्तथा स्मारिता श्रीराध कृष्णयो कलिकथाकर्त्रीगतामपि निशा पुन प्रत्यावर्त्तयते, तौ राधाकृष्णवपि साक्षाद्विधत्ते साक्षात्कराति । श्रीराधाशब्दापेक्षया हरिशब्दस्याल्पस्वरत्वादेव सर्वेषा व्रजवासिना रक्षकत्वेनार्चितत्वाच्च हरिशब्दस्यैव पूर्वनिपात उचित ।।६४।।

अथात्र एकपञ्चाशद्ध्वनिभेदाना मध्ये एककध्वनिभेदो यदि पञ्चाशद्ध्वनिभि सङ्कीर्ण स्यात्, तदैकक एव भेद एकपञ्चाशत्सख्यका भवति । एव क्रमेणानन्तभेदा भवन्ति ।

तत्राय क्रम —एकपञ्चाशद्भेदाना मध्ये एककभेदो यदा पञ्चाशद्भेद सह वक्ष्यमाण सशयास्पदता रूपसाङ्कर्यविशिष्ट स्यात्तदेकपञ्चाशद्भेदा एवकपञ्चाशदङ्क पूरणीया । तथा सति मिलित्वा चन्द्रव्योमर्त्तुपक्षसख्यका ध्वनय (२६०१) स्यु ।।६५ ६६।।

एव यदि एकभेद पञ्चाशद्ध्वनिभि सहानुग्राह्यानुग्राहकतारूपसाङ्कर्यविशिष्ट स्यात्, तदापि पूर्वरीत्या पुनश्चन्द्रव्योमर्त्तुपक्षसख्यका ध्वनय स्यु । यदा त्वेकव्यञ्जक-सश्लेषरूप साङ्कर्यविशिष्ट

इस श्लोक मे हरि पद का अल्पाक्षरत्व एव पूजितत्व हेतु पूर्वनिपात होना उचित था, कि तु वैसा न होकर श्रीराधा पद का पूर्वनिपात होनेसे वदग्ध्य का आतिशय्य द्योतित हुआ है । यह है पदाशध्वनि । रचना एव वर्ण का जो व्यञ्जकत्व है, उसका वर्णन रीतिप्रकरण मे करेंगे ।।६४।।

ध्वनि का जो एकपञ्चाशत् भेद कहा गया है, वह केवल शुद्ध रूप मे नहीं रहता है । उसके प्रत्येक ही उस एकपञ्चाशत् प्रकार प्रभेद के सहित मिलित होते हैं । सुतरा उक्त एकपञ्चाशत् ध्वनि के प्रत्येक के एकपञ्चाशत् रूप प्रभेद के सहित मिश्रित होने से (२६०१) द्विसहस्र षट्शत एक सख्यक ध्वनिभेद होते हैं ।।६५ ६६।।

उक्त त्रिविध सङ्कर एव एकविध ससृष्टि—मिलित होकर चतुर्विध भेद होते हैं । इससे ध्वनि की

ते चन्द्रव्योमर्त्तुपक्षसङ्ख्यकाश्चतुर्गुणे कृते ॥६७॥

शुद्धभेदर्युतास्ते स्युः शरेषु युगखेन्दव (१०४५५) ॥६८॥

इति पूर्वैर्विलिखित न सर्वेषामुदाहृति ।

भवेदयोग्यत्वमात्रत्वादाधिक्यमपि गम्यते ॥६९॥

तत्र त्रिरूप सङ्करो यथा—सशयास्पदतानुग्राह्यानुग्राहकतापि च ।

एकव्यञ्जक सश्लेष सङ्करस्त्रिविधो मत ॥७०॥

स्यात्तदापि च द्रव्योमर्त्तुपक्ष सङ्ख्यका ध्वनय स्यु । एव यद्यकैकभेद पञ्चाशद्ध्वनीना ससृष्ट्या विशिष्ट स्यात्तदा पुनरपि च द्रव्योमर्त्तुपक्षसङ्ख्यका ध्वनय स्यु । एव क्रमेण एकैकभेदस्य एकपञ्चाशदङ्कवारचतुष्टय पूरणे कृते मिलित्वा वेदखवेददिक् सङ्ख्यका (१०४०४) ध्वनय स्यु । इत्यर्थमेव द्वाभ्या सूत्राभ्या माह—ते तावद्भिरिति । शुद्धत्वेनेति तेषामुदाहरणमुत्तमकाव्ये किवा उत्तमोत्तमकाव्ये ज्ञेयम् ।

तत्र तत्र शुद्धकेवलकध्वनेरसम्भवात्, किन्तु त्रयाणा चतुर्णा सप्ताष्टाना ध्वनीना साङ्कर्यमवश्य स्वीकरणीयमित्यर्थ । यावत् स्वप्रभेदमिति- एकपञ्चाशद्ध्वनीना यावन्त प्रभेदास्तेषा परस्परमिश्रत्वस्य साङ्कर्यस्य योग्यत्वादवश्य स्वीकर्त्तव्यत्वादित्यर्थ । अत्र च द्रव्योमर्त्तुपक्षसङ्ख्या आपातत एवोक्ता, वस्तुतो वक्ष्यमाणाना ध्वनीना भेदचतुष्टयानामन्तर्भूता एव, नतु तत पृथक् पृथक् ।

अन्यथा पृथगविवक्षाया चतुर्गुणे कृते वेद ख वेद ककुभ स्मृता, इति ग्रन्थोक्तसङ्ख्याया असङ्गत्यापत्ति । यतस्ततोऽप्यनन्तकोटिगुणसङ्ख्याया आधिक्यापत्ति स्यात् ।

ननु यत्राकरकाव्ये शुद्ध एक एव ध्वनिस्तत्रापि व्याच्यार्थस्य चमत्कारे तत्काव्यस्य मध्यमत्वमुक्तम् ॥६७

एव सति तत्र तत्र शुद्धकपञ्चाशद्ध्वनय कस्या गणनाया निविष्टा स्यु ? इत्यपेक्षाया तादृश शुद्धक-पञ्चाशद्भेदा अपि स्वातन्त्र्येण गणनाया निवेशनीया इत्यभिप्रायेणाह—शुद्धभेदरिति । शुद्धक पञ्चाशद्भेदर्युतास्ते वेद ख वेद ककुपसङ्ख्यका १०४०४ ध्वनय, शरेषु युगखेन्दुसङ्ख्यका १०४५५ स्युरित्यर्थ ॥६८॥

इति पूर्वरिति—पूर्वाचार्यैरपि एता सर्वा एव सङ्ख्या उदाहृता, नतु तैरपि तावत्सङ्ख्यकाना ध्वनीना उदाहरणानि स्वग्रन्थे कथितानि । अतएव ग्रन्थबाहुल्यभयात् मया नोक्तानीत्यर्थ ।

भवेदिति—कस्यापि निपुणस्य साङ्कर्याणामवान्तरभेद प्रकल्प्य इतोऽप्यधिकसङ्ख्याया आनयने सामर्थ्यं चेत्तदा एतत्सङ्ख्यकध्वनिभ्योऽप्यधिकाधिक सङ्ख्यका ध्वनयो भवन्तीति ज्ञेयमिति ॥६९॥

सख्या १०४०४ दशसहस्र चारशत चार होती है ॥६७॥

तद्भिन्न एकपञ्चाशद् ध्वनि है, उपरोक्त ध्वनि के सहित रसका योग करने से १०४५५ दशसहस्र चतु शत पञ्चपञ्चाशत सख्यक ध्वनि होती हैं ॥६८॥

पूर्वाचार्यगण भी इस प्रकार ध्वनि सख्या का उल्लेख किये हैं, किन्तु समस्त ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये है । निपुण व्यक्ति इससे भी अधिक साङ्कर्य के भेद कल्पना मे समर्थ होने पर और भी अधिक सख्यक ध्वनि का भेद कर सकते हैं ॥६९॥

उसके मध्यमे सङ्कर त्रिविध होते हैं । सशयास्पदता, अनुग्राह्यानुग्राहकता एव एकव्यञ्जक सश्लेष

उदाहरणम्-- पद्मिन्यहं कुमुदिनी किल सैव सत्यं, सत्यं भवांश्च मधुसूदन एव मत्तः ।
वामेन तामसुखयन्निशि दक्षिणेन, प्रातः प्रबोधयति मामपि लोचनेन ।।

अत्र पद्मिन्यादि-शब्दार्थयो शब्दार्थशक्त्युद्भवानुध्वने सङ्करत्रयम् । तथाहि— मां प्रति भवतोऽनुरागो महान् यतो मां दक्षिणेन उदारेण लोचनेन दर्शनेन प्रबोधयति । तां प्रति मा तथा नानुरागः यतो वामेन दर्शनेन तां निशि असुखयत्— अत्र हेत्वलङ्कारो व्यङ्ग्यः । यतोऽहं पद्मिनी, सा कुमुदिनी पद्मिन्यपेक्षया कुमुदिनी निकृष्टैव । किंवाऽहं पद्मिनी नाम्नैव पद्मिनी, नतु वस्तुत इति, अन्यथा मय्येव त्वमनुरक्तोऽभविष्य । सा तु नाम्नैव कुमुदिनी, नतु वस्तुत इति च सत्यम्, अन्यथा तस्यां नानुरक्तोऽभविष्य इति संशयः ।

अथ पद्मिन्यहम्, कुमुदिनी सैवेति रूपकालङ्कारेण तद्धेतूपन्यासद्वारा प्रातर्मां प्रबोधयति, निशितामसुखयत्—इति हेत्वलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

भवान् मधुसूदन एवेति मधुसूदनस्य भ्रमरस्य तवोभयत्र समरागतया न दोषः, किन्तु

एकव्यञ्जकेति - एकव्यङ्ग्यमात्रबोधकः शब्दश्लेष इत्यर्थः । यस्य शब्दश्लेषस्य एकव्यञ्जना, स एकव्यञ्जकसंश्लेषः । यत्र तु शब्दश्लेषस्य एकव्यञ्जनानन्तरमपरव्यञ्जनाप्रवेशस्तत्र संसृष्टिरिति द्वयोर्भेदा बोध्य इति ।।७०।।

प्रातःकाले नागरि खण्डितानायिकामानभङ्गार्थं विनयनत्यादिकं कुर्वन्तं श्रीकृष्णमाह—पद्मिनीति । श्लोकव्याख्यामेव करिष्यति । शब्दार्थेति— शब्दशक्त्युद्भवार्थशक्त्युद्भवयोध्वन्योरित्यर्थः । तथा च तयोरेव शब्दार्थशक्त्युद्भवानुध्वनेश्च परस्परं सङ्करत्रयम् । तत्र प्रथमतः संशयास्पदतारूपसङ्करमाह— तथा हीति । अत्र दक्षिणशब्दस्य उत्कृष्टार्थकत्वम्, वामशब्दस्य निकृष्टार्थकत्वम् । एवं लोचनशब्दस्य दर्शनार्थकत्वमिति श्लिष्टार्थमभिप्रेत्याह— मां प्रतीति । संशय इति— यत्र निश्चयाभावेनायं वा ध्वनिरयं वा ध्वनिरिति संशयस्तत्र संशयास्पदता ज्ञेया । पुनरनेनैव श्लोकेनानुग्राह्यानुग्राहकतारूपसङ्करमाह—अथेति । हेतूपन्यासेति—मम पद्मिनीरूपत्वे प्रातः प्रबोधनमेव हेतुः, तस्याः कुमुदिनीरूपत्वे निशिसुखाश्रयमेव हेतुरिति हेत्वलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

भेद से सङ्कर के त्रिविध भेद होते हैं ।।७०।।

तन्मध्ये त्रिरूप सङ्कर यह है—संशयास्पदता, अनुग्राह्यानुग्राहकता, एवं एकव्यञ्जक संश्लेष । उदाहरण—मैं पद्मिनी हूँ, एवं वह भी कुमुदिनी है, यह सत्य है, तुम भी जो मत्त मधुसूदन हो, यह भी यथार्थ है । देखो, रजनी में वाम लोचन के द्वारा उसको तुमने सुखी किया है, सम्प्रति प्रभात काल में दक्षिणलोचन के द्वारा मुझको भी प्रबोधित तुम कर रहे हो । यहाँ पद्मिन्यादि शब्दार्थमें शब्दशक्त्युद्भव एवं अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के त्रिविध सङ्कर हुये हैं ।

इस विषय का प्रमाण यह है—मेरे प्रति महान् अनुराग तुम्हारा है कारण – मुझको दक्षिणलोचन अर्थात् उदारदर्शन के द्वारा प्रबोधित कर रहे हो, उसके प्रति तादृश अनुराग नहीं है । कारण, वामदर्शन द्वारा रजनी में उसको सुखी किये हो । यहाँ हेत्वलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

ममव दोष , यतोऽहं पद्मिनी, पद्मिन्या प्रातरेव भ्रमरेण सह सन्दर्शनमिति मधुसूदन-शब्दद्योत्येन वस्तुना पुनरपि रूपकालङ्कारो ध्वनित । इत्यनयोर्मिथोऽनुग्राह्यानुग्राहकतया सङ्कर ।

एव मधुसूदन एव भवान् मत्तस्वतस्तृप्त, 'मद' तृप्तियोगे धातु । तव कुत्रापि नापेक्षेति स्वभावोक्त्यलङ्कारेण तव दक्षिण चक्षु सूर्य्यात्मकम्, यतस्तेन पद्मिनी मा प्रबोधयसि, वामन्तु चन्द्रात्मकम्, येन कुमुदिनी तामसुखय —इत्येकस्मिन्नेव व्यञ्जके मधुसूदनपदसश्लेष एकव्यञ्जनानुप्रवेश ।

एव मधुसूदन पदस्य भ्रमरार्थकत्वेन भ्रमरस्योभयत्र साम्येन तस्य दोषाभावे पुनस्तस्या पद्मिनीत्व रूपकालङ्कार एव प्रयोजक । अतएव ध्वनिद्वयस्यानुग्रहानुग्राहकतारूपसङ्करोऽपि ज्ञेय इत्याह—मधुसूदन-शब्दद्योत्येनेत्यादि । वस्तुनेति—दोषाभावेनेत्यर्थ । पुनरप्यनेनैव श्लोकेन व्यञ्जकसश्लेषरूपसङ्करस्य उदाहरणमाह—एवमिति । मधुसूदन परमेश्वर एव भवान्, अत परमेश्वरस्यैव दक्षिणनेत्रस्य सूर्य्यत्व वामनेत्रस्य च चन्द्रत्वम्, तत्रैषामिति मधुसूदनशब्दश्लेषस्य एकव व्यञ्जनेति भाव ।

एकस्मिन्नेवेति—नेत्रयो सूर्य्यचन्द्रत्वमात्रक व्यङ्ग्यबोधके मधुसूदनशब्दश्लेषे एक एव व्यञ्जनानुप्रवेश

कारण, मै पद्मिनी हूँ, और वह कुमुदिनी है— अर्थात् पद्मिनी अपेक्षा निकृष्टा । अथवा मै नाममात्र से ही पद्मिनी हू, वास्तविक पद्मिनी नही हू । कारण, वसा होनेसे मुझमे तुम अनुरक्त होते, एव वह भी नाममात्र से ही कुमुदिनी है, वास्तविक कुमुदिनी नही है । ऐसा होने पर उसमे इस प्रकार अनुरक्त नही होते । यहा सशयास्पदता हे, अर्थात् इस रूप से ही ध्वनि अथवा इस प्रकार ध्वनि, इस प्रकार सशय हुआ हे ।

इस श्लोक मे अर्थान्तर द्वितीय सङ्कर उदाहृत हो रहा है । मै पद्मिनी हूँ, वह कुमुदिनी है, इस प्रकार रूपकालङ्कार के प्रति 'प्रभात मे मुझको प्रबोधित करते हो, और रजनी मे उसको सुखी करते हो' इस प्रकार हेतु उपन्यस्त हुआ है, एव उसके द्वारा हेत्वलङ्कार व्यङ्ग्य हुआ है ।

तुम भी मधुसूदन हो, यह सत्य है । तात्पर्य्य यह है कि—मधुसूदन अर्थात् भ्रमर स्वरूप तुम्हारा उभय स्थान मे समान अनुराग हेतु कोई दोष नही है । मेरा ही दोष है । कारण, मै पद्मिनी हू, पद्मिनी के सहित ही प्रभात काल मे भ्रमर का साक्षात्कार होता है । यहाँ मधुसूदन शब्दद्योतित भ्रमररूप वस्तु के द्वारा पुनर्वार रूपकालङ्कार ध्वनित हुआ है । इस प्रकार ध्वनिद्वय का परस्पर अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव से सङ्कर हुआ है ।

एक व्यञ्जक सश्लेषरूप तृतीयसङ्कर का उदाहरण—तुम मधुसूदन हो, अर्थात् परमेश्वर मत्त अर्थात् स्वभावत परितृप्त हो, 'मद' धातु का अर्थ 'तृप्ति' है । तुमको किसी की अपेक्षा है ? यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार हुआ है । इससे प्रतीत होता है कि—भगवान् का दक्षिण नयन, सूर्य्यात्मक होने के कारण, उससे पद्मिनी मै प्रबोधित हो रही हूँ, एव वाम नयन चन्द्रात्मक होने के कारण—वह कुमुदिनी निशाकाल मे सुखी हुई है ।

इस प्रकार नेत्रद्वय का चन्द्र सूर्य्यस्वरूप एकव्यङ्ग्य बोधक मधुसूदन पद श्लेष से एकमात्र व्यञ्जना का अनुप्रवेश हुआ है । इस श्लोक मे ससृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं– दक्षिण अर्थात् सरल दृष्टि से

अथ दक्षिणेन सरलेन दशनेन मा प्रबोधयसि, तेन ते मयि रागो नास्ति, वामेन कुटिलेन तामसुखय, तेन तस्यामेव ते राग इति वस्तुना स्वभावतो मधुसूदनो भ्रमरो ज्ञानशू यस्तत्रापि मत्त इति स्वभावोक्ति। तथाविधस्य तव कुतो विवेक, तेन त्वमविदग्धोऽसीति स्वभावाख्यानाक्षेपयो ससृष्टि। एव पदवाक्यद्योत्यगर्व-धैर्य-दैन्य-ग्लानि-निर्वेदावहित्थादि-भाव-ध्वनिभिश्च ससृष्टि ।।७१।।

यथा वा—उच्छूनस्तनितस्य सर्वसुखद कृष्णाम्बुदस्योदयो
वाता शीकरवाहिन सुमनसा वीथी विकाश गता।
स्निग्धा भूर्गन एव सज्वरभर श्यामायमाना दिश
स्फीत गोकुलमन्मदाश्च सरित शीता गिरिद्रोणय ।।

इत्यथ। पुनरप्यनेनैव श्लोकेन ससृष्टेरुदाहरणमाह—अथ दक्षिणेनेति। अत्र काव्ये दक्षिणशब्द सरलाथक, नेत्रशब्दो दर्शनाथको ज्ञेय। सरलनेत्रेणावलोकन तु प्रेमव्यञ्जकमिति रसशास्त्रप्रसिद्धे।

अत्र मधुसूदनशब्दश्लेषस्य प्रथमतो ज्ञानशून्ये व्यञ्जनावृत्ति, पुनर्व्यङ्ग्यस्याविवेकावदग्ध्यादि रूपाक्षेपार्थं व्यञ्जना। अतएव व्यञ्जकश्लेषाद्भेदो ज्ञेय। मधुसूदनपदश्लेषस्य केवलच द्रसूयमात्रे एकव्यञ्जनेति। उक्त इति—एकस्मिन्नेव श्लोके त्रिरूप सङ्कर उक्त। ससृष्टिश्चोक्ते इत्यथ ।।७१।।

ससृष्टेरुदाहरणमाह—यथा वेति। काचिद् सखी गोवधनस्य निकटवर्तिनि नगरे स्थिता यूथेश्वरीं गुरुजनसमीपस्थ दृष्ट्वा गोवधनकन्दरासङ्केतस्थ श्रीकृष्ण विज्ञापयितु व्याजेन दैवाद्गोवधनोपरि उदित मेघ लक्षीकृत्य वदति—उच्छूनेति। हे सखि! सर्वेषा व्रजविलासिना सुखद कृष्णवणस्य मेघस्य गोवधनोपरि उदयो जात। कथम्भूतस्य? उच्छून घोर स्तनित गर्जित यस्य। एव सर्वेषा सुखदा

मुझको प्रबोधित कर रहे हो, इससे प्रतीत होता है कि—मेरे प्रति तुम्हारा अनुराग नहीं है। एव वाम अर्थात् कुटिल दृष्टि के द्वारा उसको सुखी किये हो, इससे बोध होता है कि—उसके प्रति हि तुम्हारा अनुराग है। अर्थात् सरल नयन से नायिका के प्रति अवलोकन—उदासीनता का व्यञ्जक है, एव कुटिल नयन से अवलोकन—प्रेम व्यञ्जक है।

इस वस्तु के द्वारा स्वभावोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य हो रहा है। मधुसूदन अर्थात् भ्रमर, स्वभावत ज्ञानशून्य है, उसमे भी मत्त है, ईदृश दशापन्न जो तुम हो, तुम्हारे मे विवेक की सम्भावना क्या हो सकती है? अतएव तुम अविदग्ध हो। इस रीति से स्वभावोक्ति एव आक्षेप की ससृष्टि हुई है।

इस प्रकार पद वाक्य द्योत्य ध्वनि स्थल मे गव, धय्य, दन्य, ग्लानि, निर्वेद, अवहित्थादि भाव ध्वनि के सहित ससृष्टि होती है। इस रीति से त्रिविध सङ्कर एव ससृष्टि का वणन हुआ ।।७१।।

उदाहरणा तर यह है—उच्छूनस्तनित अर्थात् गभीर गजनकारी उस कृष्णजलधर का उदय, सबके सम्बन्ध मे सुखप्रद हुआ है। समीरण जलकण को लेकर प्रवाहित हो रहा है। सुमनोवीथी अर्थात् मालतीश्रेणी प्रफुल्लित हैं। भूतल स्निग्ध है, सन्ताप भी विदूरित हुआ है। दिङ्मण्डल श्यामल वण हुये हैं। गोकुल स्फीत हुआ है, नदीवृन्द उन्मद हुई हैं, एव पवतवृन्द भी सुशीतल हुए हैं।

अत्र शब्दशक्त्युद्भवार्थशक्त्युद्भवध्वन्यो संसृष्ट्या ध्वनिसंसृष्टि, तथालङ्काराणां वस्तूनाञ्च संसृष्टि ।

तथा हि—गुरुसमीपस्थिता गोवर्द्धननिकटनगरनागरीं प्रति गिरिकन्दरासङ्केतस्थ श्रीकृष्णं विज्ञापयितु व्याजेन दैवोपनत मेघोदय लक्ष्यीकृत्य काचित् सखी वदति । वाच्यार्थं स्फुट एव । अत्र उद्दीपन-विभावश्च स्फुटो भवन् तुल्ययोगितालङ्कार व्यनक्ति । श्रीकृष्णश्च सङ्केतस्थ, अम्बुदोदयश्चाभूदिति यौगपद्यप्रतिपत्त्या तुल्ययोगिता, कर्मधारयोपलक्षणतृतीया-तत्पुरुषपदमात्रयो संसृष्टि ।

कृष्णाम्बुरुहयो साधर्म्यादुपमालङ्कारो व्यङ्ग्य । उच्छूनस्तनितस्येति—उच्छून-गर्जितत्वेनाम्बुदस्य वर्षुकत्वम्, तेन च शीघ्रमभिसरेति वस्तु व्यङ्ग्यम् । हे उच्छूनस्तनि !

पवना अपि शीकरान् जलकणान् वोढु शील येषा तथाभूता सन्तश्चलन्तीति शेष । एषा सुमनसां मालतीना वीथी श्रेणी विकाश वर्षासमय प्राप्य प्रफुल्लता गता, तथा च भू पृथ्वी स्निग्धा जाता, तथा व्रजवासिना निदाघजन्य सज्वरभरोऽपि गत । मेघरेव दिश च श्यामायमाना बभूवु । अतएव समस्त-गोकुलमपि स्फीतमानन्देन प्रफुल्लम् ।

एव गोवर्धनद्रोणयोऽपि शीतला जाता । तस्मात् सर्वप्रकारेणास्माक व्रजवासिना सुखसमयो जात इति वाच्यार्थ स्पष्ट । श्लिष्टार्थस्तु हे उच्छूनस्तनि ! गोवर्धने कृष्णेन सह मेघस्योदयो जात, मेघादीनामुदय-कथनेनोद्दीपनविभावज्ञापनद्वारा अभिसारे उत्कण्ठा वर्धयति स्निग्धेति । मानाद्यभावेन त्वमपि स्निग्धा

इस श्लोक मे शब्दशक्त्युद्भव एव अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि की संसृष्टि द्वारा ध्वनि की संसृष्टि हुई है, एव अलङ्कार समूह की एव वस्तुसमूह की संसृष्टि हुई है । विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

गोवर्धन गिरि के कन्दररूप सङ्केत स्थान मे श्रीकृष्ण अवस्थित हैं । इस सवाद को गुरुसमीपस्थिता अथच गोवर्धन समीपवर्त्ति नगरवर्त्तिनी किसी रमणी को देनेके निमित्त किसी सखी उस गिरिके उपरिभाग मे दैववशात उदित मेघखण्ड को लक्ष्य करके छलक्रम से इस श्लोक को कही है । इस श्लोक का वाच्यार्थ सुस्पष्ट है । इसमे कृष्णवर्ण इस प्रकार मेघ है, इस प्रकार कर्मधारय समास के द्वारा मेघ का उद्दीपन विभाव हुआ है । इससे तुल्ययोगिता अलङ्कार व्यञ्जित हुआ है । अर्थात् श्रीकृष्ण सङ्केत स्थान मे उपस्थित है, मेघोदय भी हुआ है, इस प्रकार उभय की तुल्य कालता प्राप्ति हेतु तुल्ययोगिता हुई है । कृष्ण के सहित मेघ का उदय—इस प्रकार तृतीयातत्पुरुष समासके द्वारा उक्त तुल्ययोगिता व्यञ्जित हुई है । इस प्रकार कर्मधारय एव तृतीया तत्पुरुष समास हेतु उद्दीपन वोधरूप एव तुल्ययोगित्व रूप ध्वनिद्वय की संसृष्टि हुई है, एव श्रीकृष्ण एव मेघ का साधर्म्य हेतु उपमालङ्कार भी व्यङ्ग्य हुआ है ।

उच्छून स्तनित इस पद मे स्तनित अर्थात् गर्जन की उच्छूनता प्रयुक्त मेघ का वर्षणोन्मुखत्व एव तन्निमित्त सत्वर अभिसार का कर्त्तव्यरूप वस्तु व्यङ्ग्य हुआ है ।

मूल श्लोक मे 'उच्छूनस्तनितस्य' इस प्रकार उल्लेख हेतु—'हे उच्छूनस्तनि तस्य' इस प्रकार पद

नम्येति सभङ्गश्लेषेणसंबोधयमानजनस्य प्रौढत्वम्, तेन च स्तनभराक्रान्ततया गमनमान्थर्य्यम्, तेन च नात पर विलम्बनीयमिति ध्वनि-प्रतिध्वन्यनुध्वननम्, तस्येति—सर्वनाम्नो महिम्ना कृष्णस्य परमदुर्लभता, तथा च बहुवल्लभत्वम् ।

सवसुखद इति हेतोर्हेत्वलङ्कारो व्यङ्ग्य, तस्मान्नात पर विलम्बकार्य इति वस्तु । वाता शीकरवाहिन इति स्वभावाख्यानम्, तेन च सुरतश्रमजलकणापहारिणश्चते भविष्यन्तीति वस्तु । सुमनसा मालतीनामिति पूर्ववत् स्वभावाख्यानम् । तेन सुमनसा मानरहितानाम्, अन्यासामङ्गनानाञ्च वीथीसमूह कृष्णोऽभिसर्त्तव्य इति यो विकाश प्रसादस्त गतेति वस्तु ।

तेन च यावत् कापि त नाभिसरति, तावत्त्वमभिसरेति वस्तु । स्निग्धाऽभूरिति—चरणसञ्चरणसुखदत्वम्, परञ्च—स्निग्धा अभू, तव मनसि वाम्यञ्च नास्ति, तत् कथमत पर विलम्ब स इति वस्तु । स्निग्धात्वे हेतु —गत एव सज्वरभर इति हेत्वलङ्कार ।

अभूरित्यर्थ । अत्रोद्दीपनेनेति कृष्णाम्बुदपदस्य कमधारय समासेन मेघस्योद्दीपनविभावत्व स्फुट व्यङ्गी भवत् श्रीकृष्णेन सह मेघस्योदय इति तृतीयातत्पुरुषेण तुल्ययोगितारूपालङ्कार व्यनक्ति ।

तुल्ययोगितामेवाह—कृष्णश्चेति । कमधारयेति कृष्णश्चासौ अम्बुदश्चेति कमधारयपदम् । एव कृष्णेन सहाम्बुदोदय इत्युपलक्षणतृतीया तत्पुरुषपद च मात्राकारणम् । तयोरेवम्भूतयोरुद्दीनविभावत्व तुल्ययोगित्वरूपधन्या ससृष्टि । कमधारयपक्षे, कृष्णेति विशेषणेन मेघरूपोद्दीपनस्य वैलक्षण्य बोधयति ।

भङ्ग हेतु सभङ्ग श्लेष हुआ है । इसमे जिसको उस प्रकार सम्बोधन किया गया है, उसका प्रौढत्व एव तत्प्रयुक्त स्तनभार से आक्रान्त होने के कारण—गमन मे मन्थरत्व है, अन तर गमन का अयुक्त व है । इस रीति से ध्वनि की प्रतिध्वनि एव अनुध्वनि हुई है ।

'उन श्रीकृष्ण का' यहाँ तद् शब्दरूप सवनाम की महिमा के द्वारा श्रीकृष्ण की दुलभता एव उसके द्वारा बहुवल्लभता प्रतीत होती है । उनका उदय—सवसुखप्रद है । इस प्रकार कथन हेतु—हेत्वलङ्कार एव तन्निमित्त अनन्तर विलम्ब करना कर्त्तव्य नहीं है—इस प्रकार वस्तु व्यङ्ग्य हुई है ।

'वायु जलकणवाहि' यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार हुआ है । एव उससे समीरण का सुरत श्रमजनित धमजलापहारित्वरूप वस्तु व्यञ्जित हुई है । सुमना अर्थात् मालतीश्रेणी विकसित हैं । यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार हुआ है । उससे 'सुमना' अर्थात् मानरहिता अ य अङ्गनाश्रेणी कृष्ण के निमित्त अभिसार करना पड़ा, इस हेतु विकाश अर्थात् प्रफुल्लित हुई हैं । यह वस्तु है, एव उससे जबतक अपर कोई अभिसार नहीं करती है, तबतक तुम अभिसार करो—यह वस्तु है । 'स्निग्धा भू' इस प्रकार उल्लेख हेतु सञ्चरण का सुखकरत्व, अथच मूलमे 'स्निग्धा भू' प्रयोग हेतु इसका अर्थ—तुम स्निग्धा हो गई हो अर्थात् तुम्हारे चित्त मे सम्प्रति किसी प्रकार वामता नहीं है, तब क्यो विलम्ब कर रही हो ? यह वस्तु है ।

स्निग्धत्व हेतु 'सन्ताप समस्त विदूरित हुये हैं' इस प्रकार उल्लेख हेतु—हेत्वलङ्कार हुआ है ।

तेन च त्वदाकारेणैव मया त्वदन्तःकरणं ज्ञातमिति स्वचातुर्य्यप्रकटनम्। श्यामायमाना दिश इत्यलक्ष्या भूत्वा गमिष्यसि, तेन न कापि शङ्केति वस्तु।

व्यङ्ग्यपक्षे, गोकुल—व्रजस्थली, स्फीत—जनाकीर्णम्, तेनात्र तमानेतुं न शक्नोमि। सरितो यमुनाद्या उत्पूरा, तेन तटादौ च न सङ्केतयोग्यता। तर्हि पारिशेष्यात् शीता गिरिद्रोण्य इति भङ्ग्या तत्रैवाभिसारः क्रियताम्। तत्रैवागतोऽस्ति कृष्ण इति व्यञ्जकानां संसृष्टिरेव।

एवंविधा एव ध्वनय उत्तमोत्तमकाव्यलक्षणबीजम्। ध्वनेर्व्यापारयुगलं ध्वननमनुध्वननञ्च। यत्र केवलं ध्वननम्, तदुत्तमं काव्यम्, यत्र तु ध्वननानुध्वनने, तदुत्तमोत्तमम्।

प्राचीनैस्तु सर्वेषामुत्तमत्वं लिख्यते तत्तु नास्माकमभीष्टम्, यतः (काव्यप्रकाशे ४।१३) "त्वामस्मि वच्मि" इत्यादौ वचेरर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वने, (काव्यप्रकाशे ४।११२)

स्तनस्योच्छूनता कथनेन सम्बध्यमानस्य स्वयूथेश्वरीजनस्य प्रौढयौवनत्वमानीतम्। यमुनाद्या उद्गता पूरा प्रवाहा यत्र तथाभूतास्तेनेति प्रवाहाधिक्येन तासां नदीनां तटस्थादौ पारे सङ्केतयोग्यो न सम्भवतीत्यर्थः।

ध्वनेरिति—उत्तमध्वनेरुत्तमोत्तमध्वनेश्चेत्यर्थः। तयोर्मध्ये उत्तमध्वनेर्ध्वननमेव केवलं व्यापारः, उत्तमोत्तमध्वनेस्तु ध्वननानुध्वनने द्वे एव व्यापारे इति बोध्यम्। 'त्वामस्मि वच्मि' इत्यादौ वर्त्तमानोऽहं त्वां वच्मि इत्यर्थः। अत्र अस्मि पदेनाह मुख्योत्कृष्टवक्ता इत्यर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनिः। एवं स्निग्धश्यामलेति पद्ये लिप्तपदेनातिशयमेघागमनरूपार्थान्तरसंक्रमितवाच्यार्थध्वनिस्तेन चास्मिन् घनागमे सीता कथं जीविष्यतीत्यनुध्वनिः। रामोऽस्मीति पदेन रमते रमयतीति राम इति व्युत्पत्तिसिद्धो रामो

इससे 'तुम्हारी आकृति के द्वारा ही मनोभाव ज्ञात हो रहा है' इस प्रकार स्वचातुर्य्य प्रकटन, दिङमण्डल श्यामायमान हुए हैं। इससे तुम अलक्ष्य होकर जा सकोगी। सुतरा तुम्हारी शङ्का नहीं है, यह वस्तु है। ये सब व्यञ्जित हुये है।

पक्षान्तर मे, गोकुल वा व्रजस्थली स्फीत है अर्थात् जनाकीर्ण है। अतएव यहा उनको ले आना सम्भव नही होगा। यमुनादि नदी भी कूलप्लाविनी हुई हैं, सुतरा उसके तटादि मे भी सङ्केत स्थान होना सम्भव नही है। स्थान के मध्य मे गिरिद्रोणी अवशिष्ट है, उस गिरिद्रोणी भी सुशीतल हुई है। इस प्रकार वचन भङ्गी के द्वारा उस स्थान मे ही अभिसार हो, वहा श्रीकृष्ण उपस्थित हैं। इस प्रकार बहु व्यञ्जक की संसृष्टि हुई है।

इस प्रकार ध्वनिसमूह ही उत्तमोत्तम काव्य लक्षण का बीजस्वरूप हैं। ध्वनि का द्विविध प्रयत्न है, ध्वनन एव अनुध्वनन। जहा केवल ध्वनन है, वह उत्तम काव्य है, एव जहाँ ध्वनन एव अनुध्वनन उभय ही हैं, वह उत्तमोत्तम काव्य होता है।

प्राचीन पण्डितगण उक्त विषयसमूह को उत्तम काव्य कहते हैं। इस प्रकार कथन हम सबके पक्षमे अभीष्ट नहीं है। काव्यप्रकाशकार के मत मे—'त्वामस्मि वच्मि' इत्यादि श्लोक मे अर्थान्तर

"स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियत" इत्यादेश्चानुध्वननरूपार्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृत-संसृष्टया च महाध्वनेरेक एवास्वादश्चेल्लभ्यते, तैस्तु लभ्यतां नाम, न त्वस्माभिः ॥७२॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे ध्वनिनिर्णयो नाम

तृतीयः किरणः ॥३॥

न भवामि, किन्तु नाम्नैव रामः। अतोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यार्थो ध्वनिः। एवं विप्रलम्भरसादिरूपा बहवो ध्वन्यनुध्वनयो वर्त्तन्ते। अतस्तामस्मीति काव्यपेक्षया अस्य काव्यस्योत्तमत्वमिति विवेचनीयम्। पद्यद्वयं काव्यप्रकाशकृता स्वग्रन्थे धृतम् ॥७२॥

इति सुबोधिन्यां तृतीयकिरणः ॥३॥

संक्रमित वाच्य ध्वनि का, एवं 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियत' श्लोकमे अनुध्वनन रूप अर्थान्तर संक्रमित वाच्य एवं अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का संसृष्टि हेतु महाध्वनि का एक प्रकार आस्वाद का अनुभव होता है। उस प्रकार आस्वादन जो लोक करना चाहते हैं—वे करें। किन्तु हम सब उक्त उभयस्थल मे ध्वनिगत महान् प्रभेद को उपलब्ध करते हैं ॥७२॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदास शास्त्रिकृतानुवादे

ध्वनिनिर्णयो नाम तृतीय किरण ॥३॥



चतुर्थकिरणः

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्य निर्णय

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यानि कियन्ति भवन्तीत्याकाङ्क्षाया तेषा भेदानाह । यद्यपि (प्रथम किरणे १२) "मध्यमे तत्र मध्यमम्" इति पूर्वोक्तस्य मध्यमकाव्यस्यैव गुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वम्, तथापि ध्वनेरवशिष्ट्ये च हेत्वन्तरोपाधितो गुणभावादगुणीभूतत्वमिति च्व्यर्थ एव द्वैविध्य बोधयति । तत्रावैशिष्ट्ये भेदो नास्ति, एकरूपत्वात्, द्वितीये तु भेदोऽष्टधेति सूत्रयति—

स्फुटमपराङ्ग वाच्य-प्रपोषक कष्टगम्यञ्च ।
सन्दिग्धप्राधान्य तुल्यप्राधान्य-काकुगम्ये च ।
अमनोज्ञ चेति गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदा स्यु ॥१॥

अथ गुणीभूत व्यङ्ग्यनिणय ।

ननु काव्यप्रकाशकृतात्तनव्यङ्ग्येभ्य सकाशाद् भिन्ना येव गुणीभूतव्यङ्ग्यान्युक्तानि, स्वमते तु मध्यमकाव्यस्यैव गुणीभूतत्वम्, तथात्वे मध्यमकाव्यस्य पूर्वोक्तयुक्त्या शब्दार्थयोर्वैचित्र्ये सति उत्तमता कथनानुपपत्तिरित्याह—यद्यपीति । तथापीति—ध्वनेरवशिष्ट्ये अवरत्वे सति वशिष्ट्ये च ध्वनेमध्यमावौ च सति, मध्यमकाव्यस्यापराङ्गत्ववाच्यपोषकत्वादिगुणयोगादुत्तमध्वनेरपि गुणीभूतत्वमिति । तथा सत्येकस्यैव मध्यमकाव्यस्य शब्दार्थक वचित्र्ये सति उत्तमत्व तस्योत्तमकाव्यस्यापराङ्गत्व वाच्यपोषकत्वादि सूचकपदान्तर समभिव्याहारे सति गुणीभूतत्वमतो न विरोध ।

एतद्द्वयमेव गुणीभूतपदस्यान्तर्भूतेन च्वि प्रत्ययेन बोधयति । च्व्यथ एवेति—अगुणो गुणी भवतीति व्युत्पत्त्या पूर्वमगुणत्व पश्चाद्गुणयोगाद् गुणीभूतत्वमिति द्वविध्य बोधयतीत्यथ । तत्रेति—अवशिष्ट्ये अवरत्वे सत्यगुणदशायामपि निकृष्टत्वेन गुणदशाया तु सुतरामतिशयनिकृष्टत्वात्, अनन्त्यकरूपत्वाद्विभेदो नास्तीत्यर्थ ।

सन्दिग्धेति—वाच्यार्थापेक्षया सन्दिग्ध प्राधान्य यत्रेत्यथ । तथा च वाच्यार्थापेक्षया ध्वने प्राधान्य निश्चय एवोत्तमताया प्रयोजक । नतु सन्देह इति भाव । तुल्येति—वाच्यार्थध्वन्योस्तुल्यप्राधान्यमित्यथ ॥१

गुणीभूत व्यङ्ग्य कितने प्रकार हैं ? इस प्रश्न के उत्तर मे उसका प्रभेद कहते हैं । ध्वनि मध्यम होने से काव्य मध्यम होता है । पूर्वोक्त इस प्रकार लक्षण के अनुसार प्रतिपन्न मध्यम काव्य का ही यदि गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व होता है, तथापि ध्वनि का अवशिष्ट्य अर्थात् निकृष्टता स्थल मे एव ध्वनि का वशिष्ट्य स्थल मे कारणान्तर स्वरूप अपराङ्ग प्रभृति के योग से गुणभाव हेतु गुणीभावत्व होता है । सुतरा पूवमे गुणयुक्तत्व नहीं था, सम्प्रति गुणयोग हेतु गुणीभूत हुआ है । इस प्रकार च्वि प्रत्यय लब्ध अथ ही उसका द्वैविध्य प्रतीति कराता है । उसके मध्य मे अवशिष्ट्य स्थलमे अष्टविध भेद होते है । अत सूत्रमे उसका निर्देश करते हैं ।

स्फुट, अपराङ्ग, वाच्य प्रपोषक, कष्टगम्य, सन्दिग्ध प्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काकुगम्य एव अमनोज्ञ—गुणीभूत व्यङ्ग्य के ये अष्ट प्रकार भेद होते हैं ॥१॥

क्रमेणोदाहरणानि— दृष्टा भागवता कृपाप्युपगता तेषां स्थितं तत् समं

ज्ञातं वस्तु विनिश्चितञ्च कियता प्रेम्णापि तत्रा सतम् ।

जीवद्भिर्न मृतं मृतैर्यदि पुनर्मर्त्तव्यमस्मादृशै

रुत्पद्यैव न किं मृतं बत विधे वामाय तुभ्यं नमः ॥

अत्र जीवद्भिरिति स्निग्धावस्थैः, मृतैरिति तद्विपरीतावस्थैरित्यर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यम्, तत्तु स्फुटमिति गुणीभूतम् ॥२॥

यथा वा—

शयनसहचरीणां लोचनैरच्च्यमानान्यतिरतिजय लक्ष्मीलक्ष्मभिः पक्ष्मलानि ।

रहसि सबहुमानं चुम्ब्यमानानि दृग्भ्यां, स्वजत इव मृगाक्षी स्वाङ्गकैः स्वाङ्गकानि ॥

अत्र ग्रन्थकार एव महाप्रभोः पार्षदानां मध्ये कस्यचित् कस्यचिदप्राकट्यं दृष्ट्वा विरहव्याकुलः सन् आत्मानं निन्दन्नाह—दृष्टा इति । तेषां कृपाप्यस्माभिः प्राप्ता, तत् सर्वसारत्वेन निश्चितं यद्वस्तु तदपि ज्ञातम् । तत्र तेषां निकटे अस्माभिर्वासः कृत इत्यर्थः । तेषां दर्शन-कृपा-सहवासादिप्राप्तिरेव जीवनम्, तादृशजीवनवद्भिरस्माभिर्न मृतम् ।

अधुना तेषां विरहे वयं मृता एव । मृतैर्यदि पुनर्मर्त्तव्यम्, तदोत्पद्यैव किं न मृतम् ? तथा च जीवद्दशायां मरणं न जातम् । अधुना मृतानामस्माकं पुनर्मरणं भविष्यति । एतदपेक्षयोत्पत्तिकाल एवास्माकं मरणं कथं न कृतम्, तस्मात् प्रतिकूलाय विधात्रे नम इत्यर्थः । स्निग्धेति—सुखमयावस्थैरित्यर्थः । तद्विपरीतेति—दुःखमयावस्थैरित्यर्थः ॥२॥

यथा वेति—मृगाक्षी स्वाङ्गकैः करणैः स्वाङ्गानि स्वजत इति । एवमतिशयरतिजये या लक्ष्मी

क्रमशः उदाहरण—भगवद्भक्तवृन्द का दर्शन भी हुआ है, उनकी कृपा से अवस्थिति भी सम्भव हुई है । परम वस्तु को जानकर उसका विनिश्चय भी हुआ है । उन सबके निकट मे प्रेमपूर्वक निवास भी हुआ है । उस जीवित अवस्था मे हम सबकी मृत्यु नही हुई है । अधुना उन सबके विच्छेद से हम सब मृत हैं । मृत होकर भी यदि मरना होता है तो उत्पन्न होकर ही क्यो मृत्यु नहीं हुई ? अयि वाम विधे ! तुम्हारा असाध्य कुछ भी नहीं है, प्रतिकूल विधि—तुमको नमस्कार ।

यहाँ जीवित अवस्था शब्द से भागवतगण के सहित निवास, सदालापादि रूप जो जीवन है, वही जीवनविशिष्ट अवस्था है एवं मरणावस्था—उन सबकी अभावविशिष्ट अवस्था है । इस रीति से यहाँ अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य हुआ है, किन्तु वह परिस्फुट होने के कारण गुणीभूत व्यङ्ग्य हुआ है ॥२॥

इस विषयमे उदाहरणान्तर यह है—जो शयनकालीन परिचर्याकारिणी किङ्करीवृन्द लोचन के द्वारा अर्च्यमान हैं । अर्थात् आदर पूर्वक दृष्ट होते हैं । रति विजय शोभा सूचक चिह्नसमूह के द्वारा जो पक्ष्मल के समान प्रतीत होते है, निज लोचन के द्वारा ही जो निजनमे चुम्ब्यमान होते हैं, मृगाक्षी राधिका निज उन अङ्गप्रत्यङ्ग के द्वारा ही मानो निज उन सब अङ्गप्रत्यङ्ग को आलिङ्गन कर रही हैं, अर्थात् पुनः पुनः स्पर्श कर रही है ।

अत्र 'अर्च्यमानानि' 'पक्ष्मलानि' 'चुम्ब्यमानानि दृग्भ्यां' 'स्वजते' इत्यादौ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यानि, तानि स्फुटान्येव ॥३॥

अपराङ्गं यथा—

कोपे यथातिललितं न तथा प्रसादे, वक्त्रं विधिस्तव तनोतु सदैव कोपम्।
इत्याकलय्य दयितस्य वचो विभङ्गी, राधा जहास विहसत्सु सखीजनेषु ॥

अत्र विप्रलम्भशृङ्गारो हास्यस्याङ्गम्। 'राधाविवर्त्तितविनम्रमुखी बभूव' इति चेत्, तदा कोपप्रशमो व्रीडोदयश्चेति ध्वनिरेव स्यात् ॥४॥

यथा वा—मुग्धे परिहर मानं, मानय वचनं प्रियालिवृन्दस्य।
यौवनमिदमम्भोरुह, दलजलबिन्दूपमं विद्धि ॥

शोभा तस्याः सूचकलक्ष्मभिश्छिन्नं कारणपक्ष्मलानि पुष्पाणीव। कथम्भूतानि? शयनसमये परिचरणपराणां किङ्करीणां लोचनैरर्च्यमानानि। 'अर्च्यमानानि' इति पदेन स्वसाफल्यमननेन सादरं दृष्टानीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितं वाच्यं स्फुटम्। पक्ष्मलानीति पदेन चित्रितत्वं व्यङ्ग्यम्। तत् स्फुटम्। तेन च सम्मर्दातिशयोक्त्या तनुम्लानिवस्तु व्यङ्ग्यम्। स्वदृग्भ्यां चुम्ब्यमानानीति आसक्तिपूर्वकं दृष्टानि, तेनाहमद्य कृतार्थास्मीति स्वसाफल्यं वस्तु व्यङ्ग्यम्। स्वजत इति पदेन पुनः पुनः स्पृशतीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितं वाच्यमिति सर्वत्र स्फुटमेव ॥३॥

अपराङ्गमिति—अपरस्य गौणरसस्याङ्गमित्यर्थः। वचसो विभङ्गीं श्रुत्वा राधाविवर्त्तितेत्यस्य पदस्य गुणीभूतत्वसूचकं 'राधा जहास विहसत्सु सखीजनेषु' इति चरणं विहाय राधाविवर्त्तिता विनम्रमुखी बभूवेति चरणस्य प्रक्षेपे कृते अस्यैव काव्यस्योत्तमता भवेदित्यर्थः।

न च पूर्वोक्तपद्यद्वयस्य गुणीभूतत्वसूचकवाक्यस्थले उत्तमताबोधकवाक्यप्रयोगः कथं न कृत इति वाच्यम्। तत् पद्यद्वयोर्गुणीभूतत्वेऽपि वाच्यार्थस्यातिचमत्कारित्वेन प्रक्षेपस्यानौचित्यात् ॥४॥

मुग्धेति—यौवनमिदं कमलदलस्थ जलबिन्दुवत् नश्वरं विद्धि इत्यनेन शान्तरसो मुख्यव्यङ्ग्यस्तस्याङ्ग

इस श्लोक में अर्च्यमान, चुम्ब्यमान, पक्ष्मल एवं आलिङ्गन पदमें जो अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि हुई है, वह अत्यन्त स्फुट ही है ॥३॥

अपराङ्ग का एक उदाहरण—कोप के समय तुम्हारा वदनकमल जिस प्रकार सुललित होता है, प्रसाद समय में उस प्रकार सुन्दर नहीं होता है। अतएव विधि जैसे निरन्तर तुमको क्रोध प्रदान करें। दयित के इस प्रकार वचन को सुनकर सखीगण हास्य परायण होने पर श्रीराधिका भी हँसने लगीं।

यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार हास्यरस का अङ्ग हुआ है। इस श्लोक के शेष भाग में 'राधिकाने मुखमण्डल को विवर्त्तित एवं विनमित किया' इस प्रकार पाठ श्लोकमें होने पर कोप का प्रशम एवं व्रीडा का उदय से ध्वनि ही होती ॥४॥

अपराङ्ग का अपर एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—अयि मुग्धे! मान परिहार करो, प्रियसखीवृन्द के वाक्य का समादर करो। यह यौवन, कमल-दलोपरिस्थित सलिल बिन्दु के समान है।

अत्रापि विप्रलम्भश्रृङ्गारध्वनि शान्तरसस्याङ्गम्। 'अर्चययौवनकुसुमैर्देव कुञ्जेचर किमपि' इत्युक्ते ध्वनिरेव स्यात् ॥५॥

वाच्यपोषक यथा—क्वाह गोपबधू स्मरायुतजयी गोपेन्द्र सूनु क्व वा
साद्धं तेन रतिर्ममाभवदिति भ्रान्तै पर भण्यते।
इत्येव गुरुकर्णगोचरतया सख्या सम निर्मिता
वाणीमन्यथाश्चकार पुलकीगण्ड कुरङ्गीदृश ॥

अत्र 'अन्यथाश्चकार' इत्यस्य वाच्यस्य गण्डस्य पुलकितत्व प्रपोषकम्। इत्येव गुरु कर्णगोचरतया सख्या सम जल्पने रोमाञ्चोत्किरमञ्चलेन सुमुखीगण्डस्थलीमावृणोत्' इत्युक्ते ध्वनिरेव स्यात् ॥६॥

यथा वा—काठिन्य गुण एव येन भवतो कान्तस्य केशग्रह
स्नेहो दूषणमेव येन लभ्यते दपीदशा दग्धताम्।
तुभ्य कङ्कतिके नमोऽस्तु धिगितिस्नेहामिति व्याजवाग्
विन्यासा चिकुरप्रसाधनविधौ कृष्णेन सा सस्वजे ॥

श्रृङ्गाररसस्तेनाय ध्वनिर्गुणीभूतो ज्ञेय ।५॥

क्वाहमिति—गोपेन्द्रस्य राज्ञ पुत्रस्तत्रापि स्मरायुतजयी कोटिकन्दर्पतो गोपसु दर स श्रीकृष्णो वा क्व, तस्य प्रजा कश्चिन्निकृष्टो गोपस्तस्य बधूस्तत्रापि तस्याग्रे कुरूपाह वा क्वेति वाकप्रयोगकाले कृष्णशब्दो च्चारणाञ्जातो जो गण्डदेशे पुलक, स एव सख्या सम निर्मिता वाणीम यथाञ्चकार मिथ्याभूतञ्चकार। गण्डस्थल कथम्भूताम्? रोमाञ्चोत्किर रोमाञ्चव्याप्तमिति यावत् ॥६॥

मानान्तर सङ्गमसमुत्का पश्चात् स्वाधीनभर्त्तृका काचिन्नायिका श्रीकृष्णस्य केशप्रसाधन कुवती

इस श्लोकमे भी विप्रलम्भ श्रृङ्गार ध्वनि शान्तरस की हुई है। श्लोक के शेषार्द्ध मे 'तुम यौवन कुसुम के द्वारा कुञ्जविहारी किसी देव की अर्चना करो' इस प्रकार कहने से ध्वनि ही होती ॥५॥

वाच्य प्रपोषक का निदर्शन—सामान्या गोपवधू मै ही कहाँ, और कोटि कन्दर्प के समान सुन्दर गोपराजतनय श्रीकृष्ण भी कहा? भ्रान्त व्यक्तिवृन्द ही केवल उनके सहित मेरा प्रीति प्रसङ्ग का उल्लेख करते रहते हैं। गुरुजन के कर्णगोचर होने से हरिणाक्षी जिस समय सखीवृन्द के गण्डस्थल पुलकित होकर उक्त समस्त कथोपकथन को अन्यथा कर दिया।

यहा गण्डस्थल का पुलकितत्व—अन्यथा करा दिया, इस वाक्य का प्रपोषक हुआ है। इस श्लोक का शेष भाग—'सखी के सहित कथोपकथन समय मे वह सुमुखी रोमाञ्चपूर्ण गण्डस्थली को अञ्चल के द्वारा आवृत किया' इस प्रकार होने से ध्वनि ही होती ॥६॥

वाच्य प्रपोषक का दृष्टान्तान्तर यह है—काठिन्य गुण के मध्य मे ही गणनीय है। कारण, तुमने तज्ज्य कान्त का केशग्रहण सौभाग्यलाभ किया है, एव स्नेह दोष के मध्यमे परिगणित हुआ है। कारण, इस हेतु प्रदीप की वत्ती दग्ध होती है। अतएव हे कङ्कतिके! अति कठिन तुमको नमस्कार, एव

अत्र विपक्षरमणी प्रति काठिन्यादिदोषप्रसङ्गेन प्रागल्भ्यातिशय प्रकटनेन वाऽसूया। आत्मान प्रति स्नेहमयत्वगुणारोपेण स्वाधिकसन्तापप्रकटनेन दैन्यम्। काठिन्यस्नेहयोर्गुण-दोषत्वारोपेणात्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनित्वम्। कङ्कतिका प्रति विपक्षरमणीत्वारोपेण समासोक्ति। 'तुभ्य नमोऽतिस्निग्धा धिक्' इति हास-निर्वेदयो शावल्यम्। एव भूयसामपि विलक्षणेनोत्तमोत्तममपि काव्य 'व्याजवागविन्यासा' इत्येकस्यैव पदस्य वाच्यस्य पोषकत्वा-दुत्तमोत्तमत्व विहाय केवलगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेनोत्तमत्व जातम्, किन्तु 'धिगिति स्नेहाम्' इतीषत् स्मित जल्पन्ती 'चिकुरप्रसाधनविधौ' इत्यादिचेत्तदास्योत्तमोत्तमत्वमेव। कष्टगम्य-मस्फुटतया क्लेशगम्यमित्यथ ॥७॥

यथा— त्वदभिरमिता द्वितीया, जगत्यभूदद्वितीयैव।
अनुमतिरप्यननुमति, स्तिथिरतिथिर्मे निशाप्यनिशा॥

कङ्कतिका लक्षीकृत्य व्याजेन श्रीकृष्णमाह—काठि यमिति। हे कङ्कतिके! तव काठि य गुण एव, येन काठिन्येन हेतुना भवती श्रीकृष्णस्य केशग्रह लभते, स्नेहस्तु दूषणमेव, येन तलरूपस्नेहदूषणेन दर्भो दीपसम्बन्धिनीदशा वर्त्तिकादग्धता लभते, इति व्याजेन कङ्कतिकामिषेण विपक्षरमण्या दोषव्यञ्जकस्य वचसो वि यासो यस्या सा। वागविन्यास श्रुत्वा प्रसन्नेन श्रीकृष्णेन सस्वजे, तया सहालिङ्गन चक्र इत्यथ। प्रागलभ्येति—केषाकषरूप प्रागल्भ्यतिशयप्रकटनेनेत्यथ। गुणदोषत्वेति—काठि यगुण इत्यत्र गुणशब्दस्य दोषे लक्षणा, काठि यस्य निन्द्यत्व ध्वनि। एव स्नेहोत्तरदोषशब्दस्यापि गुणे लक्षणा, स्नेहस्य च सर्वोत्कर्ष ध्वनि। ध्वनेस्तु अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्व ज्ञेयम्। नायिकात्वारोप एव समासोक्त्यलङ्कार ॥७॥

अति स्नेहशालिनी को धिक। केश प्रसाधन के समयमे इस प्रकार कपट वाग्विन्यासकारिणी उस रमणी श्रीकृष्ण के द्वारा आलिङ्गित हुई थी।

यहा विपक्षरमणी के प्रति काठिन्य दोष का प्रसङ्ग के द्वारा अथवा केशाकषक रूप प्रगलभता का आतिशय्य प्रकटन द्वारा असूया व्यक्त हुई है। अपने मे स्नेहमयत्व गुणारोप के द्वारा निज सन्तापातिशय प्रकटन हेतु द य अभिव्यक्त हो रहा है। एव काठि य गुण रूपमे भी स्नेह दोष रूपमे आरोपित होने से अत्य ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि होती है।

कङ्कतिका के प्रति विपक्ष रमणीत्व आरोप करने से समासोक्ति अलङ्कार हुआ है। 'अति कठिन! तुमको नमस्कार एव अति स्नेहशालिनी को धिक' यहाँ हास एव निर्वेद की शबलता हुई है।

इस प्रकार बहु लक्षणा युक्त उत्तमोत्तम काव्य होने पर भी 'कपट वागविन्यासकारिणी' पद रूप वाच्य की पोषकता हेतु उत्तमोत्तम काव्यत्व परित्याग पूवक केवल गुणीभूत व्यङ्ग्य होने से उत्तम काव्यमे परिणत हुआ है।

कि तु, "अति स्नेहशालिनी को धिक्, केश प्रसाधन समय मे ईषत् हास्य के सहित इस प्रकार कथोपकथनकारिणी किसी रमणी" इस प्रकार पाठ होनेसे उसका उत्तमोत्तम काव्यत्व अक्षत ही रहता ॥७॥

द्वितीया, तुम्हारे द्वारा अभिरमिता होकर जगत्मे अद्वितीया हो गई है। सम्प्रति वह अनुमतितिथि अनुमतिहीना होकर मेरे सम्ब ध मे अतिथि एव निशा भी अनिशा हुई है।

अत्र विरोधाभासेन तव प्रकृतिवैकृत्यकारिणी कापि शक्तिरस्तीति । द्वितीया सपत्नीत्यर्थ । अतो मे ममानुमति कलोनचन्द्रा पूर्णिमातिथिरनुमतिहीना सती अतिथिराजतेत्यर्थ । निशापि मे अनिशा शाश्वती अप्रभातेवासीदित्यथ । पर्य्यायप्राप्तापि मे पूर्णिमातिथिस्त्वयाऽननुमति कृता, अनादृतेति मम जीवनमेव व्यर्थमिति स्फुटम् । प्रतिपदमहमप्रतिपदमुपागता त्वत् प्रभावेनेति चेद्ध्वनिरेव । प्रतिपद प्रति—व्यवसायम्, अप्रतिपदमप्रतिपत्तिमहमुपागतेत्यर्थ ॥८॥

सन्दिग्धप्रामान्य यथा—

हे भद्र भाद्रपदमासचतुर्थिकेन्दो, तुभ्य नमोऽस्तु न कदापि मयासि दृष्ट ।
श्यामेन तेन कतमेन नवेन यूना, साक तथापि मम किं प्रथित प्रवाद ॥

त्वयाभिरमितेति—अत्र द्वितीया—अद्वितीया, अनुमतिरननुमतिरिति सर्वत्र शब्दविरोधमात्रम्, तेन विरोधाभासेन तव प्रकृतिवैकृत्यकारिणी कापि शक्तिरस्तीति परिहासो व्यङ्ग्य ।

वास्तवार्थस्तु—द्वितीया मम सपत्नी अद्वितीया अभूत्, त्वद्दत्त सौभाग्यादिति भ व । कलाहीने सानुमतिरित्यभिधानादनुमतिपद कलाहीनचन्द्रयुक्तपूर्णिमा बोधकम् । तथा चागामि या पूर्णिमा या मया सह ते सङ्गोऽवश्यम्भावीति त्वयव पूर्वं सम्मतिदत्ता, अधुना मम सा पूर्णिमातिथिस्तवानुमतिहीना सत्यतिथिस्ताद्दृशतिथिभिन्नाभूत्वा आगतेत्यथ । अनिशा-पदेन लक्षणया शाश्वती अप्रभातेवासीत्यथ ।

पर्य्यायप्राप्तेति त्वत्कृतानियमप्राप्तेत्यथ । प्रतिव्यवसायमिति व्यवसायो निश्चय, तथा च यस्मिन् दिवसे त्वया सङ्केतनिश्चय कृत तस्मिन्नेव दिवसे त्वत् प्रभावेणाहमप्रतिपत्तिमुपागतेत्यथ ॥८॥

ऐकान्तिक व्याप्तिस्तदभावोऽनैकान्तिकम्, तथा च तव दर्शनादेव प्रवादो भवतीति न नियम, यतो

यहाँ विरोधाभास अलङ्कार के द्वारा—'तुम्हारी प्रकृति विकृतिकारिणी कोई शक्ति है' इस प्रकार व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है । प्रकृतार्थ यह है—यह द्वितीया अर्थात् मेरी सपत्नी, तुम्हारे द्वारा अभिरमित होकर अद्वितीया अर्थात् अति सौभाग्यशालिनी हुई है । अतएव मेरे सम्बन्ध मे वह अनुमति अर्थात् एक कला हीन चन्द्रविशिष्टा पूर्णिमा तिथि—जिस पूर्णिमा मे सङ्गत होने का वचन तुमने दिया था—अनुमति हीन होकर अतिथि अर्थात् उस तिथि भिन्न अपर तिथि के समान हो गई है ।

निशा भी अनिशा—नित्या हो गई है, अर्थात् उसका प्रभात नहीं होगा, इस प्रकार प्रतीत होता है । तुम्हारे द्वारा कृत पर्य्याय के अनुसार—जो पूर्णिमा उपस्थित है, वह तुम्हारे द्वारा अननुमतिकृत अर्थात् अनादृत होने से मेरा जीवन व्यर्थ हुआ ।

यहाँ व्यङ्ग्य अस्फुट हुआ है । 'तुम्हारे प्रभाव से प्रतिपद मे मै प्रतिपद् हो गई हूँ ।' इस प्रकार पद विन्यास करने से ध्वनि होती । प्रतिपद् अथमे व्यवसाय अर्थात् निश्चय है । प्रतिपद मे अर्थात् जिस जिस दिनमे तुमने सङ्केत का निश्चय किया था, उस उस दिनमे ही मै अप्रतिपद हो गई हू । अर्थात् अप्रतिपत्ति को प्राप्त कर चूकी हूँ ॥८॥

अयि भद्र ! भाद्रीय चतुर्थिचन्द्र ! तुमको नमस्कार ! मैंने तुमको कभी देखा नहीं, अथच श्याम नामक एक नवीन युवक के सहित मेरा प्रवाद कैसे प्रथित हुआ ।

अत्र तव दशनेन प्रवादो भवतीत्यनैकान्तिकम्, अपि तु तथाविधाऽदृष्टद्वारैवेति । किं वा नायं प्रवाद, सत्यवेय किं वदन्ती, यतो भवद्दशनमन्तरेणापि जनैश्चेदुद्घुष्यत इति सन्दिग्ध प्राधान्य यस्य इद गुणीभूतव्यङ्ग्यमप्यास्वादस्य चमत्कारितया ध्वनिधर्मं भजत इति न कृताऽस्य परिवृत्ति ॥९॥

तुल्यप्राधान्य यथा—

स्मर समरसमाप्तौ वक्रता भ्रूरहार्षीदजनिषतमृगाक्ष्यावीतलक्ष्या कटाक्षा ।

धनुरिव कुसुमेषोर्ज्याविमुक्त तदासीद् विविशुरिव निषङ्गेमुक्तशेषा पृषत्का ॥

अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारेणोपमालङ्कारो ध्वनित । तौ स्वप्राधान्येन स्थिताविति तुल्यप्राधान्यम् ॥१०

मय्येव तस्य व्यभिचार, किं तु प्रवादजनकीभूत अदृष्टमेव कारणमिति ध्वनि । किंवा त्वद्दशनादेव प्रवाद इति नियमो यथाथ एव, तथापि त्वद्दशन विना जनश्चेदुद्घुष्यते, तदा नाय प्रवाद ।

किन्त्वियं किंवद ती जनश्रुति सत्या एव यतो मिथ्याप्रवादस्तद्दशन विना न भवतीति नियमादित्यपि ध्वनि सम्भ ति, अतो निश्चयाभावाद्गुणीभूतव्यङ्ग्यम् ॥९॥

मानभङ्गानन्तर सम्भोगसमये मानाभासो वत्तते, सम्भोगान्ते सोऽपि नास्तीत्याह—स्मरसमरेति । अहार्षीत्—तत्याज, मानसमये ये कटाक्षा कान्त लक्षीकृत्य प्रवृत्ता आसन्, त एवाद्य सम्भोगान्ते मानाभासस्याप्यगमात् वीतलक्ष्या अजनिषत, तथा च का त लक्षीकृत्य कटाक्षवाणान् न क्षिपतीत्यथ ।

भ्रुवो वक्रतात्यागे उत्प्रेक्षामाह—कुसुमेषो कन्दपस्य धनुर्युद्धसमाप्त्यन तर ज्या—विमुक्त सद् यथा वक्रता त्यजति, तथा कटाक्षाणां लक्ष्यत्यागे उत्प्रेक्षामाह—कन्दपस्य मुक्तावशिष्टा वाणा युद्धसमाप्त्यनन्तर निषङ्गे तूणे विविशुरिव ॥१०॥

यहाँ तुम्हारा दशन से ही प्रवाद होता है, ऐसी व्याप्ति नहीं है। कारण, मुझमे उसका व्यभिचार सुस्पष्ट है। अतएव प्रवाद का कारण दुरदृष्ट ही है। इस प्रकार ध्वनि की सम्भावना होती है, एव यह प्रवाद नहो है। किन्तु यथाथ जनश्रुति है। कारण, तुम्हारा दशन व्यतीत भी जनता उस प्रकार प्रवाद की घोषणा करती रहती है। इस प्रकार ध्वनि भी यहाँ पर सम्भव है।

इस रीति से यहाँ सन्दिग्ध प्राधान्य हुआ है। यह गुणीभूत व्यङ्ग्य होने पर भी आस्वादन की चमत्कारिता हेतु ध्वनिवत् प्रतीत होता है। अत इसका परिवत्तन नहीं किया गया ॥९॥

तुल्य प्राधान्य का निदशन—सुरत समर के अवसान होने पर उस मृगाक्षी की भ्रूलता वक्रता को परित्याग किया, एव कटाक्षसमूह लक्ष्यशून्य हो गये, अर्थात् मान समय मे कान्त ही उक्त कटाक्षसमूह का लक्ष्य था। उस समय बोध हुआ, कन्दप का धनु मानो ज्या विमुक्त हो गया है, एव मुक्तावशिष्ट बाणसमूह जसे तून के मध्य मे प्रविष्ट हुये है।

यहा उत्प्रेक्षा के द्वारा उपमा ध्वनित हुई है, एव उक्त अलङ्कारद्वय ही स्व स्व प्रधान होकर अवस्थान कर रहे हैं। अत तुल्य प्राधान्य हुआ है ॥१०॥

काकुगम्य काक्वाक्षिप्तम्, तद् यथा—

कति न पतित पादोपान्ते न चाटु कतीरित
कति न शपथ शीर्ष्णो दत्त कृता कति न स्तुति. ।
तदपि न गत वामे वाम्य लभस्व कृतार्थता
भवतु तव तु प्रेयान् मानो न मानिनि माधव ॥

अत्र न पतितम्, अपितु पतितमेवेति नञ् काकु, तयाक्षिप्तम् । नेदमचत्कारि, तथापि-'कति न पतित पादोपान्ते कृत कति च टु वा, कति कति मया शीष्ण शप्त कति स्तुतिरीहिता'—इति पठनीयम् ॥११॥

अमनोज्ञमसुन्दरम्, तद्यथा— सुदपूव्व वि भि अ म, हरिणो मुरलीअ सुणन्ती ए ।
जपपन्ती ए गुरुहि, वाचात्थम्भो बहूए सवृत्तो ॥

अत्र निकाम श्रुतपूर्वमपीति तत्कालीन-मुरलीरवस्य सङ्केतकारित्व व्यनक्ति । तेन गुरुभिः सम कथयन्त्या बध्वा वाक्स्तम्भो जात । तत्र गन्तुमशक्यत्वन्मोहो जात इत्यर्थ । अतो वाक्स्तम्भो जात इति वाच्याथ एव चमत्कारी, व्यङ्गयार्थस्तु सन्नपि तथा न

नञिति—नञरूपा या काकुस्तया आक्षिप्त न पतितम्, अपितु पतितमेवेति ध्वनिवस्तु । नेदमिति—यद्यप्यत्र चमत्कारसङ्गा ात् परिवृत्त्यपेक्षा नास्ति, तथापि परिवृत्तौ आग्रहश्चेत् तामपि शृणु—कति पतितमिति ॥११॥

सुदपू वमिति । 'श्रुतपूवमपि निकाम, हरेर्मुरलीरव श्रुत्वा । जल्पन्त्या गुरुभि सम वाक्स्तम्भो बध्वा सवृत्त ।।" श्रुत—पूवमपीति पदेन तत्कालीनमुरलीरवस्य सङ्केतजनकत्वरूप व्यङ्गय बोध्यते । गुरुभयेन सङ्केतस्थले गन्तुमशक्यत्वात् मोहेन वाक तम्भो जात । मुरलीरवस्य सङ्केतकारित्वरूपव्यङ्ग्यार्थ

काकुगम्य का दृष्टान्त—चरणोपान्तमे कितनी बार नहीं गिरा ? चाटुवाक्य भी कितना नहीं कहा ? मस्तक स्पशपूवक कितनी शपथ एव कितनी स्तुति विनति मैने नहीं की ? तथापि अयि वामे ! तुम्हारी वामता विदूरित नहीं हुई ? न हो, अधुना तुम कृताथ हो जाओ । हे मानिनि ! मान ही तुम्हारा प्रिय हो, माघव का प्रिय होन की आवश्यकता नहीं है ।

कितनी बार चरणो मे नहीं गिरी, अर्थात् अनेक बार गिरी हूँ । नञरूप काकु के द्वारा इस प्रकार प्रतीति हो रही है । यद्यपि यह चमत्कारजनक नहीं है, तथापि कितनी बार चरण प्रान्त मे निपतित हुई हूँ, कितनी चाटुवाक्य प्रयोग किया हूँ, कितनी बार शिर स्पर्श पूवक शपथ एव कितनी स्तुति-विनति की है ।' इत्यादि रूप किञ्चित् परिवत्तन करके पाठ करने से उत्तम होगा ॥११॥

अमनोज्ञ अर्थात् असु दर का निदशन—श्रीहरि की मुरलीध्वनि को पहले यथेष्ट श्रुत होने पर भी सम्प्रति उस ध्वनिको सुनकर गुरुजन के सहित कथापकथनकारिणी बधू की वाणी सहसा स्तम्भित हो गई ।

यहा 'पूर्व में यथेष्ट श्रुत होने पर भी' इस वाक्य के द्वारा वत्तमान मुरलीध्वनि का सङ्केतकारित्व व्यञ्जित हुआ । उससे गुरुजन के सहित कथोपकथनकारिणी बधू का वाक्स्तम्भ हुआ । इस प्रकार

चमत्करोतीत्यसुन्दरम्, एवमन्योऽपि ॥१२॥

प्रागुक्त ध्वनिसख्या, एभिर्गुणितास्तथाष्टभि ।
खयुगर्त्तुवह्निवसवो, ध्वनिसाङ्कर्यात् पुनर्द्वधा ॥

अष्टा प्रकारा गुणीभूतव्यङ्ग्यध्वनय । शरेषु युगखेन्दु (१०४५५) भेदैर्ध्वनिभि प्रत्येकमभि-सम्बध्यन्ते । तेन खयुगर्त्तुवह्निवसवो (८३६४०) भवन्ति । एते पुनर्ध्वनि-साङ्कर्येण द्वेधा (१६७२८०) भवन्ति, तेन—

व्योमदिङ्नागपक्षाकहयर्त्तुरजनीकरा ।
गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदा विज्ञेया सूक्ष्मबुद्धिभि ॥१३-१४॥

श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे गुणीभूतव्यङ्ग्य निर्णयो नाम
चतुर्थ किरण ॥४॥

सन्नपि वाच्यार्थापेक्षया चमत्कारो नास्ति, अतो गुणीभूतत्वम् ॥१२॥

प्रागुक्त ध्वनिसख्येत्यारभ्य ध्वनिसाङ्कर्यात् पुनर्द्वधा इति सूत्रद्वयम्, तयोर्व्याख्यामाह—अष्टा प्रकारा इति । पूर्वोक्तं शरेषु युगखे दुभेदैर्ध्वनिभि सह प्रत्येक गुणीभूताष्टध्वनीना मिलने कृत । तथा च पूर्वोक्त शरेषु युगखेन्दुसख्यानामष्टभिरङ्कै पूरणे कृते सति खयुगर्त्तुवह्निवसुसख्यका (८३६४०) ध्वनय स्युरित्यथ ।

तथा च पूर्वोक्त ध्वनिभि सह प्रत्येक गुणीभूताष्टध्वनीना ससृष्ट्या एकविध एव भेद उक्त । त्रिरूपसङ्कराणा तु सामान्याकारेण एक एव भेदो विवक्षणीय, नतु भेदत्रयमित्यभिप्रायेणाह—एते इति । शरेषु युगखेन्दुभेदाना गुणीभूताष्टध्वनिभि साङ्कर्ये सति पुनरपि खयुगर्त्तुवह्निवसुसख्यका ध्वनय स्यु । तेन च मिलित्वा व्योमदिङ्नागपक्षाकहयर्त्तुरजनीकरसख्यका ध्वनय (१६७२८०) स्युरित्यथ । दिङ्नागा-दिग्गजस्तिनोऽष्टौ अकस्य—सूर्यस्य हया सप्त, ऋतव षट्, रजनीकरश्चन्द्र एक ॥१३ १४॥

इति सुबोधिन्या चतुर्थकिरण ॥४॥

ये अष्ट प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनि—पूर्वोक्त १०४५५ दस हजार चारसो पचपन सख्यक ध्वनि के प्रत्येक क सहित सम्बन्ध होने पर ८३६४० त्र्यशीतिसहस्र षटशत चत्वारिंशत सख्यक होती हैं । ध्वनि का साङ्कर्य होने से उक्त ध्वनि द्विधा विभक्त होने पर १६७२८० एक लक्ष सप्तषष्ठिसहस्र द्विशत अशीति सख्यक होती हैं ।

सूक्ष्म बुद्धिसम्पन्न सुधीगण गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद को गणना के द्वारा जानें ।

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रिकृतानुवादे
गुणीभूतव्यङ्ग्यनिर्णयो नाम चतुर्थकिरण ॥४॥



पञ्चमकिरणः

अथ रसभाव-तद्भेदनिरूपण

रसस्याभिव्यक्तिलक्षण भरतमुनि सूत्र प्रमाणयन्नाह—(भरतनाट्यशास्त्रे ६।३१) 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति' इति। विभावयत्युपादयतीति विभाव· कारणम्, अनु पश्चाद भावो भवन यस्य सोऽनुभाव कार्यम्, विशेषेणाभिमुख्येन चरित शील यस्येति व्यभिचारी सहकारी,—एतेषा संयोगात् सम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिरभिव्यक्ति। कारण-कार्यसहकारित्वेन लोके या रसनिष्पत्तिसामग्री, सव काव्ये नाटये च विभावादि-व्यपदेशा भवतीति सम्प्रदाय। कारणमत्र निमित्तम् ॥१॥

विभावादीना स्वरूपमाह,—विभावो द्विविध स्यादालम्बनोद्दीपनाख्यया।
आलम्बन तदेव स्यात् स्थायिनामाश्रयो हि यत्।
यत्तानेवोद्दीपयति तदुद्दीपनमिष्यते ॥

अथ रसभाव-तद्भेदनिरूपणम्

पूर्व ध्वनिप्रकरणे रसात्मकध्वनि काव्यपुरुषस्यात्मत्वेन कथित। अतस्तस्य रसस्याभिव्यक्ति साक्षात्कारस्तस्य लक्षण ज्ञापक भरतमुनिसूत्र प्रमाणयितुमाह—अथेति। अभिव्यक्तिरिति—साक्षात्कार इत्यर्थ। या रसनिष्पत्तिसामग्री कारणकार्यसहकारित्वेन लोके कथिता, सव काव्ये नाट्ये चेत्यादि ॥१॥

आलम्बनमिति—यद्वस्तु आलम्ब्य स्थायिन प्रवृत्ता भवन्ति, तदेवालम्बन स्थायिनामाश्रयो भवतीत्यर्थ। यथा हास्यस्थायिन उदाहरणे वसन्तोत्सवमालम्ब्य मधुमङ्गलस्य वाक्यात् सर्वेषा प्रवृत्तो

ध्वनि प्रकरणमे 'रस' को काव्यपुरुष की आत्मा कहा गया है। सम्प्रति उसका प्रमाणस्वरूप उस रस का अभिव्यक्तिलक्षण साक्षात्कार, भरतमुनिकृत सूत्र का उल्लेख करते हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्ति' विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारि भाव के संयोग से रस निष्पत्ति होती है। विभावित अर्थात् उत्पादित करता है जो, इस अर्थ मे विभाव शब्द से कारण का बोध होता है।

अनु अर्थात् पश्चात् भाव की उत्पत्ति होती है जिसकी, इस अर्थमे अनुभाव शब्द से कार्य का बोध होता है। एव विशेष रूपसे अभिमुख भावसे चरणशील जो है—उसका नाम व्यभिचारी अर्थात् सहकारी है। इन सबके संयोग वा सम्बन्ध हेतु रस की निष्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति, साक्षात्कार होता है।

कारण एव कार्य की सहकारिता से लोक समाज मे जिसको रसनिष्पत्ति की सामग्री कहते हैं, काव्य एव नाट्य मे उसको ही विभाव प्रभृति कहते हैं। यही रस सम्प्रदाय सिद्ध मत है। यहाँ कारण शब्द से निमित्तकारण को जानना होगा ॥१॥

विभावादि के स्वरूप का वर्णन करते हैं। आलम्बन, उद्दीपन भेद से विभाव द्विविध होते हैं। तन्मध्ये स्थायिभावसमूह का जो आश्रय होता है, उसका नाम आलम्बन विभाव है। एव उक्त स्थायिभाव समूह को उद्दीपित करता है, उसका नाम उद्दीपन विभाव है।

एभिरेव व्यञ्जकस्तु त्रिभिरुद्रेकमागतैः ।
आस्वादाङकुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीरसायते ॥

एतेन रसस्य कारण कार्यादीनि नैतानि, अपितु अनुभावस्य कार्यस्य कारण विभाव, व्यभिचारी च, सोऽप्यनुभावस्य सहकारी। त्रय एव समुदिता सन्त स्थायिन रसो

यो हास स्थायी, तस्यालम्बन वसन्तोत्सव । यथा वा अर्जुनस्य भयस्थायिस्थले विश्वरूपप्रदर्शक श्रीकृष्ण एवालम्बनम् । यद्यपि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ विभावस्थायिभावरसादीना वा या प्रक्रिया कथिता तद्विभिन्ना एवात्र ग्रन्थे प्रक्रिया अलङ्कारिकाणामनुरोधेनोक्ता, अतएव काचित् काचित् प्रक्रियानात्यन्त-विचारसहापि, तथापि—अप्राकृतमुख्यरसवर्णनप्रसङ्ग एकव प्रक्रिया भवतीति नासङ्गतमिति ज्ञेयम् ।

यदिति—यद्वस्तु तान् स्थायिभावानुद्दीपयति प्रकाशयति तदुद्दीपनम् । यथा हासस्थले विदूषकस्य मधुमङ्गलस्य वक्तव्यम्, तत्रवानुभावो नयनस्फारादि । एतन्मते सात्त्विका अप्यनुभावान्तर्गता एव, न तु स्वतन्त्रा इत्यपि ज्ञेयम् । उद्रेक प्रत्यय्मागत प्राप्तरभिव्यञ्जकरसौ स्थायिभावो रसायते रस स्वरूपत्वेन परिणतो भवति । स्थायी कथम्भूत ? आस्वादाङकुरस्य रसास्वादकरूपस्य कार्यस्य कन्दो बीजरूप ।

अत्र स्थायिभावस्य नित्यत्वेन तत्परिणामरूपरसस्यापि नित्यत्वम्, अतो रस प्रति न विभावादीना

व्यञ्जक जो विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारी भाव है, ये तीन उद्रिक्त होकर आस्वादाङकुर के बीजस्वरूप स्थायिभाव को रस रूपमे परिणत करते हैं ।

इससे प्रतीत होता है कि—ये तीन, रस के कार्य वा कारण नहीं हैं, किन्तु विभाव ही अनुभावरूप कार्य का कारण है । व्यभिचारी भी अनुभाव का सहकारी मात्र है । एतत्त्रय सम्मिलित होकर स्थायि भाव को रसरूपत्व प्राप्त कराते है । अतएव स्थायिभाव समवायिकारण, आलम्बन एव उद्दीपन विभाव निमित्तकारण हैं । एव स्थायी का विकारविशेष असमवायिकारण है । ये सब रसाभिव्यक्ति के प्रति कारण हैं, रस के कारण नही है । कारण, स्थायी की नित्यता हेतु उसके प्ररिणामस्वरूप रस की भी नित्यता सिद्ध है ।

जिसको आलम्बन करके स्थायीभाव प्रवृत्त होता है—वह आलम्बन है । अर्थात् वह स्थायीभाव का आश्रय होता है । जिस प्रकार स्थायीभाव का उदाहरण मे वसन्तोत्सव को आलम्बन कर मधुमङ्गलके वाक्यसे सबको हास्य होता है, वह स्थायी है । उसका आलम्बन वसन्तोत्सव है । जसे अर्जुनके भय स्थायी स्थलमे विश्वरूप प्रदर्शक श्रीकृष्ण ही आलम्बन हैं ।

यद्यपि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमे विभाव स्थायिभाव रसादि को जो जो प्रक्रिया लिखित है, इस ग्रन्थमे उससे भिन्न प्रक्रिया का जो उल्लेख मिलता है, वह आलङ्कारिक सम्प्रदाय के अनुरोध हुआ है । अतएव किसी किसी प्रक्रिया अत्यन्त विचार सह नहीं है । तथापि अप्राकृत मुख्य रस वर्णन प्रसङ्गमे श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ एव श्रीमदलङ्कारकौस्तुभ ग्रन्थ की प्रक्रिया एक ही है ।

स्थायिभाव को जो उद्दीप्त करता है—प्रकाशित करता है, वह उद्दीपन है । जिस प्रकार हास स्थलमे विदूषक मधुमङ्गल का वक्तव्य है । वहाँ अनुभाव—नयन विस्फारादि हैं । इस मतमे सात्त्विक गण भी अनुभाव के अन्तर्गत ही हैं । किन्तु स्वतन्त्र नहीं होते हैं ।

भावमापादयन्ति । स्थायी समवायिकारणम्, आलम्बनोद्दीपनविभावो निमित्तकारणम् । स्थायिनो विकारविशेषोऽसमवायिकारण रसाभिव्यक्तेरेव भवति, नतु रसस्य ॥२॥

अथ कोऽसौ भाव स्थायी भवतीति त निरूपयति—

आस्वादाङकुरकन्दोऽस्ति धम कश्चन चेतम ।
रजस्तमोभ्या हीनस्य शुद्धसत्त्वतया सत ।

कारणत्वादिसम्भवति, कि त्वनुभावादीन् प्रति कायत्व कारणत्व सहकारित्व प्रवादनिर्वाहस्तु तेषा मध्ये एक प्रत्यन्यस्य कारणत्वादिमादायवत्याह— एतनेति ।

ननु स्थायिन परिणामत्वे कथ नित्यत्वम् ? कथ वा परिणामावस्थापन्नस्य रसस्य नित्यत्वमिति चेदुच्यते—यथा नित्यस्य श्रीकृष्णस्य परिणामरूपाणा बाल्य पौगण्ड कशोराणा नित्यत्वम्, कि तु भक्तानां दशनोत्कण्ठा जगदुद्धारादिप्रयोजन निमित्तीकृत्य कदाचित्तेषा प्राकट्यम्, सिद्धे च प्रयोजने कदाचित्तेषा पपञ्चागोचरं रूपमप्राकट्यञ्च, तथात्रापि विभावादिना मिलने सति रसस्याप्राकट्य ज्ञेयम् । परन्तु प्राकृतस्थले पूवदशा परित्यज्यव तत्परिणामोत्पत्ति , अप्राकृतस्थले त्वचिन्त्यशक्त्या पूवदशापरित्यागविनव नन् परिणामस्य प्राकट्यम्, उभयोर्नित्यत्वादिति भेदो ज्ञेय ।

असमवायिकारणमिति— स्थायिनो हेतुभूताच्चित्तस्य द्रवीभावरूपविकारविशेषा रसाभिव्यक्तेरेवा समवायिकारणमित्यथ , नतु रसस्येति स्थायिनो नित्यत्वात्तत्परिणामरूपरसस्यापि नित्यत्वमिति भाव ॥२

उद्रिक्त अर्थात् प्रत्यक्ष प्राप्त अभिव्यञ्जक के द्वारा स्थायिभाव रस रूपमे परिणत हो जाता है । किस प्रकार स्थायिभाव है ? वह आस्वादाङकुर का अर्थात् रसास्वादरूप का कायका कन्द बीजरूप है ।

स्थायिभाव, नित्य होने के कारण— उसका परिणामरूप रस भी नित्य है । अत रस के प्रति विभावादिके कारणत्वादि होना सम्भव नहीं है । कि तु अनुभावादिके प्रति कायत्व कारणत्व सहकारित्व प्रवाद निर्वाह—उनके मध्यमे एकके प्रति अपरके कारणत्वादि को लक्ष्य करके ही होता है ।

टीकाकार 'एतनेति' के द्वारा इसको कहते हे—स्थायीभाव का परिणाम होने से उसका नित्यत्व कसे सम्भव होगा ? कैसे परिणामावस्थापन्न रस का भी नित्यत्व होगा ? उत्तर मे कहते हैं—जिस प्रकार श्रीकृष्ण के परिणामरूप बाल्य, पौगण्ड, कशोर का नित्यत्व है, किन्तु भक्त की दशनोत्कण्ठा, एव जगदुद्धार प्रयोजन को निमित्त करके कदाचित् उन सबको प्रकट करते है । प्रयोजन सिद्धि होने पर कदाचित् उन सबका प्रपञ्चागोचररूप अप्राकट्य भी होता हे, तथापि यहा विभावादि का मिलन से रसका प्राकट्य भक्तहृदय मे होता है । उन सबका अन्तर्धान होने पर स का भी अप्राकट्य होता है ।

कि तु प्राकृत स्थलमें पूर्वदशा को परित्याग करके ही परिणाम की उत्पत्ति होती है । अप्राकृत स्थल मे—अचिन्त्यशक्ति मे पूवदशा को परित्याग किये बिना ही उसका परिणाम का प्राकट्य होता है । कारण, उभय ही नित्य है । इस प्रकार भेद को जानना चाहिये ।

असमवायिकारण को कहते हैं— स्थायिभाव के कारण, चित्तका द्रवीभावरूप विकारविशेष है, वही रसाभिव्यक्ति का असमवायिकारण है । किन्त रसका नहीं । कारण, स्थायीभाव नित्य होने के कारण—उसका परिणामरूप रस भी नित्य है ॥२॥

स्थायीभाव किसको कहते हैं ? इस प्रकार प्रश्नके उत्तरमे कहते हैं—जिस समय मानव सामाजिक

स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया ।
पृथग्विधत्वं यात्येषा सामाजिकतया सताम् ।।

सामाजिततया सता सामाजिकानामेक एव कश्चिदास्वादाङ्कुरकन्दो मनसः कोऽपि धर्मविशेषः स्थायी । स तु विभावस्योक्तप्रकार-द्विविधस्य भेदरेव भिद्यते । अनु कार्याणान्तु स्वतन्त्रा एव स्थायिनो नानाविधा ॥३-४॥

धर्म इति—रजोस्तमोभ्या रहितस्य शुद्धसत्त्वतया सतोविद्यमानस्य चेतसः कश्चन धर्म एव स्थायी, रजस्तमसोऽभावेन सामाजिकानामविद्याराहित्य स्वत एवायातम्, अतस्तेषां शुद्धसत्त्वमपि न मायावृत्तिरूपम्, अपि तु चिद्रूपमेव । अतएव तेषां रसास्वादः कश्चित्तत्तन्निष्ठधर्मोऽपि ह्लादिनीशक्तेरानन्दात्मकवृत्तिरूप एव, नतु जडात्मकः । तथात्वे सति स्थायिभावरूपस्य जडात्मक तादृशधर्मस्य विभावादिभिः कारणैः रानन्दात्मक रसरूपत्वानुपपत्तेः, न हि जडपरिणामस्वरूप आनन्दो भवतीति ।

एक एवेति । ननु स्थायिभावरूपधर्मस्य एकत्वे कथमेकस्य स्थायिनः वीररसे उत्साहत्वम्, करुणरसे शोकत्वम्, अद्भुतरसे विस्मयत्वं सम्भवति ? परस्परविरुद्धानामेतेषामुत्साहत्वादीनामेकस्मिन् स्थायिरूप-धर्मे वृत्तित्वासम्भवादित्यत आह—सत्विति । स एकोऽपि धर्म उक्त प्रकारकद्विविधस्य विभावस्य भेदरेव भिन्नो भवतीत्यर्थः ।

यथैक एव स्फटिको जवाकुसुमादि नानापदार्थाना सङ्गात् कदाचिद्रक्तः, कदाचित् पीतः, कदाचित्

रूपमे अवस्थित होते हैं । उस समय उन सबके जो चित्त रजः एवं तमो विहीन होकर शुद्धसत्त्व मे अवस्थित होता है, उस चित्तमे इस प्रकार एक अनिर्वचनीय धर्म उपस्थित होता है, वह रसास्वादरूप कार्य का कारणीभूत होता है । उसको विज्ञव्यक्तिगण स्थायिभाव कहते हैं । वह पूर्वोक्त आलम्बन उद्दीपनात्मक विभाव के भेद से भिन्न है ।

अनुकार्य अर्थात् नटवृन्द जिनके रूपादि का अनुकरण करते हैं, उन सबके विविध स्वतन्त्र स्थायि भाव विद्यमान हैं ।

रजोगुण एवं तमोगुण रहित शुद्धसत्त्व नामसे ख्यात चित्त का एक धर्म ही स्थायीभाव है । रजस्तम के अभाव से सामाजिकगण जो अविद्या रहित होते हैं, यह उससे प्रतीत होता है । अतएव उन सबकी शुद्धसत्त्व भी मायावृत्तिरूप नही है, किन्तु चिद्रूप ही है । अतएव उन सबका रसास्वाद तत्तत् धर्मनिष्ठ होने पर भी ह्लादिनीशक्ति की आनन्दात्मक वृत्ति ही है, किन्तु जडात्मक नहीं है । जडात्मक जानने से स्थायिभाव रूप जडात्मक तादृश धर्मका विभावानुभाव सात्त्विक व्यभिचारि कारणो के द्वारा आनन्दात्मक रसत्व होना सम्भव नहीं होगा । कारण, जड परिणाम स्वरूप कभी आनन्द हो ही नहीं सकता ।

स्थायिभावरूप धर्म एक प्रकार होनेसे एक स्थायिभाव का वीररसमे उत्साहत्व, करुणरसमे शोकत्व, अद्भुत रसमे विस्मयत्व कैसे सम्भव होगा ? कारण, परस्पर विरुद्ध धर्मसमूह का एक स्थायिभावरूप धर्म रहना सम्भव नही है । समाधान हेतु कहते हैं—

एक ही धर्म उक्त आलम्बन उद्दीपनात्मक द्विविध विभाव के भेदसे भिन्न होता है । जिस प्रकार एक ही स्फटिक, जवाकुसुमादि नानाविध पदार्थों के सङ्गसे कदाचित् रक्त, कदाचित् पीत, कदाचित् श्याम प्रभृति विविधाकार होते हैं, उस प्रकार एक ही स्थायिरूप धर्म—वीररसादि बोधक विविध विभावादि के

यथा—शृङ्गारे रतिरुत्साहो वीरे स्याच्छोक-विस्मयौ ।
करुणाद्भुतयोर्हासो हास्ये भीतिर्भयानके ।
जुगुप्सा बीभत्स सञ्ज्ञे कोपो रौद्रेऽष्टनाट्यगा ॥

एतेऽष्टौ स्थायिनोऽष्टासु नाट्यरसेष्विति केचित् । केचित्तु (काव्यप्रकाशे ४।३५) "निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस ॥" इति शान्तोऽपि नाट्ये रस । भोजस्तु वत्सलता प्रेमभ्यामेकादशरसानाचष्टे, वात्सल्ये ममकार, प्रेमाण चित्तद्रवश्च स्थायी,—एकादशैव दृश्ये श्रव्येऽपि च रसिकसंसद प्रेष्ठा ॥५॥

श्याम इत्यादि विविधाकारा भवति, तथैव एक एव स्थायिरूपो धर्मो वीररसादिपोषकाणा नानाविध विभावादिना सङ्गात् कदाचिदुत्साहरूप, कदाचिद्विस्मयरूप, कदाचित् शोकरूप इत्यादिविविधाकारा भवतीति भाव ।

एतादृशकस्थायिरूपो धर्म प्रपञ्चान्तागतसामाजिकाना स्वच्छरतिमतामेव रसास्वादक, नतु पार्षदाना न वा तदनुगताना साधकानाञ्च, तेषा तु स्वत सिद्धा एव ये स्थायिनो वर्त्तन्ते, ते एव रसास्वादका भवतीति ज्ञेयम् ।

अनुकार्याणामिति—येषामनुकरण नटा कुर्वन्ति, तेऽनुकार्या—रामसीतादय, तेषा तु स्वत सिद्धा स्वतन्त्रा एव नानाविधस्थायिनो वर्त्तन्ते ॥३ ४॥

तदेवाह—यथेति । करुणरसे शोक एव स्थायी अद्भुतरसे विस्मय एव स्थायी । नाट्यरसेष्वितीति —लोके भयजनक-व्याघ्रादिदर्शनाद्भयजन्यदु खमेव जायते, नत्वानन्दात्मकभयानकरस । अतो नाट्ये एव सामाजिकाना रस इति भाव । एकादशैव रसा इति रसिकसंसद सामाजिकस्य प्रेष्ठा ॥५॥

सङ्गसे कदाचित् उत्साहरूप, कदाचित् विस्मयरूप, कदाचित् शोकरूप प्रभृति विभिन्नाकार होते हैं ।

इस प्रकार स्थायिरूप धर्म,—प्रपञ्चागत स्वच्छ रतियुक्त सामाजिक का रसास्वादक होता है । किन्तु भगवत् पार्षदवृन्द का वा भगवत् पार्षदके अनुगत साधकवृन्द का रसास्वाद नही होता है । उन सबमे स्वत सिद्ध जो सब स्थायिभाव हैं, वे ही रसास्वादक होते हैं ।

जिनका अनुकरण नटगण करते हैं, उन सबको अनुकार्य कहते हैं । जिस प्रकार राम सीता प्रभृति हैं । उन सबमे स्वत सिद्ध स्वतन्त्र ही नानाविध स्थायिभाव होते हैं ॥३ ४॥

शृङ्गार मे रति, वीर मे उत्साह, करुण मे शोक, अद्भुत मे विस्मय, हास्य मे हास्य, भयानकमे भय बीभत्स मे जुगुप्सा, रौद्र मे कोप, ये अष्टविध स्थायिभाव हैं ।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं—अष्ट प्रकार नाट्यरस मे ही अष्टविध स्थायिभाव होते हैं । अन्य व्यक्ति के मतमे शान्त- नाट्यमे नवम रसरूपमे परिगणित है, एव निर्वेद उसका स्थायिभाव है ।

भोजराज के मतमे 'वत्सलता एव प्रेम इन दो को युक्त करके एकादशविध रस होते है । उसके मध्यमे वात्सल्यमे ममता स्थायी है । एव प्रेममे चित्तद्रव स्थायी है । रसज्ञ सभ्यशिरोमणिवृन्द दृश्यकाव्य एव श्रव्यकाव्य मे ही उक्त एकादशविध रस को मानते हैं ॥५॥

तत्र रतिर्यथा—रतिश्चेतो रञ्जकता सुखभोगानुकूल्यकृत् ।
सा प्रीति-मैत्री सौहार्द्दभावसञ्ज्ञा च गच्छति ॥
या सम्प्रयोगविषया सा रति परिकीर्त्तिता ।
सम्प्रयोग स्त्रीपुरुष यवहार सता मत ।
असम्प्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते ॥
सैव चेतो रञ्जकता ।
सखिपत्न्या पतिसखे द्रौपदी कृष्णयोर्यथा ।
द्वयो सखीषु सखिषु सखिषु सैव मैत्री निगद्यते ॥

रतिर्यथेति । चित्तस्य रञ्जन द्रवीभावस्तज्जनकधर्मविशेष एव चेतो रञ्जकता । सा एव सम्प्रयोग-विषया चेत्तदा रतिरुच्यते । इयमेव चित्तस्य कठोरत्व दूरीकृत्य कोमलत्व द्रवीभावत्वञ्चोत्पादयति ।

पूर्व सामाजिकाना स्थायिरूपो यो धर्मो ह्लादिनीशक्तिवृत्तिरूपत्वेनोक्त स्ततोऽपि कोटिगुणानन्दरूपा या ह्लादिनीशक्ते सारवृत्तिस्तद्रूपेय रति ।

अस्या एव रते पाकात् पाकान्तर प्राप्य चरमदशाया महारागपर्यन्त पाको भविष्यति । अतएव दशमस्कन्धे एतादृश महाराग दष्ट्वोद्धव सचमत्कारमाह—(भा० १०।४७ ५९) "कृष्णे क्वचष परमात्मनि रूढभाव" इति रूढभावस्यापरपर्यायो महाभावो महाराग इति ।

सुखभोगेति—क्षुधा यथान्नव्यञ्जनादीना भोजनज यत्सुखस्यानुकूल्य करोति, तथेय रतिरपि श्रीकृष्णस्य

चित्त रञ्जनकारी धर्मविशेष का रति कहते हैं। वह सुखभोग का आनुकूल्य करती है। उक्त चित्त रञ्जकता—प्रीति, मैत्री, सौहार्द एव भाव से भी अभिहित होती है।

प्रधानत वह द्विविध है—सम्प्रयोग विषया एव असम्प्रयोग विषया। तन्मध्यमे सम्प्रयोग विषया रति शब्द से एव असम्प्रयोग विषया रति शब्द से प्रीति कथिता होती है।

यहा सम्प्रयोग शब्द से पण्डितगण स्त्रीपुरुष व्यवहार का कहते है। सखा की पत्नीमे एव पतिके सखामे जो चित्तरञ्जकता है, उसको प्रीति कहते हैं। जिस प्रकार—द्रौपदी एव श्रीकृष्ण को पारस्परिक प्रीति है। स्त्रीगण का सखी के सहित एव पुरुषगण की सखागण के सहित उक्त प्रीति को मत्री कहते हैं।

चित्त का रञ्जन—द्रवीभाव है' उसका सम्पादक धर्मविशेष ही चित्त की रञ्जकता है। वह यदि सम्प्रयोग विषय होती है, तो उसको रति कहते हैं। चित्तकी कठोरता को विदूरित करके कोमल एव द्रव करना ही इसका स्वभाव है।

पूर्व मे ह्लादिनी शक्ति के वृत्तिरूप स्थायिभावात्मक जिस धर्म का उल्लेख सामाजिक के पक्षमे हुआ है उससे भी कोटिगुणानन्दरूपा जो ह्लादिनी शक्ति की सारवृत्ति है, वही यह रति है। आनुकूल्य प्रधान को सार कहते हैं। यह रति पाक से पाकान्तर प्राप्त होकर चरमदशा मे महाराग पर्यन्त पाक को प्राप्त करती है। अतएव श्रीमद्भागवत के १०।४७।५९ मे श्रीउद्धवने कहा है—"कृष्णे क्वचष परमात्मनि रूढभाव" कृष्णमे इन गोपियो का रूढभाव कसा है ? यहा रूढभाव का अपर शब्द महाभाव है, अर्थात् महाराग है। जिस प्रकार क्षुधा, अन्न व्यञ्जन प्रभृति का भोजन हेतु सुख का आनुकूल्य करती है।

द्वयो स्त्री-पुरुषयो, स्त्रीणा सखीषु, पुरुषाणा सखिषु।

मनोवृत्तिमयीप्रीतिमत्रीस्पर्शादिकोचिता।

निर्विकारा सदैकाभासा सौहार्दमितीष्यते ॥

सदैकाभा सदैकरूपा सा चेतो रञ्जकता सौहार्दम्, सा च स्त्रीसखीना पतिसखीनाञ्च परस्पर-विषया ॥६ ८॥

सैव देवादिविषया रतिर्भावश्च कथ्यते।

सैव चेतो रञ्जकता, आदिशब्दाद्गुरुप्रभृतिवृत्तिश्च।

नाम-रूप गुण-लीलाश्रवणदर्शनादि जन्य सुखभोगानामानुकूल्य करोति। रतिमता यथा श्रीकृष्णनामगुण लीला-श्रवणदर्शनादिजन्य सुख जायते, न तथा रतिशून्यानामिति ज्ञेयम्।

सख्यस्य यत्किञ्चिद्वैलक्षण्यमादाय भेदत्रयमाह—सेति। सा रतेर्भिन्ना चेतोरञ्जकता सज्ञात्रय गच्छति। द्रौपदीकृष्णयो सख्य प्रीतिरुच्यते, तथा स्त्रीणा सखीषु परस्परसख्य च मैत्र्युच्यते। एव पुरुषाणा सखिषु परस्परसख्य च मैत्र्युच्यते। इय मनी परस्पर स्कन्धादिषु परस्परहस्ताहस्तिस्पर्शकमण्युचिता भवति। स्त्रीणा परस्पर यथेष्ट स्पर्शादि-व्यवहारे दोषो नास्ति, एव पुरुषाणामपि ज्ञेयम्।

प्रीतिसौहार्दाभ्यामेतस्या विशेषो मत्र्या ज्ञेय, तत्र तत्र स्त्रीपुरुष सख्ये स्वच्छन्द स्पर्शानौचित्यात्। स्त्रीसखीना स्त्रीणा पतिसखीना पुरुषाणाञ्च परस्परविषयेत्यर्थ। निर्विकारेति—स्त्रीपुरुषयो परस्पर दर्शनेऽपि विकाररहितेत्यर्थ ॥६ ९॥

ननु श्रीकृष्णस्य देवोत्तमत्वेन सर्वव्यापकत्वादिरूपत्वेन स्तवकर्तृभक्तस्य य स्थायी, सप्रयोग विषयत्वाभावान्न रतिशब्दवाच्य, किन्तु तस्य स्थायिनो भाव इति स्वतन्त्रसज्ञा ज्ञेया, नतु सप्रयोगविषय रतिपरिणामरूपो यो भाव स, किन्तु स्वतन्त्र स्थ य्येव भावसज्ञक इत्यर्थ।

उस प्रकार रति भी श्रीकृष्ण के नाम रूप-गुण-लील श्रवणदर्शनादि हेतु सुखभोग का आनुकूल्य करती है।

रतिमान् व्यक्ति को जिस प्रकार श्रीकृष्ण नाम गुण लीला श्रवणादि हेतु सुख होता है, उस प्रकार सुख रतिशून्य व्यक्ति को नहीं होता है। इस प्रकार जानना आवश्यक है।

सख्य की किञ्चित् विलक्षणता को देखकर तीन भेद करते है। वह रति—भिन्न होकर चेतो रञ्जकता सज्ञात्रय को प्राप्त करती है।

द्रौपदी कृष्ण की प्रीति कहते हैं, उस प्रकार स्त्रीयो का सखी मे परस्पर सख्य को मत्री कहते हैं। इस प्रकार पुरुषो का सखामे परस्पर सख्यको मत्री कहते हैं। इस मत्रीमे परस्पर स्कन्ध प्रभृतिमे परस्पर हस्ताहस्ति स्पर्श होता है। स्त्रीयो का परस्पर यथेष्ट स्पर्शादि व्यवहार मे दोष नहीं होता है। इस प्रकार पुरुष के पक्षमे भी जानना होगा।

प्रीति सौहार्द्य क द्वारा इस प्रकार विशेष मत्री होती है। वहा वहा स्त्री पुरुष के सख्य मे स्वच्छन्द स्पर्श उचित नहीं है। स्त्रीयो की प्रीति सखीओ मे पारस्परिक होती है। इस प्रकार पति के सखा प्रभृति के सहित पारस्परिक प्रीति होती है। निर्विकारेति। स्त्री पुरुषो के परस्पर दर्शन मे भी विकार उपस्थित नहीं होता है ॥६ ९॥

देवता एव गुरुविषयक उक्त चित्त रञ्जकतारूप रति को भाव कहते है। एव सम्प्रयोग विषयक

या सम्प्रयोगविषया साऽप्यवस्थाविशेषत ।
पाकात् पाकान्तर प्राप्य चरमे पर्यवस्यति ॥

चरमे पाके, यत पर पाकान्तर नास्ति, यथेक्षुरस सितोपलापाकावधि ॥१० ११॥

यदुक्तम्—"यथेक्षुणा रसो ह्याम पाकात् पाकान्तरर्गुड ।
गुडोऽपि पाकत पाके चरमे स्यात् सितोपला ॥
तथा रतिर्भाव पूर्वराग रागाख्य पाकत ।
अनुराग स प्रणयप्रेमाभ्या पाकमागत ।
स्नेहपाकमथो याति महारागोऽयमुच्यते ॥"

इत्याह—सर्वेति। देवस्य श्रीकृष्णस्य देवत्व सर्वव्यापकत्वादिरूपेण या चेतो रञ्जकता रति, सत्र भाव, अयमेव भक्तिरसो भविष्यतीत्यग्रे वक्ष्यति।

किन्तु अय भावरूपस्थायी सप्रयोगविषया या रतिस्तस्या परिणामरूपो यो भावस्तस्माद्भिन्न एव ज्ञेय। अवस्थाविशेषत इति—रत्युत्तरश्रवणकीर्त्तनादिभजनाना पौनपुन्येन जातो या रतेरुत्कर्षर यावस्था विशेषस्त प्राप्येत्यर्थ। सा रतिरुत्कर्षदशा प्राप्य प्रथमपाकाद् भावरूपेण परिणता भवति। अत्र पाकस्तु भजनस्य पौनपुण्यमेव ज्ञेयम् ॥१० ११॥

तत्र दृष्टान्त—यथेति। आमोऽपक्व इक्षुरस, स पाकात् पाकान्तर पाकपौन पुन्येन गुडो भवति, तथा च स गुड एव पाकपौन पुन्येन खण्डो भवति, तथा भावोऽपि भजनपौन पुन्येन रत्यपेक्षयोत्कर्षदशा प्राप्य पूर्वरागो भवति। एव क्रमेणोत्कर्षस्य परमकाष्ठापन्नो महाराग आनन्दस्य परमावधिरूप। एतादृश

होने से, अवस्था का उत्कर्षविशेष मे पाक से पाकान्तर प्राप्त कर इक्षुरस का सितोपला रूपमे परिणाम के समान चरम पाक मे परिणत होती है।

श्रीकृष्ण—उत्तम देवता एव सर्वव्यापक होने के कारण उनको स्तवकर्त्ता भक्तका जो स्थायीभाव है, वह सम्प्रयोग विषय न होने के कारण उसमे रति शब्द का प्रयोग नही हो सकता है। किन्तु उसका स्थायिभाव है—इस प्रकार स्वतन्त्र सज्ञा होगी। सप्रयोग विषयक रति का परिणामरूप जो भाव है, वह नहीं। किन्तु स्वतन्त्र स्थायी ही भाव सज्ञक होता है।

कहते है—श्रीकृष्ण के देवत्व सर्वव्यापकत्व रूपसे जो चेतो रञ्जकता रति है, वही भाव है, यही भक्तिरस होगा। इसका वर्णन अग्रिम ग्रन्थमे होगा। किन्तु यह भावरूप जो स्थायी है, सप्रयोगविषयक रति का परिणामरूप जो भाव है—इससे वह भिन्न है। इस प्रकार जानना होगा।

रति के अनन्तर श्रवण-कीर्त्तनादि भजन पुन पुन होनेसे रतिका जो उत्कर्ष होता है, वह प्रथमपाक से भाव रूपमे परिणत होता है। यहाँ पाक शब्द से पुन पुन भजन को जानना होगा ॥१०-११॥

उक्त विषयमे पूर्वाचार्यगण कहते है—जिस प्रकार अपक्व इक्षुरस पाक से पाकान्तर से गुड रूपको प्राप्त होता है, एव उस गुड भी पुन पुन पाक की चरम अवस्था मे सितोपला रूपमे परिणत होता है। उस प्रकार रति भी क्रमश पाकोत्कर्ष हेतु भाव, पूर्वराग, राग, अनुराग, प्रणय, प्रेम, स्नेह एव अन्तिम अवस्थामे महाराग रूपमे परिणत होती है। निर्विकार चित्तमे जो प्रथम विकार है, अर्थात् रति का

(साहित्यदर्पण ३।१०३) "निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथमविक्रिया" इत्युक्ते रते प्रथम पाको भाव ॥१२-१३॥

कोऽसौ रस. ? यस्याभिव्यक्तये विभावादीना कारणत्वमित्यपेक्षाया तत्स्वरूपमाह—

वहिरन्त करणयोर्व्यापारान्तररोधकम् ।
स्व-कारणादि-सश्लेषिचमत्कारिसुख रस ॥

महारागो गापीनामेव, ना येषा भक्तानाम् । अतएव (भा० १०।४७।५८) 'कृष्णे क्वचैष परमात्मनि रूढभाव' इत्युक्तवतोद्धवेन स्वस्यव रूढभावत्वेनोत्कर्ष कृत । एव (भा० १०।४७।६१) 'आसामहो चरणरेणुजुषामह स्याम्' इति पद्येन ग पीनामेव चरणरेणुप्राप्तौ तृणज माकाङक्षा कृता, नतु कदापि रुक्मिणी लक्ष्मी प्रभृतानाम्—कुत्रापि शास्त्रेऽदृष्टत्वात् । सितापला 'मिश्री' इति प्रसिद्धाया मत्स्यण्डिकाया-श्चरमपाकाज्जात कश्चिदपूर्वपदार्थविशेष पश्चिमदेशे प्रसिद्ध इत्यर्थ । निर्विकारेति—विकारोऽत्र विषये आसक्तिस्तद्रहिते चित्ते—इत्यर्थ ॥१२ १३॥

अथ रससाक्षात्कारे परिपाटी यथा—आदौ श्रवणकीर्त्तनादिभजनाना पौन पु यादान दरूपाया रतेराविर्भावस्तदनन्तर विभावादि समवधान दशाया रते साक्षात्कारस्तदनन्तर रतिरेव रसरूपा भवति । तदनन्तर पुनस्तैरेव विभावादिभि करण रस साक्षात्कार । एव सति रतिसाक्षात्कारे यादृशानन्दाविर्भाव-स्ततोऽपि कोटिगुणितानन्दाविर्भावो रससाक्षात्कारे ।

एतदेवाह—वहिरिति । सम्प्रति रससाक्षात्कारे यादृश सुखानुभव , एव पूर्वस्मिन्ननेकपदार्थविषयका

प्रथम पाक है, वह भाव नामसे अभिहित होता है ।

इक्षुरस जिस प्रकार पुन पुन पाकसे गुड एव पश्चात् खण्ड होता है, उस प्रकार भजन पौन पुन्यसे पूर्वराग होता है । एव क्रमश उत्कर्ष की परमकाष्ठा को प्राप्त कर महाराग होता है, जो आनन्द का परम अवधिरूप है ।

इस प्रकार महाभाव गोपिकागणमे ही है, अपर भक्तवृन्द मे नहीं है । अतएव (भा० १०।४७।५८) में उक्त है—'कृष्णे क्वचैष परमात्मनि रूढभाव ' श्रीउद्धवने उक्त वाणी से उन सबके भावोत्कर्ष का कीर्त्तन किया है । एव (भा० १०।४७।६१) मे उन्होंने कहा है—'आसामहो चरणरेणुजुषामह स्याम्' गोपियो की चरणरेणु की प्रार्थना उन्होंने की है । किन्तु कभी भी रुक्मिणी लक्ष्मी प्रभृतियों की चरणरेणु की प्रार्थना नहीं की । शास्त्र के किसी स्थलमें भी दृष्ट नहीं होता है ।

सितोपला मिश्री' मिसरी' मत्स्यण्डिका को कहते हैं । मत्स्यण्डिका का चरमपाक से उत्पन्न पश्चिमदेश मे प्रसिद्ध एक अपूर्व पदार्थ है । यहाँ विकार शब्द का अर्थ है—अपर विषयमे असक्तिरहित चित्तमें ही प्रथम विक्रियारूप भाव होता है ॥१२ १३॥

जिसकी अभिव्यक्ति के निमित्त विभावादि की कारणता कही गई है, वह रस क्या है ? जिज्ञासासे उसका स्वरूप निर्णय करते हैं ।

वहिरिन्द्रिय एव अन्त अन्तरिन्द्रिय के सम्बन्ध मे व्यापारान्तर का रोधक, अथच स्व-कारणीभूत विभावादि के सहित सम्मिलित चमत्कारजनक जो सुख, उसको रस कहते हैं ।

अथन्तूत्तमप्रकृतीनामनुकार्याणा स्वत सिद्ध एव, काव्यादौ तु सामाजिकानामेव, तेषा सर्व-रसाभिव्यक्तिशाली एक एव पूर्वोक्त कञ्चनास्वादकन्दश्चेतो धर्मविशेष स्थायी। तत्र युक्तिर्दर्शयिष्यते ॥१४॥

ये ये सुखानुभवा आसस्तेभ्य सर्वेभ्य सकाशात् काटि कोटिगुणाधिको यो रसदशायामानन्दानुभवस्तस्माज्जातो यश्चमत्कारस्तद्विशिष्ट सुख रस इति रसलक्षणम् ।

अथ कोऽसौ चमत्कार इत्याकाङ्क्षायामाह—यथा, वहिवस्तूनामनेकेषा मध्यें कस्यचित् सर्वोत्कृष्टाद्भूतवस्तुनो दर्शनान्नेत्रस्य चमत्कारो जायते, तत्र चमत्कारपदार्थो नेत्रस्य स्फारतारूप । तथवात्राप्यन्तवस्तूना मध्ये रसतादशाया कस्यचिदद्भुतसुखस्यानुभवाज्जाता चित्तस्य स्फारता एव चमत्कार । चमत्कारिसुख कीदृश भवेदित्यपेक्षाया विशेषणमाह—वहिरिति। रसस्योदयदशाया वहिरिन्द्रियाणा-मन्तरिन्द्रियाणाञ्च रसानुपयोगिपदार्थमात्रे यो वृत्तिरूपो व्यापारस्तस्य रोधक प्रतिबन्धकमित्यर्थ । तथा च रससाक्षात्कारे कारणीभूतविभावादेरेव भानम्, नतु तदानीमिन्द्रियाणा पदार्थान्तरस्य ज्ञानजनने सामर्थ्यमस्तीति भाव । तदेव पुनर्विशेषणान्तरेणाह—स्वकारणेति। स्वकारण विभावादि तस्य सश्लेषि।

उत्तम प्रकृति अनुकार्यगण मे वह रस स्वत सिद्ध रूपसे रहता है। काव्यादि मे सामाजिकवृन्द मे उक्त रस आविर्भूत होता है। उनमे सवरसाभिव्यक्तिशाली आनन्दवीजस्वरूप पूर्वोक्त एकमात्र चित्तधर्म विशेष स्थायी होता है। इस विषय मे युक्ति का प्रदर्शन अग्रिम ग्रन्थमे होगा।

अनन्तर रस साक्षात्कार मे परिपाटी का वर्णन करते है—प्रथम श्रवण कीर्त्तनादि भजनो का पुन पुन अनुष्ठान करने से आनन्दरूपा रति का आविर्भाव होता है, तदनन्तर विभावादि का समवधान दशामे रति का साक्षात्कार होता है, तत्पश्चात् रति रसरूपा होती है। अनन्तर पुन उसी विभावादि करणों के द्वारा रस साक्षात्कार होता है।

ऐसी स्थितिमे रति साक्षात्कार मे जिस प्रकार आनन्दाविर्भाव होता है, उससे भी कोटिगुणित आनन्दाविर्भाव रस साक्षात्कार मे होता है। इसको कहते हैं—'वहिरन्त करणयोर्व्यापारान्तररोधक, स्व कारणादिसश्लेषिचमत्कारिसुख रस ।'

सम्प्रति रस साक्षात्कार मे जिस प्रकार सुखानुभव होता है, एव पूर्व समयमे अनेक पदार्थविषयक जो जो सुखानुभव थे, उन समस्त सुखानुभवोंसे कोटि कोटि गुणाधिक-रसदशामे जो आनन्दानुभव होता है, उससे उत्पन्न जो चमत्कार है, उस प्रकार चमत्कार युक्त सुख रस है। यह रस लक्षण है।

प्रश्न होता है कि—वह चमत्कार क्या है? उत्तरमे कहते हैं—जिस प्रकार बाहर अनेक वस्तु विद्यमान होने पर भी किसी एक सर्वोत्कृष्ट वस्तु को देखकर किसीके नेत्र आनन्दित होते हैं, अर्थात् वस्तुको देखकर नेत्रमे चमत्कार उत्पन्न होता है। वहाँ चमत्कार पदार्थ है—नेत्र की विस्फारता। उसी प्रकार हृदयस्थ वस्तुओ के मध्यमे रसता दशामे किसी अद्भुत सुख के अनुभव से उत्पन्न जो चित्त की विस्फारता है—वही चमत्कार हैं।

चमत्कारि सुख भी किस प्रकार है? उत्तरमे विशेषण को कहते हैं—वहिरिन्द्रिय प्रभृति। रसोदय दशामे वहिरिन्द्रियो के एव अन्तरिन्द्रियों के रसके अनुपयोगि पदार्थमात्रमे जो वृत्तिरूप व्यापार है, उसका रोधक है, अर्थात् प्रतिबन्धक है।

रसस्यानन्दधम वादैकध्य भाव एव हि ।
उपाधिभेदान्नानात्व रत्यादय उपाधय ॥

रत्यादय स्थायिन । यथा नानाविध-शरावसलिल तारतम्येऽपि तरणि–विम्बप्रतिविम्ब एकरूप एव, तथोपाधिगत एव भेद, नानन्दगतो रसस्य। उक्त प्रकारेषु स्थायिषु कश्चिदुभयनिष्ठ, कश्चिदेकनिष्ठ, कश्चिदेकानष्ठ उभयनिष्ठश्च। तत्र रत्यादिरुभयनिष्ठ, जुगुप्सादिरेकनिष्ठ, क्रोधादिरेकनिष्ठो द्विनिष्ठश्च। इत्यनुकार्याणामेव सामाजिकानामेक एवेत्युक्तत्वात् ॥१५॥

तथा च विभावादिसहितस्यैव रसस्य साक्षात्कारा जायते इत्यथ ।

यथकमेव दधिवस्तु सिता मरिच कर्पूरादिनानावस्तुमिलित सन् रसालाख्य भवति, तस्यास्वादनकाले चित्ररसस्य प्रत्यक्षो भवति, तथेत्यथ । अयन्तिवति—अय रस उत्तमप्रकृतीनामप्राकृतानामनुकार्याणा भक्तानाम् ॥१४॥

ननु यथा रत्यादीना भावपूवरागादिरूपो नानाविधपाक उक्त स्तथा रसस्याप्येकस्य पाकात् नानाविधत्व कथ नोक्तम्? तत्राह- रसस्येति। आन दधमत्वाच्चरमान दरूपत्वादकध्यमेकविधत्वम्, यथा सितोपलाया पाकान्तर नास्ति, यथा महारसस्यापि चरमानन्दरूपत्वेन पाकान्तर नास्ति, तथव रसस्यापि। अत एकस्य रसस्य न नानाविधत्व ज्ञेयम्। भाव इति। नानाविधत्व प्राप्नोतीति शेष। यथा नानाविधशरावेत्यादिपाठ क्वाचित्क, न सवसम्मत ॥१५॥

तथा च रस साक्षत्कार मे कारणस्वरूप विभावादिका ही भान हाता है। किन्तु उस समय इन्द्रियो की सामथ्य पदार्थान्तर का ज्ञानोत्पन्न कराने मे नहीं रहती है।

उसको पुनर्वार विशेषणान्तर के द्वारा कहते हैं—स्व-करणेति। कारण—विभावादि हैं, उसका सश्लेषि। तथा च—विभावादि के सहित ही रसका साक्षात्कार होता है।

जिस प्रकार एक ही दधि वस्तु—सिता, मरिच, कर्पूरादि के सहित मिलित होकर रसाला नामक वस्तु होती है। उसका आस्वादन के समयमे चित्ररस का प्रत्यक्ष होता है। उस प्रकार रस मे भी आस्वादन होता है।

यह रस, उत्तम प्रकृतिसम्पन्न अप्राकृत अनुकार्यो मे एव भक्तो मे होता है ॥१४॥

रस आन दधर्मा होने के कारण—वह एक प्रकार ही हाता है, कि तु भाव ही रति प्रभृति उपाधि भेद से विविध प्रकार के होते हैं।

जिस प्रकार शरावगत सलिलसमूह का तारतम्य होने पर भी उसमे सूर्य का विम्ब एव प्रतिविम्ब एक प्रकार ही होता है। रसमे भी उस प्रकार उपाधिगत भेद है, आन दगत किसी प्रकार भेद नहीं है।

जिस प्रकार सितोपला का पाकान्तर नहीं होता है, जिस प्रकार महाराग का भी परमानन्दरूप होने के कारण—पाकान्तर नहीं है। उसी प्रकार रस का भी जानना होगा। अतएव रसका विविध प्रकार नहीं है ॥१५॥

प्राकृताप्राकृताभासभेदादेष त्रिधामत ॥

एष रस, प्राकृतो लौकिको मालती-माधवादिनिष्ठ, अप्राकृत श्रीकृष्ण-राधादिनिष्ठ। आभासस्त्वनौचित्यादिप्रवर्त्तित। स चाभासस्त्रिविध, प्रसिद्धकृत्रिमभेदात्। आद्य प्राक् प्रसिद्धिमात्रोपहत, नतु सम्पत्स्यमान, स च रसाभासो भवन्नपि रसपोषक—यथा नन्दन सम्बन्धप्रसिद्धौ मालत्या माधवे रतिपुष्टिरिति प्राकृते, अप्राकृते तु शिशुपालसम्बन्धप्रसिद्धौ श्रीरुक्मिण्या श्रीकृष्णे रतिपुष्टि। कृत्रिमस्तु नन्दन प्रति मालतीवेशधारिणो मकरन्दस्य वाम्य प्रकटनादि। सिद्धस्त्वनौचित्यप्रवर्त्तित एव। अनौचित्यञ्चकस्या अनेककान्तनिष्ठत्वम्। यदुक्तम्— "यद्यप्यय रसाभास परोढरमणीरति।
तथापि ध्वनिवैशिष्ट्यादुत्तम काव्यमेव तत्॥" इति। तथापि (तृतीयकिरणे १०)"रसो भावस्तदाभासो भावशान्त्यादिरक्रम" इत्याद्युक्तदिशा "आभासोऽपि चमत्कारदशाया ध्वनिभाग्भवेत्" इति ध्वनिमर्यादयैवोत्तमकाव्यत्वम्, नत्वनौचित्यरीत्या इति प्राकृते, ॥१६॥

प्राकृतेति—प्राकृते रस एव नास्ति, तदपि यत्त्रैविध्यमुक्तम्, तत् परमतानुसारेणेति ज्ञेयम्। प्राकृते ये रस मन्यन्ते, ते भ्रान्ता प्राकृता एव, यतोऽत्र कृमि विड भस्मान्तनिष्ठेषु प्राकृतनायकेष्वतिनश्वरेषु रसो न भवति, विचारतो विभाववैरूप्यात्तद्विपरीत घृणामय वैरस्यमेवोत्पद्यते, न तत्र रस वर्णयन्तीत्यर्थ। अतएव ग्रन्थकारेणापि प्राकृतविषये एकमपि पद्य नोदाहृतम्, किन्त्वप्राकृत एव सर्वाणि पद्यान्युदाहृतानीति ज्ञेयम्।

प्रसिद्धेति—रुक्मिण्या सह शिशुपालस्य सम्बन्धो लोकप्रसिद्धिमात्रेणवापहतो भ्रान्ताना प्रतीतिविषय,

---

प्राकृत, अप्राकृत एव आभास भेदसे यह रस त्रिविध होते हैं। प्राकृत अर्थात् लौकिक, जिस प्रकार मालती माधवनिष्ठ है। अप्राकृत—जिस प्रकार श्रीकृष्ण राधादि निष्ठ है।

अनौचित्यादि प्रवर्त्तित से आभास होता है। वह त्रिविध हैं। प्रसिद्ध, कृत्रिम एव सिद्धि हैं। उसके मध्यमे जो वस्तुत सङ्कुटित नहीं होता है, केवल प्रसिद्ध मात्रसे उपहत होता है—उसका नाम प्रसिद्ध रसाभास है। यह रसाभास होकर भी रस पोषक होता है। जिस प्रकार प्राकृत स्थलमे नन्दनके सहित मालती का विवाह सम्बन्ध प्रसिद्ध होने पर भी उससे माधव के प्रति मालती की रति पुष्टि होती हुई थी। अप्राकृत स्थलमे, जिस प्रकार शिशुपालके सहित विवाह सम्बन्ध प्रसिद्ध होने पर भी श्रीरुक्मिणी की रति पुष्टि श्रीकृष्ण मे हुई थी।

नन्दनके प्रति मालती वेशधारी मकरन्द की वामता प्रकटनादि कृत्रिम रसाभास का उदाहरण है। अनौचित्य प्रवर्त्तित होने पर सिद्धरसाभास होता है। अनौचित्य शब्द से एक नायिका अनेक कान्तनिष्ठत्व को जानना होगा।

रसाचार्यगणके मतमे यद्यपि परोढरमणी-विषयिणी रतिसे रसाभास होता है, तथापि ध्वनिवैशिष्ट्य हेतु वह उत्तम काव्य के मध्यमे परिगणित होता है। तथापि 'रस एव उभय का आभास एव भाव

अप्राकृते तु परोढरमणीरतिरेव सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते, न तस्या अनौचित्य प्रवर्त्तितत्वम्। अलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेव, न तु दूषणमिति न्यायात्, तर्कागोचरत्वाच्च। तथा च (महाभारते उद्योगपर्वणि) 'अलौकिकाश्च ये भावा न तास्तर्केण योजयेत्' इति च।

व्रजवधूना कृष्णैकतानमानसत्वेन स्वपतिनिष्ठत्वाभावात्तेषाञ्च मायाकलित तच्छायानुशीलनेन तदङ्गसङ्गमात्, प्रत्युत केवलानुरागमात्रोपाधितया चेतो रञ्जकतया शुद्धत्वमेव ॥१७॥

नतु सम्पत्स्यमान सम्बन्ध, नतु सम्पन्नो भविष्यतीत्यथ। अत शिशुपालस्य रुक्मिण्या रती रसाभाव एव। एव परोढरमणीषु पुरुषस्य रतिरपि रसाभ स एव, प्राकृतविषयत्वात् ॥१६॥

सर्वोत्तमतयेति—शान्तिप्रभृति-पञ्चविधरतीना मध्ये शृङ्गाररति स त्तमा। सा च रतिर्द्विधा—स्वकीया—रुक्मिण्यादिनिष्ठा, परकीया—श्रीव्रजसु दरीनिष्ठा च। तयोमध्ये परोढरमणी श्रीव्रजसु दरी, तन्निष्ठा रति सर्वोत्तमेत्यथ।

भूयसीति—सर्ववेदतिहासपुराणादीना मध्ये सारभूत श्रीभागवते श्रीकृष्णेनोक्तम् (भा० १०।३२।२२) "न पारयेऽह' इत्यादौ "या मा भजन् दुजरगेहशृङ्खला सवृश्चय" इत्यादि।

तत्रव श्रीमदुद्धवेनाप्युक्तम्—(भा० १०।४७।६१) "या दुस्त्यज स्वजनमार्यपथ च हित्वा" इत्यादि। श्रीमदुज्ज्वलन लमणौ श्रीमद्रूपगोस्वामिभिरप्युक्तम् (नायकभेद–प० १९) "अत्रव परमो कष शृङ्गारस्य प्रतिष्ठित" इत्यादौ महाभावाना दृश्य श्रव्य-काव्यादौ परकीया सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते इत्यथ ॥१७॥

शान्यादि का क्रम नहीं है' इस प्रकार कथन हेतु, एव 'आभास भी चमत्कार दशामे ध्वनि शब्दवाच्य होता है' इस प्रकार कथन हेतु—प्राकृत स्थलमे ध्वनि मर्यादा निबन्धन ही उसका उत्तमकाव्यत्व होता है। औचित्य रीति के अनुसार उसकी उत्तमता नहीं होती है ॥१६॥

अप्राकृत स्थलमे पराढ रमणी रति ही सर्वोत्तम रूपसे कीर्त्तित है। उक्त रति का अनौचित्य प्रवर्तित्व नहीं है। कारण, नियम इस प्रकार है कि—अलौकिकत्व सिद्धि हेतु वह भूषण ही है दूषणके मध्यमे परिगणित नहीं है। विशेषत उक्त प्रयत्नसमूह तर्कागोचर है। जो सब भाव अलौकिक हैं, तर्क के द्वारा उस सबकी शुद्धि वा अशुद्धि परीक्षा करना समीचीन नहीं है। महाभारतके उद्योगपर्वमे इस प्रकार लिखित है।

उस वधूवृन्द की श्रीकृष्णमे एकाग्रचित्तता हेतु स्वपतिनिष्ठता नहीं थी। एव उन सबके मायागृहीत शरीरमात्र का अनुशीलन होने के कारण, उन सबके पतिवृन्द भी उन सबके सहित ससग करने मे अक्षम थे। अतएव कवल अनुराग मात्रोपाधिहेतु उक्त चित्तरञ्जकता भी विशुद्ध ही है।

शान्ति प्रभृति पञ्चविध रतिके मध्यमे शृङ्गाररति सर्वोत्तमा है। वह रति द्विविधा हैं। स्वकीया—रुक्मिण्यादि निष्ठा, एव परकीया—श्रीव्रजसुन्दरी निष्ठा है। उन दोनो के मध्यमे व्रजसुन्दरी की रति सर्वोत्तमा है।

भूयसीति—सर्ववेदेतिहासपुराणादि के मध्यमे सारभूत श्रीमद्भागवतमे श्रीकृष्णने कहा है—मै तुम सबके अनुरूप भजन करने मे अक्षम हूँ। तुम सबने दुर्जर गृह शृङ्खल को छेदन किया है। श्रीमदुद्धवने भी कहा है,—जिन्होने दुस्त्यज स्वजन आर्यपथ को परित्याग करक भजन किया है।

श्रीमदुज्ज्वलनीलमणिग्रन्थ के नायकभेद प्रकरण (१९) मे श्रीमद् रूपगोस्वामि पादने लिखा है—

अत्र रसग्रन्थे काव्यमधिकृत्यैव विचार । काव्यम्—दृश्य श्रव्यञ्च । दृश्ये शब्दोपात्ता विभावादयोऽभिनायकाश्रया, अभिनेयाश्रयाश्च, श्रव्ये केवल शब्दोपात्ता । कुतोऽत्रानुकार्यगतो रस ? नाप्यनुकर्त्तृगत,—तेषा शिक्षाभ्यासप्रकटनमात्रकौशलेनास्वादकत्वाभावात् । यदि तु विगलितवेद्यान्तरत्वमनुकर्त्तॄणामपि दृश्यते, तदा तेषामपि सामाजिकत्वमेव, अनुकरण तु संस्कारवशादेव जीवन्मुक्तानामाहारविहारादिवत् । तेन सामाजिकानामेव रस । तथा हि, नटनानुक्रियमाणानुकार्यचरित दर्शनश्रवणजनित-चमत्कारातिशयेन विगलितवेद्यान्तरतया तदेकस्फूर्त्तिसनाथेन अद्भुतमिद रामसीतयो रतिकलाकौशलम्, अद्भुतमिद राम-रावणयोर्युद्धम्, अद्भुतमिद प्रेतरङ्कादि-विचेष्टितमित्यादिना सर्वेष्वेव रसेषु (साहित्यदर्पण-तृतीय परिच्छेदोद्धृतो धर्मदत्त) "रसे सारश्चमत्कारो य विना न रसो रस । तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्रैवाद्भुतो रस ॥"

सामाजिकाना रसोत्पत्तौ प्रकारमाह—अभिनायको नटस्तदाश्रया, एव भाव-हाव कटाक्षादयो नटानामभिनेयास्तदाश्रया । अनुकार्येति—अनुकार्याणा भक्ताना तदानीं तत्राविद्यमानत्वान्नाट्यदर्शनात् पद्यश्रवणाच्च तदानीं कस्य रसो भविष्यतीति पूर्वपक्ष । अनुकर्त्ता नटो नापि तद्गतो रसो भवति। ननु कस्यचिद्दशरथवेशधारिणो नटस्य, एव हनुमद्वेशधारिणो नटस्य च लोके रसोत्पत्ति श्रूयते ? तत्राह—यदीति ।

ननु नटस्य सामाजिकत्वे सामाजिकस्य रसानुभवकाले विगलितवेद्यान्तरत्वात् कथ तस्यानुकरण सम्भवति ? तत्राह—संस्कारवशादेवेति ।

सनाथेनेति—रसोपयोगिविभावादिस्फूर्त्तिसहकृतेन क्रियमाणानुकार्य चरित दर्शन श्रवणजनित चमत्कारातिशयेन हेतुना सर्वेषु रसेषु अद्भुतत्वातिशयस्फूर्त्तौ सत्या सम्यङ् मिथ्या तथा च निश्चयमिथ्यादि प्रत्ययातिरिक्तेन केनचिदनिर्वचनीयप्रत्ययविशेषेण हेतुना कृत्रिमेष्वपि विभावादिष्वकृत्रिमवत् प्रतीयमानेषु

यह रस ग्रन्थ होने के कारण, इस काव्यगत रस का विचार करना कर्त्तव्य है। काव्य दृश्य एव श्राव्य भेदसे द्विविध हैं। दृश्य काव्यमे विभावादि शब्दोपात्त एव नटाश्रय एव अभिनेय पदार्थाश्रय होता है। श्रव्य काव्यमे विभावादि केवल शब्दोपात्त होते हैं। अनुकार्य अर्थात् नट, जिसका अनुकरण करना है उसका जो रसग्रह होगा, इसकी सम्भावना कहाँ है ? अनुकर्त्ता अर्थात् अनुकरणकारी जो नट है, रस—तद्गत भी नहीं है। कारण, केवल शिक्षण एव अभ्यासादि प्रकाशकौशल के द्वारा आस्वादकता हो नहीं सकती है।

यदि अनुकर्त्ता मे कदाचित् यावतीय वाह्य वस्तुविषयक ज्ञानशून्यता दशा देखने मे आती है, तो उसको सामाजिक मान लेना आवश्यक है। किन्तु तादृश दशापन्न नटका उस प्रकार अनुकरण जीवन्मुक्त व्यक्तिके आहार विहार के समान प्राक्तन संस्कार से ही होता है। ऐसा कहना पडेगा। इससे प्रमाणित हुआ है कि—सामाजिक को ही रसास्वाद होता है।

जब नटगण अनुकार्य के चरित्रानुकरण करते हैं, तब उस चरित्र दर्शन-श्रवण से इस प्रकार चमत्कारातिशय उत्पन्न होता है कि— उसके प्रभाव से पदार्थान्तर की उपलब्धि विलुप्त होने से तन्मात्र की स्फूर्त्ति होती रहती है। एव रामसीता का रतिकला कौशल कैसा अद्भुत है ! राम रावण का यह संग्राम

इत्यादि-दिशा चमत्कारपूर्वकमद्भुतत्वातिशय स्फूर्त्तौ सम्यङ्मिथ्यासंशय सादृश्यप्रत्ययातिरिक्तेन प्रत्ययविशेषेण च चित्रोत्कीर्णाभिरूपप्रतिमादिष्विव इमे रामसीते, रामोऽयं सीताशोकविशीर्णः, राम-रावणावेतौ, व्याघ्रोऽयं जनोपप्लावकः, श्मशानमिदं शवसमूहान्नमासाद्यशनमत्तोन्मत्त-पिशाचादिनृत्यसङ्कुलमिति कृत्रिमेष्वपि तेषु विभावादिष्वकृत्रिमवत्प्रतीयमानेषु, स्वगत-रसवासनाधौत-रजस्तमस्तया स्वच्छतरेषु तेषां चेतःसु एक एवानन्दो जायते, न तु तेषामेकस्मिन्नेव चेतसि रत्यादयः सर्वे स्थायिभावाः सन्ति, तेषां परस्परविसदृशानां युगपदेकत्र स्थितेरभावात्, नापि यत्यादेश्चेतसि रतेः स्थायित्वम्, न च शमिनां तेषां भय-शोकादिसत्ता, अपि तु सर्वरसचमत्कारप्ररूढ एक एवास्वादकन्दः कश्चन चेतोधर्म इति ।

सत्सु सामाजिकानां चेतःसु एक एवानन्दो जायत इत्यन्वयः । अलौकिकत्व सिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणमिति यायात्तर्कागोचरत्वाच्च । तथा च 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति च । तेषामिति —उत्साह शोक विस्मयादीनां परस्परविरुद्धानां युगपदेकस्मिन् स्थितेरभावात् ।

दोषान्तरमप्याह—नापीति यत्यादेर्जितेन्द्रियादयमिनां सन्न्यासिनां चित्ते सर्वत्र समस्पृहया निर्विकारत्वेन भयशोकादिस्थायिभावानामसम्भावात्तेषां रसास्वादो न स्यादिति तु परमतानुसारेणवोक्तम् । वस्तुतस्तेषां शान्तित्वेन चित्तस्य कठोरत्वाद्रसास्वादेऽधिकार एव नास्ति, तथा चोक्तं तृतीयस्कन्धे

कैसा विचित्र है ! प्रेत पिशाचादिका ये सब कृत्य कितना विस्मयकर है ! इस प्रकार समस्त रसो मे ही चमत्कारपूर्ण वैचित्र्यातिशय की स्फूर्त्ति होती रहती है ।

कारण, रसमे चमत्कार ही सार पदार्थ है । जिसको छोड़कर रस, रस शब्दसे अभिहित नहीं होता है । सर्वत्र ही उक्त चमत्कार सार वस्तुरूपमे प्रतीयमान होने से समस्त रस ही अद्‌भुत होते हैं । पण्डित गणका कथन इस प्रकार ही है ।

उक्त अद्‌भुतातिशय की स्फूर्त्तिक समय मिथ्या, संशय एवं सादृश्यादि प्रत्ययके अतिरिक्त इस प्रकार एक अनिर्वचनीय प्रत्यय-विशेष का आविर्भाव होता है कि—कृत्रिम विभावादि भी अकृत्रिमवत् प्रतीयमान होते हैं । एवं चित्र लिखित रमणी प्रतिमादि मे सुस्पष्ट प्रतीति होती है । यह रामसीता की मूर्त्ति है, यह रामचन्द्र, सीता शोक-सम च्छन्न हैं । यह दश वदन रावण है । यह है दाशरथि । यह जनताको उद्वेगदायक भीषण व्याघ्र है । यह शवसमूहके अन्न-मासादि भक्षणमत्त उन्मत्त पिशाचादिकी नृत्यसङ्कुल श्मशानभूमि है ।

उस समय सामाजिक गण के चित्तस्थित रज तमोभाव—निज रस वासनासे विधौत होने के कारण, उस स्वच्छतर चित्तमे एकमात्र अनिर्वचनीय आनन्द का आविर्भाव होता है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—एक ही चित्त मे रति, शोक, विस्मय प्रभृति यावतीय स्थायिभाव की अवस्थिति कैसे हो सकती है ? कारण, वे सब परस्पर इस प्रकार विसदृश होते हैं कि—उन सबकी एकदा एकत्र अवस्थिति सम्भावना ही नहीं है । एवं यति प्रभृतिके चित्तमे कैसे रति स्थायी हो सकती है ? कारण, संयमी व्यक्तिवृन्द के चित्तमे भय शोकादि की सत्ता ही कहाँ है ?

उत्तर मे वक्तव्य है कि—आस्वादाङ्कुर के बीजस्वरूप जो अनिर्वचनीय चित्तधर्म है, वही यावतीय

अतो भयानक-बीभत्सादे काव्यनाट्ययोरेव रसता, न लोके। अतएवोक्तम्—(काव्यप्रकाशे चतुर्थोल्लासे ४४) "अष्टौ नाट्ये रसा स्मृता" नाट्ये एवाष्टौ, लोके तु शृङ्गारादीना कियतामेव, पूर्वोक्त-रसलक्षणाश्रयत्वात्।

अथ नाट्यरसाना भेदेषु शृङ्गाररस्यादित्वेन समुचितेऽपि प्राङनिर्देशे सविशेष-वर्णनीयत्वात्, अलौकिकत्वेनैव प्रतिपादनीयत्वाच्च पश्चादेव निरूपण करिष्यते। सम्प्रति वीरक्रमेणाह। तत्र च प्राकृताप्राकृतत्वेन ज्ञापितेऽपि भेदेऽप्राकृतमेवोदाहरिष्याम।

अप्राकृतोऽपि द्विविध प्रत्यालम्बनभेदत।
सजातीय विजातीय प्रत्यालम्बनमिष्यते ॥१८-१९॥

तत्र विजातीयालम्बनोऽप्राकृतवीरो यथा—

गुण कर्णाकृष्ट करकिशलय तूणशिखरे
धनुश्चक्रीभूत निपतदिषुवृन्द तत इत।
रिपून् भूमौ सुप्तान् कलयति सम देवनिकरे
जरासन्धस्याजौ जयति भुजवीर्यं मुरभिद ॥

(भा० ३।२८।३४) "तत्रापि चित्तवडिश शनकैर्वियुङ्क्ते" इत्यादिना चित्तस्य वडिशोत्वोक्त्या महाकठोरत्वमुक्तम्।

अथेति—यद्यपि शृङ्गाररसस्य परममुख्यत्वेनादौ तस्यैव निर्देश समुचितस्तथापि तस्याङ्गानामति-बाहुल्यात् पश्चान्निरूपण भविष्यति। सप्रति सूचीकटाह न्यायेनादौ वीरादिरसवर्णनमेवाह—तत्र चेति ॥१८ १९॥

रसगत चमत्कार का ग्राहक है।

भयानक, बीभत्सादि काव्य एव नाट्यमे ही रस होते हैं, लौकिक मे वे रस नहीं है। एतज्जन्य नाट्यमे अष्टविध रसका उल्लेख किया गया है।

नाट्य व्यतीत लौकिक स्थलमे जहाँ पूर्वोक्त रसलक्षण का योग है, उस प्रकार शृङ्गारादि कतिपय रसका ही रसत्व सिद्ध होता है।

नाट्य रससमूह के मध्यमे शृङ्गाररस का आदित्व हेतु प्रथमत उसको कहना उचित होने पर भी विशेष रूपसे उसका वणन अग्रिम ग्रन्थमें होगा। अत उसका निरूपण पश्चात् होगा। सम्प्रति वीररस का वर्णन करते हैं।

प्राकृत एव अप्राकृत भेदसे वीररस द्विविध होने पर भी यहाँ अप्र कृतका ही उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। सजातीय एव विजातीय प्रत्यालम्बन भेदसे अप्राकृत भी द्विविध होते है ॥१८-१९॥

उसके मध्यमे विजातीयालम्बन अप्राकृत वीर का उदाहरण—जरासन्ध के युद्धमें भगवान् मुरवैरीके अपूव भुजवीर्य की जय हो, जिस भुजवीयके प्रभावसे युद्धदश देवगण एक ही समयमे देखे थे कि—भगवान् के गुण—सवदा आकण कर्षित होकर है, कर पल्लव निरन्तर तूणाग्रभाग मे विराजित है, शरासन सतत

अत्र प्रकृते उत्साह स्थायी, स च द्विनिष्ठ । आलम्बनविभावो जरासन्ध, तस्य च कृष्ण । उद्दीपनम्—अन्योऽन्यशौटीर्य्यादि, अनुभाव — बाणवर्षणे हस्तलाघवम्, व्यभिचारी— गर्वोग्रतामर्ष चापल्यादि । एतै परिपुष्ट स्थायीरसता प्राप्त ।

स चानुकार्ये भगवति प्रकृते परोक्ष , काव्यश्रवणात् सामाजिके प्रत्यक्ष इति सर्वत्रोन्नेयम् । सजातीयालम्बनस्तूह्य । कश्चित् सखिभि सह युद्धमुदाह्रियते, तत्तु लीलाविशेष इति प्रकृते न लिख्यते । एष च युद्धदानदयाधर्मपूर्वकत्वाच्चतुर्द्धा । सर्वत्रोत्साह स्थायी ।

ऊह्यान्युदाहरणानि ॥२०॥

गुणमिति—जरासन्ध य युद्धे देवसमूहे श्रीकृष्णस्य युद्धलाघव पश्यति सति श्रीकृष्णस्य भुजवीर्य जयति । युद्धलाघवमेवाह—यदा देवाना गुणेदृष्टिस्तदा कर्णनिकटे सर्वदा गुण पश्यन्ति, यदा तु दक्षिणे करे दृष्टिस्तदा सर्वदा बाणग्रहणार्थ तूणे करकिसलय पश्यन्ति, यदा तु धनुषि दृष्टिस्तदा बाणनिक्षेपाय धनुश्चक्राकार पश्यन्ति, यदा बाणेषु दृष्टिस्तदा सर्वदैवेतस्तत निपतित न् बाणसमूहान् पश्यन्ति, यदा विपक्षसमूहे दृष्टिस्तदा सर्वदैव तान् भूमौ निपतितान् पश्यन्ति ।

एवञ्च हस्तस्यातिलाघवात् सर्वा क्रिया सर्वदैवालातचक्रवत् पश्यन्तीति भाव । तस्य जरासन्धस्य विजातीयालम्बन श्रीकृष्ण प्रकृते , नतु नटवत् कृत्तिमे । एवम्भूते भगवति स रसस्तदानीं तत्तल्लीलानां लीलाश्रयाणाञ्च सर्वेषामप्राकट्येन परोक्ष । सामाजिकानाञ्चास्वादाङ्कुरमूलभूतस्य स्थायिनोऽचिन्त्या शक्तिरीदृशी, या अप्रकटामपि तत्तल्लीला काव्यनाट्य-गता साक्षात्कारत्वेन प्रकाशयति । अतस्तेषा स रस प्रत्यक्षरूप । सजातीयालम्बनो महादेवादिभि सखिभि श्रीदामादिभि सजातीयालम्बन सह श्रीकृष्णस्य युद्धमुदाह्रियते—लीलाविशेष इति । जरासन्धस्य यथा द्वेष क्रोधादिजन्य युयुत्सारूप उत्साह स्थायी, तथा श्रीदामादीना न, किन्तु कौतुकविशेष इत्यर्थ । एष चेति—युद्धवीर दानवीर-दयावीर धर्मवीरा इति चतुर्धा एव रसो भवतीत्यर्थ ॥२०॥

वक्रीभूत होकर ही है, बाणसमूह—अनुक्षण इधर उधर निक्षिप्त हो रहे हैं । शत्रुसमूह निरन्तर भूतलमे प्रसुप्त हो रहे हैं ।

यहा उत्साह स्थायी है, एव वह उभयनिष्ठ है । जरासन्ध— आलम्बन विभाव, एव जरासन्ध के सम्बन्ध मे श्रीकृष्ण भी आलम्बन विभाव है । परस्पर शौटिर्यादि (वीरता) उद्दीपन विभाव है । बाण वर्षण विषयमे हस्तलाघव—अनुभाव है । गर्व, उग्रता, अमर्ष, चपलतादि—व्यभिचारि भाव हैं । उन सबो के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव रसत्व प्राप्त होता है । उस रस अनुकार्य स्वरूप प्रकृत श्रीकृष्ण मे परोक्ष एव काव्यमे श्रवण हेतु सामाजिकके पक्षमे प्रत्यक्ष है । इस प्रकार अन्यान्य स्थलमे विचार कर ग्रहण करना चाहिये ।

सजातीय आलम्बन महादेवादि के सहित, सखागणके सहित, श्रीदाम प्रभृति के सहित सजातीय आलम्बन के सहित श्रीकृष्ण का युद्ध का उदाहरण प्रस्तुत किया जायेगा ।

सजातीय आलम्बन—अनुसन्धेय है, इस विषयमे कतिपय व्यक्ति सखागणके सहित युद्धको उदाहरण देते हैं । किन्तु सखागणके सहित युद्ध लीलाविशेष होनेके कारण—प्रस्तुत प्रबन्धमे उल्लिखित नही हुआ ।

अथ करुण —दोर्गुप्ताया मधुविजयिनो हा कथ द्वारवत्या
मन्यायोऽस्यामयमुदभवद्धन्तनिष्कल्मषायाम् ।
जात जात सुतमपहरत्येष मेऽकालमृत्यु
को मा त्राता हरि हरि हहा हा हता हा हता स्म ॥

अत्र शोक स्थायी, एष एकनिष्ठ । पुत्रनाश आलम्बनम्, पुत्रगतममताद्युद्दीपनम् । अनुभाव —शिरस्ताडनादि । व्यभिचारी— विषाद दैन्य-ग्लान्यादि । अयन्तु सामाजिकगत एव, नानुकार्यगत परोक्षेऽपि । अय सामाजिकगतोऽप्यप्राकृत — कृष्णाश्रयत्वात् ॥२१॥

अथाद्भुत —आलोक सखि लोकलोचनमुदामुद्रेकमुद्भावयन्
सोमस्तोमनिदाघधामनिवहप्रद्योत सद्योहर ।
मेघे माधवने मणावपिघृणानिर्वाहको नीलिमा
सामानाधिकरण्यमत्र किमहो चित्र तमस्तेजसो ॥

अत्र विस्मय स्थायी, एष एकनिष्ठ । आलम्बन—श्रीकृष्ण, उद्दीपन— तल्लावण्यादि, अनुभाव —रोमाञ्चादि, व्यभिचारी—आवेग मति-चापल्यादि । अय परोक्षोऽनुकार्यगत, प्रत्यक्ष सामाजिकगत, अयमप्राकृत एव ॥२२॥

अस्या द्वारवत्यामन्याय उदभवत् । अन्यायमेवाह—जातमिति, पुत्रमरणजन्योत्कटदु खमानन्द-रूपस्य रसस्याविर्भावे प्रतिबन्धकमिति भाव ॥२१॥

आलोक इति । हे सखि ! विरुद्धमपि तमस्तेजसो सामानाधिकरण्य श्रीकृष्णे एकक्षण एव वर्त्तते, इत्यहो आश्चर्यम् ! श्रीकृष्णे तयो सामानाधिकरण्यमाह—श्रीकृष्णे वर्त्तमानो य आलोक प्रकाश, स च लोकलोचनानामानन्दोद्रेकमुद्भावयन् सन्, सोमस्तोमश्चन्द्रसमूहो निदाघधामनिवह सूर्यसमूहस्तयो

यह वीररस—युद्ध, दान, दया एव धर्मवीर रूपमे चतुर्विध हैं। सवत्र ही उत्साह स्थायी। उदाहरण समूहका अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है ॥२०॥

करुण रसका उदाहरण—हाय ! मधुसूदन के बाहुबल के द्वारा रक्षिता, पापस्पर्शशून्या यह जो द्वारका नगरी है, इसमे भी क्या इस प्रकार अन्याय होने लगा है। जब ही मेरा पुत्र होगा—उसी समय क्या अकालमृत्यु उसको अपहरण कर ले जावेगा ? हाय ! इस विपद से कौन व्यक्ति मुझको उद्धार करेगा ? हरि हरि मै तो निहत हो गया।

यहा शोक स्थायी है, एव यह एकनिष्ठ है। पुत्रनाश—आलम्बन है। पुत्रगत ममतादि उद्दीपन हैं, मस्तक मे कराघातादि अनुभाव है। दैन्य, ग्लानि, विषाद प्रभृति व्यभिचारि भाव हैं।

यह रस, सामाजिकगत है, यह अनुकार्यगत वा अनुकार्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु सामाजिकगत होने पर भी कृष्णाश्रयता होने के कारण, यह अप्राकृत है ॥२१॥

अद्भुत रस का निदर्शन—हे सखि ! यह अति विचित्र है कि—अन्धकार एव तेज ये दो परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं। यह श्रीकृष्णरूप—एक आधारमे एव एक समय अवस्थित है। देखो, इसकी अद्भुत

अथ हास —उन्मत्ताभिवसन्तोत्सवरभसमदैर्गोदुहा कन्यकाभि
क्षोद सिन्दूरचन्द्रागुरुमलयरुहा हा धिगन्धीकृतोऽस्मि ।
जाड्य गन्धाम्बुसेकैरजनि तत इतो धावितु नास्मि शक्तो
व्यापद्येऽह वयस्य प्रियसखमव मा मास्त्विह ब्रह्महत्या ॥

अत्र भगवत् सखो विदूषको ब्राह्मणवटुमधुमङ्गलो वक्ता, हास स्थायी, एष बहुनिष्ठ । आलम्बन वसन्तोत्सवादि, उद्दीपन विदूषकस्य वैक्लव्यम्, अनुभाव नयनस्फारतादि, व्यभिचारी—श्रम-मद चपलताग्लान्यादि ॥२३॥

एष त्रिविध —स्मितम्, हास , प्रहासश्चेति ।

अधरौष्ठस्फारतया सृक्कण्योरेव विस्फुरत् ।
अलक्षितद्विज धीरा उत्तमाना स्मित विदु ॥
विकसद्दशनद्योतो गण्डाभोगे प्रफुल्लता ।
किञ्चित् कल कण्ठरवो यत्र हास स मध्यम ॥

प्रद्योतानां प्रकाशाना सद्यो हर्त्री, 'आलोकौ दशनद्योतौ' इति नानार्थवर्ग ॥२२॥

उन्मत्तेति—वसन्तोत्सवजन्य हर्षमद करणरुन्मत्ताभिर्गोपीभिर्मलयरुहा चन्दनाना क्षोदश्चूर्णं करणैरन्धीकृतोऽस्मि । तथा जलसेकममजाड्यमप्यजनि, अत पलायितुमपि न शक्तोऽस्मि । हे वयस्य ! हे कृष्ण ! अह व्यापद्ये म्रिये, अतो मामव रक्ष ॥२३॥

नीलिमा असख्य सुधाकर एव प्रभाकर की प्रभाको सहसा अपहरण करके एव मेघमण्डल एव इन्द्रनीलमणि के प्रति भी घृणा उत्पादनपूर्वक लोकलोचन का अपूर्व प्रीति विस्तारकारी आलोकरूपमे विराजित है ॥२२॥

हास्यरस का उदाहरण—वसन्तोत्सव हेतु हर्ष एव मदभर से उन्मत्त होकर गोपकन्यागण—सिन्दूर, कर्पूर एव अगुरु चन्दनचूर्ण से मुझको अन्धप्राय कर दिये है । अधिकन्तु अविरल सुगन्धसलिल सिञ्चन से मुझमे जडता आ गई है । इतस्तत धावित होकर पलायन करनेकी शक्ति भी मेरी नहीं है । हे वयस्य ! सख्या कृष्ण ! मैं तुम्हारा प्रियसखा हू, मेरी रक्षा करो, ब्रह्महत्या न करो ।

इस श्लोकमे भगवान्के सखा विदूषक ब्राह्मणवटु वक्ता, हास्य स्थायीभाव है, यह हास्य बहुनिष्ठ है । वसन्तोत्सव—आलम्बन है, विदूषक की विह्वलता—उद्दीपन है, नेत्र विकासादि अनुभाव है, एव श्रम, मद चपलता ग्लानि प्रभृति व्यभिचारिभाव है ।२३।

स्मित, हास एव प्रहास भेद से यह हास्य त्रिविध हैं । श्रेष्ठ व्यक्तिवृन्द का जो हास्य—अधरोष्ठ का अल्प निस्फारण से ओष्ठ प्रान्तमे ही विराजित होता है, दन्तश्रेणी लक्षित नही होती है । विबुधगण उसको स्मित कहते हैं ।

जिसमे दशनद्युति का विकाश होता है, गण्डस्थलमे प्रफुल्लता उत्पन्न होती है, कण्ठमे किञ्चित् कलस्वर निर्गत होता है, उसका नाम हास है । यह मध्यम है ।

सघर्म साश्रुताम्राक्ष स्फुटघोरकटुस्वन ।
व्यात्ताननो व्यक्तदन्त प्रहासो ग्राम्या उच्यते ।।२४ २६।।

अथ भयानक —दष्ट्रा कोटिकठोरकूटकटुना ब्रह्माण्डभाण्डस्थित
सर्वं चर्वयसीव हन्त वदनेनोदगीणपूर्णाचिषा ।
जिह्वाग्रेण समग्रमुग्रमहसा लेलिह्यसे रोदसी
त्रस्त मामिह पाहि पाहि भगवन् पार्थोऽप्यपार्थोऽभवम् ।।

अत्र अर्जुनस्य भय स्थायी, सचैकनिष्ठ । आलम्बन—विश्वरूपप्रदर्शक श्रीकृष्ण, उद्दीपन—तद्गत दष्ट्रादि, अनुभाव —पाहि पाहीति कातर्यम् व्यभिचारी—अपार्थोऽभवमिति दन्यम् । एष च कृष्णावलम्बनत्वात् सामग्रीसान्निध्येनानुकार्येऽपि रसता प्राक प्राप्त एव । भयेऽपि कृष्णस्फूर्त्तेस्तत्सम्बन्धादान द एवेत्यप्राकृत एव, नतु मालत्यादौ शार्दूलद्यालम्बनेन मकरन्दस्य भय विनानन्द । सति शौर्ये उत्साह एव स्थायी भवति । तेन कदाचिदानन्दो जायते, न भयत । तेन प्राकृते न रसता ।।२७।।

दष्ट्रेति । वदनेन कथम्भूतेन दष्टाया कोटिभिरग्रभाग करण कठोराद्वज्रादपि कूट कटुना रोदसी द्यावापृथिव्यौ जिह्वया लेलिह्यसे । अत स्त्रस्त मा पाहि । पार्थोऽप्यहमपार्थो व्यर्थोऽभवम् । अनुकार्येऽपि अर्जुनेऽपि, व्याघ्रालम्बनेन करनेन मकर दस्य भय विना नानन्दोत्पत्ति । तत्र शौर्ये सति व्याघ्रदशनेऽप्यानन्दस्तदोत्साह एव स्थायी, नतु भय स्थायि ।।२७।।

जिस हास्यमे शरीर घर्माक्त एव नयन रक्तवण एव अश्रुपूण होते हैं, उत्कट कटु शब्दके सहित मुख गह्वर विस्तृत होता है, एव द तपङ क्ति प्रकाशित होती है, उसको प्रहास कहते हैं। यह अधम है।।२४ २६।।

भयानक रसका दृष्टान्त—तुम्हारे जो वदनमण्डल—कठोर पवतशृङ्गके समान दन्ताग्रभाग के द्वारा उत्कट है, जिसमे पूण ज्योति उद्गीण हो रही है, उसके द्वारा ब्रह्माण्डभाण्ड स्थित पदाथ जसे चर्वित हो रहे हैं। और उग्रदीप्ति इस प्रकार है—जिसके द्वारा समस्त स्वगमर्त्यलोक जसे लेहित हो रहे है। हे भगवन् ! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो, मै नितान्त भीत हूँ। मेरा पार्थ नाम—आज व्यथ हो गया।

यहा अजुन का भय स्थायी है, यह एकनिष्ठ है। विश्वरूप प्रदशक श्रीकृष्ण—आलम्बन है। तदीय द्रष्ट्रादि—उद्दीपन है। रक्षा करो, रक्षा करो, यह कहकर जो कातरता प्रकटित हुई, वह अनुभाव है। मेरा पाथ नाम व्यथ हुआ है, इस वाक्य से जो द य प्रतीत होता है, वह व्यभिचारि भाव है। यहाँ श्रीकृष्ण आलम्बन होने के कारण, हेतु समूह का सन्निधान वशत अनुकायस्वरूप अजुनमे प्रथम ही रसत्व हुआ है। भयमे भी कृष्ण स्फूर्त्ति होने के कारण, कृष्ण सम्बन्ध मे आनन्दोदय हुआ है, सुतरा उसको अप्राकृत कहना होगा। मालत्यादि स्थलमे शार्दूलादि आलम्बन के द्वारा भय व्यतीत मकरन्द मे आनन्दोत्पत्ति नही हुई है। शूरता की विद्यमानतामे उत्साह ही स्थायी होता है, उसमे कदाचित् आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है। भय स्थलमे वसा सम्भव नहीं है। अतएव प्राकृत स्थलमे उसका रसत्व नही है।।२७।।

अथ बीभत्स —दत्येन्द्राणा मथितवपुषामन्त्रमेदोऽस्थिमज्जा-
मामासृक्त्वक्स्थपुटपटलीस्वादमोदप्रमत्ता ।
कौमोदक्या मधुविजयिन कीर्त्तिमुत्कीर्त्तयन्त
सार्द्धं गृध्रैर्विदधति मुद प्रेतरङ्का विशङ्का ॥

अत्र देवासुरसग्रामावसानमालोकयता व्योमचारिणा जुगुप्सा स्थायी, स चैकनिष्ठ । शवशरीराद्यालम्बनम्, प्रेतरङ्काद्युद्दीपनम्, अनुभाव —मुखवक्रत्यादि, व्यभिचारि— ग्लानि-दैन्यादि । एत परिपुष्टा जुगुप्सा जुगुप्सैव यद्यपि, तथापि भगवत कृतिरियमिति भगवत् स्मरणादेवानन्द । प्राकृते न त्वानन्द, अपि तु नटव्यापारदर्शनात् सामाजिकानामेव तत्र रस ॥२८॥

यथा वा—दृशैव करुणार्द्रया सहचरान् समुज्जीवय
न्नघस्य जठर गतो गरलजातवेदो व्यसून् ।
तदन्त्रधमनीवसारुधिरमज्जलालादिभि
प्लुतोऽप्यनवलिप्तवच्छुचिरुचि स जीयाद्धरि ॥

कौमोदक्या गदया मथितवपुषा दत्येन्द्राणाम् त त्र 'आत' इति प्रसिद्धि । स्थपुट नाडीग्रन्थि-विशेषस्तेषा पटलीना समूहाना रसास्वादजातो यो मोदस्तेन प्रमत्ता प्रेतरङ्कामुद विदधति। यद्यप्येत परिपुष्टा जुगुप्सा निन्दव तथापीत्यादि ॥२८॥

दृशवेति—गरलरूपजातवेदस अग्निना विगत सून् विगतप्राणान् मूर्च्छितानित्यर्थ । तेषा पार्षदत्वेन नित्यत्वान्न वास्तवप्राणत्याग सम्भवतीति प्लुतोऽपि व्याप्तोऽप्यनवलिप्त इव शुचि शुद्धा रुचि कान्तियस्य

बीभत्सरस का निदर्शन—कौमोदकी गदा का आघात से मथित देह दैत्येन्द्रगण का अन्त्र भेद होनेके कारण -दरिद्र प्रेतवर्ग निर्भय से अस्थि, मज्जा, मास, शोणित, त्वक, नाडीग्रन्थि प्रभृति का स्वाद ग्रहणपूर्वक आनन्द से उन्मत्त होकर मधुसूदन की कीर्त्ति का कीर्त्तन करते करते गृध्रकुल के सहित महा आनन्द प्रकाश कर रहे हैं।

इसमे देवासुर के सहित सग्राम समाप्ति के समय, सग्राम दर्शनकारी आकाशचारिगण का जुगुप्सा स्थायिभाव है, यह एकनिष्ठ है। शव शरीरादि— आलम्बन हैं, प्रेतवृन्द— उद्दीपन, मुखविकृति प्रभृति—अनुभाव, ग्लानि दैन्यादि व्यभिचारी हैं।

इन सबोके द्वारा परिपुष्ट जो जुगुप्सा है— वह जुगुप्सा व्यतीत अपर कुछ भी नही है। तथापि वह भगवान् का कार्य होने के कारण, उनका स्मरणसे आनन्दोदय हुआ है। प्राकृत स्थल उस प्रकार आनन्द नहीं होता है। उस प्रकार स्थलमे नटके प्रयत्न को देखकर सामाजिकमे रसाविर्भाव होता है ॥२८॥

उदाहरणान्तर यह है—विषाग्निके द्वारा जिस सब सहचरका जीवनान्त हुआ था, करुणार्द्र दृष्टिपात से ही उन सबको उज्जीवित करके अघासुर के जठर के मध्यमे प्रवेश पूर्वक जो भगवान् उस असुरके अन्त्र, धमनी, वसा, रुधिर, मज्जा, लालादि द्वारा आप्लुत होकर भी उन सबके द्वारा अस्पृष्ट के समान निर्मल

अत्र भगवत एवानन्दत्वात्तदन्त्रादि दर्शनेनाप्यानन्द एव लीलावताम्, तथात्वाद्भक्तानाञ्च सामाजिकानाञ्च तस्य स्फूर्त्तिवेव ॥२९॥

अथ रौद्र —स्पर्शेनापि न वेद्य एव भवता मृत्योर्मुख गच्छता

कि दोर्मण्डलचण्डिमैव भवते निज्ञापनीयो मया ।

येनाखण्डलशौण्डचखण्डन कृता गेण्डूकृतोऽय गिरि

कि रे कष्टमरिष्टदुष्टतनुषे गोष्ठग्य न स्तिष्ठ रे ॥

अत्र कोप स्थायी, एष एकनिष्ठ उभयनिष्ठश्च, अत्र तूभयनिष्ठ एव । आलम्बनमन्योन्यम्, उद्दीपनम्—अन्योन्यविक्रम, अनुभाव — वागाडम्बर्यादि, व्यभिचारी—गर्वादि । एव स्फुटोऽय रस । स च भगवति परोक्ष, सामाजिके प्रत्यक्ष । आद्ये विजातीयालम्बनोऽप्राकृत, द्वितीयेऽप्राकृत एव ॥३०॥

स । 'सु दरे किमसु दरम्' इत्युक्ते । उक्तञ्च श्रीदशमे (भा० १०।८।२३) "पङ्काङ्गरागरुचिरौ" इति । अत्रेति—भगवत आनन्दरूपत्वात् लीलावता पार्षदानामपि तथात्वादान दरूपत्वात् । अतएवानन्दोद्रेकस्या धिक्येनान्त्रादिदर्शनेऽप्यानन्दोत्पत्तिरेव, नतु प्राकृतानामिव दुःखम् । तेषा दु खरूपत्वेन भयानकबीभत्सित वस्तुदर्शने दु खमेवोत्पद्यत इति विशेषो ज्ञेय ॥२९॥

स्पर्शेनेति—मत्कर्त्तृ कस्पर्शेनापि हेतुना मृत्युर्मुख गच्छता भवता अह न वेद्य , न ज्ञातु शक्य एव । तथा च मद्विषयकज्ञानमेव तव न भविष्यति, कि दोश्चण्डिमा मया भवते विज्ञापनीय इति भाव । इन्द्र-पराक्रमखण्डन कृता येन दोर्दण्डेनाय गोवर्धनगिरिगेण्डुकृत, आद्ये असुरमात्रनिष्ठे कोपे, तदा विजातीयालम्बनो भगवान् द्वितीये उभयनिष्ठे, तदा सुनरा भगवानप्राकृत एव ॥३०॥

कान्तिसे प्रकाशित हुये थे । उन श्रीभगवान् की जय हो ।

यहाँ भगवान् की आनन्दरूपता हेतु अ न्त्रादिका देखकर भी लीलापरायण पार्षदगणमे भी आनन्दोदय हुआ था । कारण, वे सब भी आनन्दमय है । भक्तिपरायण सामाजिक की आनन्द स्फूर्त्ति के स्थलमे ही रसाविर्भाव होता है ॥२९॥

रौद्ररस का दृष्टान्त- रे दुरात्मन् अरिष्ट ! तू हमारे गोष्ठका उत्पीडन कर रहा है ? तू मुहूर्त्तकाल अपेक्षा कर, अथवा तू स्पर्शमात्र से ही मर जायेगा । तू मझको कैसे जानेगा ? मेरे बाहुमण्डल की प्रचण्डता को तेरेको कसे अनुभव कराऊँगा ? इस भुजदण्ड से आखण्डल का पराक्रम खण्डित हुआ था । इसके प्रभाव से ही गोवर्द्धनगिरि कन्दुकवत् उत्क्षिप्त हुआ था ।

यहाँ कोप स्थायी है, वह एकनिष्ठ एव उभयनिष्ठ है । यहाँ उभयनिष्ठ है । उभय ही उभय का आलम्बन है । परस्पर का आलम्बन उभय ही हैं । परस्पर का विक्रम—उद्दीपन है, वागाडम्बरादि—अनुभाव है गर्वादि व्यभिचारी है । इस रीति से यह रस परिस्फुट हुआ ।

यह रस भगवानमे परोक्ष एव सामाजिक मे प्रत्यक्ष है । प्रथमोक्त एकनिष्ठता स्थलमे वह विजातीयालम्बन भी अप्राकृत है । द्वितीयोक्त स्थलमे वह अप्राकृत नहीं है । ३०॥

अथ शान्त —वयो जीर्णं हा धिक् तदपि नहि जीर्णो मदभर

श्लथ चर्माङ्गेभ्यस्तदपि नहि राग श्लथ इव ।

रदा शीर्णा शोणस्तदपि नाहि मोह कथमय

जन कसारातेश्चरणकमलाय स्पृहयतु ॥

अत्र निर्वेद स्थायी, सचैकनिष्ठ । आलम्बन—ससारदु खम्, उद्दीपन—पुण्यतीर्थादि, अनुभाव —विषयासक्तित्याग, व्यभिचारी—मति स्मृति धृत्यादि । एष रसोऽनुकार्ये परोक्ष, सामाजिके प्रत्यक्ष, चमत्कारी चायम् ॥३१॥

तथा च (महाभारते)—"यच्च कामसुख लोके यच्च दिव्यसुख महत् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत षोडशी कलाम् ॥"

चमत्कारातिशयेनानन्दातिशय । अय श्रीकृष्ण— भक्त्युपयुक्तो यदि भवति, तदा अप्राकृत एव । यथा अय निर्वेदो व्यभिचारी सन्नपि शान्तरसे स्थायिता प्राप्य रसतामाप्नोति, तथा सैव देवादिविषया रतिर्भाव इति पारिभाषिकोऽपि भाव स्थायी सन् तत्तद्विभावादिसमवेतो

वय इति । अङ्गेभ्य सकाशाच्चर्म श्लथम्, तदपि राग । श्लथ इव श्लथतुल्योऽपि न भवति । केचिच्छान्तस्य रसत्व न मन्यन्ते । तन्मत दूषयितुमाहु—अयमिति । अय रसश्चमत्कारी ॥३१॥

चमत्कारित्वे हेतु प्राचीनाना श्लोकमाह—तथा चेति । तृष्णाक्षयसुखरूपचन्द्रस्य षोडशामेककला मपि एते मर्त्यलोकस्य स्वर्गस्य च सुखे नार्हत । तस्माच्चमत्कारित्वे तस्य रसत्वमवश्यमङ्गीकार्यम् । (१८ श्लोके) 'रसे सारश्चमत्कार' इति पूर्वोक्ते ।

द्वादशरसा इति—पूर्वमेकादश रसा उक्ता, अयमेको रस, मिलित्वा द्वादशरसा भवन्तीत्यर्थ ।

शान्तरस का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—वयस् जीर्ण हुआ, किन्तु मद का प्राबल्य कुछ भी जीर्ण नहीं हुआ । प्रत्येक अङ्ग मे चर्म शिथिल हुआ, किन्तु विषयराग कुछ भी शिथिल नहीं हुआ । दन्तसमूह क्षीण हुये हैं । किन्तु मोह अणुमात्र भी क्षीण नहीं हुआ । यह अधम व्यक्ति कैसे कसध्वसकारी श्रीकृष्ण के पादपद्म मे स्पृहावान् होगा ।

यहा निर्वेद स्थायी है यह एकनिष्ठ है । ससार दु ख आलम्बन है, पुण्य तीर्थादि उद्दीपन है । विषयासक्ति त्याग अनुभाव है, मति धृति स्मृति— व्यभिचारिभाव है । यह रस अनुकार्य मे परोक्ष— सामाजिक मे प्रत्यक्ष एव अति चमत्कार जनक है ॥३१॥

पूर्वाचार्यों का कथन है—इस जगत् मे जो काम सुख है, अथवा स्वर्गलोक मे जो महत् सुख है, ये सब सुख तृष्णाक्षयरूप सुख के षोडशांश के भी योग्य नहीं हैं ।

इसमे चमत्कार के आतिशय्य हेतु आनन्द का आतिशय्य होता है । एव कृष्णभक्ति मे उपयोग होने से यह रस अप्राकृत होता है । जिस प्रकार निर्वेद व्यभिचारी होकर भी शान्तरस स्थायिता प्राप्तकर रसरूप होता है । उस प्रकार 'उक्त रति देवादि विषया होने से भाव शब्दसे अभिहिता होती है ।'

भूत्वा भक्तिरस इति द्वादश रसा भवन्ति । स पुनर्भक्तिरस श्रीकृष्णाश्रयो भवन् रत्यादिभि स्थायिभिदशविधो भवति । तद यन्यह्यम् ॥३२॥

अथ वात्सल्यम् — आराज्जानुकरोपसर्पणपरो जातस्मित सञ्चर-
त्रङ्कारोहमनाप्लुवन् रुरुदिषा विम्लानचन्द्रानन ।
अभ्यासार्थमुपेक्षितोऽपसरणप्रक्रान्तया सत्वर
कण्ठे कृत्य यशोदयाननेत्याश्वासि बालो हरि ॥

अत्र ममकार स्थायी एष एकनिष्ठ । आलम्बन—श्रीकृष्ण, उद्दीपन—तद्गत-जानुचङ्क्रमणादि, अनुभाव —कण्ठे कृत्यालिङ्गनादि । व्यभिचारी—हर्षादि । एषो परोक्षो व्रजेश्वरीनिष्ठ, प्रत्यक्ष सामाजिकनिष्ठ । उभयथैवायमप्राकृत ॥३३॥

अथ प्रेमरस —प्रेयांस्तेऽहं त्वमपि च मम प्रेयसीति प्रवाद
स्त्वं मे प्राणा अहमपि तवास्मीति हन्त प्रलाप ।

कस्यचि मते असौ भक्तिरस एव देवत्वरूपेण श्रीकृष्णाश्रयो भवन् स्वातन्त्रेण दशविधो भवति । तस्य स्वरूपलक्षणोदाहरणमन्यत्र तस्यव ग्रन्थे ऊह्यम् ॥३२॥

आरादिति—आरान्निकटे जानुकराभ्या गमनपरो बाल श्रीकृष्णो मातुरङ्कारोहार्थं सञ्चरन् यशोदयापि गमनप्रक्रियाया अभ्यासार्थं पुत्रानयनाय सम्मुखगमन विहाय अपसरणे स्वस्य पृष्ठदेशे गमने प्रक्रान्तयोपेक्षित श्रीकृष्णो मातुरङ्कारोहमप्राप्य रुरुदिषा रोदितुमिच्छा तया म्लानमुख, पश्चाद्यशोदया सत्वर यथा स्यात्तथा कण्ठे कृताश्वासित ॥३३॥

इस वाक्य मे उल्लिखित पारिभाषिक भाव ही स्थायित्व प्राप्तकर उस उस विभावादि सामग्री सम्मिलन से भक्तिरस मे परिणत होता है। उक्त भक्तिरस श्रीकृष्णाश्रय होकर रत्यादि विविध स्थायिभावके सहित मिलित होकर दशविध होते है। उक्त भेदसमूह का उदाहरण—ग्रन्थान्तर मे देख लेना चाहिये ॥३२॥

वात्सल्य का उदाहरण—बालक श्रीकृष्ण, अधुना जानु एव हस्त के द्वारा समीप देशमे सञ्चरण करने मे समर्थ होने क कारण, एकादन सामने यशोदा को देखकर, उनके क्रोड मे आरोहणार्थ, हँसकर धावित होते है। यशोदा पुत्रका गमन अभ्यासार्थ उनको अङ्कमे लेने मे उपेक्षा करके पश्चाद् भागमे अपसरण करने लगी। उस समय बालक जननीके क्रोड मे आरोहण कर न पाने से म्लान मुखचन्द्र से रोदन करने का उपक्रम किये थे। यह देखकर जननी सत्वर जाकर उनको कण्ठमे स्थापन किये एव 'ना ना, तुमको क्या अनादर कर सकती हूँ ?' इत्यादि बहुविध प्रियवाक्य से आश्वास प्रदान करने लगीं।

यहाँ ममता स्थायी है। यह एकनिष्ठ है। श्रीकृष्ण आलम्बन, कर-चरण द्वारा तदीय सञ्चरण उद्दीपन, कण्ठमे ग्रहण एव आलिङ्गनादि अनुभाव, हर्षादि व्यभिचारी हैं। यह रस—व्रजेश्वरीनिष्ठ होकर परोक्ष, एव सामाजिकनिष्ठ होकर प्रत्यक्ष होता है। उभय प्रकार ही अप्राकृत है ॥३३॥

प्रेमरस का वर्णन करते हैं—अयि राधे! मै तुम्हारा प्रियतम हू, तुम मेरी प्रेयसी हो। ये सब

त्व मे ते स्यामहमिति च यत्तन्न नो साधु राधे
व्यवहारे नौ न हि समुचितो युष्मदस्मत् प्रयोग ॥

अत्र चित्तद्रव स्थायी, स चोभयनिष्ठ । आलम्बनमन्योन्यम्, उद्दीपनमन्योन्यगुणपरिमल, अनुभाव —विशिष्यनिर्वचनाभाव, व्यभिचारी–मत्यौत्सुक्यादि। । परोक्ष श्रीकृष्ण-राधयो, सामाजिकाना प्रत्यक्ष प्रेमरसे सर्वे रसा अन्तर्भवन्तीति प्रेमाङ्ग शृङ्गारादयोऽङ्गिन इत्यत्र महीयानेव प्रपञ्च । ग्रन्थगौरवभयाद्दिङमात्रमुक्तम् ।

केषाञ्चिन्मते श्रीराधा-कृष्णयो शृङ्गार एव रस । तन्मतेऽप्येतदुदाहरण नासङ्गतम् । शृङ्गारोऽङ्गी, प्रेमाङ्गम्, अङ्गस्यापि क्वचिदुद्रिक्तता । वयन्तु प्रेमाङ्गी शृङ्गारोऽङ्गमिति विशेष ॥३४॥

तथा च—उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखण्डरसत्वत ।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ ॥३५॥

प्रेयास्तेऽहमिति । श्रीकृष्ण आह—हे राधे ! अह तव प्रेयान्, त्व मम प्रेयसी, त्व मे प्राणा, अहमपि तव प्राणा अस्मीति । त्व मे मम, ते तव अह स्यामिति च यत्तत् सर्व न साधु । यतो नौ आवयो-र्व्यवहारे कथाप्रसङ्गे युष्मदस्मत् प्रयोगो न समुचित । आत्मनोर्द्विदेहत्वे एतादृश प्रयोग समुचितो भवति ।

अत्र तु श्यामपीतदेहद्वयोरेकात्मा । यथकस्मात् कमलनालात् दुत्पन्न नीलपीतकमलद्वय तद्वदिति ज्ञेयम् । उद्रिक्तता—अङ्गिरसापेक्षया अङ्गरसस्याधिक्यम् । एतदभिप्रायेण कथमपि शृङ्गाराऽङ्गमिति ब्रूम ॥३४॥

उक्ति अथवा तुम मेरा जीवन हो, मै तुम्हारा जीवन हू, ये सब वाक्य प्रलापमात्र हैं। और भी तुम—मेरी, मैं—तुम्हारा, इस प्रकार जो सब प्रयोग हैं, ये साधुप्रयोग नहीं है, कारण—हमारे दोनों के कथोपकथन मे युष्मद् एव अस्मद् शब्द का प्रयोग कभी भी हो ही नहीं सकता।

यहाँ चित्तद्रव स्थायी है, वह उभयनिष्ठ है। उभय ही परस्पर के आलम्बन, परस्पर के गुणात्कर्ष उद्दीपन, जिसको विशेष करना होगा, उसका निर्वचन करनेमे असमर्थ होने पर अनुभाव, मति औत्सुक्यादि व्यभिचारी हैं।

यह श्रीकृष्ण एव राधा के पक्षमे परोक्ष है, एव सामाजिक के पक्षमे प्रत्यक्ष है। समस्त रस ही प्रेमरस मे अन्तर्निविष्ट होने के कारण, इसमे अति महान् विस्तार है। ग्रन्थबाहुल्य के भय से दिग्दर्शन मात्र लिखित हुआ।

किसी किसी पण्डित के मतमे श्रीकृष्ण राधा के सम्बन्ध मे शृङ्गार ही रस है। इस मतमे भी शृङ्गार अङ्गी है, एव प्रेम अङ्ग है। सुतरा यह उदाहरण असङ्गत नहीं होगा। कारण, अङ्गी की अपेक्षा अङ्ग का कदाचित् आधिक्य भी होता है। हमारे मतमे तो प्रेम ही अङ्गी है, शृङ्गार उसका अङ्ग है ॥३४॥

प्रेममे अखण्ड रसकी सत्ता विद्यमान होनेक कारण—समुद्रमे तरङ्गके समान यावतीय रस एव भाव

अथ भक्तिरस —जय श्रीमद्वृन्दावनमदन नन्दात्मज विभो
प्रियाभीरीवृ दारिक निखिलवृन्दारक मणे ।
चिदानन्दस्यन्दाधिकपदरविन्दासव नमो
नमस्ते गोविन्दाखिलभुवनकन्दाय महते ॥

अत्र देवविषयत्वाच्चेतो रञ्जकता रतेरेव भाव । स एव स्थायी, आलम्बनम्—श्रीकृष्ण, उद्दीपनम्—तन्महिमादि, अनुभाव —हृदयद्रवादि, व्यभिचारी निर्वेद दैन्यादि । परोक्षो भक्तानाम्, सामाजिकानान्तु प्रत्यक्ष ॥३६॥

यद्यपि भगवान् सवरसकदम्बसम्बलित, तथापि मूर्त्त श्रृङ्गार एव, सावण्यात् तद्दैवतत्वाच्च । तथाहि "रस श्रृङ्गारनामाय श्यामल कृष्णदैवत" इति । एवञ्च सर्वेषामेव रसाना वर्णा देवताश्च बोद्धव्या ।

अखण्डरसत्वतोऽखण्डरसत्वात् सर्वे उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति समुद्रे तरङ्गा इव ॥३५॥

जयेति—प्रिया आभीरीस्वरूपा वृ दारिका देवाङ्गना यस्य हे तथाभूत, (भा० १०।१।२३) 'तत् प्रियार्थ सम्भव त्वमरस्त्रिय' इति दशमोक्ते । हे निखिल वृ दारकाणा देवाना मणे श्रेष्ठ, चिदान दस्य ब्रह्मानन्दस्य स्य द क्षरण यदि सम्भवति, तदा ततोऽप्यधिकश्चरणारवि दस्यासवो यशोरूपमकरन्दो यस्य हे तथाभूत ॥३६॥

सावर्ण्यादिति—श्रीकृष्णस्य या वण, स एव वर्ण श्रृङ्गाररसस्य । एतेन रसाना साकारत्वमभिप्रेतम् । तथा च ह्लादिनीशक्तेर्वृत्तिरूपा एते रस अपि साकारास्तथा ह्लादिनीशक्तेर्वृत्तिरूपा एते रस अपि साकारा एवेति भाव । श्रृङ्गारीति । श्रृङ्गारी श्रृङ्गाररसविशिष्ट, अघाहेर्विषदग्धेषु सखिषु करुणरसविशिष्ट,

---

उसमे सवदा आविर्भूत एव तिरोभूत होते रहते हैं ॥३५॥

भक्तिरस का दृष्टान्त—हे विभो ! श्रीवृन्दावनमदन नन्दन दन ! तुम्हारी जय हो । प्रियतमा गोपाङ्गना ही तुम्हारी सुराङ्गना के सदृश है । तुम निखिल सुरवृन्द के शिरोभूषण हो । तुम्हारे चरणारवि दमकरन्द, चिदानन्दकी धारा की अपेक्षा भी मधुर है । हे गोविन्द ! निखिल विश्वबीज अति महान् तुम्हारे स्वरूप को मै पुन पुन नमस्कार करता हूँ ।

इस स्थलमे देवविषयक होनेके कारण चित्तरञ्जकता रति ही भाव है । वही यहाँ पर स्थायी । श्रीकृष्ण, आलम्बन है, तदीय महिमादि उद्दीपन हैं, हृदय द्रवादि अनुभाव है । निर्वेद दन्यादि व्यभिचारी हैं । भक्तवृन्दके पक्ष मे यह परोक्ष है, सामाजिकगण के पक्षमे प्रत्यक्ष है ॥३६॥

यद्यपि भगवान् सवरस सम्बलित हैं, तथापि आप ही श्रृङ्गार रस के देवता हैं, एव उस रस का वण उनके समान वण होनेके कारण आप—मूर्तिमान् श्रृङ्गार हैं ।

कथित है कि—श्रृङ्गार नामक यह रस श्यामवण है, एव श्रृङ्गार रस के देवता श्रीकृष्ण ही हैं । इस प्रकार समस्त रस का ही वण है ।

सर्वरसात्मकत्व श्रीकृष्णस्य यथा—

श्रृङ्गारी राधिकाया सखिषु सकरुण क्ष्वेडदग्धेष्वघाहे
बीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनया-चलचौर्ये प्रहासी ।
वीरी दैत्येषु रौद्रो कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन
स्तेये भीमान् विचित्री निजमहसि शमी दामबन्धे स जीयात् । ३७॥

अथ श्रृङ्गार—धृते पाणिद्वन्द्वे झटिति झनित रत्नवलय
हृते नीवीग्रन्थौ मुखरितममन्द रसनया ।
प्रियाया स्वानन्दप्रतिहतधिय किन्त्वपघनो
घनोत्तृष्ण कृष्ण प्रति समतनोत्तर्जनमिव ॥३८॥

यथा वा—मृदुस्पन्द लीलाकरकिशलयोत्कम्पमुदयत्
प्रसूनेषु क्रीडाविवशमुदितालि व्रजसुखम् ।

तथाघासुरस्य गर्भे प्रविष्ट श्रीकृष्णा बीभत्सरसविशिष्ट । तुरासाहि इन्द्रे कुपितवति सति रौद्ररसविशिष्ट, निजमहसि स्वतेजसि विस्मयरसवान्, तथा च यदा दर्पणे स्वकान्ति पश्यति, तदा तस्य महान् विस्मयो जायत इति भाव । शमी शान्तरसविशिष्ट, ॥३७॥

धृते—इति । श्रीकृष्णस्य स्पर्शाज्जातो य आनन्दस्तस्मात् प्रतिहतधियो विगतबोधाया अर्थात् आनन्दमूर्छिताया राधाया अपघनो देह एव सम्भोगे घनतृष्ण कृष्ण निवारयितु तर्जनमिव समतनोत्, तस्यास्तर्जनेऽसामर्थ्येऽपि तत् परिजनरूपो देह एव श्रीकृष्ण तर्जतेत्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु सा आनन्दवशेन वाम्यादिकमपि कर्त्तुं न शशाकेत्युत्प्रेक्षालङ्कारगम्यो वस्तुध्वनि । तर्जनमेवाह—श्रीकृष्णेन तस्या पाणिद्वन्द्वे धृते सति रत्नवलयैर्झटिति झनितम् । तथा च रत्नवलयाना झङ्कारशब्देनव हस्तरूपो देह श्रीकृष्ण तर्ज ॥३८॥

श्रीकृष्ण सवरसात्मक हैं, उसका उदाहरण प्रदर्शित हो रहा है—जो राधिकाके प्रति श्रृङ्गार रसशाली हैं, सखागण अघासुर के विष नल से दग्ध होने पर उन सबके प्रति सकरुण है, उस असुरके उदरमे प्रवेश के समय बीभत्स रसमय हैं । व्रज कुलबाला के वस्त्र हरण समयमे हास्यरस परायण हैं दुर्नीत दैत्यदलन मे वीररसाश्रयी हैं, कुपित सुरपति के प्रति रौद्ररसावतार हैं, हैयङ्गवीन हरण मे भीति विह्वल हैं, निज तेज दर्शन कर विस्मय निमग्न हैं, दामब धन मे शान्तिरस सम्पन्न हैं, उन भगवान् वासुदेव की जय हो ॥३७॥

श्रृङ्गाररस का दृष्टान्त—करयुगल धारण करने से तत्क्षणात् रत्नवलय समूह झन झन कर उठे थे, कटिस्थित वस्त्रग्रन्थि धृत होनेसे मेखला अनल्प शब्द करने लगी । प्रियतमा की बोधशक्ति निज आनन्दातिशय्य से अभिभूत होने से भी तदीय कलेवर मानो घनतृष्णातुर श्रीकृष्ण को निवारण करनेके निमित्त तर्जन करने लगा ॥३८॥

उदाहरणान्तर—श्रीकृष्ण, वसन्तकालीन अनिल के समान राधिका के अङ्ग सेवन करने लगे ।

अमन्दी कुर्वाण किमपि कलकण्ठध्वनिकला
सिषेवे राधाङ्ग हरिरथ वसन्तानिलमिव ॥३९॥

चित्तस्य क्षणमात्रनिवृ॑ति कृते तस्या मुख चित्रित
सद्य पद्ममभूत्तत परमहो पूर्णेन्दुरङ्कोज्झित ।
आनन्दामृतमण्डल पुनरभूद्धिङ् मा ततोऽभूद्विष
तत् पश्चाद् यदभून्न तद्वत सखे मत्सविदो गोचर ॥४०॥

मुग्धा सुधाशुकिरणे, जालगते भवनदाहचकिताक्षी ।
आदातुमवधिलेख, प्रविशति भवन निवार्य्य सहयान्ती ॥

यथा वेति। हरी राधाया अङ्ग सिषेवे। यथा 'महाप्रसादान्न सिषेवे' इत्युक्ते महाप्रसादस्य भोजनमेव सेवेति बुध्यते, तथवानप्यङ्गस्य सम्भोग एव सेवेति ज्ञेयम्। अङ्ग कीदृशम्? वसन्त-कालस्यानिलमिव। साधर्म्यमाह—तत सम्भोगसमये मृदुस्पन्दनमिति वसन्तकालीनानिलमपि मृदुस्पन्दम्, निवारण लीलया करकिशलयस्योत्कम्पो यत्र। अनिल पक्षे, लीलाकर कौतुककर किशलयस्य नवीन-पल्लवस्योत्कम्पो यत्र, उदितमालि व्रजाना सखीसमूहाना सुख यत्र। पक्षे, अलि व्रजाना भ्रमरसमूहाना कालो मधुरा स्फुट । नेति नेति कण्ठध्वनिस्तस्य कला वैदग्धीम्। किमप्यनिवचनीय यथा स्यात्तथा अमन्दी कुर्वाण सर्वोत्कृष्ट कुर्वाणम्, पक्षे, कलकण्ठ कोकिल ॥३९॥

अथ माथुरविरहेण अत्यन्तव्याकुलताया राधाया गवाक्ष द्वारा गृहमध्ये प्रविष्टश्चन्द्रकिरणान् दाहकत्वादग्नित्वेन जानत्यास्तस्याश्चेष्टमाह। चन्द्रकिरणस्याग्नित्वेन ज्ञाना मुग्धा। भ्रमरमुद्दिश्य राधयोक्तम्—(भा० १०।४७।१२) 'मधुप कितव ब धो" इत्यादि पद्यमुद्धवमुखाच्छ्रुत्वा व्याकुलेन श्रीकृष्णेन

वसन्त समीरण, जिस प्रकार मृदु स्पन्दशील है, राधिका के अङ्ग भी उस प्रकार मृदु स्पन्दनशील हुआ। वसन्तसमीर जिस प्रकार लीलाकर एव करकिशलय का कम्पजनक है, राधिका का अङ्ग भी उस प्रकार लीलाकृत करकिशलय कम्पन का कारण हुआ।

उक्तविध समीरण जिस प्रकार विकसित कुसुम निकरमे क्रीडाविकाश मे विवश हुआ। उभय को ही उदितालि व्रजसुख अर्थात् वसन्तानिल के स्पर्श से अलि व्रजमे—सुखोदय होता है, अर्थात् भ्रमर निकर जिस प्रकार सुखी होते हैं, श्रीराधा की अङ्गसेवा को देखकर अलिव्रज अर्थात् सखीसमूह मे उस प्रकार सुखोदय हुआ, एव वसन्तपवन जिस प्रकार कलकण्ठ अर्थात् कोकिल की मधुर ध्वनि का उत्कर्ष कारण होता है, राधिका का सेवित अङ्ग भी उस प्रकार तदीय मधुरा स्फुट कण्ठध्वनि की अपूर्व विदग्धता का कारण हुआ ॥३९॥

चन्द्रकिरण गवाक्ष पथमे प्रविष्ट होनेसे विरहकातरा मुग्धा राधिका उसको अग्निशिखा मानकर उसके द्वारा भवन दाह की शङ्का कर चकित नयनसे इधर उधर, इतस्तत दृष्टि निक्षेप करने लगीं। ततपश्चात् उनको स्मरण हुआ कि—उद्धवके मुखसे तदीय विरहदशा को सुनकर श्रीकृष्ण जो अवधिपत्र प्रेषण किये थे—वह पत्र भवनके मध्यमे रह गया है। सहसा उनके सहित गमनोद्यत सखीगण को निषेध करके स्वय गृहमध्य मे प्रविष्ट हो गई ।

एषु पूर्वौ सम्भोगे, परौ विप्रलम्भे। सर्वत्र रति स्थायी, स चोभयनिष्ठ। अन्योन्यमालम्बनम्, उद्दीपनम्—अन्योन्यलावण्यादि, विजनस्थानादि च, अनुभाव—करग्रहणादि व्यभिचारी—श्रमजडतादि। विप्रलम्भे च रतिरेव स्थायी स च उभयनिष्ठ। विप्रकर्षेऽपि रतेस्तथैव स्वत सिद्धत्वात्। आलम्बन पूर्ववत्, उद्दीपन—विप्रकर्षोऽन्योन्यदुखानुभवश्चन्द्र चन्दन-पवनादिश्च, अनुभाव चित्रलेखादि, व्यभिचारी—विषाददन्यादि। उभयोरेव आनन्दधर्मत्वाद्रसत्वम्। आनन्दस्यात्मधमत्वादात्मनश्च वहिरिन्द्रियापेक्षित्वमात्रत्वाभावात् स्फूर्त्तिपर एवानन्द।

एनेन शृङ्गारो द्विविध, सम्भोगो विप्रलम्भश्चेति। आद्य परस्परावलोकनाधरपानचुम्बन नखदशनक्षतादिप्रभूतप्रभेदोऽपि एक एव गण्यते। अपरस्त्वभिलाष विरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चधा। लोक एव शापहेतुक। तेनालौकिकश्चतुर्विध।

अभिलाषः पूर्वरागस्तस्यावस्थादशास्मृताः ॥

अभिलाषश्चिन्तनञ्च स्मृतिश्च गुणकीर्त्तनम्।
उद्वेगश्च प्रलापोश्चोन्मादश्च व्याधिरष्टम।
जडता नवमी ज्ञेया मरण दशम स्मृतम् ॥

तस्या प्राणरक्षार्थं काचिदवधिपत्री प्रेषितेति ज्ञेयम्। जीवन हेतुभूता सा पत्री गृहमध्ये आसीत्। तस्या आनयनार्थं सा भवन प्रविशति। सहयान्ती सखीनिवार्यत्यनेन पत्र्यानयनार्थं मद्गृहस्य दाहो भवति चेद् भवतु, सखीना दाहो मास्त्विति तस्या अभिप्राय।

आद्य सम्भोगो नखक्षतद तक्षतादिप्रचुरभेदविशिष्टोऽपि सम्भोगरूपसामान्यधर्मेणैक एव गण्यते। अपरस्त्वत्यत्र पञ्चविध ना मध्ये लोके शापहेतुक-कथनाच्चतुर्थेति शेष। अत्र तु भेदविवक्षया सम्भोग विप्रलम्भयो कियन्त प्रकारा दश्यन्ते परन्तु "प्रागरागत क्रमान् मान प्रमवचित्त्य दूरत। प्राय सक्षिप्त

उदाहरण चतुष्टय के मध्यमे प्रथम दो सम्भोग का उदाहरण हैं, एव शेष दो विप्रलम्भ का उदाहरण हैं। सर्वत्र रति स्थायी है, वह उभयनिष्ठ है। उभय ही परस्पर आलम्बन परस्पर के लावण्यादि एव विजन स्थानादि उद्दीपन हैं। हस्त ग्रहणादि अनुभाव हैं, श्रम जडतादि व्यभिचारी है। विप्रलम्भमे भी रति स्थायी है, एव वह उभयनिष्ठ है। कारण—उभयके सान्निध्यमे भी रति उस प्रकार स्वत सिद्ध भावमे स्थित है। आलम्बन पूववत् है। असान्निध्य परस्पर दुखानुभव चन्द्र चन्दन पवनादि उद्दीपन, चित्र लेखनादि—अनुभाव है। उभय का ही आनन्दधमता हेतु रसत्व सिद्ध हुआ है। आनन्द आत्मधम है, एव आत्मा भी बाह्येन्द्रिय की अपेक्षा नही रखती है। सुतरा इस स्थलमे आनन्द शब्द स्फूर्त्ति अर्थमे ही व्यवहृत होता है।

इस रीति से सम्भाग एवं विप्रलम्भ भेदसे शृङ्गार द्विविध है। उसके मध्यमे प्रथम—परस्पर अवलोकन, अधरपान, चुम्बन, नख द तक्षतादिरूप मे अनेक भेदविशिष्ट होने पर भी एक माना जाता है।

विरहन्तु भावी भवन् भूतश्चेति त्रिधा ॥४१-४३॥

ईर्ष्या शब्दोऽत्र मानपर, स च द्वेधा।

ईर्ष्या प्रणयसम्भूतो द्वेधा मान प्रकीर्त्यते।
अन्यासक्ते प्रियतमे ईर्ष्यामानो भवेत् स्त्रिया ॥४४॥

यदुक्तम् (साहित्यदर्पणे ३।२०३)—

"द्वयो प्रणयमान स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि।
प्रेम्ण कुटिलगामित्वात् कोपो य कारण विना ॥"४५॥

तथा च,—"नदीनाञ्च वधूनाञ्च भुजगानाञ्च सर्वदा।
प्रेम्णामपि गतिर्वक्रा कारण तत्र नेष्यते ॥

भूतविरहेण सह प्रवासस्यावान्तरभेदो यथोदाहरण स्फुटो भविष्यति। तथोभयोरेव सम्भोग विप्रलम्भयो परस्परावलोकनाधरपानाद्यभिलाषादीना क्रमेणोदाहरणानि। ४६॥

सङ्कीणसम्पन्नमितो विदु ॥" इत्याद्युज्ज्वलनीलमणौ विप्रलम्भसम्भोगयोश्चतुर्भेद उक्त्वा पुन प्रत्येकमष्टधा। एव विप्रलम्भो द्वात्रिंशत्, सम्भोगश्च द्वात्रिंशत्। समुदायश्चतु षष्टि ॥४१ ४३॥

स च मानो ईर्ष्या द्वेधा भवति—एक ईर्ष्यासम्भूत, द्वितीय प्रणयसम्भूत ॥४४॥

ननु कान्तस्याप्यपराधो माने कारणम्, प्रणयकालेऽपराधस्य सम्भावनापि नास्ति, कुतो मानप्रवृत्ति ? तत्राह—द्वयोरिति। द्वयो कान्ताकान्तयोमहति प्रमोदेऽपि कारण विनापि प्रणयमान स्यात् ॥४५॥

प्रेम्ण कुटिलगामित्वे प्राचीनानामुदाहरणमाह— तथा चेति। यथोदाहरणमिति उदाहरणे—इत्यथ ॥४६॥

द्वितीय—अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास एव शाप इन पञ्चकारणो से उत्पन्न होकर पञ्चविध होते हैं। शाप हेतु विप्रलम्भ लोकप्रसिद्ध है, एव अलौकिक विप्रलम्भ चतुर्विध हैं। अभिलाष शब्दके द्वारा पूवराग एव उसकी दश प्रकार अवस्था सूचित हुई है। अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीत्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि जडता एव मृत्यु। भावी, भूत एव वत्तमान भेदसे विरह त्रिविध हैं ॥४१-४३॥

यहा ईर्ष्या शब्द मान का बोधक है। उक्त मान द्विविध हैं। ईर्ष्या सम्भूत एव प्रणयसम्भूत। प्रियतम अ य कान्त मे आसक्त होने पर स्त्रीमे ईर्ष्या मान होता है, एव प्रणयी प्रणयिनी का सुमहत् प्रमोद विद्यमान होने पर भी प्रेम की कुटिल गति हेतु अकारण ही जो मान उद्भूत होता है, उसको प्रणय मान कहते हैं ॥४४॥

पूर्वाचाय कहते है—प्रणयी एव प्रणयिनी का सुमहत् प्रमोद विद्यमान होने पर भी प्रेम की कुटिल गति के कारण, अकारण ही जो मान होता है, वह प्रणय-मान है ॥४५॥

पूर्वाचायवृन्द कहते है—नदीसमूह, वधूवृन्द एव भुजगसमूह तथा प्रेमकी गति सवदा ही वक्र होती है, अत उस विषय मे कारण अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं होती है।

भूत विरह के सहित प्रवास का अवा तर जो भेद है उद हरण स्थल उसका स्पष्टीकरण होगा।

तत्र परस्परावलोकन यथा—

एहीति पृष्ठगसखी क्षणकैतवेन व्यावृत्य यो मयि तथा निहित कटाक्ष ।
प्रत्यस्त्रवन्मम कटाक्षमवाप्य शान्तोऽप्यन्तर्विभेद स निकृत्तशराद्धवन्मे ।।४७।।

अपि च—तस्या सखीभिरपि वीक्ष्य सुजातमन्तर्भावोदय कमपि चञ्चललोचनान्तै ।
धन्यो भवानिति कृता मम सम्मुखीभिरिन्दीवरच्छदमयी मयि पुष्पवृष्टि ।।४८।।

परस्पराधरपान यथा—

पा अ अदि पिबदि चासस, पेयसि ललिदे कहिं सीति ।
सान्दाणन्दविणिद्दिदराधास्वप्राइद जयदि ।
(पाययति पिबति चास्य प्रेयसि ललिते क्व गतासीति ।
सान्द्रान दविनिद्रित, राधा स्वप्रायित जयति ।।)४९।।

एहीति पृष्ठस्थित सख दशनमिषेण मयि निहितो य कटाक्ष, स प्रत्यस्त्रवत् मत्कटाक्ष प्राप्य शा तोऽपि ममा त करण विभेद । तत्र दृष्टा तमाह—निकृत्तेति । शल्यसहित शरस्य वेधे तथा पीडा न जायते, यथा कृत्तच्छिन्ना योऽद्धशरस्तस्य वेधे—इत्यथ । साग्रामिकाणामनुभवसिद्धमेव ।।४७।।

कमपि सखायमुद्दिश्य श्रीकृष्णस्योक्तिरियमिति बोध्यम् । यथा तस्या कटाक्षशरेणाह विद्धस्तथा मत्कटाक्षशरेणापि विद्धायास्तस्या कमप्य तर्भावोदय वीक्ष्य तस्या सखीभिरपि ध यो भवानित्यथबोधकस्तत एव मदाश्वासनपरस्तासा चञ्चललोचन न्त करणमयि नीलकमलदलमयी पुष्पवृष्टि कृता ।।४८।।

राधाया स्वप्रायित जयति । निद्रादशायामसङ्गतसङ्गतनानाथबोधकशब्दोच्चारणमेव स्वप्रायितम्, तदेवाह—हे ललिते प्रयसि ! श्रीकृष्णे स्वीयास्य मा पाययति सति ममास्य स्वय पिबति सति त्व क्व गतासीति स्वप्रायितम् ।।४९।।

सम्प्रति सम्भोग एव विप्रलम्भ उभय स्थलमे ही परस्पर अवलोकन अधरपानादि एव अभिलाष प्रभृति का उदाहरण क्रमश प्रदर्शित होगा ।।४६।।

परस्पर अवलोकन का चित्रण—पश्चात् वर्त्तिनी सखी को देखनेके छलसे 'आओ' कहकर मुह फेरकर प्रियतमाने मेरे प्रति जो कटाक्ष निक्षेप किया, वह प्रतिपक्षके अस्त्र के समान वह मेरा कटाक्ष को प्राप्त कर शान्त होने पर भी छिन्नाद्ध शर के तुल्य मेरा हृदयको विद्ध कर वत्तमान है ।।४७।।

भिन्न उदाहरण—मदीय कटाक्ष शर से विद्ध उस प्रियतमा के अन्त करण मे अनिवचनीय भावोदय को निरीक्षण कर मेरे सम्मखस्थित तदीय सखीमण्डली भी 'आप ध य है' इस प्रकार अभिप्राय का सूचित कर लोचनप्रान्त के द्वारा मेरे ऊपर नीलोत्पल पत्रमयी पुष्पवृष्टि करने लगी ।।४८।।

परस्पर अधरपान का दृष्टान्त—सान्द्रानन्दातिशय से जिसका भङ्ग होता है, राधिका का उस स्वप्न दशन की जय हो, जिस स्वप्नावस्थामे कहती रहती है—अयि ललिते ! प्रियतम मुझको स्वीय मुखचन्द्र पान करा रहे हैं। स्वय भी मेरा मुखबिम्ब पान कर रहे है। इस समय तुम कहा हो ? निद्रा दशामे असङ्गतसङ्गत नानाथबोधक शब्दोच्चारण ही स्वप्नायित है। उक्त कथन ही इस प्रकार स्वप्नायित है ।।४९।।

यथा वा—अर्द्धाकुट्मलितानिमेष नयन निष्पन्दतार किय
द्दीर्घश्वासमलक्ष्यकण्ठनिनद सानन्दतन्द्रायिता ।
कृष्णे पाययति स्वकीयमधर प्रागेव पीताधरे
किञ्चित्त्व ललिते पिबेति किमपि स्वप्नायते राधिका ।।५०।।

परस्परचुम्बन यथा—अङ्काङ्कि स्खलन करकरि मन सवाद सवेदन
कर्णाकर्णि वृथा कथासु युगपच्चुम्बा शत गण्डयो ।
स्कन्धास्कन्धि भुजौ मुखामुखि मुहुर्माध्वीक पानक्रमो
राधामाधवयोर्मधौ मधुमदक्रीडा जरीजृम्भते ।।५१।।

परस्परनखक्षतादि यथा—

जाताङ्कुराणि किममुन्यनुरागवीजान्युप्तानि नूनमुरसोरुभयोरुभाभ्याम् ।
आर्द्राणि कोमलतराण्यरुणानि भुग्ना,-न्याभान्ति पश्य ललिते नखलक्ष्मणानि । ५२।।

अर्द्धेति । प्राक् प्रथम पीतो मदीयाधरो येन तथाभूते श्रीकृष्णे स्वकीयाधर मा पाययति सति । हे ललिते ! त्वमपि किञ्चित् पिबेति किमपि स्वप्नायते राधिका । 'स्वप्नायते' इत्यत्र क्रियाविशेषणा याह—नेत्राद्धं व्याप्या कुटमलिते ईषन्मुद्रिते, एव निमेषरहिते नयने यत्र तद्यथा स्यात् । कियन्तो दीर्घा श्वासा यत्र, अलक्ष्योऽस्पष्ट कण्ठनिनदो यत्र ।।५०।।

मधौ वस ते राधामाधवयोवसन्तकालीनमदेन जाता या क्रीडा सा जरीजम्भ्यते, अतिशयेन प्रकाशते । क्रीडामेवाह—तयो स्खलनम्, अङ्काङ्कि अङ्केन अङ्केन निवृत्तम् ।

तथा च मधुमदेन राधिकाया अङ्के श्रीकृष्ण पतति, श्रीकृष्णस्याङ्के राधा पततीत्यथ । मनस सवादोऽभिप्रायस्तस्य सवेदन ज्ञानम् । कराकरि कराभ्या कराभ्या निवृत्तम्, तथा च श्रीकृष्णस्य हस्तौद्धत्यादेव तस्य मनोऽभिप्रायो राधिकया ज्ञात , एव राधाया अपीति ज्ञेयम् । कर्णाभ्या कर्णाभ्या निवृत्तासु वृथाकथासु सतीषु परस्परगण्डयो शतसख्यक चुम्बनम् । भुजौ स्कन्धास्कन्धि, तथा च तयोर्भुजौ परस्परस्क धे निक्षिप्तावित्यथ । मधुपानाधक्रम , मुखामुखि मुखेन मुखेन निवृत्तम् ।।५१।।

अपर उदाहरण—प्रथमत श्रीकृष्ण, राधिका का अधर पान करके स्वकीय अधर पान उनको कराना आरम्भ करने पर उनको आनन्दतन्द्रा का आवेश हुआ । नेत्राद्धभाग ईषत् मुकुलित हुआ, नयन निमेष रहित हुआ, तारका निष्पन्द हो गई । कतिपय दीर्घश्वास नि सृत हुआ, कण्ठस्वर भी अव्यक्त हुआ । इस अवस्थामे स्वप्नदर्शन कर आप बोल उठी—अयि ललिते ! तुम भी किञ्चित् पान करो ।।५०।।

परस्पर चुम्बन का उदाहरण—वसन्त समयमे राधा माधव की मधुमद हेतु क्रीडा परम उत्कर्ष मण्डित हुई । उस समय परस्पर के क्रीडामे परस्पर स्खलित होने लगे, परस्परके करस्पर्श से परस्पर का मनोभाव ज्ञात होने लगा, कर्णाकर्णिरूप से अप्रयोजनीय कथा के अ लाप मे भी गण्डदेशमे एक समयमे शत सख्यक चुम्बन चलने लगे, परस्पर के भुजयुगल परस्पर के स्क ध देशमे निक्षिप्त होने लगे, उभयके मुखमे उभयके माध्वीक प्रदान पूर्वक पान काय आरम्भ हुआ ।।५१।।

परस्परदशनक्षत यथा—

माध्वीकाचमनोत्सवे कुतुकिनोरन्योन्यदन्तच्छदा
वन्योन्येन कृतोपदंशरचनौ श्रीराधिका कृष्णयो. ।
क्षुण्णौ च द्विजकुटनलैरभवतामक्षुण्णलक्ष्मीभरौ
पीतौ चारुणितौ बभूवतुरहो प्रेम्णो विचित्रा गति. ॥५३॥

नीवीमोक्षो यथा—निर्यातायां त्वयि विरमितो मालया रत्नदीप,
कृष्णे चोल क्षपयति मया स्वस्तिक सन्निबद्ध. ।
नीवीग्रन्थि हरति सहसा सहतोरुपविष्ट
बुध्यैवाह सखि समधिका वल्लभस्ते बलेन ॥५४॥

तयो परस्पर नखक्षतानि परस्परानुरागरूपवीजस्याङ्कुरत्वेनोत्प्रेक्षन्ते । जाताङ्कुरेति—आर्द्राणि स्निग्धानि, भुग्नानि किञ्चिद्वक्रीभूतानि वल्लीनामङ्कुराण्यपि उत्पत्तिकाले भुग्नानीति ज्ञेयम् ॥५२॥

माध्वीकेति । वृक्षकोटरेभ्यो नि सृतात्य तमादको रसो माध्वीकस्तस्य पानोत्सवे कुतुकिनो राधाकृष्णयोरन्यो योष्ठाधरौ । कथम्भूतौ ? अ योन्येन कृता मधुपानस्योपदशरचना यत्र तथाभूतौ । मत्तजनमादकवस्तुपानानन्तर किमपि भृष्टवस्तु भुज्यते, तस्यैव सज्ञा उपदश , लोके 'नकुल' इति तस्य प्रसिद्धि । अस्यान्तु परस्पराधरपानमेवोपदशत्वेन रचितम् । द्विजरूपकुटनल क्षुण्णावभवताम्, तथापि तावोष्ठाधरौ, अहो आश्चर्यम्, अक्षुण्णशोभाभरौ बभूवतु । एवमुभाभ्या पीतावपि परस्पराधरौ अरुणित बभूवत ॥५३॥

हे सखि ! त्वयि कुञ्जगृहान्निर्गतायां सत्यामेकाकिन्या मया स्वरक्षकान्धकार-निर्माणार्थं रत्नप्रदीपो मालया विरमित आच्छन्नीकृत , तदपि बलात्कारेण मम कञ्चुलीं श्रीकृष्णे क्षपयति सति कुचद्वयाच्छादनार्थं हस्ताभ्या मया स्वस्तिक सम्यङ्निबद्ध , नीविग्रन्थि हरति सति सहतोरु यथास्यात्तथा मयोपविष्टमुरुद्वय मिलितीकृत्योपवेशनन्च परिधेयवस्त्रकार्यमपि कृतमित्यर्थ । अतएव ते तव वल्लभ प्रिय श्रीकृष्णो

परस्पर नखक्षत का दृष्टान्त—अयि ललिते ! देखो, यह आर्द्र, सुकोमल, सुलोहित, वक्राकार नखचिह्न समूह कैसे सुन्दर शोभित हैं । प्रतीत होता है—उभय ही उभय के वक्षस्थलमे जो अनुरागवीज वपन किये हैं, अधुना वह अङ्कुरित हुआ । परस्पर के नखक्षत समूह की उत्प्रेक्षा परस्परानुरागरूप वीजका अङ्कुररूप मे की गई ॥५२॥

परस्पर दन्तक्षत का दृष्टान्त—मधुपानरूप महोत्सवमें कौतुहलशाली श्रीराधा कृष्ण के अधरोष्ठ परस्पर के द्वारा मधुपान के उपदश (नकुल अर्थात् चाट) वस्तुरूपमे विहित हुये । तब उक्त अधरोष्ठ परस्पर कत्त क द तमुकुल द्वारा सन्दष्ट होने पर भी उसका शोभातिशय अक्षुण्ण रहा एव परस्पर के द्वारा पीत होने पर भी अरुणितरूप मे प्रकाशित हुये थे । अहो ! प्रेमकी गति कैसा विचित्र है ॥५३॥

नीवी मोक्ष का उदाहरण—कुञ्जगृह से तुम चले जानेसे मैने माला से रत्नदीप का आवृत किया । श्रीकृष्ण, कञ्चुली ग्रहण मे प्रवृत्त होने पर वक्षोजद्वय आच्छादनार्थ मैने हस्तके द्वारा स्वस्तिक रचना की, नीवी बन्धन मोचन हेतु उद्यत होने पर ऊरुद्वय को सहत करके मैने उपवेशन किया । हे सखि ! मैं बुद्धि मे अधिक हूँ, किन्तु बलमे अधिक तुम्हारा प्रिय है ॥५४॥

आदिशब्दाद् वनविहार-जलविहार मधुपानसङ्गीतादि ।

तत्र वनविहारो यथा — अर्घ्यं कुट्नलकैर्मरन्दपटलै पाद्य परागैर्मधु-
स्यन्दार्द्रैरनुलेपन किसलयै पुष्पैश्च भूषा फलै ।
नैवेद्य पवनाहतैरवयवैर्नृत्य मदालिस्वनै
र्गीत कल्पयता हरिर्वनगतो वल्लीचयेनार्चित ॥५५॥

अपि च—एकेनानिलचपलेन पत्रहस्ते, नारोत्सीत् स्तवकपयोधर परेण ।
आक्षेप न न न न नेति चञ्चलालि, भ्रूभङ्ग्या व्यधितहरिं विलोक्य वल्ली ॥५६॥
स त्रास किसलयपाणिकम्पनेन, प्रोत्साह कुसुममयेन सुस्मितेन ।
रोषञ्च भ्रमरघटाकटाक्षपातै,-रासन्ने मुरभिदि वीरुधोऽभ्यनषु ॥५७॥
सीमन्तोपरिबन्धुजीवकुसुम सिन्दूरविन्दूकृत
चित्रैर्नव्यदलैर्व्यधायि मकरी गण्डे नखाग्रक्षत ।

बलेन अधिक, न तु बुद्ध्या, बलेनाधिक इति पदेन बलस्यात्र बुद्धिप्रभावो न तिष्ठतीति यद् भवितव्य तद्भूतमिति ध्वनि ॥५४॥

एत करण पाद्यादिक कल्पयता लतासमूहेन श्रीकृष्णोऽर्चित । एतदेवाह—कुटनलक पुष्पस्तवकै, मधुक्षरणेनार्द्रं परागं पुष्परजोभिरनुलेपनम् ॥५५॥

वल्लीरूपा नायिका सम्भोगोन्मुख नायकमिव हरिं चञ्चलभ्रमरस्वरूपया प्रणयकोपव्यञ्जकभ्रूभङ्ग्या विलोक्य स्तवकरूप स्तनमरौत्सीत् रुद्धमकरोत् ॥५६॥

अधुना वल्लीरूपनायिकाया श्रीकृष्णदर्शनेन जातमनेकेषा व्यभिचारिणा भावशाबल्यमाह—स त्रासमिति । श्रीकृष्णे आसन्ने सति वीरुधो वल्यो वाम्य व्यञ्जक स त्रास पल्लवरूपपाणिकम्पेनाभ्यानषु, सन्त्रासाभिनय चक्रुरित्यथ । एव पुष्परूपस्मितेनाभिलाषव्यञ्जकमुत्साहमभ्यनैषु ॥५७॥

पहले (४७) 'परस्परावलोकनाधरपानाद्यभिलाषादीना क्रमेणोदाहरणानि' कहा गया है — उसमे जो आदि शब्द प्रयोग हुआ है, उससे वनविहार जलविहार मधुपान एव सङ्गीतादि को भी जानना होगा। उसमे से वनविहार का उदाहरण यह है—

वल्लीवृ द—मुकुल के द्वारा अर्घ्य, मकरन्द द्वारा पाद्य, मधुधारा सिक्त पराग द्वारा अनुलेपन, पुष्प एव पल्लवद्वारा भूषण, फल क द्वारा नवेद्य, पवनाहत अवयव के द्वारा नृत्य, मदमत्त भ्रमर ध्वनिके द्वारा सङ्गीत कल्पना पूवक वनमध्यगत श्रीकृष्ण की अचना करती हैं ॥५५॥

उदाहरणान्तर—किसी एक नायिकाने पवनान्दोलित एक पल्लवरूप हस्त के द्वारा स्तवकरूप पयोधर को निरोध किया, एव सुचञ्चल भ्रमरावलीरूप भ्रूभङ्गिके द्वारा श्रीहरि को देखकर अपर हस्तके द्वारा ना ना ना ना ना इस प्रकार अभिनय भङ्गिके सहित तदीय आलिङ्गनादि का प्रतिरोध किया ॥५६॥

मधुसूदन, समीपवर्त्ती होने पर लतामण्डली—पल्लवरूप पाणि कम्पनके द्वारा सन्त्रास, कुसुमरूप हास्य द्वारा उत्साह एव भ्रमरपङ्क्तिरूप कटाक्षपात द्वारा रोष प्रकाश किये ॥५७॥

चक्रे कञ्चुलिका पयोधरभरे नानाप्रसूनच्छद
कृष्णेन प्रणयातिरेकरभसस्तस्यामभिव्यञ्जित ॥५८॥

जलविहारो यथा— कृष्णे कर्षति कोकयुग्मकमिय दोर्भ्या व्यधात् स्वस्तिक
कण्ठे चारुमृणालमर्पयति सा बाहू दधे कुञ्चितौ ।
पद्म जिघ्रति पाणिनास्यमवृणोदित्थ जले खेलतो
रस्पर्शा सुरतिस्तयो प्रियसखीवृन्दस्य रस्या भवत् ॥५९॥

मधुपान यथा—'आलि प्रेयान् हरिरति शठ' 'कृष्ण मे सप्रसीद'
'श्यामे स त्वामभिसरति कि' 'नाथ दासी तवास्मि ।
इत्यन्योन्यप्रकृतिविकृती भावतोऽनन्वितोक्ती
राधाकृष्णौ मधुमदमुदा मोहितौ व पुनीताम् ॥६०॥

कृष्णेन तस्या राधाया त करण प्रणयातिशयवेगाऽभिव्यञ्जित । प्रणयातिशयव्यञ्जक पुष्पमण्डनमाह—माम तनि । सि दूरबिन्दुस्थानीकृत नखाग्रक्षतञ्चित्र नानावर्णदलमकरीमकर्षाकार चित्र गण्डे व्यधायि । नानापुष्पन्ल स्थूलपयोधरे कञ्चुलिका चक्रे ॥५८॥

अथ जलक्रीडाया राधाकृष्णयो स्पर्श विनव दूरे तिष्ठतो स्तयो क्रीडामाह—कृष्णे इति । स्तनस्पर्श काङ्क्षाया चक्रवाकयुग्म श्रीकृष्णे आकर्षति सतीय राधा तत्रासम्मतिव्यञ्जकस्तनाच्छादक स्वस्तिक दोर्भ्या व्यधात्, तथा च बाहुभ्या कुचयोराच्छादन चकारेत्यथ । राधिकाया हस्ताभ्या स्वकण्ठस्यालिङ्गना काङ्क्षया श्रीकृष्णे स्वकण्ठे चारुमृणालमपयति सति साऽपि तत्रासम्मतिव्यञ्जकौ कुञ्चितौ बाहू दधार । अस्पर्शास्पर्शरहिता शोभना रति सखीसमूहस्य रस्या आस्वादनीया अभवत् ॥५९॥

मधुपानजन्यान देन मोहितौ राधाकृष्णौ वो युष्मान् पुनीताम् । कथम्भूतौ तौ ? परस्पर प्रकृति विकृतिभावत स्वभावविपरीत्येनानन्विता असङ्गतोक्तियोस्तथाभूतौ । तयोरसङ्गतोक्तिमेवाह—राधाकृष्ण

सीमन्त के उपरिभाग मे बन्धूक पुष्प सिन्दूर बिन्दुरूपमे कल्पित हुआ । नखाग्राच्छन्न विचित्र किसलय के द्वारा गण्डस्थलमे मकरावली रचित हुई थी । विविध पुष्प पुष्पपल्लव द्वारा निविड पयोधर युगलमे कञ्चुलिका विहित हुई थी । फलत श्रीकृष्ण, राधिकाके प्रति स्वकीय असीम प्रणयवेग को इस रूपमे अभिव्यक्त किये थे ॥५८॥

जलविहार का वणन करते हैं—श्रीकृष्ण, चक्रवाकयुगल को आकषण करनेमे प्रवृत्त होने पर राधिकाने करद्वय के द्वारा स्वस्तिक की रचना की, श्रीकृष्ण, कण्ठमे सुकोमल मृणाल निक्षेप करने से राधिका स्वकीय भुजयुगल को कुञ्चित किये, श्रीकृष्ण करपल्लव द्वारा पद्म का अघ्राण लेने लगे तो, राधिका निज मुखमण्डल का आवृत किये । फलत उन दोनो की स्पर्शादिशून्य इस प्रकार सुरत क्रीडा प्रियसखीवृन्द के पक्षमे अतिशय रमणीय प्रतीत हुई थी ॥५९ ॥

मधपान का निदशन प्रस्तुत करते हैं—श्रीराधिका एव श्रीकृष्ण उभय ही मधुपानजनित प्रमोदसे विमोहित हुये हैं, एव स्वभावके विपयय होनेके कारण— विविध असङ्गत उक्ति करते रहते है । श्रीराधिका

यथा वा—हा कष्ट द्यौ पपतति कथ हन्त घुघूर्णते भू
रालम्बे त्वा ध-ध ध पतिता कम्पते गात्रयष्टि ।
इत्थ त्रासादधिक-ह्रसितैरक्षरैर्व्याहरन्तौ
धृत्वान्योन्य मधुमदजितौ नौमि राधामुकुन्दौ ॥६१॥

अथ विप्रलम्भ —स्वप्नाद् वा श्रवणाद्वापि चित्रादेर्वा विलोकनात् ।
साक्षादाकस्मिकाद्वापि दर्शनाद्दुर्लभे जने ॥
प्राक्तनी रतिरुद्भूता सम्प्राप्ते पूर्वमेव सा ।
पाकद्वयान्तरे पूर्वरागता प्रतिपद्यते ।

पाकद्वयान्तर इति भाव , पूर्वरागश्चेति पाकद्वयम्, तद तरे—तन्मध्ये ॥६२ ६३॥

राधिका मत्वाह—हे आलि ! राधे ! हरिरतिशठ । श्रीकृष्णोऽपि राधा श्रीकृष्ण मत्वाह—हे कृष्ण ! मे मह्य सप्रसीद । पुन श्रीराधाह—हे श्यामे राधिके ! स हरिस्त्वा किमभिसरति ? पुन श्रीकृष्ण—हे नाथ ! अह तव दासी भवामि ॥६०॥

मधुपानज यमदेन कर्त्रा जितौ । कथम्भूतौ ? त्रासात् कुत्रचिद्वाक्ये अधिकाक्षरै कुत्रचित् ह्रसिताक्षर करणैरन्योन्य धृत्वा व्याहरन्तौ । धरणीपतितेति वक्तव्ये ध धेत्यधिकाक्षरम्, रेफनीकारौ नस्त , अतो ह्रसिताक्षरम् ॥६१॥

श्रीकृष्णस्य प्राप्ते पूर्वमेव दुर्लभे श्रीकृष्णे प्राक्तनी, अवतारात् पूर्वमेव स्वभावसिद्धा, किन्तु एतै कारणरुद्भूता या रति , सा पूर्वरागता प्रतिपद्यते । भावपूर्वरागरूपपाकस्यान्तरे मध्ये, अर्थाद्द्वयमपि व्याप्येत्यथ ॥६२-६३॥

श्रीकृष्णको राधा मानकर कही थी—'अयि सखि ! प्रियतम श्रीकृष्ण अतिशय शठ है ।' श्रीकृष्ण भी राधा को कृष्ण मानकर कहने लगे—हे कृष्ण ! मेरे प्रति प्रसन्न होओ । पुनर्वार राधा, कृष्णको राधा मानकर कहने लगीं—'अयि श्यामे राधिके ! क्या श्रीकृष्ण क्या तुम्हे अभिसार करा रहे हैं ?' श्रीकृष्ण कहने लगे—'हे नाथ ! मै तुम्हारी दासी हू ।' उभय के इस प्रकार पवित्र विमुग्धभाव तुम सबको पवित्र करे ॥६०॥

उदाहरणान्तर यह है—श्रीराधा एव मुकुन्द मधुपान हेतु मत्तताके कारण उभय उभयको धारणकर कहते रहते हैं— हा कष्ट ! आकाश क्या गिर रहा है ? पृथिवी क्या घू घूमती रहती है ? मैं कम्पित शरीर से ध ध धरणी मे गिर गया हू । मै तुमको अवलम्बन कर रहा हूँ ।

मत्तता हेतु मिथ्या त्रास के कारण—कभी तो अधिकाक्षर से कभी तो अल्पाक्षर से इस प्रकार कथोपकथनकारी हरि एव हरिप्रिया को मै प्रणाम करता हूँ ॥६१॥

अन तर विप्रलम्भ का वर्णन करते हैं—स्वप्न वा श्रवण किंवा चित्रादि विलोकन अथवा आकस्मिक साक्षाद् दर्शन हेतु दुर्लभ भजन के प्रति जो ज मा तरीण रति का उद्भव होता है, सम्प्राप्ति के पूर्वमें एवं भाव तथा पूर्वराग नामक पाकद्वय के मध्यदशामे उक्त रति पूर्वराग नामसे अभिहित होता है ॥६२ ६३॥

तत्र स्वप्नद्वारा यथा—

इन्दीवरादपि सुकोमलमिन्द्रनीला,-दप्युज्ज्वल जलधरादपि मेदुर तत् ।
स्वप्न सकिं सखि महो यदहो ममेद,-मद्यापि नो नयनयो पदवी जहाति ॥६४॥

श्रवणद्वारा यथा— तमालनील किमपि त्वदुक्ताद, बिम्बोष्ठि कृष्णेति पदादुदीर्णम् ।
अन्त प्रविश्य श्रुतिवर्त्मना मे, न वेद्मि तद्धाम किमातनोति ॥६५॥

चित्रदर्शनद्वारा यथा—

व्रजभुवि किमलोकि सञ्चरन्त्या, यदिह विलिख्य पटे ममोपनीतम् ।
कुतुकिनि कुतुकेन ते समस्त, मम गतमेव हि जाति-जीवनञ्च ॥६६॥

साक्षाद्दर्शनद्वारा यथा वा—

नो वा दृष्टचरी न वा श्रुतचरी नामापि न ज्ञायते
यस्या काचन सा व्यलोकि विपिने मेघद्युतिर्देवता ।

अथ स्वप्ने श्रीकृष्णस्य दर्शन प्राप्य तद्दर्शनस्यातिचमत्कारित्वेन साक्षाद्दर्शनमेव जानती श्रीराधा सखीं प्रत्याह—हे सखि ! स किं स्वप्न ? अपि तु स्वप्नो न भवति, कि तु साक्षाद्दर्शनमेव । यद् यस्मादिद महस्तेज स्वरूप तद्वस्तु अधुनापि नेत्रपदवीं न त्यजति । तन्मह कीदृशम् ? इन्दीवरादित्यापि, मेदुर स्निग्धम् ॥६४॥

हे बिम्बौष्ठि ! त्वदुक्तात् कृष्णेति पदादुदीर्णमुद्गत तमालनील किमपि धामतेज स्वरूप ममान्त करण प्रविश्य किमपि क्षोभादिकमातनोति, तन्न वेद्मि ॥६५॥

हे कुतुकिनि ! व्रजभुवि सञ्चरन्त्या त्वया किमद्भुतमालोकि, यद्भूत वस्तु इह चित्रपटे विलिख्य ममाग्रे उपनीयताम् । तव कुतुकेनैव मम जाति जीवनञ्च समस्त गतम् ॥६६॥

यस्य श्यामलदेवताया कटाक्षोर्मयो मम सौहित्य सुख कुर्वन्ति, इति हेतो किमानन्दद्रववर्षिण ,

---

तन्मध्ये स्वप्नमे दर्शन का दृष्टान्त—इन्दीवर से भी सुकोमल, इन्द्रनीलमणि से भी समुज्ज्वल, अम्बुधर से भी स्निग्धतर वह ज्योति पुञ्ज क्या कभी स्वप्न हो सकता है ? ना सखि ! वह कभी भी स्वप्न सम्भावित नहीं है । देखो, अभी भी वह ज्योति मदीय नयनपथको परित्याग नहीं करता है ॥६४॥

श्रवण द्वारा पूर्वराग का उदाहरण—अयि बिम्बाधरे ! तुमने जो श्रीकृष्ण नामका उच्चारण किया, उस नामसे ही उदित तमालनीलवर्ण अपूर्व ज्योति श्रवणपथ से मेरा अन्त करण मे प्रविष्ट होकर कैसे एक अनिर्वचनीय भावको विस्तार कर रही है, मैं उसको किसी भी प्रकारसे समझने मे असमर्थ हूँ ॥६५॥

चित्रदर्शन द्वारा पूर्वराग—हे कौतुकशीले ! अद्भुत वस्तुको चित्रित करके तुमने जो मेरे समीपमे उपस्थित किया है, इसका दर्शन तुमने क्या व्रजपुरी मे परिभ्रमण करते करते किया ? तुम्हारे कौतुकसे मेरे जाति जीवन प्रभृति चले गये ॥६६॥

साक्षात् दर्शन का दृष्टान्त—जिसका दर्शन कभी भी नहीं किया, जिसका नाम भी पर्यन्त नहीं सुना,

आनन्दद्रववर्षिण किमथवा हालाहलोल्लसिन
सौहित्यञ्च रुजञ्च नो विदधते यस्या कटाक्षोम्मय ॥६७॥

अथास्य दशदशा, तत्राभिलाषो यथा—

सा किं निशा सखि भविष्यति सर्वदा मे, स्वाप किं सुमुखि तत्र सदैव भूयात् ।
कश्चित्तमालदलनीलतम स यस्मि,-न्नालोकि लोकरमणो रमणीयमूर्त्ति ॥६८॥

अथ चिन्तनम्—आसग्गो सिविणगओ, मम्मप् फसी मह् क्खु अणुराओ ।
पिअपरिअणो ण चउरो, जीअण तुह णत्थि जीअणोवाओ ॥६९॥

स्मृति (६४ श्लोक उदाहरणम्) 'इन्दीवरादपि' इत्यादि ।

गुणकीर्त्तनम्—धामश्यामममयात यामममधुर तल्लोचनानन्दन
कस्तूरीघनसारकुङकुमरमामोदी स गात्रानिल ।
आलाप स सुधाम्बुधेरपि तिरस्कारी बभूवाधुना
सम्मोहाय विनोदनाय मनस क्षोभाय लोभाय च ॥७०॥

अथवा मम रुज पीडा कुर्वन्तीति हालाहलोल्लसिन ॥६७॥

अद्य निशाया किं सदैव स स्वप्नो भूयात्, यस्मिन् स्वप्ने स नीलतयो मया आलोकि ॥६८॥

"आसङ्ग स्वप्नगतो, मर्मस्पर्शी महान् खल्वनुराग ।
प्रियपरिजनो न चतुरो, जीवन तव नास्ति जीवनोपाय ॥" स्वाप्निकवस्तुन शीघ्र विस्मरण भवति, अत आह—मर्मस्पर्शी विस्मर्त्तुं न शक्तास्मीत्यर्थ । कुलाङ्गनायास्तत्राभिलाष एवानुचित ? तत्राह—महाननुराग परिजनस्य चातुर्य्य चेत्तदा तेन सह सङ्गसम्भावनया जीवन रक्षितु समर्थास्मीत्यपि नास्तीत्याह—प्रियपरिजन इत्यादि ॥६९॥

तद्धामकान्तिविशेष । ननु मधुरवस्त्वपि पुन पुनरास्वादनेन गतरस भवति ? तत्राह—अयातयाम मधुरम् । 'यातयामो गतरस' इत्यमर । घनसारश्च वनम् । एतेषामामोद इव यश्चामोदस्तद्विशेष ।

आज विपिन मे नीरदकान्तिदेवता का दर्शन मैने किया । उसकी आनन्दामृत वर्षणकारिणी अथवा हालाहलोद्गीरणकारिणी कटाक्षलहरी अद्यापि एक ही समयमे मुझको तृप्ति एव पीडा प्रदान कर रही है । ६७॥

विप्रलम्भमे जो दशदशा होती हैं, उसके मध्यमे प्रथमत अभिलाष का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—हे सखि ! उस शुभ रजनी क्या सर्वदा उपस्थित होगी, और उस रजनीमे क्या उस स्वप्न सर्वदा सङ्घटित होगा ? जिस स्वप्नमे सर्वजनरञ्जन तमालश्यामल रमणीयमूर्त्ति मेरे नयन पथका अतिथि हुई थी ॥६८॥

स्वप्नमे दृष्ट वस्तु की विस्मृति आशु होती है । किन्तु यह वस्तु ऐसी अपूर्व है कि—दर्शनके समयसे ही मर्मस्थल को स्पर्श कर विद्यमान है । एव उसमे महान् अनुराग भी उत्पन्न हुआ है । प्रियपरिजनवृन्द भी इस प्रकार निपुण मतिसम्पन्न नहीं है, उन सबकी सहायता से सम्मिलन हो सके । इस प्रकार परिस्थिति मे—हे जीवन ! मै तो किसी प्रकार से ही तुम्हारे जीवनोपाय को नहीं देख रही हू ॥६९॥

अथोद्वेग —ना विद्म किमु गौरव गुरुकुले कौलिन्यरक्षा विधौ
न श्रद्धा किमु दुर्जनोक्तिगरलज्वालासु कि नो भयम् ।
उद्वेगादनवस्थित मम मन कस्यापि मेघत्विषो
यून श्रोत्रगतैर्घुणैरिव गुणैरन्त कृत जर्जरम् ॥७१॥

पूर्वरागः कृष्णस्यापि स्यात्, इत्यत पर तथैव दश्यते । तत्र प्रलाप —

उदयति शशी श्रीराधाया न तन्मुखमण्डल
स्खलति तिमिर प्राणेश्वर्या न नीलनिचोलक ।
हसति हरिता चक्र तस्या न नाम सखीगणो
भ्रमति भुवने ज्योत्स्नवास्या न देहरुचिच्छटा ॥७२॥

अधुना तत्तत् सवमेव मनस सम्मोहाद्यथमेव बभूव ॥७०॥

'नो विद्म' इत्यादौ शिरश्चालन न्ज । गुरुकुलस्य किं गौरव न विद्म ? अपि तु जानीम एव । एव कौलिन्यरक्षायामपि श्रद्धा अस्त्येव । किं कर्त्तव्यमद्वेगा मम मनोऽनवस्थित जातम् । अतस्तत्तत्करणे प्रतिबन्धक भवतीत्यथ । तस्मात् कस्यापि यूनो गुणैममान्त करण जजर कृतम् । घुणरिवेति घुणा. कीटविशेष, काष्ठ जजर कुवन्ति ॥७१॥

तदानीमवीदित चन्द्र राधिकामुख मत्वा हर्षो जात पश्चात्तस्मिन् वकुण्ठ दृष्ट्वा कृष्ण सखेदमाह—उदगतीति । अय राधामुखमण्डल न भवति, किं तु शशि च द्र, यतोऽधुनवोदयति । त मुखमण्डल तु सदा प्रकाशमानमेव । एवमन्धकार राधिकाया नीलवस्त्र मत्वाह—इद प्राणश्वर्या नीलवस्त्र न भवति, किन्तु तिमिरम् । यतश्चन्द्रोदयात् ह्रसति । इदन्त न तस्या सखीव, अपितु हरिता दिशा चक्रम ।

गुण कीर्त्तन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । वह जो नयनान द नित्यनूतन सुमधुर श्याम कान्ति एव कस्तुरी, घनसार एव कुङ्कुम के सौगन्धवाही, वह जो तदीय अङ्गस्पर्शि पवन का पवित्र सौरभ, सुधासमुद्र का भी मदहारी वह जो मधुरालाप, सभी सम्प्रति मदीय अन्त करण का सम्मोहन, विनोद एव क्षोभ तथा लोभ के हेतु हुये हैं ॥७०॥

गुरुकुलमे कौलिन्य रक्षा हेतु जो कितना गौरव है, उसको क्या नहीं जानती हू ? उक्त गौरवरक्षा मे क्या मेरी श्रद्धा नहीं है ? एव दुर्जन की कटूक्ति को क्या भय नहीं करती हूँ ? किन्तु क्या करूँ ? उद्वेगहेतु मेरा चित्त अस्थिर हो गया है, एव उन नीरदकान्ति नवीन युवकके गुणसमूह, घूण के समान श्रवणविवरम प्रवेश कर अन्त करण को जर्जरित कर रहे हैं ॥७१॥

श्रीकृष्णमें भी पूवरागोत्पत्ति होती है । अत उस प्रकार वणन करते हैं । उसके मध्यमे प्रथम प्रलापका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

यह जो शशधर उदित हो रहा है, यह तो श्रीराधा का मुखमण्डल नहीं है, शशि का उदयसे ये तमोसमूह स्खलित हो रहे हैं । यह तो प्राणेश्वरी का नील वसन नहीं है । ये जो हास्यमे प्रवृत्त हैं, ये सब दिङमण्डल हैं । सखीमण्डली तो नहीं हैं । और जो चतुर्दिकमे प्रसृत है, यह तो चन्द्रकी ही ज्योत्स्ना है, प्रेयसी की देहकान्ति तच्छटा तो नहीं है ॥७२॥

उन्माद —हे वासन्ति विलोकिताद्य सुमुखीराधा त्वयाऽस्मिन् वने
वातान्दोलितपल्लव करतलैर्नानीति किं भाषसे ?
यातानेन पथैव सापरिमलैस्तस्या यदन्धीकृता
स्त्वत् पुष्पेषु पतन्त्यहो न मधुपा भ्राम्यन्ति सर्वा दिश ॥७३॥

अथ व्याधि —

नो कथ्यते किमु कथाविषयो यदि स्या, न्नो गोप्यते किमु भवेद् यदि गोपनीय ।
आपच्यमान इव हृद्व्रण एष भाव, कृष्णस्य कामपि दशा भजते न विद्म ॥७४॥

जडता—त्वा स्वप्नलब्धमवलोकयितु विलिख्य, वैवर्ण्यमाप तव वर्ण विलोकनेन ।
तुलीग्रहे सति कृशाजनि तूलिकेव, चित्रोद्यताजनि हरे स्वयमेव चित्रम् ॥७५॥

यतोऽस्र चन्द्रोदयेनव ह्रसति प्रकाशते, तेषा त सवदव प्रकाश । एवमिय तस्या देहरुचिच्छटा न भवति, किन्तु ज्योत्स्नव, यतो भवनमध्य इतस्तता भ्रमति, सा तु सदकरसरूपव ॥७२॥

हे वासन्तीति । नानेतीति—मया राधिका न दृष्टेति प्रभाषसे चेत्, तदा तद्वचन मिथ्यव, किन्त्वनेनव पथा सा राधिका गता । यद्यस्मात्तस्या परिमलरन्धीकृता भ्रमरास्तत् पुष्पेषु न पतन्ति, किन्तु तस्या सुगन्धग्रहणार्थं भ्राम्यन्ति । ७३॥

यदि कश्चिदथकथाविषय स्यात्तदा किं सोऽर्थो न कथ्यते, अपितु कथ्यत एव । एव यदि गोपनीय स्यात्तदा किं न गोप्यते, अपितु गोप्यत एव । कृष्णेन तु हृदिस्थभावस्य निर्वचनासामर्थ्यात् स तावन्न कथ्यते । नवा गोप्यते, अत कृष्णस्य भाव कामप्यनिर्वचनीया दशा प्राप्नोतीति न विद्म । एष भाव कीदृश ? ईषत्-पच्यमानहृद्व्रण इव, स यथा सवरदृश्य सन्न तरे पीडा जनयति, तद्वत् ॥७४॥

वैवर्ण्यमिति । हे हरे ! त्वा विलिख्यावलोकयितु तव चित्रोपयोगिवर्णदर्शनमात्रेणव वैवर्ण्यस्वरूप-सात्त्विकविकारमाप । तदनन्तर तूलीग्रहणे सति तूलिकेव कृशाऽजनि । तदनन्तर चित्रायोद्यता सती

उन्माद का वर्णन करते हैं—अयि वासन्ति ! तुम आज इस वनमे सुमुखी राधिका को क्या देखी है ? पवन चालित पल्लवशाली करतलके द्वारा क्यो 'ना-ना' शब्द कर रही हो ? प्रिय निश्चय ही इस पथमे गया है । देखो, मधुपवृन्द तदीय अङ्ग सौरभ के आघ्राणसे अन्धीभूत होकर तुम्हारे पुष्पके ऊपर गिरते नहीं है । केवल चारो ओर घुमते रहते हैं ॥७३॥

अनन्तर व्याधि का वर्णन करते हैं—यदि कहने का कुछ विषय हो तो क्यो न कहा जाय ? अवश्य वह कथनीय है एव यदि गोपन योग्य कुछ हो तो, उसको क्यो नही कहा जायेगा ? अवश्य ही वह गोपनीय है । किन्तु श्रीकृष्ण का यह भाव किस अवस्थामे उपस्थित हुआ है, कुछभी समझने मे नहीं आता है । यह परिपाकोन्मुख हृदय व्रण के समान बाहर कुछ भी देखनेमे नही आता है, अथच भीतरमे गुरुतर पीडा उत्पन्न करता है ॥७४॥

जडता का वर्णन करते हैं—हे कृष्ण ! तुम्हारी स्वप्नदृष्ट मूर्त्तिको चित्रपटमे लिखकर वह विवर्ण हो गई । अनन्तर तूलिका ग्रहण के समय तूलिका के समान कृशा हो गई एव चित्र लिखन हेतु उद्यम करने से चित्रार्पित के समान निश्चल हो गई ॥७५॥

मरणममङ्गलत्वेन न वर्ण्यते, भङ्ग्या तु वर्ण्यते, तद्यथा—

निखिलेन्द्रिय सवर्त्ते, श्यामसुधाधाममधुरिमा वर्त्ते ।
मग्नानन्दविवर्त्ते, मातर्नातःपर वर्त्ते ।७६।

केचित्तु— नयनप्रीतिश्चिन्ता, सकल्प स्वप्नविच्छेद ।
कार्श्यं विषयनिवृत्ति, ह्रीनाश स्यादथोन्माद ॥
मूर्च्छा मृतिरिति कथिता, दश दशेमास्तु पूर्वरागस्य ।
स च ललनाया पूर्वं, पश्चान्नेतु समाख्येय ।।७७-७८।।

अथनैल कौसुम्भो, माञ्जिष्ठाख्यश्च हारिद्र ।
रागश्चतुर्विधोऽतश्चातुर्विध्येन हि प्रकृतेः ॥
अत पूर्वरागात् पाकत इत्यर्थ । नैलोनील्या रक्त ।।७९।।
नैल स एष कथितो, न कदाचिद ध्रसति शोभतेऽत्यर्थम् ।
कौसुम्भ स हि विदित, श्लथत्वमपति अशोभते पूर्वम् ।।८०।।

स्वयमेव चित्रमजनि, जडा बभूवेत्यर्थ ।।७५।।

अधुना पूर्वरागावस्थयात्य व्याकुला श्रीराधा सखीं प्रत्याह—हे मात ! सखि ! सर्वेन्द्रियाणा सवर्त्त प्रलयो यत्र तथाभूतानन्दविवर्त्ते । कथम्भूते ? श्यामसुधाधाम्न श्यामसुधामयदेहस्य माधुर्यरूप आवर्त्तो भ्रमियत्र तत्र निमग्नोऽहम्, अत पर न जीवामीत्युक्त्वा तत्क्षणे मूर्च्छिता बभूवेति भाव । 'सवर्त्त प्रलय कल्प' इत्यमर । एव सति नित्यसिद्धाना मूर्च्छापर्यन्तदशा वर्त्तते, ततोऽधिका नास्तीति ज्ञेयम् ।७६।

स्वप्नविच्छेदो निद्राक्षय । केषाञ्चिन्मते पूर्वरागस्य इमा दशदशा कथिता । स च पूर्वराग आदौ नायिकाया पश्चान्नेतुर्नायिकस्य कथित ।।७७-७८।।

इदानीं पूर्वरागवर्णनप्रसङ्ग पूर्वोक्तस्य पूर्वरागपाकाज्जातो रागस्तस्य भेदमाह—अथेति । प्रकृतेर्नायिका-नायकयो स्वभावस्य चातुर्विध्येन, यथा नीलद्रव्यस्य घर्षेण जातो वर्णको नीली उच्यते । नीलवस्त्रस्य सहस्रक्षालनेनापि नीलिमा न ह्रसति, प्रत्युत शोभते च, तथा नैलरागोऽपि ।

मरण—अमङ्गलजनक होनेके कारण साक्षात् रूपसे उसका वर्णन नहीं होता है । किन्तु परोक्ष रूपसे वर्णन होता है । उदाहरण इस प्रकार है—

अयि मात ! मैं श्यामसुधाकर के माधुरीरूप आवर्तमय अपूर्व आनन्दविवर्तमें निमग्न होनेसे मेरी निखिल इन्द्रियशक्ति विलुप्त हो गई । अनन्तर मैं तो जीवित नहीं रहूँगी, इस प्रकार कहते कहते श्रीराधा मूर्च्छिता हो गई ।।७६।।

पाकान्तर प्राप्त होकर उक्त पूर्वराग ही चतुर्विध भेद हेतु नैल, कौसुम्भ, माञ्जिष्ठ एव हारिद्र ये चतुर्विध भेद को प्राप्त करता है । जिसका ह्रास कभी भी नहीं होता है, किन्तु अतिशय शोभित होता है—उसको नैल अर्थात् नीली राग कहते हैं ।

माञ्जिष्ठ स हि य किल, नापैत्येवातिशोभतेऽजस्रम् ।
हारिद्र स तु बोध्यो, यात्यपि न च शोभते यस्तु ॥८१॥

अथ विरह —स च त्रिविध , भावी, भवन्, भूतश्चेति । तत्र भावी यथा—

यास्यामि श्व सुमुखि मथुरामागतो राजदूत ।
प्रत्यायातु कति नु घटिका ह त भावी विलम्ब ।
नो जानीम प्रकृति कठिन काय्यभावस्तथा चेत्
सार्द्धं यान्त प्रियमदसव क्वापि कार्य्ये नियोज्या ॥८२॥

भवन् यथा—

यामीति कृष्णवचने प्राणैर्विनिरुद्ध कण्ठकुहराया ।
वहिरिव भवितुमशक्त प्रत्युत्तर मन्तरेव विजुघूर्णे ॥८३॥

यथा च कौसुम्भवस्त्रस्य कौस्तुम्भराग पूव शोभते, पश्चात् क्षालनेन वर्षाकाले तु स्वत एव ह्रसति, तद्वदत्रापि कौस्तुम्भराग शोभते। माञ्जिष्ठरामस्त्वजस्रमतिशयेन शोभत इति भेदो ज्ञय । यस्तु न शोभते, शीघ्र याति च, स हारिद्ररागो ज्ञेय । तेषा मध्ये कौसुम्भो हारिद्रश्च प्राकृते, अप्राकृते तु नलमाञ्जिष्ठ' इति भेदो ज्ञेय ॥७९-८१॥

अधुना विप्रलम्भ रसस्यावा तर भेद पूवराग वर्णयित्वा क्रमप्राप्त तस्यव भेदान्तर विरह वर्णयति-अथेति । यास्यामीति । प्रत्यायातुमत्र पुन प्रत्यागमने कति घटिका व्याप्य विलम्बो भावी, राजकाय्यभार प्रकृत्या स्वभावेन कठिन ॥८२॥

भवन् वत्तमानो विरह । अधुनवाह यामीति कृष्णस्य वचने सति स्वस्थान हृदय त्यक्त्वा प्राणा कण्ठगता बभूवु । अतस्तरेव प्राणरुद्धकण्ठ कुहराया स्तस्या कण्ठरोधेनव प्रत्युत्तर वहिरिव भवितुमशक्त सदन्तर्हृदयमध्ये एव विजुघूर्णे। अत्र विरह ज यपीडया, असामर्थ्यादेव तया नोक्त प्रत्युत्तरम् । कवीश्वरेण तु प्राण कत्त क कण्ठ रोधनेनैव प्रत्युत्तर कण्ठान्न निगत मित्युत् प्रेक्षितम् ॥८३॥

एव प्रथमत सु दर शोभा धारण करके पश्चात् जो अपगत होता है—उसका नाम कौसुम्भ राग है । जो कभी भी अपगत नहीं होता है, अथच सवदा अतिशय शोभित होता है, उसका नाम माञ्जिष्ठ होता है । और जो अतिशय शोभित नहीं होता है, अथच शीघ्र अपगत होता है, उसका नाम हारिद्र है ॥७९-८१॥

भावी भवन (वत्तमान) एव अतीत भेद से विरह त्रिविध हैं । उसके मध्य मे प्रथमत भावी विरह का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

अयि सुमुखि ! राजदूत का आगमन हुआ है । आगामी कल्य मुझ को मथुरा जाना पडेगा, इस में चि ता का कारण नही है । वहा से प्रत्यागमन करने मे कुछ ही विलम्ब होगा, कितना विलम्ब होगा, वह समझने मे नही आता । राज काय्य अति कठिन है । ऐसा होने पर हे प्रियतम ! यह जा मेरा जीवन तुम्हारे साथ या रहा है—इस को भी किसी काय्य मे नियुक्त कर देना ॥८२॥

भवन् अर्थात् वत्तमान विरह का वणन करते हैं— 'तब मै जाऊँ" श्रीकृष्ण का इस प्रकार कथन

भूतो यथा—साद्धं यन्निजदैवतेन न गत दौरात्म्यमेतद्धि वो
जानीतावधिवासरञ्च गणना गम्योऽस्ति लेखासु य ।
इत्याकाय वियुक्त गोप सुदृश प्राणै समं स कथा
मेकका प्रतिवासर प्रियसखी रेखा रहो लुम्पति ।।८४।।

अथ प्रणयमान —

मानस्तिष्ठतु राधिके तव हृत रक्त मनो देहि मे
तत् केनापि हृत त्वया नहि नहि श्रद्धा परस्वेमम ।

हे गाणा ! भवद्भिर्निजदैवतेन सह मथुरा गमन समये यन्न गतम् एतदेव वो युष्माक दौरात्म्य मया क्षान्तम्, सम्प्रति तेन का तेन मन् प्राण रक्षणार्थ प्रेषिता या पत्री, तत्राद्यारभ्य त्रिशद्दिवसे त्वन्निकटे मयागन्त यमिति योऽवधिवास । वसते, स तु भित्तौ मया वीयमानासु रेखासु गणनया गम्यो भवति। अनस्त व सर यूय जानीत, ज्ञात्वा च तस्मिन् दिवसे तस्यान गमने सति भवद्भि शीघ्रमेव मद् देहाद् गन्तव्यमिति प्राण सह वियोग युक्ताया गोपसदृश कथामाकर्ण्य प्रियसखी प्रतिदिन रह एका ते आगत्य भि त्तस्यितामेकका रेखा त्रिशद् दिवसस्य सम प्त्यभावार्थं लुम्पति ।।८४।।

अथेति । मान कारणमीर्ष्यादिक विनव प्रेमण कुटिल गामित्वात् प्रणयातिरेकेणव मान इत्यथ । हे राधे ! तव मानस्तिष्ठतु ममरक्त रागविशिष्ट श्लेषेणव रागस्य रक्तत्व मारोप्य रक्त पदाथ विशिष्टञ्च मना देहि । राधाह तन्मन केनापहृतम् ? श्रीकृष्ण आह—त्वयेति । राधाह—नहीति । पुन श्रीकृष्ण आह—तवाङ्ग व्याप्य निष्ठति मम मनस्तवाङ्गे चेद् दृश्यते, तदा कि भविष्यति ? राधाह—ममाङ्गे चेद्

श्रवण मात्र से ही श्रीराधा का प्राण वायु उद्गत होकर तदीय कण्ठ कुहर को निरुद्ध किया । सुतरा प्रत्युत्तर जसे बाहर निकलने म असमथ हाकर भीतर ही घुमने लगा । ८३।।

अतीत विरह का वणन करते हैं—

वियोगिनी गोपरमणी श्रीराधा,—"निज प्र णके सहित,—इस प्रकार कथोपकथन कर रही थी- तुम सब निजेष्ट देवता के सहित नही गये, यही तुम सब का अति दौरात्म्य है, उनका जो अवधि वासर है जो भित्ति मे रेखाङ्कित होकर है, वह भी गणनागम्य हो गया है इस को भी तुम सब जानते हो, अभी तक इस प्रकार क्लेश भोग का प्रयोजन हो क्या है ? इस प्रकार विडम्बना का अवसान करने का उपाय भी तुम सब के हाथ मे ही है ।"

वियोगिनी गोपसु दरी की ये सब कथा को सुनकर तदीय प्रियसखी वृन्द शङ्कित चित्त से प्रतिदिन म एकान्त आकर भित्तिस्थित एक एक रेखा को विलुप्त कर देती थीं ।।८४।।

प्रणय मान का उदाहरण प्रस्तुत करते है—मान के कारण—ईर्ष्यादि व्यतीत प्रेम का कुटिल गामित्व प्रयुक्त प्रणय का आतिशय्यहेतु जो मान होता है, उसका प्रणयमान कहते हैं ।

श्रीकृष्ण बोले—राधिके ! तुम्हारा मान रहे इस मे आपत्ति नही है—किन्तु तुम मेरा अनुरक्त मनको मुझ को प्रत्यपण कर दो, श्रीराधा बोली, तुम्हारा अनुरक्त मन का अपहरण अपर कोई कर

अङ्गेचेत्तव दृश्यते भवतिचेन्नून त्वयैवार्पित
नीत्वा गच्छ मुखे तवास्ति यदथ रागस्तदा सङ्गज ॥८५॥

ईर्ष्यामानो यथा—सहजमरुण नेत्रद्वन्द्व तवाधर पल्लव,
सतत मुरलीनादक्रीडाविधौ तव सव्रण ।
वनविहरणे रात्रौ गात्र सकण्टकलाञ्छन,
कथमिह विना दोष जातापराध इव स्थित ॥८६॥

अथ प्रवास —भूत विरह प्रवासयो कालदेश कृत एव भेद ।
नाना कौशलत कृतानि सुहृदा वृन्देन नानन्दतो
गन्धान्यत्ति तथा कवोष्णमधिक राधे श्वसित्येव स ।

भवनि तदा त्व मनस्त्वयवार्पित त्वमेवनीत्वागच्छ । तच्छ्रुत्वा श्रीकृष्ण सहषमाह—तस्य तदङ्गस्तम स स्तदधरेण सह सदा सङ्गाज्जातो यो राग स तु मुखमध्ये अधरेऽस्ति । अतो मनोधमस्य रागस्य दर्शनेन ममनोऽपि तत्रैव वर्त्तते, सम्प्रति त्वदाज्ञयातदह गृह्णामीत्युक्त्वा तदधर पपाविति गम्भोऽर्थो बोध्य । प्रणयज य माने नायिकाया सम्मति विनापि स्पर्शे दोषो नास्तीत्यपि ज्ञेयम् ॥८५॥

सहजेति । तव नेत्र द्व द्व सहजमरुणम्, नतु तस्यास्ताम्बूल रागेण । एव तवाधर पल्लवाऽपि सतत मुरली क्रीडयव स व्रण, नतु तस्या द ताघातेन । वन विहरण एव तव गात्रे कण्टकचिह्नम्, न तु तस्या नखक्षतम् । अतो-दोष विना कथ तवापराध सम्भावनापीति नायक प्रति मानिन्या सोल्लुण्ठ वचनम् ।८६।

एतावद् दिवस पर्यन्त कान्तेन सह विच्छेदो जात, अवधिवासरे पुनरपि तेन सह मिलन भविष्यतीति काल कृत विरहो भूतविरह, मा विहाय श्रीकृष्ण दूरदेशेस्थित इति देशघटित विरह प्रवास । हे राधे ! त्वद् विरहेन व्याकुल श्रीकृष्ण सुहृदा यादवादोना वृन्देन कृतानि गन्धानि नान देनास्ति । तथा तरानीत

लिया होगा, श्रीकृष्ण बोले—तुमने ही अपहरण किया, श्रीराधा बोली,—नहीं नहीं, मैंने नही किया, परकीय वस्तु मे मेरी स्पृहा क्यो होगी ? श्रीकृष्ण बोले, परकीय वस्तु मे तुम्हारी स्पृहा नहीं है, यह तो अच्छी बात है, कि त तुम्हारे समस्त अङ्ग मे वह दृष्ट होता हे । श्रीराधा बोली—मेरे अङ्ग मे यदि वह देखने मे आता है, तो उस को तुमने ही दिया होगा । तुम उसको ले सकते हो । श्रीकृष्ण बोले—उसको क्यो नहीं लेंगे ? देखो, मेरा अनुरक्त चित्त तुम्हारे मुखबिम्ब मे सतत निवास करता है, इस हेतु उस के ससग से तुम्हारा अधर भी इतना लाल हुआ हे ॥८५॥

ईर्ष्यामान का वणन करते है—तुम्हारे नयन युगल—स्वभावत ही तो अरुणवण हैं, तुम्हारे अधर पल्लव-मुरली ध्वनि हेतु सदा ही तो सव्रण होता रहता है, वन विहार के उपलक्ष्य मे सतत ही तुम्हारा अङ्ग कण्टक से क्षत विक्षत होता रहता है । हे नाथ ! विना दोष से क्यो तुम अपराधी के समान अवस्थित हो ? ॥८६॥

प्रवास का उद हरण प्रस्तुत करते हैं—
कालकृत विरह भूत विरह, देश कृत विरह -प्रवास शब्द से कथित होता हैं ।

त्वत्पल्ली प्रतिवेशपण्य जनता-क्रय्य तु दध्यादिकं
क्रीत्वा स प्रतिपादितं प्रियजनैरश्नाति हृष्टान्तर ॥८७॥

अथ सामान्यतो वर्णितस्य विभावस्यालौकिकतया विशेषमाह। तत्रालम्बन नायको नायिकाश्च। तत्र कोऽसौ नायक, काश्च वा नायिका-इत्यपेक्षायां नायकमाह--

सर्वशुद्धरसवृन्दकन्दल, सर्वनायकघटाकिरीटग।
अत्यलौकिकगुणरलङ्कृतो, गोकुलेन्द्रतनय सुनायक ॥

सर्वशुद्ध रस वृन्दकन्दलत्व (३७ श्लोक 'शृङ्गारी राधिकायाम्' इत्यादि। सर्व नायक घटेति-सव शब्दो धूर्त्तनायक वर्जनपर। अत्यलौकिकगुणैरिति विरुद्धा

कर्वाण दुग्धादिक न भुङ्क्ते, किन्तु प्राण रक्षणार्थं यत् किञ्चिदेव, अतएव केवल श्वसित्येव जीवत्येव, न तु तस्य किञ्चिदपि सुख तत्र वर्त्तते। किन्तु तव पल्लीग्रामस्तत्रस्था या प्रतिवेश पण्य जनता क्रय विक्रयादि व्यवहारविशिष्टजनसमूह स्तेषा क्रय्य क्रये प्रसारित दध्यादिक तस्याभिप्रायज्ञ प्रिय परिजन मधुमङ्गलादिभि क्रीत्वा सम्प्रतिपादित यत्नेन संस्कृत तदेव हृष्टान्तर स अश्नाति ॥८७॥

सर्व शब्द इति। धूर्त्तनायक वर्जयित्वा या सर्व नायक घटा तस्या मुकुटमणि। यद्यपि धीरोद्धतस्य गुणा धीरशान्तस्य गुणाश्च परस्पर विरुद्धा भवन्ति, तथापि श्रीकृष्णे तेषां विरोधनास्ती। यथा श्रीकृष्ण एक सन्ननेकोऽपि भवति एव परिच्छिन्न सन् व्यापको भवति। तथैव विरुद्ध गुणाश्रय सन्नविरुद्ध

हे राधिके! श्रीकृष्ण,-तुम्हारे विरह से व्याकुल होकर सुहृद् वर्ग के विविध कौशल के द्वारा सम्पादित गव्य प्रभृति का ग्रहण आनन्द से नहीं करते हैं। पुन पुन केवल उष्णश्वास परित्याग ही करते रहते हैं। किन्तु तुम सब के पल्ली प्रतिवेशि जनगण— जो सब दध्यादि द्रव्य विक्रयार्थ हाट मे ले आते हैं, मर्मज्ञ परिजन गण, यदि उसको क्रय कर प्रदान करते हैं तो अति आनन्दचित्त से उसका भोजन करते हैं ॥८७॥

पहले सामान्य रूप से विभाव का वर्णन हुआ है, सम्प्रति अलौकिकता हेतु विभावगत विशेष जो कुछ है—उसका वर्णन करते हैं। नायक एवं नायिका-इन दोनो का नाम आलम्बनविभाव है। उक्त नायक एवं नायिका किस प्रकार लक्षणाक्रान्त होना चाहिये, इस प्रकार आकाङ्क्षा से प्रथम नायक का विवरण प्रस्तुत करते हैं।

सर्व शुद्ध रस समूह का बीज स्वरूप सर्व विधनायक मण्डली के चूडामणि स्वरूप अतिशय अलौकिक गुण समूह विभूषित गोकुलेन्द्र नन्दन ही सर्व श्रेष्ठ नायक हैं।

प्रथमोक्त विशेषण- 'सर्व शुद्ध रस वृन्द कन्दलत्व' का उदाहरण—
'जो राधिका के प्रति शृङ्गार रस शाली है" शृङ्गारी राधिकाया म्' श्लोक है।

'शृङ्गारी राधिकायां सखिषु स करुण क्ष्वेडदग्धेऽघाहे
बीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचेलचौर्य्ये प्रहासी।

विरुद्ध-नित्य चमत्कारि-गुणवान्, विरुद्धवद् भासते, नतु विरुद्ध, स विरुद्धाविरुद्ध,-एकोऽनेक, परिच्छिन्नोव्यापीत्यादिवत्, अलौकिक गुणवति लौकिक गुणा अपि ज्ञेया.।

ते यथा-

कृती कुलीन सश्रीकस्त्यागी यौवन रूपभाक्।
दक्षोऽनुरक्त उत्साही तेजोवदग्ध्यभूषित ॥८८-८९॥

सत्य शौच दया कान्तिरास्तिक्य धैर्य्यमेव च।
औदार्य्य प्रश्रय शील क्षान्ति प्रह्वोऽनहङ्कृति ॥

इत्यादयो नित्या। तत्र नायक घटेति तद्भेदानाह-

उदात्त उद्धतश्चैव प्रशान्तौ ललितस्तथा।
सर्वेऽमी धीर-शब्दाद्याश्चत्वारो नायका स्मृता ॥

गुणाश्रयोऽपि भवति। अलौकिक गुण वतीति—लोके न प्रसिद्धा ये गुणास्तद्वति श्रीकृष्णे लोक प्रसिद्ध गुणा अपिज्ञया, किन्तु लोकस्थास्ते मायिका भगवन्निष्ठा अमायिका इति भेदो ज्ञेय ॥८८-८९॥

प्रह्वो नम्रता। अमो उदात्तादयश्चत्वारो धीर शब्द आद्य आदौ येषा तथाभूता, तथा च धीरोदात्त धीरोद्धत धीरशान्तधीर ललिता इति सज्ञा भवन्तीत्यथ।

महासत्त्व—उदारचित्त, स्थेयानतिशयस्थिर, अहङ्कृतिरहङ्कारस्तेन यो झङ्कार आत्मश्लाघा बोधक शब्द प्रयोगस्तत्र नि शङ्क। उभय गुणाभ्या धीरोदात्त-धीरोद्धत गुणाभ्यां रहितो धीरशान्त।

वीरा दत्येषु रौद्रो कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन-
स्तेये भीमान् विचित्रो निज महसि शमी वामव धे स जीयात् ॥"

सर्वविध नायक मण्डली क चूडामणि स्वरूप' इस विशेषण से सर्वविध नायक शब्द से धूर्त्तनायक व्यतीत यावतीय नायक को समझना चाहिये।

'अतिशय अलौकिक गुणराशि' कहने का तात्पर्य्य यह है कि—विरुद्धाविरुद्ध अर्थात् आपातत विरुद्धवत् प्रतीत होकर भी जो वस्तुत विरुद्ध नही है, जैसे आप एक होकर भी अनेक हैं, परिच्छिन्न होकर भी सर्वव्यापी हैं। इस प्रकार अलौकिक अथ च नित्य चमत्कारि गुण राशि के द्वारा विभूषित हैं। अलौकिक गुणराशि के समान लौकिक गुण समूह भी उनमे विद्यमान है।

गुण समूह इस प्रकार है—कृतित्व, कुलीनत्व, दातत्व, स श्रीकत्व रूप यौवन शीलता, दक्षता अनुरक्तता, विदग्धता उत्साहिता एव तेजस्विता प्रभृ त लौकिक गुण है ॥८८-८९॥

सत्य, शौच, दया, कान्ति, धैर्य, आस्तिक्य, औदार्य प्रश्रय, शील, क्षान्ति नम्रता अनहङ्कार प्रभृति नायक के लौकिक नित्य गुण के मध्य मे परिगणित है।

सर्वविध नायक मण्डली का भेद इस प्रकार है—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त, धीरललित चतुर्विध नायक होते हैं। धीरोदात्त नायक का लक्षण इस प्रकार है-

आत्मश्लाघा शून्य, क्षमावान् गम्भीर प्रकृति, महासत्त्व, सुस्थिर चित्त, निगूढमान् दृढव्रत एव

धीर -शब्दाद्या इति धीरोदात्तादय इत्यर्थः । तत्र धीरोदात्तादयो यथा—

आत्मश्लाघारहित, क्षमी गम्भीरो महासत्त्व ।
धीरोदात्त स्थेयान्, निगूढमानो दृढव्रत सुवचा
आत्मश्लाघा निरतो, मायी चण्डश्च चपलश्च ।
धीरोद्धत सकथितोऽहङ्कृति झङ्कार नि शङ्क ॥९०-९३॥
उभय गुण व्यतिरिक्तो, भूयान् साधारणश्च गुणैः ।
धीरप्रशान्त सञ्ज्ञो, भवति द्विज वैश्य जातिक साधु ॥
मृदुल कला कलापो, निश्चिन्तोमधुर वैदग्ध्य ।
प्रथम रस प्रधानो, ललित कथो धीरललित स्यात् ।
सर्वेऽनुकूलदक्षिण, शठ धृष्टत्वेन षोडशधा ॥
केषाञ्चिन्मते धीर ललित स्यैवानुकूलादि भेदा, न सर्वेषाम् । ९४॥

एषां लक्षणम्— एकाश्रितोऽनुकूल, समरागो दक्षिणस्तु सर्वासु ।
शठ एकत्रैव रतो, वहिरन्यत्र प्रियोऽप्रियो मनसि ।

साधुजगद्वृत्ति साधारण गुण विशिष्ट स भूयान् धीरोदात्ता द स्वरूप तथा च ब्राह्मण वश्यादयो बहुव एव धीर शान्ता ज्ञेया ॥९०-९३॥

कलेति—रसोपयोगि चतु षष्टि कलाभिर्भूषित इत्यर्थ मधुरे शृङ्गार रसे वैदग्ध्य यस्य शृङ्गार रस एव प्रधान यस्य ॥८४॥

एषामनुकूलादीना लक्षण माह—एकामेव नायिकामाश्रितोऽनुकूल, सर्वासुनायिकासु समरागो

मधुर भाषी व्यक्ति धीरोदात्त शब्द से अभिहित होता है।

धीरोद्धत नायक का लक्षण यह है—आत्मश्लाघा निरत, मायावी, चपल, प्रचण्ड एव साहङ्कारोक्ति मे नि शङ्क चित्त व्यक्ति धीरोद्धत नाम से अभिहित होता है ॥९०-९३॥

उक्त नायक द्वय के गुणो से विभूषित नहीं है, अथ च साधारण जन सुलभ अनेक गुण जिस मे वतमान है, इस प्रकार द्विज वैश्यादि जातीय साधु प्रकृति व्यक्ति को धीर प्रशा त नायक कहते है।

सुकुमार प्रकृति, कलाकलाप निरत अर्थात् शृङ्गारोपयोगी चतु षष्टि कला समूह द्वारा विभूषित, महावैदग्ध्यशाली, निश्चि त, शृङ्गार रस प्रधान, सुललित भाषी व्यक्ति धीर ललित शब्द से अभिहित होता है। उक्त नायक वृ द—अनुकूल दक्षिण शठ एव धृष्ट भेद से चतुर्विध भेद हेतु षोडश प्रक र होते हैं। कतिपय व्यक्ति के मत मे धीरललित नायक के ही चतुर्विध भेद होते हैं अपर नायक मे उस प्रकार भेद नहीं होता है ॥८४॥

अनुकूल नायक प्रभृति का लक्षण—इस प्रकार है—

अपराद्धश्च विशङ्को, दृष्टे दोषेऽपि मिथ्यावाक् ।
तर्जन ताडनयोरपि, कृतयोर्निलज्ज एव धृष्ट स्यात् ।
षोडश विधास्त एते, पुनस्त्रिधा चोत्तमादि भेदेन ।
अष्टाधिक चत्वारिशद भेदा नायका कथिता ।।
पुनरेते स्युर्दिव्या, दिव्याऽदिव्या अदिव्याश्च ।
स चतुश्चत्वारिंशच्छतमेक तेन तद् भेदा ।।९५-९८।।

धीर प्रशान्त शठयो र्धृष्टस्य च भेद वर्जितरपरै ।
लीला वशत सर्वैरविरुद्धत्वाद् विरुद्धऽपि ।
गोकुल राजकुमार स्तेन पर सर्वनायकाधीश ।
धीरोदात्तो गुरुषु, ज्ञातिषु धीरोद्धतोविपक्षेषु ।
मायाविषु नियतमसौ, व्रजपुर्य्या धीरललित स्यात् ।
अनुकूलो राधाया, सर्वास्वपरासु दक्षिण. कथित ।
लीलावशात् कदाचन, धृष्टोऽपि शठश्च कुत्रापि ।।९९-१०१।।

दक्षिण , एकस्यामेव नायिकाया रतोऽ यत्र नायिकाया मनस्याप्रिय , वहिस्तु कपटेन प्रिय , स शठ । पुनरेते अष्टचत्वारिंशद् भेदा नायका — दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्यादि भवन्ति । तेन चतुश्चत्वारिंशता सहैकशत नायकभेदा भवन्ति ।।९५--९८।।

धीर प्रशान्त — शठ धृष्टभेदभिन्नरपरै र्धीर ललित धीरोदात्तादिभि र्भेदविशिष्टो गोकुल राजकुमार कदाचिल्लीलावशाद् विरुद्धाविरुद्ध धीर प्रशान्तादिभि सर्वैरेव भेद विशिष्टश्च भवति।

तेषा परस्पर विरोधेऽपि सति श्रीकृष्ण अविरुद्धत्वात्तेन हेतुना श्रीकृष्ण एव पर केवल सव नायका धीश । एतदेवाह गुरुषु—ज्ञातिषु च धीरोदात्त , विपक्षेषु मायाविषु च धीरोद्धत , धीर, शान्तो भक्तेषु

एकमात्र नायिका मे अनुराग शाली व्यक्ति अनुकूल नाम से एव समस्त नायिका मे समान अनुराग शाली व्यक्ति दक्षिण नाम से अभिहित होता है।

शठ नायक एक नायिका मे ही आसक्त होता है एव अन्य नायिका के प्रति आन्तरिक आसक्ति न होने पर भी कपटता पूवक प्रकाश्य मे उसके प्रति अनुराग प्रदर्शन करता है।

जो व्यक्ति अपराधाचरण करके भी शङ्काशून्य दृष्ट दोष होकर भी मिथ्या कथनशील, तर्जित एव ताडित होकर भी लज्जा हीन है उसको धृष्ट कहते है।

ये षोडशविध नायक— उत्तम, मध्यम एव अधम भेद से अष्ट चत्वारिंशत (४८) प्रकार होते हैं।

उक्त अष्ट चत्वारिंशत् भेद भी दिव्य, अदिव्य, एव दिव्य अदिव्या भेद से चतुश्चत्वारिंशता सह एकशत (१४४) एकसो चौवालीस सख्या मे परिणत होता है ।।९५-९८।।

धीर प्रशान्त-शठ धृष्ट भेद भिन्न धीर ललित धीरोदात्तादि भेद विशिष्ट गोकुल राजकुमार कदाचित्

अनुकूलादीनां क्रमेणोदाहरणानि । तत्रानुकूलो यथा—

नान्यस्या सदन प्रयाति स मया स प्रार्थ्यमानोऽपि च
प्रायो मे हृदय दुनोति ललिते तासा मनस्तापत ।
आरामे रमते ममैव सतत मद्वर्त्म स वीक्ष्यते
स्वप्नेऽपि प्रतिकूलता न गतवान् कृष्ण स तष्णो मयि ।।१०२।।

एवमेकत्ररतोऽप्यलौकिक नायकत्वाद दक्षिणोऽपि, तद् यथा—

श्यामाङ्के चरणौ कलोरुफलके शीर्षं सुरेखाङ्गुलौ
केशाश्चामरचालिका भुजतटे दृष्टि प्रियोक्तौ श्रुतिम् ।
ताम्बूलार्पणिकाकरे करपुटी कस्तूरिकोरस्युर
श्चन्द्रा वक्षसि पृष्ठमर्पयदहो निद्राति नील मह ।।१०३।।

व्रजपुर्य्यां च सदव धीरललित ।।९९ १०१।।

ममवारामे उपवने रमत। महारासा ते स्वयमेव बहुक्षण नर्त्तित्वा विश्राम कुवत श्रीकृष्णस्य वणन मिदम् ।।१०२।।

श्यामाङ्क इति पद्यम्। कला च द्रावला सखी, तस्या ऊरुप्रदेशे शीषम्। एव सुरेखा काचिद् गोपी, तस्या अङ्गुलौ कशान् समपयत् सन्नाल मह श्रीकृष्णो निद्रातीत्यन्वय । प्रिया राधिका, तस्या उक्तौ 'क्षणमत्र स्वपिहि' इति वाचि श्रुतिम्, कस्तूरिका श्रीराधाया सखी तन्निदेशवशा, अतएव तस्या वक्ष स्थले श्रीकृष्णस्य उरो वक्ष स्थलम्। अत्र दक्षिण पार्श्वे बामपार्श्वे वा सुप्तस्य श्रीकृष्णस्य पृष्ठदेश लग्ना चन्द्रावली, सम्मुखे वक्ष स्थललग्ना कस्तूरिका, शीषलग्ना कलाया ऊरुदेश एव। एव प्रकारेण शयन

लीला हेत विरुद्ध अविरुद्ध भेद विशिष्ट भी होते हैं। इस हेतु श्रीकृष्ण ही—सवनायक के अधीश्वर है।

श्रीकृष्ण,—गुरुजनगण के प्रति एव ज्ञाति वग क पति धीरोदात्त, विपक्ष एव मायावि गण के प्रति धीरोद्धत एव भक्त पक्ष मे धीरशा त, तथा व्रजपुरी के सम्बन्ध मे नित्य धीर ललित हाते हैं।

श्रीराधिका के प्रति आप अनुकूल, श्रीराधिका व्यतीत यावतीय गोपरमणी वृ द क पक्ष मे दक्षिण एव लीला हेतु कभी धष्ट कभी शठ भी होते हैं।।९९-१०१।।

अनन्तर अनुकूल प्रभृति का उदाहरण क्रमश प्रस्तुत करते हैं। उस के मध्य मे प्रथम अनुकूल का उदाहरण—सखि ललिते। श्रीकृष्ण,—मेरे प्रति इस प्रकार सतृष्ण है, कि—मै प्राथना करने पर भी वह किसी रमणी को उस के वाञ्छित विषय प्रदान नहीं करता है, उन सब की मन पीड़ा से मै सवदा दु खानुभव करती रहती हूँ। श्रीकृष्ण सतत मेरा उपवन मे ही विहार करता रहता है एव सब समय मेरा पथ निरीक्षण करके ही रहता है, स्वप्न मे भी मेरे प्रति प्रतिकूल भाव प्रकाश नहीं करता है ।।१०२।।

श्रीकृष्ण,—श्रीराधिका क प्रति आसक्त होने पर भी स्वकीय अलौकिकता वशत दक्षिण नायक के लक्षण से भी लक्षित होते हैं। उदाहरण—नी द नील कान्ति श्यामसुन्दर श्यामा के क्रोडदेश म चरण

एव दक्षिणोऽपि लीला वशात् कदाचिद धृष्टोऽपि भवति, तद् यथा—

चन्द्रावलीति कपटेन निगद्य राधा जातापराध इव सङ्कुचित सखीभि ।
सन्तर्जितोऽपि स तया श्रवणोत्पलेन, सन्ताडितोऽपि विजहास न सविभाय ॥१०४॥

एव कुत्रचिच्छठोऽपि, यथा—

एकत्रैव कृतासने निजनिजैरालीजनै कुत्रचित्
क्रीडा कुञ्ज गृहाङ्गने व्यवहितो दूरेण दृष्टवा प्रिये ।
वशी कूजित—सूचितानि निभृत चन्द्रावली लम्भयन्
सङ्केत तरसा रसादभिसरन् राधा हरि पातु व ॥१०५॥

क्रमो ज्ञेय ॥१०३॥

राधा मुद्दिश्य 'हे प्रिये च द्रावलि !" इति कपटेन निगद्य जहासैव, न त्वपराधेन कदापि भीतो बभूवेत्यथ ॥१०४॥

अथकस्मिन् कुञ्जे सखीभि सह राधा चन्द्रावल्यौ, लतादिव्यवहित श्रीकृष्णो दूरत एव दष्टवा राधा च द्रावली सखीभि वियुक्ता क्व दूरे सङ्केत कुञ्ज गत्वा मरली शब्देन चन्द्रावलीमाजुहाव । त शब्द च द्रावली एव शृणोति, ना या, तस्याचित्यप्रभावत्वात्, तच्छ्रुत्वा अतिहृष्टा च द्रावली सखीभि सहिता केनचित् मिषेण तत उत्थाय तदेव सङ्केत स्थल जगाम । तत श्रीकृष्ण सुखेन राधिकामभिससार । एतदेवाह—एकत्रेति । एकत्रैव कृतमासन याभ्याम्, एवम्भूतो प्रिये राधा च द्रावल्यौ लतादि—व्यवहित श्रीकृष्णो दूर एव दष्टवा वशीशब्देन सूचितमतिनिभृत सङ्केतस्थले चन्द्रावली लम्भयन् प्रापयन् स्वय तरसा वेगेन रसादानन्दात् राधामभिसर, वो युस्मान् पातु ॥१०५॥

हृय, ऊरु के ऊपर मस्तक, सुरेखा के अङ्गुलि तल मे केशगुच्छ चामर व्यजन कारिणी की भुजलता मे दृष्टि प्रिया राधिका के सुमधुर वचन मे श्रुति, ताम्बूल दायिनी के कर तलमे कर पुट, कस्तूरिकाके वक्ष स्थल मे वक्ष स्थल एव च द्रा के वक्ष स्थल मे पृष्ठ देश अपण पूवक निद्रित होते हैं । इस प्रकार शयन क्रम को जानना होगा ॥१०३॥

किसी किसी स्थल मे श्रीकृष्ण, धष्ट नायक की भूमिका को ग्रहण करते हैं। दृष्टान्त—

श्रीकृष्ण—कपट पूवक च द्रावली शब्द से श्रीराधा को सम्बोधन कर अपराधी के समान सङकुचित हुये थे । उस समय सखी वृ द न उनको यथेष्ट तजन किया, श्रीराधिका ने श्रवणोत्पल के द्वारा उनको ताडन किया । किन्तु इस से भी आप भीत न होकर हँसने लगे थे ॥१०४॥

इस प्रकार स्थल विशेष मे श्रीकृष्ण, शठ नायक भी होते हैं । दृष्टान्त—

राधा एव चन्द्रावली,— क्रीडा कुञ्ज गृह के अङ्गन मे निज सखी वृन्द के एकत्र आसन मे उपविष्ट है । दूर मे लतादि के व्यवधान से देखकर जिन्होने वशीध्वनि के द्वारा अतिनिभृत सङ्केत स्थल की सूचना की है, एव उस वशीरव को सुनकर चन्द्रावली आसन से उठकर उक्त सङ्केत स्थल को चले जाने पर जो आनन्द से सत्वर श्रीराधिका के अभिसरण किये थे, वह क्रीडा कुशली श्रीहरि, अकुशल से तुम सब की

अथ विभाव प्रसङ्गे नायकस्य सहाया सखाय । एव नायिकाया सख्य । तेनादौ नायकस्य सहाया उच्यन्ते ।

सहाया स्यु सहचरास्ते भवन्ति चतुर्विधा
सखायश्च प्रियसखास्तथा नमसख अपि ।
प्रियनर्म सखाश्चान्ये तेषु दूतस्त्रिधा मत ।
निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा सन्देशहारक
द्वयोरिङ्गित मादाय स्वय मुत्तर दायक
सुश्लिष्ट कुरुते कार्यं निसष्टाथ स उच्यते ।
प्रमित वक्ति कायस्य चान्त याति मितार्थक
यथोक्तमेव वदति य स सन्देश हारक ॥१०६-१०८॥
एव दूत्योऽपि यथोदाहरिष्यन्ते ।

तेषु स'खषु मध्ये प्रियनम्म सखा एव दूता ना ये । ते दूता स्त्रिधा भ न्ति । निसष्टा दत्तोऽथ काय्यभ।रा यस्म, तथा चावाभ्या किमपि न वक्तव्यम्, आवयोर्मिलन यथा भवति, तथव त्वया बुद्धचा कत्तव्यमिति वि यम्त काय्यभारोनिसष्टाथ इत्यथ ।

प्रमित—ताभ्या यद् यदुक्त तदेव परिमित वक्ति, कि तु द्वयोर्मिलनरूप कार्य्यस्यान्त सीमान याति प्राप्नोति, तथा च काय्यमवश्य करोतीत्यथ । ताभ्या यथोक्त तथैवोभयो निकटे गत्वा वदति । कार्य्य भवतु मा भवतु वेति कोऽपि भारस्तस्मिन्नास्तीति स देश हारक । यथा पुरुषा दूतास्तथा स्त्रियोऽ प दूत्य स न्ति । उदाहरणे तासा दूत्य व्यक्तो भविष्यतीत्यथ ॥१०६-१०९॥

रक्षा करें ॥१०५॥

विभाव वणन के प्रसङ्ग मे नायक के सहाय स्वरूप सखा एव नायिका की सहायिका सखी वृ द का वणन करते हैं—

उसके मध्य मे न यक के सहायक का वणन करते है । सहचर व्यक्ति को सहाय कहते हैं । वह सहाय – प्रियसखा, नम्मसखा एव प्रियनम्मसखा भेद से चतुर्विध होते हैं । काय्य विशेष मे प्रियनम्म सखा को दूत कहते हैं । उक्त दूत, निसृष्टाथ, अमिताथ, एव सन्देश हारक भेद से त्रिविध होते हैं । उभय पक्ष के इङ्गित का समझकर जो व्यक्ति स्वय उत्तर प्रदान करता है–एव कत्तव्य बुद्धिसे काय्य निर्वाह करता है —उसका नाम निसृष्टाथ है ।

जो व्यक्ति - परिमित वाक्य कहता है, अथ च जिसका काय्य भी असमाप्त नही रहता है, उसका नाम अमिताथ है ।

जो जो बात कही जाती है, जा व्यक्ति के ल उसी को कहकर निवृत्त होता है, उसको स देश हारक कहते हैं । इस रीति से दूती भी त्रिविध होती है । उदाहरण मे उन सब का दौत्य काय्य वर्णित होगा ॥१०६-१०९॥

अथ नायकानामुक्त नियत सामा य गुणादतिरिक्ता सत्त्वजा गुणा उच्यन्ते—

शोभा विलासो माधुर्य्यं गाम्भीर्य्यं धय्य तेजसी।
औदार्य्यं ललितञ्चेति गुणा अष्टैव सात्त्विका ।
शौर्य्य दाक्ष्यञ्च सत्त्वञ्च महोत्साहोऽनुरक्तता।
घृणानीचेऽधिके श्रद्धा सा शोभा मिलितोच्यते ॥११० -१११॥

यथा— शौर्य्यं शत्रुषु दाक्ष्यमात्म कुहके सत्य भुवो धू क्षये
रागो गोकुल मध्य वर्त्तिषु महोत्साहो गिरेर्धारणे।
श्रद्धेय पितृ—मातृ बन्धुषु हरे शोभैव ते सवथा।
नीचे मय्यघृणेति केवलमसावेकाङ्ग हीना भवत् ॥११२ ११३॥

रम्य वेश विभूषाद्यै विलास शिल्प कौशलम् ॥

तच्च स्व विषयमन्य विषयञ्च, यथा —

क्वचिद् गुञ्जा धातु स्तवक दल वह प्रभृतिभि-
र्वनेऽनल्पाकल्पै प्रणयिसखिभि भू षिततनु ।

सत्त्वजा इति शुद्ध सत्त्वाच्चित्ताज्जाता इत्यथ । मिलितेति—शौर्य्यादिय परस्पर मिलिता स त एकाधिकरणे वर्त्तते चेत्तदा शाभोच्यते इत्यथ ॥११० १११॥

आत्म कुहके, इति—रासारम्भे गोपीभि सह प्रेमपरीक्षार्थं स्वकृत कपटे दाक्ष्य सम्यक्तया क्षिप्र कारित्वमित्यथ । भुव पथिव्या भारक्षये हे हरे! मयि नाचे तवाघृणा अकृपा, अतस्तव शोभा एकाङ्ग हीना अभवत् ॥११२ ११३॥

अनल्पा कल्प गु ञ्जाद्यनक भूषाभि । एषा सखीना तरेवाकल्पर्वेशान् तनुते । कथम्भूतान् ? ततोऽवि

नायिक वृ दो के अवश्यम्भावी जो सब साधारण गुण कहे गये है,—तदतिरिक्त सात्त्विक गुण समूह का उल्लेख यहा पर हो रहा है। शोभा, विलास, माधुर्य्य, गाम्भीर्य्य, धय्य, तेज , औदार्य्य, एव ललित ये आठ सात्त्विक गुण हैं ।

शूरता, दक्षता, अनुरक्तता, सत्य, महोत्साह एव हीन के प्रति कृपा एव पूज्य के प्रति श्रद्धा, इन सब गुणो का एकत्र सम्मिलन होने से शोभा होती है ॥११० १११॥

उदाहरण—हे कृष्ण! विपक्ष के प्रति शूरता, स्वकीय कुहक मे दक्षता, भूभार हरण मे सत्य सन्धता, गोकुल वासियो के प्रति अनुराग, गिरि धारण मे महोत्साह, पितमातृ, ब धुजन के प्रति श्रद्धा-इत्यादि रीति से आप मे जो अपूव शोभा विद्यमान है, वह एकमात्र इसी कारण स एक अङ्ग हीन हो गयी है कि मेरे तुल्य नीच जनके प्रति आप की अघृणा है अर्थात् कृपा नहीं है ॥११२ ११३॥

रमणीय वेशभूषादि के द्वारा जो शिल्प कौशल है, उसको विलास कहते हैं। यह विलास स्वविषयक एव अन्य विषयक होता है। उदाहरण—

स्वयञ्चैषां वेषानतिकुतुकत शिल्प कुशल -
स्ततोऽप्युच्चश्चित्रान् हरि रहह तैरेव तनुते ॥११४॥

अन्य विषयेऽन्यदपि-

गुञ्जा शिखण्ड--गिरिधातु दल प्रसूनै राधा विभूष्यमुरलीञ्च करे निधाप्य ।
पीताम्बरञ्च परिवेष्टच हरि प्रसीद, हे कृष्ण मय्यनुगते कृपयेत्यवादीत् ॥

सक्षोभेऽपि निरुद्वेगभावो माधुर्य्यमिष्यते--इति केचित् । केचित्तु (साहित्यदर्पणे ३-१०६) "सर्वावस्था विशेषेषु माधुर्य्यं रमणीयता" इति ॥११५॥

वस्तुतस्तु--- येन केनापि वेशेन माधुर्य्यं रमणीयता ॥११६॥

यथा— कचे वर्होत्तंसो वपुषि गिरिधातु किसलय
श्रुतौ गुञ्जादाम स्तवकितलताखण्ड मुरसि ।

पत्नोकृत वेश।न्प्युच्चश्चित्रानत्यद्भुतान् ॥११४॥

अथान्य विषय—स्वविषययोरेकस्मिन् पक्षे उदाहरणमुक्त्वा केवलान्यविषयेऽप्युदाहरणमाह—अ यति । श्रीकृष्ण एव, श्रीकृष्णवेश धारिणीं राधिका श्रीकृष्ण रूपेण सम्बोध्य हे कृष्ण ! मय्यनुगते कृपया प्रसीदेत्यवादीत् । गिरिधात गरिक । सर्वावस्थासु रमणीयता -माधुर्य्यम् ॥११५॥

स्वमतमाह- वस्तुत इति ॥११६॥

उरसि- वक्ष स्थले गुञ्जादाम । एव स्तवकयुक्तलताखण्डञ्च । अस्मिन् श्रीकृष्णे तद्वस्तु न

कानन मे गुञ्जा, गौरिक स्तवक, पल्लव एव मयूर पुच्छ प्रभृति भूषण के द्वारा प्रणयास्पद सुहृद् गण कर्तृ क विभूषिताङ्ग होकर शिल्प कुशली श्रीकृष्ण–अतिकुतूहल से उक्त सुहृद गणको उससे भी उत्कृत रूप से उक्त भूषण समूह क द्वारा विभूषित किये थे । अर्थात् सखावृन्द के द्वारा वेश विन्यास से भी उत्तम रूपसे आपने उन सब को विभूषित किये थे ॥११४॥

केवल अन्य विषयक विलास का दृष्टान्त—गुञ्जा, गौरिक धातु, मयूर पुच्छ,पल्लव एव पुष्प के द्वारा राधिका को भूषित करके तदीय कर तल मे मुरली धारण कराकर एव अङ्ग मे पीत वसन परिधान कराकर श्यामसुन्दर हरि उनको कहे थे—हे कृष्ण ! कृपा करके इस अनुगत जन के प्रति प्रसन्न होओ ।

सक्षोभ समय मे भी जो निरुद्वेगभाव कतिपय व्यक्ति उसको ही माधुर्य्य कहते हैं । अपर व्यक्ति कहते है—समस्त अवस्था मे जो रमणीयता है -वही माधुर्य्य है ॥११५॥

वास्तविक जिस किसी वेश म अवस्थित होने पर भी जो अपूर्व रमणीयता प्रकाशित होती है इसी को ही माधुर्य्य कहा जा सकता है ॥११६॥

उदाहरण—हे मुग्हर ! तुम्हारे केश समूह मे शिखिपुच्छ, अङ्ग मे गरिकधातु, श्रुति युगल मे नव पल्लव, वक्ष स्थल मे गुञ्जाहार एव स्तवक शोभित लताखण्ड है, इस से कैसी अपूर्व शोभा हुई है । कहा र नमय अलङ्कार और कहा यह व य देश ? हे नाथ ! इस जगत् मे ऐसी कोई वस्तु देखने मे नहीं आती

क्व रत्नालङकारा क्व वनचर वेशो मुरहरे
न तत् पश्याम्यस्मिन् यदति मधुरत्व न लभते ॥११७॥

भी शोक क्रोध हर्षाद्यै र्गाम्भीर्यमविकारिता ॥
यथा—(७४ श्लोक) 'नो कथ्यते किमु कथाविषयो यदि स्यात्' इत्यादि ।
स्व भावादप्रतिच्यावो धैर्य्य शोके महत्यपि ॥११८ -११९॥

यथा— किमेषा तापिञ्छद्रुमलतिकया मद्भुजधिया,
स्वकण्ठ तन्वङ्गी शिव शिव दृढ पीडितवती ।
स्थिता या कालिन्दी पयसि मम वक्ष स्थलधिये
त्यमुष्यैते तर्का परमहह जीर्य्यन्त हृदये ॥१२०॥

अवक्षेपावमानादे प्रयुक्तस्य परेण यत् ।
निर्वापक भवेत्तेज,

पश्यामि, यदतिमधुरत्व न लभते ॥११७॥

श्रीकृष्णस्य पूव राग प्रसङ्गेन नो कथ्यते इति पद्यमुक्तम्, तत्रैव गाम्भीर्य्यस्यादाहरण ज्ञेयम् । महत्यपि शोके स्वभावादप्रतिच्यावोऽचलन धैर्य्यम् ॥११८ ११९॥

माथर विरहे अत्यन्त व्याकुला श्रीराधिका स्मृत्वा स्वयमपि व्याकुल श्रीकृष्ण स्वमतमाह— किमेषेति । एषा मद्भुज बुद्धया तमालवृक्षस्य शाखया स्वकण्ठ पीडितवती, अथवा, मद्वक्ष स्थल धिया कालिन्दी जले स्थितेति नाना वितर्का अमुष्य श्रीकृष्णस्य हृदये जीर्णा भवन्ति, नतु बहि कोऽपि विकार प्रकटो भवनीतिभाव ॥१२०॥

है, जा तुम्हारे अङ्ग मे स्थान प्राप्तकर अति रमणीयता मण्डित नहीं होती ॥११७॥

भय, शाक, क्रोध, हर्षादि मे जो अविकार भाव है, उसको गाम्भीर्य्य कहते हैं । उदाहरण—
"नो कथ्यते किमुकथा विषयोयदिस्यान्नो गोप्यते किमुभवेद् यदि गोपनीय ।
अपव्ययमान इव हृद् व्रण एष भाव , कृष्णस्य कामपि दशामभजते न विद्म ॥"
यदि कहने का हो तो क्यो नहीं कहा जा सकता है । अवश्य ही वह कथनीय है, इत्यादि उदाहरण है । गुरुतर शोक उपस्थित होने पर भी स्वभाव से विचलित न होने का नाम धैर्य्य है ॥११८--११९॥

उदाहरण—हाय ! कृशाङ्गी राधिका, मदीय भुजभ्रम मे तमाल तरुकी शाखा को आलिङ्गन कर क्या स्वकीय कण्ठ को निपीडित कर रही है अथवा, मेरा वक्ष स्थल है, इस भ्रम से सुनील यमुना सलिल मे सम्प्रति अवस्थान कर रही है, इस प्रकार विविध तर्क तरङ्ग, श्रीकृष्ण के अन्त करण मे उदित होकर अन्त करण मे ही विलीन हो जाती हैं, बाहर के लोक-तदीय मर्म पीडा को कुछ भी जानने मे समर्थ नहीं है । अर्थात् तर्क समूह श्रीकृष्ण के हृदय मे उत्थित होकर हृदय मे ही विलीन हो जाते थे, बाहर कुछ भी विकार प्रकट नही होता था ॥१२०॥

यथा— मदान्धेनेन्द्रेण स्वमखविधि भङ्गव्यसनिना,
महावृष्टि सृष्टा व्रजनगरनाशायकलयन् ।
गिरीन्द्रं श्रीकृष्ण करकिशलयाग्रेण मृदुना,
सलील बिभ्राणो व्रजमवितवास्तञ्च जितवान् ॥१२१--१२२॥

दान प्रश्रय भाषणम् ।
अमित्रेषु च मित्रेषु साम्यमौदार्य्यमिष्यते ॥१२३॥

साम्यन्तु फलगतम् यथा—
आपीय पूतनाया, सहचर जननी गणस्य च स्तन्यम् ।
सदय सममेव ददौ, जननीत्व य स एव व पायात् ॥१२४॥
वाग् वेशयो मधुरता शृङ्गारे ललित तु तत् ॥१२५॥

परेण शत्रुणा कृतस्याक्षपमानादे प्रतीकार बिनव स्वत एव निर्वापकजनक यद् भवति तत्तेज, स्वस्य मखभङ्गाज्जात व्यसन श्रीकृष्णे कटूक्त्यादिक यस्य तेन सृष्टा वृष्टि पश्यन् ॥१२१ १२२॥

अमित्रमित्रयोर्दान प्रश्रयभाषण साम्यमौदार्य्यम् ॥१२३॥

साम्यमिति—अमित्र मित्रयारक फल दातृत्वाशेनव भगवत साम्यम्, न तु स्नेहाद्य शेनेति ज्ञयम् । सदय श्रीकृष्णो ब्रह्म मोहन प्रसङ्गे व्रजवासिनी समूहस्य च स्तन्यमापीय ॥१२४॥

शृङ्गार रसे वाग वेषयोर्मधुरता तदेव ललितम् ॥१२५॥

शत्रु कत्त क अधिक्षप, अवमानादि अनुष्ठित होने से जिस से उसका शा त किया जाता है, उसका नाम तेज है। उदाहरण यह है—

मदान्ध देवराज इन्द्र—स्वकीय यज्ञ विधि भङ्ग हाने पर व्यसन ग्रस्त होकर व्रजपुरी विनाश हेतु महावृष्टि का अनुष्ठान मे प्रवृत्त हुये थे। यह देखकर करुणामय श्रीकृष्ण —सुकोमल कर किसलय के अग्र भाग क द्वारा अवलील क्रम से गोवर्द्धन गिरि को धारण कर व्रज पुरी की रक्षा किये थे, एव शत्रु को पराजित किये थे ॥१२१ १२२॥

मित्र एव अमित्र उभय के प्रति दान, प्रश्रय भाषण, एव साम्य को औदार्य्य कहते हैं। यहा मित्र अमित्र- उभय क पक्ष मे एक प्रकार फल लाभ ही साम्य है ॥१२३॥

शत्रु मित्र उभय को एक प्रकार फल प्रदान करना ही यहाँ पर समता है, किन्तु स्नेहादि अश मे किन्तु समता नहीं है।

उदाहरण—जिन्होने सहचर जननीवृन्द को एव पूतना के स्तन्य पान करके सदय अ त करण से उभय का युगपत् जननीत्व प्रद न किया है, ब्रह्म मोहन प्रसङ्ग मे श्रीकृष्ण, सदय होकर व्रज वासिनी समूह के स्त य पान किये थे। वह भगवान् मधुसूदन तुम सब की रक्षा करें।॥१२४॥

शृङ्गार रस मे वाक्य एव वेश की जा मधुरता है- उसको ललित कहते है ॥१२५॥

यथा— विपिन लतादल कुसुमैं विभूष्य राधा हरि प्र ह।
त्वं सुमुखि ! कृष्ण पक्ष प्रणयवती कुञ्जदेवता कापि ॥१२६॥

अथान्येऽप्यस्य च तद व्यतिरिक्त ऊह्या । तत्रदिगदशनम्—
मुरली विनोद--विद्या, हृद्या सङ्गीत भङ्गिरनवद्या।
अविक्रमखिलकलाकुल, मविराम रास लास्यमभिरामम् ॥१२७॥

अथ नायिका भेदा —

तत्र "परोढा गणिकाञ्चापि वर्जयित्वात्र नायिका" इति परोढा-गणिकयो साधारण्येन रसाभास परत्वमेवेति प्रवादो लौकिक एव, अलौकिके तु श्रीकृष्णाधिकरणकत्वे स्तदेक मात्र निष्ठत्वान्न रसाभास, 'अनौचित्य प्रवर्त्तिता आभासा' इति तदभावात् प्रत्युत औचित्यमेव। तेन परकीयाऽवान्तर भेद प्राप्त परोढात्वमङ्गीकृत्य नायिका भेदानाह—

वन्य लतादिभि सामान्य वस्तुभि रिति। वेश मधुरता, माधुर्य्य लक्षणे तथयाक्तत्वात् । हे सुमुखि राधे ! श्रीकृष्णस्य मम पक्षे प्रणयवती, देवतापक्षे जनदत्तम् कृष्ण पक्षे, हव्य कव्यादिक भुङ्क्ते । अत्र श्रीकृष्ण पक्षे प्रणयवती भवतीति वाङ मधुरता ॥१२६॥

अस्य श्रीकृष्णस्य पूर्वोक्ताष्ट गुण व्यतिरिक्ता गुणा ऊह्या । अविराम निर तरमखिल वास्तु शिल्पनै पुण्यादि कलाकुलमविकल वकल्य रहितम्, अभिराम मनोज्ञाम् ॥१२७॥

अनौचित्येन नरक सम्पादकत्व—पारिमित्यादि दोषेण प्राकृते प्रवर्त्तिता रसा आभास भवन्तीत्यथ । पारिमित्यन्तु स्त्रिया सम्पूर्णाग्रह समये पुरुषस्यासामथ्य रूपम्।

उदाहरण—श्रीहरि,—वन्य लता एव पुष्प पल्लव के द्वारा श्रीराधिका को विभूषित करके कहे थे- अयि सुमुखि ! तुम कृष्ण पक्ष मे प्रणय शालिनी अपूव एक कुञ्ज देवता हो अर्थात् देवता वृन्द जिस प्रकार कृष्ण पक्ष मे हव्यादि भोजन करते रहते है, इस हेतु उस पक्ष मे ही उन सब की अधिक प्रीति होती है ॥१२६॥

श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त अष्टविध गुण के अतिरक्त जो गुण समूह हैं, सुधीगण स्थानान्तर मे दृष्टान्त अनुसन्धान करें। एक श्लोक मे उसका दिङमात्र उदाहरण प्रस्तत करत हैं।

भगवान् के गुण समूह—क्या गणना के आयत्त मे हैं। उनकी मुरली विनोद लीला भी कितना हृद्य है। सङ्गीत भङ्गी भी किस प्रकार अनवद्य है। निखिल कला कलाप कितने हृदय वेद्य हैं। निखिल कला कलाप भी किस प्रकार विकलता शून्य हैं। और अविराम उस रास नृत्य भी किस प्रकार रमणीयता पूर्ण है ॥१२७॥

अनन्तर नायिका भेद का वर्णन करते है—उसके मध्यमे 'पराढा एव गणिका व्यतीत रमणीगण नायिकाके मध्यमे ग्रहणीय है। इस वाक्य के द्वारा परोढा एव गणिका की साधारणता हेतु जो रसाभास परता प्रतिपादित होती है वह लौकिक स्थल मे है। अलौकिक स्थल मे अन्य प्रकार नियम है। श्रीकृष्ण

स्वकीया परकीयेति नायिकादौ द्विधा मता ।
ऊढानूढेति च पुन परकीया भवेद् द्विधा ।।
मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वकीया तु त्रिधा भवेत् ।
मध्या—पगल्भयोर्भेदा षड धीरादि प्रभेदत ।।
धीरा, अधीरा, धीराधीरा–इति भेदास्त्रय ।
कनिष्ठ -ज्येष्ठरूपत्वात्तयो द्वादशधा मतम् ।।

तयो षट् प्रकारयोमध्या–प्रगल्भयो कनिष्ठ ज्येष्ठत्व श्रीकृष्ण प्रेमतारतम्येनव, न तु वयसा । मुग्धाया एक रूपत्वेनानयो द्वादशत्वेन ।।१२८--१३०।।

तेन त्रयोदश स्वीया पराढ़ा स्यादलौकिके ।
त्रयोदश विधा साऽपि,

लोके पूर्वं परोढा न गण्यते, तेन स्वीया भेद एव त्रयोदश विधोगणित , परकीया तु कन्या रूपतया एक विधं व गण्यता । यतोऽलौकिके परोढापि समन्यते, तत साऽपि त्रयोदश विधेत्यथ । तेन मिलित्वेत्यथ ।

श्रीकृष्णे तु त्वनन्त कोटि गापीभि सह विहारेऽपि सम्पूर्ण सामर्थ्यम् । अतस्तासामेवपर भव न तु कृष्णस्य । अनाऽत्र सम्पूर्ण रस एव, अतएव कृष्णे तदभावादीश्वरत्वेनानौचित्य दोषाभावात् । परोढात्वमिति अप्राकृते परोढारमण्यामपि रसमङ्गीकृत्येत्यथ मुग्धाया एकरूपत्वमेव, अतो मध्या प्रगल्भयारेव धीरादिभेदत षड भेदा उच्य ते । अनयोमध्या प्रगलभयो ।।१२८-१३०।।

तेनेति—स्वकीयायास्त्रयोदश भेदै सह मिलित्वा षड विंशतिर्भेदा उक्ता । अभिसारिका वासक सज्जेत्यवस्थाभिरष्टोत्तरशतद्वयी । परोढाभिन्ना कन्या कनाप्यविवाहिता । तस्या भेदचतुष्टयमाह

विषयक रति की तन्मात्र निष्ठुता हेतु कभी भी रसाभास नहीं हो सकता है । कारण,—रस, अनौचित्य प्रवर्त्तित होने से ही आभास होता है । यहा पर उसका सम्पूण अभाव है । कि तु अलौकिक स्थल मे परकीया का औचित्य ही स्थापित हुआ है । अतएव परोढा को परकीया का ही अवा तर भेद मानकर नायिका भेद का वणन करते हैं ।

स्वकीया एव परकीया भेद से नायिका दा प्रकार हैं । स्वकीया भी मुग्धा मध्या प्रगल्भा भेद से तीन प्रकार हैं । धारा अधीरा, एव धीराधीरा भेद से मुग्धा एव पगलभा षड विध हैं । मध्या ऐव प्रगलभा के उक्त षड विध भेद कनिष्ठ एव ज्येष्ठरूपता हेतु द्वादश भेद होते है । उक्त कनिष्ठत्व एव ज्येष्ठत्व श्रीकृष्ण क प्रेम तारतम्य से हाता है, वयस के भेद से किन्तु नहीं होता है । इस रीति से उक्त उभय के द्व दश एव मुग्धा का एक—मिलकर स्वकीया के त्रयोदशभेद होते हैं ।।१२८ १३०।।

परोढा भी अलौकिक स्थल मे नायिका के मध्य मे गणित होने से उसक उस प्रकार त्रयोदश भेद को लेकर षड विंशति भेद हात हैं । अभिसारिका एव वासक सज्जादि अष्टविध अवस्था भेद से दो सौ

नेन षड् विंशति भेदा ॥

अवस्थाभि रथाष्टाभिरष्टोत्तर शतद्वयी ॥

कन्या ज्येष्ठकनिष्ठत्वान्मृदुमध्य मृदुत्वत ।

चतुर्भेदास्ततस्तासा स द्वादशशतद्वयी ॥

अत्युत्तमप्रकृत्यादितया ता स्यु पुनस्त्रिधा

षट त्रिशत् सहिता तेन षट्शती नायिका भेदा ।

अत्युत्तमा, उत्तमा, मध्यमा—इति त्रैधम् ।

तत्र सिद्धा सुसिद्धाश्च नित्य सिद्धा इति त्रिधा ।

स्त्रियोऽवतीर्णास्तेन स्युवसुशून्यग्रहेन्दव (१९०८)

सिद्धा मुनिरूपा, साधनसिद्धाश्च, सुसिद्धा श्रुतिरूपा देव्यश्च,

नित्यसिद्धा राधाद्या रुक्मिण्याद्याश्च स्वभावसिद्धा ॥

अथैतासामादितो लक्षणानि—

स्वकीया तु कृतोद्वाहा पित्र्याद्यै स्वयमर्पिता ॥

या तु यूढ्वापि गोपेन लोकधर्मानपेक्षिणी

कृष्णैकताना रागेण परोढा व्रज एव सा ॥१३१-१३८॥

क येनि । ज्येष्ठा कनिष्ठा च, अत्य तमृद्वी मध्यमृद्वी च, नायिका भेदाना षट् त्रिशत् सहिता षटशती भवति । नित्यसिद्धा इत्यस्य व्याख्या स्वभावसिद्धा । एता स्त्रियो गोकुलेऽवतीर्णा तेन पूर्वोक्त सख्याया स्त्रीगुणीकृतेन वसुशून्य ग्रहेन्दवो नायिका भेदा भवन्ति ॥१३१-१३८॥

आठ भेद होते है । ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अत्य त मृदु एव मध्य मृदु रूप कन्या के चतुर्भेद को लेकर २१२ दो सो बारह भेद होते हैं ।

अत्युत्तम, उत्तम, एव मध्यम प्रकृति भेद से ६३६ छैसो छत्तीस सख्या होती है । उस मे भी सिद्ध, सुसिद्ध एव नित्यसिद्ध भेद त्रय विशिष्ट जो सब नायिका गोकुल मे अवतीर्ण हुई थीं, तद्गत उक्त भेदत्रय को लेकर नायिका के १९०८ एक सहस्रनवशत अष्ट भेद होते हैं ।

मुनिरूपा एव साधन सिद्धा नायिका वृन्द सिद्धा शब्द से उल्लिखित हैं । श्रुति रूपा नायिका एव देवपत्नी वृन्द—सुसिद्धा है, एव राधिका रुक्मिणी प्रभृति स्वभावसिद्धनायिका नित्यसिद्धा हैं ।

प्रथम से इन सबो का लक्षण वर्णन करते हैं--पित्रादि स्वय जिस को अर्पण करते हैं, तादृशी कृतोद्वाहा नायिका का नाम- स्वकीया है ।

गोप कर्त्तृक परिणीता होकर भी जो लोक धर्म की अपेक्षा न करके अनुराग हेतु कृष्णकतान चित्त हुई थीं वे ही व्रज मण्डल मे परोढा शब्द से उल्लिखित हैं ॥१३१-१३८॥

पित्रादि दानात् प्रागेव पित्रादेरप्यसम्मतौ ।
यातानुरागा या कन्या सा भैष्मी कुण्डिने यथा ॥
पितृ भ्रात्रादि सङ्कोचात् स्वधार्ष्ट्यादिभयादपि ।
गूढा यस्या रति र्गाढा सवथा सुरसायते ॥१३९-१४०॥
कात्यायनी व्रतपरा सा कन्या सवदा व्रजे ।
एव विधैव कविभि परकीयैव वण्यते ।
परपाणिग्रहीता तु कृष्ण एव हि शोभते ।
नैकान्यनायके यस्मात्तस्मान्नान्यत्र सा किल ॥१४१-१४२॥

अथ मुग्धादेलक्षणम्—

अभिनवविकसितयौवनमदनविकारा मृदुर्माने ।
वार्त्तायामपि सुरते, पराङमुखी सत्रपा मुग्धा ॥१४३॥

तत्र नव यौवन यथा—

पदो पारिप्लव्य नयनमहरन्मध्यगुरुता
स्तनश्रोणी मन्दच धिय इव ह्रियो वाग् व्यवसिति ।

कुण्डिने कुण्डिन पुरे, भष्मी रुक्मिणी । व्रजस्थकात्यायनीव्रतपराणा कन्यकाना स्वरूपमाह पितृ भ्रात्रेति । सष्ठु रसायत इति परोढानामिव रसोत्कर्ष हेतुभूतस्य पित्रादि कृत- निवारणदुर्लभता प्रच्छन्नकामत्वादे सत्वाद् गोपा तरेण सह विवाहाभावेऽपि नक्षति ॥१३९- १४२॥

अभिनवौनौ विकसितयौवनमदनविकारौ यस्या ॥१४३॥

अथ बाल्ये सवत्र स्वच्छ द गमनागमनेन पदद्वयस्य चाञ्चल्यमासीत् । नेत्रद्वयस्य कन्दप विकार रूप

पित्रादि कत्त क सम्प्रदान के पूव मे जो पिता प्रभृति की असम्मति स भी प्रणय पात्र मे अनुरागिणी होती है, तादश नायिका क या नाम से अभिहिता है ।

कुण्डित पुरमे रुक्मिणो देवी इसका उदाहरण हैं पिता, भ्राता, प्रभृति के निकट सङ्कोच हतु एव निज धष्टता प्रकाश जनित भय हेतु जो गूढ भाव से गाढ रति परायणा होती है, वे सवथा रसा वहा हैं । कात्यायनी व्रत परायणा उस प्रकार नायिका व्रज मे कन्या नाम से अभिहित है ।

पण्डित वृन्द—इस प्रकार परकीया का वणन करत हैं । परपाणि ग्रहीत्री नायिका श्रीकृष्ण के पक्ष मे ही शोभित है । अपर नायक मे नहीं । इस हतु अन्यत्र परोढा रमणी नायिका के मध्य गम्य नही होती है ॥१४१ १४२॥

अनन्तर मुग्धाविका लक्षण वणन करते हैं – जिस का यौवन अभिनव विकसित हे मदन विकार भी अभिनव समुदित है, जिस की लज्जा प्रिय सखी है, सुरत सम्ब धीय कथापकथन मे भी जो पराङमुखी है मान ग्रहण मे जो मृदु है, तादश नायिका मुग्धा नाम से अभिहिता है ॥१४३॥

शिशुत्वे राधाया विगलदधिकारे सति तनौ
किमङ्गान्यन्योऽन्य दधत इव लुण्ठाक पदवीम् ॥१४४॥

नवमदन विकारा यथा—

कटाक्ष सोष्यन्ती व्यथत इव नेत्रान्त लहरी
निरातङ्क वक्षो जन नयनत शङ्कत इव ।
शिशुत्व तारुण्योदयमपि नयन्त्यास्तनु तुला
स्मरोऽस्या निस्पन्द कलयति मन कण्टकमिव ॥१४५॥

माने मृदु यथा—

सख्या शिक्षित पाठितानि सुभृश वाम्योपदेशाक्षरा
ण्यद्यावश्यमभीष्टसङ्गसमये सम्पादनीयानि हि ।

चाञ्चल्य नासीत् । यौवनारम्भे तु वपरीत्यमभूदित्योवोत्प्रेक्षालङ्कारेणाह पदोरिति । बाल्ये स्थित पदोश्चाञ्चल्य यौवनरम्भे नयनामहरत् । एव बाल्ये स्थिता मध्ये गुरुता पुष्टता स्तन श्रोणी महरताम् । यौवने स्तननितम्बयो पुष्टता अभूदिति भाव । तथा बाल्ये यथा बुद्धेस्तथा लज्जाया अपि मान्द्यमेव वचनस्याधिक्यमासीत् । यौवनारम्भे तु तयोर्मा द्य वाग् व्यवसितिर्वाक प्रयोगोऽहरत् । तथा बुद्धि लज्जयो राधिक्य वचनस्याल्पत्वमभूदितिभाव । राधायास्तनुरूप देशे बाल्यरूपस्य राज्ञोऽधिकारे गते सति ।१४४।

एव यौवनारम्भे बाल्यस्य यत् किञ्चिन्मात्र तत्वात् क्षीणत्व यौवनस्याप्यारम्भ मात्रत्वात् क्षीणत्वम् एव सति शिशुत्व तारुण्योदयञ्च तनु तुल्या क्षीणवस्तुतुलना नय त्या प्रापयन्त्यास्तस्या राधाया नेत्रान्त लहरी कटाक्ष सोष्यन्ती व्यथत इव । सू प्रसवे धातु । तथा च कटाक्ष रूपोऽपत्य प्रसव करिष्य ती तत् पूर्वा व्यथा प्राप्नोतीव, यथाभकप्रसवपूर्वे काचिद् व्यथा प्राप्नोति । यौवनस्यारम्भात् कटाक्षे चिकीर्षा बाल्यस्य शेषात् कर्तुं न शक्नोतीति व्यथा जायत इति भाव ।

पूर्व निरातङ्क नि शङ्क वक्ष स्थलम्, अधुना जन-नयनात् शङ्कते । तथा अस्या स्मर कन्दर्प, निष्पन्द निष्क्रियम्, अर्थात् कन्दर्प क्रिया रहित मन कण्टकमिव पश्यति ॥१४५॥

उसके मध्य मे अभिनव यौवना का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—

नयन युगल चरण युगल की चञ्चलता को अपहरण किये हैं, स्तन एव नितम्बदेश मध्य भागका गुरुत्व को ले लिया है, वाक्य विन्यास भङ्गिने बुद्धि मान्द्य के समान लज्जा मा द्य को भी आक्रमण किया है। फलत श्रीराधिका के देह राज्य मे शशव का अधिकार स्खलित होने के कारण उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग समूह जसे परस्पर लुण्ठन काय्य मे प्रवृत्त हुये हैं ॥१४४॥

अभिनव यौवना का उदाहरण— नयन युगल ने चरण युगल की चञ्चलता को हरण किया है, स्तन एव नितम्ब देश, मध्य भाग का गुरुत्व को ग्रहण किया है। वाक्य वि यास भङ्गिने बुद्धि मा द्य के समान लज्जा मा द्य को आक्रमण किया है। फलत -श्रीराधिका के देह राज्य मे शशव का अधिकार स्खलित होने के कारण उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग समूह जसे लुण्ठन काय्य मे प्रवृत्त हुये हैं ॥१४५॥

इत्थं चेतसि निश्चयो व्यजनि यः कृष्णस्य सन्दर्शने

सद्योऽसौ सह चेतसापसृतवाँल्लज्जास्मि तस्या हृद ॥१४६॥

सुरत पराङमुखी यथा—

अयि प्राणेभ्योऽपि प्रणयवसति स्त्वं प्रियसखी

ममैवेति प्रायो निरणयमहं पङ्कजमुखि ।

इदानीन्तु ज्ञातं व्रजपतिसुतस्यैव भवती

यतस्तत् प्रीत्यर्थं मदनभिमताय स्पृहयते ॥१४७॥

अनभिमतमत्रसुरतम् ।

सत्रपा यथा— आपृष्टा नमयति वक्त्रमीक्षमाणा,

नेत्राब्जे मुकुलयति व्रजेशजेन ।

यान्तीषु प्रणयि सखीषु याति पश्चा

न्नानङ्गो नमयति कोमलं मनोऽस्या ॥१४८॥

कचिद् यूथेश्वरी स्वगतमाह—सख्येति । असौ निश्चय चेतसा सह हृदो मम हृदो हृदयादप सृतवान्, अत स्तस्या सख्य मकाशादहं त्रस्तास्मि न जाने सा कि वदिष्यतीति शङ्काकुलास्मीत्यर्थ ।१४६।

अयि पङ्कज मुखि ! प्राणेभ्योऽपि प्रेम पात्रीत्वं ममैव प्रियसखीति अहं निरणयम् निर्णय कृतवती, यत स्तस्य श्रीकृष्णस्य प्रीत्यर्थं ममानभिमत सुरत वाञ्छति ॥१४७॥

श्रीकृष्णेन पृष्टा सा वक्त्र नमयति तन्नेक्षमाणा सती नेत्राब्जे मुकुलयति मुद्रिते करोति । तस्मादस्या कोमल मन कन्दर्पो न नमयति, कोमलत्वा मन कदाचित् त्रुट्यत्यपीति भयान्न नमयतीत्यर्थ ॥१४८॥

मान ग्रहण मे मृदु का उदाहरण—प्रिय के प्रति मान ग्रहणादि प्रतिकूल व्यवहार करने के निमित्त सखीने यत्न पूवक जो जो शिखाई है—आज सम्मिलन समय मे सबको सम्पादन करूँगी इस प्रकार मानसिक निश्चय था । किन्तु श्रीकृष्ण के दर्शन से ही सहसा चित्त के सहित वह निश्चय अपहृत होने से मै नितान्त लज्जिता ही गई हूँ मै नही जानती हूँ सखी इसको जानने से मुझ को क्या कहेगी—इस शङ्का से मै आकुल हू ॥१४६॥

सुरत पराङमुखी का उदाहरण—अयि पङ्कजमुखि ! तुम तो प्राण से भी अधिक प्रेम पात्री हो, प्रियसखी हो, यही धारणा मेरी थी । किन्तु सम्प्रति मै जान गई हू । कि तुम व्रजराज तनय की ही एकान्त प्रणयिनी हो, तुम उनकी प्रीति सम्पादन हेतु मेरे अभिमत कार्य मे भी स्पृहावती हो गई हो । यहा पर सुरत कार्य मे उनका अभिमत नही है, यह जानना होगा ।

सलज्जा का उदाहरण—यह है—व्रजराज कुमार पूछने पर-मुखचन्द्र अवनत करती है दृष्टि पात करने से नयन कमल मकुलित करती हैं, प्रिय सखी गण-गमन मे प्रवृत्त होने पर पश्चात् पश्चात् गमन

अथ मध्या—मध्या सुललित सुरता, मध्यम समुदीर्ण यौवना नोच्चै ।
व्रीडावतीषदीषत्, प्रागलभ्या निभृत वैदग्ध्या ॥१४९॥

तत्र सुललित सुरता—यथा (५४ श्लोक मे) "निर्यातायां त्वयि' इत्यादि ॥१४६॥

मध्यम समुदीर्ण यौवना यथा—

स्तनौ स्तवक विभ्रमौ विहसित प्रसूनोद्गति
वचो मधुरसो दृशावभिमुखस्थितौ खञ्जनौ ।
भ्रुवौ भ्रमर मण्डली करपद नवा पल्लवा
त्वमेव सखि राधिके मदन कल्प वल्ली भुवि ॥१५०॥

नोच्चै व्रीडावती यथा—आकृष्टे रमणेन नील वसने निर्मोचितर.यत
केशौघैनिरवाहय साख ततो साम्मुल्य सङ्कोपनम् ।

मध्याया लक्षणमाह—मध्येति । नौच्चैरपि तु ईषद् व्री निर्यातायां त्वयीत्यादि पूर्वोक्त पद्यमेवोदाहरण ज्ञेयमिति ॥१४९॥

हे राधे ! त्व कन्दपस्य भुवि स्थिता कल्पवल्ली भवसि । कल्पवल्ली साधर्म्यमाह—तव स्तनौ स्तवक विभ्रमौ पुष्प गुच्छ विलास रूपौ परस्पर सम्मुखतया स्थितौ कल्पवल्ला निष्ठ खञ्जनौ तव दृशौ । तव भ्रुवौ कल्पवल्लीस्थित भ्रमर मण्डली । कर पद मिति प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्व ॥१५०॥

करती रहती हैं। आश्चर्य है अनङ्ग श्रीराधा के अन्तःकरण को अवनत करने में समर्थ नहीं है ।१४८।

अनन्तर मध्या नायिका का वर्णन करते हैं—

मध्या नायिका सुललित सुरता मध्यम रूप समुदय यौवना अनधिक लज्जावती ईषत् प्रागल्भ्या एव निभृत अर्थात् गूढ वैदग्ध्या होती है। उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

' निर्यातायां त्वयि विरमितो मालया रत्नदीप
कृष्णे चोल क्षपयति मया स्वस्तिक सन्निबद्ध ।
नीवीग्रन्थि हरति सहसा सहतो रूप विष्टु
बुद्धच वाहु सखि समधिका वल्लभ स्ते बलेन ॥"

"तुम कुञ्ज गृह से निगत होने से मैंने माला के द्वारा रत्नदीप को आवृत किया। यह श्लोक उसका उदाहरण है ।।१४९॥

मध्यम रूप समुदित यौवना का उदाहरण—

सखि राधिके ! धरातल मे तुम्हीं साक्षात् मदन कल्पवल्ली हो, अर्थात् कन्दर्प रूपा कल्पलता हो। देखो, तुम्हारे वक्षोजद्वय—कल्पलता के स्तवक के तुल्य शोभित हैं हास्योदय-पुष्प समूह की कान्ति को हरण कर रहा है वचनामृत मधुरस के गर्व को खर्व किया है। नयन युगल—उत्कलता मे परस्पर के सम्मुख भाव मे अवस्थित खञ्जन युगलवत् प्रतीत होते हैं। एवं भ्रू युगल भ्रमर वली का एवं करचरण नव पल्लव का सारूप्य को धारण किये हैं ॥१५०

जिह्रेमि स्मरणेऽपि तस्य यदियं कृष्णाष्टमी यामिनी
वासीत् सुन्दरि सम्मुखार्द्ध तिमिरा पश्चार्द्धचन्द्र प्रभा ॥१५१॥

ईषत् प्रागल्भ्या यथा—मम श्रोत्रे शब्दं सुरतमिति हे कृष्ण न गतं
सखीभ्यो याचित्वा भवति यदि दास्यामि भवते ।
इति स्वोक्तं प्रातः शुकयुवतिभिर्भाषितमसौ
कयेदं वः प्रोक्तं वच इति सखीष्वेव निदधे ॥१५२॥

निभृत वैदग्ध्या यथा—परीरम्भे स्नेहे कथमपि मुखाम्भोज मधुनः
प्रपाणे नानेति व्यथित कर कम्पं किमपि या ।

श्रीकृष्णेन मम नील वस्त्रे आकृष्टे सति तदा आत्मानं नग्नदृष्ट्वा निर्मोचित केश समूहैः करज सम्मुख देशस्य सङ्गोपनं निरवाहयम्, निर्वाहं कृतवती । तस्य सङ्गोपनस्य यद् यस्मादियं मे तनुर्याम चतुष्टयात्मिका कृष्णाष्टमी यामिनी वासीत् । सा यथा प्रहरद्वयं व्याप्य चन्द्राभावेनापि तिमिरा पश्चादर्द्ध चन्द्र प्रभा, तथैवाहमप्यभवम् ॥१५१॥

हे सुरत रङ्गिणि ! सुरताभिलाषिणी मह्यं सुरतं दास्यसि न वति श्रीकृष्णेन पृष्टा काचित् यूथेश्वरी आह—ममेति 'सुरतमिति शब्दोमम श्रोत्रगतोऽपि न' इति प्रथम वचनं तदनन्तरं युष्मासु सुरतमस्ति मया श्रुतमिति श्रीकृष्णस्य वचनं श्रुत्वा सा पुनराह—मयि सम्भावनापि नास्ति किन्तु सखीषु भवतीति चेत् ताभ्यो याचित्वा दिनान्तरे भवते दास्यामि । एतदर्थ पद्यं तदानीं तत्र स्थिताभिः शुकाङ्गनाभिः कण्ठस्थं कृत्वा प्रातः काले सखीनामग्रे पठितम् । तच्छ्रुत्वासौ यूथेश्वरी स्वोक्तमपिवचो वो युष्माकं मध्ये कयोक्त मित्युक्त्वा सखीष्वेव निन्ध । तथा च स्वोक्तं वचस्तया सखीनां शिरसि निक्षिप्तम् ॥१५२॥

अथ कुञ्ज गृहात् किञ्चिन्मिषेण सखीषु निर्गतासु एकाकिनी यूथेश्वरीं प्राप्य श्रीकृष्णेन तया सह विलासारम्भः कृतः । गवाक्ष द्वारा तं विलासारम्भं दृष्टवा काचित् सखी स्वसखीं प्रत्याह—या कृष्ण कृत

अनधिक लज्जावती का दृष्टान्त—व्रजेन्द्र नन्दन मेरा वसन आकर्षण करने से मैंने केश पाश को उन्मोचित करके उस से शरीर के सम्मख भाग को आवृत किया । किन्तु हे सुन्दरि ! उस सङ्गोपन भाव का स्मरण करके मेरी लज्जा होती है, कारण, उस समय मेरा शरीर उस प्रकार अवस्थापन्न होकर सम्मुखार्द्ध अन्धकारमयी एवं अपरार्द्ध चन्द्र प्रभामयी कृष्ण पक्षीय अष्टमी निशा का आकार धारण किया था ॥१५१॥

ईषत् प्रागल्भ्या का उदाहरण—

हे कृष्ण ! सुरत यह शब्द कभी भी मदीय कर्ण में प्रविष्ट नहीं हुआ है । सखीवृन्द के निकट प्रार्थना करके यदि मिल जाय तो अवश्य तुम्हें दूँगी । इस प्रकार निजोक्ति को प्रभात में शुक पत्नी के मुख से उच्चारित होते सुनकर राधिका 'तुम सब के मध्य में किसने उस प्रकार कहा है ?' यह कहकर उक्त वचन सखी वृन्द के ऊपर निक्षेप उन्होंने किया ॥१५२॥

निभृत अर्थात् निगूढ वैदग्ध्या का उदाहरण—जो राधिका, उस समय किसी प्रकार से श्रीकृष्ण

स्वयं लब्धोच्छ्वासं जघनभुवि वासं स्थगयितुं
स्वयं सा श्रीकृष्णं किमपि परिरेभे दृढतरम् ॥१५३॥

अथ प्रगल्भा—तरुणी मदनमदान्धा, रतिरणकुशला दरव्रीडा।
भावोन्नता प्रगल्भा, वैदग्ध्याक्रान्तनायका कथिता ॥१५४॥

तत्र तरुणी यथा—दाहोत्तीर्णसुवर्णपूर्णकलसौ वक्षोजयोर्युग्मकं
स्मेरेन्दीवरदामतोरणततिं स्निग्धाः कटाक्षोर्म्मयः
श्रोणिः शिल्पतरङ्गमङ्गलमयं सिंहासनं निर्म्मिता
त्वं कामोत्सवमण्डलैकरचना केनासि चन्द्रावलि ॥१५५॥

मदनमदान्धा यथा—

श्लिष्टा श्लिष्यति गोकुलेन्द्रतनयेनाचुम्बिता चुम्बति
स्वच्छन्दं लिखिता नखैर्नखपदैराभूषयत्यङ्गकम्।

परिरम्भं कणनपिकृत्रिमदुःखव्यञ्जनेन सेहे अधरमधुपानेऽपि नानेति वाम्यबोधकं कम्पं चकार, अधुना सा वाम्यं विहाय श्रीकृष्णस्य व्यापारं विनैव कामोन्मादेन स्वयमेव नीवीबन्धशैथिल्यमोक्षं परिधेय वस्त्रं जघनदेशे स्थगयितुं स्थिरी कर्त्तुं तन्मिषेण स्वयमेव श्रीकृष्णं दृढतरं परिरेभे ॥१५३॥

वैदग्ध्येनाक्रान्तो नायको यया सा प्रगल्भा कथिता ॥१५४॥

श्रीकृष्ण आह—हे चन्द्रावलि! त्वं कन्दर्पस्योत्सवे केनापि मण्डनरचनानिर्मितासि, तस्या रचनाया स्वरूपमाह—दाहेति। आदावुत्सवे पूर्णकुम्भोऽपेक्षितो भवति, तत् स्थानीयं तव स्तनयुग्मकम्। एवमेव द्विकशितेन्दीवरमालया वनमालाततिरपेक्षिता भवति, तत् स्थानीयास्तव कटाक्षोर्म्मयः। एवमुत्सवे नानाविधशिल्पकौशलविशिष्टं सिंहासनमपेक्षितं भवति, तत् स्थानीयस्तव नितम्बदेशो भवति ॥१५५॥

श्रीकृष्णेन नखैर्लिखिता चित्रिता सती स्वयमपि नखचिह्नं श्रीकृष्णाङ्गमाभूषयति। यद् यस्मादिय

कृत आलिङ्गन को सहन करती थी। मुख कमल के मधुपान के समय मे "ना, ना" इस प्रकार ध्वनि करके कर कम्पन के सहित स्वकीय वामता प्रकाश करती थी, किन्तु इस समय स्वयं ही मुक्त बन्ध परिधान वसन को जघन स्थल मे स्थिर रखने के निमित्त श्रीकृष्ण को कसे दृढतर रूप मे आलिङ्गन कर रही है ॥१५३॥

प्रगल्भा का निदर्शन—तरुणी मदनमदान्धा, रतिरणकुशला, ईषत् लज्जावती, भावोन्नता एवं वैदग्ध्याक्रान्त नायका होती है ॥१५४॥

प्रथम—तरुणी का दृष्टान्त—अयि चन्द्रावलि! तुम मदनोत्सव मे किसी व्यक्ति के द्वारा मण्डल रचना रूप मे निर्मिता हुई हो, देखो उक्त मण्डल रचना मे जो पूर्ण कुम्भ का प्रयोजन होता है। तुम्हारे पयोधर युगल ही उस अग्नि शुद्ध सुवर्ण घटित कलस युगल के कार्य्य निर्वाहक हैं। स्निग्धतर अपाङ्ग भङ्गि ही फुल्लनीलोत्पल ग्रथित तोरण माला का कार्य्य सम्पादन कर रही है, एवं विपुल नितम्ब देश ही विचित्र शिल्प कौशलमय सिंहासन स्वरूप मे परिणत हुआ है ॥१५५॥

शिक्षित्वा तत एव पुष्पधनुष सग्रामविद्यामिय
तस्य क्षोभकरी यदैष्ट तदिय विद्या गुरुक्षोभिका ॥१५६॥

रतिरण कुशला यथा—

अन्योऽन्य प्रणय प्रकाश परयोरन्योऽन्यनिर्म्माल्ययो
श्यामा माधवयो र्निरीक्ष्य वपुषो लक्ष्मी रजन्या क्षये ।
सख्या एव मनोज–सङ्गरजयश्रीसूचकाचायके
सामानाधिकरण्यमप्रतिहत मेने सखीना गण ॥
इयमेव परव्रीडा भावोन्नतादि ॥१५७॥

अथ मध्या प्रगल्भयोर्धीरादि भेद–कथनम् । तत्र मध्याधीरा यथा—

प्रिय वदन्त्यवक्रोक्त्या मध्याधीरा दहेद्रुषा ॥

तत श्रीकृष्णादेव कन्दप युद्ध विद्या शिक्षित्वा तस्य श्रीकृष्णस्य क्षोभकरी सती ऐष्ट, एश्वर्य्य कृतवती, तस्मादस्या इय विद्या गुरु क्षोभिका भवति ।१५६।

अन्योऽन्यनिर्म्माल्ययो परस्परसम्भुक्तयो, अत सम्भाग जन्य श्रमेण सुप्तयो श्यामाकृष्णयो वपुषोर्लक्ष्मीं नख चिह्नादि जन्य शोभा गवाक्षद्वारा निरीक्ष्य द्वयोमध्ये सख्या एव कन्दप युद्धे जयसम्पत्ति सूचकाचार्य्यत्वे सामानाधिकरण्यमवैयधिकरण्यमप्रतिहत सखीगणो मेने ।

तथा च सख्या एव अवैयधिकरण्ये जय सम्पत्ति, नतु कृष्णस्य तस्य तु युद्धे पराभवेऽपि ममैव जित मिति वैयधिकरण्येनैव जय सम्पत्तिरिति भाव । आचार्य्यस्य भाव आचार्य्यकम, आचार्यत्वमित्यर्थ ।१५७।

अथ धीरत्वाधीरत्वादिक मानदशाय मेव प्रकटी भवति । अतो मानिनीष्वेवोदाहर्त्तु धीरादिभेदमाह–अथेति ॥१५८॥

द्वितीय,—मदन मदान्धा का उदाहरण—गोकुल राज तनय श्रीराधा को आलिङ्गन करने से उन्होंने भी उनका आलिङ्गन, चुम्बन करने से चुम्बन, नखाङ्कित करने से–उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग को नखाङ्कित किया। श्रीराधाने श्रीकृष्ण के निकट कन्दपदेव की सग्राम विद्याको सीखकर सम्प्रति उनका क्षोभ जनक उत्कर्ष लाभ किया। फलत यह विद्या नितान्त ही गुरुक्षोभ जनिका है ॥१५६॥

तृतीय—रति कुशला का उदाहरण—

राधा एव माधव अन्योऽन्य के प्रति प्रणय प्रकाश परतन्त्र होकर परस्पर के उद्देश्य मे जो निज निज शरीर समर्पन किये थे निशावसान मे परस्पर उपभोग द्वारा निर्म्माल्यभूत उक्त शरीर द्वय को शोभा, को निरीक्षण करके सखीगणने, सुरत सग्राम के जय श्री सूचक आचार्य्य कर्म्म मे सखी का ही अप्रतिहत अधिकार स्वीकार किया। इस प्रकार नायिका ही ईषत् लज्जान्विता एव भावोन्नता प्रभृति नायिका का उदाहरण स्थल है ॥१५७॥

सम्प्रति मध्या एव प्रगल्भा नायिका के धीरादि भेद का वर्णन करते है। मध्याधीरा, वदन्ती एव वक्रोक्ति के द्वारा प्रणय पात्र को रोषानल से दग्ध करती है ॥१५८॥

सा यथा-(तृतीय किरणे ३१ श्लोक) (पद्मिन्यह कुमुदिनी किलसैव सत्यम्'
इत्यादि । धीराधीरा तु रुदितै ,

यथा—उत्खात गुरुगौरव कुलवती रीतिश्च नि सारिता
कृष्ण त्वत् प्रणयेन तत्कथमिद कापटयमालम्बसे।
इत्यालप्य तदीय पीतवसनेनावृत्य वक्त्राम्बुज
बाला केवलमश्रुमिश्रितमुखी चारुस्वर रोदिति ॥
अधीरा निष्ठुरोक्तिभि ॥१५९-१६१॥

यथा—साक्षाद वर्त्तिनि जीविते मम कथ शाठ्य त्वमालम्बसे
धिड मा त्वाञ्च धिगावयो सुजनता धिक्प्रेम धिक् तद्यश ।
कि ब्रूम पुरुषोत्तमोऽसि जगता भर्त्तासि मय्येव ते
धूर्त्तत्व नहि तेन ते गुण गण किञ्चित्तरा हीयते ॥१६२॥

सत्यभामोक्ति ।

पद्मिन्यह मिति पूर्वोक्तपद्यमेवोदाहरण ज्ञेयम् ॥१५९ १६१॥

पद्मिन्यह कुमुदिनी किलसव सत्य सत्य भवाश्च मधुसूदन एवमस्त । वामेन तामसुखयन्निशि दक्षिणेन, प्रात प्रबोधयति मामपि लोचनेन (३।७१)

अथकस्मिन् दिवसे नारदो द्वारकामागत्य एक पारिजातपुष्प श्रीकृष्णाय ददौ । तत् पुष्प श्रीकृष्णेन रुक्मिण्य दत्तम् । नारदेन कौतुकार्थमेतद् वृत्तान्त सत्यभामाय कथितम् । तच्छ्रुत्वा सत्यभामा तु मानिनीव बभूव । तदनन्तर तस्य मानभङ्गार्थ निकटे गत्वा श्रीकृष्ण आह हे प्रिये ! एकस्य पुष्पस्य का कथा, पारिजात वृक्षमेवेन्द्रपुरादानीय तुभ्य दास्यामीति वदन्त श्रीकृष्ण प्रति सत्यभामा कुपिता सत्याह- साक्षादिति । सत्यभामाया प्रेम्णोऽधीन श्रीकृष्ण इति यशोऽपिधिक ॥१६२॥

मै पद्मिनी हू, एव वह भी कुमुदिनी है, यह सत्य है, एव तुम भी जो मत्तमधु सूदन हो यह भी यथाथ है। इत्यादि श्लोक उदाहरण है। धीरा धीरा- रोदन के द्वारा प्रिय के प्रति वाक्य प्रयोग करती रहती है।

उदाहरण—हे कृष्ण ! मैने तुम्हारे प्रणय हेतु गुरु गौरव को छोड दिया, एव कुलवती की रीति को भी वहिष्कृत किया, अब तुम क्यो इस प्रकार कपटता कर रहे हो ? यह कह कर, बाला उनके पीत वसन से मुख को आवृत कर अश्रु धारा से आप्लुत मुख से रोदन करने लगी। सु दर मुख मे इस प्रकार रोदन भी कितना सु दर अनुभूत होने लगा। अधीरा नायिका, कान्त के प्रति निष्ठुर वाक्य प्रयोग करती है ॥१५९ १६१॥

उदाहरण - मै सम्मुख मे जीवित रहती हुई तुम मेरे प्रति कैसी शठता कर रहे हो ? मुझ को धिक और तुम को भी धिक, हम दोनो के सुजनता को भी धिक एव उस प्रेम एव यश को भी धिक्कार। मैं

अथ प्रगल्भा धीरादि-लक्षणम्—

यदि प्रगल्भा धीरा स्यादवहित्थावहेलया ।
उदास्ते प्रकृतात् कोपादादर दर्शयेद् वहि ॥१६३॥

यथा—किं पादान्तमुपैषि नास्मि कुपिता नैवापराद्धो भवान्
निर्हेतु न हि जायते कृतधिया कोपोऽपराधोऽथवा ।
योग्या एव हि भोग्यता दधति तन्नानौचिती कापि नौ
तेनाद्यावधि गोकुलेन्द्र तनय स्वातन्त्र्यमेवास्तु ते ॥

यथा वा—दूरादुत्थितमन्तिक मयिगते पीठ करेणार्पित
स्मित्वा भाषिणि भाषित मृदुसुधा नि स्यन्दि म द किमत् ।
आरूढेऽर्द्धमथासन प्रकटित सौभाग्यमाश्लिष्यति ।
प्रत्याश्लिष्टमवाम्तैव सुदृशो वामत्वामाख्यापयत् ॥
धीराधीर प्रगल्भा तु साकुतैर्वचनैर्मु हु ।
प्रियमुच्चै खेदयति ॥१६४-१६६॥

कोपादुदास्ते, नाहृ कोपवतीत्युदासीना भवति ॥१६३॥

योग्या एव ते भोग्यता दधति योग्या एव तव भोग्या भव तीत्यथ । तत्तस्मात् नौ आवयो काप्यनौचिती न, तथा चायोग्यत्वान्मत्यागस्तवोचित इति भाव ।

स्वतन्त्र्यमिति—यत्र तवेच्छा, तत्रैव गच्छ, सम्प्रत्यहन्त देहाद् विमुक्ता भविष्यामीति ध्वनि ॥१६४ १६६॥

बलूं तुम पुरुषोत्तम हो, निखिल जगत् के भर्त्ता हो, किन्तु मेरे प्रति इस प्रकार धूत्तता प्रकाश करना क्या उचित है ? इस प्रकार प्रेमाधीना के प्रति धूत्तताचरण से क्या तुम्हारी गुणराशि हीन नही ह गी ? यह उक्ति सत्यभामा की है ॥१६२॥

अनन्तर प्रगलभा के धीरादि भेद का वणन करते हैं। प्रगलभा यदि धीरा होती है तो, कोप भाव को गोपन करक-अवहेला को प्रकट करती है। एव प्रकृत कोप विषय मे उद सीन होकर बाहर आदर भाव प्रकट करती है ॥१६३॥

उदाहरण—क्यो तुम चरणों मे गिर रहे हो ? मै कुपिता नहीं हू, तुमने भी अपराध नही किया है, अकारण सुबोधजन का कोप अथवा अपराध नहीं होता है। तुम्हारी योग्या ही तुम्हारी भोग्या हो सकती है, अतएव हमारे प्रणय विच्छेद मे मै तो किसी प्रकार अनौचित्य नहीं देखती हू। हे गोकुलेन्द्रतनय ! तुम आज से निर्विघ्न से स्वाधीनता को प्राप्त करो।

उदाहरणान्तर यह है—मुझको आते देखकर दूरसे प्रत्युत्थान किया, समीप मे मै उपस्थित होने पर हाथसे पीठासन प्रदान किया, हँसकर कहने से सुधाविन्दुनिस्यन्द मृदुमधुर वाक्यसे कथापकथन करने

यथा—नैतावतापिसमयेन तवोपलब्ध, चेतोयदन्तर गतैव तदावृणीते ।
तप्तेऽपि चेतसि ममाविरत यदास्से, पूर्णास्मि तेन किमनेन बहि स्थितेन ॥"
स्थित -स्थिति ।

पराऽवीक्ष्यैव निन्दति ॥

परा अधीर प्रगलभा, अवीक्ष्यैव अदृष्ट्वैव ॥१६७--१६८॥

यथा—सख्य कथ परिमलो विमल प्रसर्पो,श्यामो निलीय चिरमस्तिकुत स वाम ।
तल्पान्तिके तव निवारयताशु यातु, धूर्त्तस्य तस्य वदन न विलोकयामि ॥१६९॥

एतावतापि समयेन एतावत् काल पर्य्य त तव चेतोमया नोपलब्ध न प्राप्त , यद् यस्मात् सा मम वरिणी, तवान्त करण गतासती त्वच्चेत आवृणोति । तथा च सवदव त्वच्चेतोऽवाप्य स्म तिष्ठति, अतो मत् स्मरण तव कथ भवेदिति ध्वनि । किन्तु तव विरहेण तप्तेऽपि मम चेतसि त्व तादश तापमध्ये यत् सततमास्मे, तेन हेतुना अह पूर्णास्मि, अतस्तवानया वहि स्थित्या किम ? तथा च सम्प्रति तत्रात्रागमन व्यर्थमिति भाव । तेन च त्वत्स्मरणमह सतत करोमि, त्वया तु स्वप्नेऽपि न स्मयत इत्युपालम्भो ध्वनि । स्थितमिति भावसाधन ज्ञेयम् ॥१६७--१६८॥

सखी यूथेश्वर्य्योरुक्ति प्रत्युक्ती आह—सख्य इति । हे सख्य ! सवत्र प्रसर्पी विमल श्रेष्ठ परिमल कुत आयात ? सखी आह—श्रीकृष्णश्चिर व्याप्य निलीय अस्ति । यूथेश्वर्य्याह--स मम वाम पतिकूल कुत्र ? सखी आह—तव तल्पान्तिके । यूथेश्वरी आह—यूय निवारयत, मन्निकटात् शीघ्र यातु गच्छतु ॥१६९॥

लगी । अन तर आसन का अर्द्ध भाग ग्रहण करने से—निज सौभाग्य प्रदान किया, एव आलिङ्गन करने से आलिङ्गन भी किया । फलत सुलोचना का इस प्रकार व्यवहार ही उसका आ तरिक कोप कुटिल भाव को प्रकाश करने लगा ।

धीराधीरा प्रगलभा पुन पुन साभिप्राय वचनसे प्रियतम का अत्यन्त मन क्लेश उत्पन्न करती रहती है ॥१६४- १६६॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! इतने समयमे भी तुम्हारे चित्तकी उपलब्धि मैंने कर नहीं पाई, कारण, वह मेरी वरिणी तुम्हारे अन्त करण का प्राप्तकर सतत उसको आवृत कर बठी है, जो भी हो, तुम मेरा यह स तप्त चित्तमे जो अविरत अवस्थान करते रहते हो, उससे ही मै परिपूर्णा हूँ, बाहर रहने का प्रयोजन तुमको और नहीं है ।

अधीर प्रगलभा प्रियतम को न देखकर ही नि दा करती रहती है ॥१६७–१६८॥

उदाहरण—हे सखियो ! कह सकती हो, कहा से इस प्रकार निम्मल सौरभ चतुर्दिक को सुरभित करके प्रवाहित हो रहा है ? सखियो, श्याम, यहाँ पर छिप कर हैं, अत उस प्रकार सौरभ दिगन्त को आमोदित कर रहा है । यूथेश्वरी प्रत्युत्तर मे बोली—यह क्या ? वह कपटी यहाँ कहा है ? सखियो ! तुम सब आशु उसको मना करो, उसकी जहाँ इच्छा जाय, मेरे निकट मे आनेका कोई प्रयोजन नहीं है,

अथामा ज्येष्ठ–कनिष्ठत्व भावो यथा–

एकत्रैव कृतासन स्थितवती राधा सम श्यामया ।
श्यामेन प्रहित सम सुमनसामासाद्य दामद्वयम् ।
श्यामा वक्षसि दातुमैच्छदुभय साकृष्य तद्वक्षसि
प्रादादेकमथावतार्य्य कवरी पूजा चकारात्मन ॥

अत्र श्यामाया कनिष्ठत्व व्यङ्ग्य कनिष्ठत्व व्यङ्ग्य कवरीपूजाशब्दाभ्याम् ॥१७०॥

मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा च मिश्रभावात् पुननव ।
आदि मुग्धा, मध्यमुग्धा, अन्तिममुग्धा च । एवमन्येऽपीति नव ॥१७१॥

अत्र मुग्धा त्रैविध्य यथा—

मान ग्राहण साग्रह प्रियसखी शिक्षोपरोधादसौ
तूष्णीमेव चिर निमील्य नयने नम्राननैव स्थिता ।

एकत्रवासने श्यामया सह स्थितवती राधा श्रीकृष्णेन प्रहित सममेकाकार माल्यद्वय प्राप्य उभयमेव श्यामाया वक्षसि दातुमैच्छत्, श्यामातु, माल्यद्वयमाकृष्य राधाया वक्षसि प्रादात् ।

पश्चादेक माल्य राधाया कण्ठादवतार्य्य तेन माल्येनात्मन कवरीपूजा चकार । तन्निर्म्माल्येन स्वस्य मस्तकस्थ सयत कश पूजाकरणे श्यामाया कनिष्ठत्वमायातमिति ज्ञेयम् ॥१७०॥

मिश्रभावादादि मध्यादि शब्देन सह मिलनादादिमुग्धेत्यादि भवति । आदि मुग्धा, मध्यमुग्धा अन्तिममुग्धा अल्पमुग्धेत्यर्थ ॥१७१॥

श्रीकृष्ण सुबल प्राह—मान ग्राहणे आग्रहेण सह वत्तमाना या प्रियसखी तस्या शिक्षोपरोधात्

मे और उस धूत्त का मुख दशन नहीं करूँगी ॥१६९॥

धीर प्रगल्भा का ज्येष्ठा एव कनिष्ठता भेद से भाव भेद होता है । उदाहरण—श्रीराधिका श्यामा के सहित एकासन मे उपविष्टा रही, उस समय श्रीकृष्ण के द्वारा प्रेषित तुल्याकृति पुष्प माल्यद्वय को प्राप्त कर श्यामला के वक्ष स्थल मे प्रदान हेतु उन्होने प्रयत्न किया, कि तु श्यामा ने तत् क्षणात् माल्य यगल को आकर्षण करके राधिकाके वक्ष्यस्थल मे प्रदान किया । अनन्तर श्यामाने वहा से एक मालाको लेकर उससे स्वकीय कवरी की पूजा सम्पादन किया ।

इस श्लोक मे कवरी एव पूजा- उभय शब्द के द्वारा श्यामा का कनिष्ठत्व व्यञ्जित हुआ है ।१७०।

मुग्धा मध्या प्रगल्भा ये त्रिविध नायिका—अत्य त मुग्धा मध्य मुग्धा एव अल्पमुग्धा- इत्यादि रूप मे मिश्र भावापन्न होकर नवविध होती हैं ॥१७१॥

उसके मध्यमे मुग्धाके तीन प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।—प्रिय सखी मण्डली राधिका को मान ग्रहण कराने के निमित्त अत्य त आग्रहवती होने से-राधिका उनसब के शिक्षा वाक्य के अनुरोध

रोषान्धस्य मदीयदूषणकथावेशेन वाचालता
श्रुत्वा बन्धुजनस्य कातरमुखी कर्णं करेणारुणत् ।।१७२।।

नेत्रे किं विनिमीलयामि दयितस्तत्रापि सदृश्यते ।
चेत किं कठिनीकरोमि सतत तत्राप्यसौ खेलति ।
दोषान् किं गणयामि तस्य गुणता गच्छन्ति ते तत्क्षणात्
मानोऽन्येन पथा भवेद् यदि तदा सख्य स एवोच्यताम् । १७३।।

रोमाञ्चैः सम मुत्थित प्रथमतो मानेन सार्द्धं दृशो
रश्रु च्यावितमाननेन च सम नीत ममाहोऽप्यध ।
सख्यश्चाभरणैः सम मुखरितास्तूष्णीकता प्रापिता
मामालोक्य चिरार्जितोऽपि सुदृशा कोपस्तया विस्मृत ।।१७४।।

रोषान्धस्य सखीजनस्य वाचालता श्रुत्वाऽत्यन्तमोग्ध्यवशात् प्रत्युत्तर दानऽसामर्थ्यात् केवल कर्णमेव रुद्ध चकारेत्यर्थ ।।१७२।।

तत्रापि निमीलितनेत्रेऽपि दयित सदृश्यते, ते दोषास्तत्क्षणे दोषत्वेन दर्शनक्षणे गुणता गच्छन्ति । हे सख्य ! भवद्भिरुपदिष्टा मायत्रयादन्येन पथा यदि मान सम्भवेत्, तदा स एव पन्था उच्यताम् ।।१७३।।

सखीभि यत् शिक्षितम्, मम दर्शने तत् सर्वं विपरीतमभूदिति श्रीकृष्ण आह—प्रथमतो मामालोक्य सुदृशा तयासनादुत्थितम्, रोमाञ्च सममुत्थितमित्यनेन रोमाञ्चोऽपि जात , मानस्य का कथेति भाव । दृशास्रुतया च्यावित भूमौ पातित मानेन सार्धमिति मानोऽप्यध पातित इत्यथ । अहो ममापराधोऽपि मुखेन सहाधोनीत लज्जया मुखमपि नम्रीकृतमिति ज्ञेयम् ।

अस्माक निकटे मागच्छ इतो दूरीभवेत्यादि वाक्य म खरिता सख्योऽपि अत्याग्रहेण तया तूष्णीकता प्रापिता । आभरण सममिति हस्तादि चालनेन निवारण समये तासा कङ्कणाद्यलङ्कारा अपि मुखरिता बभूवुरिति ज्ञेयम् । तासा तूष्णीकत्वे ते तूष्णीं बभूवुरित्यर्थ ।।१७४।।

से अनेक समय मौन अवलम्बन पूर्वक नयन मुद्रित करके अवनत वदन से अवस्थान करने लगी, अनन्तर वे सब रोषान्ध होकर मदीय विविध दोषोद् घोषण के सहित वाचालता आरम्भ करने से उसको सुनकर कातर मुखी होकर हस्तके द्वारा कर्ण विवर को अवरुद्ध कर लिया ।।१७२।।

नेत्र युगल को निमीलित करके ही क्या होगा ? उससे प्रियतमको तो देखा नहीं जायेगा । चित्त को कठिन करके भी फल क्या होगा ? प्राणेश्वर तो वहा निरन्तर क्रीडा करता रहता है, तदीय दोष का अनुसन्धान करके भी क्या होगा ? दोष अनुसन्धान मे प्रवृत्त होने से ही दोष समूह तत् क्षणात् गुण मे परिणत हो जाते हैं । हे सखियो ये तीन प्रकार उपायो से मान करना -मेरे पक्ष मे तो असम्भव है, उसको छोड कर यदि अन्य कोई पथ हो तो मुझे कहो ।।१७३।।

सुलोचना – मुझको दूरसे अवलोकन करके ही प्रथमत रोमाञ्चहोकर आसन से उत्थित हो गई,

अथ मध्या त्रविध्यम्—

पादान्त गमिना चिरानुनयिना नीता प्रसाद शनै

राहाय स्खलित मया निगदिता भूय कृते साहसे ।

न्यञ्चत् कन्धरमुत्स्मित मयि मनाग् व्यापारयन्ती दृश

सीमन्ताग्रनिवेशिताञ्जलिपुट राधा व्यधाद वन्दनम् ।।१७५।।

आलि त्व वनमालिना निगदिता प्राणेश्वरि प्रीयता

दैवादेष ममानय समजनि क्षन्तव्य एष त्वया ।

इत्याकर्ण्य सखीमुखात् प्रियवचो मूर्धानमाधुन्वती

सा स्मित्वैव शिखामणि प्रणयिन चक्रे प्रणामाञ्चलिम् ।।१७६।।

त्रिविधमुग्धा एव मान ग्रहणेऽसामर्थ्यात् मानाक्षमा इति पूर्वमुक्तम् श्रीकृष्ण सखाय प्रत्याह—अद्यकुञ्जगृहे उपविष्टां राधा सम्बोध्य 'हे प्रिये च द्रानने' इति वक्तव्ये दैवान्म मुखात् च द्रावलीति वाक्य निगत स्यात्,तच्छ्रुत्वा सा मानिनी बभूव । ततो मया नाना यत्नेन सा प्रसाद नीता, कौतुक वशाद्वाहार्येण स्वेच्छयैव पूर्वोक्त च द्रावलीति स्खलित निगदता मया भूयस्तस्या मानोत्पत्यर्थ साहसे कृते सा मच्चातुर्य्यं बुद्ध्वा हे धूर्त्त शिरोमणे ! तुभ्य नम ' इत्युक्त्वा सीम ताग्रनिवेशिताञ्जलिपुट यथा स्यात्तथा व दन व्यधात् ।।१७५।।

काचित् सखी स्वयूथेश्वरीमाह—हे आलि ! श्रीकृष्णेन त्व निगदितासि । श्रीकृष्णस्योक्ति मेवाह—दैवादेष ममानयोऽपराध समजनि । एषोऽपराधस्त्वया क्षन्तव्य इति प्रियस्य वच आकर्ण्य मस्तकस्थ शिखामणि सयुक्त धूर्तायतस्म नम ' इति प्रणामयोधकाञ्जलि चक्रे ।।१७६।।

मानके सहित नयनाश्रु पातित करने लगी, निज मुख मण्डल के सहित मेरा अपराध को भी उसने अध कृत किया, एव आभरण के तुल्य अति मुखर सखी गण को भी मौन व्रत अवलम्बन कराया । इस प्रकार मेरा दर्शन से चिरसञ्चित कोप को वह सहसा भूल गई ।।१७४।।

मध्याके तीन प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

'चन्द्रानने ! ' इस प्रकार कहते कहते 'च द्रावलि' इस प्रकार वाक्य स्खलन होने पर राधिका निता त कुपिता होने पर मैने अनेक समय पयन्त अनुनय पूवक चरण प्रान्त मे पतित होकर उनको प्रसन्न किया, अन तर छल पूवक पुनर्वार उम प्रकार वाक्य स्खलन रूप आचरण करनेसे प्रिया उसको समझ गई और ईषत् हँमकर मेरे प्रति दृष्टि सञ्चालन पूवक "धूत्त ! तुमका नमस्कार" यह कहकर नत क धर से सीमन्त के अग्रभाग मे अञ्जलि सन्निवेश पूवक मुझ को प्रणाम किया ।।१७५।।

हे सखि ! वनमालीने तुमको इस प्रकार सन्देशा भेजा है कि—प्राणेश्वरि ! अद्य तुम प्रसन्न होओ, दवसे मुझसे यह अपराध बना पडा है, इसको क्षमा कर देना उचित है, सखी से प्रियतम का इस प्रकार वाक्य को सुनकर राधिकाने मस्तक कम्पन पूवक हँसकर "उस धूर्त्तको नमस्कार" यह कहकर मस्तकस्थ

दूराद् द्राघयतेऽवगुण्ठन पट लीलाङ्गुलीमुद्रया
प्रत्यासेदुषि मय्यसौ करयुगेनापादयत्यञ्जलिम् ।
आपृष्टानन पद्ममानमयति स्पृष्टा समुत्कम्पते
दाक्षिण्य किमुवामताथ सुतनोर्नावेदि किञ्चिमन्या ।।१७७।।

अथ प्रगलभा त्रैविध्यम्—

दुरादुत्थितमन्तिक मयिगते पीठ करेणार्पित
स्मित्वा भाषिणि भाषित मृदुसुधा नि स्यन्दिमन्दक्रियत् ।
आरूढेऽर्द्धमथासन प्रकटित सौभाग्यमाश्लिष्य त ।
प्रत्याश्लिष्ट मवामतैव सुदृशो वामत्वमाख्यापयत् ।।१७८।।

अति गूढ मानत्वादिय प्रगल्भाप्रिमदशास्थितेव ।
नो सङ्गीतकमालपन्ति न शुकीरध्यापयन्त्यालयो
नानन्दस्तव मन्दिरेऽद्य किमिति स्व दोषमाच्छादयत् ।

श्रीकृष्ण आह—हे-सखे ! सा मा दूराद् वीक्ष्य लीलायुक्तयाऽङ्गुलि मुद्रयाऽवगुण्ठन द्राघयते दीर्घ करोति । मयि प्रत्यासेदुषि निकटवर्त्तिनि सति आदर बोधक कर युगेनाञ्जलि करोति । आपृष्टा ईषद् वाक्येन पृष्टा, मया हस्तेन स्पृष्टा सा ।।१७७।।

दूरादेव मा दृष्ट्वा तथा आसनादुत्थितम्, पश्चान्मयि निकट गतेसति, मयि स्मित्वा भाषिणि सति तथा मन्द यथा स्यात्तथा किञ्चिद् भाषितम् । कथम्भूतम् ? सुधाया मृदुक्षरणमिव । तस्यार्धासन मयि आरूढे सत्यात्मन सौभाग्य तथा प्रकटितम् । मयि तामाश्लिष्यति सति तथापि प्रत्याश्लिष्टम् सा प्रत्यालिङ्गन कृतवतीत्यर्थ । सुदृशश्च प्रावल्या अवामता अकुटिलतव वामत्वमख्यापयत् ।।१७८।।

श्रीकृष्ण सबलमाह—हे सखे ! स्वेन मयैव कृत यद् दोष तमाच्छादयितु ता मानिनीं प्रति तव मन्दिरेऽद्यानन्द कथ न भवतीत्यह यदूचे, तदा क्रोधेन अरुणापाङ्ग्या तयापीद वक्ष्यमाण जगदे—

शिखामणि सयुक्त प्रणामाञ्जलि का विधान किया ।।१७६।।

मैं दृष्टि पथमे पतित होने से दूरसे ही लीलामयी अङ्गुली मुद्रा के द्वारा प्रिया, अवगुण्ठन वसनको दीर्घ करने लगती है, मैं निकट वर्त्ती होने पर कर युगल के द्वारा समादर सूचक अञ्जलि रचना करती है, किञ्चित् प्रश्न करने से कम्पित होने लगती है इस प्रकार सुतनु,—मेरे प्रति वामता वा अनुकूलता को प्रकट करती है । मै उसको समझ नहीं पाया ।।१७७।।

प्रगलभाके तीन प्रकार का उदाहरण—मुझको दूरसे आते देखकर ही आसन से उठ कर खडी हो गई समीप मे मै आने पर हाथ से आसन प्रदान किया, हँसकर वाक्यारम्भ करने से अमृत बिन्दु निस्यन्दि मृदुमधुर दो चार वार्त्तालाप भी किया, अर्द्धासन ग्रहण करने से निज सौभाग्य प्रकाश किया, आलिङ्गन करने से प्रत्यालिङ्गन प्रदान किया । इस रीतिसे सुलोचना की अवामताने ही वामता को प्रकट किया ।१७८

यद्य चेऽहमिदन्तयापि जगदे भुग्नारुणापाङ्गया
तुभ्यं धूर्त्तधिये नमोऽस्तु भगवन् मह्यञ्च वीतह्रिये ॥
अन्तिम प्रगल्भा यथा—(१५६ श्लोके) 'श्लिष्टाश्लिष्यति गोकुलेन्द्र तनयम्' इत्यादि ।१७९॥
अथासामवस्था भेदेनाष्टविधत्वमुच्यते । लक्षणेनैव सञ्ज्ञा गम्या ।
अथ विरहोत्कण्ठितादिक्रम —
गाढानुरागा प्रागेव लब्धसङ्गापि हैतुके ।
विरहे वर्धितोत्कण्ठा विरहोत्कण्ठिता मता । १८०॥
हैतुक इति मानादि हेतुके, नतु केवलेविरहे ।
यथा —अन्त कृन्तति मर्म मुर्मु रयति प्राणान् विनष्टीव मे
दौरात्म्या् यदनादरोऽद्य विहित कृष्णे मया मूढया ।

हे भगवन् ! धूर्त्ताय तुभ्य नम । वीतह्रिये निर्लज्जाय मह्यमपि नम । त्वदुक्ति श्रवणमेव मम निर्लज्जत्व चिह्नमिति ज्ञेयम् ॥१७९॥

अथेति । आसा प्रेयसीनामुत्कण्ठिताद्यवस्था भेदेनाष्टविधत्वमालङ्कारिक रुच्यते । तेषामवस्था-भेदानां लक्षण करणेन नामान्यपि ज्ञेयानि । तत्रावस्थासु विरहोत्कण्ठितादीना क्रमोयथा,—प्राक पूर्व, गाढ पूर्वानुरागो यस्या, सा पश्चाल्लब्ध सङ्गापि प्रथमत क्रोधाधीन मानजन्य विरहे सति पश्चात् कोपे शान्ते सति च कान्तेन सह मिलनेन वर्धिता उत्कण्ठा यस्या सा विरहोत्कण्ठिता ज्ञेया ॥१८०॥

मया द्य कृष्णे योऽनादरो विहित, स ममान्त करण छिनत्ति । मुमरस्तुषाग्नि, मम तादशाग्निवत्

अति गूढ मान हेतु इस प्रगल्भा नायिका है—इस के परवर्त्ती दशा मे अवस्थिता नायिका का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण सुबल को कहे थे—मैंने निज दोषाच्छादन हेतु जिस प्रकार कहा—हे सुन्दरि ! आज तुम्हारे मन्दिर मे कुछ भी आन द चिह्न नहीं दिखाई देता है ? सखी वृ द-सङ्गीत आलाप भी नहीं कर रही है, शुकाङ्गना वृ दको भी अध्ययन नहीं करा रही हैं ।' यह सुनकर ही मानिनी रोषारुण कुटिल कटाक्ष निक्षेप पूर्वक बोली भगवन् ! तुम्हारी धूर्त्तता को भी नमस्कार, एव मेरी निर्लज्जता को भी नमस्कार ॥१७९॥

अवस्थाभेद से उक्त नायिकावृन्दके अष्टविध भेद होते हैं, उसका पृथक रूपसे नाम निर्देश करना आवश्यक नहीं है, कारण, लक्षण के द्वारा ही सञ्ज्ञा की प्रतीति होगी। सम्प्रति विरहोत् कण्ठिता के क्रमसे विवरण प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम गाढानुरागा । एव पश्चात् लब्ध सङ्गा होकर भी प्रथमत कोपादि हेतु जो अभिमानिनी होती है एव तत् पश्चात् कोप का उपशम होने से अभिमानादि हेतु विरह मे मिलनाथ नि्ता त उत्कण्ठिता होती है उसको विरहोत्कण्ठिता कहते हैं ॥१८०॥

मान हेतु कोप शान्त होने पर मिलनाथ उत्कण्ठा होती है, केवल विरह में नहीं। इस प्रकार

त वा सङ्गमयस्व सुन्दरि मया मज्जीवित तेवा
द्वाभ्या नापरमस्ति किञ्चिदपि मे सन्ताप निर्वापकम् ॥१८१॥
सङ्केतस्थ प्रिय ज्ञात्वा सह सख्यैकिकाथवा।
गत भीर्योऽभिसरति सा भवेदभिसारिका ॥१८२॥
यथा—श्याम त्वामभि सत्तु मन्धतमसे पादापण प्रक्रमे
स्रस्तोनील निचोलक स्तनुरुचा निर्धूतमन्ध तम॰।
विश्व तावदिलावृताद्वितमभूत्गौरेऽमिलद् गौरिमा
तेनालक्षितमाजगाम सुतनु प्रेम्ण स्तवेद यश ॥१८३॥
अन्यासक्तेन कान्तेन खण्डिताशा तु या निशि ।
प्रातस्तद् भोग चिह्नानि वीक्ष्योद्विग्ना तु खण्डिता ॥

करोति। हे सुन्दरि ! मया सह त श्रीकृष्ण सङ्गमयस्व। अथवा, तेन सह मज्जीवित सङ्गमयस्व ॥१८१ १८२
सख्या सह किंवा एकाकिन्यभिसरति ! हे श्याम ! सुतनुमम सखी त्वामभिसत्तुं गाढा धकार रात्रौ पादापणारम्भे त्वरातिशयादङ्गान्नीलवस्त्र स्रस्तम्। वस्त्ररूपावरणे गतेसति तनुकान्त्याऽन्धकारोऽपि मत । ततोऽभिसारे महान् विघ्नोबभूव। पश्चाद् भाग्येन तस्यदेहस्य पीत कान्त्या विश्वमव इलावृताद्वित पीत वणमभूत्। सुमेरो निकट वर्त्ति भूमेरिलावृत सज्ञा। सा भूमि सुमेरो पीतकान्त्या सदा पीतवर्णा एवेति। ततो गौरवर्णे वृन्दावन प्रदेशे तस्या देहस्य गौरतामिलत्। तेन हेतुना अलक्षित यथा स्यात्तथा तव निकटे आजगाम। त्वद् विषयक प्रेम्ण एवेद यश ॥१८३॥

अन्य नायिका सक्तेन, अतएव निशि तन्निकटागमने ऽसमर्थेन श्रीकृष्णेन खण्डिता सम्भोगाशा यस्या

विरहोत्कण्ठिता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

मै मूढमति हूँ, दौरात्म्य हेतु श्रीकृष्ण के प्रति जो अनादर प्रकाश किया हूँ, वह मेरी अन्त करण को जसे छेदन कर रहा है, तुषाग्नि से ममस्थल को जसे दहन कर रहा है, पञ्च प्राण को जसे पेषण कर रहा है। हे सुन्दरि ! मेरे सहित उनको मिलन कराओ, अथवा उनके सहित मेरा जीवन को सम्मिलित करो, ये दो को छोडकर मेरा सन्ताप निवारण का और तीसरा उपाय नहीं है ॥१८१॥

प्रियतम को सङ्केत स्थल मे अवस्थित जानकर सखी के सहित अथवा एकाकिनी निभयचित्त मे जो अभिसरण करती है—उसको अभिसारिका कहते हैं ॥१८२॥

हे श्यामसुन्दर ! गाढ अन्धकार के समय तुम्हारे अभिसरण करने मे इच्छुक प्रियसखी गमनारम्भ करने पर गमन वेग से उनका नील वसन विगलित हो पडा। एव आवरण शून्य शरीर क प्रभाजाल से धनान्धकार दूरीभूत हुआ।

उस समय विश्वमण्डल सुमेरु के समीपवर्त्ती इलावृत वषके तुल्य गौर वण होने के कारण विशेषत गौरवण वृन्दावन मे स्वकीय गौरिमा सम्मिलित होने के कारण आप अलक्षित रूपसे आने मे समथ हुये हैं।

हे कृष्ण ! यह तुम्हारी अपूव प्रेम रूप यशोराशि मात्र है, और कुछ नहीं है ॥१८३॥

यथा (तृतीय किरणे ७१ श्लोक) (पद्मिन्यह कुमुदिनी किलसैव' इत्यादि ।।१८४।।

दूतीभि प्रार्थ्यमानोऽपि गन्तास्मीत्युक्तवानपि ।
दैवान्नायाति यत् कान्तो विप्रलब्धेति सा स्मृता ।।

यथा।—सुमुखि स किमवादीदेष यामीति तस्मात्,
कथमजनि विलम्बोमास्म भू सन्दिहाना ।
कथय किमु भत्र या यास्यते तत्र भूय,
किमथ मदसुभिर्वा तुल्यमेतद् द्वय मे ।।१८५–१८५।।

कोपेनान्तरिता या तु कलहान्तरिता तु सा ।।१८७।।

एवम्भूता या प्रात कालेऽपराधमाजनाथमागतस्य श्रीकृष्णस्य सम्भोग चिह्नानि वीक्ष्य कोपेन मानिनी बभूव, सा खण्डितोच्यते ।।१८४।

एष श्रीकृष्णो यामीति किमवादीत्, यदि अवादीत् तदा विलम्ब कथमजनि ? तस्मात हे सखि ! तस्यागमने सन्दिग्धापि त्व माभू । स तु नागत एव, अधुना किं कर्त्तव्य कथय । तदानयनार्थ भवत्या यास्यत, किं वा मत् प्राणर्वा । त्व मत् प्राणाश्च एतद् द्वय प्रेमास्पदत्वेन ममतुल्यमेव ।

तथा च विरह ज्वालया स्थातुमसमर्था प्राणा यदि मद् देहाद् गता स्तदा मद्विच्छेदेन तव महद् दु ख भविष्यति । अग्रे युष्मद् गमनमेवोचितमितिध्वनि ।।१८५–१८६।।

कोपेनान्तरिता रहिता ।।१८७।।

कान्त अन्य नायिका मे आसक्त होने पर निशा मे जिसकी आशा खण्डिता होती है, अनन्तर प्रभात मे कान्त के अङ्ग मे सम्भोग चिह्न समूह को अवलोकन करके जो अत्यन्त उद्विग्ना होती है उस नायिका का नाम खण्डिता है । तृतीय किरण क ७१ श्लोक इसका उदाहरण है श्लोक यह है—

'पद्मिन्यह कुमुदिनी किल सैव सत्य, सत्य भवाश्च मधुसूदन एवमत्त ।
वामेनतामसुखयन्निशि दक्षिणेन, प्रात प्रबोधयति मामपि लोचनेन ।।

मैं पद्मिनी हूँ, वह भी कुमुदिनी है, यह सत्य है, एव तुम भी जो मत्त मधुसूदन हो यह भी यथार्थ है ।।१८४।।

दूती वृन्दके द्वारा प्रार्थित होकर भी एव स्वय आगमन को अङ्गीकार करके भी जिसका कान्त दैव से नहीं आता है, उसको विप्रलब्धा कहते है । उदाहरण—

हे सुमुखि ! उन्होने क्या कहा—मै अभी आ रहा हूँ । तब क्यो विलम्ब हो रहा है ? सखि ! उनके आगमन विषय मे किसी प्रकार सन्देह न करो ।' निसन्देह कसे होगा ? तुम क्या पुनर्वार वहाँ जाओगी, अथवा मेराप्राण वहाँ गमन करेगा ? निश्चय पूर्वक कहकर मुझको निरुद्विग्न करो । फलत तुम और मेरा प्राण—उभय ही मेरे निकट तुल्य प्रेमास्पद हैं । यह जानना ।।१८५ १८६।।

जो नायिका पदानत कान्त को परित्याग करके पश्चात् अतिशय ताप अनुभव करती है, अनन्तर

यथा—अस्माभि सह चादुकृत्र गणित पादानतो माधव
कोपोऽय बहुमानितो न च वय प्राणेश्वरो नाऽप्यसौ ।
चन्द्रश्चन्दनमारुत पिकरुत सम्भूय सर्व यदा
तामुद्वेजयिता तदैष सकल कोयसमाधास्यते ॥१८८॥

वासगेहे वेशभूषा ताम्बूल वसनादिभि ।
सुसज्जाऽपेक्षते कान्त सा स्याद् वासक सज्जिका ॥१८९॥

यथा—ताम्बूल माल्य वसनाभरणानुलेपा, सम्पादितास्तवकृते स्वयमेतया ये ।
ते ह्येव ता त्वयि विलम्बिनि तत्क्षणेन, सन्तापयन्ति वितुदन्ति विमोहयन्ति ।१९०

कार्य्यान्तरेण प्रवास गते सति मनोऽधिपे ।
तन्मनस्कैव या तिष्ठेत् सा स्यात् प्रोषितभर्त्तृका ॥१९१॥

मानभङ्गार्थ त मन्दिरे गत्वा प्रणत्यादि पर श्रीकृष्ण कोपादेशेन स्वगृहाद्दिष्कारय कार्येगतेसति पश्चात्तापवती स्वसखीमाह—हे सखि ! श्रीकृष्ण क्वगत, शीघ्र तमानय । इत्युक्तवतीं यूथेश्वरीं प्रति सखी आह-अस्माभिरिति । मारुतो—वसन्तानिल, एतत् सव सम्भूय मिलित्वा यदा त्वा विरहिणीमुद्वेजयिता उद्दीपनत्वेन खेदयिष्यति, तदा एष कोप एव सकल समाधान करिष्यति । किमस्माभि निकृष्टाभिरिति सखीनामाक्षेपोध्वनि ॥१८८॥

हे श्रीकृष्ण ! तन्निमित्त ये ताम्बूलादय एतया मम सख्या सम्पादित, तव विलम्बे सति ते एव ताम्बुलादयस्ता वितुदन्ति—व्यथयन्ति ॥१८९-१९०॥

पाण्डव दर्शनार्थं कृष्णे कुरुदेशान् गतेसति महिषीणा नयन कमल लहरी कटाक्षादिक नास्तीति ।

जिसका कोप का उपशम होता है उसका नाम कलहान्तरिता है ॥१८७॥

माधव चरणो मे निपतित होकर कितना ही अनुनय विनय हम सब से किया, किन्तु तुमने कुछभी नहीं माना तुमने कोप को ही सम्मानित किया । प्रिय का एव हम सब का सम्मान तुमने नहीं रखा । न रखो, तुम्हारे काप की ही जय हो किन्तु जिस समय, चन्द्र, चन्दनानिल, कोकिल कलध्वनि प्रभृति सम्मिलित होकर तुमको उद्विग्न करने मे प्रवृत्त होंगे, उस समय यह कोप ही सब समाधान कर देगा, यह जानना, हम सब तो अतितुच्छ हैं हम सब से प्रयोजन ही क्या है । यह ध्वनित हुआ ॥१८८॥

वेश भूषा ताम्बूल वसनादि द्वारा सुसज्जिता होकर जो नायिका वासगृह मे कान्त की अपेक्षा करती रहती हैं, उसको वासक सज्जिका कहते हैं ॥१८९॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! यह मेरी सखी तुम्हारे निमित्त ताम्बूल, माल्य, वसन, आभरण एव अनुलेपन प्रभृति को जो सज्जित करके राखी है, तुम्हारे आगमन मे विलम्ब होने के कारण वे ही उसको सन्तापित, व्यथित, एव विमोहित करते रहते है ॥१९०॥

प्राणेश्वर, कार्य्यान्तर हेतु प्रवास गत होने पर जो नायिका तन्मनस्का होकर अवस्थान करती है,

यथा—न वाणी नस्पन्दो न च नयन पङ्कज लहरी
न वीणादेर्गान श्रुतिरपि न चालीजन कथा ।
कुरून् याते कृष्णे पुरि पुरि महिष्य समभवन्
पटे चित्तोत्कीर्णा इव विरह वधूर्य्य तनव ॥१६२॥

निरन्तर प्रेम वशात् पाश्ववर्तीव यत्प्रिय ।
वाग् वश प्राय आभाति सा स्यात् स्वाधीन भर्त्तृका ॥१६३॥

यथा—इय मम सखी प्रिया रचय वेशमस्या स्वय
प्रसादय सखीमिमा मयि वृथैव जात क्रुधम् ।
इति प्रणय कौतुकादिव नियोजितो राधया
चकार रसिकाग्रणीरथ तथा तथा माधव ॥१६४॥

अथासामलङ्काराः—यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसङ्ख्यका ।
अलङ्कारास्तत्र भावहाव हेलास्त्रयोऽङगजा

एव वीणादेर्गान श्रवणमपि नास्ति, किन्तु ता महिष्य पटेषु चित्र पुत्तलीव जडा समभवन् । कथम्भूता ? विरहस्य वधुर्य्येण प्रातिकूल्येन तनव कृष्ण ॥१९२॥

यस्या प्रिय प्रायो वाग्वश सन् आभाति, सा श्रीराधिका श्रीकृष्णमाह—इय सखी ललिता ममात्य त प्रिया, किन्तु त्वया कृत यदस्या विडम्बन तन्मत् प्रेरित ज्ञात्वा मयि वृथव जात क्रुधामिमां प्रसाद्य, प्रसन्ना कुरु। एव कामोन्मत्तेन त्वया खण्डितमस्या वेश पुनस्त्वमेव रचयेति राधया नियोजितो रसिकाग्रणी श्रीकृष्णस्तथा तथा चकार ॥१९३-१९४॥

सत्त्वजा—इति श्रीकृष्ण सम्बन्धि चेष्टोत्य भावैराक्रा त चित्तसत्त्वम्, तस्माज्जाता सत्त्वजा इत्यथ ,

---

उसको प्रोषित भत्त का कहते हैं ॥१९१॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण, पाण्डव गणो के दर्शनार्थ कुरुदेश गमन करने पर तदीय महिषी मण्डली विरह क्लेश से कृशाङ्गी होकर निर्वाक एव निष्पन्द हो गई थीं, उन सब के नयन कमल मे कटाक्ष लहरी नहीं थी वेण वीणा प्रभृति के सङ्गीत श्रवण मे वा सखीवृन्द के कथोपकथन श्रवण मे भी उन सब की प्रवृत्ति नहीं रही, वे प्रति गृह मे भित्ति शोभिनी चित्र पुत्तलिका के समान अवस्थाका प्राप्त कर चुकी थी ॥१८२॥

प्रियतम प्रेमवश होकर प्रायश जिसके आज्ञानुवर्त्ती होकर पार्श्ववर्त्ती के समान सतत अवस्थान करता रहता है, उसका भाव स्वाधीन भर्त्तृ का है ॥१९३॥

उदाहरण—यह सखी मेरी अतिशय प्रिया है, तुम स्वय इसकी वेश रचना कर दो, यह अकारण ही मेरे प्रति कुपिता हो गई है, इसको प्रसन्न करो, श्रीराधा, प्रणय कौतुक के छल से इस प्रकार नियोग करने से रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण—नियोग के अनुरूप ही तत्तत् कार्य्य सम्पन्न किये थे ॥१९४॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्य्यञ्च प्रगल्भता ।
औदार्य्यं धैर्य्यमित्यते सप्तैव स्युरयत्नजा ।
लीला विलासविच्छित्तिर्विब्वोक किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायित कुट्टमित विभ्रमो ललित मद ।
विकृत तपन मौग्ध्य विक्षेपश्च कुतूहलम्
हसित चकित केलिरनुभावादिमे पृथक् ॥

यद्यप्येषु केचिदनुभाव सदृशा सन्ति, तथापि पृथक् । ते तु रसाभिव्यञ्जका, एते तु रसाभिव्यञ्जकत्वेऽपि स्वत समर्था, तेनालङ्कारा एव ।

तत्रषा लक्षणम् भावोयथा—

'निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथम विक्रिया ।
आलम्बनोद्दीपनोत्थ भावादपि स च द्विधा ॥१९५–१९६॥

तत्रालम्बनोत्थो यथा—

आधूलि केलि शतश सह येन येय, प्रागल्भ्यचारु रुचिर कलहायते ।

अङ्गजा इति, नेत्रान्त भ्रू ग्रीवा भङ्गयादीना तत् सूचकत्वात्तेभ्य एवाङ्गेभ्यो जाता प्रतीता इत्यथ, न तु वस्तुनोऽङ्गजा —सत्त्वजा इत्युक्तत्वात् । अयत्नजा इति शोभाद्य वेशादि प्रयत्ना भावेऽपि शोभाद्य स्युरित्यथ । इमे भावादयोऽनुभावाद्भिन्ना भवन्ति, तेऽनुभावा रसाभिव्यञ्जका गौणा एव । अलङ्कारास्तु रसादि व्यञ्जकत्वेऽपि स्वत समर्था रसोत्पत्तौ तेषां प्राधान्येन भानमस्तीत्यथ ॥१९५ १९६॥

येय राधिका बाल्ये येन कृष्णेन सह धूलि केलिमभिव्याप्य शतश कलहायत स्म, परस्पर हस्ताभ्या ताडनेन यत् प्रागल्भ्य तेन चारु यथास्यात्तथा, सा राधिका अधुना वय स धौ त श्रीकृष्णमपूर्वमिवेक्ष्यमाणा

सम्प्रति उक्त नायिका वृ द के अलङ्कारो का वर्णन करते हैं । यौवन मे उन सब के सत्त्वज अष्टाविंशति सख्यक अलङ्कार होते हैं । त मध्ये हाव भाव एव हेला ये तीन अङ्गज है, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, धर्य्य एव औदार्य्य ये सात अयत्नज हैं । एव लीला विलास विच्छित्ति, विब्बोक किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमिता, विभ्रम ललित, मद, विकृत तपन, मौग्ध्य, विक्षेप कुतूहल, हसित, चकित, एव केलि-समुदाय मे अष्टाविंशति सख्य होते हैं ।

ये सब अनुभाव से भिन्न हैं । इन सब के मध्यमे किसी किसी मे अनुभाव का सादृश्य विद्यमान होने पर भी वस्तुत उस से इसको पृथक कहना होगा, कारण—अनुभाव गौण रूप मे रसादि का व्यञ्जक होता है किन्तु ये सब अलङ्कार—व्यञ्जक होने पर भी स्वत समथ हेतु अलङ्कार रूप मे गण्य होते हैं ।

क्रमश लक्षण प्रस्तुत करते हैं—निर्विकार चित्त मे प्रथम विकार का नाम भाव है, उक्त भाव-आलम्बन एव उद्दीपन भेद से उत्थित होकर द्विविध होते हैं ॥१९५ १९६॥

आलम्बनोत्थ भाव का उदाहरण—यह राधिका—बाल्यकाल मे धूलि क्रीडा मे जिनके सहित अनेक

त श्यामसुन्दर मपूव मिवेक्षमाणा, सा गण्डयो पुलकमण्डलिका तनोति ॥२००॥

उद्दीपनोत्थ यथा—

एतानि तानि नलिनीविपिनानि व्याप्यामेते त एवमधुपा नलिनाननेषु ।
आबाल्यमेव कलितानि किमद्य राधा, नवावकषति विलोचन मेषुलग्नम् ॥२०१॥

हृन्नेत्रादि विकारैस्तु व्यक्तोऽसौ याति हावताम् ॥२०२॥

असौ भाव ॥

लोलेन किञ्चिदलसेन च किञ्चिदक्ष्णा, सा यद्विभेद हृदय व्रजराजसूनो ।
तस्यास्तदेव हृदयेन सम तदन्तस्तेनाध्वनव नु विवेश नवानुराम ॥२०३॥

सती गण्डयो पुलकरूप मण्डनिका भूषण तनोतीति पौणमासी व्यक्यमिद ज्ञेयम् ॥२००॥

वाप्या जलाशये एतानि प्रत्यक्षविषयीभूतानि कमलिनी विपिनानि बाल्यमभिव्याप्य यानि श्रीराधया कलितानि दृष्टानि, ता यव । त्व कमलिन्या कमलरूपाननेषु विद्यमाना एते मधुपा बाल्ये दृष्टा ते एवाद्य वय स घो कि नाकषतीति चित्रम् । देहस्थानीया कमलिनी मुखस्थानीय कमल कृष्णस्थानीया भ्रमर । अस्मादेते उद्दीपका भवन्ति ॥२०१॥

असौ भाव एव वयस आधिक्ये कमप्युत्कष प्राप्य हावोभवेत् । पूर्वापेक्षया अत्रनेत्रादेर्विकाराधिक्य बोध्यम् । एवमुत्तरोत्तर हेलादावप्येवमेव ज्ञेयम् ॥२०२॥

सा राधिका किञ्चिच्चञ्चलेन एव किञ्चिदलसेन मन्थरेण चाक्ष्णा श्रीकृष्णस्य यद् धदय विभेद, तेन विद्ध हृदयस्य छिद्ररूपम र्गेण तस्या राधाया हृदयेन सह नव नुरागस्तस्य श्रीकृष्णस्या त करण विवेश, तथा च श्रीकृष्णा राधिकाया नेत्रभङ्गीं वीक्ष्य तस्या हृदयेन सह स्व विषयकानुरागो जात इत्य त करणे निश्चिकायेति भाव ॥२०३॥

समय प्रगलभ भावसे बारम्बार कलह करती थी, अधुना उन श्यामसुन्दर को अदृष्ट पूव क समान अवलोकन करके गण्डस्थल मे पुलकावली का विस्तार कर रही है ॥२००॥

उद्दीपनोत्थ भाव का उदाहरण— श्रीराधिका बाल्य कालसे आरम्भकर जिसको निरीक्षण करती आ रही हैं, वह तो वही पद्मकानन है, एव पङ्कज रूप आनन मे जो उपवेशन करता रहा वही मधुकर है, किन्तु आश्चय्य यह है कि—अधुना उसमे दृष्टिपात मात्र से ही नयन इस प्रकार सलग्न हो गया है कि—राधिका नयन युगल को उससे आकषण करने मे अक्षम हैं । देहस्थानीय कमलिनी है, मुखस्थानीय कमल है एव कृष्ण स्थानीय भ्रमर है, इससे ये सब उद्दीपक होते हैं ॥२०१॥

उक्त भाव हृदय एव नेत्रादि के विकार हेतु अभिव्यक्त होने से हाव नाम से अभिहित होता है । इस प्रकार रीति का अनुसरण हेलादि मे भी करना होगा ॥२०२॥

उदाहरण—राधिकाने ईषत् चञ्चल एव ईषदलस नयन भङ्गि के द्वारा व्रजराज तनय के हृदय को जो विद्ध किया था उस भेद प्राप्त हृदय के छिद्र रूप पथ से नवीन अनुराग श्रीराधा के हृदय के सहित क्या श्रीकृष्ण के अन्त करणमे प्रवेश किया है ? अर्थात् श्रीकृष्ण राधिका की नेत्र भङ्गी को देखकर उसका

हेला स एवाभिलक्ष्य विकार परिकीर्त्यते ।।

स एव–हाव एव ।।२०४।।

यथा—एकमप्यतिरहोऽपि तमेका, प्युत्सुकापि सखि नाहमपश्यम् ।

कोमल कुवलयादपि हन्यात्, साहसेन कतमेन कटाक्ष ।।२०५।।

हेलैव शोभा लावण्यरूपवेशादिभिर्युता ।।२०६।।

यथा—वेशो नव प्रतिनवश्च वयो नवीन, लावण्यक मधुरमाऽपि नवीन एव ।

कृष्णानुरागसरसी सततावगाहे, तस्या बभूवुरतिधौत निराविलानि । २०७।।

शोभैव मन्मथोन्माथात् कान्तिरुद्दीपितद्युति ।।२०८।।

हाव एव पूर्वापेक्षयाधिकाभिव्यक्तविकार सन् हेला कथ्यते ।।२०४।।

ललिता श्रीराधामाह—हे सखि ! अद्य सुबल मुखा मया श्रुत कुत्राप्येका ते त्वया दृष्ट श्रीकृष्णो विक्षिप्त इव बभूव । सम्प्रति भोजनम्, सखिभि सह खेलनम्, गोचारणाद्यन्तत् सर्वं किमपि तस्मै न रोचते । अत एतादृशोऽसमञ्जसस्त्वया कथ कृत इत्युक्तवतीं ललिता प्रति श्रीराधा आह—अत्यन्त रहस्यस्थले तमेकमपि अहमप्येका । एव तस्य दर्शने उत्सुकापि, तथापि तस्य क्लेशो भविष्यतीति बुद्ध्वा नापश्यम् । किन्तु मद्वचन ममानयन् मम कटाक्ष एवानथ करोत्याह—त कोमलतनु साहसेन हन्यात् मया किं कर्त्तव्यम, त्वयैव विचार्यतामिति भाव ।।२०५।।

एतद्युता हेलैव शोभा भवेत् ।।२०६।।

नवीनो वेश , प्रतिक्षण नव वय । एतानि तस्या राधाया श्रीकृष्ण विषयकानुराग रूप सरस्या सततावगाहे सति वेश वयो लावण्यादीन्यति धौता युज्ज्वलानि । एव निराविला यल्पत्वादि दोष रहितानि बभूवुरित्यर्थ ।।२०७।।

मन्मथस्यात्युद्रेकादुद्दीपिता द्युतिर्यस्या सा शोभैव कान्तिरुच्यते ।।२०८।।

हृदय के सहित निज विषयक जो अनुराग उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार निश्चय किये थे ।।२०३।।

पूर्वापेक्षा विकार अधिकतर अभिव्यक्त होने पर उक्त हाव ही हेला नाम से अभिहित होता है ।२०४।

उदाहरण—वह अति निर्जन स्थल मे एकक हो अवस्थित था, मैं भी एकाकिनी रही, एव उसके दर्शनार्थ उत्कण्ठिता ही थी, तथापि उसके क्लेशातिशय की सम्भावना करके उसके प्रति दृष्टि निक्षेप नहीं किया । हे सखि ! मेरा कटाक्ष किस साहस से उसके कुवलयाधिक सुकोमल अङ्ग मे आघात करने मे समर्थ होगा ? ।।२०५।

रूप लावण्य एव वेशादि संयुक्त होने से उक्त हेला ही शोभा नाम से अभिहिता होती है ।।२०६।।

नवीन वेश नूतन यौवन, नव लावण्य एव अभिनव माधुरी श्रीराधाके ये सब पदार्थ समूह — कृष्णानुरागरूप सरोवर मे सतत अवगाहन करने के कारण अतिधौत एव अनाविल हुये थे ।।२०७।।

उक्त शोभा ही मन्मथोद्रेक से समुज्ज्वला होने से कान्ति शब्द से कथिता होती है ।।२०८।।

यथा—को वेदरे सखि लगिष्यति दृष्ट एव, कोवेद जीवमपनेष्यति लग्न एव ।
प्रेङ्खोलिभि पारमलै सहसान्धयासो, श्यामोरस परिचितोवदकोऽपराध- ॥२०९॥
कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्युच्यते बुधै ॥२१०॥
यथा—धौताश्रुभि प्रसव एव कटाक्षभूमि, रुच्छ्वास एव कुचरत्नखनि प्रतप्ता ।
बाल वयस्तदनु राग भरक्षमत्व, मध्यास्य केन गुणिनैवमकारि राधे ॥२११॥
सर्वावस्था विशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ॥२१२॥
यथा—जलावगाहे च्युतमेखलाया शैवालवल्ल्यैव बभौ नितम्ब ।
अकतव रूपमहेतुहार्द, सर्वास्ववस्थासु सदैकरूपम् ॥२१३॥

श्रीकृष्ण स त्वयास्मन्निषधमनाहृत्य कथ दृष्ट ,तदा तत् फलमपि भुङक्ष्व, इत्युक्त वती सखीं प्रत्याह-कोवेदेति—प्रेङ्खोलिभि सवत्र प्रसरद्भिस्तस्य परिमल श्याम स्वरूपो रस मया दृष्ट ॥२०९-२१०॥

पौर्णमासी आह हे राधे ! तत् प्रौढवयसोऽपि दु सहमनुरागाभिरक्षमत्व केन पि गुणिना तव नवीन वयोऽध्यास्य एवमकारि। किं कृतमित्यपेक्षायामाह येन कट क्षरूपा भूमि प्रसव एव प्रसूति काल एवाश्रुभि धौता अकारि। तथा च कटाक्षस्यारम्भ एवाश्रु जल सर्वं प्लावितमिति भाव । एव कुचरूप रत्नखनि, उच्छ्वास एव उद्गम एव कामप्रतप्ता अकारि ॥२११-२१२॥

अहेतुहार्दं वेशादि हेतु विनव हृदयङ्गमम्, अतएवाकतवमकृत्रिमम् ॥२१३॥

उदाहरण—हे सखि ! दर्शन मात्र से ही जो नयनो मे लग्न होगा, इस को कौन जानता ? नयनों मे सलग्न होने से ही वह जो जीवन हरण करेगा ? इस को भी कौन जानता ? मै मधु गन्ध लब्ध मधुकरी के समान अन्ध ही गई थी। इस अवस्थामे उस दूर विस्तारि सौरभसे परिपूर्ण रसमय वपु श्रीश्यामसुन्दर सहसा जो मेरा परिचित हो गया है, इस मे मेरा अपराध क्या है कहो ? ॥२०९॥

अति विपुला कान्ति ही दीप्ति नाम से अभिहिता होती है ॥२१०॥

उदाहरण—पौर्णमासी—राधिका का कह रही हैं—हे राधे ! प्रौढ वयस मे भी जिस अनुराग भर को सहन करने मे समर्थ नहीं होता है, तुम्हारे सुकुमार वयस जो तादृश अनुराग भर सहन क्षम हुआ है, उससे अनुमान करती हूँ कि कोई गुणिव्यक्ति उसको उस प्रकार सामर्थ्य शिक्षा देकर ईदृश अवस्था मे उपनीत किया है, अ यथा तुम्हारी कटाक्ष भूमि,—प्रसूति समय मे ही क्यो अश्रुधारा से धौत होगी ? अर्थात् कटाक्ष के आरम्भ मे ही अश्रुजल से सब को प्लावित किया है। यह तात्पर्य्य है। पयोधर रूप रत्न खनि, उच्छ्वास समय मे ही क्यो मदन स तप्त होगी ? ॥२११॥

समस्त प्रकार अवस्था विशेष मे जो रमणीयता है, उसका नाम माधुर्य्य है ॥२१२॥

उदाहरण—जलावगाहन समय मे मेखला पर्भ्रष्ट हो जाने से शैवाल वल्लीवेष्टन से ही नितम्ब देश सुन्दर शोभित होने लगा। वस्तुत अकृत्रिमरूप एव अहेतुक प्रणय—समस्त अवस्था मे ही एक रूप रहता है ॥२१३॥

प्रगल्भता निर्भयत्वम्, ॥२१४॥

यथा—(१५६ श्लोक) 'शिलष्टा श्लिष्यति इत्यादि।

औदार्य्यं विनय सदा ॥२१५॥

यथा—सख्या निजैरेव गुणैर्भवद्विधा, मय्येव तन्वन्त्यनुराग सौरभम्।

न चान्य सादगुण्यमपेक्ष्य सौहृद, प्रकाशयन्तीह निसर्गसाधव ॥२१६॥

सुखे दु खेऽपि महति धर्यं स्यान्निर्विकारता ॥२१७॥

यथा—आस्ता तदीयनवयौवनपूर्णवापी,

काऽपीयमत्र न करोमि निमज्जनेच्छाम्।

इच्छामि त कमपि कालमलज्जमुच्चै

राक्रन्दितु सुमुखि हा प्रिय हा प्रियेति ॥२१८॥

अङ्ग वेशैरलङ्कारै र्लीला कान्तानुकारिता ॥

सा च द्विधा—स्वगता सखीगता च । स्वगता च द्विधा

स्वकर्त्तृका, प्रियकर्त्तृका चेति ॥२१९॥

श्रीकृष्णस्य नवयौवन पूर्णा कापाय वापी, न त्वत्र निमज्जनेच्छा करोमि, किन्तु अलज्ज यथा स्यात्तथा, हा प्रिय, हा प्रियेत्युच्च क्रन्दितु कमपि कालमिच्छामि ॥२१८॥

वेशादिभि कान्तस्यानुकारिता सदृशी करण लीला ॥२१९॥

निर्भीकता का नाम प्रगल्भता ॥२१४॥

उदाहरण—ग कुल राज तनय श्रीराधा को आलिङ्गन करने से श्रीराधाने भी उनको आलिङ्गन किया, इत्यादि पूर्व श्लोक उदाहरण है ॥

सर्वदा विनयावनत भाव का नाम औदार्य्य है ॥२१५॥

उदाहरण—हे सखि वृन्द ! तुम सबके समान उदार चरित रमणी वृन्द निज गुण से ही मेरे समान रमणी के प्रति अनुराग सौरभ विस्तार करती रहती हैं। अर्थात् जो स्वभावत ही साधु प्रकृति के होते हैं, वे अ य किसी सद्गुणो की अपेक्षा करके किसी के प्रति सौहार्द प्रकाश नही करते हैं ॥२१६॥

अत्य त सुख वा अत्यन्त दु ख के समय मे भी जो निर्विकारता है, उसको धर्य्य कहते हैं ॥२१७॥

उदाहरण—अयि सुमुखि ! उनका अपूर्व नव यौवन रूप परिपूर्ण सरोवर सम्मुख मे विद्यमान हों, मै उसमे निमग्न होने का इच्छुक नहीं हूँ। मै केवल उस समय की इच्छा करता हूँ जिस समय मे मैं लज्जासे मुक्त होकर उच्च स्वर से हा प्रियतम ! हा प्रियतम ! ! कहकर रोदन कर सकती हूँ ॥२१८॥

अङ्ग, वेश एव अलङ्कार के द्वारा कान्त का जो अनुकरण है, उसको लीला कहते है। स्वगत एवं सखी गत भेद से उक्त लीला द्विविध है, स्वगत लीला भी स्व कर्त्तृक एव प्रिय कर्त्तृक भेद से द्विविध होती हैं ॥२१९॥

क्रमेणोदाहरणे—वर्हेण बद्धचिकुरा करकलृप्तवेणु, रामुच्य पीतवसन वनमालिकाञ्च ।
कस्तूरिकाचित तनूरभसादियेष, राधा स्वमङ्गमुपगूहितुमङ्गकेन ॥२२०॥

काञ्चित् सखीं कुवलयोदर सोदराङ्गी, कृष्णाकृतिसमुपकल्प्यविभूषणाद्यैः ।
आलिङ्गित कृतमति स्वयमेव राधा, द्वेधा विभक्तमुपलब्धवती प्रमोदम् । २२१॥

स्वगतप्रियकर्तृ का—यथा—
सीमन्तचारुदयितस्य बबन्ध वेणी, राधा शिखण्डवलयै सच मौलिमस्या ।
अन्योऽन्य वेश परिवर्त्तन कौशलेन, द्वाभ्मामलभ्यत विशेषरते प्रमोद ॥२२२॥

यानस्थानासनादीना मुखनेत्रादिकर्म्मणाम् ।
विशेषे दयिता लोके विलास परिकीर्त्यते ॥२२३॥

पीतवसनमामुच्य नितम्बे बद्ध्वा, एव वन मालिका कण्ठे बद्ध्वा रभसात् कौतुकात् स्वीयाङ्गमङ्गकेन स्वाङ्गेन सखीभ्यो गोपयितुमियेष ऐच्छत् ॥२२०॥

कुवलयेति—इय सखी श्रीकृष्ण इव सहज श्यामा ज्ञेया। ता वेशादिना कृष्ण कृतिमुपकल्प्य द्वेधा विभक्त प्रमाद श्रीकृष्णालिङ्गन सुख सख्यालिङ्गन सखञ्चोपलब्धवती ॥२२१॥

राधा, श्रीकृष्णस्य सीम ते चारु यथास्यास्तथा वेणीं बब ध, स च श्रीकृष्णोऽपि अस्या राधाया मौलि मस्तक भूषण चूडा शिखण्डपिच्छादिभि र्बब ध। द्वाभ्यामिति—राधया आत्मान श्रीकृष्ण मत्वा श्रीकृष्ण कर्त्त क औद्ध यादिना रति 'वशेष जन्य प्रमोदोऽलभ्यत, एव श्रीकृष्णेनाप्यात्मान राधिका मत्वा राधिका कर्तृ क वाम्यादिना रति विशेष जन्य प्रमोदोऽलभत ॥२२२॥

दयितस्य श्रीकृष्णस्य दर्शने सति यानादीना मुखस्य नेत्रयो स्वाभाविक कर्मणाञ्च विशेषो वैलक्षण्य विलास ॥२२३॥

क्रमश उदाहरण द्वय को प्रस्तुत करते हैं—

मयूर वर्हके द्वारा केश बन्धन, कर तल मे वेणु धारण, अङ्ग मे कस्तूरिका विलेपन, कण्ठ मे वन मालिका ध रण, एव नितम्ब मे पीत वसन परिधान पूर्वक श्रीराधिका प्रमोद भरसे निज अङ्ग के द्वारा निज अङ्ग को आलिङ्गन करने के इच्छु क हुई ॥२२०॥

नीलोत्पल श्यामलाङ्गी किसी सखी को वेश वनमालादि विभूषण द्वारा श्रीकृष्ण के तुल्याकृति रूप मे कल्पना करके श्रीराधिका उसको स्वय आलिङ्गन करने मे कृतसङ्कल्पा हुई, एव आलिङ्गन के पश्चात् सखी एव श्रीकृष्ण—इन दोनो के आलिङ्गन हेतु उभय विध आन द उपभोग की अधिकारिणी हो गई ।२२१।

श्रीराधा, सीमन्त विन्यास के द्वारा रमणीय रूपमे दयित की वेणी बन्धव किया दयित भी शिखण्ड वलयादि के द्वारा उसका मौलि बन्धन किया। इस प्रकार परस्पर के वेश परिवर्त्तन कौशल से उभय ही विशिष्ट रति जनित प्रमोद परम्परा को प्राप्त किये ॥२२२॥

प्रियतमके दर्शन समय मे यान स्थान आसनादि एव मुख नेत्रादि चेष्टा का जो वैलक्षण्य होता है, उस

यथा —कश्चिच्चामरपाणिभि कतिपयस्ताम्बूलपात्रीकरै ।
केश्चिच्चासनधारिभि परिजनै र्धृतातपत्रै परै ।
सवीता मणियावतोऽवरुरुहु श्रीशे निखातेक्षणा ।
योषिन्मौलिमणीवरा इव कुरुक्षेत्र समेत्याङ्गना ॥२२४॥

यथा वा—सख्यैकया मूर्ध्नि धृताशुकाञ्चला, सवीज्यमाना दलमालयान्यया ।
अवेक्षमाणा दयित विदूरतश्चिनोति मन्द कुसुमानि राधिका ॥२२५॥

केचित्तु यान गनि, स्थान-स्थिति॰, आसन मुपवेश ।

तन्मते यथा—स्थितिमद भरालसा न गरिमाणमालम्बत
गति प्रकृतिमन्थरा त्वरत ईषदेव क्रमात् ।
सलीलमवलोकित नमति वङकते शङ्कते
स्वभाव इव लङघितः प्रिय समीपतो राधया ॥२२६॥

योषिता मुकुटस्थ मणिवरा इवाङ्गना श्रीकृष्णस्य महिष्य सूर्य्योपरागे कुरुक्षेत्रमागत्य श्रीकृष्णे निखातानि निक्षिप्तानि ईक्षणानि याभिरर्थाद दूरादेव श्रीकृष्ण दृष्ट्वा मणिमययानतो रथाद् भूमावरुरुहु । कथम्भूता ? चामरादियुक्त परिचारिकारूपपरिजन सवीत व्याप्ता । पात्री—क्षुद्रपात्र शिरसि धृतच्छत्र परे ॥२२४॥

एकया सख्या छाया निमित्त मूर्ध्नि धृत वस्त्राञ्चल यस्या सा, एवम यया सख्या दलमालया पल्लव श्रेण्या सवीज्य माना ॥२२५॥

राधिकाया स्वभावतोऽवस्थिति यौवनमदभरेणालस्य युक्ता भवति । श्रीकृष्णस्य दर्शने सतिगुरुता नालम्बने कि तु सम्भ्रमयुक्ता भवति । एवमस्या गतिरपि स्वभावतो म थरा भवति, श्रीकृष्ण दर्शने सति क्रमादीषदेव त्वरते । एवमवलोकनमपि स्वभावत सलील तस्य दर्शने सति कदाचिन्नमति कदाचिद् वङ्कते, कदाचिच्छङ्कते च ॥२२६॥

को विलास कहते हैं ॥२२३॥

परिजन गणके मध्य मे कोई तो चामर धारण, कोई तो ताम्बूल करङ्क वहन, कोई आसन वहन, एव कोई तो छत्र उत्तोलन पूवक चतुर्दिक को वेष्टन करके अवस्थित है, उसके मध्य वर्त्तिनी कृष्ण महिषी मण्डली—रमणी श्रेणी की मुकुट मणि के तुल्य शोभित हैं, क्रमश मणिमय रथ, कुरुक्षेत्र मे उपस्थित हुआ इससमय दूर से ही श्रीपति को देखकर मणिमय यान से भूमि मे अवतीर्ण हुई ॥२२४॥

एक सखीने श्रीराधाके मस्तकोपरि छाया हेतु वस्त्राञ्चल धारण किया है, अपर सखी पल्लवा वली के द्वारा वीजन कर रही है, राधिका अनन्य मना होकर दूरसे दयित के प्रति नयन निक्षेप पूवक धीरे धीरे कुसुम चयन करती रहती है ॥२२५॥

कतिपय व्यक्ति उक्त लक्षणोक्त यान- स्थान--आसन शब्द का अर्थ—गति, स्थिति, एव उपवेशन

स्तोकाऽप्याकल्परचना विच्छित्ति कान्ति पोषकृत् ॥२२७॥

यथा—द्वित्राणि पाण्योर्मणिकङ्कणानि, कृत्वा परित्यक्त समस्तभूषा ।
एक दधे वक्षसि नीलरत्न, तेनैव राधा नितरा विरेजे ॥२२८॥

गर्वेण वस्तुनीष्टेऽपि बिव्वोक स्यादनादर ॥२२९॥

यथा—सौरभ्यहानि वपुषोऽनुलेपनै, सौ दर्य्य ह्रासो मणिभूषणैरिति ।
अनादरा तेष्वपितानि सख्या, प्रेमोपरोधेन बभार राधा ॥२३०॥

यथा वा—कृष्णेन हर्षादुपढौकितानि निर्म्माय पुष्पाभरणानि यानि ।
उच्चैरभीष्टान्यपि तानि राधा, नैच्छद् गभीर प्रणय स्मयेन ॥२३१॥

अमर्ष हास वित्रास शुष्क रोदन भत्सनै ।
निषेधैश्च रतारम्भे किलकिञ्चितमिष्यते ॥२३२॥

अल्पमात्र वेश रचना भी कान्ति पोषक होने से उस को विच्छित्ति कहते हैं ॥२२७॥

अभीष्टेऽपि वस्तुनि गर्वेण हेतुना अनादरो बिव्वोक उच्यते ॥२२९॥

वपुषो य सहजगन्ध स्तदपेक्षयानुलेपनस्य गन्धो न्यून, एव वपुष सौन्दर्य्यापेक्षया भूषणस्य सौ दय्य न्यूनम् । अतो देहे तत्तद् वस्तुनोदाने स्वाभाविकसुगन्धसौन्दय्ययोर्ह्रास एव स्यात्, अतस्तेषु तस्या अनादरस्तथापि सख्या प्रेमोपरोधेन तानि बभार । अलङ्कारादीनामधारणे वय दरिद्रा इति जना वक्ष्यन्ति अतो लोकानुरोधेनैव सखीनामाग्रहो ज्ञेय ॥२३०॥

रतारम्भेऽमर्षादिभिर्मिलित रेतै किलकिञ्चितमिष्यते । तथा च रमणार्थं श्रीकृष्णेन स्वाभिलाषे

करते हैं । त मते उदाहरण—प्रियतम के सान्निध्य के समय मे राधिका जसे निज स्वभाव को भी उल्लङ्घन करती है ।

उसकी स्वभावत मदभरालसा अवस्थिति—गुरुत्व को अवलम्बन नहीं करती है, स्वभाव मन्थरा गति क्रमश ईषत् त्वरान्विता होती है, प्रकृति चञ्चला अवलोकन भङ्गी—कभी तो विनत, कभी तो वक्र, कभी तो शङ्कित होती है ॥२२६॥

उदाहरण—श्रीराधाने समस्त भूषण को परित्याग कर पाणिद्वय मे मणिकङ्कण एव वक्ष स्थल मे एक नीलरत्न धारण किया, उसमे ही वह अपूव शोभित हुई ॥२२८॥

मद हेतु अभीष्ट पदाथ मे भी जो अनादर है, उसको बिव्वोक कहत हैं ॥२२९॥

उदाहरण—अनुलेपन द्वारा शरीर को स्वाभाविक सौरभ हानि होगी एव मणिभूषण के द्वारा शरीर का स्वाभाविक सौ दर्य्य ह्रास होगा अत श्रीराधा का उक्त वस्तु समूह मे आदर नहीं था । केवल सखीके प्रेमानुरोध के कारण उ होने वस्तु समूह का धारण किया ॥२३०॥

उदाहरणान्तर—यह है—श्रीकृष्ण ने जो सब पुष्पाभरण निर्म्माण पूवक हष से प्रदान किया था, वे सब अतिशय अभीष्ट होने पर भी राधिकाने गभीर प्रणय गर्व से उसका धारण नहीं किया ॥२३१॥

अराला भ्रूवल्ली स्मित सुमधुरा भर्त्सनगिरो
मृषा कम्प शुष्क रुदितमभिलाषेऽपि महति ।
निषेधो नेत्यस्या करकमलरोधेन सकल
हरेरासीदेतत् कुसुमधनुषोऽनुग्रह इव ॥२३३॥

तद्भावभुग्न मनसो वल्लभस्य कथादिषु ।
मोट्टायित समाख्यात कर्णकण्डूयनादिकम् ॥
आदि—शब्दाज्जृम्भा गात्र मोटनादि—॥२३४॥

यथा—झङ्कुर्वाण विलोल कङ्कण भृतो वामस्य दोष्ण शनै
रुत्कम्पनेन कनिष्ठया विदधती कर्णस्य कण्डूयनम् ।
पुष्पेषो पृतनव सङ्गरजय श्रीसूचन व्यातनोद्
घण्टानादमिव कुरङ्ग नयना दर्पेण कृष्णान्तिके । १३५॥

प्रकटीकृते सत्यनष -हास—वित्रासादीनामेकस्मिन् समये मिलनमेव किलकिञ्चितमित्यर्थ ॥२३२॥

अस्या राधाया महत्यभिलाषेऽपि भ्रूवल्ली अराला कुटिलेत्यनेनामय स्वहस्ताभ्या श्रीकृष्णस्य करकमलरोधनेन नेति निषध , एतत् सर्वं श्रीकृष्णोपरि कन्दपरयानुग्रहे कारणमभूदित्यर्थ ॥२३३।

श्रीकृष्णस्य कथा वचनादिषु जातेषु प्रादुभूतो यो भाव स्तेन भावेन भुग्न कन्दपस्यावेशेन व्याकुल मनो यस्यास्तस्या श्रीराधाया श्रीकृष्णेन सह सङ्गार्थं स्वाभियोग रूप कण कण्डूयनादिक मोट्टायित समाख्यातम् ॥२३४॥

झङ्कार शब्द विशिष्ट चञ्चल कङ्कण धतवतो वामहस्तस्योत्कम्पेन विशिष्ट या कनिष्ठाङ्गुल्या कण कण्डूयन विदधती राधिका कन्दपस्य सेना इवास्य कन्दपयुद्धेऽस्माकमेव जयो भविष्यतीति प्राय सम्पत्ति सूचक कण कण्डूयन मिषेण घण्टानाद व्यतनोत् ॥२३५॥

सुरतारम्भ समय मे रोष, हास, त्रास, शुष्क रोदन, भत सन एव निषेध के सम्मिलन से किलकिञ्चित भाव होता है ॥२३२॥

गुरुतर अभिलाष विद्यमान होने पर भी कुटिला भ्रूलता, स्मित मधुर भर्त्सनावाक्य, मिथ्या रोदन एव कर कमल निरोध पूर्वक ना ना कह कर निषेध--राधिका के ये सब श्रीकृष्ण के पक्ष में कामदेव के अनुग्रह स्वरूप हुये थे ॥२३३॥

प्रियतम के दर्शन भाषणादि समय मे तदीय भावाकृष्टचित्ता प्रियतमा मे जो कण कण्डूयनादि आविर्भूत होते हैं, उसको मोट्टायित कहते हैं। 'भाषणादि' इस पदस्थित आदि शब्द से जम्भण गात्र म टनादि को जानना होगा ॥२३४॥

उदाहरण—वामहस्त की कनिष्ठा अङ्गुलि के द्वारा मन्द मन्द कण कण्डूयन के समय कुरङ्ग नयना श्रीराधा का कम्पन शील कर पल्लव कङ्कण झङ्कार से मुखरित होने लगा। प्रतीत हुआ, भगवान् पुष्पशर

जृम्भादि यथा—अन्योन्य ग्रथिताङ्गुली किसलयामुन्नीय बाहुद्वयीं
जृम्भारम्भ पुर सर विदधती गात्रस्य समोटनम् ।
मीलन्नेत्र मुरोजयोनखपद व्यादान दीनानना
नानानेति पुननखक्षत धिया सा कृष्णपाणी दधे ॥२३६॥

यथा वा—सगोपाय्य पटाञ्चलेन तनुना नि सारि दन्तावली-
ज्योत्स्नाभि स्नपितेन दक्षिण कराकृष्टेन वक्त्राम्बुजम् ।
लीलोल्लासितकन्धर मृदुकलवामाङ्गुलिच्छोटिका-
नि स्वानैश्चलकङ्कणस्वनसखं श्रीराधिकाऽजृम्भत ॥२३७॥

यथा वा—अलस वलित मूर्ध्वा कृत्य मूर्द्धोपकण्ठे, वलयित मिदमन्यो येन सस्तपा ण ।
त्रिकविवलन भङ्गी सङ्गि मोट्टायिताया: परिधिरिव मुखेन्दोर्भाति दोद्वन्द्वमस्या ।२३८

प्रात काले बाहु द्वयीमु नीय जम्भारम्भ पुर सर गात्र मोटन विदधती राधिका उर जयो रात्रि सम्बन्धि नखक्षतस्य गात्रमोचनसमये व्यादानेन मुखप्रसारणेन यत्किञ्चित् दु ख व्यञ्जक दीनमानन यस्यास्तथाभूता सती गात्र मोटनसमये स्तनयो शोभा दृष्ट्वा तत्स्पर्शे च्छ्य कुल चित्तस्य श्रीकृष्णस्य पा ण द्वय पुनर्नखक्षत भविष्यतीति बुद्धचा व्याकुला सा नाना नेत्युक्त्वा स्वपाणिभ्या दधे ॥२३६॥

श्रीराधिका दक्षिण हस्ताकृष्टेन पटाञ्चलेन मुखाम्बुज सगोपाय्येति लज्जावतीना जम्भ समये स्वभाव एवायमिति ज्ञेयम । पटाञ्चलेन कीदृशेन ? तनुना अतिसूक्ष्मेणातएव जम्भारम्भ समये सवत प्रसरण शीलाभि द त ज्योत्स्नाभि स्नपितेन लीलया किञ्चिदुल्लासिता कन्धरा यत्र तद्यथास्यात्तथा-ऽजम्भत । जम्भाकाले शब्दत्रयमाह—मृदुकलवत् किञ्चित् कलशब्दस्तथा वामहस्ताङ्गुलि द्वयकृत च्छोटिका शब्दश्च । कीदृश ? चलकङ्कण स्वनसख । च्छोटिका शब्द समये वामहस्तस्थ कङ्कण शब्दोऽपि जात इति ज्ञेयम् ॥२३७॥

मोट्टायित या गात्रमोटन युक्ताया अन्या राधाया हस्तद्वय मूर्धोपकण्ठे मस्तकोपरि आलस्य युक्त

की सेना के समान दप के सहित श्रीकृष्ण के समीप मे सुरत समर की जय श्रासूचक घण्टाध्वनि राधिका कर रही है । २३५॥

जम्भादि का उदाहरण—परस्पर ग्रथिताङ्गुलि बाहु युगल को उत्तोलन पूवक नयन मुद्रण एव जम्भारम्भ के सहित गात्र मोटन समय मे स्तनद्वय मे नखक्षत के हेतु राधा, किञ्चित् कातर मुखी हुई थी, एव पुनर्वार नखक्षत की शङ्का करके प्रियतम के स्तनस्पश लोलुप पाणि पल्लव युगल को ना, ना, ना, शब्द से निरोध किया ॥२३६॥

उदाहरणान्तर—विनि सत दन्तावली के ज्योत्स्नाजाल से स्नपित 'सूक्ष्म वसनाञ्चल को दक्षिण कर से आकषण करके उसके द्वारा मुख कमल को सगोपन करके, कङ्कण झङ्कार सम्मिलित वामाङ्गुलि की छोटिका ध्वनि, एव कलकण्ठ ध्वनि के सहित किञ्चिदुन्नमित कन्धर होकर श्रीराधिका जम्भण किया ॥२३७॥

स्तन ग्रहास्यपानादौ क्रियमाणे प्रियेन चेत् ।
वहि क्रोधोऽन्तर प्रीतो तदा कुट्टमित विदु ।।२३९।।

यथा—स्तनकनक घटी पटीमुदस्य, स्पृशतिहरौ बहुभङ्गि भङगुर भ्रू
इयमसरसवाणि पाणि रोधात् कृतकरुषा परुषा कषायितासीत् ।।२४०।।

त्वरया हर्षरागादे दयिता गमनादिषु ।
भूषाणा स्वपदादन्य पदे न्यासस्तु विभ्रम ।।२४१।।

यथा—अधात् काञ्ची कण्ठे जघन भुवि हार चरणयो
कृशाङ्गी केयूरे भुजलतिकयोर्नूपुर युगम् ।

यथा स्यात्तथा उच्चीकृत्य मुख च द्वयस्य परिधिरिव चन्द्र निकट वर्त्ति-मण्डलमिव भाति । दो द्वन्द्व कीदृशम् ? ज्वलयित वलयाकार पुनश्च परस्पर ससक्तौ प णौ यत्र तथा भूत कण्ठस्य पश्चु भागस्त्रिक पदार्थ स्तस्य या भ्रमण भङ्गी तस्या सङ्गि, यथास्यात्तथा । आलस्य त्याग समये त्रिक युक्तस्य मस्तकस्य भ्रमण भवतीति ज्ञेयम् ।।२३८।

स्तन ग्रहणेऽधर पानादौ च श्रीकृष्णेन चेत् क्रियमाणे । २३९।।

पटीं कञ्चुकी दूरीकृत्य स्तन रूप कनकघटी श्रीकृष्णे बहु यथा स्यात्तथा स्पृशति सति कुटिल भ्रूरिय राधा असरसा रुक्षा वाणी यत्र तथाभूत यथा स्यात्तथा कषायिता दु खिता आसीत् । कथम्भूता ? कृष्ण कर्त्त क पाणि राधात् कृतकरुषा कृत्रिमक्रोधेन परुषा कठोरा ।।२४०।।

दयितस्य श्रीकृष्णस्य स्वनिकटा गमने किं वा स्वस्य श्रीकृष्ण निकटा गमने कर्मणि हर्ष रागादे हेतौ या त्वरा तया हारादि भूषाणा स्वस्थानादन्यस्थाने न्यासो विभ्रम ।।२४१।।

किमङ्गुरिति । श्रीकृष्णेन सह सङ्गोत्सव कर्मणि श्रीराधिकाया कण्ठाद्यङ्गे परस्पर हारादि रूप

त्रि भागके विचलन भङ्गीक सहित गात्रमोटन समय मे ओर धाके बाहु युगल परस्पर ससक्त पाणि होकर अलसवलित भावसे मस्तकोपरि उन्नमित एव मण्डलीकृत होने से तदीय मुखेन्दु की परिधि के समान शोभित होने लगे ।।२३८।।

प्रियतम के द्वारा स्तन ग्रहण एव मुख चुम्बनादि के समय मे आन्तरिक प्रीति विद्यमान होने पर भी बाहर जो कोप प्रकाश होता है उसको कुट्टमित भाव कहते हैं । २३९।।

उदाहरण – श्रीहरि, वसन अपसारण पूर्वक स्तन रूप कनक कलस स्पर्श करने मे प्रवृत्त होने पर श्रीराधा लीलाच्छल से भ्रू भङ्गी प्रकाश किया, एव उस समय श्रीकृष्ण उनके पाणि युगल निरोध करने से कृत्रिम रोष मे कषायित होकर रुक्ष वाक्य प्रयोग करने लगीं ।।२४०।।

प्रियके आगमनादि समय मे हर्ष एव अनुरागादि हेतु जो त्वरा होती है तन्निमित्त अलङ्कार समूह का स्वस्थान से स्थानान्तर मे विन्यास को विभ्रम कहते हैं ।।२४१।।

उदाहरण—कृशाङ्गी श्रीराधा, कण्ठ मे काञ्ची जघन स्थल मे हार चरण युगल मे केयूर युगल, भुजलताद्वय मे नूपुरद्वय धारण किये । मधु मथन के सङ्गरूप उत्सव मे श्रीराधिका के अङ्ग समूह निज

किमङ्गै रन्योन्य मधुमथण सङ्गोत्सव विधौ
प्रसादो व्यातेने प्रणय पिशुन स्वस्व विभवं ॥२४२॥
सुकुमारतयाङ्गाना विन्यासो ललित भवेत् ॥२४३॥

यथा—प्रसून तल्पोदर सङ्ग दून, नून वपुर्मे सखि नैतिनिद्राम् ।
इति स्मरायास विशीणचित्ता, सखीधियाऽसौ हरिमालिलिङ्ग ॥२४४॥
मदो विकार सौभाग्य यौवनाद्यवलेपज ॥२४५॥

यथा—दूतीभिरात्मगुणगौरवसप्रयोग शक्यो न सङ्गमयितुञ्च कलावतीभि ।
अभ्यर्थितोऽपि समया य-सद्म गन्तु ,नापैति मे सखि गृहात् क्षणमप्यधारि ॥२४६॥
वक्तु योग्योऽपि समये न वक्ति व्रीडया तु यत् । तदेव विकृत वाच्यम् ॥२४७॥

यथा—सम्प्रार्थ्यमानापि मयानुवेल न वक्तुमिष्टामपि वक्ति वाणीम् ।
सखा ह्रिया वेति न वेद्मि सख्यो, जान तु राधा हृदय भवत्य ॥२४८॥

स्वस्वविभव करण कि प्रणय सूचक प्रसादो व्यातेने ॥२४२॥

पुष्प शय्याया उदरस्य सङ्गेनापि वपुर्दूनमित्यनेन पुष्पादप्यङ्गस्य सौकुमार्य मायातमिति ज्ञेयम् । इति रात्रि सम्बधि कदर्प क्रीडाजन्यायासेन विशीर्णा चित्ता असौ आलस्य दूरीकरणाय सखी बुद्ध्या ।२४४।।

सौभाग्य यौवनाद्यहङ्कारेण जातो जो विकार समद ॥२४५॥

श्रीराधिका ललितामाह—हे आलि ! कला वदग्ध्यादि युक्ताभिर्गोपीभि कर्त्रीभि दूतीभि द्वारभूताभिरेवमात्मगौरवाणा सम्प्रयोगरूप द्वारा सम्यक कथनैरपि करण कृष्ण सङ्गमयितुमपि न शक्य । कि पुन श्रीकृष्णेन सहासा विलास वार्त्तापि, अभ्यर्थ चकार । तासा सद्म गन्तु मया प्रार्थितोऽपि समद्गृहात् क्षणमपि नापैति, न गच्छति, कथमित्यस्य कारण वद ॥२४६॥

अनुवेल प्रतिक्षण मया स प्रार्थ्यमानापि वक्तुमिष्टामपि वाणी श्रीराधा न वक्ति ॥२४८॥

निज विभव के द्वारा परस्पर जसे प्रणय सूचक प्रसाद विस्तार करने लगे थे ॥२४२॥

सुकुमार भावसे अङ्ग प्रत्यङ्ग के विन्यास को ललित कहते हैं ॥२४३ ।

उदाहरण—हे सखि ! कुसुम शय्या सङ्ग से मेरा शरीर व्यथित होने पर निद्रा हो नहीं रही हैं, यह कह कर सन्तप्त चित्ता श्रीराधाने सखी भ्रमसे श्रीहरि को आलिङ्गन किया ॥२४४॥

सौभाग्य यौवनादि अहङ्कार हेतु विकार का नाम मद है ॥२४५॥

उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—कला अर्थात् वदग्ध्यादिमती गोपी वृन्द दूती नियोग एव आत्मगुण गौरव सम्प्रयोग के द्वारा श्रीकृष्ण को सङ्गम कराने मे समर्थ नहीं होती हैं, मै उन सब के गृह मे गमनार्थ उनको अनुरोध करने पर भी आप क्षण काल के निमित्त भी मदीय गृह से वहिर्गत नही होते है ॥२४६॥

वक्तव्य के समय भी क्रीडाच्छल से कुछ न कहने का नाम विकृत है ॥२४७॥

चेष्टा स्मरविकारजा ॥२४९॥

तपन प्रियविच्छेदे ॥२५०॥

यथा—शीत प्रयोगै र्वहि रीह्यमानै रन्तर्गतो वद्धत एव दाह ।
वहि विलप वहिर प्रकाशी, प्रोज् जृम्भते ऽन्त पुटपाकजोऽग्नि ॥२५१॥

प्रतीतस्यापि वस्तुन । अप्रतीतवदापृच्छा प्रियाग्रे मौग्ध्यमेवतत् ।
'प्रियाग्रे'–इत्युपलक्षणम्, सख्या अग्रे च ॥२५२॥

यथा— हूँ मातर त र्वहिरिति का तव, प्रिये त्वमेव प्रतिविम्बिता मयि ।
अन्यैव तत् किं तव तुल्यमीहते, धूर्त्तेयमित्याव भिय चलेक्षणा ॥२५३॥

श्रीकृष्ण विच्छेदे क दप विकार जा चेष्टा तपनमुच्यते ॥२४९-२५०॥

वहि रीह्यमाण क्रियमाण श्चन्दनलेपाद शीतप्रयोगैर तगत श्रीकृष्ण विरह ज य क दप दाहो वधत एव । तत्र दृष्टा त —सम्पूटस्थ पित्तलादि वस्तूना द्रवीभावरूपपाकजनका वह्नि वहिरप्रकाशी सन्न तरेवातिशयेन प्रकाशते । अत्रापि वहि विलोपे सम्पूटस्य दृढीकरणाथ मृत्तिकाभि पुन पुन क्रियमाणरपि वहिर्विलोपैरिति ॥२५१-२५२॥

श्रीकृष्णेन सह कौतुकाथ श्रीराधिका तमाह– हु मातरिति । व्रज वासिनीना विस्मय दशनेन स्वभावोक्तिरियम् ! ह कृष्ण ! तवा त करणाद वहि का एति ? श्रीकृष्ण आह–हे प्रिये इति । श्रीराधिका आह—नेय मत्प्रतिविम्बरूपा, किन्त्व या एव, पुन श्रीकृष्ण आह—यदि तव प्रतिविम्बरूपा न भवति, तत् किं तव तुल्य चेष्टते ? त्व यथा हस्तादि चालन करोषि, तथेयमपीति । पुन श्रीराधिका आह—इय धूर्त्ता त्वस्य प्रतिविम्बत्वख्यापनायव मत्तुल्य चेष्टते इति कृत्रिमभियमाप ॥२५३॥

कहने क निमित्त श्रीराधा को सविशेष प्राथना करने पर भी, राधा, निज अभिप्राय को नहीं कहती है, कि तु रोष हेतु किंवा लज्जा हेतु नहीं कहती है, मैं उसको नहीं जान सकता हू । हे सखी वृन्द ! तुम सब यत्न पूवक उसके हृदय को जानकर मुझ को कहो ॥२४८॥

प्रिय विच्छेद के समय मे स्मर विकार जनित चेष्टा को तपन कहते हैं ॥२४९ २५०॥

उदाहरण—बाहर शीतल प्रयोग करने पर भी अन्तगत दाह की वृद्धि ही होती रहती है कारण, पुट पाकज अग्नि, वाह्य विलेप के द्वारा बाहर अप्रकाशित होने पर भी अभ्य तर मे उद्दीप्त ही रहता है।२५१।

विदित वस्तु के सम्बन्ध मे अविदित के समान प्रियके समीप मे प्रश्न करने से उसको मौग्ध्य कहते हैं। 'प्रिय समीप मे' यहाँ पियपद उपलक्षण है,सखीके समीप मे प्रश्न करने से भी होगा ॥२५२॥

उदाहरण—श्रीराधा बोली ! यह क्या है ? यह कौन है जो तुम्हारे अ तर से निकल रही है ? श्रीकृष्ण बोले और कौन निकलेगी प्रियतमे ! तुम ही मेरा शरीर मे प्रतिविम्बित हो, श्रीराधा बोली ना ना मै प्रतिविम्बित क्यो हूँगी ? और कोई होगी। श्रीकृष्ण बोले—यदि अ य कोई होगी तो, कसे तुम जसे हस्त पद चालन करती रहती हो, यह भी वैसी करती रहती है। श्रीराधा—बोली—तब यह कोई

यथा वा—कयात्म मूर्त्ति र्लिखिता नखेन, वामस्तनोर्ध्वे तव पङ्कज क्ष !

न याति न म्लायति दिव्यरूपा, यामुद्वहन् हन्त न लज्जसे त्वम् ॥२५४॥

सखी प्रति यथा—वन निधुवन नाम क्वनाम सखि वर्त्तते ।

यदर्थं तव कृष्णोऽयमुन्मना दुमनायते ॥२५५॥

अर्द्धार्द्धे भूषा रचना गात्रे विष्वग विलोकनम् ।

रहसीषत् कथारम्भो विक्षेपः स्यात् प्रियागमे ॥२५६॥

यथा—आदर्शेऽनुचरी कराञ्चल गते सवीक्षमाणा मुख

द्वित्राभि क्रियमाणमण्डनविधौ राधा सखीभिर्मिथ ।

उत्थायाद्ध विभूषितैव परितो व्यापारयन्ती दृश

दृष्ट्वा दैवत आगत प्रियमथो सम्पूर्ण भूषाऽभवत् ॥२५७॥

या लक्ष्मीरेखारूपाम्, त्वमुद्वहन् ॥२५४॥

निधुवन शब्द स्त्री पुरुषयो काम क्रीडावाचीति स्वय ज्ञात्वापि कौतुकाथ श्रीराधिका आह—हे सखि ! अस्माभिस्तु वृन्दावनादिक ज्ञायते, किन्तु निधुवनसज्ञ वन कुत्र वर्त्तते ? यदर्थम्—निधुवनमह कदा प्राप्स्यामीत्युत्कण्ठया निधुवनप्राप्तचथम ॥२५५॥

विष्वग विलोकनम्—चतुर्दिक्षु विलोकनम् ॥२५६॥

किङ्करीकर गते दपणे स्वमुख वीक्षमाणा, तथा सखीभिरपिमिथो रहसि द्वित्राभि भूषण क्रियमाणो मण्डन प्रकारो यस्यास्तथा भूता राधा अर्धविभूषित वासनादुत्थाय परितश्चतुर्दिक्षु दश व्यापारयन्ती सती दवादागत कृष्णञ्च दृष्ट्वा सम्पूर्णभूषा अभवत् । भूषा फलेन श्रीकृष्ण कर्त्तृ क दर्शनेनैव भूषाया पूर्णत्व जानमिति ॥२५७॥

धूर्त्ता होगी, यह सोचकर चकित नयना श्रीराधिका भयभीता हो गई ॥२५३॥

उदाहरणान्तर—हे कमल नयन ! तुम्हारे वामस्तन के ऊर्द्ध्वभाग मे नख के द्वारा किसने आत्म मूर्त्ति को अङ्कित कर दिया है ? देखो वह मूर्त्ति अपगत नही हो रही है म्लान भी नही हो रही है, हाय ! तुम भी तो उसको वहन कर लज्जित नहीं हो रहे हो ? ॥२५४॥

सखी के प्रति कथन का उदाहरण—हे सखि ! वृन्दावनादि को ही हम सब जानती है कि त निधुवन नामक वन कहा है, कह सकती हो ? जिस के निमित्त तुम्हारे यह श्रीकृष्ण उ मना होकर सवदा दुम्मनायित होकर रहते हैं ॥२५५॥

प्रियतम के आगमन मे अङ्ग मे अद्ध अलङ्कार रचना, चारो और अवलोकन एव निजन मे जो कथोपकथन,—उसको विक्षेप कहते हैं ॥२५६॥

उदाहरण—श्रीराधा, किङ्करी के करतलस्थित दपण मे मुख निरीक्षण कर रही थी दो तीन, सखिया उनका अलङ्कारो से भूषित कर रही थी, कि तु, श्रीराधा, अद्ध विभूषिता होकर ही आसन से

कुतूहल रम्य वस्तु समालोके विलोलता ॥२५८॥

यथा—घटाम्बुसिक्ता निजहस्तरोपिता, श्रुत्वालता पुष्पवतीं सखीमुखात् ।
उद्यान सीम्नि त्वरयाभिगामिनी, ददर्श राधा पथि नन्दनन्दन ॥२५६॥

हसित स्याद् वृथा हासो नवयौवन गर्वज ॥२६०॥

यथा—आपृष्ट हेतु शिरस शपथै सखीभिराकस्मिकस्मितमरोचतराधिकाया ।
अन्त प्रफुल्लदनुरागलताप्रकाण्डादेक प्रसूनमिव कि वहिरुन्मिमील ॥२६१॥

कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकित स्याद भयोदय ॥२६२॥

यथा—मुख मनुनिपत त वारयन्ती द्विरेफ, भय चकित चलाक्षीन्यङमुखीय करेण ।
तमपि तदभिभून कूणितभ्रू धुनीते, स च रुषमभिनिन्ये सङ्कृतै कङ्कणानाम् ॥२६३॥

न दनन्दन पथि राधिका ददर्श ॥२५६॥

श्रीराधिकाया यौवन ज य गर्वोत्थमाकस्मिक हास्य दृष्टवा सख्य पप्रच्छु रित्याह—आपष्टेति । सखीभि कत्त भि शिरस शपथरापृष्टो हेतुयस्य तत् स्मित मरोचत । अत्रोत्प्रेक्षामाह—अ त प्रफुल्ल ती या अनुरागलता, तस्या देहादेक प्रसूनमिव ॥२६१॥

कुतोऽपि यथाकथञ्चित् कारणादपि श्रीकृष्णस्याग्रे भयोदयश्चकितम् ॥२६२॥

मुखमनु मुखे पत त भ्रमरमियमधोमुखी सती करेण वारय ती पश्चात् मुख विहाय करे पतन्तमालक्ष्य तेन भ्रमरेणाभिभूत तमपि करमपि कूणितभ्र सा धुनीते कम्पयति । तत्रोत्प्रेक्षामाह—स च करश्च कङ्कणाना सङ्कृत करण रुषमभिनि ये, क्रोधाभिनय चकारेत्यथ ॥२६३॥

उठकर चतुर्दिक मे दृष्टिपात करने लगी एव दव से विश्व विभूषण श्रीकृष्ण को देखकर असम्पूर्ण विभूषणा होने पर भी उस से ही सम्पूर्ण विभूषणा हो गई ॥२५७॥

रम्यवस्तु विलोकन के निमित्त सविक्षेष स्पृहा का कुतूहल है ॥२५८॥

निज हस्त से रोपन पूवक कलस के द्वारा जल सेचन से जिसकी वृद्धि हुई थी, सखी के मुख से वह लता पुष्पिता हुई है' यह सुनकर राधिका सत्वर उद्यान को जाने के निमित्त प्रवृत्त हुई थीं, पथ मे नन्दनन्दन ने उस अवस्था मे उनको देखा ॥२५९॥

यौवन गवजात वृथा हास्य का नाम हसित है ॥२६०॥

श्रीराधिका को सहसा ईषत् हँसते देखकर सखी वृन्दने शपथ कर कारण पूछा, उन्होंने कुछ उत्तर मे कहनही पाया, उनके अन्तःकरण मे उल्लसित अनुराग रूप लता से उस प्रकार हास्य क्या एकमात्र पुष्प के आकार से ही बाहर प्रकाशित हुआ था ? ॥२६१॥

किसी प्रकार अलक्षित कारण हेतु प्रियतम के सम्मुख मे भयोदय को चकित कहते हैं ॥२६२॥

उदाहरण प्रस्तुत करते है—भ्रमर श्रीराधा के मुख मण्डल को लक्ष्य कर गिरते रहने से आप भय चकित चञ्चल नयनों से अधोमुखी होकर हस्त के द्वारा निवारण करने लगीं । भ्रमर उसको परित्याग कर

यथा वा—स ललितमुपमीता पृष्ठतोवाममस, चलदसितभुजङ्गीभङ्गीदेणीम् ।
हुमिति कृतकशङ्का पङ्किल त्राममेषा, दयितमुपजुगूहे द्रोहिण कालियस्या ।२६४।

विहारे सह कान्तेन क्रीडित केलिरिष्यते ।।२६५।।

यथा—अपि सह विहरन्त्या कृष्णमुल्लङ्घ्य रम्ये,सुरभिणि कुसुमेऽह पूर्विका कौतुकेन ।
अनियतगतिभङ्ग्या पार्श्वसघट्टनेन, स्तनहति परिभूतो राधयऽसौ व्यधायि ।२६६।

प्रत्येक सप्तविंशत्या योगेऽष्टाविंशति स्त्वमी ।
रसवाणाब्धिसख्या (७५६) स्युस्ते पुन सेङ्गिता यदि ।
पक्षेन्द्विषुविन्दुसख्या (१५१२) स्युरन्योन्य गुणिता ननु ।।
ते ऽन्योन्यगुणिता अलङ्कारा वक्ष्यमाण रिङ्गितै सहिता यदि भवन्ति ।
ग्रन्थगौरवभिया नोदाह्रियन्ते ।।२६७।।

चञ्चल श्याम भुजङ्ग्या इव भङ्गि यस्यामेवम्भूत वेणी पृष्ठदेशात् सकाशाद् वामस्कन्ध सललित यथा स्यात्तथोपनीता प्रामामालोकच तथा कृत्रिम शङ्का त्याम्त्रास यथास्यात्तथा सपज य भयनिवर्त्तक श्रीकृष्णमुपजुगूहे यन कालियसपस्य द्रोहिणम् ।।२६४ २६५।।

अकस्मादेक रमणीय सुगन्धि पुष्प दृष्टवा इद पुष्प मयवादौ गृहीतव्यमिति यस्तत्र पुष्पेऽह पूर्विका कौतुक स्तेन हेतुना राधया शीघ्रगतिभङ्ग्या कृष्णमप्युल्लङ्घ्य कृष्णोऽपि राधामुलङघ्य शीघ्रगमने-नाल्लङ्घनसमये पाश्व सघट्टनेन जाता या स्तन हति स्तनघात स्तयासौ श्रीकृष्ण परिभूतोऽकारि ।।२६६।।

येऽष्टाविंशतिरलङ्कारा उक्ता स्तेषा प्रत्येक सप्तविंशत्यलङ्कार सह योगे सति अमी अलङ्कारा रस वाणाब्धि सख्यका(७५६)स्यु ,यथा भावे भावरहिताना हावादीना सप्तविंशतेर्योग ,यथा च हावे हाव रहिताना मिति स्वस्मिन् स्वस्य योगाभावात् सप्तविंशती-त्युक्तम् । ते रस वाणाब्धि सख्यका (७५६) अलङ्कारा केवला एव । एव मिङ्गित सहिताश्च यदि भवन्ति तदा पक्षे द्विषुविन्दु सख्यका अपि भवन्ति(१५१२)।।२६७।।

हस्त के और धावित होने से आप सङ्कुचित भ्रू होकर हस्त कम्पित करने लगी । उक्त हस्त—कङ्कण के झङ्कार शब्द क द्वारा भ्रमर क आक्रमण जनित रोष से उसे आक्रोश प्रकाश करने लगा ।।२६३।।

अपर उदाहरण—चञ्चला कृष्ण भुजङ्गी के समान भङ्गि के सहित राधिका का वेणी ललित भाव से पृष्ठ देश से वामस्कन्ध मे उपनीत होने से आपने कृत्रिम त्रास प्रकाश के सहित कालिय मदन मधुसूदन को सम्भ्रम के सहित आलिङ्गन किया ।।२६४।।

विहार के समय कान्त के सहित क्रीडा का नाम केलि है ।।२६५।।

राधा एव कृष्ण—उभय ही एक साथ विहरण कर रहे थे सहसा एक रमणीय सुरभि पुष्प दृष्टि गोचर होने से उभय ही पहले हम लेंगे इस अभिप्राय से कौतुक क्रमसे द्रुत गमन मे प्रवृत्त हो गये । किन्तु गमन समय मे उभय का सघट्टन पार्श्व मे होने के कारण, राधिकाने निज विशाल स्तन के द्वारा कृष्ण को आघात इस प्रकार किया, जिस से कृष्ण पराभूत हो गये ।।२६६।।

न च वक्तव्य (१८८ श्लोके) 'निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथम-विक्रिया' इति भावस्य तथाविधत्वात् कथ हावादि साङ्कर्य्यम् ? यत कन्यानामेव तथाक्रम, परोढा मध्यादीना श्रीकृष्ण प्रति प्राड् निर्विकारात्मके चित्ते यदव भावउत्पन्न स्तदैव हावादि साङ्कर्य्यमपि ।

तथाहि-व्यरचि न यदपेक्षापत्रिकादूतिकादे
रतनि न च विचारो यस्त्वया साद्धमन्यै ।
हृदय यदनुरक्त माधवे युक्तमेतत्
किमिह युगपदाञ्जीत् सव शौर्य्य मनोभू ॥२६८॥

अत्र भाव हाव हेलादीना साङ्कर्य्यमनया दिशा उक्त प्रकारम्, ग्र थ गौरव भयान्न लिख्यते। अथ कानि तानीङ्गितानि, यैरेषा द्वैविध्यमङ्गीकृतमिति त्रिविधानीङ्गितानि दर्शयन्नाह--

---

ननु वय स धौ भावस्योदाहरण दत्तम्, तदपेक्षयाधिक वयस्त्वे हावोदाहरणम् । तदपेक्षयाधिक वयस्त्वे हेलाया । एव क्रमेण भिन्न भिन्न काले प्रादुभू ताना भावादीना कथ साङ्कर्य्य सम्भवेदित्याह—न चेति । तत्र समाधानमाह—यत इति ।

तथाहीति । हे हृदय ! त्वया पत्रिकादेरपेक्षा यन्न व्यरचि, एवमन्य साध श्रीकृष्णे रागोऽनुचित उचितो वेति विचारोऽपि यन्न अतनि, तथा माधवे यत्त्वयानुरक्तम् एतत् सर्वं युक्तमेव किन्तु युगपदे-कस्मिन्नेव काले मनोभू कन्दर्पो भाव हावादि सव शौर्य्यमाञ्जीद् व्यक्त चकारेत्याश्चार्य्यम् ॥२६८॥

य रिङ्गित करणरेषामलङ्काराणामिङ्गितसाहित्यमिङ्गित राहित्यमिति द्वैविध्यमङ्गीकृतम् ।

अष्टाविंशति अलङ्कार का वर्णन जो हुआ है, उसके प्रत्येक अपर सप्तविंशति के सहित मिलित होने से (७५६) सात सो छप्पान्न सख्यक होते है। ये अन्यो न्य गुणित अलङ्कार समूह वक्ष्यमाण इङ्गित के सहित मिलित होने से १५१२ एक हजार पाचसो बार सख्यक होते हैं। ग्रन्थ विस्तार होने के सङ्कोच से उन सबका उदाहरण प्रस्तुत नही किया गया है ॥२६७॥

इस प्रकार कहा नहीं जा सकता है कि—निर्विकारचित्त मे प्रथम विकार का नाम भाव है,

इस लक्षण के अनुसार भाव के सहित हावादि का साङ्कर्य्य कसे हो सकता है ? इस का समाधान यह है—कन्या वृन्द मे ही वय क्रमके आतिशय्य भेद से भ वादि आविर्भाव का उस प्रकार क्रम हो सकता है। किन्तु परोढा मध्यादि मे प्रथमत निर्विकार चित्त मे श्रीकृष्ण के प्रति जिस प्रकार भाव उत्पन्न हो सकता है, उसी समय उसके सहित हावादि का साङ्कर्य्य हो सकता है।

उदाहरण यह है—हे हृदय ! तुमने जिस पत्रिका दूती की अपेक्षा नहीं की है, एव इस अनुराग के औचित्य अनौचित्य के सम्ब ध मे किसी के स थ विचार करके नहीं देखा है, सहसा ही माधव मे अनुर ग कर लिया है। यह तो उपयुक्त ही है। किन्तु भगवान् मनसिज एक ही समय मे जो हाव भ वादि के यावतीय शौर्य्य को प्रकट किये है, यह विचित्र ही है ॥२६८॥

इस श्लोक मे हाव भाव हेलादि का साङ्कर्य्य प्रकार सक्षेप मे प्रदर्शित हुआ है, ग्रन्थ गौरभ भय से

मुग्धा-मध्या-प्रगल्भाना त्रिविधानीङ्गितान्यपि ॥

मुग्धादीना त्रैविध्ये इङ्गितानामपि त्रैविध्यम्, नतु प्रत्येकम् । तत्र मुग्धा कन्ययोरेकरूपाणि ।।२६६।।

तथाहि--दृष्टा तनोति म दाक्ष सम्मुख नव वीक्ष्यते ।
प्रच्छन्न तत्प्रतिकृति, चित्रादौ पुस्पृहयेक्षते ।।
बहुधा पृच्छ्यमानापि रमणेन न जल्पति ।
तटस्थ कथ्यमानाया शुकैर्वा निज लालित ।
तत् कथाया श्रुती दत्ते नेत्रे त्वन्यत्र यच्छति ।।२७० -२७१।।

दिङ् मात्रमुदाह्रियते,--
अन्य सप्रतिपादिता प्रियकथामन्यत्रदत्तेक्षणा
स्निग्धा कर्णयात प्ररूढ पुलकान्यङ्गानि गोपायति ।

मुग्धादीनामिति—मुग्धाया इङ्गितानि भिन्नानि, तत्र मध्याया अपीङ्गितानि भिन्नानि । एव क्रमेणेङ्गितानि त्रिविधानि, नतु प्रत्येकमित्येकस्या मुग्धाया सर्वाणीङ्गितानि तथकस्या मध्याया सर्वाणीङ्गितानीत्येव क्रमेण, न तु त्रिविधानीत्यथ ।।२६६।।

श्रीकृष्णेन दृष्टा मुग्धा म दाक्ष लज्जा तनोति, तथा सम्मुखमपि नवेक्षते, किन्तु प्रच्छ न यथा स्यात्तथा तत् प्रतिमा चित्र पटे ईक्षते । तटस्थ लोक शुकर्वा कथ्यमानाया श्रीकृष्ण कथाया कण द्वय दत्ते, कि तु लज्जया कथा वक्तरि नेत्रद्वय न ददाति, अपितु अ यत्र नेत्रे यच्छति ददाति ।।२७०-२७१।।

अन्य कथितां श्रीकृष्ण कथाम न्यत्र दत्तेक्षणा साकणर्य त शृणोति, पटे चित्रित श्रीकृष्ण शरीर पश्यन्ती सा जनैर्दृष्टा चेल्लज्जते । अस्या श्रीकृष्णरागाङकुरो बीज विनव कुत सकाशादाविरेति,

---

विस्तार नहीं किया गया है ।

इस के पूर्व मे जो इङ्गित की कथा सूचित की गई है, एव जिस इङ्गित के द्वारा पूर्वोक्त अलङ्कार समूह क द्वविध्य अङ्गीकृत हुए हैं । सम्प्रति उस के त्रिविध भेद को कहते हैं ।

मुग्धा, मध्या, एव प्रगलभा के त्रिविध इङ्गित होते हैं । उसके मध्य मे प्रत्येक के ही तीन प्रकार इङ्गित नहीं है किन्तु प्रत्येक पृथक हाने के कारण– तीन के इङ्गित तीन प्रकार ही हैं, यह समझना होगा मुग्धा एव कन्या का इङ्गित एक प्रकार ही है ।।२६९।।

लक्षण इस प्रकार है—प्रिय--दृष्टि गोचर होने से लज्जा प्रकाश करती हे, सम्मुखी न होकर दशन कर नहीं सकती है, किन्तु चित्रादि मे प्रियतम की प्रतिकृति को देखने पर प्रच्छन्न भाव से अति स्पृहा के सहित उसकी देखती है । प्रियतम विविध प्रकार से पूछने पर भी प्रत्युत्तर नहीं देती है, कि तु उदासीन व्यक्ति प्रियतम के सम्बन्ध मे कुछ कहने पर अथ वा निज लालित शुकपक्षी उनके सम्ब ध मे कुछ कहने पर अ यदिक मे दृष्टि पात करके उसको सुनती रहती है ।।२७० २७१।।

पश्यन्ती पटचित्रित प्रियवपु र्दृष्ट्वा जनं लज्जते
निर्वीज कृत आविरेति सुदृश कृष्णानुरागाङ्कुर ?
अत्र भाव एव हाव-हेलाभ्या शवलीभूय इङ्गितेन सह ससृष्ट इत्यय
सेङ्गितोऽलङ्कार सङ्कर । एवमन्येऽप्यनुसत्तव्या ॥२७२॥

अथ मध्येङ्गितानि—अकाण्डे नीवि धम्मिल्लमोक्ष सयमनक्रिया ।
अलकोल्लासनमिषाद् भुजामूलप्रदर्शनम् ।
सखिभि सह सवाद निर्हेतु मधुराक्षर ।
परस्पर परीहासो मन्दमन्द प्रियान्तिके ॥२७३-२७४॥

यथा—उल्लास्य नीवी पुनराबबन्धे, निर्मोच्य वेणीपुनराजगुम्फे ।
शनैरकाण्डे ललित जजृम्भे, कयापि कृष्ण पुरतो निरीक्ष्य ॥
अत्रापि हावोऽलङ्कार शोभया शवलीभूय इङ्गितेन ससृष्ट ॥२७५॥

आविर्बभूव ॥२७२॥

सयमन क्रिया च धन क्रिया । हेतु विनव मधुराक्षर सवाद मन्द मन्द परिहास, अकाण्डऽनवसरे, मोचनब धादे कारण विनवेत्यथ ॥२७३-२७४॥

कयापि व्रजसु दश्य उल्लास्य मध्यदेशात् किञ्चिदुत्थाप्य नीवी पुनराबबन्धे ॥२७५-२७६॥

उक्त विषय का दिङमात्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—अपर व्यक्ति प्रियतम की कथा उत्थापन करने से अ यदिक मे दष्टिपात करके प्रेमाद्र चित्त से उस कथा को सुनती रहती है, एव अङ्ग मे पुलकोद्गम होने से उसको गोपन करती है ।

जिस समय चित्रपट मे प्रियतम को मूर्त्ति को निरीक्षण करती रहती है, उस समय वह अन्य का दृष्टि गोचर होने से महा लज्जिता होती है । फलत सुलोचन का यह निर्वीज कृष्णानुराग रूप अङ्कुर कहा से आविर्भूत हुआ कुछ भी समझने मे नही आता हे ॥

इस श्लोक मे भाव, हाव एव हेला के सहित मिश्रित होकर इङ्गित के सहित ससृष्ट हुआ है, अतएव यह सेङ्गित अलङ्कार सङ्कर है । इस प्रकार अपर विषय समूह को भी अनुसन्धान पूर्वक देखना आवश्यक है ।२७२॥

अनन्तर मध्या के इङ्गित समूह का वर्णन करते हैं । मध्या नायिका प्रियके समीप मे असमय मे नीवी एव केशबन्धन का मोचन एव सयमन करती है अलका का उत्सारण च्छल से बाहु मूल प्रदर्शन करती है, विना कारण से सखी वृन्द के सहित मधुराक्षर से कथोपकथन एव परस्पर मन्द मन्द परिहास भाषण मे प्रवृत्त होती है ॥२७३-२७४ ।

उदाहरण—सम्मुख मे श्रीकृष्ण को निरीक्षण करके एक व्रज कुमारी नीवी एव केश बन्ध उन्मोचन पूर्वक पुनर्वार बन्धन एव अनुपयुक्त समय मे धीर एव मनोज्ञ भाव से जृम्भण करने लगी ।

प्रगलभेङ्गितानि यथा —चुम्बति लीला कमल, परिरभते प्रियसखीमपि च।
मुकुरे निजमुखकमल, निरीक्ष्य तिलक करोति कृष्णाग्रे ॥२७६॥

यथा—बाहु दक्षिणमालि कण्ठवलये विन्यस्य लीलालस
वामेनैव करेण केलि कमल घ्राणच्छलाच्चुम्बति।
अस्यन्ती निपतन्तमास्य कमले भृङ्ग शिर कम्पनै
कृष्णाग्रे कुसुमेषुविभ्रमभरै श्रान्तेव काचिद बभौ॥
अत्र विलास एवालङ्कारो मदेनालङ्कारेण शवलीभूयेङ्गितेन ससृष्ट ॥२७७॥
सगीतादि कौशलमप्यासा विलास एव पर्यवस्यति।
तेन पृथङ न दर्शितम्, आदि शब्दात् कला कौशलमपि॥

यथा—अन्तर्मोदमदेनकाकलिकया वर्णरनाविष्कृतै
सद्ग्राम स्वरमूच्छना श्रुतिपरिष्कारेण कण्ठ स्पृशा।
गाय ती ललित तथव ललितादत्तश्रुति श्यामया
प्रत्येक निहित करे कुरुवक राधा स्रज सृज्यते ॥२७८॥

मुख कमले पतन्त भ्रमर शिर कम्पन करण रस्यन्ती क्षिप न्ती काचिद् बभौ, क दर्पस्य विलास भर श्रान्ता इव, यथा कश्चिज्जन श्रा त सन् यस्य स्कन्धमवलम्बते, कदाचित् दु सहेन भारेण शिर कम्पन करोति च तद्वदित्यर्थ ॥२७७॥

अन्तरान दामोदेन सद्ग्रामादीना परिष्कारेण कण्ठस्पृशा काकलिकया मधुरास्फुटध्वनिना, एवमनाविष्कृतवर्णै स्पष्टमनुच्चारितवर्णश्च करण ललित यथास्यात्तथा गायन्ती राधा श्यामया निहित

इस श्लोक मे भी हाव, शोभा के सहित सम्मिलित होकर इङ्गित के सहित ससृष्ट हुआ है ॥२७५॥

अनुरक्ता प्रगलभा नायिका प्रियतम के सम्मुख मे लीला कमल चुम्बन करती है, प्रियसखी को आलिङ्गन करती है एव दपण मे निजमख मण्डल निरीक्षण पूवक तिलक रचना करती है। उदाहरण— श्रीकृष्ण क सम्मुख मे एक गोपी दक्षिण बाहु को क्रीडालसस्वभाव से सखीके कण्ठ मे वि यास पूवक घ्राण-च्छलसे वाम हस्तक द्वारा लीलाकमल ग्रहण पूवक चुम्बन किया एव मुख कमलोपरि पतन शील भ्रमरावली को शिर कम्पन द्वारा निवारण करक स्मर विभ्रम से परिश्रान्ता के समान शोभित होने लगी।

इस श्लोक में विलास ही अलङ्कार है, वह मदन नामक अलङ्कार क सहित मिश्रित होकर इङ्गित के सहित ससृष्ट हुआ है ॥२७६ २७७॥

नायिका वृ दके सङ्गीतादि कौशल विलास क मध्य मे ही पर्यवसित होत है, अत उसका पथक प्रदशन नही हुआ। 'सगीतादि' यहा आदि पद स कला कौशल को भी जानना होगा।

उदाहरण—आ तरिक आन द हेतु मद भर से कण्ठ मात्र स्पर्शी काकली स्वर से श्रीराधा गान करती रहती है। सु दर ग्राम, स्वर, मूच्छना, एव श्रुति उक्त सङ्गीत के विभूषण हुये हैं। उसमे वर्णावली

श्रद्धावत्—कर्त्तृकात् सृजौ यक चिणौ, कर्त्तरि यक् ।

अथासा सखी भेदा । तत्रसखी लक्षणम्—

निरुपाधि प्रीतिपरा सदृशी सुख दुःखयो ।

वयस्य भावादन्योन्यहृदयज्ञा सखी भवेत् ॥

यथा (तृतीय किरणे ५८ तम श्लोके) 'पतत्यस्रे सास्रा' इत्यादि ॥२७६॥

छायेव याऽनुसरति सव प्रियसखी स्मृता ॥२८०॥

यथा—क्वचिदग्रे क्वचित् पश्चात् क्वचित् पार्श्वपदान्तयो ।

सूर्य्यानुरोधाच्छायेव सा राधामनुवर्त्तते ॥२७१॥

कुरुवक झिण्टि पुष्प स्रज सृज्यते, कर्त्तरि यक। काकलिकयेति, अनाविष्कृतस्वरिति एवाम्बामेतद्गान निकटवर्त्ति सखीनामेव कर्णग्राह्यम्, नान्येषामिति ज्ञेयम्। कथम्भूता ? गाने साहाय्यार्थ ललितया दत्ता श्रुतिर्यस्य सा। अष्टादश श्रुतयस्तु कफ वात—पित्तवत्ता प्राकृताना कण्ठषु न स्फुरति किं तुतद्रहिताना गोपीनामेवेति बोध्यम् ॥२७८ २७६॥

यथा जनस्याग्रे सूर्य्यश्चेत्तदा छाया पश्चद्देशे वर्त्तते, चेद् यदि सूर्य्यो जनस्य पृष्ठ देशे वत्तते, तदाछाया सम्मुखे तिष्ठति, कदापि न त्यजति, तथवेत्यथ ॥२८० २८१॥

परिष्फुट नही हो रही है। ललिता उक्त सगीत के साहाय्य श्रुति दान कर रही है। इस अवस्था मे श्यामा श्रीराधा को एक एक कुरुवक झिण्टि पुष्प अपण करती रहती है,एव राधा सङ्गीतालाप करते करते उस पुष्प से माला ग्रन्थन कर रही हैं। "माला ग्रन्थन कर रही हैं" यहाँ मूल के 'स्रज सृज्यते' इस वाक्य की क्रिया मे आत्मने पद होने के कारण यह है कि कर्त्ता श्रद्धा विशिष्ट हाने से सज धातु के उत्तर कत्त वाच्य मे आत्मने पद एव यक् होता है' पाणिनि के इस नियम के अनुसार उक्त पद सिद्ध हुआ है।

उक्त नायिका गण की सखी का प्रकार को कहते हैं। सम्प्रति लक्षण के सहित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जो निरुपाधि प्रीति परायणा, सुख दुःख मे सदृशी एव वयस्य भाव हेतु परस्पर की हृदयज्ञा हैं वे ही सखी शब्द से अभिहिता है। उदाहरण—

"पतत्यस्रे सास्रा भवति पुलके जात पुलका,
स्मिते भाति स्मेरा सुमलिमनि जाते सुमलिना ।
अनासाद्य स्वालीमु कुरमभिवीक्ष्य स्व वदन
सुख वा दुःख वा किमपि कथनीय मगदश ॥"

अश्रु बिन्दु पतित होने से वे भी अश्रुमुखी होती हैं। इत्यादि ॥२७८-२७६॥

जो छाया के समान सतत अनुसरण करती है, उसको प्रियसखी कहते हैं ॥२८०॥

उदाहरण—सूर्य्य हेतु छाया के समान कभी सम्मुख मे कभी पश्चात् भाग मे, कभी पार्श्व भाग में एव कभी पद प्रान्त भाग मे रहकर श्रीराधिका का अनुवत्तन करती रहती है। अर्थात् सूय्य सन्निहित व्यक्ति को छाया जिस प्रकार कभी भी नहीं छोडती है, उस प्रकार जो श्रीराधा को कभी भी नहीं छोडती है, उसको प्रियसखी कहते हैं ॥२८१॥

सुरसे नर्मणि रता सैव नर्मसखी भवेत् ॥२८२॥

यथा—वृथाऽकृथा यावकमङ्घ्रि पङ्कजे, स्व एव रागोऽस्यदृशारसायन, ।

किन्त्वेक एवास्ति गुणोऽस्य राधिके, य केशवस्यापि च केशरञ्जन ॥२८३॥

न सङ्कोच यथा याति कान्तेन शयितोत्थिता ।

आत्मनो मूर्त्तिरन्येव प्रियनर्म सखी तु सा ॥२८४॥

यथा—अन्योऽन्य ग्रथिताङ्गुली किसलयौ विन्यस्य सख्यसयो

र्बाहू गात्रविमोटन विदधती कृत्वास्तनाग्रे स्तनौ ।

यत् कृष्णस्य जये समर्जितवती पौष्पायुधे सङ्गरे ।

तत् सौभाग्यधन न्यधाद् विधुमुखी स्वाङ्गात्तदङ्गेष्विव ॥

एता अपि चतुर्विधा सख्यो नायिका गुणैरन्यूना एव ॥२८५॥

विशेषतस्तु—दूतीभाव समये, परिजन भावस्तु वेशभूषादौ ।

हे राधिके ! त्वमङ्घ्रिकमले यावक वृथा अकृथा यतोऽस्याङ्घ्रे स्वत सिद्धो राग किन्त्वस्य यावकस्य समय विशेषे गुण श्रीकृष्णस्यापि केश रञ्जयिष्यतीति ॥२८२ २८३॥

का तेन सह सुप्ता पश्चादुत्थिता सा कान्तस्याग्रे निवस्त्रमङ्ग दृष्टवत्या यया सख्या करणभूतया यूथेश्वरी सङ्कोच न प्राप्नोति, सा प्रियनर्म सखी—आत्मनो द्वितीया मूर्त्ति ॥२८४॥

रात्रि सम्बन्धि विलासोत्थ परिश्रमेण जातस्यालस्यस्यदूरीकरणाथ सख्या स्कन्धदेशे बाहु वि यस्य कन्दर्प युद्धे श्रीकृष्णस्य पराजयेन यत् सौभाग्यमर्जितम्, तदेव सौभाग्यधन स्वाङ्गात् सकाशात् सख्या अङ्गेषु न्यधादिव ॥२८५॥

तस्मिन् माने गाढे सति गहकत्व निन्दकत्व तासा सखीनामितिभाव ।२८६॥

जो सुरस विशिष्ट परिहास कार्य्य मे रत रहती है, उसको नर्म्म सखी कहते हैं ॥२८२॥

उदाहरण—अयि राधे ! तुम चरण कमल को वृथा अलक्त राग से रञ्जित न करो, कारण, चरणो की स्वाभाविक रक्तिमाही तो साधारण जन गणके पक्ष मे दृष्टि रसायन स्वरूप है । तब उसका एक विशेष गुण देखने मे आता है कि, वह केशव का भी केशरञ्जन करता रहता है ॥२८३॥

जिसके समीप मे नायिका प्रियतम के सहित शयिता एव शयन के पश्चात् उत्थिता होकर भी सकुचाती नहीं, अपनी ही द्वितीय एक मूर्त्ति मानकर जिस को अनुभव करती है, उसको प्रियनर्म्म सखी कहते हैं ॥२८४॥

उदाहरण—परस्पर ग्रथिताङ्गुलि निज बाहुद्वय को सखी के स्कन्ध मे अर्पण पूर्वक एव स्तनद्वयको तदीय स्तनाग्र भाग मे विन्यास पूर्वक गात्र भङ्ग के सहित चन्द्र वदनी श्रीराधिकाने जब आलस्यत्याग किया तब प्रतीत हुआ, स्मर समर मे श्रीकृष्ण को पराजित करके जो सौभाग्य अर्जन उन्हो ने किया है, उसे स्वकीय अङ्ग से अवतारण पूर्वक सखी के अङ्ग मे उसी को ही स्थापन किया ।

ये चतुर्विध सखी—नायिका के गुण समूह हीन नहीं होती हैं ॥२८५॥

उपदेष्टृटता च माने, तस्मिन् गाढे तु गह्कत्वञ्च ॥२८६॥

तासामिति भाव ।

दूती भावस्तु त्रिधा । लक्षणन्तु प्रागुक्त समानमेव । तत्र निसृष्टार्था यथा (तृतीय किरणे ७ श्लोक) 'उच्छूनस्तनित' इ यादौ । मितार्था यथा (१६० श्लोके) 'ताम्बूलमाल्य' इत्यादौ । सन्देशहारिका

यथा—त्वदुक्तमुक्त सखि कृष्णसन्निधौ, त्वदुक्तमेतच्च निवेदयामि ते ।
प्रसादनेनालमनेन निग्रहोऽप्यनुग्रहोऽय मम य कृतस्तया ॥

परिजनभावो यथा—(२५७ श्लोके) 'आदर्शेऽनुचरी' इत्यादि । मानोपदेष्टृता यथा (१४६ श्लोके) 'सख्या शिखित पाठितानि' इत्यादि । तस्मिन् ग ढे गह्कत्व यथा—

मान भङ्गार्थ प्रणत्यादिना अनुनय त श्रीकृष्ण तिरस्कृत्यविमनीबभूव, पश्चात् श्रीकृष्णे गतेसति, 'दुबु द्धिरह निमकरवम्, व्रजराजनन्दनो मया तिरस्कृत' इति पश्चात्तापवती कचित् श्रीकृष्ण प्रसादयितु सन्देशहारिणी दूतीं श्रीकृष्ण निकटे प्रेषयामासेत्याह—त्वदुक्तमिति । श्रीकृष्णस्योक्तिमाह—अनेन

विशेष कर उपयुक्त समय मे उन सबो मे दूतीभाव, वेश भूषादि समय मे परिजन भाव मान समय मे उपदेशक भाव, एव मान प्रगाढ होने से उस समय निन्दन भाव भी दृष्ट होता है ॥२८६॥

दूती भाव तीन प्रकार के है, उसके लक्षण पहले जिस प्रकार कहा गया है यहा भी उसी प्रकार है, उसके मध्य मे निसृष्टाथ दूती का दृष्टा त—

उच्छू नस्तनितस्य सवसुखद कृष्णम्बुदस्योदयो
वाता शीकर वाहिन सुमनसा वीथी विकाश मता ।
स्निग्धा भूमत एव सज्वरभर श्यामायमाना दिश
स्फीत गोकुलमुन्मदाश्च सरित शीता गिरि द्रोणय ॥"

उच्छू नस्तनित अर्थात् गभीर गर्जन कारी उस कृष्ण जलधर का उदय सब के पक्ष मे सुखद हुआ है । इत्यादि श्लोक है । अमितार्था दूती- का उदाहरण—

"ताम्बूल माल्य वसना भरणानुलेपा सम्पादितास्तव कृते स्वयमेतया ये ।
तेह्य व ता त्वयि विलम्बिनि तत्क्षणेन, सन्तापयन्ति वितुदन्ति विमोहयन्ति ॥"

हे कृष्ण ! मेरी सखीने तुम्हारे निमित्त जो सब ताम्बूल, माल्य, वसन, आभरण एव अनुलेपन सज्जित किया है । इत्यादि श्लोक । स देशहारिका का उदाहरण—

हे सखि ! तुमने जो कही थी, उस को मैने कृष्ण को कहा, उससे उसने जो कहा है, मै कहती हू, सनो, उसने कहा, मुझ को प्रसन्न करने की आवश्यकता क्या है ? जो निग्रह मुझ को किया गया है, वही मेरे पक्ष मे अनुग्रह हुआ है ।

परिजन भाव का दृष्टान्त (२५३ श्लोक मे है—

(चतुर्थ किरणस्य ११ श्लोके) 'कति न पतित पादोपा ते' इत्यादौ। (१८८ श्लोके) 'अस्माभि सह चाटुकृत्' इत्यादौ वा ।।२८७।।

उक्त आलम्बनविभाव.। उद्दीपनविभावो यथा—

वृन्दावन षड्तव सह वत्तमाना कुञ्जा मणीन्द्रगृहतोऽपि मनोविनोदा
कर्पूर भासि यमुना पुलिनानि हस-कारण्डकादि ललित नलिनी वनञ्च ।।२८८।।

प्रसादनेनालम् । तया कृतो यो निग्रह स ममानुग्रह एव । स्वस्य प्रीतिमज्जने एव निग्रहानुग्रहौ करोति, अन्यथा मयि तस्या औदासीन्यमेव स्यात् ।।२८७।।

षड् ऋतव एकस्मिन्नेव क्षणे वत्तमाना । कर्पूरतोऽपि दीप्तिमन्ति यमुना पुलिनानि। रोलम्बो

आदर्शोऽनुचरी कराञ्चलगते सवीक्षमाणा मुख
द्विवाभि क्रियमाण मण्डन विधो राधा सखीभि मिथ ।
उत्थायाद्ध विभूषितैव परितो व्यापारयन्ती दृश
दृष्टवा दवन आगत प्रियमथो सम्पूण भूषा भवत् ।।"

श्रीराधा किङ्करी के करतलस्थित दपण मे मुख निरीक्षण कर रही थी, इत्यादि। मानोपदेशक का उदाहरण—१४६ श्लोक मे है।

"सख्या शिक्षित पाठितानि सुभृश वाम्योपदेशाक्षरा -
ण्यद्यावश्यमभीष्ट सङ्ग समये सम्पादनीयानि हि ।
इत्थ चेतसि निश्चयो व्यजनि य कृष्णस्य सन्दशने
सद्योऽसौ सह चेतसापसतवास्तास्तास्मि तस्या हृद ।।"

प्रियके प्रति मान ग्रहणादि रूप प्रतिकूल व्यवहार करन के निमित्त सखीने यत्न पूवक जो जो पाठ पढाया है। इत्यादि।

मान प्रगाढ होने से नि दा करण--का उदाहरण चतुथ किरण के ११ श्लोक मे है—

कति न पतितपादोपा ते न चाटु कृतोरित कति न शपथ शीर्णो वत्त कृता कति न स्तुति ।
तदपि न गत वामे वाम्य लभस्व कृतार्थता भवतु तव तु प्रेयान् मानो न मानिनि माधव ।।"

चरणो पान्त मे कितनी वार न गिरा हू। इत्यादि। १८८ श्लोक भी उसीका उदाहरण है—

'अस्माभि सह चाटु कृन्न गणित पादानतो माधव ।
कोपोऽय बहु मानितो न च वय प्राणेश्वरो नाप्यसौ ।
च द्र श्चन्दन मारुत पिकरुत सम्भय सव यदा
तामुद्वेजयिता तदव सकल कोप समाधास्यते ।।"

माधव चरणो मे पतित होकर हम सबको कितने ही दैन्य वचन कहे थे। इत्यादि ।।२८७।।

आलम्बन विभाव का वणन के पश्चात् उद्दीपन विभाव का वणन करते हैं—मधुर वृ दावन एकत्र अवस्थित षड ऋतु है, मणी द्र के गृह से भी चित्त विनोदन कुञ्ज गृह कपू र प्रभ यमुना पुलिन हस कारण वादि द्वारा ललित नलिनीवन है, चन्द्र, च दन, पवन, गोवद्धनादि गिरि के मनोहर कन्दरालय

चन्द्रश्च चन्दनमरुच्च मनोहराणि गोवर्द्धनादि गिरिकन्दर मन्दिरानि

रोलम्बकोकिलमयूरनिनादमिश्रं नाना विहङ्ग विरुतं हरितोऽपि हृद्या ॥२८६॥

तत्र षण्णामृतूनामेकत्र–वर्त्तिता यथा–

शिरोषेणासक्ता स्थलकमलिनी कुन्दलतिका

रतालोध्रे नीप स्वयमनुसृतो माधविकया।

अहो वृन्दारण्ये विटपिमिथुनाना विहसता

किमादृग दाम्पत्य स्फुरति रचिते कुञ्जभवने ॥२६०॥

एवमन्येऽप्यनुसर्त्तव्या ।

अन्यानुभावा ––स्थायिभावस्य कार्य्याणि कटाक्षादीनि यानि तु ।

अनुभावास्तानि बोध्या न सख्या तेषु वर्त्तते ॥२६१॥

अलङ्काराश्च ये प्रोक्तास्तेषा मध्ये च केचन ।

कालेऽनुभावता यान्ति तथा तानीङ्गितानि च ॥२६२॥

भ्रमर । एतेषा शब्द हरितो दिशो हृद्या । अपिकारात् तेषा शब्दा अपि हृद्या इत्यर्थ ॥२८८–२८६॥

ग्रीष्मे शिरोष प्रफुल्लो भवति, स्थलकमलिनी तु शरदि । एव सति पुष्पलता शिरीषरूप पुरुषेण सहासक्ता पुष्पवती स्थलकमलिनी । एव हेमन्ते प्रफुल्ले लोध्रे, शिशिरे प्रफुल्ला कुन्दलता रता, प्रावृषि प्रफुल्लो नीप स्वय वसन्ते प्रफुल्लया माधविकया अनुसृत । तथासति वृन्दावने षण्णामृतूनामेकक्षण एवावस्थितिरिति ज्ञेयम् ॥२६०॥

तानि कटाक्षादीन्यनुभावा बोध्या । तेषु कटाक्षादिषु, सख्यानास्ति अतोऽलङ्कारादि वत्तेषा सख्या न कृताइत्यर्थ काले–समय विशेषे–केचनालङ्कारा अनुभावता प्राप्नुवन्ति । तथा तान्यलङ्कार सहितानीङ्गितान्यप्यनुभावता प्राप्नुवन्ति ॥२६१–२६२॥

भ्रमर मयूर कोकिलादि विविध विहग के कलरव से रमणीय दिङ मण्डल–ये सब ही उद्दीपन विभाव है ॥२८८–२८६॥

षड ऋतु का एकत्र अवस्थान का उदाहरण– वृन्दारण्यका कसा विचित्र माहात्म्य है, तत्रत्य कुञ्ज भवन मे प्रफुल्ल वृक्ष वल्ली वृन्दमे भी अपूर्व दाम्पत्यभाव स्फुरित होता है । शरत शोभिनी स्थल कमलिनी ग्रीष्म गौरव शिरीष पादप मे आसक्त हुई है । शिशिर सुहासिनी कुन्द लतिका हेमन्त पुष्पित लोध्र वृक्ष मे सलग्न हुई है । वसन्त विकसिता माधवीलता प्रावृट् प्रफुल्ल कदम्बपादप मे स्वय विलम्बित है । इसी रीति अन्य उदाहरण समूह का अनुसरण करना कर्त्तव्य है ॥२६०॥

सम्प्रति अनुभाव का वर्णन करते हैं– स्थायिभाव के कटाक्षादि जो सब कार्य्य हैं, वे सब ही अनुभाव हैं वे सब कटाक्षादि की सख्या नही की गई है । इस के पहले जो सब अलङ्कार कहे गये हैं । समय विशेष में वे सब एव उन सब के सहित इङ्गित समूह भी अनुभावत्व को प्राप्त करते हैं । २६१–२६२॥

तत्र कटाक्षो यथा—

तस्यास्त्रपा भयविषाद विवेक धैर्य्य दैन्याभिलाषभरकोरकित कटाक्ष ।
उन्मादमोहमददाहविसर्पशूल– तृष्णान्वितो ज्वर इवात्मनि मे प्रविष्ट ॥
कृष्णोक्ति ॥२६३॥

यथा वा—तव शशिमुख राधे दक्षिणाऽदक्षिणाभ्या–
श्रवण पथमुपात्त प्रेङ्क्षयाय कटाक्ष ॥
निभृत रभस वेगारोपित शाङ्खिकाना
क्रकच इव ममोच्चै कृन्तति स्वान्तशङ्खम् ॥२६४॥

एवमन्येऽप्यनुसर्त्तव्या ।

सात्त्विका अपि येऽन्येऽष्टौ तेऽपि यान्त्यनुभावताम् ॥२६५॥
ते यथा—स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभेदश्च वेपथु ।
वैवर्ण्य मश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकामता ॥२६६॥

उदाहरणम्—स्विन्ना मद गदभाषिणी पुलकिता स्तब्धा स्फुरद् वेपथु ।

श्रीकृष्ण सुबल प्रत्याह—तस्या राधाया त्रपा भयादि रूप कलिकाभि कोरकित कटाक्षरूप पुष्प गुच्छो मम हृदि प्रविष्ट । तत्र दृष्टा त—उ मादेति । विसर्पशूलौ व्याधिविशेषौ, तृष्णा, सान्निपातकौ एतदन्वितो ज्वरोयथा हृदि प्रविष्ट सन् दहतितद्वदित्यथ ॥२६३॥

हे राधे ! तव दक्षिणवाम नेत्राभ्या जात कटाक्ष प्रेङ्क्षया गत्या कर्ण स्वरूप प थान प्राप्त सन् मम मनोरूप शङ्ख कृन्तति छिनत्ति । तत्र दृष्टा त –निभृते एकान्ते हर्षाणा वेगेना रोपितश्चञ्चलीकृत । "शाँखारी' इति प्रसिद्धाना शाङ्खिकाना 'करात' इति प्रसिद्ध क्रकच इव । अन्य क्रकच आगमन समये एव कृन्तति, शाङ्खिकाना गमन गमनोभय समये एव कृन्ततीति विशेषो ज्ञेय ॥२६४ २६५ २६६॥

उसके मध्य मे कट क्ष का उद हरण—लज्जा, भय, विषाद, विवेक, धैर्य, द य, एव अभिलाषातिशय रूप मुकुल सङ्कुल प्रियतम के कटाक्ष रूप कुसुमस्तवक–उ माद, मोह, मद, दाह, विसप शूल एव तृष्णा-विशिष्ट प्रबल ज्वरके समान मेरा अन्त करण मे प्रविष्ट हुआ है ॥२६३॥
यह कृष्णोक्त है ।

कटाक्ष का उदाहरण—शशिमुखी राधिके तुम्हारे वाम नेत्र एव दक्षिण नेत्र से उत्पन्न हृष वेग चालित कुटिल कटाक्ष गमन भङ्गि क द्वारा श्रवण पथ को प्राप्त कर शङ्ख वलय निर्म्माता शाङ्खिक वृन्द के अथात् शाखारी वृन्द के क्रकच–करात के समान मेरा अन्त करण रूप शङ्ख को छिन्न विच्छिन्न कर रहा है । इस प्रकार अपर उदाहरण का भी अनुसरण करना चाहिये । अपर जो अष्टविध सात्त्विक भाव हैं वे भी अनुभावत्व को प्राप्त करते हैं । अष्टसात्त्विक इस प्रकार है—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु एव प्रलय को सात्त्विक भाव कहते हैं । २६४ २६५ २६६ ।

साश्रु र्म्लानरुचि र्यदद्य जलदालोकेऽभवद् भाविनी ।
तन्मन्ये स्फुटमिन्द्रनीलमहस कस्यापि लीलानिधे-
र्वृन्दारण्य विलासिनो द्युति भरैरेषा पराभूयत ॥२९७॥

अथ व्यभिचारिण —निर्वेद ग्लानि शङ्काश्च मदासूया श्रमा अथ ।
आलस्य दैन्य चिन्ताश्च मोह स्मृति-धृती अपि ॥२९८॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेग जडते अपि ।
विषादौत्सुक्य गर्वाश्च निद्रापस्मार एव च ॥२९९॥
विमष सुप्त्यमर्षाश्चाप्यवहित्थोग्रतेत्यपि ।
उन्माद, व्याधिमतयो वितकमरणे अपि ।
त्रासश्चेति त्रयस्त्रिशदुच्यन्ते व्यभिचारिण ॥३००॥

अथैषा लक्षणम्—स्वजुगुप्सा तु निर्वेदो ग्लानिर्विकृतिराकृते ।
अनिष्टाशङ्कन शङ्का मदो मध्वादि मत्तता ।
दोष दृष्टि रसूया स्याद् व्यायामक्लान्तता श्रम ॥३०१॥
शक्तौ च कर्म्म वैमुख्यमालस्यात् दैन्यमात्मनि ।
अयोग्य बुद्धिश्चिन्ता तु कि भावीति विचिन्तनम् ॥३०२॥
विचित्तता तु मोह स्यात् स्मृति प्रागवृत्तचिन्तनम् ।
धर्य्यं धृतिस्त्रपा व्रीडा लौल्य चपलता मता ॥३०३॥

यस्मादिय भाविनी का ता मेघालोके सति स्वि नेत्यादिना प्रस्वेदादि सात्त्विक विशिष्टा ऽभवत्, तत्तस्मात् कस्यापीन्द्रनीलमहस श्रीकृष्णस्य कान्तिभररेषा पराभूयत, पराभव प्राप्ता । 'म्लानरुचि' इत्यनेन ववण्यम् ॥२९७॥

मधुजन्यमत्ततामव , आदि शब्देन यौवनादेरपि व्यायामेन व्यापारेण ज ता क्ला तता क्लान्ति श्रम

उदाहरण यह है—अद्य भाविनी राधिका मेघ दशन कर जा स्वेद, रोमाञ्च, गदगद भाषण, स्तम्भ, कम्प, अश्रुमोचन, एव विवर्ण प्रभृति लक्षणो से लक्षित हो रही है । इस से बोध होता है—राधिका, इन्द्र नीलमणि वृन्दावन विहारी किसी लीलानिधि सुनायक की कान्तिसे निश्चय ही पराभूत हो गई है ॥२९७॥

सम्प्रति व्यभिचारि भावो का वणन करते है—निर्वेद ग्लानि, शङ्का, मद, असूया, श्रम, आलस्य, दन्य, चि ता, मोह, स्मृति धति, व्रीडा, चपलता हष, आवेग, जडता, विषाद औत्सुक्य, गव निद्रा, अपस्मार, विमष, सुप्ति, अमष, अवहित्था, उग्रता, उन्माद, व्याधि, मति, वितक, मरण, एव त्रास ये तेतीस व्यभिचारि भाव है ॥३००॥

आत्म चि ता का नाम—जुगुप्सा, आकार की विकृति- ग्लानि, अनिष्टाशङ्कन शङ्का, मधुपानादि

हर्षश्चित्तस्य विस्फार आवेगस्त्वरया मदः ।
निष्पन्दत्वञ्च जडता विषादस्तु विषण्णता ॥३०४॥
उत्कण्ठैवौत्सुक्यमाहु गर्वोऽहङ्कार एव हि ।
निद्रा निद्रैव स्खलन फेन निष्ठीव पूर्वकम् ॥३०५॥
अपस्मार परामर्शो विमर्शो निद्रया विना ।
स्वप्नस्तु सुप्तिरित्याहुरमर्ष कोप एव हि ॥३०६॥
अवहित्थाकार गुप्तिरुग्रता तीव्रतव हि ।
अनवस्थित चित्तत्वमुन्मादो हृद व्यथादिक ॥३०७॥
व्याधि र्यथार्थस्मरण मति सशय एव हि ।
वितर्को मरण प्राणत्याग स्त्रासो भयोदय ॥३०८॥
अपस्मार च निर्वेद मरण च विना किल ।
त्रिशदेवात्र विज्ञेया शृङ्गारे व्यभिचारिण ॥३०९॥

अपस्मारादयस्त्रय क्रमादमङ्गलत्व तु शान्ताङ्गत्वात् करुणाङ्गत्वाच्च न गृहीता । तत्त्व

आत्मन्ययोग्यता बुद्धि दैन्यम् । विचित्तता चित्तस्य वृत्तिशून्यता । म ह , त्वरया मद , त्वराजन्य मत्तता आवेश इत्यर्थ । उदाहरणे व्यक्ती भविष्यति ॥३०१ –३०४॥

फेन निष्ठीवन पूर्वक स्खलनमपस्मार , निद्रा विना शयन सुप्ति , हृद्व्यथादिरेव व्याधि , सशय एव वितर्क , तत्त्व ज्ञानोत्थो निर्वेद एव शृङ्गारे रसे न व्यभिचारी । श्रीकृष्णे स्वस्यौदासीन्येन जातो यो निर्वेद स तु व्यभिचारी भवेदेव । एते व्यभिचारिण शावल्यादिक विनव एकश स्वात तेषण ग्लान्यादि

हेतु मत्तता मद दोष दर्शन असूया, व्यायाम सम्भूत क्लान्तता—श्रम, सामर्थ्य की विद्यमानता मे कर्म विमुखता –आलस्य, स्वय मे अयोग्यता बुद्धि–दैन्य, क्या होगा ? इस प्रकार चिन्तन—चिन्ता, पूर्व कालीन विषय का चिन्तन—स्मृति, धैर्य धृति, लज्जा व्रीडा, विचित्तता—मोह, लोलता चपलता, चित्त विस्फार हर्ष, त्वरा हेतुमत्तता—मद, स्पन्द हीनता जडता, विषण्णता—विषाद उत्कण्ठता औत्सुक्य, अहङ्कार- गर्व, निद्रा—निद्रा, फेन निष्ठीवन पूर्वक स्खलन—अपस्मार, परामर्श—विमर्श, निद्रा व्यतीत शयन—सुप्ति, कोप–अमर्ष, आकार गोपन—अवहित्था तीव्रता—उग्रता अनवस्थित चित्तता उन्माद, हृदयव्यथा– व्याधि यथार्थ स्मरण मति, सशय–वितर्क, प्राण त्याग—मरण, एव भयका उदय को त्रास कहते हैं ॥३०१- ३०४ ३०८॥

शृङ्गार मे अपस्मार निर्वेद एव मरण को छोडकर अवशिष्ट तीस व्यभिचारी हैं ।

उक्त तीन के मध्य मे पहला अमङ्गल जनक है, द्वितीय शान्तरस का अङ्ग है, ततीय करुण रस के अङ्ग हैं, अत शृङ्गार रस मे गृहीत नहीं होते हैं ।

कतिपय व्यक्ति के मत मे केवल तत्त्वज्ञानोत्थित निर्वेद ही शृङ्गार के व्यभिचारी के मध्य में

ज्ञानोत्थो निर्वेद एव केवल न गृहीत इति केचित् ।

भवन्त्येकैकशस्त्वेते स्वातन्त्र्येण पृथक पृथक् ।
उदय प्रशमश्चापि पृथगेव निरूप्यते ॥३१०॥
द्वाभ्या च बहुभिश्चापि शावल्य सहिता द्वयो
सन्धिलक्षणमेतेषा यथास्वमुपदश्यते ॥३११॥
तात्कालिक हेतुमेत्य तत् कोलोदभूततोदय ।
प्रशमो निज सामग्या प्रागुद्भूतस्य सक्षय ॥३१२॥
अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वात् स्व स्व स्वातन्त्र्यतोऽथवा ।
स पक्षाणा विपक्षाणा शावल्य परिकीत्तितम् ॥३१३॥
एकस्य गमनारम्भो ह्यन्यस्यागमनोदय ।
सन्धि स्यादथवा तुल्योदयस्तुल्य शमो द्वयो ॥३१४॥

नामपि पृथक पृथग भवन्ति। एष्य पथक पृथक् नामस्य पथक पथग भावोदयो भाव प्रशमश्च निरूप्यते ॥३०५-३१०॥

तथा द्वाभ्या बहुभि र्वा भावै परस्परमिलन शावल्यम्। एव द्वयोर्भावयो सहिता स धान सधि । एतेषा चतुर्णा लक्षण यथास्व स्व स्वनिरूपण प्रदश्यते। तत् कालोत्प न हेतु प्राप्य भावस्य तत् कालोत्पन्नतव उदय । निज सामग्र्या पूर्वमुत्पन्नस्य भावस्य पश्चात् सक्षय प्रशम । सपक्षाणा विपक्षाणा भावानामेकस्मिन् सस्थित शावल्यम्। सा सस्थिति द्विविधा भवति, परस्परानुग्राह्यानुग्राहकत्वात्।

अथवा, परस्परनरपेक्ष्येण स्वस्वस्वातन्त्र्यादुभयसस्थितिरेव शावल्यम्। एकस्य भावस्य गमनस्यान्तर्धानस्य आरम्भ अ यस्य भावस्यागमोदय सधि ।

अथवा,—द्वयोर्भावयोस्तुल्यकालीनोदयस्तुल्यकालीनप्रशम सधि । अपर पूर्वोक्तशावल्यभिन्न प्रस्तारक्रमप्राप्तमपर शावल्य भवेत्। सन्ध्युत्तरा इति—सन्धिरुत्तरे श्लोकस्य पश्चात् भागे येषा त

परिगणित नहीं होता है। ये सब व्यभिचारिभाव, एक एक करके स्वत त्र रूपसे पृथक पृथक होते हैं। भावोदय एव भाव प्रशम भी पृथक रूप से निरूपित होते हैं ॥३०६-३१०॥

दो अथवा अनेक भावो का परस्पर मिश्रण का नाम शावल्य है, एव दो भावों का सयोग का नाम सधि है। इसके प्रत्येक के लक्षण प्रदर्शित हो रहे हैं।

तत्कालोत्पन्न हेतु की उपस्थिति के कारण उस समय जो भाव उत्पन्न होता है, उसका नाम उदय है। निज कारण समूह के सयोग के पूव मे उद्भूत हुआ था पश्चात् उसका सक्षय का नाम प्रशम है। परस्पर अनुग्राह्य अनुग्राहक भावसे हो, अथवा परस्पर निरपेक्ष से निज निज स्वातन्त्र्य क्रम से ही हो, स्वपक्ष एव विपक्ष उभयविध भावके सहावस्थान का शावल्य है।

एक एक भावका अन्तर्धान का आरम्भ, एव अ य भाव का आगमनारम्भ को सन्धि कहते हैं,

द्वयोस्तुल्य कालीन उदय प्रशमो वा सन्धिरित्यर्थ ।
उदयाद्य श्चतुर्भिस्तु शावल्यमपर भवेत् ।
तत् स्यात् षोडशधा तत्र प्रस्तार क्रम इष्यते ।।३१५।।

षोडशधा यथा—

सन्ध्युत्तरा स्युश्चत्वारस्तथान्येशवलोत्तरा ।
चत्वार एव प्रशमोत्तरा अप्युदयोत्तरा ।।३१६।।

प्रस्तारदर्शनम्—

उप्रशस शउप्रस प्रशउस प्रउशस–एते सन्ध्युत्तराश्चत्वार ।
सउप्रश सप्रउश प्रउसश उप्रसश–एते शावल्योत्तराश्चत्वार ।
उशसप्र सउशप्र शसउप्र सशउप्र–एते प्रशमोत्तराश्चत्वार ।
शसप्रउ सशप्रउ प्रशसउ सप्रशउ–एते उदयोत्तराश्चत्वार ।।
एव स्याद् विंशति ।।३१७।।

स ध्युत्तराश्चत्वार ।

तथा चाय क्रम – श्लोकस्य पश्चाद् भागे सन्धि स्तत् पूव शावल्य ततपूव प्रशमस्ततपूवमुदय । इत्यक क्रम । एव सधि पूर्वं प्रशमस्तत् पूर्वमुदय स्तत् पूव शावल्यमिति द्वितीय क्रम । तथा स धे पूवमुदय स्ततपूव शावल्य तत् पूर्व प्रशम —इति तृतीय क्रम । तथासन्धे पूव शावल्य ततपूवमुदय प्रश्रय इति चतुथ क्रम । अस्यव प्रस्तार इति सज्ञा । एव रीत्या शावल्योत्तरादयोऽपि ज्ञेया ।।३११ ३१६।।

स धिना सह सन्धे शावल्यम्,एवमुदयेन सहोदयस्य शावल्यम्,तथा प्रशमेन सह प्रशमस्य शावल्यमिति त्रयम् । तथवेतिभावद्वयस्यावयवो सन्धिस्तथा प्रशमयोश्च सन्धिरिति सन्धि द्वयमिति स्मृते पूर्वोक्त

भावद्वय के समकाल मे उदय के समकाल मे प्रशम भी सन्धि शब्द से कथित होता है। उदयादि चतष्टय मे अन्य एक प्रकार शावल्य होता है। वह प्रस्तार क्रम को प्राप्तकर षोडश विध होते हैं। अर्थात् श्लोक क सबशेष अश मे सन्धि, उसके पूव मे शावल्य, उसक पूव मे प्रशम, उसके पूव मे उदय यह प्रथम क्रम है। सन्धि के पूव मे प्रशम, उसके पूवमे उदय, उसक पूर्व मे शावल्य—यह द्वितीय क्रम है।

सन्धि के पूव मे उदय एव उसके पूव मे शावल्य, उसके पूव मे प्रशम,—यह ततीय क्रम है। स धिके पूव मे शावल्य, उसके पूव मे उदय, उसके पूव मे प्रशम,—यह चतुथ क्रम है। इस की ही सज्ञा प्रस्तार है। उक्त चतुर्विध को स ध्युत्तर कहे थे। इस प्रकार शावल्यात्तर प्रशमोत्तर एव उदयोत्तर होते हैं।।३११ ३१६।।

उक्त रीति से शावल्योत्तर, प्रशमोत्तर एव उदयोत्तर—प्रत्येक चतुर्विध होते है। इस प्रकार उदयादि चार एव प्रस्तार गत उक्त षोडश के मिलन से विंशति प्रकार हाते है।

सन्धिके सहित सन्धि का शावल्य, उदय के सहित उदय का शावल्य एव प्रशम के सहित प्रशम का शावल्य—इस रीति से शावल्य भी तीन प्रकार होते है।

एव केवलैरुदयादश्चतुर्भि प्रस्तारगतै षोडशभिस्तु विंशति प्रकारा ।

सन्धे सन्धिनाप्युदयस्य च ।

उदयेन शमस्यापि शमेनापि त्रिधा पुन ॥३१८॥

शावल्यमि तिशेष । सन्धिशावल्यमुदयशावल्य प्रशमशावल्यमिति त्रिधा ॥३१८॥

तथैवोदयसन्धिश्च शमसन्धिरिति स्मृते ।

पञ्चविंशतिरेते स्युरन्योऽन्य स्थिति भेदत ॥३१९॥

प्रत्येकमेककयोगे मिथोऽङ्गाङ्गित्व भावत

एकोनत्रिंशता त्रिंशविन्दुसिन्धुमतङ्गजा (८७०) ॥३२०॥

निर्वेदादि त्रितय वर्जितस्य त्रिशद् व्यभिचारि भावस्योनत्रिंशता गुणितस्यते प्रकारा इत्यथ ।

एतैश्च पञ्चविंशत्या वाणग्रहमतङ्गजा (८९५) ॥३२१॥

ते विन्दु सिन्धु मतङ्गजा (८७) पञ्चविंशति युक्ता (२५) सन्तो वाणग्रहमतङ्गजा, (८९५) भवन्ति ।

पुनरेत प्राग् गणितैस्तै सेङ्गित निरङ्गितै ।

अलङ्कारै शवलितै, पक्ष चन्द्रशरेन्दुभि (१५१२) ॥३२२॥

शावल्येन भवन्त्येते विन्दुवेद करद्विपै वेदाग्नि चन्द्र सख्याका (१३४८२४०) तेषादिग दर्शन भवेत् ॥३२३॥

एतान् कात्स्न्येन निर्वक्तु वाणी शक्नोति नो नर ॥३२४॥

तत्रशुद्धास्त्रिशद् यथा—

ग्लानि —ग्लानानीव मृणालानि धत्तेऽङ्गानि यदङ्गना ।

तत कृष्णानुरागोऽस्यामन्तज्वर इवस्थित ॥३२५॥

स्मरणात् । अ यो य स्थितिर्भेदत पञ्चविंशति प्रकारा स्यु । प्रत्येकमिति—निर्वेदोऽपस्मारो मरणमिति त्रितय वर्जितस्य त्रिशद् व्यभिचारि भावस्य प्रत्येकमेककयोगे निर्वेदादित्रय—वर्जितेन ऊनत्रिंश व्यभिचारि भावेन गुणितस्य वि दु सिन्धु मतङ्गज सख्यका (८७०) भवति । स्वेनसह स्वस्य योगाभावादू त्रिंशेति' एषा पञ्चविंशत्या सह योगे वाण ग्रह मतङ्गज सख्यका (८९५) भवन्ति ॥३१७-३२२-३२५॥

उसी प्रकार भावद्वय के उदयस्थल मे उसकी सन्धि, एव भावद्वय के प्रशमारम्भ स्थल मे उसक सन्धि—पूव स्मरण के अनुसार सन्धिद्वय को लेकर परस्पर स्थिति भेदसे पञ्चविंशति प्रकार होते हैं।

निर्वेदादि तीन को छोडकर त्रिशत् सख्यक व्यभिचारि भाव अङ्गाङ्गि भावसे प्रत्यक एक एक सहित मिलित होकर ऊनत्रिंशत् सख्यासे गणित हाकर (८७०) प्रकार होते हैं।

उसके सहित उल्लिखित पञ्चविंशति के योग से ८९५ प्रकार होते हैं।

शङ्का—प्रोष्यागत प्राणनाथ कथ पश्यन्ति सुभ्रु व ।
इति शङ्कित चित्तेन कृष्ण पृच्छति सा सखीम् ।।३२६।।

मद—रूप यौवन गर्वेण नोर्व्यां पतति ते पदम् ।
तत्रापि मधुपान ते राधे किं स्वादत परम् ।।३२७।।

असूया—प्रसादिता चाटु कारै स्वप्ने साऽजनि राधिका ।
लभेय यावदाश्लेष तावद् बोधो विरोधभाक ।।३२८।।

श्रम—पुष्पावचयनेनाल कुञ्जे विश्राम्य राधिके ।
क्लम कमल पत्राक्षि मुखेन तव कथ्यते ।।३२९।।

प्रवासादागतमतएव काश्यमालि याडि युक्त प्राणनाथ कथ कि प्रकार पश्यति। तथा च प्रवास गमनसमये एव तासा प्र णानामपि तेन सह गमनमुचितमिति भाव ।।३२६।।

स्वप्ने मया बहुभिश्चाटुकार करण राधिका प्रसाविता अर्जान जाता, पश्च तु तया सह यावदहमालिङ्गन लभेय, तावन्निद्रा भङ्गाज्जातो यो बोध स मया सह विरोध भाग बभूवेति शेष ।३२८।

हे कमल पत्राक्षि राधिके ! त्व कुञ्जे विश्राम विश्रमण कुरु ।।३२९।।

पूव सख्यात सेङ्गित एव निरिङ्गित १ हजार पाचसो वार सख्यक अलङ्कार के सहित शव लत होकर १३४८२४० तेरह लक्ष अटतालिस हजार दो शो चालीस होते हैं। यह दिग दशन मात्र है। स्वय सरस्वती ही इसका परिपूण निवचन करने मे समथ है। मनुष्य के पक्षमे इसका निवचन करना दुष्कर है।

उस के मध्य मे शुद्ध तीस का उदाहरण क्रमश प्रस्तुत करते है। ग्लानि का उदाहरण—इस प्रकार है।

यह सुकुमाराङ्गी जब परिम्लान मण ल के तुल्य दशापन्न अङ्ग समूह को धारण कर रही है, तब अनुमान करता हूँ, कि कृष्णानुराग—ज्वरके समान इसके अ त करणमे अवस्थान कर रहा है।३१७ ३२५।

शङ्का का उदाहरण—प्राणेश्वर क्लेशकर प्रवास के अवसान मे निज गृह मे समागत होने पर सलोचना वृ द किस प्रकार उनके उस परिक्षीण आकार को निरीक्षण करती है, इस प्रकार चि ता से शङ्कित चित्ता होकर ही श्रीराधिका सखी को श्रीकृष्ण विषयक विवरण पूछने लगी ।।३२६।।

मद का उदाहरण यह है—हे राधे ! रूप यौवन गव से ही तुम्हारे चरण धरातल को स्पश नहीं करते हैं, उसमे भी तुमने मधुपान किया है—इस से अधुना कसा हागा, कुछ भी कहा नही जा सकता है ।।३२७।।

असूया का दृष्टान्त—मै स्वप्नावस्था मे विविध चाटु वाक्य से राधिका को स तुष्ट किया। अन तर जसे उनका आलिङ्गन को प्राप्त करूँगा, वसे ही प्रबोध उपस्थित होकर मेरे सहित निता त शत्रुता किया है ।।३२८।।

श्रम का उदाहरण—अयि राधिके ! पुष्प चयन से और प्रयोजन नही है तुम कुञ्ज मे विश्राम करो। हे कमल पत्राक्षि ! तुम्हारे मुख कमल ही स्वकीय क्लान्ति सवाद प्रदान कर रहा है ।।३२९।।

यथा वा—छायापि गमन श्रान्ता तव सुन्दरि राधिके ।
आगत्य चरणोपान्त विश्रान्तिमिव याचते ॥३३०॥

आलस्यम्—विलास नि सहतनो र्निमीलन्नयनभ्रु व ।
निशान्ते नीविबन्धादि राधाया कुरुते हरि ।३३१॥

दैन्यम्—क्वाह क्वासौ वल्लवेन्द्र कुमारो बहु वल्लभ ।
कथ मय्यनुरज्यते वृथा त्व सखि खिद्यसि ॥३३२॥

चिन्ता—कृष्णो दुर्लभ एवासौ मनो बहु मनोरथम् ।
इति चिन्ताब्धि मग्नायास्तरिस्त्व मे गरीयसी ॥३३३॥

मोह—कृष्णोऽस्ति दुर्ल्लभ प्रेम नव वपुरिद मृदु ।
सहायोऽस्या न कोऽपीति मूर्च्छैवाधात् सहायताम् ॥३३४॥

तव छायापि गमने श्रान्ता, किं पुनस्त्वम्, अत सा छाया मम चरणोपान्तमागत्य विश्रान्ति याचते ॥३३०॥

नि सह तनोदु बल तनोर्निमील त्यौ नयन भ्रु वौ यस्यास्तथा भूताया ॥३३१-३३२॥

सखीं प्रति काचिदाह— कृष्ण इति । बहवो मनोरथा वाञ्छा यस्य तथाभूत मन इति चिन्ता समुद्रे मग्नाया मम त्वमेव गुरुतया तरि नौ का भवसीत्यर्थ ॥३३३॥

अति दुर्लभ इत्यनेन प्राप्त्य योग्यत्वम् । नव प्रेम इति त्यक्त मसमर्थत्वम् । मदु वपुरिति—विच्छेद ज य ज्वाला सहनेऽसमर्थत्वमिति ज्ञेयम् ॥३३४॥

श्रम का उदाहरणान्तर— सु दरि राधिके ! तुम्हारी छाया भी गमन मे श्रा ता हो गई है, देखो वह मेरे चरणोपान्त मे समागत होकर जसे विश्राम करना चाहती है ॥३३०॥

आलस्य का दृष्टान्त—निशावसान होने पर श्रीराधा का शरीर विलासातिशय से नितान्त नि सह हुआ है, एव नयन तथा भ्रू युगल निमीलित हो रहे हैं। यह देखकर श्रीकृष्ण स्वय ही उनके नीवि बन्धनादि कर देने लगे थे ॥३३१॥

दन्य का उदाहरण—मै ही कहाँ, और गोपे द्र कुमार बहु वल्लभ श्रीकृष्ण ही कहा ? वह क्यो मेरे प्रति अनुरक्त होगा। हे सखि ! तुम वृथा आयास क्यो कर रही हो ॥३३२॥

चि ता का दृष्टान्त—श्रीकृष्ण जिस प्रकार दुर्लभ है, चित्त भी उस प्रकार बहु मनोरथ परिपूर्ण है, मैं तो ये सब चि ता समुद्र मे निमग्न हो गया हू। हे सु दरि ! इस समुद्र मे तुम्हीं एकमात्र मेरी महातरि हो ॥३३३॥

मोह का निदर्शन—श्रीकृष्ण अति दुर्लभ है,प्रेम भी प्रथम उत्प न हुआ है, शरीर भी अति सुकुमार है, सम्मिलन सहायक भी कोई नहीं है, ये सब विचार कर मूर्च्छा ने ही जसे श्रीराधा का साहाय्य सम्पादन किया ॥३३४॥

स्मृति,—विस्मर्त्तव्या कथममी राधाया नयनोर्मय ।
ये समुन्मूलित चेत सखे नैव प्ररोहति ॥३३५॥

धृति,—धैर्य्यं भजत भो प्राणा गते कृष्ण क्व लप्स्यते ।
अवधिदिन मोक्षश्च तदेवाश्वासस्थल हि व ॥३३६॥

व्रीडा—पश्य वक्षसि मे राधे स्वमूर्त्ति प्रतिबिम्बिताम् ।
कोपात् पराङ्मुखी वेति कृष्णोक्त्या सा तु तत्रपे ॥३३७॥

चपलता—कृष्णागमन माकर्ण्य वनात् साय व्रजाङ्गना ।
मनसोऽपि पुनश्चक्रु र्वातायन पथे दृश ॥३३८॥

हर्ष—कृष्ण वशीनिनादेन सङ्केताक्षर शालिना ।
रोमाञ्च सममुत्तस्थुव्र जस्त्रीणा मनोरथा ॥३३९॥

आवेग—वेग विश्लथया काञ्च्या लग्नयापाद पद्मयो ।
मृणालरुद्धा हसीव काचित् कृष्णान्तिक ययौ ॥३४०॥

नयनोर्मय कटाक्षा, य कटाक्षरुन्मुलित, मूलसहितमेवोत्पाटित चेतो न पुन प्ररोहति, न प्रादुर्भवति । चित्तस्यालम्बनशून्यत्व मवो मुलितत्वमिति बोध्यम् ॥३३५॥

हे प्राणा युस्माभि गतरपि कृष्णो नैव लभ्यते, तदेवावधि दिनमेव ॥३३६॥

मान जन्य कोपाद् यथा मयि पृष्ठ दत्वा त्व पराङमुखी भवसि, तथव मम वक्षसि प्रतिबिम्बिता तव मूर्त्ति पश्य ॥३३७॥

कृष्ण दर्शनेऽत्युत्कण्ठया वातायनपथे गवाक्षरूपे पथि मनस सकाशादपि दृश पुरोऽग्रे चक्रु ॥३३८ ३४०॥

स्मृति का दृष्टान्त—श्रीराधा के उन सब अपाङ्ग को मै कसे भूल सकता हूँ, हे सखे ! उन सबने इस चित्त को इस प्रकार उन्मूलित किया है, कि—वह पुनर्वार अङ्करित हो ही नहीं पा रहा है ॥३३५॥

धृति का उदाहरण—हे पञ्च प्राण ! धर्य्यावलम्बन करो, तुम सब चले जाने से कृष्ण को कहाँ मे प्राप्त करेगे। अतएव अवधिदिन की प्रतीक्षा करो कारण वही तुम सब के पक्ष मे एकमात्र आश्वास स्थल है ॥३३६॥

हे राधे ! देखो, तुम्हारी मूर्त्ति मेरे वक्ष स्थल मे कसी प्रतिबिम्बित हुई है, कि तु तुम तो कोप से जिस प्रकार पराङमुखी होकर रहती हो वह भी उसी कारण से जसे उस प्रकार प्रतिबिम्बित है। कृष्ण की बात को सुनकर श्रीराधा लज्जा से अवनत मुखा हो गई ॥३३७॥

एक व्रजाङ्गनाने साय काल मे वन से कृष्ण की आगमन वार्त्ता को सुनकर अन्त करण के पहले जैसे वातायन पथ मे नयन द्वय को नियुक्त किया ॥३३८॥

श्रीकृष्ण के सङ्केताक्षर सयुक्त वशी निनाद को सुनकर व्रजवधु वृन्द के मनोरथ समूह रोमाञ्च के सहित उत्थित हुये थे ॥३३९॥

जडता--फलके लिखित कृष्ण मीक्षमाणा नवाबलाम् ।
सख्यस्तामेव पश्यन्ति गगने लिखितामिव ॥३४१॥

विषाद --अथ सखी गतो याम श्यामो वामः स नागत ।
उदितो यामिनी नाथो विषीदन्ति ममासव ॥३४२॥

औत्सुक्यम्--धन्यास्ता सखि भाविन्य स्वप्ने पश्यन्ति या हरिम् ।
अभूत् क दोषमालक्ष्य निद्रापि विमुखी मम ॥३४३॥

गर्व --मुनीन्द्राणाञ्च या वन्द्या ध्वजवज्रादिलाञ्छना ।
मदालिपक्ष द्वारान्ते नित्यासौ पद पद्धति ॥३४४॥

निद्रा--राधा निधुवन श्रान्ता निद्राति श्याम वक्षसि ।
मदनेनेव नि स्यूता चपला जलदोपरि ॥३४५॥

फलके चित्रपटे, लिखित श्रीकृष्ण काचिन्नवीना बाला पश्यति । श्रीकृष्ण मूर्त्ति दर्शनाज जडीभूता मतएव कौतुकवशात् सख्य श्रीकृष्ण मूर्त्ति विहाय गगन रूप फलके विम्बिता मूर्त्तिमिव ता पश्यन्ति ॥३४१॥

हे सखि ! याम प्रहरो गत , यतो यामिनी नाथ श्चन्द्र उदित कृष्ण पक्षे चतुर्थ्यां चन्द्रोदयेन प्रहर ज्ञान जायते । अतो वाम प्रतिकूल कृष्णो नागत ॥३४२॥

भाविन्य सुन्दरी स्त्रिय ॥३४३॥

या ध्वज वज्रादि लक्षणा चरणतलस्य ध्वजादिचिह्नम्, असौ ध्वजादि लाञ्छना मदाले राधिकाया 'खिडकी' इति प्रसिद्धे पक्षद्वारा ते सदा विद्यमाना सती पदाना पद्धति मार्ग रूपा भवति । तथा च मुनीना वन्द्य श्रीकृष्णस्य चरणचिह्नमस्मदालय सर्वे जनास्तदाक्रम्यगमनागमन कुर्वन्तीत्यथ विपक्षां प्रति ललिताया उक्तिरियमिति ज्ञेयम् ॥३४४॥

मदनेन सौचिकन मेघोपरि स्यूता प्रोता चपला इव ॥३४५॥

काञ्ची वेगवशत विश्लथ होकर पाद पद्म मे सलग्न होने से एक कामिनी मृणाल सरुद्धा राजहसी के समान दशापन्न होकर श्रीकृष्ण समीप मे गमन करने लगी ॥३४०॥

चित्र फलक मे लिखित श्रीकृष्ण मूर्त्ति का निरीक्षण किसी नवीना बाल इस प्रकार अनिमिष नयन से कर रही थी कि सखी गण उसको ही आकाशपट मे लिखित मूर्त्ति मानकर अवलोकन करने लगी ।३४१।

हे सखि ! यामिनी का प्रथम याम तो अतीत हुआ वाम प्रकृति श्यामसुन्दर का तो आगमन नहीं हुआ । देखो, रजनी नाथ उदित हुआ,और अनाथाके समान मेरा हृत जीवित भी अवसन्न होने लगा ।३४२।

औत्सुक्य का निदर्शन—सखि ! वे सब अतिधन्य हैं, जो श्रीहरि को स्वप्न मे देखते है, हाय ! मेरा किस दोष को देखकर निद्रा भी मेरे प्रति पराङमुखी हो गई ॥३४३ ।

गर्व का उदाहरण—जो ध्वज वज्रादिचिह्न मुनी न्द्र गणो का व न्दनीय हैं, वे सब चिह्न मदीय सखी के पक्ष द्वार के प्रान्त भाग मे सतत विद्यमान रहकर पदवी के आकार मे परिणत हो गये है ॥३४४॥

विमर्श,—श्रित किमन्या किं वास्य सङ्केतस्थल विस्मृति ।
किं वाहमिव विवलान्त प्रेम्णेति विममर्श सा ॥३४६॥

सुप्तम् (४८ श्लोके) 'पा अ अदि पिबदि चासस' इत्यादि । निद्रा सुप्तयोरय भेद ।

कोप अवहित्था च, यथा—

उत्तिष्ठ मुच्यता कृष्ण चरणग्रह निग्रह ।
नैवास्मि कुपिता नापि भवान् मय्यपराध्यति । ३४७॥

उग्रता—धिक प्रेमभवत कृष्ण वक्षस सहज सखा ।
यत् पादालक्तकैस्तस्या कौस्तुभोऽप्यधरीकृत ॥३४८॥

उन्माद—इतस्ततस्त्वा पश्यामि पाणिभ्या नतु लभ्यते ।
किमिन्द्र जाल जानासि राधे किंवा मम भ्रम ।३४९॥

अयन्तु बहुधा भवति ।

सन्निकटगमन समये पथि कामप्यन्यामनुरोधतोऽश्रितो वा । किं वास्य श्रीकृष्णस्य सङ्केत स्थलस्य विस्मतिर्जाता किं वा यथाहं त्वद् विच्छेदे प्रेमणा विवशा भवामि तथव मद्विच्छेदे सोऽपि प्रेमणा विवश सन् यत्र कुत्रापि भ्रमति । सुप्तौपाययतिपिबति चेति स्वप्नायित वर्त्तते, निद्रायां तन्नास्तीति भेदो ज्ञेय ।३४६।

हे कृष्ण ! मम चरण ग्रहण रूपो निग्रहस्त्वया मुच्यताम् ॥३४७॥

काचिन् मालिनी कुपितासती श्रीकृष्ण माह—हे कृष्ण ! मत् प्रतिपक्ष गोपी विषयक भवत प्रेम धिक । यद् यस्मात् प्रेम्णो हेतु भूतात् त्वया तस्या पादालक्तक करण सव श्रेष्ठ कौस्तुभोऽपि नीचीकृत । कथम्भूतम् ? वक्ष स्थलस्य सहज स्वभाव सिद्ध सखा — सखा तत्र धृतत्वात् ॥३४८॥

श्रीराधा सुरत श्रान्ता होकर श्यामसुन्दर के वक्ष स्थल मे निद्रित है । प्रतीत होता है कि—जैसे रतिपति सौचिक मूर्त्ति धारण कर चञ्चला सौदामिनी को जलद के ऊपर सीवन 'सिलाई' कर स्थापित किया है ॥३४५॥

विमर्श का उदाहरण—कृष्ण क्या अन्य स्त्री मे आसक्त हो गया है अथवा सङ्केत स्थल को भूल ही गया है, किंवा मै जिस प्रकार तदीय विरह मे प्रेमभर से विवशा हो गई हूँ, वह भी इस प्रकार विवश हो गया है श्रीराधा चिन्ता कुल चित्त से इस पकार विविध वितर्क करने लगी ।

सुप्ति का उदाहरण—जो स्वप्नावस्था मे कहती है—अयि ललिते ! प्रियतम मुझ का स्वकीय मुख चन्द्र को पान करा रहे हैं, इत्यादि पूर्व श्लोक है । निद्रा एवं सुप्ति का यही भेद है ॥३४६॥

कोप एवं अवहित्था का उदाहरण—हे कृष्ण ! उठो, उठो, चरण ग्रहण रूप निग्रह का परित्याग करो, मैं तो कुपिता नहीं हूं, तुमने भी तो मेरे निकट कोई अपराध नही किया है ॥३४७॥

उग्रता का दृष्टान्त—हे कृष्ण ! उस पामरी के प्रति तुम्हारा यह प्रेम को धिक्कार है, जिस प्रेम के वश होकर तुमने उसके चरण तल के अलक्तकरस के द्वारा निज वक्ष स्थल के सहज सुहृद् कौस्तुभ मणि को भी अधरी कृत किया है ॥३४८॥

अप्यन्तु बहुधा भवन्ति । तथा च—

भावान्तरसमावेशादुक्तिवैचित्र्यतोऽपि च ।

उत्तरङ्गतयाङ्गित्वादुन्मादो बहुधा मत ॥३५०॥

तत्र प्रलाप आलाप सलापो विप्रलापक ।

अनुलाप सुप्रलाप परिलापो विलापक ।

अपलाप प्रतीलापो वचित्र्य दशधा गिराम् ॥३५१॥

ऊह्यान्युदाहरणानि ॥

व्याधि,—भ्रमोदाहस्तथोन्मादो वर्धन्ते यदनुक्षणम् ।

आधिरेवावियुक्तोऽपि व्याधिरस्या स्फुटोऽभवत् ॥३५२॥

मति,—गोकुलेन्द्र कुमार स्त्व गुणरत्नाकर स्वयम् ।

वक्तु कर्त्तुमभिज्ञोऽसि त्वयि का चतुरायताम् ॥३५३॥

विरहजन्योन्मादेन व्याकुल श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति प्राप्त राधामुद्दिश्याह इतस्तत इति ॥३४९॥

भावान्तरमिलनायुक्ति वचित्र्याच्च प्रलापालापादि रूपोत्कृष्टतरङ्ग तया हेतुनान्उमन्दो बहुधा मत ॥३५०॥

प्रलापादि दशधा गिरा वचित्र्यम् ॥३५१॥

अस्या अनुक्षण भ्रमादयो वधन्ते । अस्या अवियुक्तोविच्छेद रहितोऽप्याधि मन पीडेव देह सम्बन्धि व्याधि सन् स्फुटोवहिर्व्यक्तोऽभवत् । श्लेषेण, वि उपसर्गेणायुक्तोऽप्याधिर्व्याधिरभवदिति विरोधालङ्कारो ज्ञेय ॥३५२॥

उन्माद का उदाहरण—विरहजन्य उन्माद से व्याकुल श्रीकृष्ण, स्फूर्त्ति प्राप्त राधा को कहते हैं,—इतस्तत तुमको निरीक्षण कर रहा हूँ किन्तु हस्त के द्वारा तुम को स्पर्श करने मे असमर्थ हूँ । तुम क्या इन्द्रजाल विद्या को जानती हो, अथवा यह मेरा ही मति भ्रम है ॥३४९॥

यह उन्माद अनेक प्रकार होते हैं । कथित है—भावान्तर के समावेश हेतु एव उक्ति वचित्र्य हेतु उत्कृष्ट तरङ्ग के निमित्त अङ्गित्व प्राप्त होकर उन्माद अनेक प्रकार होते हैं ॥ ५०॥

उसके मध्य मे प्रलाप, आलाप, सलाप, विप्रलाप, अनुलाप, सुप्रलाप, परिलाप, विलाप, अपलाप एव प्रतिलाप–ये दशविध वाक्य वचित्र्य होते हैं उदाहरण समूह श्रीमद् भागवत के भ्रमर गीतमे हैं ।३५१।

व्याधि का उदाहरण—भ्रम, दाह, एव उन्माद जब अनुक्षण वर्धित होते रहते हैं, तब इनके अवियुक्त आधि ही व्याधि रूप मे परिस्फुट होता है । इस श्लोक मे उक्त, अवियुक्त शब्द का अर्थ वियोगरहित अर्थात् निरन्तर है पक्षान्तर मे अवियुक्त अर्थात् वि उपसर्ग शून्य आधि भी व्याधि रूप मे आविर्भूत हुआ इस प्रकार विरोधाभास अलङ्कार को जानना होगा ॥३५२॥

मति का उदाहरण—तुम अशेष गुण रत्नाकर गोकुलेन्द्र कुमार हो, वक्तृता एव कार्य्य क्षमता में अद्वितीय हो, तुम्हारे समक्ष मे चातुर्य्य प्रकाश करने मे कौन सुदक्ष होगा ? ३५३॥

वितर्क,—किं पीयूष किमु विष कि हिम किमु वानल ।।
अभूत् कृष्णानुरागोऽस्या विरोधिद्वयधमक ।।३५४।।

त्रास,—उच्चै गज्जति मेघौघे राधा चकित लोचना।
त्रस्यन्ती माधव कण्ठे भुजाभ्या परिषस्वजे ।।३५५।।

अथषामङ्गाङ्गिभावत्वे दिग दशनम्। यथा—
आगच्छन्मामभू कृष्ण परासक्त पथीति माम्।
केवल नायश प्रैति त्वा चेत्याशङ्कि मे मन ।।
अत्र पूर्वार्धे ग्लानि भावोऽङ्गी, शङ्कात्वङ्गम् ।।३५६।।

एवम्—सर्वत्र समवर्त्तित्व युक्तमेव महात्मनाम्।
मय्येव समवर्त्तित्व नान्यत्र पुरुषोत्तम् ।।
अत्र मतिभावोऽङ्गी असूयाङ्गम्।
एवमेकस्याङ्गिनो बहुन्यङ्गानि भवन्ति ।।३५७।।

अस्या कृष्णानुरागो विरोधिद्वयधमको भवति, यथा आन द दायकत्वेन पीयूष धमत्वम् विच्छेद जन्य दाहकत्वेन विष धमकत्वञ्चेत्यथ ।।३५४।।

हे कृष्ण! मन्निकटे आगच्छन् त्व पथि अ यस्यामसक्तो ऽभूरित्ययश केवल मा न प्रति, न प्राप्नोति, अपितु, त्वामपि, इत्याशङ्कि मे मन इत्याशङ्का युक्त बभूवेत्यथ ।।३५६।।

काचिन्मानिनी श्रीकृष्णमाह— हे पुरुषोत्तम! महात्मना सवत्र समवत्तित्वमेव युक्तम्। त्व तु सवत्र समवर्त्तित्व विहाय मय्येव समवर्त्ती, ना यत्र। श्लेषेण, दु खदत्वात् समवर्त्ती यम, 'समवर्त्ती परेतराट्" इत्यमर ।।३५७।।

वितक का उदाहरण—श्रीराधा का श्रीकृष्णानुराग— अमृत है कि गरल है, वा हिम है, अथवा अनल है, जो भी हो, परस्पर विरोधि धमद्वय विशिष्ट हुआ है ।।३५४।।

घनघटा गभीर गजन करने पर श्रीराधाने त्रास से चकित नयना होकर बाहु युगल के द्वारा श्रीकृष्ण के कण्ठ देश को आलिङ्गन किया ।।३५५।।

ये सब अङ्गाङ्गि भावो का उदाहरण दिङमात्र प्रदर्शित हो रहा है—हे कृष्ण! तुम मेरे पास आते आते ही पथ मे दूसरी रमणी मे आसक्त हो गये हो, यह अयश केवल मुझ को ही स्पश नही करेगा, तम को भी स्पश करेगा मेरा मन इस प्रकार शङ्का कर रहा है। इस श्लोकके पूर्वाद्ध मे ग्लानि भाव अङ्गी हे, एव शङ्का अङ्ग है ।।३५६।।

हे पुरुषोत्तम! महात्मावृन्द का सवत्र समवर्त्तित्व ही उपयुक्त है, कि तु तुम मेरे प्रति ही समवर्त्ती हो अपर के प्रति नही, यही दु ख की बात है।

यहा समवर्त्ति शब्द से श्लेष पक्ष मे यम' को जानना होगा। अर्थात् अत्य त दु ख प्रदत्व हेतु यम तुल्य है, यही तात्पर्य्य है। इस श्लोक मे मतिभाव अङ्गी है, एव असूया अङ्ग है। इस प्रकार एक अङ्गी

यथा—इयं गाढोत्कण्ठा विषम विषदिग्धे वहृदि मे
प्रसूनेषोर्भग्ना विशिख फलिकेव स्थितवती।
अतो मे प्रत्यङ्ग ज्वलयति तुदत्याकुलयते
धुनीते मुष्णीते जडयति च सञ्चवयति च ॥

अत्र स्मृति भावोऽङ्गी, मोह चपलता ग्लानि जडता प्रभृतिव्यङ्गानि, अङ्गत्वेन नैतद् भाव शावल्यम् ॥३५८॥

अथ भावो दयादि, तत्र भावोदयो यथा—
आली जनैर्मण्डनकेलि काले, विभूष्यमाणा वृषभानु पुत्री।
उरोगते नीलमणीन्द्रहारे, स्विन्ना सकम्पा पुलकाकुलासीत् ॥३५९॥
अत्र हर्षोदय ॥

प्रशमो यथा—म्लानासि किं प्रेयसि मामकीन,
हृत् पृच्छ पृच्छामितदित्युरोऽस्या ।

इयं श्रीकृष्ण विषयक गाढोत्कण्ठा विषम विषेण दिग्धा लिप्तेव मम अङ्ग प्रत्यङ्ग ज्वलयति। कथम्भूता ? क दप सम्बन्धि वाणस्य भग्ना लोहमयी फलिकेव मे हृदिस्थितवती। अभग्नाया फलिकाया कदाचिद् वाण निष्काशनात् तस्यापि हृदयाद् वहिर्नि सरण सम्भवति। भग्नायास्तु सवथा नेति ज्ञेयम्। धुनीते-कम्पयति, मुष्णीते—चोरयति, मा देहानुस धान रहिता करोतीत्यथ। मोहादीनामङ्गत्वेन परस्पर प्राधा याभावादे तेषा न भाव शावल्यमिति ज्ञेयम् ॥३५८॥

नीलमणी द्र हारे वक्ष स्थल गते सति श्रीकृष्ण स्मरणात् स्वि नेत्यादि ॥३५९॥

हे प्रेयसि राधे ! कथ त्व म्लानासि ? श्रीराधाह-मानकीन हृन्मानस पच्छ। श्रीकृष्णस्तु इच्छन्द हृदय वाचिव्वमभिप्रेत्याह—तत् तव हृदय पृच्छामीत्युक्त्वा अस्या राधाया वक्ष स्थल स्पृशन्नाह—इद

के अनेक अङ्ग होते हैं ॥३५७॥

श्रीकृष्ण विषयिणी यह गाढोत्कण्ठा पुष्पवाण के विषम विषदिग्ध भग्नवाण के समान हृदयमे सतत अवस्थान कर मेरे प्रत्येक अङ्ग को ज्वलित, व्यथित, आकुलित, कम्पित, अपहृत, जडीकृत एव सचर्वित कर रही है। इस श्लोक मे स्मृति भाव अङ्गी, मोह, चपलता, ग्लानि जडता प्रभृति अङ्ग है। उक्त विषयों की अङ्गता हेतु यहाँ भाव शावल्य नही कहा जा सकता है ॥३५८॥

भावोदयादि का उदाहरण—त मध्य भावोदय—मण्डन केलि समय मे सखी गण वृषभानु नन्दिनी को भूषण परिधान करा रही थी क्रमश इन्द्रनीलमणि निर्मित हार लता तदीय वक्ष स्थल मे स्थापित होने पर उसी समय आप स्वेद, कम्प, एव पुलक से समाकुला हो गई।

यहाँ हर्ष का उदय हुआ है ॥३५९॥

प्रशम का दृष्टा त—प्रेयसि ! तुम क्यों म्लान हो रही हो ? क्यों म्लान हुई हू मेरा हृदय को पूछो।

स्पृशन्निद स्वस्थमिति स्म कृष्णो,
ब्रवीति स नम्रमुखी बभूव । अत्रविषादप्रशम ॥३६०॥

शावल्य यथा—क्रोधान्धा गुरवोजनास्तरलित दुर्वारमेतन्मनो
मर्मच्छेद करी खलोक्तिरचना रम्य स वशीस्वन ।
कीनाशो भवनेश्वरस्त्रिजगतीलावण्यलक्ष्मीपति
प्रेमानन्द रस स एष तनुमान् कृष्ण किमीहे सखि ॥३६१॥

अत्र भय चपलता शङ्का हर्षाऽसूयौत्सुक्यानि पृथक् पृथगेव स्थितानि ।

अथ सन्धि —'म्लानासि किं प्रेयसि' इत्यादौ चतुर्थ पादार्धे 'सा नम्रमुखी बभूव' इति विषादनिगमे लज्जागम, अनयो सन्धि ॥

यथा वा—सुचिर मनुचरीभि पाठित कृष्ण गाथा,
सदसि शुक वधूभि शृण्वतीगीयमानाम् ।

तव हृदय स्वस्थमिति ब्रवीति ॥३६०॥

भवनेश्वरो गृह पति स्वामी, कीनाश कृषक इत्यसूया । त्रिजगद्वर्त्ति लावण्य सम्पत्तीना पति श्रीकृष्ण साक्षात्तनुमान् प्रेमान द रस एव । तस्मात् हे सखि ! अह किमीहे—किं चेष्टे, कि करोमिति यावत् । क्रोधा धेत्यनेन भयमित्येव रीत्या सवत्र यथासख्येन सम्बन्धो ज्ञेय । एतानि पृथक पृथगेव स्थितानि, नत्वङ्गाङ्गिभावतया । अत भाव शावल्यमिति ब ध्यम् ॥३६१॥

सखीना सदसि शुकबधूभि पक्षिरूपाभिर्गीयमाना श्रीकृष्ण गाथा शृण्वती सा तासु शुक बधूषु सदय मेक नेत्र विन्यस्यति, अन्य नेत्र भयचकित गुरुणा मुखे वि यस्यति । एते उक्त प्रकारा व्यभिचारिभावा

प्रश्न के उत्तर मे हृदय शब्द से 'वक्ष स्थल' इस प्रकार अथ के अभिप्राय से श्रीकृष्ण बोले, उत्तम है वही कर रहा हू । यह कह कर उनके वक्ष स्थल को स्पश करक उन्होने कहा—यह तो सुस्थ ही है । तब राधा लज्जा से नम्र मुखी हो गई । यहा विषाद का प्रशम हुआ है ॥३६०॥

शवलता का दृष्टान्त—गुरुजन वृन्द क्रोधातिशय से अ ध हैं, यह अ त करण अति तरल एव दुबल है खलजनो की रचना भी मर्मच्छेदकरी है, वशीरव भी अति रमणीय है, गृह पति—कीनाश तल्य है, त्रिभुवन वर्त्ति लावण्य लक्ष्मी का अद्वितीय अधीश्वर श्रीकृष्ण भी मूर्त्तिमान् प्रेमान द रस, स्वरूप हैं, हे सखि ! यहा अवला का कर्त्तव्य क्या है ? तुम्हीं विचार कर कहो ।

इस श्लोक मे भय, चपलता, शङ्का, हष, असूया एव औत्सुक्य ये सब पथक पथक भाव से अवस्थित हैं ॥३६१॥

स धि का उदाहरण - प्रेयसि, तुम क्यो म्लान हुई हो' इत्यादि जो श्लोक इस के पहले लिखित हुआ है, उसके अन्त भाग मे "श्रीराधा लज्जा भरसे नम्र मुखी हो गई" यहा विषाद के अपगम से लज्जा का आगमन होने से उक्त उभय की सन्धि हुई है ।

प्रणयसदयमेक तासु विन्यस्यतीय,
चकितचकितमन्यन्नेत्रमास्ये गुरूणाम् ॥३६२॥
अत्रौत्सुक्य त्रासयो सन्धि ॥

एतेचोक्त प्रकारा स्वय व्यङ्ग्या अपि भावान्तर व्यञ्जका स्यु ।
यथा (चतुर्थकिरणे षष्ठ श्लोक) "क्वाह गोपवधू"
यथा वा—नाभ्यञ्जनीय सखि मे भवत्या, नोद्वर्त्तनीयञ्च वपु कदादि ।
न सावधाना स्वनखेष्वसीति, ननान्दुरग्रे निजगाद गोपी ॥

अत्र स्वगात्र लग्न नखक्षत गोपन प्रत्यवहित्था व्यङ्ग्या, तया च न मे गृहपते सङ्ग कदाप्यभूत् येनैतत् सम्भावनीयम् । तेन कृष्ण सङ्गजमेवेति व्रीडा । तेनते व्यङ्ग्या व्यङ्ग्यान्तर व्यञ्जकाश्च भवन्तीति ॥३६३॥

स्वय क्व ह गोपवधूरित्यादि पद व्यङ्ग्या । एतेषामपि व्यङ्ग्योऽवहित्थाख्य भचारी, इद तु वस्तु व्यङ्ग्य वस्तूत्तमोत्तमकाव्य भवतीति ज्ञेयम् ॥३६२॥

स्वगात्रेति- ननान्दृ प्रभृति गुरुजन प्रति नखक्षत गोपनमवहित्था । तया चावहित्थया सखीं प्रति न मे कदापि गृहपते सङ्गस्त्वया ज्ञायते एव, येन स्वामि सङ्गेनेव तन्नखक्षत त्वयासम्भावनीयम् तस्मादिद नखक्षत श्रीकृष्ण सङ्ग ज वमिति व्रीडोदय ध्वनेध्व यन्तरोद्गारादिदमुत्तोमत्तम काव्य भवतीति भाव ॥३६३॥

मानिन्याह—हे कृष्ण ! पाद मुञ्च, श्रीकृष्ण आह—त्व रोष मुञ्च । पुनर्मानिन्याह—मे रुट रोषो गतेति त्व जानीहि । अत्र हेतु —श्रीगोपेन्द्रेति । इत्यन्योन्य कथासु सतीषु श्रीकृष्णे भूय पुनरपि तस्या

उदाहरणान्तर यह है— सहचरी वृन्दने सुचिर कालसे जिसे कृष्ण गाथा को पढाई थी सभास्थल मे उस कृष्ण गाथा का गान शुक बधुओने किया । यह सुनकर श्रीराधा प्रणय वशात सदय भ व से एक चक्षु उन सबके प्रति एव चकित चकित भाव से अन्य चक्षु गुरु जनके मुखके और निक्षेप किया।

यहाँ औत्सुक्य एव त्रास की सन्धि हुई है ॥३६२॥

उक्त प्रकार व्यभिचारि भाव समूह स्वय व्यङ्ग्य होकर भी भावा तर के व्यञ्जक होते हैं । जिस प्रकार वर्णित है– "गोप रमणी मै कहा" इत्यादि श्लोक मे पद व्यङ्ग्य दन्यादि व्यभिचारि भाव कत्त क अवहित्थाभाव व्यञ्जित हुआ है ।

यथा वा—श्रीराधा नना दु प्रभृति के सम्मुख मे सखी को कहने लगी हे सखि ! मेरा शरीर मे अभ्यङ्ग वा उद्वत्तन तुमको कुछ करना नही पडेगा । तुम निज नखर के सम्ब ध मे सतक नहीं हो ।

इस श्लोक मे निज गात्र सलग्न नख क्षत गोपन के सम्बन्ध मे अवहित्था भाव व्यङ्ग्य हुआ है, एव 'गृह पतिका ससग मेरा कभी भी नही हुआ है जिससे उस प्रकार नखक्षत होना सम्भावनीय है, अतएव वह निश्चय ही कृष्ण ससग जनित" इस प्रकार व्रीडा भी उक्त अवहित्था कत्त क व्यञ्जित हुई है । सुतरां ये सब स्वय व्यङ्ग्य होकर भी व्यङ्ग्यान्तर के व्यञ्जक हुये हैं ॥३६३॥

अथ प्रस्तार प्रकारेणोक्ताना षोडशविधाना शावल्याना भेदानाह। तत्रसन्ध्युत्तराः,

उप्रशस—पाद मुञ्च विमुञ्च मानिनि रुष प्रत्येहि रुष्मे गता

श्रीगोपेन्द्र सुते स्वभाव कुटिले का रोष भाकाङक्षति ?

इत्यन्योऽन्य कथासु केशिमथने भूय पद धित्सति

श्रद्धाधिक्य धृतेन तत् करयुगेनास्य रुदत्यप्यधात् ॥

अत्र पाद मुञ्चेत्यमर्षोदय । विमुञ्च मानिनिरुषामति कृष्ण वाक्याकूतेन रुष्मे गतेति रोषप्रशम । तत श्रीगोपेन्द्रसूत इति मति, स्वभावकुटिल इत्यसूया, 'का रोषमाकाङक्षति' इत्यवहित्था, एभि शावल्यम् । श्रद्धेत्य'दनौत्सुक्यम्, रुदतीति दैन्यम्–अनयो सन्धि ।३६४।

अथ शउप्रस— हे मुग्धाक्षि परिष्वजस्व कठिना वज्रादपि त्व गुणा

स्ने ते ते क्वगता इतिक्षणमभूत्तूष्णी ततो निवृत्त ।

स्फूर्ज्यानन्दलयेन तेन महता स्वाभाविकेनाप्यहो

तद्विच्छेददवोष्मणा च युगपद् द्वेधाभिभूताहरि ॥

अत्र परिष्वजस्वेत्यौतसुक्यम्, कठिनेत्याद्यसूया, ते ते गुणा इति स्मृति –त्रिभि शवलता।

पद धित्सति धत्तु मिच्छति सति सा मानिनी रुदती सती श्रद्धाधिक्यात् स्वेन धृतेन श्रीकृष्णस्य कर युगेन करणेन स्वमुखमप्यधावाच्छादितवती ।।३६४।।

मानिनी श्रीराधिका प्रति तस्या विच्छेदेनातिव्याकुल श्रीकृष्ण आह—हे मुग्धाक्षि ! तव त ते गुणा सम्प्रति क्व गता ? इत्युक्त्वा विच्छेद जन्य दु खेन जडीभूत सन् क्षण तूष्णीमभवत्। ततस्तदन तर

सम्प्रति प्रस्तार प्रकार से उक्त षोडश विध शावल्य के भेद समूह का वर्णन करते है—उसके मध्य मे सन्ध्युत्तर, शावल्य यह हे – उ प्र श, स।

'कृष्ण ! मदीय चरण को परित्याग करो" 'मानिनि ! तुम तब रोष को परित्याग करो" मैने रोष को परित्याग किया, यह विश्वास करो। इसो स्वभाव कुटिल गोकुल नन्दन के प्रति कौन रोष करने का इच्छुक है ? परस्पर के इस प्रकार कथनापकथन के समय श्रीकृष्ण—पुनर्वार चरण धारण हेतु उद्यत होने पर श्रीराधाने अतिशय श्रद्धा के सहित तदीय कर युगल धारण पूर्वक उसके द्वारा ही अश्रुधारा प्लुत स्वकीय मुख मण्डल का आच्छादित किया।

इस श्लोक मे "चरण परित्याग करो' यहा रोषोदय मानिनि ! तुम रोष परित्याग करो, यहा रोष प्रशम है। "गोपे द्र न दन" यहा मति, 'स्वभाव कुटिल यहा असूया कौन रोष प्रकट कर सकता है ? यहा अवहित्था है, इन सबो का शावल्य हुआ है, एव श्रद्धातिशय--यहा औत्सुक्य एव अश्रुधारा प्लुत' यहाँ दैन्य है यहा उभय की सधि भी हुई है ।।३६४।।

अनन्तर श उ, प्र स का उदाहरण प्रस्तुत करते है—अयि सुलोचने ! मुझ को आलिङ्गन करो, तुम कया वज्र से भी अधिकतर कठिना हो गई हो ? तुम्हारे वे सब गुण अब कहा चले गए ? यह कह

तूष्णीमिति जडतोदय, तत स्फूर्त्या निवृत इति पूव पूव भाव प्रशम । तत स्फूर्त्यनन्तर मानन्दलयेन विच्छेद दवोष्मणा च द्वेधाभिभूत इति हर्ष विषादयो सन्धि ।३६५॥

प्रशउस— गतो मे सन्तापो भवति हि मनस्यागत इव ।
प्रियस्ते हा कष्ट मनसि कथमद्यागत इति ।
पुर पश्चात् पार्श्वे मनसि च सदैवतिपुलकि--
न्यभूद्राधा पश्चादमृतविषनद्यो किमविशत् ॥

अत्र स्फूर्त्या स्वास्थ्यानुभवे 'गतो मे सन्ताप' इति ग्लाने प्रशम, तत सखी वाक्यानन्तर हा कष्टमिति विषाद, 'मनसि कथमित्यादि सखी प्रत्यसूया', पुर पश्चादि-त्युन्माद एभि शावल्यम् । पुलकिनीति हर्षोदय । अमृतविषनद्योरिति हष मोहयो सन्धि ॥३६६॥

स्फूर्ति प्राप्तया तयासह मानसालिङ्गनेन निवृ त स्तथा चाग तुकान् वज य—लय सात्त्विकेनव स्वाभाविकेन महता विच्छेद दावात्मणा च युगपद कस्मि नेव काल हृष्टा विषण्णश्चेति द्वेधाभिभूत हरिबभूवे'त ।३६५।

माधुर विरहेणात्य त व्याकुलचित्ता श्रीराधिका सखीं प्रत्य ह—मयाद्य श्रीकृष्णोदष्ट, अतो मम सन्तापो गत । सखी आह—हे भवति राधे ! ते तव प्रियोमनस्यागत इव, कुतस्तस्य साक्षाद् दशनमिति सखी वाक्यान तर साह—हा कष्टमिति विष द पश्चादुन्मादस्यातिशय प्राबल्योदयेन सखी वाक्यम यथाथ मत्वा कुप्य ती सती आह—सखि ! मम मनस्येव श्रीकृष्ण आगत इति त्वया कथमक्तम् ? स त मम मनस्येव श्रीकृष्ण आगत इति त्वया कथमुक्तम् ? स तु मम पुरोऽग्रे पश्चात् पार्श्वेऽपि, मनसि च सदा तिष्ठत्येव। तद् दशनमपि मया प्राप्यत एव, इत्याग तुकान दनेन कदाचिदमृत नद्या तस्या प्रवेश । साहजिक विरह स्फूर्त्या च विषनद्या प्रवेश । सन्धिरिति उन्मादावसानेऽधवाह्य ॥३६६॥

कर विच्छेद जनित दु खोदय से जडीभूत होकर श्रीकृष्ण क्षण काल मौन धारण कर रह गये।

अन तर स्फूर्ति प्राप्त श्रीराधा क आलिङ्गन से निवृ त होकर आनन्दलय वशत एव तदीय विच्छेद दावानल का प्रबल स ताप वशत युगपत् द्वि प्रकार से अभिभूत हो गये।

इस श्लोक मे 'आलिङ्गन करो' यहाँ औत्सुक्य, अधिकतर कठिना' इत्यादि स्थल मे असूया, वे सब गुण' यहा स्मृति, इन तीनो की शवलता हुई है।

'मौन धारण कर' यहा जडता का उदय, अनन्तर 'स्फूर्ति प्राप्त एव निवृ त' यहाँ पूव पूव भाव का प्रशम हुआ है। 'आनन्द लय वशत एव विच्छेद दावानल का प्रबल स ताप वशत युगपत् द्वि प्रकार से अभिभूत' यहा हष विषाद की सन्धि हुई है॥३६५॥

"आ—मेरा सन्ताप चला गया' "सखि! तुम्हारे हृदय मे प्रियतम आये हैं, प्रतीत होता है" 'हा कष्ट! प्रियतम केवल मेरे हृदय मे आये हैं, कह रही हो? मै उनको सम्मुख मे पश्चाद् भाग मे पाश्व मे हृदय मे, तवत्र ही तो सवदा निरीक्षण कर रही हूँ" यह कह कर विरह कातरा श्रीराधा सहसा पुलकिताङ्गी हो गई एव परक्षण मे ही जसे अमृतमयी एव गरलमयी नदा मे निमग्न हो गई।

प्रउशस—पश्चादेत्य शनैररिष्ट मथनस्ता सस्वजे साहसा
तत् सस्पशरसेन सा स्मितमुखी सद्योऽविचाराद्भूत् ।
आलोभ्य परिशङ्कयाऽरुणमुखी धिग धूर्त्ततां धूर्त्तते
धिङ्मेति त्वरयापसारिततनु र्व्यावृत्य तूष्णी स्थिता ॥

अत्र स्मितमुखीत्यमर्ष प्रशम, आलोभ्य परिशङ्कयेति शङ्कोदय अरुणमुखीति धिग् धूर्त्ततामिति धिङ् मति पुनरमर्षोग्रताग्लानिभि शावल्यम्, त्वरयापसारिततनुरिति चपलता, व्यावृत्य तूर्ष्णी स्थितेति धैर्य्यम्, अनयो सन्धि एतेसन्ध्युत्तराश्चत्वार ॥३६७॥

सउप्रश—अक्रूरोऽद्यागतइतिमुखग्लानि हृत्कम्पभाज
स्तम्भोजातश्चिरमथ सखी सान्त्वनै र्बोध आसीत् ।

अविचार विचारीत्यौ यौ सयोग—वियोगौ तज्जन्ययोर्हर्षा॰ष दयो सन्धिरित्यथ, अस्यामानो गतप्राय एव, कि तु सखीनामनु राधेन मानाभास एव वत्तते इति दूती वाक्येन जातो य साहस स्तस्माच्छ्री कृष्णस्ता सस्वजे । अविचारादिति—अह मानिनी मम स्मितमनुचितमिति वि॰ र विनवेत्यथ । हे धूर्त्त ! ते धूर्त्तता धिक । मामा धिगिति त्वरया अपसारिता । श्रीकृष्णाद् वियुक्तो कृता तनुयया तथाभूता सती व्यावृत्य श्रीकृष्णे पृष्ठ दत्त्वास्थिता ॥३६७॥

मुखम्लानादिभाजस्तस्याश्चिरकाल व्याप्य स्तम्भो जात । प्रात कृष्णो मथुरामित्येव ॰तु यास्यतीति अपूर्व जन नामुक्ते सति प्रत्यावृत्तं पुनराग त स्त्रिभिमु ख म्लानिहृत् कम्पस्तम्भर्भाव सा

इस श्लोक मे स्फूर्त्ति का उदय से स्वास्थ्यानुव होने पर मेरा सन्ताप विगत हुआ' इस वाक्य मे ग्लानि का प्रशम, सखी का वाक्यावसान होने पर हा कष्ट !'' इत्यादि वाक्य मे विषाद का उदय, "केवल हृदय मे आये हैं, कह रही है ?'' इस वाक्य से सखी के प्रति असूया, "सम्मुख मे पश्चाद् भाग मे'' इत्यादि स्थलमे उन्माद ये सब शाबल्य हुये है एव 'पुलकिताङ्गी'' यहा हर्षोदय,' अमृतमयी एव गरलमयी नदी मे निमग्न'' यहा हष एव मोह की सन्धि हुई है ॥३६६॥

प्र उ श, स, का उदाहरण—अरिष्टासुर मदन श्रीकृष्ण पश्चाद् दिक से धीरे धीरे आकर साहस पूवक झटिति श्रीराधाको आलिङ्गन किया, उससे श्रीराधा तदीय स्पश रस भरसे सहसा कुछ विचार करने मे अक्षम होकर हँसमुखी हो गई अनन्तर सन्निहित सखी वृन्द की शङ्कासे अरुण वदना हो गई एव 'हे धूर्त्त ! तुम्हारी धूर्त्तता को धिककार, मुझ को भी धिककार 'यह कह कर सत्वर वहा से आत्मशरीर अपसारण पूवक पराङमुखी होकर मौन भावसे अवस्थान करने लगी ।

इस श्लोक मे हास्यमुखी'' यहा अमष का प्रशम 'सखी वृन्द की शङ्कासे'' यहा शङ्का का उदय, मुझको भी धिक अरुण वदना धूर्त्तता को धिक्कार यहा अमष, उग्रता एव ग्लानि का शावल्य एव 'सत्वर यहा से 'आत्मशरीर अपसारण पूवक' यहाँ चपलता एव 'पराङमुखी होकर मौन भाव मे अवस्थान'' यहा धैर्य, उभय की सधि हुई है स ध्युत्तर चारो का उदाहरण प्रस्तुत किया गया ॥३६७॥

अक्रूर का आगमन हुआ है —इस सवाद से श्रीराधा के मुख मे ग्लानि, हृदय मे कम्प एव बहुक्षण व्यापी स्तम्भ उपस्थित हुआ। अन तर सखीगण के सान्त्वना वाक्य से प्रबोध प्राप्त हुई, कि तु 'अहह !

प्रात कृष्णोऽप्यहह मथुरामित्यपूर्णे जनोक्ते
प्रत्यावृत्तैस्त्रिभिरथ पुन सैव पूर्णा बभूव ॥

अत्र मुखग्लानि हृत्कम्पभाज इति ग्लानि—शङ्कयो सन्धि, तत स्तम्भो जात इति जडतोदय, सखी सान्त्वनैरिति तत् पशम, प्रत्यावृत्तैस्त्रिभिरिति ग्लानि-शङ्का जाड्यै शावल्यम् ॥३६८॥

सप्रउश—मेघालोके पुलकित तनुर्विद्यु दालोकने सा
व्याभुग्न भ्रू स्तदुपशमने सुप्रसन्नाननेन्दुः।
भूयो विद्यु द् वलय कलने लोहिताक्षी मृगाक्षी
धारापाते रुदित मलिनीभाव मूर्च्छा. प्रपेदे ॥

मेघालोके कृष्णागमन भ्रमात् पुलकिततनुत्वेन हर्ष, विद्यु दालोकनेन विपक्षरमणी बुद्धया—असूया—अनयो सन्धि । तदुपशमने सुप्रसन्नेति असूया प्रशम, भूय इत्यादिना लोहिताक्षीत्यमर्षोदय धारापाते सति मेघ एवायमिति रुदितेति विषाद, मलिनी भावेति ग्लानि, मूर्च्छेति मोह—एभि शावल्यम् ॥३६९॥

पुन पूर्णा बभूव ॥३६८॥

मेघालोके श्रीकृष्ण ज्ञानात् पुलकित तनुस्तत्र विद्यु दालोके सति प्रतिपक्षरमणी ज्ञानेन कोपाद् व्याभुग्नभ्रू, तस्या विद्यु दुपशमने क्रोधाभावात् सुप्रसन्नाननेन्दु, भूय पुनरपि विद्यु दालोकेन पूर्ववत् लोहिताक्षी, धारापाते सति नाय कृष्ण, किन्तु मेघ एवेति ज्ञानात् रुदित मलिनी भावो मूर्च्छा च, एतान् व्यभिचारिभावान् प्रपेदे ॥३६९॥

श्रीकृष्ण प्रभात मे ही मथुरा मे" इस प्रकार असम्पूर्ण जनरव श्रवण से पुनर्वार श्रीराधा उस प्रत्यावृत्त भावत्रय से परिपूर्णा हो गई।

इस श्लोक मे "श्रीराधा की मुख ग्लानि, हृत्कम्प" इस स्थल मे ग्लानि एव शङ्का की सन्धि, "बहुक्षण व्यापी स्तम्भ उपस्थित हुआ' यहाँ जडता का उदय, 'सखी गण के सान्त्वना वाक्य मे'—यहाँ जडता का प्रशम, 'उस प्रत्यावृत्त भावत्रय मे" यहाँ ग्लानि, शङ्का एव जडता का शाबल्य हुआ है ॥३६८॥

मेघावलोकन कर श्रीराधा की तनुलता पुलकिता हुई अन तर विद्यु द् दर्शन से उनके भ्रू युगल कुटिल हो गये। उस समय विद्यु त् प्रणाश होने पर मुख चन्द्र प्रसन्न हुआ। किन्तु पुनर्वार विद्युत् वलय अवलोकन से मृगाक्षी लोहिताक्षी हो गई एव तत् पश्चात् धारापात को देखकर रोदन एव मालिन्य एव मूर्च्छित हो गई।

इस श्लोक में मेघावलोकन से श्रीकृष्ण के आगमन भ्रम से तनुलता पुलकित होने से हर्ष एव विद्युत दर्शन से विपक्ष रमणी बोध होने से असूया, इस भावद्वय की सन्धि हुई है। विद्युत् प्रणाश से मुखचन्द्र सुप्रसन्न हुआ। यहाँ असूया का प्रशम हुआ है। "पुनर्वार विद्युद्वलय विलोकन से 'लोहिताक्षी" यहाँ अमर्ष का उदय, धारापात निरीक्षण से "यह निश्चय ही मेघ" यहाँ अमर्षका उदय हुआ है। धारापात

प्रउसश—असाक्षादेव त्व भवसि नहि साक्षादिति रुषे
प्रकूप्यन्ती कृष्णे गतवति निरागास्यपि पदम् ।
त्वरातङ्क व्यग्रा कपटमिति तस्मिन् विदितव
त्यहो नाना भावव्यतिकरवतीय विजयते ॥

अत्र साक्षान्नभवसीति प्राग् जातस्यामषस्य प्रशम, ततोरुषे कूप्य-तीति रुष प्रति कोपोदय, पश्चात् कृष्ण पाद पतने त्वरातङ्कव्यग्रेति चपलता शङ्कयो सन्धि, ततो नाना भाव व्यतिकरेति व्रीडामद--स्मृति--शङ्का--त्रासादिभि शावल्यम् ॥३७०॥

उप्रमश—गण्डे कुण्डल पद्मरागमहसो बिम्ब प्रति प्रेयस
पारक्योऽधर राग इत्यरुणितापाङ्गी चल वीक्ष्यतम् ।
स्निग्धाक्षी दयितो रुष विदितवान्नो वेति दोलायिता
न्यञ्चद्वक्तृतया विचार्य्य च मृषा मान दधे राधिका ॥

कश्चित् स्वक्रोध प्रत्याह—श्रीकृष्णस्यासाक्षादेव त्व प्रादुर्भवसि नतु तस्य साक्षादिति रुषे स्वक्रोधाय प्रकुप्यन्ती सा निरागसि निरपराधे श्रीकृष्णे स्वपाद गृहीतेसति त्वरातङ्काभ्या व्यग्राबभूव । स्वकृत क पाद ग्रहणे सति तस्या वयग्यवशनेनाहो नाह मानो न क्रोधज य, अपितु कपटमिति तस्मिन् कृष्णे विज्ञापिते सतीय व्रीडामदादि नानाभाव समूहवती विजयते ॥३७०॥

प्रेयस श्रीकृष्णस्य गण्डे कुण्डलस्थ पद्मराग कान्ते रक्त प्रतिबिम्ब पारक्योऽधर राग इति मत्वा मत् प्रतिपक्षरमण्यधर सम्बन्धि ताम्बूल राग इति मत्वेत्यथ । आदौ क्रोधेनारुणापाङ्गी पश्च त्त त प्रतिबिम्ब

निरीक्षण से "यह निश्चय ही मेघ है" इस प्रकार निश्चय होने से 'रोदन' यहा विषाद एव 'मालिन्य यहाँ ग्लानि एव मोह प्रभृति का शावल्य हुआ है ॥३६९॥

श्रीकृष्ण के असाक्षात् मे तुम प्रादुर्भूत होते हो, श्रीकृष्णक साक्षात्कारके समय तो तुम्हारा दर्शन ही नहीं होता है, यह कह कर श्रीराधिका क्रोध के ऊपर क्रोध कर रही थी, इस समय निरपराध श्रीकृष्ण उपस्थित होने पर उनके चरणोपान्त मे पतित हुये। ऐसा होने पर श्रीराधा व्यग्रता एव आतङ्क से नितान्त व्याकुला हो गई। एव 'ये सब कपट मात्र हैं, वास्तविक क्रोध हेतु मान नही है" श्रीकृष्ण—यह अवगत होने पर भाविनी श्रीराधाने जो कितने प्रकार भावो का आविर्भाव किया, वह वाग् विभव का अतीत है ।

इस श्लोक मे साक्षात् कार के समय तुम्हारा दर्शन नहीं होता है। यहा पूर्वजात रोष का प्रशम, तत् पश्चात् "क्रोध के ऊपर क्रोध कर रही थीं। यहा रोपके प्रति कोपोदय, पश्चात् श्रीकृष्ण का पाद पतन मे त्वरा एव आतङ्क से व्याकुला, यहा चपलता एव शङ्का की सन्धि हुई है। तत् पश्चात् "भाविनी कतिविध भाव का आविर्भाव किया" यहाँ व्रीडा, मद, स्मृति शङ्का, त्रासादिका शावल्य है ।३७०।

उप्रसश का दृष्टान्त—प्रियतम के गण्डस्थल से तदीय कुण्डलस्थित पद्मरागमणि की किरणच्छटा

अत्र गण्ड इत्यादिना अमर्षोदय, चल वीक्ष्येति तस्य प्रशम, रुष विदितवा नोवेति शङ्का वितर्काभ्या सधि, न्यञ्चद वक्त्रतयेति व्रीडा विचार्य्येति मति, मृषा मानमिति अवहित्था, एभि शावल्यम्। एतेचत्वार शवलोत्तरा ॥३७१॥

उशसप्र—प्रियालोके दृष्टि नमयति तमन्या प्रति लसद्
दृश स्निग्धारक्तप्रचल नयना पश्यति बधू ।
पुन पश्यत्यस्मिन् स्मित पुलकसङ्गोपनपरा
हठात्तेनाश्लिष्टा सपदि गत वाम्या समभवत् ॥

अत्र दृष्टि नमयनीति व्रीडोदय, स्निग्धारक्त प्रचलनयनेति औत्सुक्य क्रोध चपलताना शावल्यम्, मामनादृत्यान्या पश्यतीति क्रोध, स्मित पुलकेति मद हर्षयो, सपदि गतवाम्येति क्रोधादि प्रशम ॥३७२॥

चल वीक्ष्य 'अहो नायमधर राग, किन्तु प्रतिबिम्ब' इति ज्ञानात् क्रोधाभावेन स्निग्धाक्षी। श्रीकृष्णो मदीय क्रोध जानाति, न वेति दोलायित चित्ता सती अहो अज्ञानाधीनोऽय मत् क्रोध, श्रीकृष्णेन ज्ञात एवेति लज्जयाधोमुखत्वेन च विचार्य अहो स्वप्रतिभा रक्षार्थमधुना मया कि कर्त्तव्यम्? किन्तु कृत्रिममान ग्रहणमेव ममोपाय' इति विचार कृत्वेत्यर्थ ॥३७१॥

प्रिय कर्त्त क स्व कर्मकालोके सति तल्लज्जया दृष्टि नमयति, पश्चात्तन्मुखी दृष्ट्वा ता विहाय अस्या प्रतिपक्षामन्या प्रति लसन्ती दृक यस्य तथाभूत श्रीकृष्ण सा बधू पश्यति। कथम्भूता? आदौ श्रीकृष्ण दर्शनस्याय स्वभावो यत् क्रोधादि सहस्र प्रति बन्धकमध्य गणयित्वावश्यमेवानन्द जनयतीत्यत दर्शन स्निग्धनयना, पश्चात् मामनादृत्या या पश्यतीति क्रोधेन रक्तनयना चपलनयना च। पुन श्रीकृष्णे प्रतिपक्षा विहाय ता पश्यति सति श्लोकस्थ रक्त पद व्यङ्ग्य क्रोधस्य बीजमाह- मामनादृत्येति ॥३७२॥

मे प्रतिबिम्ब को देखकर वह अपर रमणी का अधर राग है यह मानकर वराङ्गी श्रीराधिका रोष से लोहितापाङ्गी हो गई, पश्चात् उस प्रतिबिम्ब को चञ्चल देखकर वह वास्तव प्रतिबिम्ब बोध होने से मृगाक्षी स्निग्धाक्षी हो गई तत् पश्चात् दयित मदीय कोप को जान गये हैं अथवा नहीं, इस प्रकार स देह से दोलायित चित्त होकर—विदित होने की अधिक सम्भावना है यह मान कर नत मुखी हो गई। अनन्तर विचार पूर्वक स्व प्रतिभा रक्षार्थ मिथ्या मान ग्रहण किया।

इस श्लोक मे 'प्रियतम के गण्डस्थल मे' इत्यादि वाक्य मे अमर्ष का उदय 'प्रतिबिम्ब की चपलता देखकर' यहाँ अमर्ष का प्रशम, "मदीय रोष विदित हुये हैं, अथवा नहीं" यहाँ शङ्का एव वितर्क की सधि "नम्रमुखी हो गई" यहा व्रीडा, 'विचार पूर्वक" यहाँ मति। 'मिथ्यामान" यहा अवहित्था इन सर्वों का शावल्य हुआ है। शवलोत्तर के चार दृष्टान्त प्रस्तुत हुये हैं ॥३७१॥

उ, श, स, प्र, का दृष्टान्त—प्रियतम के दर्शन से दृष्टि को अवनत किया, उस समय प्रियतम अन्य रमणी के प्रति कटाक्ष निक्षेप करने से स्निग्धाक्षी रोष से चञ्चल लोहिताक्षी होकर उनके प्रति नयन सञ्चालन किया, पुनर्वार श्रीकृष्ण प्रणय सतृष्ण भाव से दृष्टि पात करने से श्रीराधिका तत्क्षणात् सञ्जात

सउशप्र—यदालोके पूर्वं भुजग इति सम्भ्रान्त चकिता
प्रियाग्रे तामेव स्रजमुरसि सद्यो विदधती।
सखीषु स्मेरासु भ्रुकुटितरलारक्त नयना
परिष्वक्तातेन द्रुतविशदचित्ता समजनि॥

अत्र सम्भ्रान्त चकितेति त्रास चपलाभ्या सन्धि, 'प्रियाग्रे तामेव स्रजमुरसि सद्योविदधति' इति औत्सुक्योदय, भ्रुकुटि तरलारक्तनयनेति भ्रुकुटि रित्यसूया, तरलेति चपलता, आरक्तेति क्रोधस्तै शावल्यम्। द्रुतविशद चित्तेति प्रशम ॥३७३॥

शसउप्र—मा पश्य त्यास्त्वं किमरणाभुग्न भग्ना दृगन्ता
निष्पन्देऽत्राधर किसलये गूढ लक्ष्या विवक्षा।
हासो जाताङ्कुर इव कियत्तेन चित्ते प्रमोदो
वामत्व ते बहिरिति हरेर्वाचि राधा जहास॥

प्रिय कर्त्त क स्वकर्म्मालोकेसति लज्जया दृष्टि नमयति पश्चान्नम्रमुखी दृष्टवा ता विहाय अन्या प्रतिपक्षामन्या प्रति लसन्ती स्रक् यस्य तथा भूत श्रीकृष्ण सा बधू पश्यति। कथम्भूता ? आदौ श्रीकृष्ण दर्शनस्याय स्वभावो यत् क्रोधादि सहस्र प्रतिव धकमप्यपगणय्यावश्यमेवानन्द जनयतीत्य न देन स्निग्ध नयना, पश्चान्मामनादृत्यान्या पश्यतीति क्रोधेन रक्त नयना चपल नयना च। पुन श्रीकृष्णे प्रतिपक्षा विहाय त पश्यति सति श्लोकस्थ रक्त पद व्यञ्ज्य क्रोधस्य बीजमाह मामनादृत्येति ॥३७३॥

स्मित एव पुलकके सङ्गोपन करने मे व्यग्र हो गई, एव उस समय दयित कर्त्तृक आलिङ्गित होने से उनका वाम भावका सम्पूर्ण अभाव हुआ।

इस श्लोक मे "दृष्टि अवनत किया" यहा व्रीडा का उदय, 'स्निग्धाक्षी रोष से चञ्चल लोहिताक्षी हो गई। यहा औत्सुक्य, क्रोध एव चपलता का शावल्य, मुझ को अनादर कर अपर के प्रति दृष्टिपात कर रहे हैं, अत श्रीराधिका का क्रोध, "स्मित एव पुलक यहाँ मद हर्ष की सन्धि, वाम भावका सम्पूर्ण अभाव हुआ" यहाँ क्रोधादि का प्रशम हुआ है॥

स उ श प्र का उदाहरण—पूर्व मे उत्कण्ठित दशामे जिसको अवलोकन कर भुजगभ्रम से सम्भ्रम चकिता हुई थी, अद्य प्रियतम के सम्मुख मे सहसा उस मालाको ही वक्ष स्थल मे लम्बित करते देखकर सखी मण्डली को हँसमुख होने से श्रीमतीके नयन युगल भ्रुकुति तरल एव आरक्त उठे थे, किन्तु अविलम्ब हो से दयित कर्त्तृक आलिङ्गित होने के कारण उनका कोप कलुषित चित्त शीघ्र ही सम्पूण सरस एव सुविमल हुआ।

इस श्लोक मे सम्भ्रम चकिता यहा त्रास एव चपलता की सन्धि, "प्रियतम के सम्मुख मे सहसा उस माला को ही' इत्यादि वाक्य मे औत्सुक्य का उदय, 'नयन युगल भ्रुकुटि तरल एव आरक्त" यहा भ्रुकुटि पद से असूया, तरल पद से चपलता एव आरक्त पद से क्रोध—इन तीनो का शावल्य हुआ है। सरस एव सुविमल हुआ" यहा प्रशम हुआ है ॥३७३॥

अत्रारुणेति कोप , आभुग्नेत्यसूया, भग्नेति त्रपा, ताभि शावल्यम् । निष्पन्दत्व गूढ विवक्षाभ्या धृति चपलतयो सन्धि, हासोजाताङ्कुर इति हर्षोदय, जहासेति कोप प्रशम ॥३७४॥

स श उ प्र— त्व मे प्राणा कथमिव विभो त्वा विनानैव वर्त्ते
नाह याते वसति हृदये सेवते प्राण हेतु ।
त्व मे नित्य वससि हृदये नाननेत्यश्रुपूर्णा
कृष्णो दोर्भ्यां हृदि विनिदधे सा विसस्मार वाम्यम् ॥

अत्र कथमिवेति वितर्क , विभो इत्यसूया-द्वाभ्यासन्धि । नाहमिति दैन्यम्, याते वसति हृदये सवेत्यसूया, प्राण हेतुरित्युग्रता-एभि शावल्यम् । अश्रु पूर्णामित्यौत्सुक्योदय , वाम्य विसस्मारेति कोप प्रशम । एतेप्रशमोत्तराश्चत्वार ॥३७५॥

हे राधे ! तव कटाक्ष । आभुग्ना ईषत् कुटिला एव भग्ना लज्जया मुटितास्तथा तव निष्क्रियाधरे विवक्षा वक्तु मिच्छागूढा, अतएव लक्ष्या यत्नेन लक्षयितु शक्या ।

तवहास कियज्जाताङ्कुर इव । कियदिति क्रियाक्रिया विशेषणम् । तेन हेतुना तवचित्ते आनन्द , वाम्यन्तु वहि काल्पनिकम् ॥३७४॥

श्रीकृष्ण आह त्वमिति । मानिनी आह—हे विभो ! कथ केन प्रकारेण पुन श्रीकृष्ण आह— त्वामिति । साह—नाहमिति । श्रीकृष्ण आह-त्व मे इति । साह नेति ॥३७५॥

श स उ प्र का दृष्टा त— अयि राधे ! मुझ को देखकर तुम्हारा अपाङ्ग क्यो अरुणित आभुग्न एव लज्जा से भग्न प्राय हुआ ? स्प द हीन अधर पल्लव मे कथनाकाङ्क्षा जसे गूढ भाव से लक्षित हो रही है, हास्य भी जसे उसमे किञ्चित् अङ्कुरित हुआ है । अतएव मै विचार करता हूँ तुम्हारे चित्त मे प्रफुल्लता एव वहिर्भाग मे वामता विराजित है । श्रीकृष्ण के इस प्रकार वचन चातुर्य्य को सनकर श्रीराधा हास्य मुखी हो गई । यहा "अरुण" पद से को, 'आभुग्न' पद से असूया, "भग्न" पद से व्रीड है, इन सबो का शावल्य हुआ है, अधर की निष्प दता एव विवक्षा की गूढ लक्ष्यता हेतु धति एव चपलता की सन्धि हुई, "हास्य जसे किञ्चित् अङ्कुरित हुआ है ' यहाँ हर्षोदय हुआ है । 'हास्य मुखी हो गई" यहाँ कोप का प्रशम हुआ है ॥३७४॥

" प्रियतमे ! तुम्हीं मेरा प्राण स्वरूप हो" हे विभो ! कैसे मै तुम्हारा प्राण स्वरूप हुई, ' देखो, तुम को छोडकर मै मुहूर्तमात्र भी वत्तमान रह ही नहीं सकता हूँ । ' ना ना, वह मै क्यों ? जो तुम्हारे हृदय मे निवास करती है, वही तुम्हारे प्राण हेतु है " "क्यो तुम्हीं तो सतत मदीय हृदय में निवास करती हो, " ना, ना, मै सतत तुम्हारे हृदय मे क्यो रहूगी ? ' यह कह कर मानिनी अश्रु पूर्णाक्षी होने से श्रीकृष्ण उनको बाहु युगल के द्वारा हृदय मे धारण किये थे, श्रीराधा भी समस्त अभिमान भूल गई ।

इस श्लोक मे 'कमे मे तुम्हारा प्राण स्वरूप "यहाँ वितर्क एव ' विभो !" इस पद से असूया, इन दोनो की सन्धि, 'नहीं नही मै क्यो ? यहाँ दन्य, "जो तुम्हारे हृदय मे निवास करती है, वही" यहा

सशप्रउ—कीदृग वेणुमवीवदो व्रजपुरीत्यापृष्ट एव प्रियो
रुक्मिण्या व्रजकेलि कौतुक कथा सवेदना सविदो ।
सन्धौ बन्धुरमानस पुनरहो रोमाञ्चनेत्राम्बुनी
सवृण्वन् प्रकृतो बभूव स पुन --पारि- प्लपत्माभवत् ॥

अत्र 'व्रजकेलि कौतुक कथा सवेदना सम्बिदो सन्धौ' इति स्मृति जडतयो सन्धि, रोमाञ्चेति हर्ष नेत्राम्बु' इति विषाद, सवृण्वन्निति अवहित्था—तं शावल्यम् प्रकृतो बभूवेति तत्तत् प्रशमः पारिप्लवात्मत्यौत्सुक्योदय ॥३७६॥

ससप्रउ—लिखिष्यामीत्यग्रे स्फुरदभिनिवेशात्त तरला
ततोऽश्रुस्नाताक्षी धिगिति विधिनिन्दा विदधती ।
अवष्टभ्य स्वान्त प्रकृतिमिव याता क्षणमसौ
लिखन्ती प्राणेश शिवशिव विसस्मार सकलम् ॥

हे कृष्ण ! त्व व्रजभूमौ कीदृश वेणुमवीवद इति रुक्मिण्या आपृष्ट श्रीकृष्णो व्रज सम्बन्धि केलि कथाया सवेदन ज्ञानम्, एव जाड्यवशादसंविज ज्ञानाभावस्तया स धौ ब धुर मानस सन् पुनश्च जाते रोमाञ्चनेत्र जले सवृण्वन् प्रकृत स्वस्थ बभूव स श्रीकृष्ण पुनश्च पारिप्लवात्मा चञ्चल चित्तोऽभवत् ॥३७६॥

माथुर विरहेणात्यन्त व्याकुला काचित् स्वचित्तस्य क्षणिकविनोदाय मन प्रथमत श्रीकृष्ण लिखिष्यामीति स्फुरन्नभिनिवेशो यस्या सा, पश्चादार्त्ता तरला अश्रु स्नाताक्षी चाभवत् । ततश्च लिखने

असूया, "प्राण हेतु" यहाँ उग्रता, इन सबों की शबलता हुई है । एव अश्रु पूर्णाक्षी" यहाँ औत्सुक्य का उदय एव "समस्त अभिमान विस्मृत हुई' यहा कोप का प्रशम हुआ है ।

ये चतुर्विध प्रशमोत्तर के उदाहरण हैं ॥३७५॥

स,श, प्र उ का उदाहरण—व्रज मे आप किस प्रकार वेणु वादन करते ? प्रियतमा रुक्मिणी इस प्रकार जिज्ञासा करने पर सहसा व्रजपुरी सम्बन्धिनी केलि कौतुक कथा का स्मरण होने से एव उसी समय उक्त कथा समूह का स्मरण हेतु जडता उपस्थित होने पर ज्ञान एव अज्ञान का सम्मिलन से श्रीकृष्ण प्रथम नितान्त अव्यवस्थित चित्त एव पुनर्वार रोमाञ्च एव वाष्प वारि सम्वरण पूर्वक प्रकृतिस्थ हो गये । किन्तु परक्षण मे ही पुनर्वार चञ्चल चित्त हो गये थे ।

इस श्लोक मे 'व्रज पुरी सम्बन्धिनी केलि कौतुक कथा का स्मरण, एव उसी समय उसका स्मरण हेतु जडता का उदय' यह जडता की सन्धि, 'रोमाञ्च" यहा हर्ष 'वाष्पवारि" यहा विषाद 'सम्वरण पूर्वक" यहाँ अवहित्था, इन सब का शावल्य "प्रकृतिस्थ हुये थे" यहाँ उसका प्रशम, 'चञ्चल चित्त" औत्सुक्योदय हुआ है ॥३७६॥

माथुर विरहे मे नितान्त व्याकुला किसी भामिनी क्षणकाल चित्तविनोदन के अभिप्राय से प्रियतम

अत्रस्फुरदभिनिवेशेति स्मृति, आर्त्तेति आवेग, तरलेति औत्सुक्यम्—एभि शाबल्यम्। अश्रुस्नाताक्षीति विषाद, धिगिति विधिनिन्दामित्यसूया, तयो सन्धि, अनष्टभ्य स्वान्तमित्यादि प्रशम,—विसस्मार सकलमिति मोहोदय ।।३७७।।

प्रसशउ—विश्रान्त सखि सशय स रमते नैकापि तस्य क्षपा
व्यर्थेत्यालपन प्रयोग समये कृष्ण विलोक्या गतम्।
हृष्टा किं श्रुतमश्रुतकिमथ वेत्याशङ्कमानानमद्
वक्त्रा तेन विचुम्बिताथ सुमुखी स्प देन मन्दाभवत्।

अत्र विश्रान्त सखि सशय इति वितक प्रशम, स रमत इत्यसूया, नैकापि तस्य क्षपा व्यर्थेत्यमर्ष, अनयो सन्धि। हृष्टा इति हर्ष, श्रुतमश्रुत वेति वितक आशङ्कमानेति शङ्का, नमद् वक्त्रेति व्रीडा, एभि शावल्यम्। स्पन्देन मन्दाभवदिति जडतोदय ।।३७८।।

विघ्न दृष्ट्वा उपायान्तरमपश्यन्ती विघ्ननिर्म्मातृ विधेर्निन्दा विदधती स्वान्तमवष्टभ्य मन स्थिरी कृत्य क्षण प्रकृति" स्वभाव प्राप्ता असौ सुस्था भूत्वा प्राणेश लिख ती लिखन समये मूर्च्छोदयेन सकल विसस्मार। शिव शिवेति खेदे ।।३७७।।

हे सखि! सशयो विश्रान्तो गत इत्यर्थ। स श्रीकृष्ण स्तया सह रमते, तस्यैकापि रात्रि स्तया सह रमण विना न व्यर्थ। स्पन्देन मन्दा रहिता जडाभूदित्यर्थ ।।३७८।।

की प्रतिमूर्त्ति अङ्कण करने मे प्रथमत अत्यन्त अभिनिवेशवती होकर नितान्त आर्त्ता एव तरला हो गई, एव परक्षण मे ही अश्रुधाराप्लुत होकर धिक्कार पूर्वक विधि को धिक्कार देने मे प्रवृत्ता हो गई। अनन्तर अन्त करण को सयम करके एक मुहूर्त्त प्रकृतिस्थ होकर जब प्राणेश्वर की प्रतिकृति लिखने मे प्रवृत्त हुई, हरि हरि! उस समय उसके समग्र स्मरण ज्ञान ही अ तर्धान हो गये।

उस श्लोक मे "अत्यन्त अभिनिवेशवती' यहाँ स्मृति 'आर्त्ता" यहाँ आवेग, एव 'तरला' यहाँ औत्सुक्य इन सबो का शाबल्य हुआ है, "अश्रुधाराप्लुत नयना यहा विषाद एव धिक्कार पूर्वक विधाता निन्दन" यहा असूया इन दोनो की सन्धि, 'अन्त करण सयमन करके' इत्यादि वाक्य मे प्रशम' 'समग्र स्मरण ज्ञान ही अन्तर्धान हो गये। यहाँ मोह का उदय हुआ है ।।३७७।।

प्रसशउ—का दृष्टान्त हे सखि! मदीय सशय विदूरित हुआ है। निश्चय ही श्रीकृष्ण किसी कामिनी के सहित रमण प्रवृत्त है, एक रजनी भी उनकी वृथा अतिवाहित नहीं होती है। इस प्रकार कथोपकथन समय मे सहसा श्रीकृष्ण को समीप मे उपस्थित देखकर सुन्दरी प्रथमत हृष्टा एव तत् समकाल मे ही उन्होने उक्त कथोपकथन को सुना है, अथवा नहीं इस प्रकार शङ्कासे आकुल होकर नम्रमुखी हो गई, अनन्तर प्रियतम उसको ईदृश दशापन्न देखकर परिचुम्बन करने पर वह सुमुखी भाव वश से स्प दन शक्ति शून्या हो गई।

इस श्लोक मे सशय विदूरित हुआ है।" यहाँ वितर्क प्रशम, "अन्यत्ररमण प्रवृत्त हैं। यहाँ असया "एक रजनी भी उनकी वृथा अतिवाहित नहीं होती' यहाँ अमर्ष, एतदुभय की सधि, 'प्रथमत हृष्टा"

उप्रसश—मनो रागज्ज्वालाज्ज्वरकवलित भस्मतु चिरा
दय प्रेमणे बद्धोऽञ्जलिरजनि दु खस्य विगम ।
गुरूणामाक्षेप खलहसितमप्येतु पृथुता
मिति स्वालीवृन्दे रुदति समरोदीदथ बधु ।

अत्र रागेत्युत्कण्ठा, ज्वालेति ग्लानि, कवलितमितिमोह, 'भस्मतु भस्मेवाचरतु' इति दैन्यम्—एभि शावल्यम्, अथ प्रेमणे बद्धोऽञ्जालिरजनि दु खस्य विगम इति औत्सुक्य प्रशम, गुरूणामाक्षेप इति शङ्का, खलहसितमित्यसूया-अनयो सन्धि, समरोदीदिति विषादोदय.। एते उदयोत्तराश्चत्वार ,।।३७६।।

अथालङ्कार साङ्कर्येण ये प्रकारा भवन्ति, तेषामपि दिग्दर्शनम् तदुक्त(२४३ श्लोक) 'हु मात' इति त्रास धूर्त्तेयमित्यसूया, आप भियमित्यवहित्था, अत्र शावल्य, मौग्ध्यालङ्कार सङ्कीर्णम् । तेषामपि सेङ्गित-निरिङ्गितत्वेन पुनरप्यद् द्वैविध्य मुक्तम्, तत्र निरिङ्गित मुदाहृतम्, सेङ्गितस्य दिग् दर्शन क्रियते ।

तत्र (२७७ श्लोके) "बाहु दक्षिण मालिकण्ठवलये' इत्यादौ सेङ्गितो विलास

काचित् स्वस्य देह त्याग निश्चि वती सखी सनिश्चयमाह— मन इति । अनुराग ज्वालारूप ज्वरेण ग्रस्त मनश्चिरकाल व्याप्य भस्मतु भस्मेवाचरतु । अहन्तु न जीविष्यामीति ध्वनि । प्रेमणेऽपि मयायमञ्जलिबद्ध । देह त्यक्ष्यन्त्या ममदु खस्यापि विगमोऽर्जान । पृथुतांविस्तारतामेतु प्राप्नोतित्येव श्रुत्वा, आलीवृन्दे रुदति सति ।।३८१

यहाँ 'सुने हैं, अथवा नहीं "यहा वितक इस प्रकार शङ्कासे व्याकुल होकर" यहाँ शङ्का एव "न्म्रमुखी हो गई" यहाँ व्रीडा, इन सबो का लावण्य एव "स्प दन शक्ति शू या हो गई' यहा जडता का उदय हुआ है ।।३७८।।

श प्र स,उ, का उदाहरण— हे सखि ! अनुराग ज्वालारूप ज्वर से कवलित इस चित्त चिरकाल के निमित्त भस्मसात् हो जाय, प्रेम के निकट मैने अञ्जलि ब धन पूवक उसको विसज्जन किया, मेरा दु ख भी विदूरित हुआ । अधुना गुरुजन के आक्षेप वाक्य का एव खल जनो के उपहास वाक्यों का भूरि प्रचार हो, प्राण त्याग हेतु कृत निश्चय कामिनी का इस प्रकार करुण वाक्य को सुनकर निज सखि वृ द रो उठने से वह भी अत्य त कातर होकर उससे भी अधिक जोर जोर से रोने लग गई ।

इस श्लोक मे "अनुराग" इस पद मे उत्कण्ठा, ज्वाला'इस पद स ग्लानि 'कवलित" पद से मोह, "भस्मसात् हो" यहा ग्लानि, इन सबो का शावल्य हुआ है । प्रेम के निकट अञ्जलि ब धन इत्यादि दु ख का विगम हुआ, इस वाक्य से औत्सुक्य प्रशम, 'गुरुजन का आक्षेप वाक्य," यहा शङ्का एव खल जनका उपहास वाक्य" यहाँ असूया, एतदुभय की सन्धि एव 'रोदन करने लगी' यहाँ विषाद का उदय हुआ है । ये चार उदयोत्तर के उदाहरण है ।।३७९।।

नामालङकार । तत्र च प्रौढमनोजविभ्रमभरे श्रान्तेव विभ्राजत इति श्रम गर्वयो सन्धि । एवमुदय शावल्यादीना दिमदशनम् ।

यथा—निश्चित परिसमापितमेव, प्रेमशास्त्र परिशीलनमालि ।
श्यामनाम कथमद्य गृहीत, वृत्तयो यदखिला समुदीयु ॥

अत्राखिला वृत्तय इति सव एव प्रागनुभूत निर्वेद विषाद व्याधिग्ला-युन्मादामर्षासूयादय समान कालमुदितवन्त । एव "श्यामनाम्नि विरता भवशान्ति, या-तु हन्त हृदयस्य विकारा- इति प्रशमशावल्यम् ॥३८०॥

एव सधि शावल्य यथा—

उन्माद मोहावपि दैन्यचिन्ते, वितर्क शङ्के समकालमेव ।
द्विशो द्विशस्तस्य कथा प्रसङ्गे पूर्वानुभूत्या कुरुतेऽलिद्रु खम् ।

अत्र भावशाबल्यम् मौग्ध्यालङ्कारेण सङ्कीर्णा भवति । तथामलङ्काराणामपि प्रेमशास्त्र परिशीलन मया समापितमपि त्वदग्रे निश्चित कृत्वा बहुधोक्तमपि हे आलि ! तथापि मदग्रे श्यामनाम त्वया कथ गृहीतम्, यत कृष्णनाम्नो हेतु भू-ा-मम ग्ला य व्योऽखिल वृत्तय समुदीयु, एवमिनि—पूर्व श्लोकस्य-ोत्तराधस्थाने यदि 'श्यामनाम्नि विरता भवशान्तिम्' इत्याद्य पद्य पठ्यते तदा प्रशम शावल्य भवतीत्यर्थ ॥३८०॥

अलङ्कार साङ्कर्य्य हेतु जो भेद होता उसका भी दिग दशन करते हैं—पूर्वोक्त २५३ श्लोक में उक्त है—यह कौन है—जो तुम्हारे अन्तर से बाहर हो रहा है यहा त्रास यह कोई धूर्त्त होगा' यहा असूया एव ' भय प्राप्त हुआ" यहाँ अवहित्था है ।

इस रीति मे यहा मौग्ध्यालङ्कार का सङ्कर हेतु शावल्य हुआ है ॥

सेङ्गित एव निरिङ्गित भेद से जो द्वविध्य उक्त है उसके मध्य मे निरिङ्गित का उदाहरण प्रस्तुत हुआ है, सम्प्रति सेङ्गित का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

पूर्वोक्त ३७७ श्लोक मे उक्त हैं—किसी गोपी दक्षिण बाहु क्रीडालस भावसे सखी के कण्ठ दश में वि यास पूर्वक' यहाँ सेङ्गित विलास नामक अलङ्कार एव "स्मरविभ्रम हेतु परिश्रान्ता के सम न शोभा पाने लगी । यहाँ श्रम एव गर्व की सन्धि हुई है । इस प्रकार उदय शावल्यादि का दिग दशन यह है—हे सखि ! मैंने प्रेम शास्त्र का अनुशीलन निश्चय ही समापन किया है । तुमने क्यों अद्य श्याम नाम का उच्चारण किया ? देखो, उस नाम के उच्चारण से मेरी अखिल वृत्ति समुदित हो गई

इस श्लोक मे अखिल वृत्ति अर्थात् विषाद, व्याधि, ग्लानि, उ माद, अमष, एव असूयादि पूव मे जिसका अनुभव हुआ था, वे सब ही एक समय मे उपस्थित हुये थे । इस प्रकार प्रतीत होता है ।

एव श्याम नाम्नि विरता भवशान्ति" सम्प्रति श्याम नाम ग्रहण से विरत हो जाओ' 'हाय ! मदीय हृदय के समस्त विकार शान्त हो । इस श्लोक मे प्रशम शावल्य हुआ है ॥३८०॥

द्विशो द्विश इत्यवस्था भेदात् । तथा हि विरहे उन्माद-मोहौ, विप्रलब्धावस्थाया दैन्य चिन्ते, वासकसज्जावस्थाया वितर्कशङ्के दु खमेव कुरुत, तत्तत् प्रसङ्ग त्यजतेत्यर्थ ।३८१।

एव स्वबुद्धि कौशलादनुमेया सुबुद्धिभि ।
ग्रन्थ गौरव भीत्यैव मयानोदाहृता परे ।।३८२।।

अनेनैव हि मार्गेण कवयो भावकोविदा ।
विदध्युर्भाव काव्यानि तेनाय प्रक्रम कृत ।।३८३।।

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे रसभाव--तद्भेद निरूपणो नाम
पञ्चम किरण ।।५।।

—**—

तस्य कथा प्रसङ्गे उन्माद मोहाविति द्वौ द्वौ मम दु ख कुरुत । अतस्तत् प्रसङ्ग त्यजत इत्यथ ।३८१।

सधि शाबल्य का उदाहरण—

हाय ! प्रियतम के कथा प्रसङ्ग मे पूर्वानुभव का उदय होने के कारण उन्माद एव मोह दैन्य एव चिन्ता वितक एव शङ्का, ये सब दो दो करके चित्त मे उपस्थित होकर निदारुण दु ख को उद्दीप्त करते रहते हैं। अर्थात् विरह मे उन्माद एव मोह, विप्रलब्धावस्था मे दैन्य एव चिन्ता एव वासक सज्जावस्था मे वितक एव शङ्का इस प्रकार अवस्था भेद से दो दो करके उपस्थित होकर दु ख को उद्दीप्त करते हैं, अतएव तदीय प्रसङ्ग को तुम सब परित्याग करो, यही अभिप्राय है ।।३८१।।

सखी वृन्द निज निज बुद्धि कौशल के अनुसार इस प्रकार उदाहरण समूह सग्रह करे, ग्रन्थ गौरव भय मे मैने समस्त उदाहरण प्रस्तुत नही किया ।।३८२।।

भाव कोविदकविकदम्ब—मत् प्रदर्शित पथ के पथिक होकर भाव प्रधान काव्यरचना मे सक्षम होगे, इस उद्देश्य से ही यह प्रथम भाव प्रबन्ध विवृत हुआ ।।३८३।।

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रिकृतानुवादे रसभाव--
तद्भेदनिरूपणो नाम पञ्चम किरण ।।

—**—



षष्ठः किरणः

अथ गुणविवेचनः—

अथ (प्रथम किरणे ५म श्लोके) 'गुणाः माधुर्य्याद्याः' इति कृतोद्देशस्य गुणस्य लक्षण परीक्षे करिष्यन् प्रथमतो लक्षण माह,—

रसस्योत्कर्षक कश्चिद्धर्मोऽसाधारणो गुणः।
शौर्य्यादिरात्मन इव वर्णास्तद्व्यञ्जका मता ॥१

आत्मन इति यथा शौर्य्यादिकमात्मन एव, नाकारस्य, तथा माधुर्य्यादिक रसस्यैव, नत्वाकार रूपय शब्दार्थयोः। नह्ययमाकार शूर, स्थूलत्वादितिसद्धेतुः, अस्थूलस्यापि शूरत्वदर्शनात्, यथा महा मतङ्गज पञ्चाननयोः।

यत्तु वीरसू-सुतयो शिशु यूनोराकारगत शूरत्वम्, तच्च वय कृतमेव, तेनसव्यभिचार दोषादाकारस्य शौर्य्यादि गुणो न भवति, किन्तु तस्य व्यञ्जक आकार, वर्णमयत्वात् अत

अथ गुणविवेचनम्—

अथ गुण रूप पदस्योद्देश लक्षण परीक्षेति त्रय एव व्यवहाराः। तत्र काव्यरूप पुरुष वर्णन प्रसङ्गे गुणा माधुर्य्यादयः इत्यनेन गुणस्योद्देश कृत। सक्षेपतो नाममात्रेण कथन मुद्देश। उदाहरण परीक्षा, सा अग्रे वक्ष्यते। अधुना गुणस्य लक्षण करोतीत्याह—अथेत्यादिना। यथा जीवात्मान उत्कर्षजनक आत्म निष्ठ कश्चिद् धर्म्म विशेष एव माधुर्य्यम्। यथा नानाविधासाधारण गुण क्रिया एव आत्मन शौर्य्य व्यञ्जका स्तथा कठोर वर्णा भिन्ना सुकुमार वर्णा एव रसनिष्ठ माधुर्य्य व्यञ्जका भवन्तीत्याह वर्णा इति। तस्य माधुर्य्यस्य।

नन्वनुमानादेव शौर्य्यमपि देह धर्म एव भवत्वित्याह- नहीति। नहि सद्धेतुरिति। तत्र हेतु — यतोऽस्थुलस्य सिंहस्य शौर्य्यम्, तथास्थूलस्य मतङ्गजस्य न सिंहवत् शौर्य्यम्, वीर सूते इति वीरसूस्तस्याः पुत्रयो शिशु यूनोमध्ये शिशोरपेक्षया युवा शूर इत्यत्र यद् देहगत शूरत्वम्, तत्तु वय कृत मेव नतु गुणकृतमित्यतो निर्गुण कृतशौर्य्यमवात्र दृष्टान्तो बोध्य। तेन स्थूलत्व रूप हेतो व्यभिचार दोषात् स

माधुर्य्यादि गुण हैं—यह कह कर प्रथम किरण मे गुणका नामोल्लेख किया गया है। अधुना उसका लक्षण एव परीक्षा करने के निमित्त प्रथमत लक्षण का निर्देश करते हैं।

आत्मा का उत्कर्ष जनक शौर्य्यादि वत् रसका उत्कर्षाधायक किसी असाधारण धर्म गुण नाम से अभिहित होता है। वर्ण समूह—उक्त गुण के माधुर्य्यादि का प्रकाश करते हैं। जिस प्रकार शौर्य्यादि आत्मा का ही उत्कर्षाधायक हैं, आकृति नहीं, माधुर्य्यादि गुण भी उस प्रकार रसका ही उत्कर्षाधायक है, आकार रूप शब्दार्थ का नहीं।

उत्कर्षत्व गुणत्वमिति मुख्यलक्षणम् । सदैव रूपस्यानन्दस्य रसत्वेनोत्कर्षाय कर्षयो प्रमाणाभाव इति रस शब्दोऽत्र तदास्वादाय । तेन रसास्वादोत्कर्षकत्व गुणत्वम् । १॥

गुणस्य व्यञ्जका वर्णाः

यथा अय शब्दार्थ—व्यतिकर काव्यतया व्यवहरणीयो रसात्मक त्वात्, इति रसात्मकत्व हेतुमतोरेवशब्दार्थयोः काव्यत्वव्यवहार स्तथाऽय वर्णसमूहो मधुर रसादि व्यञ्जक, सुकुमारादित्वादिति सुकुमारत्वादि हेतुमतामेव वर्णाना रसस्य माधुर्य्यादि-व्यञ्जकत्वे व्यवहार । तेन समुचितमेव वर्णाना माधुर्य्यादि व्यञ्जकत्वम् ।

ननु उत्कर्षकत्व गुणत्वमिति चेत्तदालङ्काराणामप्युत्कर्षकत्व वर्त्तते, तषामपि गुणत्वमस्तु? सत्यम्, यथा हारादयो ह्यलङ्कारा कण्ठाद्यङ्गा येवोपकुर्वन्ति नात्मानम्, तथा अनुप्रास-स्वभावोक्त्यादयो ऽलङ्कारा शब्दार्थाविव, नतु रसम् । एव चेत्तदा श्रुतिकटत्व पुष्टार्थादि-

---

शौर्य्यादि गुणो देहस्य न भवति । तस्य शौर्य्यस्य नानाविध गुणक्रिया विशिष्ट आकारो व्यञ्जक इत्यर्थ । अत इति—रसोत्कर्षजनकतावच्छेदक धर्मत्व गुणत्वमित्यर्थ ॥१॥

नच गोपीभि सह विहरति कृष्ण' इत्यत्र शृङ्गाररसात्मक वर्त्तते न तत्र काव्यत्व व्यवहार । अतोऽत्र व्यभिचारात् कथ रसात्मकस्य हेतुत्वमितिवाच्यम् यतोऽत्र हेतौ काव्यत्व जातिमत्त्वे इति विशेषण देयम्, तथा च काव्यत्व जातिमत्त्वे सति रसात्मकत्वादिति हेतु प्रयोगो ज्ञेय । 'गोपिभि सह विहरति' इत्यत्र काव्यत्वजाते रभाव देव न व्यभिचार इति भाव ।

किन्तु लोक मे इस प्रकार अनेक प्रयोग दृष्ट होते है कि— इसका आकार शूर है'' कारण, इस मे विलक्षण स्थूलत्व दृष्ट होता है । किन्तु यह सद्धेतु नही है, कारण, अस्थूलत्व का भी शूरत्व दृष्ट होता है, देखो, अस्थूल सिंह मे जो शौर्य्य है अतिस्थूल मातङ्ग मे वह नही है । वीर प्रसू रमणी का शिशु एव युवा पुत्रद्वयके मध्य मे भी जो आकार गत शूरत्व सुनने मे आता है, वह भी वय परिणाम के तारतम्य के कारण है । इस प्रकार उक्त हेतु व्यभिचारी है, अत शौर्य्यादि गुण आकार के नही हो सकते है किन्तु आकार उसके व्यञ्जक है । अतएव रस का उत्कर्षाधायकत्व ही गुणत्व है यही गुण का मुख्य लक्षण है ॥१॥

किन्तु निरन्तर एकरूप जो आनन्द है वही रस पदार्थ है, एव उक्त पदार्थ के उत्कर्षापकर्ष के प्रति प्रमाण भी नही है, अतएव रस शब्द से यहा आस्वाद को जानना होगा । इस प्रकार रसास्वाद का उत्कर्षाधायकत्व ही गुणत्व है, एव वर्ण समूह ही उक्त गुण के व्यञ्जक है ।

जिस प्रकार रसात्मकता हेतु शब्दार्थ प्रपञ्च काव्य रूप मे व्यवहरणीय है, अर्थात् रसात्मकता हेतु विशिष्ट शब्दार्थ युगल ही काव्य रूप मे व्यवहार हो सकता है इस प्रकार सुकुमारतादि हेतु वर्ण समूह ही माधुर्य्यादि व्यञ्जक अर्थात् सुकुमारतादि विशिष्ट वर्ण समूह का ही रसगत माधुर्य्यादि व्यञ्जकत्व है, इस प्रकार व्यवहार है । अतएव वर्णावली का ही माधुर्य्यादि व्यञ्जकत्व समुचित है ।

उत्कर्षकारिता ही यदि गुणत्व है तो अलङ्कार समूह का भी उत्कर्ष कारिता हेतु उसका भी गुणत्व सिद्ध हो? सत्य है हो सकता है, किन्तु हारादि अलङ्कार जिस प्रकार कण्ठादि अङ्ग की ही शोभा

दोषाणां शब्दार्थाश्रयत्वेन तदपकर्षकत्वमेवास्तु, कथं रसापकर्षकत्वम्, यन्मूला तेषां दोषता ?

उच्यते—यथैव शौर्य्यादयो गुणास्तथैव कातर्य्यादयो दोषा अप्यात्मन एव धर्मास्तस्यैवोत्कर्ष हेतवः उपलभ्यन्ते। एवमेव माधुर्य्यादयो गुणाः श्रुति कटुत्वादयो दोषा अपि रसस्यैवेति।

देहस्य काणत्वखञ्जत्वादि दोषेऽपि काणोऽयं देह—इति न कश्चिदपि वदति, अपितु काणोऽयं देवदत्त इत्याद्येव, नतु देवदत्तो देह —देवदत्तस्य देहोऽयमिति प्रतीते, तेनोपचारादेव दोषाणां रसापकर्षकत्वम्, वस्तुतस्तु शब्दार्थयोरेव। एवं तर्हि अलङ्काराणामप्युपचाराद्रसो कर्षताऽस्तु, सति तेषमपि गुणत्वेन भूयताम् ? नैवम्, तेषां शब्दार्थविलङ्कृत्यैव उपक्षीणत्वात् कथं रसापेक्षत्वं येनोपचारेण भवितव्यमिति ॥२॥

वर्णा माधुर्य्यादि व्यञ्जकाः, सुकुमारत्वादिति नतु सुकुमारत्वं कोमलत्वम्, तस्य शिथिलत्वात्। सुकुमारत्वं रञ्जकत्वम्, यथा (काव्यादर्श १।४३) "शिथिलं मालतीमाला

तथार्देह रूपयो शब्दार्थयोरपकर्षकत्वमस्तु, यन्मूलाः रसापकर्षकत्वमला तथा श्रुतिकटुत्व पुष्टार्थादीनां दोषता। तथा च रसापकर्षकत्वं दोषत्वमिति दोष लक्षणत्वात्तेषां रसापकर्षकत्वाभावेन मास्तु दोषत्वमिति पूर्व पक्षः। ननु सुकुमारत्वं यदि कोमलत्वमुच्यते, तदा वर्णनिष्ठ कोमलत्वं शिथिलत्वमेव भवितुमर्हति तत्तु कठोरवर्ण भिन्ने सर्वत्रैव वर्त्तते ॥२॥

एवञ्चेद् यत्र कवितायां लकार बाहुल्यमात्रम्, तत्र माधुर्य्यं नास्ति, किन्तु भव मते माधुर्य्य व्यञ्जका

सम्पादन करते है, आत्मा की शोभा सम्पादन नहीं करते है उस प्रकार स्वभावोत्त अनुप्रासादि अलङ्कार शब्दार्थ का ही वैचित्र्य वहन करते है, रस का पुष्ट नही करत है।

किन्तु ऐसा होने पर भी श्रुति कटुता अपुष्टार्थतादि दोष शब्दाश्रित होने के कारण शब्दार्थ का ही अपकर्षक हो सकते हैं। 'रसापकर्षक' कसे कहा जा सकता है ?

यन्मूलक उन सबकी दोषता है– उसका वर्णन करते हैं। शौर्य्यादि गुण के समान कातर्य्यादि दोष भी आत्मधर्म्म होने के कारण—उभय ही जिस प्रकार उसका उत्कर्ष एवं अपकर्ष का हेतु रूप मे उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार माधुर्य्यादि गुण एवं श्रुति कटुतादि दोष भी क्रमश रस का ही उत्कर्ष एवं अपकर्ष के साधक है।

देह के काणत्व खञ्जत्वादि दोष होने पर भी,यह देह काण'इस प्रकार कोई नहीं कहता है देवदत्त काण' इस प्रकार ही कहता है, एवं "देवदत्त का देह' इस प्रकार लोक प्रतीति होने पर भी देवदत्त भी कभी देह नही हो सकता है। इस प्रकार उपचार हेतु दोष समूह रसका अपकर्ष कारी हैं, उस प्रकार उल्लेख होता है वस्तुत वे शब्दार्थ के ही अपकर्ष सम्पादक है। इस प्रकार अलङ्कार को जो रसोत्कर्ष कारिता है, वह भी उपचाराधीन हो, ऐसा होने पर उसका गुणत्व हो सकता है। किन्तु वह वास्तविक नहीं हैं। अलङ्कार समूह शब्दार्थ युगल को अलङ्कृत करके उपक्षीण होते है, सुतरा रसापेक्ष होकर रहने की सम्भावना उनसब मे नहीं है। अतः उपचार कसे हो सकता है ॥२॥

लोललिकलिला यथा" इत्याचार्य्यं दण्डिन ।

अत्रापि—लीलालसललिताङ्गी, लघुलघुललनाललाम मौलिमणि

ललितादिभिरालीभि विलसति ललितस्मित राधा ।

तेन सौकुमार्य्यं नाम रञ्जकत्वम् । यदुक्तमन्यै ,—

"कर्त्तार: काव्यशोभाया धर्मा एव गुणा स्मृता ।

अलङ्कारास्तदुत्कर्ष हेतव स्युरिति क्रम ॥"

इति, तदपि नातिललितम् । यत खलु गुणालङ्कारादि मद्वाङ निर्मिति विशेषस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारे न गुणालङ्कारादिभ्योऽन्य काव्य नामा पदार्थोऽस्ति, नापि काव्यादन्ये गुणालङ्कारा , के कस्य शोभाया कर्त्तारो भविष्यन्ति ? ॥३-४॥

बहुतर जकार घटित कोमल वर्णा वर्त्त ते । इत्यतो सुकुमारत्व न कोमलत्वमित्याह—न सुकुमारत्वमिति तस्य कोमलत्वास्य शिथिलत्वरूपत्वात् ।

यथा लोलालिभि कलिला युक्ता मालतीमालेत्यत्र दण्डिनोक्त पद्ये माधुर्य्याभावेऽपि कोमल वर्णा वर्त्तन्ते, एवमत्रापि शृङ्गार वर्णन प्रसङ्ग । ललनाया उत्कृष्ट मुकुटमणि श्रीराधिका सखिभि सह लघुलघु यथा स्यात्तथा विलसतीत्यत्र माधुर्य्याभावेऽपि बहुतर लकारघटित कोमलवर्णा वर्त्तन्ते । रञ्जकत्वमिति—चेतसश्चमत्कार कारित्वमित्यर्थ । यथाद्भुतवस्तु दर्शने सति नेत्रस्य स्फारता जनक चमत्कारोजायते, तथवाद्भुत सुकुमार वर्णाना श्रवणे सति चित्तस्य स्फारता जनक चमत्कारो भवतीति ज्ञेयम् ।

कस्यचिन्मते माधुर्य्याद्या गुणा काव्य पुरुषस्य शोभा कर्त्तार' । अलङ्कारास्तदुत्कर्षहेतव । तन्मत दूषयितुमुत्थापयति—यदुक्तमिति । एत मत दूषयति—यत इति । गुणालङ्कार विशिष्टस्यैव तन्मते काव्यत्वाङ्गीकारे गुणालङ्कारावपि काव्यपुरुषा तर्भूतावेव तत् कथ गुणस्य काव्य शोभाकरत्वम्, कथ वालङ्कारस्य काव्योत्कर्षत्वम् ॥ -४॥

"सुकुमारतादि निब धन वर्ण समूह माधुर्य्यादि गुण का व्यञ्जक होते हैं ।" यहा सुकुमारता शब्द का अर्थ कोमलता ही नहीं है, कारण, कोमलता—शिथिलता स्वरूप है । जिस प्रकार 'मालती माला' विलोल अलिकुल से कलित हुई है ।" दण्डचाचार्य्य के उद्धृत कविता मे अनेक कोमल वर्ण विद्यमान होने पर भी माधुर्य्य का विकाश नहीं हुआ है किन्तु शिथिलता दोष हुआ है ।

उस प्रकार 'ललना ललाम मौलिमणि स्वरूपा लोलालसललिताक्षी, ललितस्मिता श्रीराधा ललित स्मिता श्रीराधा ललितादि आलि वृन्द के सहित विलास कर रही है ।'

इस श्लोक मे अनेक कोमल वर्ण विद्यमान होने पर भी माधुर्य्य का उदय नही हुआ है । अतएव यहाँ सुकुमारता का अर्थ, चित्तरञ्जकता है । कतिपय व्यक्ति कहते हैं—

काव्य का शोभा कर धर्म ही गुण है, एव अलङ्कार समूह समस्त उत्कर्ष के हेतु है, यही क्रम है ।

इस मत भी सु दर नहीं है, कारण, गुणालङ्कारशाली वाङ निर्मिति विशेष को काव्य स्वीकार करने पर गुणालङ्कारादि से भिन्न काव्य नामक पदार्थ का अथवा काव्य से अतिरिक्त गुणालङ्कारादि पदार्थ की सत्ता सिद्ध नही होती है, कौन किसकी शोभाकर होगा ? ॥३-४॥

किञ्च काव्य शोभाया कर्त्तार इत्येकस्यैव काव्यस्य किं सर्वे गुणा शोभाकर्त्तार, किं पृथक् पृथक् ? आद्ये असमग्रगुणयो पाञ्चाली गौडयो काव्य शोभाकरत्वानुपपत्ति । यदि वा पृथगेव तदा (प्रथमकिरणे १६ श्लोके) उज्जत् स्फूर्जद गर्ज्जनै' इत्यादौ सत्यप्योजोगुणे नान्यशोभा, तेन वर्णा एव माधुर्य्यादि व्यञ्जका, माधुर्य्यादयो मधुररसाद्युत्कर्षका इतिस्थितम् ।

ते माधुर्य्यादय पुन ॥

अथ कति ते इत्याहु—

माधुर्यमपि चौजश्च प्रसादश्चेति ते त्रय ।
केचिद्दशेति ब्रुवत एष्वेवान्तर्भवन्ति ते ॥

ते गुणा सप्त, एष्वेव माधुर्य्यादिष्वेव । के ते सप्तेति दर्शयति,—

अथ व्यक्तिरुदारत्व श्लेषश्च समता तथा ।
कान्ति प्रौढि समाधिश्च सप्तैते त सम दश ॥५-७॥
तैर्माधुर्य्यादिभि ॥

स्वस्य शोभाजनकत्वाद्य भावात् दोषान्तर माह— किञ्चेति । अथवस्य काव्य पुरुषस्य सर्वे गुणा एव शोभाकर्त्तारो वा ये, किंवा गुण जन्य शोभा प्रति रीते कारणत्वमिति पृथक पृथक कारणमिति पक्षद्वय क्रमेण दूषयति आद्य इति । गुणभिन्नयो पाञ्चाली गौडीस्वरूपरीत्यो काव्यशोभा करत्वानुपपत्ति, नापि द्वितीय पक्ष इत्याह—यदि वेति । पाञ्चाल्यादीना पृथक शोभा जनकत्वाङ्गीकारे पाञ्चाल्यादीनामपि गुणत्वापत्ति, यदि तत्र गुणत्व वारणाय पाञ्चाल्यादीनामपि गुणत्वापत्ति । यदि तत्र गुणत्व वारणाय पाञ्चाल्यादि रीति भिन्नत्वे सति काव्य शोभाकरत्व गुणत्व मित्युच्यते, तदा । ऊर्ज्जत् स्फुजत' इत्यत्र ओ जोरूप गुणे अव्याप्तिस्तत्र काव्यशोभा जनकत्वाभावात् माधुर्य प्रसाद गुणयोरेव काव्य शोभा जनकत्वम न तु आजोगुणस्येति ज्ञेयम्, पुन स्वमत माह- ते इति । ते सप्त गुणा ॥५-७॥

और भी कहते हैं—"काव्य का शोभाकर धर्म ही गुण हैं" इस लक्षण के अनुसार यावतीय गुण को क्या एकमात्र काव्य का शोभाकर समझना होगा ? अथवा प्रत्येक गुण ही काव्य का शोभाकर है, इस प्रकार जानना होगा ? प्रथम कल्प को स्वीकार करने से असमग्र गुण सम्पन्ना पञ्चाली गौडी रीति का काव्य शोभाकरत्व नही होगा । द्वितीय कल्प मे "जलाद मण्डली समुतद्य विद्युद्दामो से दिग विगन्त को विद्योतित करके" इत्यादि कविता मे ओ जो गुण विद्यमान होने पर भी काव्य की शोभा नहीं हुई है, देखने मे आता है । अतएव वर्ण समूह ही माधुर्य्यादि गुणके व्यञ्जक हैं एव मधुर रसादि का उत्कर्ष ही माधुर्य है, यह स्थिर हुआ ।

सम्प्रति माधुर्य्यादि के मध्य मे कौन कौन उक्त गुण शब्द वाच्य है, उसका वर्णन करते हैं—माधुर्य ओज एव प्रसाद ये तीन गुण हैं, कतिपय व्यक्ति दश गुण का वर्णन करते हैं । किन्तु उक्त तीनके अतिरिक्त जो सात अवशिष्ट हैं, उसका अन्तर्भाव उक्त माधुर्य्यादि गुणत्रय मे ही होता है ।

सप्तानां लक्षणमाह—

प्रसाद एवौजो मिश्रशैथिल्यात्मा भवेद यदि ।
तदार्थव्यक्तिरिष्यत विकटत्वमुदारता ।।
पदानामेक रूपत्व सन्ध्यादावस्फुटे सति ।
श्लेषो मार्गभिद एव समतौज्ज्वल्यमेव हि ॥
कान्ति साभिप्राय तया समास व्यासयो सतो ।
वाक्यार्थे पदविन्यासः पदाथ वाक्यनिर्मिति ।।
पौढिरारोहावरोहक्रम समाधिरिष्यते ।।

तदन्तर्भावे युक्ति वक्ति,—

तेष्वेवान्तभवन्त्येक एके वचित्यबोधका ।
एके दोषपरित्यागाद् गतार्था इति नो दश ।।
अर्थव्यक्ति प्रसादान्त प्रौढिवचित्र्यबोधिका ।।

नतु गुण इत्यथ. ।

समता तु क्वचिद् दोषः,

समता तु क्वचिद दोषोऽपि भवति । कुतइत्यत आह,—

वैषम्य यत्र वाञ्छयते ।
सजातीय-विजातीय-युगपद वर्णने सति ।।

सप्तानामिति—परमत सिद्धाना सप्ताना लक्षण मात्र कृतम्, न तु तेषामुदाहरणम् । अतस्तद्‌ दिना लक्षण व्याख्यादि सम्यक्तया न भविष्यतीति ज्ञेयम् ।

उक्त सातों के नाम इस प्रकार हैं—अर्थ व्यक्ति, उदारत्व, श्लेष समता,कान्ति, प्रौढ़ि, एवं समाधि । पूर्वोक्त माधुर्यादि त्रयके सहित मिलित होकर ये समष्टि मे दश होते है ।।५-७ ।

क्रमश उक्त विषयो के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—प्रसाद गुण यदि ओजोमिश्रित शिथिल्यात्मा होता है तो उसको अथ व्यक्ति कहते हैं । विकटत्व का नाम—उदारता है । सधि प्रभृति अस्फुट होने मे पद समूह का जो एक रूपत्व प्रतीयमान होता है, वही श्लेष है । मार्गभिद का नाम समता है, औज्ज्वल्य ही कान्ति है साभिप्रायता पूवक समास एव व्यास स्थल मे वाक्याथ मे पद वि यास एव पदाथ मे वाक्य रचना को प्रौढि कहते हैं । आरोह एव अवरोह का क्रम ही समाधि है । ये सात—जिस प्रकार युक्ति से पूर्वोक्त तीन मे अन्तभु क्त होते हैं, उसका वणन करते हैं ।

उनके मध्यमे एक उसके अ तभु क्त है, एक वचित्र्यमात्र बोधक है, एक दोष परित्याग के द्वारा गताथ होता है, इस रीति से इन सबके दशविध भेद की आवश्यकता नहीं होती है ।

यत्र परस्पर विसदृशयोर्युगपद् वर्णने सति वैषम्यमभीष्टम्, तत्र समता तु दोषएव, यत्र न तथा तत्र गुण ।

यथा—ऊर्द्ध्वोर्द्ध्व स्पर्धि-गोवर्द्धन शिखरवरोद्धार सारोदधुरोऽहं
शङ्के पङ्केजनेत्रे तव कुचमुकुलालोकने जातकम्प ।
उद्दण्डे कालियस्य स्फुटविकट फणामण्डले ताण्डवाढ्य
सोऽहं राधेऽभिभूतस्तव तरलितया हन्त वेणी भुजङ्ग्या ॥

इत्यादिष्वसमतैव गुण ॥८-१५॥

ग्राम्यकष्टत्वादि हानादपारुष्योररीकृतौ
औज्ज्वल्यरूपा या कान्ति सा माधुर्य्यान्तरस्थिता ॥
अन्ये त्वोजसि वर्त्तन्ते तेन तेन पुनर्दश ॥

अन्ये श्लेष समाध्युदारता ओजस्येवान्तर्भवन्तीत्यर्थ ।

नन्वेव चेत् क्लिष्टत्वदोषनिरसनेनैव प्रसादगुणस्यादिमाधुर्य्य एव लब्धे किं प्रसाद

यत्र न तथेति—न वैषम्यमभीष्ट मित्यर्थ । तत्र समता गुण एव वैषम्यवर्णनमेवाह—ऊर्ध्वोर्ध्वेति । ऊर्ध्वोर्ध्वस्थितान् मेघादीनपि स्पर्धते यो गोवर्धनो गिरिश्रेष्ठ स्तस्योद्धारणे सारोद्धुर श्रेष्ठ सारवान्कोऽहम्, हे पङ्कजनेत्रे राधे ! तव कुचावलोकनेन जातकम्प सन् शङ्के शङ्काविशिष्टो भवामीत्यर्थ । तथा तव तरलितया चञ्चलया वेणी रूपभुजङ्ग्याभिभूत ॥८-१५॥

ग्राम्य कष्टत्वादि दोषाभावादपारुष्यस्याकठोरत्वस्याङ्गीकृतौ या कान्ति सा माधुर्य्यान्तर्भूता न तु पृथक । नवमिति—यथाय घट, अय घट, इति पृथक् पृथक व्यवहार एव घट पटयो पृथकत्वे प्रमाणम्, तत एव नकस्मिन्नन्यस्यान्तर्भाव सम्भवति तथैवाय प्रसाद गुणोऽय माधुर्य्य गुण इति, पृथक व्यवहार एव पृथक्त्वे प्रमाणमित्यर्थ । अ यथा सर्वेषामेव पदार्थाना सर्वेष्व न्तर्भाव प्रसक्त रनवस्था स्यादिति ज्ञेयम् ।

अथ व्यक्ति प्रसाद गुण मे अन्तर्भुक्त होता है, प्रौढि केवल वैचित्र्य का बोधक है, सुतरा उसका गुणत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है। मार्ग भेद स्वरूप समता किसी किसी स्थल मे दोष भी होता है। किस कारण से होता है—उस को कहते हैं, जहा परस्पर विसदृश पदार्थ का युगपद् वर्णन मे वैषम्य ही वाञ्छनीय है, वहा समता दोषके मध्य मे ही परिगणित होती है, तदतिरिक्त स्थल मे उसका गुणत्व है। उदाहरण—

मै ऊर्ध्वोर्ध्ववर्त्ति घनघटास्पर्द्धी गोवर्द्धन गिरि धारण करके धुर्य श्रेष्ठ रूप में ख्यात हूँ। कि तु हे कमल नयने ! तुम्हारे कुच मुकुल विलोकन से सम्प्रति कम्पित एव शङ्कित हो रहा हू।

और भी प्रचण्ड कालिय सर्प का समुद्दण्ड स्फुट विकट फणा मण्डलोपरि ताण्डव कार्य्य मे भी मेरा पाण्डित्य प्रकटित हुआ है, किन्तु हाय ! वही मै तुम्हारी वेणी रूप विषधरी का अवलोकन कर अभिभूत हो रहा हू। इस श्लोक मे असमता ही गुण है ॥८-१५॥

ग्राम्यता क्लिष्टतादि दोषाभाव हेतु अकठोरता का अङ्गीकार स्थल मे जो औज्ज्वल्य रूपा कान्ति

गुणस्य पृथड् निर्देश ? नैवम्, प्रसादस्य स्वत सिद्धत्वात् क्वान्तर्भाव ? अन्यथा ऽनवस्था प्रसक्ते, किञ्च, मतान्तरकथनमेवैतत् तेन दशविधत्व न दुष्टमित्युभयमेवास्माकमभीष्टम् ।१६।

अथ माधुर्य्यादय के त इत्याह, —

रञ्जकत्व हि माधुर्यं चेतसो द्रुति कारणम् ।
सम्भोगे विप्रलम्भे च तदेवातिशयोचितम् ।।

च कारात् करुणादौ च ।।१७।।

चेतो विस्तार रूपस्य दीप्तत्वस्य हि कारणम् ।
ओज स्याद वीर--बीभत्स रौद्रषु क्रमपुष्टिकृत् ।।

दीप्तत्व शैथिल्याभावो गाढतेत्यथ । तच्च चेतसो विस्तारहेतु विस्तारकारण क्रमाद वीरादिषु पुष्टिमहतीत्यर्थ ।।१८।।

श्रुति मात्रेण यत्रार्थ सहसैव प्रकाशते ।
सौरभ्यादिव कस्तूरी प्रसाद सोऽभिधीयते ।।

न वेव चेन् सप्ताना गुणानामपि माधुर्य्यादिष्वप्यन्तर्भावो न सम्भवति, तेषामपि पृथक पृथक व्यवहारा वर्त्तन्ते एवेत्यत आह—किञ्चेति । उभयमिति त्रिविधत्व सप्तविधत्वमित्युभयमित्यथ ।।१६।।

अथेति—ते माधुर्य्यादय के किं स्वरूपा इत्याकाङ्क्षाया तेषा लक्षणमाह—रसनिष्ठमाधुर्य रञ्जकत्वम्, तदेव किमित्यपेक्षायामाह चेतसो द्रुतिकारणमिति । क्रमपुष्टिकृदित्यस्य व्याख्या क्रमादिति ।।१७—१८।।

का आविर्भाव होता है, वह भी माधुर्य्य की अ तर्वर्त्तिनी है । तद्भिन्न श्लेष समाधि एव उदारता ओजो गुण मे ही अन्तर्भुक्त होती है ।

यहा इस प्रकार प्रश्न हो सकता है कि – क्लिष्टतादोषनिरास द्वारा माधुर्य्य के मध्य मे ही प्रसाद गुण को अ तर्भुक्त करना समीचीन होने पर उसका पथक निदश क्या किया जाता है ? कि तु इस प्रकार तक सङ्गत नही है । कारण, प्रसाद गुण- एक स्वत सिद्ध पदार्थ है, उसका अ तर्भाव किस मे होगा ? इस प्रकार स्वीकार न करने पर समस्त पदाथ का ही अ तर्भाव समस्त पदाथ मे होगा, इस से अनवस्था दोष होगा । और भी मता तर का ही उल्लेख हम करते है, उस मे गुण का दशविधत्व दुष्ट नही है, हमारे पक्ष मे उभयमत ही अभीष्ट है ।।१६।।

सम्प्रति माधुर्य्यादि गुण का वणन करते है—रञ्जकता ही माधुर्य्य है, वह चित्त द्रवीभाव के प्रति कारण है सम्भोग एव विप्रलम्भ मे एव करुणादि रस मे उक्त माधुर्य्य की विशेष उपयोगिता है । ओजो गुण चित्त विस्तार रूपदीप्तत्व का कारण है । वीर, बीभत्स एव रौद्र रस मे क्रमश उसकी पुष्टिकारिता है । दीप्तत्व अथ मे शैथिल्य भाव है, अर्थात् गाढता है, वही चित्त का विस्तार के हेतु है, अर्थात चित्त विस्फार का कारण है । वीरादि रस मे क्रमश उसकी पुष्टि कारित है, अर्थात् वीर की अपेक्षा बीभत्स, की अपेक्षा रौद्र मे उसकी पुष्टि कारिता उत्तरोत्तर अधिक है ।।१७ –१८।।

स सर्वेषु रसेष्वेव सवस्वपिच रीतिषु उपयुक्त,

स प्रसाद नामा गुण ।

व्यञ्जका स्यु वर्णाश्च रचना अपि ॥

तेषामित्यर्थात् तत्र वर्णाना व्यञ्जकत्वमिदानी दृश्यते। रचनाया रीति निरूपणे दर्शयितव्यम् ॥१९-२१॥

स्पर्शा स्वपञ्चमाध स्था अटवर्गा लघु रणौ।

माधुर्य्य व्यञ्जका वर्णा नकरूपा क्रमेण चेत् ॥

नैकरूपा इति पथक पृथग वगजा एव। अट वर्गा इति ट वग केवलो वा स्वपञ्चमाध स्थो वा ओजस्येव ॥२२॥

उदाहरणम्—विधाय पुष्पावचय चलन्त्या, मञ्जीरनादो मदखञ्जनाक्ष्या ।

मन्दोऽप्यमन्द हरिमञ्जनाभ कुञ्जशय जागरयाञ्चकार ॥

नकरूपा क्रमेण' इति एकरूपत्वे दूषणम् ॥२३॥

सौरभ्यादिति यथा कस्तूरीग धा वस्त्रादिभिरावृतोऽपिसहसा कस्तूरी प्रकाशयति, तद्वदित्यथ । तेषा माधुर्य्यादीनाम् ॥१९ २१॥

स्पर्शा इति। कादयो मकार पय्य ता वर्णा स्पर्शा इत्यथ तत्र स्वस्य कवगस्य पञ्चम उकारस्तस्याध स्था ङ्क ङ्ख ङ्ग-ङ्घ वर्णामाधुर्य्य व्यञ्जका भवन्ति। एव चवर्गादावपि ज्ञेयम्। अटवर्गा इति- टवर्गास्तु सवथव न माधुर्य्य व्यञ्जक रणौ रेफणकारौ लघु एव माधुर्य्य व्यञ्जकौ। चेद् यदि ते पञ्चमाध स्थवर्णा एकरूप न भवन्ति, तदा माधुर्य्य व्यञ्जका, यदि च एकस्मि नेव काव्ये ङ्क ङ्क ङ्कादि सजातीय वर्णाना धारावाहिकतया निवेश श्चेत्तदा दोषएव उदाहरणे व्यक्ती भविष्यति। तस्मात पयग्वगजा एव पञ्चमाध स्थ सयुक्ता वर्णा ग्राह्या, न त्वेकवगजा इत्यथ ॥२२॥

विधायेति। पुष्प चयन कृत्वाचल त्यास्त या नूपुर नादो म दोऽपि श्रीकृष्णममन्द यथास्यात्तथा जागरयाञ्चकार ॥२३॥

जिस प्रकार कस्तूरी का सौरभ सहसा कस्तूरी को प्रकाश कर देता है,उसी प्रकार जहा श्रवण मात्र से ही सहसा अथ प्रकाशित हुआ है। उसको प्रसाद गुण कहते हैं। उक्त प्रसाद गुण समस्त रस एव समस्त रीति के उपयोगी है।

वर्णावली एव रचना समस्त गुणों की व्यञ्जिका होती है। उसके मध्य मे वणका व्यञ्जकत्व सम्प्रति प्रदर्शित होता है, रचना का व्यञ्जकत्व रीति निरूपण स्थल मे प्रदर्शित होगा ॥१९ २१॥

ट वग भिन्न सजातीय स्पश वण अर्थात् कराम से मराम पय्य त वण समूह यदि स्वस्व वर्गीय पञ्चम वण के अध स्थ होते है तो वह भी लघु र एव ण ये सब वण माधुर्य्य व्यञ्जक हैं। उक्त पञ्चमाध स्थ वण यदि धारावाहिक रूपसे पुन पुन एकरूप होकर ही सन्निविष्ट होत रहते है—तो वह माधुर्य्य व्यञ्जक नहीं होगा। केवल ट वग अथवा स्व पञ्चमाध स्थ ट वग ओ जो गुण स्थल मे ही प्रशस्त है ॥२२॥

यथा—कान्ते निशान्त एकान्ने पादान्ते क्लान्तिमन्त्तति ।
अञ्जस्ते गञ्जनव्यञ्जी मञ्जरी मञ्जुभि स्वन ॥
इत्यादे खल्वनुप्रास रीतिरूढस्य वत्मत ।
माधुर्य्य बहुलत्वेऽपि गौडीया रीतिरिष्यते ॥२४ २५॥
किन्तु—जृम्भते तव कञ्जाक्षि कान्ति काञ्चन बन्धुरा ।
अम्बुदोपरि शम्पेव नन्दनन्दन वक्षसि ॥
इत्यादौ शुष्कमाधुर्य्यम् ॥१६॥
अथौजोव्यञ्जका वर्णा उच्य ते,—
योग आद्य तृतीयाभ्या चेद् द्वितीय चतुर्थयो ।
उपर्य्यधो द्वयोर्वापि रेफेण सह चेद् युत ॥
शषौ टवर्गश्चानन्त्यो वृत्तिदध्य तथौजसि ॥

एक वणस्य स जातीय वर्णाना निवेशे दोषो यथा—का ते—इति । का ते श्रीकृष्णे एका ते निशा ते मन्दिरे त्वामर्न्वष्य पादा ते कान्ति श्रमम तति बध्नति सति, अति अदि बन्धने धातु" । पादा ते श्रम प्राप्नुवति सतीत्यथ । तदा त्व मञ्जीर एव अञ्ज शीघ्र तव गञ्जनस्यात्रव त्व वत्तसे इत्याक्षेपस्य व्यञ्जी प्रकाशक । अनुप्रासरीतियुक्तस्यास्य मागस्य मधुरवण बहुलत्वेऽपि गौडाया रीतिरेवात्र, नतु रसनिष्ठ माधुर्य्यमिति ज्ञेयम् ॥२४ २५॥

हे कञ्जाक्षि ! श्रीकृष्णस्य वक्षसि तव कान्ति जृम्भते प्रकाशते मेघोपरि शम्पा विद्युदिव अत्रेदमेव शुद्धमाधुर्य्यम् । अयमेव अनुप्रास इति गुणालङ्कारयोरविवेको न वाच्य । वर्णानाम त्यमूध्वत्वेनव शृङ्गारोत्कर्षा माधुर्य्यम् । अनुप्रासस्तु तत्तदनपेक्षोऽपि सिध्यतीत्यन्यो भदोपलब्धे ॥२६॥

याग इति । आद्येनाक्षरेण द्वितीयाक्षरस्य योग एव तृतीयाक्षरेण चतुथाक्षरस्य योग , रेफेण सह

उदाहरण प्रस्तुत करत हैं—पुष्प चयन पूवक गमनावसर मे मदखञ्जनाक्षी के चरण कमल से जो म द मन्द मञ्जीरनाद उच्चारित होने लगे, उसने कुञ्जशायी अञ्जनाभ न दन दन को अम द भाव से जागरित करा दिया ।

धारावाहिक रूप से एकरूप होने से जो दोष होता है, उसका उद हरण—प्रस्तुत करते है ॥२३॥

का त एका त वर्त्ती निशान्त क अभ्य तर मे तुमको अन्वेषण पूर्वक पादा त मे क्लान्ति अनुभव करते रहने से त्वदीय मञ्जीर ततक्षण सञ्ज त मञ्जुस्वर से सत्वर तुम्हारी गञ्जना व्यञ्जन कर रहा है । इस पकार अनुप्रास रीति युक्त माग मे मधुर वण बहुल रूपसे प्रयक्त होने पर भी यह गौडी रीति ही हुई हैं, अर्थात् इसमे रसनिष्ठ माधुय्य उत्पन्न नही हुआ है ॥२४ २५॥

कि तु, "अयि पङ्कज लोचने ! अम्बुदोपरि सौदामिनी क समान न दन दन के वक्ष स्थल मे तुम्हारी काञ्चन ब धुरा कान्ति कसे सु दर रूपसे विजम्भित है" इत्यादि श्लोक शुद्ध माधुय्य का ही उदाहरण स्थल है ॥२६॥

ककखट, रुक्खेला, अच्छ कच्छ, उत्थान, ककुप्फेन । एव रुग्घास, उज्झितम्, बद्ध, ककुब भास, अक, शक्र, शषौ स्पष्टौ । टवर्ग श्चानन्त्य इति किम् ? रुट रुड् ॥२७--२८॥

उदाहरणम्—ऊर्ध्वोर्ध्वं सर्वमूर्ध्ना मुकुट तटलुठद्रत्नदीप्तिच्छटाभि

श्छन्न यत् पादपीठ प्रकटितपटिमप्रौढि गर्भमहोभि ।

शर्वादे गर्वखर्वी करणचल भुजादण्डशौटीर्य्य चण्ड

शिष्टाऽभीष्ट कृषीष्ट प्रचुरघनघृणा विक्रमचक्रपाणि ॥

एष ओजोमार्ग ॥२९॥

अटवर्गैररेफैश्च क्ख-ग् घाभ्याञ्च विवर्जितै ।

अयुक्तश्च महाप्राणैर्मध्यता प्रतिपद्यते ॥

मध्यता मध्यौजस्त्वम्, क्ख- ग् घाम्यामिति अच्छादि वजन न कार्यमित्यर्थ, महाप्राणैरिति ह् कारेण सह वगचतुर्थस्तै, अयुक्तै केवलरित्यथ । चकारात् क्वचित् सयुक्तैश्च ॥३०॥

वर्णस्योपरि युतिर्योग यथाक तथा वर्णस्याधोयोगे शक्र । उपरि अधोदेशे च योगे रेफेण सह यथा दुग्र ह । अन त्य इति - अकार सहित एव ट ठादयो वर्णा ओजोव्यञ्जका, नतु अकार रहिता रट रुड इति वर्णा ॥२७-२८॥

ऊर्ध्वोर्ध्व यस्य पादपीठ सर्वेषा देवताराजप्रभृतीना मूर्ध्ना मकुट सम्बर्धिरत्नदीप्तिच्छटाभिस्तेजोभि करण महादेवादेरपि गर्व खर्वी करणे ख्यातो यो भुजादण्डस्तस्य शौटीर्ये पर क्रमे प्रचण्डश्चक्रपाणि शिष्टानामभीष्ट कृषीष्ट । कथम्भूत ? प्रचरमेघतुल्यकृपा विक्रमो यस्य स । एष मध्यम ओज व्यञ्जक वर्ण ॥२९॥

करुणरसे कस्यचिन्मते चारु स्यात्, कस्यचिन्मते न ॥३० ३१॥

सम्प्रति ओजो व्यञ्जक वर्णावली का वर्णन करते हैं। वर्ग के आद्य वर्ण के सहित द्वितीय वर्ण के सहित चतुर्थ वर्ण का यदि सम्मिलन होता है, एव उपरि वा अधोभाग मे अथवा उभयत्र ही यदि रेफ के सहित सयोग होता है, तादृश स्थल मे एव अन न्त्य ट वर्ग, श, ष एव दीर्घ समास स्थल मे ओजो गुण की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार कक खट रुक खेला, अच्छ, कच्छ, उत्थान, ककुप फेन रुग्घास उज्झित, बद्ध ककुब भास अक, शक्र दुग्र ह। अन न्त्य ट वर्ग अर्थात् अकार युक्त ट वर्ग, उसके विपरीत जिस प्रकार रुट रुड इत्यादि ॥२७-२८॥

ओजो मार्ग का उदाहरण—ऊर्ध्वोर्ध्ववर्त्ती जिनके पाद पीठ देव नृपति साधारण के शिर शोभि-मुकुट तट लुठित रत्नदीप्तिच्छटा से आच्छन्न होकर रहता है। जिनकी प्रभूत अनुकम्पा सम्पात से धराधर भी अधरीकृत हुआ है, जो प्रकटित पटुतातिशयशाली तेज पुञ्ज के द्वारा शर्वादि के गर्व खर्व करण क्षम चञ्चल भुज दण्ड के पराक्रम से प्रचण्ड हुये हैं। वह चक्रपाणि शिष्टजन के अभीष्ट को परिपुष्ट करें ॥२९॥

ट वर्ग एव रेफ शून्य, कख एव ग घ विवर्जित एव असयुक्त महाप्राण वर्ण मध्यमरूप ओजो गुण का व्यञ्जक होता है। हकार के सहित वर्गस्थ चतुर्थ वर्ण महाप्राण वर्ण, वह असयुक्त अर्थात् केवल, क्वचित्

शृङ्गारेऽप्येष चारु स्यात् करुणादौ भवेन्न वा ।
माधुर्य्य व्यञ्जकैर्वर्णैर्युक्तश्चेदतिसुन्दर ।
गाढबन्ध स आख्यात॰ पाठे वदनपूर्त्तिकृत् ॥३१॥

यथा—कस्तूरी तिलकायित निजती सौभाग्यलक्ष्म्या घन
स्निग्ध श्याममपातयाममधिकश्लाघ्य मुहु पातु व ।
आभीरीस्तनकुम्भकुङ्कुमरसासङ्गेन सौगन्ध्यभाग
ब्रह्मानन्द महासुधाम्बुधिरह सन्दोहदोह मह ॥३२॥

यथा वा—सान्द्रानन्दघन घनाघनघटास्निग्धज्ज्वलश्यामल
ज्योत्स्नाजालजटालमालय इव प्रेमणा त्रिलोकीश्रियः ।
कृष्णस्याङ्गमनङ्ग सङ्गरलसद् गोपाङ्गनापाङ्गक
व्यासङ्गेन तरङ्गित मम मन. सङ्गित्वमङ्गीक्रियात् ॥३३॥

ब्रह्मानन्द रूप महासुधाम्बुध सकाश दपि यो रह सन्दोहो रहस्य प्रेमानन्द समूह स्त पूर्व्याल य म हस्तेज स्वरूप वस्तु तद् वो यष्मान् पातु । कथम्भूतम् ? मेघ तुल्य स्निग्ध श्याम पुनश्चापालयाममगत — रसमेन रात्रिमित्यर्थ, पुनश्च निजगती सौभाग्यसम्पत्तिरूपाया नायिकाया कस्तूरी तिलकायितम् ॥३२॥

यथा वेति । क दपयुद्ध लसद् गोपाङ्गनाया स्निग्धाप ङ्ग व्यसनन तरङ्गित चञ्चल त्रिलोक्या शोभा रूपस्य श्रीकृष्णस्यसङ्गकत्तु मम मन सङ्गित्वमङ्गीक्रियात् मम मनसि सदास्फुरत्वित्यर्थ । कथम्भूताम् ? सान्द्रानन्दनिविड पुनश्च वषु कमघ घटा तुल्य स्निग्ध श्यामल ज्योत्स्ना समूहै जटाल युक्तमित्यर्थ ॥३३॥

सयुक्त होने पर भी ओजो गुण का व्यञ्जक होता है। क ख एव ग घ वर्जित अर्थात् अच्छ कच्छ इत्यादि विवर्जनीय नहीं है, यह मध्य मौजाव्यञ्जक वर्ण शृङ्गार रस मे चारुतर होता है। करुणादि रस से उसकी चारुता किसी के मत मे है और किस के मत मे नही हैं। माधुर्य व्यञ्जक वर्ण युक्त होने से वह अति सुन्दर होता हैं वह गाढ बन्ध होने के कारण, आख्यात होता है, एव उसको पढने से मनभर जाता है ॥३०-३१॥

त्रिजगत् की सौभाग्यलक्ष्मी के कस्तूरीतिलकायित, अम्बुद सदृश स्निग्धश्याम वर्ण, समधिक श्लाघ्य, नित्यनव रसालय वह तेज पुञ्जमय पदार्थ, जो गोपाङ्गना वृन्द के कुच कुम्भ कुङ्कुम रसके ससग से सौगन्ध्य शाली हो रहे हैं, ब्रह्मानन्द स्वरूप सुधा समुद्र को अतिगूढ प्रेमानन्द परम्परा जिनके द्वारा परि पूरित होता है, वह तुम सब की रक्षा सतत करें ॥३२॥

उदाहरणान्तर प्रस्तुत करते हैं—वर्षण शील जराव जाल के स्निग्धोज्ज्वल श्यामल ज्योति पुञ्ज के द्वारा जो समुज्ज्वलित है, स्मरसमर शोभिनी गोपसीमन्तिनी के अपाङ्ग व्यासङ्ग से जो तरङ्गित हैं, त्रिजगत् के प्रेम निकेतन, सान्द्रानन्द गहन वह श्रीकृष्ण कलेवर निरन्तर मदीय भव चिन्ता चञ्जर इस हृदय मन्दिर मे परिस्फुरित हो ॥३३॥

प्रसादस्य व्यञ्जिका तु केवल रचना मता ।
न तत्र वर्ण प्राधान्य प्रसादो विशदार्थता ॥

सर्वेष्वेव रसेषु प्रसादस्योपयोयुक्तत्वान्न वर्णगतनियम ॥३४॥

उदाहरणम्—कोपे यथाभिलषित न तथा प्रसादे,
वक्त्र विधे सततमातनुमानमस्या ।
इत्याकलय्य दयितस्य वचोविभङ्गी
राधा विवर्त्तितविनम्रमुखी बभूव ॥३५॥

यद्यपि गुणपरतन्त्रा, रचनाद्यास्तदपि वक्त्रादे ।
औचित्यात्तदधीना, भवन्ति तस्माद् गुणोऽपि तदधीन ॥

तस्माद्धेतोवक्त्रादेर्वक्तृवाच्यबोद्धव्याना तदधीनो वक्त्राद्यधीन । उद्धते वक्तरि उद्धतमोज, धीरोदात्ते वक्तरि मध्यममोज, धीर ललिते वक्तरि माधुर्य्यम्, प्रसादस्तु सार्वत्रिक इति ।३६।

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे गुणविवेचनो नाम षष्ठ किरण । ६॥

विशदार्थ तान्न कष्ट विना अर्थबोधकता, प्रसाद स्तस्य व्यञ्जिका रचना एव ।३४।

मान जन्य कोपे यथा तव वक्त्र मति ललितम्, तथा प्रसादे न । तस्मात् हे विधे ! अस्या मान सदा विस्तारयेति श्रीकृष्णो वचसो भङ्गीमाकलय्य ॥३५॥

यद्यपीति सूत्रम् औचित्यात्यादिति यथा वक्तुरधीना रचनाद्यास्तद् युक्त पक्षेऽपि ओजो माधुर्य्यादि गुणादयोऽपि भवन्तीत्युचितत्वादित्यर्थ ॥३६॥

इति सुबोधिन्यां षष्ठ किरण ॥६॥

विशदार्थता को ही प्रसाद कहते हैं । समस्त रसो मे उसकी उपयोगिता हेतु उस मे वर्णगत विशेष नियम नहीं है । केवल रचना ही उक्त प्रसाद गुण की व्यञ्जिका है ॥३४॥

कोप के समय इनके मुख कमल जिस प्रकार सुललित होता है, प्रसाद समय मे भी उस प्रकार सुन्दर नहीं होता है । इस हेतु हे विधे ! मेरा सविनय निवेदन, तुम सतत इन का मान विस्तार करो । दयित के इस प्रकार वचन भङ्गिको को सुनकर रसमया राधिकाने निज मुख मण्डल को विवर्त्तित एव विनमित किया ॥३५॥

यद्यपि रचनादि गुण परतन्त्र है तथापि वक्ता,– वाच्य एव बोद्धव्य के औचित्यानुसार रचना उस के ही अधीन होती है, अतएव गुण भी वक्ता प्रभृति का अधीन होना उचित है ।

जिस प्रकार उद्धत वक्ता स्थल मे उद्धत ओज, धीरोदात्त वक्ता के स्थल मे मध्यम, ओज एव धीर ललित वक्ता के स्थल मे माधुर्य्य ही विहित है । प्रसाद गुण सर्वत्र ही प्रशस्त है ॥३६॥

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे श्रीहरिदास शास्त्रिकृतानुवादे

सप्तम किरणः

अथ शब्दालङ्कार–निर्णयः

अथ (प्रथम किरणे प्रथम कारिकायाम्) उपमितिमुखोऽलङ्कृति गण ' इति यदुक्त तत्र मुख–शब्दस्य मुख्यार्थत्वादमुख्यस्य प्राप्तौ प्रथमतोऽमुख्य शब्दालङ्कारमेवाह,—

एकेनार्थेन यत् प्रोक्तमन्येनार्थेन चान्यथा ।
क्रियते श्लेष काकुभ्या सा वक्रोक्ति भवेद् द्विधा
श्लेषोऽपि च भवेद् द्वेधा सभङ्गाभङ्ग भेदत ।
श्लेषेण काक्वा वा, श्लेषेश्च द्विधा,—अभङ्ग , सभङ्गश्चेति ॥१ २॥

अत्राभङ्ग श्लेषेण यथा—

कस्त्व श्याम हरिर्बभूव तदिद वृन्दावन निभृ ग
हहो नागरि माधवोऽस्म्यसमये वशाखमास कुत ।
मुग्धे विद्धि जनार्दनोऽस्मितदिय योग्या वनेऽवास्थति
बलिऽह मधुसूदनोऽस्मि विदित योग्यो द्विरेफो भवान् ॥३॥

अथ शब्दालङ्कारनिर्णय.

अथालङ्कारो द्विविध —अर्थालङ्कार शब्दालङ्कार श्चेति । तत्र पूर्वोक्तोपमितिमुखोऽलङ्कृतिगण इत्यत्रोपमिति प्रभृत्यर्थालङ्कारो मुख्य , वक्रोक्त्य दि– शब्दालङ्कारो गौण । अत आदौ गौणालङ्कार - मेवाह– अथेत्यादिना । अभिधा वृत्त्या एकेन र्थेन यद् वस्तु प्रोक्तम् श्लेष काकु रूपाभ्या व्यञ्जनावृत्तिभ्या प्रोक्त नान्येनार्थेन तद् वस्त्व यथा क्रियते तत्रस्थले शब्दनिष्ठवक्रोक्त्यालङ्कारा ज्ञय ॥१ २॥

श्रीराधिका आह—हे श्याम ! त्व क ? अभिधावृत्त्या प्रत्युत्तरमाह– हरिरिति । पुन श्लेषरूप व्यञ्जनावृत्त्या हरि शब्दस्य सिंह परत्वमभिप्रेत्य श्रीराधिका पूर्वार्थमन्यथा करोति– बभूवेति । जानान्दयतीति श्लेषण जनपीडक , अतो वनेऽवस्थिति स्तव योग्यव । द्विरेफो भ्रमर श्लेषेण, द्वौ रेफौ

उपमा प्रमुख काव्य पुरुष के अलङ्कार समूह स्वरूप हैं ।' प्रथम किरण मे इस प्रकार जो कहा गया है इस में प्रमुख शब्द की मुख्यार्थता हेतु कतिपय अमुख्य अलङ्कार भी हैं, अत उक्त शब्द इसका भी बोध होता है । अधुना प्रथमत उक्त अमुख्य शब्दालङ्कार का विवेचन करते है ।

अभिधा वृत्ति के द्वारा एकार्थ मे जो वस्तु उक्त होती है, श्लेष एव काकु के द्वारा यदि तदितर अ य वस्तु प्रनीत होती है । तो श्लेष मूला एव काकु मूला ये द्विविध वक्रोक्ति होती है । श्लेष भी सभङ्ग एव अभङ्ग भेद से द्विविध है ॥१ -२ ।

उनके मध्य मे अभङ्ग श्लेष सम्पादित वक्रोक्ति का उदाहरण—"हे श्याम ! तुम कौन हो !"

सभङ्गो यथा – कान्ते कीर्त्तिरकीर्त्तिरेव वद मे किञ्चिज्जडेभ्य पर
धीरा कापि भवत्यहो कथमहो बुद्धिभवेत् पूर्णिमा ।
का मेधा तव भूयसी न मदने त्वय्येव मे धारण
त मा मास्पृश न स्पृशेयमिति स श्रीमान् जितोराधया ।।४।।

काक्वा यथा—न वदसि हरिणापि पृच्छ्यमाना, न वत विलोकयसे विलोक्यमाना ।
निजमभिमतमीह्यतामिदानीं, विधु वदने समय, स नो न भावी ।।

यन्नति व्युत्पत्त्या त्व ववराऽपि यो हि गोपालक, सहि ववरो भवतीति प्रसिद्धे ।।३।।

'हे कान्ते' श्रीकृष्णेन सम्बोधिता मानिनी 'अह ते न कान्ता भवामि' इत्यथ व्यञ्जयन्ती 'का अन्ते नाशे सति तिष्ठति' इति प्रश्नोस्योत्तरमाह– कीर्त्तिरकीर्त्तिरेव मत्यस्य जनस्य कीर्त्य कीर्त्ती एव तिष्ठत, ना यत् किञ्चिदित्यथ, 'किञ्च मे वद' इत्युक्ता सा 'त्वया सह सम्बन्ध एव मम नास्ति, अतएव कि वक्ष्यामि' इतीममथ व्यञ्जयन्ती चिद्वस्तु किमिति प्रश्नस्योत्तरमाह—जडभ्य परम् जडभिन्नमित्यथ । 'धी—बुद्धि कथ राका पूर्णिमा भवेत् का मेधा बुद्धिस्तव' इत्युक्ते कामे क दर्पे मम धा धारणमित्युच्यते चेत् मम क दर्पे धारण नास्ति, कि तु त्वय्येव' इति प्रश्नस्योत्तर लब्ध्वा यत् किञ्चित् सरसतायां तत्तस्मात् 'मामास्पश' इति प्रश्ने त्वामह न स्पृशेयम्' इत्युत्तर कुवत्या राधया जित एव ।।४।।

इदानी मानस्य दाढ्य रूप निजमभिमतमीह्यता क्रियतामित्यथ । यस्मिन् समये सङ्कुत मुरली

"सुन्दरि ! "मै हरि हू" "यह वृन्दावन तो मृग शून्य हो गया है, यहा हरिकी सम्भावना कहा है ?" "अयि नागरि ! मै माधव हू" असमय मे माधव वा वैशाख मास की सम्भावना कसे हो सकती है ?" 'मग्धे ! मै जनादन हू" ' ऐसा हो सकता है, ऐसा होने पर लोकालय मे न रहकर इस वन मे रहना ही ठीक है" "बाले ! मै मधुसूदन हू" 'उचित है—उपयुक्त द्विरेफ ही आप्य हैं ।।३।।

सभङ्ग श्लेष के द्वारा प्रकाशित वक्रोक्ति का उदाहरण—

'का ते' कह कर श्रीकृष्ण सम्बोधन करने से मानिनी राधिका 'का+अन्ते' अर्थात् अन्त का अवसान म कौन अवशिष्ट रहता है, इस अथ को लेकर कही थी—कीर्त्ति एव अकीर्त्ति उभय ही रहती हैं उत्तर मे श्रीकृष्ण बोले—मेरे सम्बन्ध मे किञ्चित् कहो, अन्त मे कौन रहता है, इस विषय मे मैने कुछ भी नहीं पूछा । राधिकाने 'किञ्चित्' शब्द का 'कि+चित्' चित् कौन पदाथ—इस अथ का लेकर उत्तर दिया—जड भिन्न जो वस्तु वही चित् है ।

श्रीकृष्ण, उनके इस प्रकार कथन वचित्र्य से चमत्कृत होकर कहे थे—'धीरा कापि भवत्यहो' तुम अति धीरा वा पण्डिता हो । राधा—उक्त धीरा कापि' वाक्य का अर्थान्तर को लेकर बोली, धी अर्थात् बुद्धि कसे राका अर्थात् पूर्णिमा हो सकती है ? श्रीकृष्ण,—पुनर्वार चमत्कृत होकर कहे थे— का मेधा तव भूयसी' अर्थात् तुम्हारी मेधा कसी विपुला है ? राधिका उक्त का मेधा तव' इत्यादि वाक्य का ही अर्थान्तर करके बोली—काममे मेरी धारणा नहीं है तुम्हारे मे ही मेरी धारणा है । इस प्रकार उत्तर से सन्तुष्ट होकर श्रीकृष्ण कहे थे—"त मामास्पृश" अर्थात तुम मुझको स्पश करो । राधा उस वाक्य का ही 'मा' अर्थात् मुझ को स्पश न करो । इस प्रकार अथ करके बोली, तब तुम को स्पश नहीं करूँगी । इस प्रकार 'वाक वदग्ध्य से श्रीकृष्ण श्रीराधिका के द्वारा बारम्बार पराजित हो गये ।।४।।

अपितु भाव्येव, यदा तु भविष्यति, तदा वकल्यञ्च द्रक्ष्याम इति भाव ।।५।।

अनुप्रास्यत इत्यर्थेऽनुप्रासो वण साम्यत ।

स जातीय वणमनु सजातीयवर्णान्तर प्रकर्षेणास्यत इति व्युत्पत्ति ।६।

स च द्वेधा छेकवृत्तिभेदात्,

छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्चेति स द्वेधा ।।७।।

छेक सकृत्तया ।

एक वारानुन्यासेन छेक स्यात् ।।८।।

यथा—धाम श्याममिद श्रीद जगतोऽविरतोदयम् ।

ध्येय गेयञ्च सवषा दृशो प्रेम यशोमयम् ।।

अत्र मकारादीना सकृदनुन्यासश्च ।।९।।

माधुर्य्य व्यञ्जकत्वेन स एव ह्युपनागर ।।

स एव वर्ण विन्यास ।।१०।।

ध्वनि भविष्यति, स समयो नोऽस्माक न भावी ? अपितु भविष्यत्येव । तदा स्वयमेव मान विहाय व्याकुला भूत्वा तन्निकटे गमिष्यसीत्यपि तव वक्तव्य द्रक्ष्याम ।।५।।

अनुप्रास रूप शब्दालङ्कार माह—अन्विति । अनुपश्चात् पास्यते प्रकर्षेणास्यते क्षिप्यते इति व्यत पत्या यत्र सजातीय वणस्य पश्चात् सजातीय वण प्रक्षप स्तत्रानुप्रासोऽलङ्कारो ज्ञेय । सकृत्तया सकृत्तेन। तथा च यत्र सजातीय वण द्वयस्य सकृत् प्रयोग तत्र छेकानुप्रासो ज्ञेय ।।६ ८।।

इद श्याम धाम श्रीकृष्णाख्यो देहो जगत श्रीद शोभादायकमित्यथ, सर्वेषा दशो प्रेम प्रेमास्पदमित्यथ । यशोमय—यश स्वरूपम् । आधिक्य विवक्षया धमनिर्देश । अय साक्षात् पाण्डित्यमितिवत् । अत्र मकार द्वयोयकार द्वयोश्च सकृदेव पाठ ।।९।।

काकु के द्वारा प्रकाशित अथ का उदाहरण—

सखी वृन्दा बोली थीं, राधे ! श्रीहरि जिज्ञासा करने पर भी कुछ भी नही कहती हो कृष्ण- निरीक्षण करने पर भी एकवार दृष्टि पात नही करती हो, इस विषय मे हम सब क्या कहे । अपना अनुभव को कहो, कि तु हे विधु वदने ! हम सब को वह समय क्या नही मिलेगा ? यहा काकु लभ्य अथ यह है कि हमारा वह समय अवश्य ही आयेगा एव उस समय हम सब तुम्हारी विकलता को दखेगे ।।५।।

अनु पश्चात् प्रास प्रकृष्ट रूप से निक्षेप—स्थापन, अर्थात् जहा सजातीय वण के पश्चात् सजातीय वर्णान्तर का स्थापन किया जाता है, इस प्रकार व्युत्पत्ति के द्वारा अनुप्रास पद निष्पन्न हुआ है। छेकानुप्रास एव वृत्त्यनुप्रास भेद से अनुप्रासालङ्कार द्विविध है। उक्त रीति से एकवार मात्र वि यास होने पर उसको छेकानुप्रास कहते है ।।६- ८।।

उदाहरण—त्रिभवन का सौ दय्य सम्पादक सतत समुदित यह श्यामधाम ध्येय गेय यशोमय एव निखिल नेत्र का प्रेम निलय है। यहा मकार द्वय एव यकार द्वय का एकवार ही पाठ हुआ है ।।९।।

यथा—अनङ्ग भङ्गलारम्भे सम्भेद स्वेद कम्पयो ।
शङ्के पङ्केरुहदृशो न रस्यानन्दमत्तता ॥११॥
एकस्यात्यथवाऽनेकस्याम्रेडिततया यदि ।
न्यास स्याद वृत्त्यनुप्रास ॥१२॥
यथा—धामश्यामलमुद्दाम कामकोटि मनोहरम् ।
ध्येय गेय समास्थेय समानेयञ्च मानसे ॥१३॥
अनेकस्य यथा—विविध बधूबधसाधो, विरम रमानाथ नाथ्यता नाथ ।
कैतव विज्ञ समज्ञा, तव विज्ञातु न विज्ञाऽहम् ॥१४॥
एष च द्विविधो भवेत् ॥
माधुर्य्यौजोऽनुकूलत्वात्, ॥१५ १६॥

छेकानुप्रासस्यैव माधुर्य्य व्यञ्जक -वर्ण घटितत्वेनाथनामर इति सज्ञा भवति ॥१०॥

श्रीकृष्णेन सह स्वयूथेश्वर्य्या सम्भोग गवाक्ष द्वारा पश्यन्ती काचित् सखी अन्या सखी प्रत्याह — कमलदृशोऽस्या सम्भोगस्यारम्भे एव स्वेद कम्पयो सम्भेद रूपो विघ्ना जात । अतो विघ्नवशाद् वपरीत्यादि घटित सम्पूर्ण सम्भोगोऽपि न भविष्यतीति । अतएव या अ न दस्य मत्तता अतिशय सा रस्या नेत्यह शङ्के ॥११॥

एकवर्णस्यानेक वर्णस्य वा आम्रेडिततया द्वि स्त्रिरुक्ततया यदि न्यास स्यात् । पूर्वोदाहरणे मकार धकारयो सकृन्निवेश , अत्रोदाहरणे मकाराणा यकाराणा पुन पुन रुक्तिरिति ज्ञयम् ॥१२॥

समास्थेय सम्यग विश्वसनीयमित्यथ ॥१३॥

काचित् मानिनी प्रार्थना कुर्वन्त श्रीकृष्णमाह—विविधेति हे देव मनुष्यादि बधूबधे साधो त्व विरम । अथान्न्तर न नाथ्यता न याचञा क्रियताम् । हे कैतवविज्ञ ! तव समज्ञा कीर्त्ति विज्ञातुमह न विज्ञा ॥१४॥

एष वृत्त्यनुप्रास ॥१५ -१६॥

माधुर्य्य व्यञ्जक वर्णघटित होने मे वही उपनागर नाम से अभिहित होता है ॥१०॥

अनङ्ग देव के मङ्गलमय आरम्भ मे ही जब स्वेद एव कम्प का सम्भेद को देख रही हू । तब सरोरुहाक्षी की यह आन द मत्तता सुन्दर रसावह नही होगी वह प्रतीत होता है ॥११॥

एक वर्ण अथवा अनेक वर्ण का यदि पुन पुन विन्यास होता है, तो उसको वृत्त्यनुप्रास कहते हैं ॥१२॥

एक वर्णका उदाहरण—यह श्याम काम, उद्दाम कामकोटि के समान कमनीय एव हृदय मे सतत ध्येय, गेय समास्थेय एव समानेय है ॥१३॥

अनेक वर्णो का उदाहरण–तुम विविध बधूओंका बध करने मे सुदक्ष हो । हे रमानाथ ! क्यो अनाथ के समान अयथाचित प्रार्थना कर रहे हो निवृत्त हो जाओ, हे कैतव विज्ञ ! मै तुम्हारे यश को जानने के निमित्त अभिज्ञा नही हूँ ॥१४॥

क्रमेणोदाहरणे—अनङ्ग सङ्गरासङ्गे भङ्गिमेव स सङ्गम ।
सङ्गीतरङ्गो तन्वङ्गी सङ्गी रासङ्गतो हरि ॥१७॥
उद्दण्डकामकण्डूलबाहुमण्डलचाण्डमा ।
श्रीखण्डपिण्डहिण्डीर पुण्डरीक यशा हरि ॥१८॥

चकारात् पदावयजोऽपि च ।
यथा—उददाम माधवी दामकण्ठ उत्कण्ठया हरि ।
राधा नाति दुराराधा ससार रससारवित् ॥१९॥
एवमोजस्यपि 'षष्ठ किरणे २६ श्लोक' 'ऊध्वोर्ध्व सर्वमूर्ध्नाम्' इत्यादि।
कोमललोलाट इष्यते ।
कोमलवर्णानुप्रासो लाटानुप्रास ।
उदाहरणम्–(षष्ठ किरणे तृतीय श्लोक) 'लीलारस ललिताङ्गी लघु लघु ललनाललाम मौलिमणि' इत्यादि ।
एष केश्चिच्छिथिल इत्युच्यते ॥२०॥
तद्रूपस्य मात्रभेदे स्याल्लाट इत्युच्यतेऽपरै ॥

रास यत स हरि, क दपयुद्धा सङ्गे जङ्गमा भङ्गिमा इव। काम कण्डुया विशिष्ट—बाहु मण्डलस्य चण्डिमा यस्य, श्रीखण्डपिण्ड म्चन्दनपिण्ड, हिण्डीर फेन पुण्डरीक—श्वेतकमलम्, एषामिव श्वेतयशो यस्य ॥१९-२०॥

माधुर्य एव ओजो गुणकी अनुकूलता हेतु भेद के कारण यह अनुप्रास द्विविध हैं ॥१५ १६॥

प्रथमोक्त का उदाहरण—रास सङ्गत श्रीहरि, कृशाङ्गी वृन्द को सङ्गिनी करके सङ्गीत तरङ्ग मे रङ्गमय हुए है। प्रतीत होता है, अनङ्ग सग्राम के प्रसङ्ग मे भङ्गिमाने ही जसे जङ्गम मूर्त्ति को धारण किया है ॥१७॥

द्वितीय का उदाहरण—भगवान् वैकुण्ठ नाथ काम कण्डूल उद्दण्ड बाहु मण्डल मे प्रचण्ड हुये हैं तदीय यश पुञ्ज भी श्रीखण्ड पिण्ड, हिण्डीर (फेन) एव पुण्डरीक के समान धवलिमा को धारण किया है ॥१८॥

उक्त अनुप्रास पदावयव घटित भी होता है। उदाहरण—रससारविद् दामोदर उद्दाम माधवी दाम कण्ठ मे धारण पूवक उत्कण्ठित हृदय मे दुराराधा श्रीराधा के अनुसरण किये थे ॥१९॥

ओजो गुण के स्थल मे भी इस प्रकार जानना होगा।

उदाहरण—ऊध्र्वोर्ध्ववर्त्ति जिनके पादपीठ इत्यादि श्लोक है। कोमल वर्णघटित अनप्रास को लाटानुप्रास कहते है। उदाहरण—ललनाललाम मौलिमणि स्वरूपा लीला रसललिताङ्गीललितस्मिता श्रीराधा इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक है। शिथिल ब ध हेतु—कतिपय व्यक्ति इस को शिथिल कहते है ॥२०॥

शब्दार्थयोरभेदेऽपि तात्पर्य्यमात्रभिन्नत्वेलाटो विदग्धस्तस्य प्रियत्वात् लाटानुप्रास इत्यपरैरुच्यते ॥२१॥

पदस्याप्येष,

एष लाटानुप्रास॰। पदस्यापि, अपि शब्दात् पदांशाना पदाना मपि ॥२२॥

क्रमेणोदाहरणानि—कृष्णत्वेन सखि प्रादुर्भावो मन्ये मनोजने॰।

मनोजने पुनरियद् वैदग्धी वैदुषी कुत ॥२३॥

रत्नानि रत्नाकर एव सन्ति, पुष्पाणि पुष्पाकर एवधत्ते।

गुणो गुणज्ञे लभते प्रकाश, यशो यशोदा सुत सेवयैव ॥२४॥

पदाना यथा—येषा न वृन्दावन चन्द्रलीला, हृद्यस्ति तेषामपरगुणै किम्?

येषान्तु वृन्दावन चन्द्र लीला, हृद्यस्ति तेषामपरै र्गुणै किम्? ॥२५॥

तत्रैव वृत्तावन्यत्र वा पुन।

वृत्त्यवृत्त्योश्च वा नाम्न सारूप्येस्यादथापर॥

तत्रव वा समासे ऽन्यत्र वा ऽसमासे, समासासमासयो र्वा, नाम्न एव, नतु पदस्य, सारूप्य सत्यपरो लाटानुप्रास ॥२६॥

एष लकारघटितानप्रास। लकार बाहुल्येन शिथिल बन्धाच्छिथिल उच्यते। इतीद पद्य पूर्वमेवावरत्वेनोक्तम्। तस्य लाटस्यास्य पदानामनेकेषामपि ॥२१ २२॥

मनोजने कन्दर्पस्य कृष्णत्वेन प्रादुर्भावोऽह मन्ये। हे सखि! कन्दर्पस्यापि पुन कृष्णस्येव इयद् वैदग्धीना वदुषी पाण्डित्य कुत? अत्रेक पदस्यानुप्रास। अस्यव भिन्नार्थत्वे यमको भवतीति ज्ञेयम् ॥२३॥

पदांशानामुदाहरणमाह—रत्नाकरानीति। रत्नाकरे समुद्रे, पुष्पाकर उपवनादि ॥२४-२५-२६॥

शब्द एव अथ का भेद विद्यमान न होने पर भी जहाँ केवल तात्पर्य्य का भेद होता है, कोई कोई उस प्रकार कहते हैं। लाट अर्थात् अविदग्ध जन प्रिय होने के कारण—इस का नाम लाटानुप्रास है। एक पद मे, पदांश मे एव बहु पद मे भी होता है ॥२१ २२॥

क्रमपूर्वक उदाहरण—हे सखि! बोध होता है कि—कृष्ण स्वरूप मे ही मनोभवका आविर्भाव हुआ है। अन्यथा मनोभव का इस प्रकार वदग्धी विज्ञता कैसे सम्भव हो सकता है ॥२३॥

रत्नाकर मे ही रत्न विराजित है पुष्पाकर ही पुष्प समूह को धारण करता है। गुणज्ञ समाज मे ही गुण समूह प्रकाशित होते है। यशोराशि भी यशोदाकिशोर की सेवा से ही सुलभ होती है ॥२४॥

जिसक हृदय मे वृन्दावन चन्द्र की लीला विलास नही करती है। उसको अपर गुणो से क्या प्रयोजन है? किन्तु जिसके हृदय मे वृन्दावन चन्द्र की लीला विराजित है उसको अपर गुण से क्या प्रयोजन है? ॥२५॥

समास वा असमास मे अथवा सम सासमासस्थल मे नाम वा प्रातिपदिक की एकरूपता होने पर

उदाहरणम्—हिम किरण किरण मधुरा, राका राकामताशुमुख भवत ।

विरहे विरहे मूर्च्छा, सख्यस्ता केवल दहति ॥२७॥

नेह—सुहिम हिमकर मधुरा मधुराकारा निशा निशातेय ।

तव रुचिर चिरविलम्बे प्रदहति ता कृष्ण कृष्णवर्त्मेव ॥

इदन्तु यमकान्तर्गतमेव, भिन्नभिन्नार्थकत्वात् । तदेव वर्णितश्छेक वृत्तिपदावयवैक पदनाम सारूप्यात् षट प्रकारोऽनुप्रास ॥२८॥

यमक त्वर्थभिन्नाना पदादीना समाकृति ।

क्वचिन्निरर्थकानाञ्च सार्थानिर्थवता क्वचित ॥

परस्परमर्थगत भेदवता पदादीना नाम–पद–पदावयव वाक्याना समा आकृति सारूप्य यमकम् ॥२९॥

एतच्च पादजत्वेन नवधा,

एतत् यमकम् ॥३०॥

नाम्न प्रातिपदिकस्य समान रूपत्वेन तुनामविभक्ति घटित पदस्य । राकामृताशु पूर्णिमा च द्र, तत्तुल्यमुखेति श्रीकृष्ण सम्बोधनम् । तव विरहे मूर्च्छारूप सख्याञ्च विरहे राका पूर्णिमा ता दहति ॥२७॥

राकाकथम्भूता ? हिमकिरणश्च द्रस्य किरणेन मधुरा इय मधुराकाथा वस त कालीन पूर्णिमाया निशा निशाता विरहिण्या दु खदायकत्वेन तीक्ष्णा हे कृष्ण ! हे रुचिर कृष्ण वर्त्मा अग्निरिव ता दहति । निशाकथम्भूता ? सुमहिम चन्द्रेण मधुरा मधुरेत्यादि पदाना भिन्नाभिन्न र्थत्वादिदमुदाहरण यमकान्तर्गतमिति ज्ञेयम् । अतोऽत्रोदाहरणे यमकत्वमनुप्रासत्वमुभयमपि वर्त्तते । एवमिति च्छेकानुप्रास एक, वृत्त्यनुप्रासो द्वितीय, लाटानुप्रासश्चतुर्विध । एव क्रमेण षट प्रकारोऽनुप्रास ॥२८–२९–३०॥

अपर प्रकार लाटानुप्रास होता है ॥२६॥

उदाहरण— हे पूर्णिमा च द्र वदन ! हिमकर किरण समूह से माधुर्यमयी यह पूर्णिमा तुम्हारे विरह मे एव मूर्च्छारूपा सखी क विरह मे उस कामिनी का दग्ध कर रही है ॥२७॥

सु महिम—हिमकर मण्डल मे सुमधुरा यह मधुराका निशा निशात होकर तुम्हारे सुचिर विलम्ब हेतु, हे रुचिर—श्रीकृष्ण ! कृष्णवर्त्मा अग्नि के समान निर तर उसको दग्ध कर रही है ।

भिन्न अर्थ होने के कारण यह पद्य यमक का ही अन्तर्गत है, इस प्रकार छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास एव पदावयव, एकपद, अनेकपद एव नाम सारूप्य भेद से चतुर्विध लाटानुप्रास, समष्टि मे षड विध अनुप्रास का वर्णन हुआ ॥२८॥

परस्पर अर्थगत भेद विशिष्ट पद, पदावयव एव वाक्य का समान रूप होने से यमकालङ्कार होता है । क्वचित् निरर्थक पदादि, कहीं तो कियदंश मे निरर्थक एव कियदंश मे सार्थक, उक्त पदादि स्थल मे भी यमक होता है ॥२९॥

यह यमक पाद घटित होकर नवधा होते हैं ॥३०॥

प्रथमस्य तु ।
द्वितीयेन तृतीयेन चतुर्थेनेति तत्त्रिधा ॥३१॥
द्वितीयस्तु तृतीयेन चतुर्थेनेति च द्विधा ।
तृतीयस्तु चतुर्थेनेत्येक एवेति षड्भिद ॥३२॥
प्रथमस्त्रिष्वपीत्यन्त इति सप्त द्वय पुन ।
प्रथमस्तु चतुर्थेन द्वितीयस्तत् परेण च ।
प्रथमस्तु द्वितीयेन तृतीयस्तत् परेण च ॥

प्रथमो द्वितीयेन ततीयेन चतुर्थेनेति त्रयोभेदा । द्वितीयस्तृतीनयेचतुर्थेनेति च द्वौ । तृतीयश्चतुर्थेनेत्येक । प्रथमस्त्रिष्वपीत्येक । प्रथमश्चतुर्थेन द्वितीयस्तृतीयेनेत्येक । प्रथमो द्वितीयेन तृतीयश्चतुर्थेनेत्येक —एव नव ॥३३॥

अर्द्ध श्लोक श्लोकयोश्चावृत्त्या द्वेधा भवेदथ ।
तेनकादश भेदा स्यु पद भागे च पूर्ववत् ।
नवधेति भिदा ज्ञेया विंशतिर्यमकोद्भवा ॥

पादजत्वमेवाह—प्रथमस्येति । प्रथम चरणस्य द्वितीय चरणेन सह समानरूपत्वे एको यमक, त्रिविधोऽपिभेदोज्ञेय । प्रथम चरण त्रिष्वपि चरणेषु वर्त्तते इत्येको भेद । तेन सप्तभेदा भवन्ति । पुन भेदद्वय भवति । तदेवाह—प्रथम चरणश्चतुर्थ चरणेन सह, द्वितीय चरणस्ततीय चरणेन सहैकस्मि नेव पद्ये समानश्चेदेको भेद । तथा प्रथम चरणो द्वितीय चरणो द्वितीय चरणेन सह ततीय चरणस्तु तत्परेण चरणेन सह, एकस्मिन्नेव पद्ये समानश्चेद् द्वितीयो भेद एवञ्च पूर्वै सह नवधा भेदो भवति । एतत् सूत्रस्य विवरण माह—प्रथमद्वितीयेनेत्यादि ॥३१-३३॥

अथ श्लोक श्लोकयोश्चावृत्त्या पादस्य चरणस्यत्रिखण्डत्वे त्रिंशद् भेदा इत्यस्यार्थोऽग्रे उदाहरणे

परस्पर अथगत भेद विशिष्ट पद, पदावयव एव वाक्य के समान रूप होने से यमकालङ्कार होता है। क्वचित् निरर्थक पदादि, कहीं पर कियदश मे निरर्थक—एव कियदश मे सार्थक, उक्त पदादि स्थल मे भी यमक होता है ।

यह यमक पाद घटित होकर नवधा होते हैं। प्रथम पाद का द्वितीय, ततीय एव चतुर्थ—इन तीनो के सहित समानता के कारण त्रिविध भेद होते हैं। द्वितीय पाद का ततीय एव चतुर्थ—इन दो पाद के सहित द्विभेद होते हैं। तृतीय पाद का केवल चतुर्थ पाद के सहित होकर एक भेद होता है। इस प्रकार षड भेद होते हैं।

प्रथम चरण की समानता चरण त्रय मे वर्त्तमान होने पर उस मे एक रूप भेद होकर सप्तविध भेद सिद्ध होता है। प्रथम चरण- चतुर्थ चरण के सहित एव द्वितीय चरण ततीय चरण के सहित समान होने से एक भेद होता है। प्रथम चरण—द्वितीय चरण के सहित एव ततीय चरण चतुर्थ चरण के सहित समान होने मे एकभेद होता है। इस रीति से नव भेद होते है ॥३१-३३॥

अर्ध श्लोक वृत्त्या च पुनरेकादश । पुन पादस्यभागे च अद्‌यमक तत् पूर्ववन्नवधेति विंशतिर्भेदा ॥३४॥

पादस्य तु त्रिखण्डत्वे त्रिशद् भेदा प्रकीर्त्तिता ।
चतु खण्डत्वे पुन श्चत्वारिंशद भवेद् भिदा ॥ ३५॥

दिङ्मात्र मुदाह्रियते—

सुरतरुरेष नताना, सुरतरुचि र्गोपतरुणीनाम् ।
त्रिभुवनजनकमनीयो, जयतादाभीरराज- युवराज. ॥३६॥

सुरसाथ भूषित पदै ब्रह्मादिभिरधिकभक्तिसन्नम्रै ।
सुरसाथ भूषित पदै स्तवै स्तुत केशिहा जयति ॥३७॥

मन्मथनमदन्तरया, कुटिलोऽञ्जन कालकूटाक्त. ।
प्रियसख कटाक्षविशिखो मन्मथनमद स राधया ससृजे ॥३८॥

जयति व्रजपतितनयो, नमदनमत्तुल्यकारुण्य ।
न मदनमत्तुल्यहृता, काऽपि बिना येन मा लुर्दास ॥३९॥

व्यक्ति भविष्यति ॥३४-३५॥

नताना भक्ताना सुरतरु कल्पवृक्ष , गोपरमणीना सुरते रुचियतस्तथाभूत ॥३६॥

सुराणा साथ समूहस्तेन भूषितौ पादौ येषा त ब्रह्मादिभि सुरसो योऽर्थस्तेन भूषितानि पादानि येषु त स्तवै स्तुत श्रीकृष्ण ॥३७॥

मन्मथेन कामेनाभिलाषेण नमत् नम्रम तर यस्या , तया राधया मम मथने मदो गर्वो यतस्तद्‌ यथास्यात्तथा स कटाक्ष रूपो वाण ससृजे ॥३८॥

नमति नम्रे अनमति अनम्रे तुल्ये कारण्य यस्य स । यद्वा, नमति नम्रे, अनमत् सुदढ तुल्यमेकरस

अध श्लोक की आवृत्ति एव सम्पूण श्लोक की आवृत्ति द्वारा द्विधा भिन्न होकर एकादश प्रकार होते हैं। एव पदाश मे पूर्वोल्लिखित नव भेद सिद्ध होते है, अत विंशति प्रकार भेद होते हैं । समष्टि मे विंशति प्रकार यमक के भेद होते हैं ॥३४॥

पाद की द्विखण्डता स्थल में त्रिशत् भेद एव चतु खण्डता स्थलमे चत्वारिंशत् भेद कीर्त्तित हुये है ।३५॥

मूल श्लोक मे प्रदत्त उदाहरण—समूह का उल्लेख करते हैं—प्रतण जन सुरतरुस्वरूप, गोपतरुणी-सुरत रुचिशाली, त्रिभुवन जन कमनीय, आभार राज युवराज की जय हो ॥३६॥

सुरसाथ भूषित पद, भक्तिभरावनत पद्मासनादि कत्त क सुरसाथभूषित पद स्तव समूह से जो सतत स्तुत होते रहते हैं, इस प्रकार केशिनिसूदन की जय हो ॥३७॥

हे सखे ! मन्मथ—नमद त करणा श्रीराधा कत्त क मन्मथन मद क सहित अञ्जन रूप कालकूट दिग्ध—अतिकुटिल कटाक्षवाण मरे प्रति विमुक्त हुआ है ॥३८॥

राधासुकुमार तनु—र्मदनबधानादुपैष्यति ग्लानिम् ।
बद्धोऽयमञ्जलिरस्ते, मदनबधार्थं न ता वितुदे ॥४०॥
व्रजपतिनन्दन नन्दय, नन्दय वृषभानुनन्दिनी हृदयम् ।
मदन मदनोज्ज्वलमतुल, मदमदौज प्रसादमाधुर्य्यम् ॥४१॥
कानन जयति यत्र सदा सत्, कान नन्दति यदेत्य मुखश्री ।
का न नन्दतनयस्य मनोज्ञा, कानन धयति वा न हि तस्य ॥४२॥

यथा वा—नवपयोधर कान्त विरम्यता, न वप यौधरस हृदि मान्मथम् ।
नवपयोधरकान्त स वै भवान्, नवपयोऽधरप प्रतियोषिताम् ॥४३॥

कारुण्य यस्य स । येन व्रजपति तनयेन विना हे मदन ! त्वं मा तुदसि, अतएव मत्तुल्या हता दुःखिता कापि न ॥३९॥

ममानवधानात् हे मदन ! ता बधाय त्वं न वितुदे ॥४०॥

न दय न दयेति वीप्सा मदन मत्ततयोज्ज्वल मदेन गर्वेण नमित, भावाधिक्यात् भुग्नानि ओज प्रसाद माधुर्य्याणि यत्र तद् हृदयम्,, ओजो बलम् ॥४१॥

कानन वृन्दावन जयति, सदा सद् वर्त्तमान नित्यमित्यर्थ । यत् काननमेत्य प्राप्य का सुख श्रीन नदति, न वर्धते अपि तु वर्धत एव सर्वत्र सुखसम्पत्ति । का वा गोपी नन्दतनयस्य न मनोज्ञा, अपितु सर्वत्र । न केवल मनोज्ञा, अपितु का वा न दतनयस्याननं न धयति, अपि तु सर्वैव ॥४२॥

हे नवपयोधर कान्त ! हे नवमेघ श्याम ! मान्मथ योऽधरस हृदि न वप, न रोपय इत्यर्थ । नवपयोधरा कान्ता यस्य हे तादृश ! नवा नवीनास्तासां प प्राण शोषण यत प ओ वै शोषणे' हे मज्जीवन शोषकेत्यर्थ । यस्त्वं प्रतियोषिता मद्विपक्ष रमणीनामधरप, अधर पिबसीति ॥४३॥

व्रजराज कुमार की जय हो, विनत एवं उद्धत उभय विध जनके प्रति ही आप करुण हैं, मैं उनकी विरह भागिनी हो गई हू, मेरे तुल्य हतभागिनी और कौन है ? हे मदन ! तुम भी उपयुक्त अवसर प्राप्त कर मुझ को निपीडन कर रहे हो ॥३९॥

राधा—अति सुकुमाराङ्गी मेरा अनवधान मे ही वह ग्लानि प्राप्त कर रही है, हे मदन ! तुम्हारे समीप मे यह अञ्जलि बन्धन कर रहा हूँ । तुम और उसको खरतर शर के प्रहार से बध न करो ॥४०॥

हे व्रजेन्द्र नन्दन ! वृषभानुनन्दिनी के उस मदनमदोज्ज्वल अतुल हृदय है, जहा मदाधिक्य से ओज प्रसाद माधुर्य्य अधरीकृत होता है, उसको तुम अमन्द भावसे आनन्दित करो ॥४१॥

सतत विद्यमान् उस वृन्दावन की जय हो जिसको प्राप्त करने से समस्त सुख सम्पत्ति सम्बर्द्धित होती है, वहा कौन गोपाङ्गना नन्दनन्दन की मनोज्ञा नही है, किसने वा उनका मुखचन्द्र को चुम्बन नहीं किया है ॥४२॥

उदाहरणान्तर— हे पयोधर कान्त ! तुम्हारी नव पयोधर कान्ता सुखी रहे, मेरे हृदय मे योधरस आरोपण की आवश्यकता नहीं है विरत होओ । तुम मादृश नवीना के प्राण शोषण मे एवं विपक्षरमणी

कामन्दधाना हृदयेऽनुराग, स्मरालसाङ्गी विदुनोति बाला ।
स्मरालसाङ्गी कुरुता मुकुन्द, कामन्दधाना न भवेद विना त्वाम् ॥४४॥
समस्त कल्याण गुणैक वारिधे, समस्तवास्ते कतमस्त्रिलोकधाम् ।
नमामि मे माधव सम्प्रसीद, न मानिने घ्नन्तु दुरन्त तापा ॥४५॥

यथा वा—सदानन्दमय वपुस्ते, सदा सदासीनिकर पुरश्च ।
महो महोद्दामरसस्तवाय, महो महो भूरि तवैव कृष्ण ॥

पादज नवधा यमक दर्शितम् ॥४६॥

अथ पादभागजानि दर्श्यन्ते—
कलह कलहसाना कलह क—ल—हसका ।
अभ्यस्यन्तीव गोपीना चरणाम्भोजवासिन ॥४७॥

काम यथेष्ट हृदयेऽनुराग दधाना बाला दुनीति । अतस्ता स्मर, अङ्गी कुरु च । हे अलस ! त्वा विना का म दधाना न भवेत्, अपि तु सर्वैव, धान धारणम्, मन्व धारण यस्या, दु स्थितेत्यर्थ ॥४४॥

त्रिलोक्या तव सम कतम आस्ते, मे मह्य प्रसीद, इमे दुरन्ततापा मा न घ्न तु, न खण्डयन्तु ॥४५॥

हे कृष्ण ! तव निश्चिनमाश्रय्य भूरि प्रचुर महस्तेजोऽस्ति न केवलमिदमेव, अपितु तवाय मह उत्सव एव महानुद्दामरसश्च पुनरपि तव दासदासी निकर मह वर्त्तमान पुरमस्ति, सदा कालत्रयेऽपि चिदानन्दमय नित्यानन्दस्वरूप वपुर्विग्रह श्चास्ति, अतस्तव सम कुत्रापि नास्तीत्यर्थ ॥४६॥

गोपीना कलहसका क सुख लातीति तथाभूता हसका पादकटका कलहसाना कादम्बाना कलहमभ्यस्यन्तीव, ते यथा परस्पर कहलाय ते, तथा कलहायन्ते इव । कीदृशम् ? कलमव्यक्त मधुरध्वनि जिहीते प्राप्नोतीति तथा तद्ध तीति वा, हन्तारमित्यर्थ ॥३७॥

के अधर पान मे विशेष दक्ष हो, यह मै जान गई हू ॥४३॥

स्मरालसाङ्गी श्रीराधा हृदये प्रचुर अनुराग धारण कर क्लेश भोग कर रही है । हे अलस शिरोमणे मुकुन्द ! तुम उसका स्मरण कर ग्रहण करो, तुम को प्राप्त न कर कौन कामिनी दु स्थिता नहीं होती है ? ॥४४॥

हे माधव ! तुम समस्त कल्याण गुणो का एक समुद्र स्वरूप हो त्रिलोकी के मध्य मे समान कौन है, तुमको मै नमस्कार करता हू । तुम मेरे प्रति प्रसन्न हो, ये दुरन्त ताप समूह जसे मुझको व्यथा प्रदान करे ॥४५॥

हे कृष्ण ! तुम्हारा शरीर सदासदान दमय है, पुर भी सदास दासी निकर अर्थात् दास दासी निकर के सहित वर्त्तमान है । उत्सव भी अति उद्दाम रसमय, एव तेज भी अति प्रचुर है । रस का अनुभव मै कर रही हू ।

पद घटित नवधा यमक का प्रदर्शन हुआ ॥४६॥

पाद भाग घटित यमक का प्रदर्शन कर रहे है—गोपी वृन्दो के चरण कमल व्यापी कलध्वनि मय

मधुरा मधुराकाया रजनी सा यदजनि।
मधु–राम–धुरा कासा तदा नासीद्धरे पुर ॥४८॥
साध्वसाध्वन्य दत्ताङघ्रि गुरूणामपि सन्निधौ
कृष्ण वीक्ष्योत्सुका सासीत् साध्वसाध्वविचारत ॥४९॥
काञ्चीदाम्नो रवस्तस्या रणतोऽरणतोऽतनो ।
रण–तोरणतो भूरिश्रिण कृष्ण–मनोऽहरत् ॥५०॥
दृशोरगोचरेणैव हरिणा हरिणाक्षिते । कपोलभित्तिर्मानेभहरिणाहरिण कृति ॥५१॥
अगोचरे सति हरौ दहत्येष मनो मम। मदनो मदनोदेनाऽमदनोमदनोजसा ॥५२॥
सदास दासीनिकरे परिच्छदे, सदा सदानन्दविलासविग्रह ।

मधुराकायाश्चन्त्र पौर्णमास्या मधुरा रात्रियदा अजनि, तदाहरेरग्रे का सा पीयमान मधुभी रामधुरा रमणातिशयो नासीत् ॥४८॥

साध्वसाध्वनि साध्वस पथे न कदापि दत्तौ अङघ्री यया सा गुरूणामप्यग्रे उत्सुका आसीत् । स धु च असाधु च तयोरविचारत ॥४९॥

काञ्चीदाम्न कथम्भूतस्य ? अरणतो गमनतो हेतो रणत शब्दायमानस्य अतनो कदर्पस्य रणता-रणतोरण सम्बन्धिन स्तोरणाद् वन्दन मालाया सकाशादपि भूरिश्रिण भूयसी श्रीयस्य तस्य काञ्चीदाम्नो रव श्रीकृष्णस्य मनोऽहरत् । न पु सकाद् ह्रस्वोनुभागमश्च ॥५०॥

दृशोरगोचरत्वेनैव सता हरिणा श्रीकृष्णेन तव कपोलभित्ति हरिणाकृति पाण्डुच्छविरभूत् । कीदृशेन ? तव मान एव इभो हस्ती तस्य हरिणा तस्य हरिणा सिंहेन ॥५१॥

मदनो मनोदहति । केन ? मदनोदेन मत्तता खण्डनेन कीदश ? मदनोजसा ममावल्येण (दुर्बलत्वेन) अमदनोऽहर्षण मविहर्ष ॥५२॥

हसक (नूपुर) समूह कलहसकुल के परस्पर कलह जसे अभ्यास कर रहे है ॥४७॥

मधु राकाकी मधुरा रजनीके समागममे हरिके सम्मुख भागमे कौन रमणी मधुपानसे अतिरमणीया नही हुई ? ॥४८॥

श्रीकृष्ण—दृष्टि गोचर होने से साहसवती श्रीमती राधिका साधु असाधु विचार रहिता होकर गुरु जन वृन्दके सन्निधान मे ही निरतिशय उत्कण्ठिता हो गई ॥४९॥

गमन के समय मे मधुर ध्वनि कारी अतनु का रण तोरण से भी प्रचुर कान्तिधारी तदीय काञ्ची कलाप की कलध्वनि ने श्रीहरि के अन्त करण को हरण किया ॥५०॥

अयि हरिणाक्षि ! मानमतङ्गज के केशरि स्वरूप वह श्रीहरि नयन युगल के अगोचरीभूत होने पर भी तुम्हारी यह कपोलभित्ति हरिणकान्ति से मण्डित हो गई ॥५१॥

श्रीकृष्ण—दृष्टि के बहिर्भूत होने से मेरी विकलता को देखकर मदन मदीय विनोदन कार्य मे तत्पर नहीं होता है, किन्तु प्रभूत मत्तता को खण्डन पूर्वक चित्त को दग्ध करने मे प्रवृत्त होता है ॥५२॥

स दासदाक्षिण्य कृपादिभिगु णै, सदासदारो विललास माधव ॥५३॥

केशिनाकेशि नाथेन, कामिनाऽकामि नारद ।
कामिना कामि ना वा श्री, केशिना केशिनाशिना ॥५४॥

रत्याऽविरत्या विवृता नवीनं, रत्याविरत्याविमनोजराग ।
रासेऽचरा सेचनकं विलासं, रासे च रासे चतुरा मृगाक्षी ॥५५॥

एवमष्टादश— मनोजहार प्रतिमा समाना, सरस्वती ते मदसुस्वरूपे ।
मनोजहार प्रति मा समाना, सरस्वती ते मदसु–स्वरूपे ॥५६॥

परिच्छद सद सदासन् आन द मयो विलासो विग्रहश्च यस्य स, स माधव, दा दानम्, आसो दीप्तिर्दाक्षिण्यञ्च तदादिभिगु ण सन् आस उपवेशो येषा ते दारा यस्य स ॥५३॥

केशिनाशिना कृष्णन का वा श्रीर्ना आमि न प्रापि अपितु सववेत्यथ । अम् गतौ । अमा नो ना प्रतिषेध' कामिना अभिलाषवता केशिना प्रकृष्ट केशेन को ब्रह्मा तस्य ईश्वरेण वा, केशि कस्य जलस्य इद् ईश्वरो वरुणस्तस्मिन्, तथा नाकेशि इन्द्रे च न आदरोऽकामि, न चक्र — इत्यथ । कुत ? नाथेन सर्वेश्वरेण, क सुखममितु प्राप्तु शील यस्य तेन, पूणसुखेनेत्यथ ॥५४॥

सा मृगाक्षी विलास कत्त भि, आमे "अस दीप्त्याधानयो" आध इत्यथ । कीदश ? आसेचनक "तदासेचनक तप्ते र्नास्त्य तो यस्य दशनात् ।" त्वा कीदशी ? रासे अचला अचञ्चला,— रासे रस समूहे च चतुरा । अविरत्या—विरति रहितया रत्या प्रीत्या विवृता विशेषेण वृता । तथव अत्यावि, अतिप्रकट यथा स्यात्तथा नवीनमनोजराग कत्त भि, अत्याविअतिशयेन ररक्षे ॥५५॥

हे मदसुस्वरूपे मत् प्राण तुल्ये ते तव सरस्वती वाणी मे मनोजहार । कीदृशी ? मामा प्रतिसमाना सादरा, पुन कीदृशी ? मनोजस्य हार प्रतिमा मुक्ताहार तुल्या हृदय धारणार्हेत्यथ । समाना अवक्रा मदस्य मत्ततायाः यत् सुष्ठु स्वरूप तस्मिन् सरस्वति समुद्रे इते सङ्गते, हे मत्त मत्तता समुद्र प्रविष्टे– इत्यथ ॥५६॥

स दास दासी निकर समग्र परिच्छेद से परिवेष्टित, सदा सदानन्द विलासमय विग्रह दया दान दीप्ति दाक्षिण्यादि गुण गण विभूषित, सदारा वह दामोदर कसे सन्दर विराजित है ॥५३॥

केशी — क ब्रह्मा एव ईश महादेव जहा निज अश मे विराजित है, एव ना केशि — स्वर्गाधिपति नाथ का भी, वह कृष्ण आदर नही चाहते हैं, गोकुल कामिनी कामुक, केशिनाशी सुकेशधारी वह केशव कौन सम्पद के अधिकारी नही हे ? अर्थात् पूण है ॥५४॥

अविरत इति भाव विवृता, रस समूह चतुरा, रासे अचरा— अर्थात् अचञ्चला,— वह मृगाक्षी नवीन मनोजराग कत्त क अति प्रकट रूपमे अनुक्षण रक्षित हुई थी एव नयन युगल के आसेचनक विलास राशि मे विशेष दीप्त हुई थी ॥५५॥

इस प्रकार अष्टादश भेद होते है — अयि मदसुख स्वरूपे ! मत् प्राण तुल्ये ! तुम मदसुस्वरूप अर्थात् साक्षात् मत्तनारूप समुद्र मे प्रविष्ट हो तुम्हारी तुलना नही है, मनोज की मुक्ताहार सदृशी, अथच मत् प्रति

अर्द्धावृत्ति ।

न वशी कर मासाद्य यमानुजानिभङ्गत ।
कस्या विशदता याति मनोमानपरिप्लवम् ॥५७॥
न वशीकर मासाद्य यमानुर्जानि भङ्गत ।
कस्याऽविशदता याति मनोमान परिप्लवम् ॥५८॥

श्लोकावृत्ति । अयमेव समुद्गक ।

एव विंशति —आद्यन्तमध्य मेदेनक्रमादथ समुच्चयात् ।
अन्तादि भेदन पुन बहुधायमकक्रिया ॥५६॥

क्रमेणोदाहरणानि, आदियमक यथा—

कलाकलापेन गरीयसा हरि, न दीनदीप्ति करुणारसाम्बुधि ।
सुरासुराणा मुकुटाटवीमणि, सदा सदानन्द चिदात्मको बभौ ॥६०॥

अथ सवास्त्राणा वैयर्थ्ये यथा ब्रह्मास्त्र प्रयोग क्रियते, तथव मानभङ्गाथ नानाविधोपायाना वपर्थ्ये सति श्रीकृष्णेनापि सङ्केत मुरलीवादन क्रियते, मुरली श्रवणमात्रेणापि विगत माना स्म प्रसन्ना बभूवेत्याह नेति। वशा कर कलमासाद्य प्राप्य यम—नियमासनाद्यष्टाङ्ग योगस्य प्रथमो यम, तस्यानु पश्चात् जनिरुत् पत्तिर्यस्य स नियमस्तस्यभङ्गत तथा श्रीकृष्णेन सह मया कदापि सङ्गो न कत्तव्य इति यो नियमस्तस्य मुरलीश्रवणेन भङ्गा मानेन परिप्लव चञ्चल कस्या मनोविशदता नयाति, अपि तु सर्वासामेव ॥५७॥

पुनस्तस्यैव श्लोकस्यार्थान्तरमाह—यमानुजनियमना पुण्यनदी तस्या भङ्गतस्तरङ्गात् जातो जो नवीन शीकरो जलकण स्तमासाद्यमानेनाभिमानेनार्थाद् गर्वेण दाषेण वा परिप्लव कस्य मानोऽविशदतां याति, अपि तु सर्वेषामेव, —यमुनाजल स्पशस्य सवदोषनाशकत्व प्रसिद्धेरिति भाव ॥५८–५६॥

आदियमकम्, अन्तयमकम् मध्ययमक, आद्यन्त मध्ययमकम् अन्तादि यमकमिति पञ्चभेदा ॥५६॥

कलाना वदग्धीना गरीयसा कलापेन समूहेन न दीना अपि तु सर्वोत्कृष्टा दीप्तिर्यस्य स हरि

सुन्दरा सरला वाणी मदीय चित्त को अपहरण किया है ॥५६॥

अर्द्धावृत्ति का उदाहरण— वशी की कल ध्वनि श्रवण कर यम एव नियम भङ्ग होने से कौन कामिनी का मान परिप्लव को प्राप्त नहीं करता है ? एव यमुना तरङ्ग के नवशीकर सस्पश से किस का मान परिप्लव चित्त—अविषाद भाव को प्राप्त नहीं करता है ॥५७॥

एव यमुना तरङ्ग के नवीन शीकर सस्पश से किसका मान परिप्लव चित्त अविशदभाव को प्राप्त नही करता है ? ॥५८॥

इसका नाम—श्लोकावृत्ति है। यही समुद्गक नाम से अभिहित होता है ॥५८॥

इस प्रकार से यमके विंशति प्रकार भेद होते हैं। आदियमक, मध्ययमक अन्तयमक, आद्यन्त यमक एव अन्तादि यमकभेद से यमक अनेक प्रकार होते हैं ॥५६॥

अन्तयमक यथा—रोषेण शश्वद्ध हि नागरी गरीयसा कठोरत्वमुपेत्य भात्यभा।
विहाय मान हरिमानयाऽनया, धिया हि सर्वं भवतीहितं हितम् ॥६१॥

मध्य यमक यथा—मदन सङ्गरसङ्गरसाकुला, भवविहारिणि हारिणि माधवे।
कुसुम राजि विराजि विभूषणा मधुपराग पराग पराचिता ॥६२॥

आद्यन्त मध्य यमक यथा—

भासो भासो मरीच्य समधुर-मधुर प्रेयसी प्रेय-सीमा।
वृन्दा वृन्दावन श्रीरुपवन पवनभ्रान्तिरभ्रान्ति रम्या।

सच्चिदानन्द स्वरूप सदाबभौ ॥६०॥

गरीयसा शश्वद्रोषेण कठोरत्वमुपेत्य कापि नागरी नहि भाति। यतोऽभा—विगत कान्ति का, तस्मात्मान विहाय स्वनिकट हरिमानय। अनयाधिया तव सर्व हितमोप्सितम् वाञ्छित भवति। वर्त्तमान सामीप्ये वर्त्तमानप्रयोग ॥६१॥

हे विहारिणि! मना हारिणि माधवे सति मदन युद्धस्य सङ्गे यो रसस्तेनाकुला भव। कथम्भूता? कुसुम श्रेणिभि-विराजित भूषण यस्यास्तथा भूता सती। तथा मधुपाना रागोरञ्जन येभ्यस्तथाभूतः सुगन्ध पराग पराचिता व्याप्तासती च ॥६२॥

उद्दीपन विभावमाह भास इति। भ सश्च द्रस्य मरीच्य किरणा, भा शोभामस्य तीति भास शोभा निक्षेपिका इत्यर्थ। "भासश्च द्रभासयो पुमान्" इति मेदिनी। तथा वृन्दावनस्य श्री शोभा कीदृशी? समधुरा शृङ्गार रस सहिता। एव मधुराश्च या प्रेयस्य स्ताभि प्रेय पूरयितुमह सीमावन्द यस्या सा। तथा च वन्दावनीय शोभाया सीमा व दोऽवधि समूह प्रेयसीना साहित्येनवेति ज्ञेयम्। तथोप वनेषु पवनस्य भ्रान्ति भ्रमणम्। सा कीदृशी? अभ्रान्ति रम्या अभ्रान्ति व दावनीयोपवने मम मन्द गमनमेवोचितमिति या सावधानता तया रम्या।

आदि यमक का उदाहरण-गरीयान् कला केलाप से अदीन दीप्ति शाली, सुरासुर मकुट मण्डलमणि, सदासदानन्द चिदात्मा, करुणावरुण लय अर्थात दया का समद्र श्रीहरि जितनी मनोहर शोभासे शोभित हुये थे ॥६०॥

अन्त यमक का उदाहरण—वह नागरी गरीयान् रोष हेतु कठोरता का प्राप्त कर परिम्लान क्लान्ति हो गई थी, पूववत् ओर शोभित नहीं हुई। अधुना मन परिहार पूवक 'हरिको ले आओ" इस प्रकार मति समुदित होने क कारण समस्त समीहित हितकर हो रहे थे ॥६१॥

मध्य यमक का दृष्टान्त—राधे! तुम कुसुम राजि विराजित भूषणा एव मधुकर के अनुराग कर पराग से पराजित शरीरा हो गई हो। इस समय हे विहारिणि! तुम मनोहारि मुरारि क मदन सङ्गर कालीन सङ्ग रस मे समाकुला हो जाओ ॥६२॥

चन्द्रमा का किरण—कान्ति को विच्छुरित कर रहा है, वृन्दावन श्रीके सीमावृन्द—मधुर रस से सुमधुरा प्रेयसी गण मे परि पूरित हुये हैं। उपवन पवन भी अभ्रान्त रमणीय भाव से भ्रमण कर

नन्दान दाग्रकन्द स्मरसमर समव्यूह हारीह हारी
सङ्गी सङ्गीन देव्या अहरहरहरद्रास राधा म राधाम् ।।६३।।

अन्तादि यमक यथा—

न मानमाधेहि मनस्यद स्यद शुभ शुभयो स्यति देवि तेऽविते ।
अहो अहोरात्र कृताऽरुषारुषाऽयशो यशोदाभुवि विद्यतेऽद्यते ।।६४।।

प्रतिपाद सर्वयमक यथा—

मम त्वयाऽममत्वया न वेहित न वे हितम् ।
स्मराधिके स्मराधिके चर क्षमा च रक्ष माम् ।।६५।।

आलम्बन विभावमाह—इह समये स हरी र धामहरत् । कीदृश ? न द समद्धो य आन द स्तस्याग्रक द प्रथममूलम्,तथा स्मर समरे कन्दर्पयुद्धे समो मा शोभा तन् सहितो यो व्यूहो बलवि यासस्त हर्तु शील यस्य स, "व्यूहस्तु बलवि य.स" इत्यमर । तथा हारी हारवान्, तथा सङ्गीतदेव्या सङ्गी । राधा कीदृशीम् ? अहरह पति वासरमेव रासराधा रासस्य राधा ससिद्धियतस्ताम् ।।६३।।

दूती प्राह—न मानमिति । मनसि मान न आधेहि । कुत ? अद स्यद ,अमुष्य मानस्य स्यदो वेग , हे देवि ! ते तव शुभयो प्रशसावस्या शुभ मङ्गल स्यति नाशयति, अह शुभयोय् स इतियुस । शुभमिति म. त मव्यय प्रशसा वचनम् । अहो इत्याश्चर्य्ये । अहोरात्र कृतमरमन पीडा यतस्तया रुषा अविते रक्षित इति सम्बोधनम् । तथा एतादृश्या रुषा त्वमधुनापि ज्वलिता नाभूरित्या"चर्य्यम् । यशोदाभूवि श्रीकृष्णे अद्यते तव अयशो दुयश एवेद वतते ।।६४।।

श्रीकृष्णोऽप्यगत्याह— मम त्वयेति । हे राधे ! त्वया मम हितनवा ईहित वाञ्छित भवति । कुत ? अममत्वया मयि ममत्वशून्यया ।

ननु तर्हि मामुपेक्षस्व ? तत्राह – हे नवे नित्यनवीनत्वात् त्व मे चेतो लोभयसीति भाव ।

अथच चेन पीडयसि चेत्याह- स्मरेण स्मरणेन आधिमन पीडा कामोद्गमो यतो हे तथाभूते । यद्वा, स्मरेण क दर्पेण हेतुना आधिर्मन पीडा यतो हे तथाभूते ! हे राधिके ! तस्मात् क्षमा चर प्राप्नुहि, मा च रक्ष, स्मेनि पाद पूरणे ।।६५।।

रहा है, इस समय नन्द का आन द कन्द स्वरूप सङ्गीत देवी के नित्यसङ्गि स्वरूप, स्मरसमर के सुशोभन व्यूहहारी, हारधारी मुरारि राससिद्ध कारिणी श्रीराधा के चित्त को अहरह हरण करने लगे ।।६३।।

अ तादि यमक का उदाहरण—

हे देवि ! मनमे और मान का अमाधान न करना । हे शुभान्विते । मानवेग वश से कदाचित् तुम्हारा अशुभ का विनाश हो सकता है । दिवस रजनि जनित मर्म्म पीडा हेतु रोष से तुम प्रज्ज्वलित नहीं हुई हो, यह विचित्र है । जो भी हो अद्य यह अयश यशोदा किशोर को हो जायेगा—इस मे स देह नही ।।६४।।

प्रतिपाद सवयमकका उदाहरण—अयि स्मराधिके राधिके ! तुम मेरे प्रति ममता शू य । होने से मेरा हित अथवा अहित कुछ भो सिद्ध नही हो रहा है । जो भो हो, हे नवीने ! अभी भी क्षमा अवलम्बन

सवयमकम्-यथा--

ससार सा ससारसाऽऽस-सार-सास-सारसा ।

समार साससार सा स सारसास सास सार-सा ॥६६॥

प्रत्यक्षर यमकमपि केचिदिच्छन्ति । तद् यथा--

वि विनत-नाना-माऽमा विविध धना नाववश्याश्या ।

सा साधु धूततरारारा मम वबले लेहि-हित-तनु-नु ॥ इत्यादि

एव सप्तविंशति भेदा । द्विखण्ड-त्रिखण्डादिकञ्च उक्तोदाहरणेऽन्तर्भवतीति पृथङ् न दर्शितम्, तथाहि— (६४ श्लोके) 'अहो अहोरात्र कृताऽरुषा' इत्यादौ द्विखण्डम्, (६३ श्लोके)

ससारेत्यादि। सा राधा प्रति निकुञ्ज सस्लति स्म। कीदृशी ? ससारसा स लीलाकमला, आस सारसा ससारसा आ सम्यक प्रकारेण आसा विक्षेपो यत्र 'असक्षेपणे' तथाभूत सारे गमने य सासो निद्रा तस्य सार बल स्यति स्वीय पतिभया ह्रसयतीति सा। 'स गतौ' 'सस स्वप्ने' 'षोऽन्तकर्मणि' अत्र अन्त-कमशब्दस्य नाशो ह्रासश्चार्थ।

ससारसा ससारसा ससन्ति प्लुत गच्छन्तीति ससा, आ सम्यक रसन्ति शब्दायन्ते इति आरसा। अस्यन्ति दीप्यन्तीति असा, सारसा इचक्रवाका यत, या विलोकयेत्यथ।

सा 'सस प्लुतगतौ' 'रस शब्दे' 'अस दीप्तौ' स श्रीकृष्णश्च ससारेति पूर्वेणवान्वय। कीदृश ? सारसा ससारसा सारसाना पक्षिविशेषाणाम सस्य उपवेशस्य सार स्थय्य स्यति नाशयति स्वीयागमनेन चकितीकृत्येति भाव ॥६६॥

विवि ततेति— सा वनस्थली नाववश्याश्या नौ आवयारवश्यमेव आश्या व्याप्या अशुङ व्याप्तौ' विशेष्य नाम्ना ग्रहणम्, सङ्केतस्थलत्वात्। कीदृशी ? विभि पक्षिभि वितता न ना मा शोभा यस्या सा, अमा अपरिमिता अनुपमा वा निविधानि घनानि यस्या सा, साधु धुततरारा साधु यथा स्यात्तथा धुततरोऽस्ति खण्डित आरा गतियस्या। या प्राप्य अ यत्र गमन न युज्यते इति भाव। सा वबले बलवती भवति स्म। मम लेहि हित तनु मम लेहिनी म मुख माधुर्य्यास्वादिना हिता च तनुयस्या, हे तथा भूते। नु इति सम्बोधनम्।

कर इस अधीन की रक्षा करो ॥६५॥

सव यमक का उदाहरण—प्रभात मे लीला कमल पाणि वह कामिनी कुञ्ज वन से गमन करने लगी सारस पक्षिसमूह उसको समीपस्थ देखकर व्याकुल होकर कलरव करते करते प्रस्थान करने लगे।६६

कोई कोई व्यक्ति प्रत्यक्षर यमक को मानते है। उसका उदाहरण—

विविध विहग सङ्कुला बहु विध सम्पत्ति शालिनी उस अनुपमा वनस्थली मे गमन करने से अ यत्र गमन करने का इच्छा नही होती है, अतएव हे सखि हमदोनो उस शोभामयी वनस्थली मे अदृश्य प्रदेश करेंगे। तुम्हारा कलेवर भी निरन्तर मेरा मुख माधुर्य का आस्वाद ग्रहण करने मे तत् पर है।

इस प्रकार सप्तविंशति भेद होते हैं। द्वि खण्ड त्रिखण्डादि भी उक्त उदाहरण मे अन्तभुक्त होने के कारण उसका पथक उदाहरण प्रस्तुत नही किया गया है तथाहि—'अहो अहोरात्र कृतारुषा रुषा'

'मासो माऽसो मरीच्य समधुर मधुर प्रेयसी प्रेयसी' इत्यादौ त्रिखण्डम, (६७ श्लोके) 'वि विनत नानामहिमा' इत्यादौ चतु खण्डम् । एवमन्यान्यप्यूह्यानि । गद्येषु तु नाय क्रम । तत्र यथा सद मोदरे दामोदरे गुणसाराधिका सा राधिकाऽनुरज्यति स्मेति ।।६७।।

भिन्ना अप्यथ भेदेन युगपद भाषण क्षमा ।
त्यजन्ति भिन्न रूपत्व शब्दा यच्छलेष एव स, ।।

अथ भेदन शब्द भेदे इति न्यायात् । स्व भेदन भेदो नाथ भेदेनेत्याशङ्कयाह–काव्ये स्वरस्यानुपयोगेन स्वरगत भेदाभावाच्च, केवलाथ भेदेन भिन्ना अपि शब्दा युगपदेकदा यद् यद्यर्थान्तर भ षण क्षमा सन्तोऽपि भिन्न रूपत्व त्यजन्ति । अर्थद्वय श्लषणात् श्लेष ।६८।

स प्रकृति–लिङ्ग वण–प्रत्यय, भाषा- विभक्ति पद वचन ।
अष्ट विधो निरपक्ष- स्तुल्योभय वाच्य एव नवम स्यात ।।

निरपेक्ष प्रकरणादि व्यतिरेकेणापि तुल्य वाच्यद्वय ।।६९।।

क्रमेणोदाहरणानि—मनस्तुदन्ती क्षणदा वतेष्टा, विधौ विरुद्धे तमसि प्रवृद्धे ।
तस्मिन् प्रसन्ने हरित प्रसाद, धन्या लभन्ते तमसि प्रणष्टे ।।

सदामोदर इति । राधिका दामोदरे श्रीकृष्णे रज्यति स्म । कथम्भूता ? गुण साराधिका गुणषु मध्ये ये साारभूता गुणास्त राधिका । दामादरे कथम्भूते ? सदामोदरे सदा माद राति ददातीति तस्मिन् ।।६७।।

स्वरभेदेन शब्द भेदो नाथ भेदेनेत्याशङ्कयाह–भिन्ना अप्यथ भेदेनेति ।।६८–६९।

इत्यादि श्लोक—द्विखण्डका दृष्टान्त है ।

मासो मासो मरीच्य समधुर मधुर" इत्यादि श्लोक त्रिखण्ड का उदाहरण है ।

एव 'विवि तत नाना मामा इत्यादि चतु खण्डका दृष्टान्त, है, अन्यान्य अवशिष्ट का उदाहरण यथा स्थल मे प्रस्तुत किया जायेगा । गद्य स्थल मे किन्तु इस प्रकार नियम नहीं हैं । जैसे— सदामोदप्रद दामोदरे गुण साराधिका वह राधिका अनुरक्ता हुई थी ।।६७।।

काव्य मे उदात्तादि स्वर की उपयोगिता नहीं है स्वरगत भेद का भी अस्तित्व नहीं है, तब अथ भेद से शब्द भेद होता है—यह नियम सङ्गत है । उक्त नियम के अनसार जो शब्द केवल अथ भेद से ही भिन्न होता है । रूपादि मे उसका भेद अनुमान भी नहीं है । उक्त शब्द यदि एक समय मे ही अर्थान्तर प्रकाशन मे सक्षम होकर भी समान रूप मे ही अवस्थान करता है, तो—अथ द्वय का श्लेष हेतु उसको श्लेषालङ्कार कहते हैं ।।६८।।

उक्त—श्लेष—प्रकृति, लिङ्ग, वण प्रत्यय, भाषा, विभक्ति पद एव वचन भेद से अष्ट विध हाते हैं । प्रकरणादि व्यतीत भी तुल्य वाच्यद्वय होकर वह एकविध पद प्राप्त होता है । इस प्रकार श्लेष नवविध भेद विशिष्ट होता है ।।६९।।

अत्र ईक्षणदेति दाप् लवने, क्षणदेति 'डुदाञ् दाने' इति प्रकृति भेद । इष्टा इति पु लिङ्गम् इष्टेति स्त्रीलिङ्गमिति लिङ्गभेद । पुन इष्टा इति बहु वचनम्, इष्टेत्येक वचनम् । तेन च वचन भेद । विधावितीकारोकार सारूप्ये वण भेद । तुदन्तीति शतृ प्रत्यय, 'तुदन्ति' इत्याख्यात प्रत्यय, तेन प्रत्ययभेद । हरित हति पञ्चमी, हरित इति जस तेन विभक्ति भेद । अनेनकेन षड् भेदा प्रदर्शिता ॥७०॥

पुनारपि भङ्ग्यन्तरेण लिङ्ग वचन भेद दर्शयति—

नीलाम्भोरुह गञ्जिनी रतिरण क्रीडा श्रमोद गारिणी ।

निद्रोद्भेद विलासिनी स्ववशताऽसङ्कोच सञ्चारिणी ॥

मनस्तुद तीति । विधौच द्रे विरुद्धे तमसि अ धकारे प्रवृद्धे सति इष्टादि क्षणदा उत्सव द ततया यथाथ नाम्नी रात्रि मनस्तुद ती स्यादिति प्रथमाधस्य तस्मिद् विधौ च द्रे प्रस न तमसि प्रणष्टे सति ध या हारतो दिश कन्य प्रसाद प्रसन्नता लभ ते इति द्वितीयाधस्या वय ।

पक्षे, विधौ विधातरि विरुद्धे सति यत्तम सस्तमो गुणस्य वृद्ध तस्मिन् सति इष्टा पदार्था ईक्षण दा ईक्षण च्छेदका सन्तो मनस्तुदन्तीति प्रथमाधस्य, तस्मिन् विधौ प्रस ने सति तमसि प्रणष्टे सति हरित कृष्णाद् ध या जना प्रसाद लभ ते इति द्वितीय स्याधस्या वय ॥७० ।

नीलाम्भोरुहेति । राधाया नयने तव क्षेम विधत्ता कुरुतामिति परस्मपदस्य द्विवचनम् । तथा हरेरपि तनुश्च तव क्षेम निधत्तामित्यात्मने पदकवचनम्, धाञ धातोरुभयपदित्वात् । नयनयो स्तनोश्च विशेषणा याह—नीलाम्भोरुहेत्यादि ।

क्रमश उदाहरण —विधु की विरुद्धता हेतु तमोराशि प्रवृद्ध होने पर सब की अभीष्टा क्षणदा अर्थात् उत्सवदायिनी रजनी भी सम्प्रति मन क्लेश दायिनी हो गई है ।

अथ च विधि की विगुणता हेतु तमोगुण प्रवृद्ध होने से अभीष्ट पदाथ समूह भी ईक्षणद अर्थात् स्नेह दृष्टि खण्डन कारी होकर मनस्ताप जनक हुये है ।

अन तर वह विधु पसन्न होने पर तम पुञ्ज प्रणष्ट होने पर सुध य हरित् अर्थात् दिक समूह प्रसन्न हो गये है । अथ च वह विधि प्रसन्न होने पर तमोराशि का प्रणाश होने से धन्य जन गण श्रीहरि से प्रसाद लाभ करने रहने है । इस श्लोक मे उक्त— ईक्षणदा' वा 'क्षणदा' स्थल मे छेदनाथ दा धातु एव दानाथ दा धातु का प्रयोग होने मे प्रकृति भेद हुआ है । इष्टा' स्थल मे 'पुरुषोत्तम लिङ्ग' एव 'लक्ष्मी लिङ्ग' उभय भी उपयोगिता विद्यमान होने से लिङ्ग भेद एव बहु वचन एक वचन का समावेश होने से वचन भेद भी हुआ है ।

मूलस्थ 'विधौ' यहा इ कार एव उ कार के सारूप्य से वण भेद हुआ है । 'तुद ती' यहा शत एव आख्यात प्रत्यय भेद से प्रत्यय भेद हुआ है । 'हरित ' यहा पञ्चमी एव प्रथा के बहु वचन होने से विभक्ति भेद हुआ है । इस प्रकार इस श्लोक मे ही षट प्रकार भेद का उल्लेख हुआ है ॥७०॥

भङ्ग्य तर के द्वारा पुनर्वार लिङ्ग वचन भेद प्रदर्शित हो रहा है—श्रीराधा क लोचन युगल एव

अन्योन्य प्रणय प्रकाशन विधावन्योन्य सह्लादिनी
राधाया नयने हरेरपि तनू क्षेम विधत्ता तव ।।७१।।

भाषाश्लेष, यथा—उद्दाम कण्डूलकरमण्डलचण्डिमा।
कालिन्दी कुञ्जरो धत्ते विहार वारिमञ्जुलम् ।।७२।।

पदश्लेषो यथा—समराला रुषेवेय राधिके सवदारुणा।
मतिश्च तव दृष्टिश्च समे एव बभूवतु ।
कृष्णपक्षे बलवती दोषाकर पराङमुखी।
समे द्वे तामसी रात्रि- सात्त्विकी च सता मति ।

नेत्र पक्षे, स्ववशतेति—स्व कर्तृ का या श्री- कृष्णनिष्ठवशीकृतता तस्या असङ्कोचो विस्तारस्तस्य सञ्चारिणी तनुपक्षे, स्वकर्तृ का या जगन्निष्ठ वशीकृतता तस्या असङ्कोचो विस्तारस्तस्य सञ्चारिणी ।।७१।।

भाषाश्लेष —शौरसेनी या श्लेष । उद्दामेति संस्कृत पक्ष सुगम प्राकृत पक्षे तु हे चण्ड ! हे कोपने ! कालिन्दकुञ्जरोधस्त्वं ते जुल युग द्व द्वशो विहार वारिम वारयिष्ये । अथ वारयिष्यतीत्याह—डलकरम पस्तुत कम मा डल मा दल, प्रस्तुतानुसारि कम कुर्वित्यथ प्रस्तुतकम्म कीदृशम् ? उद्दामकामकम् । कालि दी कुञ्जेति— उद्दामकामकमिति पक्षद्वयेऽपि समानाथत्वाद् भाषासमावेश अयत् सवमथ भेदाद् भाषाश्लेष ।।७२।।

मानवतीं श्रीराधा प्रति श्रीकृष्ण आह—हे राधिके ! तव मति च दृष्टिश्च समे एव बभूवत् । साम्य हेतुमाह—इय मतिद ष्टिश्च सवदारुणा सर्वस्मिन् काले दारुणा सवदा अरुणा चासमराला दष्टिपक्षे, सम्यक

श्रीकृष्ण के कोमल कलेवर, जो नीलोत्पल क नि दाकारी, सुरतश्रमोद् गारी, नि सङ्कोच से निखिल विश्व के स्ववशताप्रचारी, जो निद्रोदय मे विलासशील, परस्पर क प्रति प्रणय प्रकार विषय मे जो पारस्परिक गीति विधा । मे तत्पर है, वे तुम्हारे मङ्गल सम्पादन करें ।।७१।।

भाषाश्लेष का दृष्टा त— उद्दामा काम कण्डूल कर मण्डल मे जिसकी प्रचण्डता प्रकटित हुई है, वह कालि दी कुञ्जर श्रीकृष्ण मनोहर वारि विहार कृत्य समाधान किया।

यहा मूल श्लोक– संस्कृत एव प्राकृत- उभय भाषा मे समरूप होने के कारण भाषा श्लेष हुआ है। उक्त श्लोक के संस्कृत पक्ष का अथ उल्लिखित हुआ, प्राकृत पक्ष का अथ इस प्रकार है।

अयि चण्डि ! तुम कालिन्दी के तट कुञ्ज को प्राप्त किये हो, तुम्हारे युगल विहार का आवरण सम्प्रति कर सकूँगा। अतएव उद्दाम काम सम्पाद्य प्रस्तावानुसारी कम्म का दशन तुम आलस्य से न करना ।।७२।।

पद श्लेष का उदाहरण—हे राधिके ! तुम्हारी मति एव दष्टि उभय ही समान हैं, कारण उभय ही रोष हेत जैसे समराल सम्यक पकार से अराल वा कुटिल हैं, पक्ष मे—समर अर्थात् युद्ध ग्रहण करते हैं, तो उस प्रकार, एव उभय ही सवदारुण है, सब समय दारुण हैं, पक्ष मे–सवदा अरुण वण है।

तामसी रात्रि एव साधु वृन्द की सात्त्विकी बुद्धि उभय ही समान हैं, कारण, उभय ही कृष्ण पक्ष में

वाक्य गतत्वेनाय समोभयवाच्योदाहरणेषु द्रष्टव्य । शब्दार्थश्लेषयोरय भेद — यत्र शब्दपरिवर्त्तनादि न श्लेषत्वभङ्ग, सोऽर्थश्लेष । अन्यस्तु सभङ्गाभङ्गत्वाभ्यामेव शब्दश्लेष । सचोक्तोदाहरणेषु शब्दपरिवृत्त्यभावात् ॥७३ ७४॥

अथ श्लेषो यथा—विलोल सफुल्लकदम्बमाल , समुल्लसन्मञ्जुल–र्बाहवह ।
अशेषसन्तापहरोजनाना, कृष्णश्च मेघश्च सहोज्जिहीते ॥

अत्र कदम्बादि शब्दाना परिवृत्त्यापि न श्लेषत्वहानिरित्यर्थश्लेष एव ॥७५॥

अथ शब्दालङ्कारप्रस्तावे प्राप्तावसरतया चित्रकाव्यमपि प्रदर्श्यते ।

तत्र यद्यपि—नटानाञ्च कवीनाञ्च माग ककश एव य ।
रसाभि व्यक्तये नासौ शक्ति ज्ञप्त्यै स केवलम् । ७६॥
चित्र नीरसमेवाहुभगवद्विषय यदि ।
तदा किञ्चिच्च रसवद्यथेक्षो पर्वचवणम् ॥७७॥

तत्र किञ्चित् प्रदर्श्यते ।

कुटिलेत्यथ । यदुक्त मेदिनीकरेण— अराल कुटिल षड जरसे सार्मान दर्तान" इत । मनिपक्षे, समरो युद्ध तदालातीति । कृष्णपक्षे— इति—कृष्णपक्षे शुक्लातिरिक्तपक्ष, भगवत्पक्षे च । दोषाकरश्च द्र दोषोत्पत्तिस्थानञ्च ॥७३ ७४॥

विलोलेति । माला स्रक समूहश्च ॥७६–७७॥

बलाती एव दोषाकर के प्रति पराङमुखी हैं। वाक्य गत होने क कारण – यही समोभय वाच्य है। शब्द श्लेष एव अर्थ श्लेष यह भेद है, शब्द परिवत्तन से भी जिसका श्लेषत्व भङ्ग नहीं होता हे, वह शब्द है, एव जो शब्द परिवत्तन को सहन नही करता है, सभङ्ग अभङ्ग— द्विविध रूप से वही शब्द श्लेष है। शब्द श्लष का विवरण—पूव पूर्वोदाहरण म लिखित हुआ है ॥७३ ७४॥

सम्प्रति अर्थ श्लेष प्रदर्शित हो रहा है—कृष्ण एव मेघ—समकाल मे ही उदित हो रहे हैं, उभय ही विलोल सफुल्ल कदम्बमाल—कृष्ण उस प्रकार कदम्बमाल्य धारण किये है, मेघोदय से कदम्ब कुसुम समूह भी विकसित हुये हैं।

उभय के समागम से ही मनोहर मयूर पुच्छ समूह समुल्लसित हो रहे हे उभय ही जन गण के अशेष सन्ताप सहारक है। यहा कदम्बादि पद का परिवत्तन से भी श्लेषत्व श्लषत्वहानि नही होती है। अत अर्थ श्लष हुआ है ॥७५॥

शब्दालङ्कार वणन प्रसङ्ग मे चित्र काव्य प्रदशन का अवसर प्राप्त होने से अधुना उसको दर्शाते हैं

यद्यपि कवि एव नट वृन्द का माग अतिककश है वह रसाभिव्यक्ति के उपयोगी न होकर केवल शक्ति ज्ञापन उपयागी होने से चित्र काव्य नीरस कथित होता है। तथापि वह भगवद् विषयक होने से इक्षु के पव चवण तुल्य कथञ्चित् मधुर बोध होता है, अत उसका किञ्चित् प्रदशन करते है ॥७६ ७७॥

तत्र प्रथम प्रतिलोमानुलोमपादो यथा—

राधा साररसाधारा मारमाररमारमा ।
काशोदाररदाऽशोका सा ललास सलालसा । ७८॥

प्रतिलोमानुलोम श्लोको यथा—

काऽऽधिदा सस्वभा राधे मानो माऽस्तु रमाधवे ।
वेधमारस्तु मानो माऽधेराभा स्वसदाऽधिका ॥७९॥

प्रति लोमानुलोमौ श्लोकौ यथा—

मानसाररसाधारा साऽयन्ती वनमालिना ।
सललास महामोदासाऽऽश्वामाद-नि-साध्वसा । ८०॥

राधेति । सा राधा ललास । कीदशी ? साररसमा धारयतीति सा मारेण कामेन मा शोभा राति गृह्णातीति सा च, रमेव रमते इति रमा रमा च, सा काशेन दीप्तया उदारा रदा यस्या सा । अशोका शोक रहिता सलालसा स्पृहावती ॥७८॥

काधिदेति ! हे राधे ! का नारी आधिदा मन पीडादायिनी सती, सस्वभा स्वभया स्वकान्त्या सह वर्त्तमाना भवति ? अपि तु न कापीत्यथ । अतो रमाधवे श्रीकृष्णे मानो मास्तु, मान सति तस्याधिस्तवापि ग्लानिर्िति भाव । वेधमारस्तु मानो नोऽस्माक वेधमारो विधाननाश क्रिय नाशस्तु मास्तु । विध विधाने' घञ । तथा माधेराभा आधेमन पीडाया आभा स्वसदाधिका स्वगता अधिका मास्तु सद् ल गतौ' ॥७९॥

महामानवती राधा सम्प्रति कि करोतीति पृच्छ तीं सखीं प्रति सखी प्राह—मानसार रसाधारा सा राधा मानस्य सार रस न धारयतीति तथा, यतो वनमालिना सह अय ती गच्छ ती सती आश शीघ्र सललास । इ गतौ शत्र न्त । कीदशी ? महामोदा सा महामोदेन आसो दीप्ति यस्या सा । आमादनिसाध्वसा-आ सम्यक मादेन सौरभमत्ततया निसाध्वसा निभया, निशब्दोऽय निषेधाथ "यथा दीपो निवातस्थ" इतिवत् । अतोऽह साधु यथास्यात्तथा असानि वर्त्ते, यतो वमाश्वासा वमेनवाश्वासो यस्या साह मत् कृतेन वमनेनव सा मान तत्याज, तेनव ममाश्वासोऽभूदित्यथ ॥८०॥

उसके मध्यमे प्रतिलोमानुलोम पाद का उदाहरण यह है—
साररस के आधार स्वरूपा स्मर अर्थात् क दप की सौ दय्य सवस्वहरा, रमा के समान क्रीडा तत् परा, सुदीप्त दशन कान्ति शालिनी, शोक शू या, सलालसा वह श्रीराधा विलास मे आसक्त हुई थी ॥७८॥

प्रतिलोमानलोम श्लोक का उदाहरण—हे राधे ! कौन कामिनी मन पीडादायिनी होकर अक्षीण सौ दय्य मे विराजित है ? अतएव रमापति के प्रति मान से और प्रयोजन नहीं है कारण, मानानुब ध से उनकी मन पीडा एव तुम्हारी ग्लानि की सम्भावना हैं । हम सब की क्रिया लोप भी न हो, स्वगतमन पीडा वर्धित न हो, यही कर्त्तव्य है ॥७९॥

प्रति लोमानुक श्लोक द्वय का उदाहरण—हे सखि ! वह राधा, अधुना मान का सारभूत रस को धारण नहीं कर रही है । कारण, वह सम्यक् सौरभ मत्तता हेतु निभय हृदय से वनमालि के सहित वन

साऽध्वसानि दमाश्वासा दामोहामसलालसम् ।
नालि मानवतीय सा राधा सारससानना ॥८१॥

महासर्वतोभद्र यथा—

सा राधा श्री श्रीराधा सा धामाकामा मा-कामाऽधात् ।
राकाधीमा माऽधीकारा श्रीमा म नेनेमामा श्री ॥८२॥

सर्वतोभद्र यथा—

धाराऽसाररसा राधा रासलास्यस्य लासरा ।
स्याऽत्राकार-रकालासा रस्यस्य रस्यर ॥८३॥

ननु मा मृषा वादी ,तादृश मानस्य शीघ्रमेवोपशम न सम्भावयामीति वदन्ती प्रत्य ह—दामोहामस-लालसम्, अलसालस यथास्यात्तथा ऊहा वितर्क मा दा, कि तु सलालस यथास्यात्तथा ऊहा वितर्क खण्डयेत्यर्थ । निश्चय शक्तित्याह न लीति । हे आलि ! सेय राधा न मानवती, किन्तु साररसेन श्रेष्ठरसेन आनमतीति सा ॥८१॥

साधारेति । सा श्रीर धा साधारा श्री साध सिद्धिमिर्यत्ति प्राप्नोतीति राधारा आ सम्यक श्री शोभा यस्या स्तथाभूता भवतीत्यन्वय । कीदृशी ? धामा कामा—धाम्नि निकुञ्ज गृहे अ श्रीकृष्ण कामयते इति सा । शिलिकामिभिक्षिचरिभ्यो ण " इति ण प्रत्यय ।

ननु कि स्वीय काम सुखाथ कामयते इति ? तत्राह- माकामा, मेति निषेधे, न विद्यते काम स्वसुख तात्पर्यं यस्या सा, किन्तु कृष्णसुखाथमेव त कामयते इति ? तत्राह—मा कामा मेतिनिषधे, न विद्यते काम स्व सुखतात्पर्य यस्या सा रासविलाससिद्धयर्थमितिभाव ।

माधिकारा मा आधिमन पीडा यस्या , इ कन्दर्प क सुखञ्च आसम्यक्करातीति साच साच सा । अतएव तस्या सर्वत श्रेष्ठत्वात् श्रीमा सम्पत्तिरूपा लक्ष्मी , मानेनादरेण, आ श्री आश्रयमाणा इमा राधा मधात्, स्वसर्वसम्पत्तिसमर्पणेन पालयामास । इद महासर्वतो भद्रम् ॥८२ ।

धारासार रसेति । धाराणामासार सम्पात इव रसा यस्या सा राधा, "धारासम्पात आसार "

वन मे भ्रमण कर महामोद से विलास कर रही है । मत्कृत दमन से ही उसने मुझका परित्याग नहीं किया है ।

इस प्रकार आश्वास से आश्वस्त होकर मै सुस्थचित्त हू । तादृश मानका अ शु उपशम यदि असम्भव विवेचित होता हे, ता आग्रह पूर्वक मेरा वित्त र को खण्डन करो । फलत हे सखि ! श्रीराधा को साधारण मानवता न मानना, राधा साररस मे वशीभूत होकर सतत आनत रहती है ॥८० ८१॥

महासर्वतोभद्र का दृष्टान्त—निकुञ्ज धाम मे स्वकीय काम सुख मे निरभिलाषा होकर श्रीकृष्ण के प्रति शुद्ध प्रीति सम्पादन मे समुद्यता होने पर पूर्णमाभिलाषिणी, चित्त प्रसाद शालिनी, कामसुख सम्पादिनी राधा समग्र सौन्दर्य, सम्यक सिद्धि प्राप्त हुई थी । सम्पत्तिरूपा लक्ष्मी भी सम्मान के सहित उनका आश्रय ग्रहण कर उनको सर्वस्व समर्पण पूर्वक पालन कार्य मे रत थी ॥८२॥

यथा वा—नालीकाननका ऽली ऽलीव सारसावली ।
कासा रसासारसाऽकानरसा मम सा ऽऽर न ॥८४॥

छत्र बन्धो यथा—

तनुता तनुता राधाकृष्णयोश्चरित श्रुति ।
हृत्तापाना सुधासिन्धुधारा ता नु तता नुत ॥८५॥

इत्यमर, धनुर्ज्या पर्य्वृ हिताविवदाय धारासार शब्दो ज्ञेय । रासल स्यस्य रासाख्य नृ यस्य लासरा रास कान्ति रातिददातीति तया विना नव राम विलासा न सिध्यन्तीति भाव ।

पुन कीदशी ? सालाकाररकालासा साराकार रान्ति ददातीति साराकाररो य क लो यौवन समय स्तत्र आस मन्यम दीप्ति यस्या, हे रस्यगस्यस्य रसेभ्यो हिता रम्या रसिनो रमण पराश्च ये युवति जनास्त, अस्य गम्य हे तथाभूत ! हे रस्यर स्यान् रसनीयान् विलासान् रातितभ्यो ददातीति हे तथाभूत ! कृष्ण ! इद सवतोभद्रम् ॥८३॥

वस ते रासोत्सवे प्रवृत्तस्य श्रीकृष्णस्य तत्र श्रीराधिकामपश्यत स्वयमुक्तिरियम्—नालीकत्यादि । सा मत् प्र ण धिकत्वेन प्रसिद्धा श्रीराधा न आर नागतवती । किम्भूता सा ? अकानरसा मद्विरच्छेद ज येन अकेन दु खेन, "अक पापदु खयो" इति मेदिनीस्मरणात्, य आनो जीवन स एव रसो विष यस्या सा, 'रसो ग ध रसे जले शङ्गारादौ वीषे वीर्य्ये" इत्यादि मेदिनी ।

अतएव ममरसा सारसा रसस्य शृङ्गार सुखस्य आसारो वृष्टिस्ता स्यति खण्डयतीति विवप । स्वरूपतस्तु सा किम्भूता ? का सा इति कासा दीप्तिरम्या अस्तीति बाहुल्यादाप । तथा दीप्तिमतीत्यथ । पुन कीदशी ? आलीनाऽलीव साररसावली न लीनोऽलियस्ता त दशी साररसावलीव उत्तम मधुपङ्क्तिरिव । भ्रमरा दुष्ट-प्रचुर मधुधारेव परमान ददेत्यथ । पुन कीदृशी ? नालीकाननका नालीक पद्ममिवानन यस्या सेति बहुव्रीहौ क ॥८४॥

तनुतामिति—राधा कृष्णयोश्चरितश्रुतिश्चरित श्रवण हृत्तापना तनुता कृशता तनुता विस्तारदत । कीदशी ? सधासि धु धारा नु भो, ता तता विस्तृता नुत स्तुत । यद्वा, हर्षेण द्विरुक्ति ॥८५॥

हे कृष्ण ! तुम जमे रास वशम्बदा रमणी वृन्दके गम्य एव रमणीय विलास राशि वितरण कारी हो, श्रीराधा भी उस प्रकार अविरल वारिधारा सम्पात सदृश अजस्र रस प्रवाह का आधारस्वरूपा है। रास लास्य को सौ दय्य विधायिनी एव मूर्त्ति माधुय्य प्रद यौवन समय जनित कान्तिच्छटा से सुशोभिनी है ॥८३॥

वस त कालीन रासोत्सव मे प्रवृत्त श्रीकृष्ण राधिका को उपस्थित न देखकर स्वय कहते है– पद्म वदना, सौ दय्य सदना राधिका का समागम न होने स वह मेरी रसधारा की निरोधिनी हो गई है, मदीय विच्छेद वेदना से श्रीराधा का निज जीवन निश्चय ही अधुना विषमय प्रतीत होता है। वह सम्प्रति भ्रमर शू या मधु धारा का आकार को प्राप्त हुई है ॥८४॥

छत्र ब ध का उदाहरण—सुध सि धु धारा के सदृश राधा माधव की चरित्र श्रुति हृदय ताप की खवता का विधान करे। तुम सब सवदा उक्त सुपवित्र सुविस्तत चरित्र प्रचारित का स्तव करो ॥८५॥

खड्गबन्धो यथा—

राधामाधवयो केलि श्रुतिहृत् सुखदायिका।
काम तनोतु व क्षेम प्रेमानन्दौघनिर्भरा ॥८६॥
रासारम्भे नृत्य–गीत–वादित्रादि मनोहरा।
राभस्यसारा सौभाग्योऽधरीकृतपराऽपरा ॥

मुरजबन्धो यथा (६६ श्लोके) "समार सा" इत्यादि। एष एव गोमूत्रिका बन्ध, एष एव बद्ध–कवाटबन्ध, एष एव मुक्तकवाट। एष एव शङ्खलाबन्ध, एष एव द्व्यक्षर ।८७

शङ्खबन्धो यथा—धेय माधुर्यमर्यादा राधा माधव मार सा।
सारमाऽबधमाधारा धेयमाधुर्यसौभगा ॥८८॥

पताकाबन्धो यथा—

रासतसरसारम्भे राधा साररमाधवम्।

राधामाधवयो केलिलीला काम यथा स्यात्तथा वो युष्माक क्षेम मङ्गल तनोतु विस्तारयतु। कीदृशी? श्रुति श्रवण हृद् हृदय तयो सुख ददातीति सा प्रेमान दौघ प्रेमान द समूहस्त नि शेषेण बिभर्तीति सा ॥८६॥

रासारम्भ इत्यस्य पूर्वेणवा वय। रासस्य नृत्य विशेषस्यारम्भे नृत्य हस्त–पादादि चालना विशेष, गीत षड्जादि मिलनम्, वादित्रादि वीणादि तमनोहरा राभस्यस्य कौतुकस्य सार स्थिरो यस्या सा। सौभाग्येनाधरी कृता अध कृता परे ब्रह्मानन्द दयाऽपरे सार्वभौम सुखादयो यया सति केल्या सकाशान्न केऽपीति भाव ॥८७॥

धेया धार्य्या माधुर्यमर्यादा यस्या सा राधा माधवम्, आर जगाम। कीदृशी? सारमाबधमाधारा सार श्रेष्ठाऽप्राकृतो यो मानस्त धत्ते मा शोभामवति रक्षति, माव कशोर तद्धत्ते मा शोभामवति रक्षति, माव कशोर तद्धत्ते, मा शोभा धारयतीति साच साच सा। धेय परिपाल्य माधुर्य सौभगञ्च यस्या सा। अत्र धारणे पोषणे च धाञ कृत्य प्रत्यया त ॥८८॥

खड्गबन्ध का उदाहरण—रासारम्भ मे नृत्यगीत वादित्रादि मनोहरा, प्रेमान दौघनिर्भरा कौतुक सारा राधामाधव की मधुरलीला तुम सब का कल्याण करे। उक्त लीला श्रवण एव हृदय सुख दायिनी है, एव सौभाग्यातिशय से परान द एव अपरान द से भी उत्कर्ष शालिनी है ॥८६॥

मुरज बन्ध का उदाहरण—'प्रभात मे लीला कमल पाणि वह कामिनी कुञ्जभवन से गमन करने लगी इत्यादि सब यमकोदाहरण द्रष्टव्य है।

इसको ही गोमूत्रिका बन्ध, बन्धकवाट, मुक्तकवाट, शङ्खलाबन्ध एव द्व्यक्षर कहते हैं ॥८७।

शङ्ख बन्ध का उदाहरण—माधुर्यमार्यादा धारिणी, सौन्दर्य सौभाग्यशालिनी श्याममोहिनी राधिका,—सार शोभाकर कशोरदशा मे सुशोभिनी होकर श्री कृष्ण समीप मे समागत हुई थी ॥८८॥

पताका बन्ध का दृष्टान्त—ससार बन्ध का विनाश कारण, रसदाप्रिभाजन रास रूप श्रेष्ठ रस क

बन्धमाररसाधाराभेऽर सारसतसरा ॥
एष एव गदाबन्धश्च ।८६॥
गर्भाक्षरो यथा—
कामत्रपाऽऽली लास्यराधिका । साऽध्वनि शातेनाऽस्यराजते । ९०॥
पद्मबन्धो यथा—राधिका रुचिराकारा राकारासस्थली सरा ।
रासलीला परा सारारासारा गो पिकाधिरा ।९१॥
चक्रबन्धो यथा—यस्य श्रीतुलना न कश्चन गमी भक्तौघतापर्दनो
ध्वस्तानाक्यवलच्छवि स न हि मा त्व मुञ्च मोक्षम् ।

रासरूपो यस्त सरस, तसि अलङ्कारे, श्रेष्ठरस इत्यथ । तस्य आरम्भे राधा रमाधव श्रीकृष्णम्—आर सङ्गता बभूवेत्यथ । 'ऋ गतौ' बन्धमाररसाधाराभे बन्धस्य ससारस्य मारोनाशो यस्मात्, रसस्याधार आभापि यस्य सच सच, तस्मिन् अय शीघ्रम् आरेत्यनन सम्बन्ध । सारसतस लीलाकमल श्रेष्ठ रातीति सा ॥८९॥

कामत्रपेति कामेन हेतुना या त्रपाली लज्जा श्रेणी तस्यालास्य नृत्य प्रागल्भ्यमिति यावत्, तत् राधयति साधयतीति सा, अतएवास्य श्रीकृष्णस्य शाते सुखरूपेऽध्वनि श्रीकृष्ण प्राप के सुख प्रदेऽभिसार मार्गे न राजते, लोकलज्जाभयादेवेति भाव । तेन चरण कष्ट प्रदे गुल्म लतातरु कण्टकाकुल एवाध्वनि श्रीकृष्णमभिसरतीति । गर्भाक्षर इति एतान्येवाक्षराणि क्रमनरपेक्ष्येण गर्भे निधाय कविना नानाछन्दोभि श्लोका क्रियन्तामित्येतदप्येक चित्रम् ॥९०॥

राधिकेति । राकाया रासस्थली सरतीति सा, सारारासारा सार रसमियर्तीति सा, गो पिकाधिरा गोभि पिकानामप्याधि रातीति सा ॥९१॥

यस्येति । यस्य श्रीयुक्ता तुलना कश्चन कश्चिदपि न गमी न गमिष्यति, यस्त्व ध्वस्तानाक्य वलच्छवि —ध्वस्तम्, अनाक्यानामसुराणा बल छविश्च येन स । सत्व मा न मुञ्च हे मोक्षम ! मोदे

आरम्भ मे लीला कमल कान्ति तिरस्कारिणी श्रीराधिका माधव के सहित सत्वर सम्मिलिता हो गई थी । इसको गदाबन्ध भी कहते हैं ॥८९॥

गर्भाक्षर का उदाहरण—मदन जनित विपुल लज्जाशालिनी श्रीराधा श्रीकृष्ण प्राप्ति साधक सुखकर अभिसार माग को सुशोभित कर न सकी ॥९०॥

रुचिरा कारा राधिका राका रजनी मै रासस्थली समागमन पूवक रासलीला परायणा हुई थी, एव सारतर रासरस के अनुसारिणी होकर सुमधुर कण्ठस्वर से कोकिल कुल के मन क्लेश को उत्पादन कर रही थी ॥९१॥

हे श्रीपते ! तुम्हारे श्रीसादृश्य को कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता है । तुम, भक्त वृन्दका आनन्द वधन एव ताप विनाशन हो, प्रबल असुर वृन्द की शोभा सामथ्य को तुमने विनष्ट किया है । तुम्हारी व्रज केलि कथा को सुनकर मदीय मन मे जो श्रद्धानदी प्रवाहित हुई है, मै उस मे अवगाहण करने मे कौतुकी हू । हे परम नाथ ! सु विस्तृत भक्तिमार्ग मे मै कीलप्राय अति नीरस हू मेरे तुल्य पातकी और कोई

सन्नाथ व्रजकेलि शब्दनमन श्रद्धा नदी कौतुकी
कीलप्राय इहाऽध्वनीह सतते नो मत् सम पातकी ।।६२।।

अत्र—श्रीनाथपादकौतुक्य व्रतामोदी कवि शमी ।
यस्य ध्वस्ताऽच्छवि सन्नाऽश्रद्धा कश्चन तत् सम ।।६२।।

शाङ्गबन्धो यथा—श्रीकृष्ण गाथा नामेय कर्मणा च कदाचन ।
नासाद्यते पावनिका विना तस्य दया हरे ।।६३।।
कथमस्य कृपासिन्धोजनेषु च मिथो रति ।
जन्यते बहु जन्मान्ते सुकृतै कारणायितै ।।६५।।
चरणा सव लाभेन दारुणा करुणात्मताम् ।
मोहहित्वा किल प्रैति तममु सतत स्मर ।।६६।।
तस्य रूप चेतसि च मन्त्रवत् सतत लिख ।
तेन साधुतया कृष्णे भविष्यति समागम ।।६७।।

भक्त जनाना नन्दने समथ ! हे सतां नाथ ! इहाध्वनि भक्तिमार्गे सतते अविरते मत्सम कील प्राय कील तुल्य कोऽपि पातकी नास्ति । कीदृश ? व्रजकेलि—शब्दनेन व्रजजस्य केले शब्देनव या मनसि श्रद्धानदी तस्या कौतुकी स्नातु कौतुकवान्, तत्रात्यन्तायोग्योऽपीति भाव ।।६२।।

श्रीनाथस्य पादे पाद सेवाया कौतुक्य कुतुकिनो भाव, तत्रव व्रते अमोदी कवि पण्डित शमी शान्त, यस्याच्छविम्लानिता ध्वस्ता अश्रद्धा च सन्ना विशीर्णा, तत्सम, कश्चन कोऽपि न भवेत् । पक्षे, कवि सदन्य स्वमेव वर्णयति—नाथस्य तदाख्यस्य श्रीगुरो पादयो कौतुक्य पादौ स्वय सश्रयामीति यत् कौतुक्य तन्मात्र एव व्रते आमोदी, नतु तत् पादयो कादाचित्कमपि सेवामयमकरोदिति भाव । कवि श्रीमहाप्रभु कृपादत्त कवित्व शक्तिक, शमी अनासक्त, गुरु—कृष्ण-वैष्णव सेवायामप्यनासक्त इति भाव । अतएव यस्य छविभक्त सत्सदि ध्वस्ता श्रद्धा च सन्ना, तत्समो महाप्रभु भक्त मण्डले कोऽपि नास्ति, स एवको निकृष्ट इति भाव ।।६३ ६४ ६५।।

नहीं है, तुम मुझ को परित्याग न करो ।।६२।।

जो सुकवि, शान्तचित्त एव श्रीनाथ पाद सेवा कौतुक रूप व्रत मे आमोदी, जिनकी म्लानता विलुप्त एव अश्रद्धा विशीर्ण हुआ है, इस जगत् मे किसी भी व्यक्ति के सहित उनकी तुलना नहीं हो सकती है ।।६३।।

शाङ्गबन्ध का उदाहरण—त्रिभुवन पावनी श्रीकृष्ण नाम गाथाका लाभ श्रीकृष्ण की करुणा व्यतीत केवल कम के द्वारा नही हो सकता है । अनेक जन्म के पश्चात् उक्त कर्मिवृन्द की सुकृत राशि, कारण स्वरूप उन कृपासिन्धु के सेवक वृन्द के प्रति किसी प्रकार यदि प्रीति उत्पादन करती है । उनके चरणासव लाभ हेतु कठोर चित्त व्यक्ति भी मोह त्याग कर करुणात्मता को प्राप्त करता है, अतएव उन उत्पादन माधव का ही सर्वदा स्मरण करो । तदीय दिव्यरूप को चित्त मे मन्त्र के समान लिख, सो उससे साधुता होगी, एव साधुता होने से ही कृष्ण सङ्गलाभ होगा ।।६४ ६५-६६ -६७।।

एषु—श्रीनाथ पाद पाथोज- रसलालस चेतसा

कृतेय ततमोदा च स्वजने कविना कथा ॥९८॥ इति श्लोकान्तरम् ।

यथा वा—श्रीश प्रीति स्वनामाकृति-कथन विनाभाव पक्षे न विद्या ।

ऽऽमोद श्रद्धा कलापादपि सुखदमिथो भाव साम्राजतश्च ।

रम्या रम्यस्थलस्थ-प्रसर मद कलामोद -लक्ष्मीसमेत-

प्रेमासन्न- प्रगीत प्रणयिनि रुरुचे ताततद्भा विसाभा ॥९९॥

अत्र च—श्रीनाथ पाद पाथोज रसलालस चेतसा ।

भविता ततमोदस्थरसा सुकविना कृति ॥ इति श्लोकान्तरम् ॥१००॥

एकाक्षर पादो यथा—शशी शशी शशाशाशां पाथोऽपपापय पपि ।

लोलो ललाल लोलालीं ययाऽय योऽयया ययौ ॥१०१॥

दारुणेति—दारुण कठोरोऽपि ॥९७ ९८॥

श्रीश प्रीति श्रीकृष्णविषया प्रीति, स्व स्वीय यन्नामाकृत्योर्नामरूपयो कथन कीत्तन तद्विनाभाव पक्षे न भवति, किन्तु तदविना भाव पक्ष एव भवतीत्यथ । विद्याया आमोद सौरभ्य जगद् व्यापि यश इत्यर्थ, श्रद्धाया कलाप समूहश्च तयोद्व-द्वम् तस्मादपि न भवति, तथा सुखदो यो मिथो भाव परस्पर प्रीतिस्तस्यापि साम्राजत साम्राज्यात् (पा६ ४।१।१३०) "हायनान्त युवादिभ्यश्चेत्यण" । कीदशी ? रम्या रमा शोभा तस्यां साधु । रम्यस्थल श्रीवृन्दावन तत्रस्था ये प्रसरा जङ्गमा पशुपक्षि मृगादयस्तेषा मृगादय स्तेषां मदो भावोन्माद कला वदग्धी मोदो हर्षो लक्ष्मी शोभा तत् सहितो य प्रेमा तमासन्नो - ऽनुगतो य प्रगीत प्रतिष्ठित प्रणयिजन स्तत्र रुरुचे, रोचते स्म । तातेति वात्सल्येन सम्बोधनम् । हे मत् प्रियशिष्य ! तस्य प्रणयिजनस्य भा शोभा विसाभा मृणाल सदशी, अति निर्मलेत्यर्थ ॥९९॥

श्रीनाथेति । सुकविना कृति काव्य भाविता आविर्भाविता । कीदृशी ? ततमोदस्थो विस्ततानन्दस्थो रसो यस्यां सा । एष शार्ङ्गब धस्यव प्रपञ्च ॥१००॥

काचित् कृष्णमभिसरन्ती अकस्माच्च प्रमुदित वीक्ष्य अभिसत्तु मक्षमा क्षनुतपति—शशीरिति ।

उक्त विषय मे श्लोकान्तर यह है—श्रीनाथ के चरणारविन्द मकरन्दपान मे सतृष्ण चित्त कवि कत्त क स्वजन के समीप मे यह विपुलाह्लादमयी कविता प्रचारिता हुई ॥९८॥

यथा वा—श्रीकृष्ण की प्रीति तदीय नाम रूप कीत्तन के असद् भाव स्थल में विद्यमान नहीं होती है । विद्यामोद एव श्रद्धा राशि के द्वारा एव अतिसुखकर परस्परानुराग समृद्धि द्वारा भी सुलभ नहीं है ।

हे वत्स ! सुरम्य वृन्दावनावस्थित पशु पक्ष्यादि प्राणि वृन्द का भावोन्माद, प्रमोद, वदग्धी एव सौन्दर्य्य के सहित जो परम प्रेम, उक्त प्रेमके अनुगामी सुप्रतिष्ठित प्रणयि जनके सस्पृह हृदय मे ही परम रमणीया मृणालधवला उक्त कृष्ण प्रीति प्राय प्रतिभियत प्रकाशमाना है ॥९९॥

यहाँ पर श्लोकान्तर भी है—श्रीनाथ के पाद पद्म मधुपान मे समुत्सुकचित्त होकर कविने प्रचुर आमोदमय इस सत् काव्य का प्रणयन किया है ॥१००॥

एकाक्षरो यथा--ना नाना नाऽनिनोऽनेना नानाऽनेनाऽनन नु नु ।
नून नो नान्नू नऽनुनानऽनु नुन्न नून्निनी ॥१०२॥

शशी च द्र, आशा पूर्वदिश शशसा प्राप शश, प्लुतगतौ' पश्चिमायां दिशि अस्तीभूय पुन प्लुतेनव पूर्वां दिश जगामेत्यर्थ । कीदश ? शशी श कल्याण तन शेते, नतु मत् कल्याणे जागर्त्तीत्यथ, 'शीङ स्वप्ने' क्विब त । यद्वा, मत् कल्याणस्य शीर्हिसा एत, श हिंसायाम्' सम्पदादि क्विप । शमिति मा तमव्ययम् । दु खेन शशिनमाक्षिपति--पाप इति । अपपापप —अपगत पापानस्मद्विध युवती जनान् पापयतीति शोषयतीति स । "प ओ व शोषणे' पुन कीदृश ? पाप आशाम् अस्मन्मनोरथ पिबतीति स । न लोक' इत्यादिना षष्ठी निषेध । अतएव ल लो युवति सतष्ण कृष्णो लीलाली ललाल कामितवान् । "लोलस्ल सतृष्णयो ' इति, 'लीड श्लेषणे,' लल ईप्सायाम्' य श्रीकृष्णो यया लीलाख्या सह अय शुभावह विधि सम्प्रयोग ययौ प्राप । कीदश्या ? न विद्यते या यान यस्या सा अया, तया अयया, सम्प्रयोगे स्थिरयेत्यथ' वाम्यमकुवत्यवेति भाव । यद्वा न यातीत्येषा तया ॥१०१॥

ना नानोदादि । नानानाना निनोनेना इति श्लेष । ना पुरुष, परमेश्वरो नाना न भवति, किन्तु एक एवेत्यथ । कीदश ? अनिनो न विद्यते इन प्रभुयस्मात्, स एक एव प्रभुरित्यथ । 'इन सूर्ये प्रभौ राज्ञि इत्यमर । अनेना न विद्यते एन पाप यस्य, (छा० ८।१।५) "अयमात्मा अपहतपाप्मा" इति वत् । यद्वा, विषम जगत् स्रष्टावपि अनेना निरपराध । एकस्यव तस्य नानाविधजगत कारणत्व माह— नानाऽनेन । अनेन परमेश्वरेणव नाना—नानाविध म यिक जगद् भवतीत्यथ । नुभी नु जीवस्य जडरयापि अनन जीवन मनेन परमात्मनव भवति, किं पुनर्मायिकस्य ना ाविध जगत इति भाव ।

नूनमिति वितर्के, ऊनान् न्यूनान् नू नु पुरुषान् अनूनान् अ यूनाश्च पुरुषान् अनुलक्षीकृत्य नन् नुत भवति, "नुस्तुतौ" क्विपि नुत्, नुत स्तुत नुदति दूरीकरोतीति तथाभूतो न भवति ।

अनुत्कृष्टमुत्कृष्ट वा पुरुष देवादिक कश्चिदीश्वर त्वेन स्तौतु, तत्राप्यसहिष्णुता यस्य नास्ति, अमात्सर्य्यादिति भाव । प्रत्युत न नु निश्चितम् ऊन्निनी, उत् ऊध्व स्वग महर्लोकादिकञ्च नितरा नयतीति स । निकृष्टोत् कृष्टदेवोपासकानपि स एव स्वर्गादिक फल प्रापयति,—तस्यव सवफलदातत्वादिति भाव ॥१०२॥

एकाक्षर पादका उदाहरण– हाय ! शशी, अधुना हमसब के शुभ साधन मे उद सीन होकर सहसा पूर्वाशा मे अर्थात् पूवदिक मे उदित हुये है । हम सब के अभिसार मे विघ्न समत् पादन कर एव अपाप अङ्ग को विशोषण कर आशालता को मूलत उन्मिलित किया है । वनमाली भी सम्प्रति विलोल चित्तसे आलिङ्गन दायिनी सुधीरा सखी की लालसा से वशीभूत होकर तदीय सङ्गति प्राप्त करने मे समथ हुये हैं ॥१०१॥

एकाक्षर का उदाहरण– निखिल जगन्नाथ नाना नही है किन्तु उन निष्कलङ्क निरञ्जन के द्वारा नाना जगत् का निर्माण हुआ है । उन करुणामय की करुणा से ही प्राणिवृन्द प्राणव त हैं । न्यून हो वा अ यून हो, जो कोई नर तदीय स्तुति विनति करे तो आप उसका प्रत्याख्यान नही करते है । प्रत्युत उन सब को ऊध्व लोक मे स्थान दान करते हैं ॥१०२॥

सिंहावलोक श्लोकान्तर गर्भो यथा—

तेज किञ्चन तत्तदस्य सतत नव्याम्बुदाभ भज

स्निग्ध लोचनलोभद चतुरता लीलाविलासावलि।

अन्तश्चि तयता रसस्य सरणि श्रीराधिका प्रौढिम-

प्रेमार्द्रं रुचिरच्छवि स्मरवतीं क्रीडादधद् धामसु ॥१०३॥

अत्र—न काम्बुदाभ भज तत्तदस्य, लीला विलासावलिलोभश्च ।

श्रीराधिका प्रौढिमत रसस्य, क्रीडा दधद्धाम सुरच्छविस्म ॥

इति श्लोकान्तर गर्भ ॥१०४॥

पुनरुक्त वदाभास पुनरुक्त वदेव य ॥१०५॥

तव तनु शरीर सदृशी, काञ्चन कनकस्य वीरुध नेक्षे ।

राधे सुमुखि भवत्या, मुखवदनङ्कोऽपि शुभ्रांशु ॥१०६॥

तेज किञ्चनेति। तेज कथम्भूतम् ? अ तश्चि तयता जनाना रसस्य सरणि वत्म। सरणिमित्यस्य तेजो विशेषणत्वेऽपि अजहल्लिङ्गत्वान्न क्लीवत्वम्। धामसु कुञ्जगृहेषु स्मरवतीं क्रीडादधत्। सिंहावलोक न्यायेन यत् श्लोकान्तर तदपि गर्भेयस्य स च श्लोको यथा ॥१०३॥

नवाम्बुदाभमिति। धाम तेज, कीदृशम् ? श्रीराधिकाया या प्रौढि स्तया मता सम्मता रसस्य क्रीडा दधत् परिपुष्णत् सुराणा सूर्य्यादीनामपि छविस्तेजो यस्मात्, (गी० १५।६) "न तद्भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावक" इत्यादि, (कठ० २।२।१५) 'न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्र तारकम्" इत्यादि, तमेव भान्तमनुभाति सवम्" इत्यादि श्रुते। (गी० १५।१२) "यच्च द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" इति ॥१०४-१०५॥

श्रीकृष्ण आह— तवेति। हे राधे सुमुखि! तव क्षीण शरीर सदृशीं कामपि कनकस्य वीरुध नेक्षे। अत्र तनु शरीरयोरेकपर्य्यायत्वेन एव काञ्चन कनकयोरेकपर्य्यायत्वेन, च पुनरुक्तम्। तथा हे राधे! भवत्या मुखवदनङ्को निष्कलङ्कोऽपि शुभ्रांशु श्चन्द्रो न भवतीत्यर्थ। अत्रापि मुख वदनयो समान पर्य्यायत्वेन पुनरुक्तत्व ज्ञेयम् ॥१०६॥

सिंहावलोक श्लोकान्तर गभ का दृष्टा त—वह लोचन लोभनीय लीलाविलास वदान्य निकेतन, नवीन नीरद निभ, स्निग्ध नित्यस्निग्ध, अपूव तेज पदाथ, जो अन्त करण मे चिन्तापरायण जन गण के पक्ष मे रसके सृष्टि स्वरूप है जो श्रीराधिका के प्रौढिम पूर्ण प्रेमसे आर्द्र है, वृन्दावन धाम मे जो सचिरकाल रुचिरच्छवि होकर स्मर कल विस्तार कर विराजित है, हृदय धाममे अविराम उसकी अच्चना करो ॥१०३

यहाँ उसका गभस्थ श्लोका तर का अथ इस प्रकार है—पुरुषोत्तम के उस लीला विलास वलिमय, लोभ प्रद, नव नीरदाभ तेजपुञ्ज, जो श्रीराधिका की प्रौढि सम्मता रास क्रीडा को पोषण करते रहते हैं, सूर्य्यादि सुरवृ द की प्रभा भी जिससे प्रभासित होता है,उसका भजन निरन्तर हृदयाभ्य तर मे करो ।१०४।

जो पुनरुक्त के समान प्रतीयमान होता है—उसका नाम पुनरुक्त वदाभास है ॥१०५॥

अयं शब्दार्थ निष्ठोऽपि भवति ।

यथा—घन जलद रुचिर सुन्दर, धाममह सञ्चयौघलिप्ताश ।
विधुरमृतकरकलानिधि, रेष नभ पुष्कराकाश ॥

अत्र शब्दवदर्थोऽपि पुनरुक्तवदाभासते, न त्वस्य पौनरुक्त्यम्, नभा श्रावण स्तत् सम्बन्धि पुष्कर व्योम, तद्वत् आ सम्यक काश प्रकाशो यस्य स तथेति, कृष्ण पक्षे ऽनेनैव श्यामत्वोपलब्धे । पुनर्घन जलदेत्यादिना पुनरुक्तवत् श्यामत्वमित्यर्थं प्रतिभासते, नतु पुनरुक्त । वस्तुतस्तु नभ पुष्करा काशत्वस्य साध्यस्य घन जलदेत्यादि हेतुभूतम् । एव चन्द्र पक्षेऽपि । तेनोक्तरूप शब्द परिवृत्तिवत्त्वावपि विधुरिति नानाऽर्थस्य शब्दस्य स्थितौ तथा

घनेति । हे निविड जलदस्येव रुचिर सु दर श्रीकृष्ण ! पुनश्च हे सु दर वेह ! एषत्व विधु । सर्वेषां ससार दु ख विधुनोति हरतीति तथाभूत सन् असि । त्व कथम्भूत ? मह सञ्चयस्य कान्ति समूहस्य ओघेन वेगेन लिप्ता आशा दिक येन स । पुन कथम्भूत ? अमृतकर कलानिधि अमृतहस्तश्चासौ कलानिधिश्चेति, तथा कला ववश्री तस्या निधिरेव नभ पुष्करस्य श्रावण मास सम्बन्ध्याकाशस्येव आ सम्यक काश श्यामदीप्तिरस्य स ।

अत्र घन—जलद शब्दयो स्तथा रुचिर सुन्दरयो ,धाम महसो , सञ्चयौघयोरेक पर्य्यायत्वेन पुनरुक्त ववाभासत्व ज्ञेयम् ।

चन्द्रपक्षे, हे निविड मेघेन सु दर ! किञ्चिद दूरवर्त्ति मेघेन चन्द्रस्य शोभातिशयो भवतीति सर्वेरेव दृश्यते इति ज्ञेयम् । कथम्भूत ? अमृतकर कलानिधि —अमृत किरणश्चासौ कलानिधिश्चेति तथा कला

अयि सुमुखि राधे ! तुम्हारे क्षीण तन यष्टि के सदृश किसी कनकलता का निरीक्षण मैने नहीं किया । एव तुम्हारे मुख के सदृश निष्कलङ्क सुधांशु भी कहीं दृष्ट नहीं हुआ है ।

यह अलङ्कार शब्दार्थ निष्ठ भी होता है ॥१०६॥

उदाहरण—हे घन जलद जाल रुचिर सु दर द्युति परम पुरुष । तुम विधु के समान दु खा धकार को विदूरित करके दिग वलयको तेज पुञ्ज के द्वारा विलिप्त किये हो । हे नाथ ! तुम अमृत कर हो, निखिल कला निधान एव नभ पुष्कराकाश हो ।

इस श्लोक मे शब्द के समान अर्थ भी पुनरुक्तवत् आभासित हुआ है । कि तु वास्तविक उसकी पुनरुक्ति नहीं हुई । नभ शब्दसे श्रावण, एव पुष्कर शब्द से गगन का बोध होता है । श्रावणमासीय गगन के तुल्य आकाश- अर्थात् आ सम्यक काश अर्थात् प्रकाश इस प्रकार अर्थ करना होगा ।

कृष्ण पक्षमें उक्त विशेषण के द्वारा ही श्यामत्व की उपलब्धि होने पर पुनर्वार "घनजलद जालरुचिर" विशेषण से श्यामत्व की पुनरुक्ति हुई है, इस प्रकार प्रतीत होता है,कि तु वास्तविक पुनरुक्ति नहीं है । कारण, तुम निविड मेघ जाल के समान सु दर हो, इस हेतु श्रावण मासीय गगन के समान प्रकाशित हो रहे हो । इस प्रकार साध्य साधक भावसे उसकी व्याख्या करनी पड़ेगी ।

चन्द्र पक्ष मे भी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये । चन्द्र एव नभ —अर्थात् आकाश रूप सरोवर

विधार्थालङ्कारस्य स्थितत्वादर्थालङ्कारस्य प्राधान्यम् ॥१०७॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे शब्दालङ्कारनिर्णयो नाम सप्तम किरण ॥७॥

षोडश भारास्तस्या निधि । नभसि आकाशे पुष्कर श्वेत कमलमिव आ सम्यक काशो दीप्तियस्य सरोवरे यथा श्वेतकमल शोभते, तथैव नभोरूप सरोवरे चन्द्रोऽपीत्यथ ॥१०७॥

इति श्रीसुबोधिन्या सप्तम किरण ॥

मे, पुष्कर अर्थात् श्वेत पद्म के समान प्रकाशित होता है। अद्रूर मे निविड जलदजाल उदित होने से चन्द्र को भी रुचिर बोध होता है।

इस श्लोक मे उक्त विशेषण स्थित शब्द समूह का परिवत्तन करने पर भी विधु—यह नानाथ वाचक शब्द की स्थिति हेतु अर्थालङ्कार हुआ है। सुतरां अर्थालङ्कार का ही प्राधान्य है—यह कहना होगा ॥१०७॥

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रिकृतानुवादे

सप्तम किरण ॥७॥

—※※—

अष्टमः किरणः

—※※—

अथार्थालङ्कारा उच्यन्ते—

यथाकथञ्चित् साधर्म्यमुपमा

उपमानोपमेययो र्यथा कथञ्चिद् येन केनापि समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा। स चांशेन,

---

अर्थालङ्कार—निर्णय

यथा कथञ्चिदिति सूत्रस्यार्थमाह—उपमानोपमेययोरित्यादिना। उपमानोपमेययो सादृश्य सम्बन्ध उपमालङ्कार। सादृश्य सम्ब धमेवाह—यथा कथञ्चिदिति। एक द्वयादि धर्मेण, नतु सकलेन धर्मेणेत्यथ। येन केनापीति साधारणेनापि धर्मेणेत्यर्थ। समानेनेति—उपमानोपमेयवृत्तिनेत्यर्थ। धर्मेणेति—साम्येन

शब्दालङ्कार निरूपण के पश्चात् अर्थालङ्कार का निणय करते हैं। उपमान एव उपमेय का जिस किसी प्रकार से समान धम के द्वारा जो सम्बन्ध है, उसको उपमा कहते हैं। वह साधम्य सर्वांश

नतु सर्वरशै । सर्वांशत्वेनाभेदादुपमानोपमेय भाव न भवतीति ॥१॥

साभवद् द्विधा

सा उपमा ॥२॥

पूर्णा लुप्तेति पूर्णातु धर्मेणेव–यथादिभि

उपमानोपमेयाभ्याम्,

धम सामान्य धम आह्लादकत्वादि । इव -यथा वादय औपम्य वाचका । उपमान चन्द्रादि, उपमेय मुखादि, एतयुक्ता पूर्णा इत्यर्थ ॥३॥

इयमेवेव–वादिभिः ॥४॥

युक्ता श्रौती ॥५॥

इयमेव पूर्णा इव–यथा -वाऽऽदिभि युक्ता चेद् भवति, तदा श्रौती । (पा० ५।१।११६) "तत्रतस्येव" इत्यनेन विहितो वतिश्च श्रौत्यामेव ।

समाद्यैस्तु सा स्यादार्थी च तद्धिते ॥६॥

धनवान् पुरुष इतिवदभेदे तृतीया ।

तथा चोपमानोपमेय वृत्त्येकद्वयादि साधारणधर्माभिन्न सम्ब ध सादृश्य सम्बन्ध इत्यथ । स च सम्बोन्योऽऽशेन एकद्वयादि धर्मेणेत्यथ, नतु सर्वैरशैरिति, न तूपमान वृत्तिर्यावन्तो धर्मास्तर्त्यथ । अभेदादिति–स्वनिष्ठ यावद्धर्मेण स्वसदश स्वयमेव, अतोऽभेदेनोपमानोपमेयभाव एव न सम्भवतीत्यथ ॥१-२॥

पूर्णा त्विति । यत्र वाक्ये आह्लादकत्वादि धम्म वाचक शब्द, एवमौपम्यवाचकाश्च द्रादि निष्ठोपमानत्वबोधका इव यथादय शब्दा, एवमुपमानवाचकश्च द्रादि शब्द तथोपमेय वाचको मखादि शब्द, एतेसर्वेशब्दा यत्र वत्तन्ते, तत्रव वाक्ये पूर्णोपमालङ्कारो ज्ञेय इति समुदायाथ । किञ्च, औपम्य

मे नहीं होता है, किन्तु दश मे ही होता है। इस प्रकार समझना होगा। सर्वांश मे साधर्म्य होने से अभेद हेतु उपमान उपमेय भाव ही नही होगा ॥१ २॥

पूर्णा एव लुप्ता भेद से उक्त उपमा द्विविध होती हैं। धम अर्थात् आह्लादकत्वादि साधा ण धम, इव—यथा -वा इत्यादि औपम्य वाचक शब्द एव उपमान च द्रादि एव उपमेय मुखादि, ये सब विद्यमान होने से पूर्णोपमा होती है।

यह पूर्णा ही इव वा इत्यादि शब्द युक्ता होने से श्रौती नाम से अभिहिता होती है।

'तत्र तस्येव' इस पाणिनि सूत्रानुसार विहित वति प्रत्यय भी श्रौती स्थल मे ही होता है।

उक्त पूर्णा यदि सम, समान सदश, सदक्ष, सदक तुल्य सम्मित, निभ, चोर, बन्धु प्रभृति शब्द विशिष्टा होता है, तो उसको आर्थी कहते हैं। एव "तेन तुल्य क्रियाचेत्" पाणिनि कृत इस सूत्रके अनुसार

सा पूर्णा समाद्यै र्युक्ता यदि भवति, तदा आर्थी। समादयस्तु सम समान- सदृश - सदक्ष -सदृक् तुल्य सम्मित -निभ चौर बन्धु प्रभृतय । (पा० ५।१।११५) "तेन तुल्य क्रिया चेद्वति" इत्यनेन विहितेन वतिना चार्थी। तत्र "तेन तुल्यम्" इति तच्छब्द उपमान पर, तुल्यशब्द उपमेयपर । तस्य तुल्यमित्यत्र विपर्य्यय । उभय तुल्यमित्युभयनिष्ठ ।

वाक्ये समासे चेत्येते षोढा ॥७॥

एते श्रौती आर्थी च तद्धितादित्रिके षड् विधा भवति। तद्धितन्तु वत्यादि। तद् यथा वति—कल्प—देश्य—देशीय—बहुच—प्रभृतय । वाक्य प्रसिद्धम्, समासश्च। तद्धितगा श्रौती, वाक्यगा श्रौती, समासगा श्रौती, तद्धितगा आर्थी, वाक्यगा—आर्थी समासगा आर्थी पूर्णा षडेव ॥

लुप्ता तु लोपतः

धर्मवाद्युपमानानामेक—द्वि—त्रि—क्रमेण हि ॥८॥

वाचका ये इव-यथा सम समान सदृश सदक्षा इत्यादि शब्दास्तैषा द्वैविध्य प्रकल्प्य पूर्णाया अपि द्वैविध्यमाह—इयमेवेति।

अत्र वतिप्रत्यये सूत्रद्वय 'तस्य तुल्यम्' 'तेन तुल्यम्' इति च। तथा च 'तस्य तुल्यम्' इति सूत्रे विहित वति प्रत्यय श्रौत्यामे। पूर्णाया ज्ञेय । अन्यस्तु आर्थी रूपाया पूर्णाया ज्ञेय । विपर्य्यय इति—तस्य उपमेयस्य तुल्यमुपमानमित्यर्थ । उभय तुल्यमित्युक्ते उपमानोपमेयोभयनिष्ठ क्रम प्रतीयत लोपत इति कुत्रचिद् वाक्ये धर्मस्याह्लादकत्वस्य लोपः कुत्रचिद् धर्मस्य इवादेश्च द्वयोर्लोप । कुत्रचिद् धर्मवाद्युपमानाना त्रयाणा लोप । किन्त्वति—यत्र तस्योपमेयस्य तुल्यमित्यर्थे वतिप्रत्यय, तत्रैव श्रौती लुप्ता। अत्र यदि धर्मलोपस्तदा वाक्यार्थ एव न सम्भवति । तद्यथा वक्ष्यमाणोदाहरणे 'त्वदाननस्य म धुव्य लोचनानन्दि च द्रवत्।

विहित वति प्रत्यय स्थल मे भी आर्थी होती है। 'तेन तुल्य" इस पाणिनि मे तत् शब्द उपमान पर है, एव तुल्य शब्द उपमेय पर है। 'तस्य तुल्य" इस सूत्र मे उसके विपरीत अर्थात् तद् शब्द उपमेय पर एव 'तुल्य शब्द' उपमान पर होता है। उभय ही तुल्य है, इस प्रकार कहने पर साहृश्य उभय निष्ठ होता हैं।

उक्त श्रौती एव आर्थी प्रत्येक—तद्धितगत, वाक्यगत, एव समासगत होकर षड विध होती हैं। अर्थात् तद्धितगा श्रौती वाक्यगा श्रौति, समासगा श्रौती, एव तद्धितगा आर्थी, वाक्यगा आर्थी, एव समासगा आर्थी—पूर्णा ये षड विध होती हैं।

वति कल्प, देश्य देशीय बहुच प्रभृति तद्धित प्रत्यय हैं।

वाक्य एव समास सुप्रसिद्ध है।

धर्म इवादि औपम्य वाचक शब्द एव उपमान इसके एक, दो या तीन का लोप होने से लुप्ता होती है। उक्त लुप्ता धर्म लोप स्थल मे पूर्णा के समान षड विधा होनी चाहिये, किन्तु धर्म लोपस्थल मे तद्धितगा श्रौती की असम्भाविता हेतु लुप्ता पञ्चविधा ही होती है।

धर्मादीनामेकस्य द्वयोस्त्रयाणा व लोपत लुप्ताभवतीत्यर्थ ।

धर्मलोपे क्रमेणैषा पूर्णवत् षड्विधोचिता।
किन्तु तद्धितगा श्रौती लुप्तायां नेति पञ्चधा ॥

एषा लुप्ता तद्धितगादि–भेदेन पूर्णावत् षड्विधा भवितुमुचिता । श्रौती लुप्ता त्रिविधा, आर्थी लुप्ता त्रिविधेति । किन्तु धमलोपे तद्धितगा श्रौती लुप्ता न भवतीति पञ्च एव । वाक्यगा श्रौती लुप्ता, समासगा श्रौती लुप्ता, तद्धितगा आर्थीलुप्ता, वाक्यगा आर्थी लुप्ता, समासगा आर्थी लुप्तेति ॥९॥

क्यचि कर्माधारकृते कर्त्तृकर्मकृते णमि ।
क्यङि चेति पुनः पञ्चेवादि लोपे यथा क्रमम् ।

कमकृते क्यचि, आधारकृते क्यचि, कर्त्तृकृते णमि णमुलि, कर्मकृते वा णमुलि क्यङि चेति सा लुप्ता पुन पञ्चेति दश ॥१०॥

उपमानानुपादाने द्वैध वाक्य–समासयोः

तत्र लुप्तायामुपमानानुपादाने सति वाक्यसमासयो निमित्तयोर्द्वध भवति ॥११॥

इवादेरनुपादाने द्वैध स्यात् क्विप् समासयोः ।

पुनस्तस्या इवादि लोपे क्विपि समासे च द्वैधम् ॥१२॥

अक्ष्णोश्च तव लालित्य राधे नील सरोजवत्' ॥ इत्यत्र माधुर्य्यादि धमलोपे वाक्यार्थ सङ्गति न स्यात् । तस्मात् तद्धितगा श्रौतीलुप्ता नास्तीत्यतो द्विधव, अत श्रौती लुप्ता पञ्चधव ॥३ ९।

णमीत्यस्य व्याख्या—णमुलि । यत्र वाक्ये समासे वा धर्मोपमानयोरुभयो र्लोप स्तत्र पुनर्द्वैविध्य मित्यथ । यत क्विपि समासे च धमस्येवादेश्चोभयोर्लोप पुनस्तत्र द्वविध्यम् । क्यचि प्रत्यये उपमेयस्य

सुतरा श्रौती लुप्ता द्विविधा एव आर्थी लुप्ता त्रिविधा है, अर्थात् वाक्यगा श्रौती लुप्ता एव समासगा, श्रौती लुप्ता एव तद्धितगा, आर्थी लुप्ता एव समासगा श्रौती लुप्ता एव तद्धितगा आर्थी लुप्ता, वाक्यगा आर्थी, एव समासगा आर्थी लुप्ता—इस रीतिसे पञ्चविध हाती है ॥३ –९॥

इवादि का लोप होने पर उक्त लुप्ता कम एव आधार विहित क्यच प्रत्यय, एव कर्त्ता, कर्म्मविहित णमुल प्रत्यय एव कर्त्तृ विहित क्यङ प्रत्यय स्थलमे पुनर्वार पञ्चविध हाकर पूर्वोक्त पञ्चविधके सम्मिलन से दशविध होती हैं ।

उक्त लुप्तोपमा मे उपमान का अनुपादान स्थल मे वाक्य एव समास निमित्त दो भेद होते हैं ।
इवादि का अनुपादान से क्विप एव समास स्थल मे उक्त लुप्ता के पुनर्वार दो भेद होते हैं ।

धर्मोपमानयो लोपे द्वैध वाक्यसमासयोः।

पुनस्तस्या द्वैधमित्यथ ॥१३॥

धर्मेववादि लोपे तु द्वैध स्यात् क्विप् समासयोः।

पुनर्द्वैधमित्यथ ॥१४॥

उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि।

पुनरेका ॥१५॥

धर्मोपमेय लोपेऽन्या त्रिलोपे तु समासगा ॥१६॥

एव दशैकादश च लुप्ता स्यादेकविशति।

पूर्णा षड़ेव तेन स्युरुपमा सप्तविशतिः॥

तत्र पूर्णादिक्रमेणोदाहरणानि ॥१७॥

तद्धितगा श्रौती पूर्णा यथा—

त्वदाननस्य माधुर्यं लोचनानन्दि चन्द्रवत्।

अक्ष्णोश्च तव लालित्य राधे नीलसरोजवत्॥

तत्र (पा० ५।१।११६) "तत्र तस्येव" इत्यनेन वति श्रौत्यर्थप्रतिपादक" ॥१८॥

लोपे एकविधव। धर्मोपमेययो द्वयोर्लोपे तु पुनरन्या एकविधा। त्रयाणामुपमेयोपमानधर्माणा लोपे समासगा लुप्ता एकविधव, क्रमेण लुप्ता एकादश पूर्वोक्त दश च मिलित्वा—एकविंशति ज्ञेया ॥१०-१८॥

वाक्य एव समास स्थल मे धम एव उपमान ऐतदुभय का लोप होने पर उसके दो भेद होते हैं। धम एव इव-वा प्रभृति औपम्य वाचकका लोप होने पर क्विप् एव समास स्थल मे भी दो भेद होते हैं।

उपमेय का लोप से कयच प्रत्यय स्थल मे एकभेद होता है। धम एव उपमेय एतदुभय के लोप से भी एकभेद होता है, धम, उपमान वाचक एव उपमान इन तीनो का लोप होने पर समास स्थल मे भी एक भेद होता है।

इस प्रकार एकादश एव पूर्वोक्त दश, समष्टि मे लुप्ता के एकविंशति एव पूर्णा के षड् भेद होकर सप्तविंशति भेद उपमा के होते हैं।

पूर्णादि क्रमसे उदाहरण प्रस्तुत करती हैं ॥१० १७॥

तद्धितगा श्रौती पूर्णा का उदाहरण—हे राधे! चन्द्रवत् तुम्हारे आनन का माधुर्य्य एव नीलोत्पलवत् तुम्हारे नयनो का लालित्य,-लोक लोचन का परमान द का निदान स्वरूप है।

इस श्लोक मे चन्द्र एव नीलोत्पल शब्द के उत्तर "तत्र तस्येव" इस सूत्र के अनुसार विहित वति प्रत्यय श्रौतीत्व का प्रतिपादक हुआ है ॥१८॥

वाक्यगा श्रौती पूर्णा यथा—

श्यामे वक्षसि कृष्णस्य गौरी राजति राधिका ।
कनकस्य यथारेखा विमले निकषोपले ॥

अत्र श्यामगौरत्व धर्म, यथा शब्द उपमावाची, उपमान कनकरेखादि, उपमेय राधादि । अत्र व्यङ्ग्यमपि धर्मान्तर—मुपमानगतम्, तद्यथा–कनकरेखा निकषोपलयो र्निष्पन्दत्वेन राधाकृष्णयोरानन्दनिष्पन्दत्वम् ॥१९॥

समासगा श्रौती पूर्णा, यथा—

राधाकृष्णौ मम तडिद् दाममेघाविवाक्षणो, स्यातां तापप्रशमन कृतौ पीतनील प्रकाशौ ।
यावन्योऽन्यावयवरुचिभि काञ्चनेन्द्रनील र कलप्लेन ? कटमहसा निष्कराजेन तुल्यौ ॥

अत्र पूर्वार्द्धे इवेन नित्यसमासे विभक्त्यलोप, पूर्वपदप्रकृति स्वरत्वञ्चेति इवेन समास ॥२०॥

आर्थी तद्धितगा पूर्णा यथा—

कोमल ते वपुस्तन्वि राधे भाति शिरीषवत् ।
परुष वर्त्तते कस्मान्मनो दम्भोलिवत्तव ?

कनक रेखादीत्यादि पदेन निकषोपलञ्च । 'राधादि' इत्यादि पदेन कृष्ण वक्षश्च ॥१९॥

राधाकृष्णौ ममाक्ष्णस्तापप्रशमनकृतौ स्याताम् । यौ राधाकृष्णौ परस्पराङ्गरुचिभि स्वर्ण रि द्र नील श्राकल्पेन निष्कराजेन पदकश्रेष्ठेन तुल्यौ ॥२०॥

दम्भोलिवद् वज्रेण तुल्यम् । अत्र तेन तुल्यार्थत्वात् वति । अत आर्थी ज्ञेया । उत्तरार्धे निष्कराजेन तुल्यावित्यत्र समासगा भावाद्वाक्य गता आर्थी ज्ञेया ॥२१॥

वाक्यगा श्रौती पूर्ण का उदाहरण—कनक रेखा जिस प्रकार सुविमल निकषोपलोपरि परिस्फुट होकर विराजित है गौराङ्गी राधिका उस प्रकार श्रीकृष्ण के श्यामल वक्ष स्थल मे विराजित है ।

यहा श्यामत्व एव गौरत्व धर्म है, जिस प्रकार शब्द— उपमा वाचक है कनकरेखादि उपमान है, राधिका उपमेय है, यहा अन्य एकधर्म भी उपमान गत होकर व्यङ्ग्य हुआ है, कनक रेखा एव निकषोपल को निष्पन्दता के द्वारा राधा कृष्ण की आनन्द निष्पन्दता सूचित हुई है ॥१९॥

समासगा श्रौती पूर्णा का दृष्टान्त—नव तडिद्दाम एव नवीन नीरद के समान पीतासित द्युति श्रीराधाकृष्ण-मदीय नयन युगल के ताप प्रशमन कारी हो, जिन्होने परस्पर की अङ्गकान्तिच्छटा से स्वर्ण एव इन्द्रनील मणि रचित पदकराज के सदृश शोभा को प्राप्त किया है ।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध मे मूल श्लोकस्थित इव शब्द के सहित नित्य समास मे विभक्ति का लोप नहीं हुआ है, एव 'पूर्व पद प्रकृति स्वरत्वञ्च'' इस सूत्रके अनुसार इव शब्द के सहित समास हुआ है ॥२०॥

आर्थी तद्धितगा पूर्णा का उदाहरण—अयि तन्वि राधिके ! तुम्हारा शरीर शिरीष कुसुमवत्

अत्र "तेन तुल्यं क्रियाचेत्" (पा० ५।१।११५) इत्यनेन वति। तेन तुल्यार्थत्वादार्थी। वाक्यगार्थी पूर्णा यथा 'राधा कृष्णौ मम नव तडिद्दाम' इत्यादेरुत्तरार्द्धे "यादन्योन्याव्यव रुचिभि काञ्चनैर्नीलरत्नैराक् लृप्तेन प्रकटमहसा निष्कराजेन तुल्यौ' अत्र वाक्यगतम् ।२१

समासगा आर्थी पूर्णा यथा—

मृदुलमपि शिरीष तुल्यमङ्ग, कमलसम विकस मुख तवेदम्।
रसयति च वच सुधासमान, कथमशनिप्रतिम मनो दुनोति ?

इति पूर्णाया षड भेदा ॥२२॥

अथ धर्मलोपे वाक्यगा श्रौती लुप्ता यथा—

राधे सुन्दरताङ्गेषु वाग् भङ्गी वदने तव।
मनसि प्रेम वैदग्धी सत्य वच्मि सुधा यथा ॥२३॥

समासगा श्रौती लुप्ता यथा—भ्रुवौ तव धनुर्लते इव तदग्रतो लाञ्छने
लसन् मदिर दम्पती इव पुरस्तयो र्नासिका।

हे राधे! तवाङ्गमिद मुखञ्च सुधा समान वचश्च मा रसयति सुखयतीत्यर्थ। कथ वज्रतुल्य तव मनो मा दुनोति ॥२२॥

हे राधे! अह सत्य वच्मि, तवाङ्गेष सुन्दरता सुधेवस्वाद्वी। अत्र स्वादुत्वबोधक—पद भावादेव धमलोपो ज्ञेय तथापि धमवाचकपदस्याध्याहारादेव शाब्दबोधो ज्ञेय। एवमुपमानादिलोपोऽपि बोध्यम् ॥२३॥

धर्मलोपे समासगा लुप्तामाह— भ्रुवाविति। धनुर्लते इव, वक्रे मदिरदम्पती खञ्जन स्त्री पुरुषौ

सुकुमार है, किन्तु अन्त करण क्यो कुलिशवत् कठोर रूप से प्रकाशित है ?

यहा 'तेन तुल्य क्रियाचेत्" इस पाणिनि सूत्र के अनुसार उसके सहित तुल्य इस अथ मे वति प्रत्यय होने पर आर्थी हुआ है। वाक्यगा आर्थी पूर्णा यह है—

'नव तडिद्दाम एव नव नीरद के समान पीतासित द्युति" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध मे जो परस्पर की अङ्ग कान्तिच्छटा से स्वण एव इन्द्रनीलमणि रचित पदकराज के तुल्य है। इत्यादि अश है। यहाँ समासाभाव प्रयुक्त वाक्यगता आर्थी हुई है ॥२१॥

समासगा आर्थी पूर्णाका दृष्टान्त—हे राधे! तुम्हारे शिरीष सदृश सुकुमार अङ्ग, पङ्कजोपम प्रफुल्ल मुख मण्डल एव सुधा सहोदर वचन चातुरी, मुझ को अनुरागसान्द्र कर रही है, किन्तु तुम्हारा अन्त करण अशनि प्रतिम होकर क्यो मुझ को इस प्रकार व्यथित कर रहा है। इस प्रकार पूर्णाके षड भेद होते हैं।२२

धम लोप मे वाक्य गा श्रौती लुप्ता का उदाहरण—हे राधे! सत्य कहता हू। तुम्हारे सर्वाङ्ग मे सुन्दरता, वदन मण्डल मे वाग्भङ्गि एव हृदयाभ्यन्तर मे प्रेम वदग्धी-ये सभी सुधा तुल्य हैं। यहा 'सुधा तुल्य स्वादु" इत्यादि स्वादुता बोधक पदका अभाव हेतु धम लोप हुआ है ॥२३॥

स्मरेषुधिरिव स्फुरत् पुरटनिर्मिताऽधोमुखी
तदीय शिखरे न्यधाद् भमिव क कृती मौक्तिकम् ? ॥२४॥

तद्धितगा आर्थी लुप्ता, यथा—

शिरीषकल्पान्यङ्गानि राधे सृष्टवा विधिस्तव ।
दम्भोलिदेश्य धीराक्षि चेतो निरमिमीत किम् ? ॥२५॥

वाक्यगा आर्थी लुप्ता, यथा—तवास्य सममब्जेन मधुना सदृश स्मितम् ।
राधिके सुधया तुल्या वाचि शब्दार्थमाधुरी ॥२६॥

समासगा आर्थी लुप्ता यथा—

कनकशम्भुसमौ बत ते कुचौ, मम करावपि नीरज सन्निभौ ।
त्वमसि चन्द्रकशेखरसेविनी, यदुचित तदिहादिश राधिके ॥२७॥

अथेवादि लोपे कमव्यचि यथा—

वाणीयति कटाक्ष ते कामुकीयति यो भ्रुवम् ।
वृथा काम पुष्पवाणकार्मुको भुवि विश्रुत ॥२८॥

इव चञ्चले स्मरस्य कन्दर्पस्य स्वर्ण निर्मिताधो मुखी इषुधि स्तूण इव नासिका मनोहरा। तस्या नासिकाया शिखरे अग्रभागे भमिव नक्षत्रमिव ॥२४॥

शिरीष कल्पानि शिरीषतुल्यानि कोमलानि, दम्भोलिदेश्य वज्रतुल्य कठोरमिति धर्मलोपो ज्ञेय ॥२५ २६॥

चन्द्र शेखरो महादेव, पक्ष अहम् ॥२७॥

य कामस्तव कटाक्ष वाणीयति वाणमिवाचरति, भ्रुव कामुकमिवाचरति, स काम पुष्पनिर्म्मितो

समासगा श्रौती लुप्ता का उदाहरण—सुन्दरि ! तुम्हारे भ्रू युगल धनुलता के समान हैं, उसके अग्रभागमे लोचन द्वय क्रीडाशील खञ्जन युगलके तुल्य हैं एव उसके सामने नासिका रतिपति की स्वर्णमयी इषुधि के समान शोभित है। कौन कृती उसके शिखर देशके नक्षत्र के समान एक मौक्तिक का विन्यास किया है ? ॥२४॥

तद्धित गा आर्थी लुप्ता का उदाहरण—अयि धीराक्षि राधिके ! विधिने क्या तुम्हारे कलेवर को शिरीष कुसुम को अवलोकन कर एव अन्त करणको वज्र तुल्य निर्म्माण किया है ॥२५॥

वाक्यगा आर्थी लुप्ता का निदर्शन यह है—राधिके ! तुम्हारे मुख मण्डल कमल तुल्य है, एव ईषत् हसित मधु सदृश है, तथा वाक्य विन्यास मे शब्दार्थ माधुरी सुधा के समान है। २६॥

समासगा आर्थी लुप्ता का उदाहरण—हे राधिके ! तुम्हारे कुच युगल कनक शम्भु सदृश हैं, मेरे कर द्वय भी सरोज सन्निभ हैं, तुम भी चन्द्र शेखर की सेवा परायणा हो—सन्देह नही है, अतएव यहाँ जो कर्त्तव्य है, उसका अनुष्ठान करने के निमित्त अनुमति प्रदान करो ॥२७॥

आधारक्यचि यथा—वनीयति गृहे राधा गृहीयति वनान्तरे ।
यावदालोकित कोऽपि तया नवघनद्युति ।२९॥

क्यङि यथा—हरीयते सा स च राधिकायते, निर तर भावनयोभयोरमौ ।
विपर्ययेणापि विपर्य्ययोत्थिता वियोगब धा सदृशीमुपेयतु ॥३०॥

कर्म्मणि णमुलि, यथा—
राधे सुधाधामदर्श पश्यन्मुखमिद तव ।
कर्त्तरि णमुलि, यथा- कृष्णश्चकोरसञ्चार सञ्चरत्येष लालस ॥
—एव दश ॥३१॥

उपमानानुपादाने द्विधा । वाक्यसमासयो, यथा—
त्वदाननस्य सदृश किमपीह न दृश्यते ।
—इति वाक्यगा ॥३२॥

वाग कामु कौ यस्य तथाभूत सन् भुवि वृथाविख्यात ॥२८॥

गृहे वनीयति वने इवाचरति, वनमध्ये गृहीयति-गृहे इवाचरति ॥२९॥

क्यङि यथेति । उभयो राधा कृष्णयोमध्ये सा राधा निरन्तर श्रीकृष्णस्य भावनया हरीयत, अहमेव हरिरित्यात्मान हरिमिवाचरति । तथा स च श्रीकृष्णोऽपि निरन्तर श्रीराधिका भावनया राधिकायते, अहमेव राधिकेत्यात्मान राधिकामिवाचरति । विपर्ययेण राधिकाया श्रीकृष्ण रूपत्वस्य श्रीकृष्णस्य श्रीराधिकारूपत्वस्य च विपर्ययेण । विपर्ययोत्थितामिति श्रीराधिकाया स्वस्य श्रीकृष्णत्व भावनया श्रीकृष्णविरहपीडाद्यभावेऽपि श्रीकृष्णस्य यथा राधिका विरह पीडा जायते, तत् सदृशी राधिका विरह पीडा राधिकाया भवत्येव । एव श्रीकृष्णस्य स्वस्य राधिकात्व भावनया राधिका विरह पीडाद्यभावेऽपि श्रीराधिकाया यथा कृष्ण विरह पीडा जायते, तत् सदृशी श्रीकृष्ण विरह पीडा श्रीकृष्णस्य भवत्येवेत्यथ ।३०

हे राधे ! सुधा धाम्नश्चन्द्रस्य दर्शनमिव तव मुख पश्यन् ! कृष्णश्चकोरस्य सञ्चरणमिव

इवादि लोप होने पर कमविहित क्यच प्रत्यय स्थल मे लुप्ता का उदाहरण—जो तुम्हारे कटाक्ष को लेकर वाण के समान एव भ्रू लता को कार्म्मुक के समान व्यवहार करता है, वह कन्दर्प पुष्प वाण एव पुष्प धन्वा रूप मे वृथा भूतल मे ख्याति लाभ किया है ॥२८॥

आधार विहित क्यच प्रत्यय का दृष्टान्त—जिस समयसे राधिकाने घन श्याम रूप उस अनिर्वचनीय पुरुष को देखा है—उस दिन से गृह मे अरण्य के समान आचरण एव अरण्य मे गृहके समान आचरण किया है ॥२९॥

क्यङ प्रत्यय स्थल का दृष्टान्त—निरन्तर उभयने उभय की भावना करने पर राधिका भी अपने के कृष्णमान कृष्णवत् आचरण करने लगी, कृष्ण भी अपने को राधिका मानकर राधिका के समान आचरण करने लगे । विपर्यय मे भी उभय ही विपर्ययोत्थित तुल्य रूप वियोग वेदना का अनुभव किये थे ॥३०॥

कम एव कर्त्त विहित णमुल प्रत्यय स्थल का दृष्टान्त—राधे ! तुम्हारे सुधाकर दर्शनीय वदन

नहि त्वत्सदृशी क्वापि राधे कापि विलोक्यते ॥

—इति समासगा ॥

इवाद्यनुपादाने क्विप् समासगतत्वेन द्वैध यथा—

अशनयति कुसुममशनि, कुसुमति हालाहलत्यमृतम् ।
हालाहलमप्यमृतति, समयेऽस्या दुःखसुखदत्वे ॥३३॥

—इयं क्विब्गा ।

नव धाराधरश्याममभिराममिदं महः ।
आनयन्नयनानन्द कस्य नो हरते मनः ? ॥३४॥

—इयं समासगा ।

धर्मोपमानयो र्लोपे द्वैध यथा—

तम्मसि किति पिअन्ती, कट्ठरस मुरलिवा अणे कण्ह ।

सञ्चरति ॥३१-३२॥

अस्या राधिकाया समये श्रीकृष्ण विच्छेद समये दुःखमय च तुन सुखद वे सति कुसुममशनिरिव भवति —पुष्पस्य द्वीपनत्वेन वज्रतुल्य— तापकत्वात् । तथा अशनि कुसुममिव भवति वज्रस्य सद्य प्राणहारकत्वेन विरहज्वाला निवर्तकत्वाद् वज्र कुसुममिव भवतीति तस्या अभिप्राय । अमृतस्य मरण निवर्तकत्वेनामृतमपि हालाहल तुल्य भवति, तथा हालाहलस्य सद्य प्राणहारकत्वेन हालाहलमप्यमृत तुल्य भवति, जीवनापेक्षया मरण तस्या सुखद भवतीति ज्ञेयम् ॥३३॥

नवीन मेघस्येव श्याममित्यत्र ज्ञेया ॥३४॥

'ताम्यसि किमिति पिबन् काष्ठ रस मुरली वादने कृष्ण !
यस्यसमोनास्ति रस स इह नगरे गृहे गृहे भवति ॥

मण्डल को निरीक्षण करके श्रीकृष्ण लालसा हेतु चकार सञ्चार से इतस्तत सञ्चरण करने लगे थे ।३१।

उपमान का अनुपादान स्थल में वाक्य गत एव समास गत होकर जो द्विविध होते है, उसका उदाहरण इस भू मण्डल मे तुम्हारे आनन के तुल्य और कुछ भी दृष्टि गोचर नही होता है । यहा वाक्यगा हुई है ।

हे राधिके ! तुम्हारे सदृश मैने किसी को कही पर नही देखा है । यहा समासगा है ॥३२॥

इवादिका अनुपादान स्थल मे क्विप एव समास गत होकर जो द्विविध भेद है-क्रमश उसके उदाहरण

कृष्ण विच्छेद रूप दुःख कर समय मे कुसुम भी इसके सम्बन्ध मे अशनि के तुल्य एव अमृत भी हालाहल के तुल्य आचरण करता है । एव सम्मिलन रूप सुखद समय मे अशनि भी कुसुम के सदृश हलाहल भी अमृत के तुल्य आचरण करता है ॥३३॥

यह नवीन नीरद श्याम अभिराम तेज पङ्कज नयनानन्द उत्पादन पूर्वक किसका चित्त हरण नहीं करता है ? यह समासगा है ॥३४॥

धर्म एव उपमान के लोप से जो द्वैविध्य होता है - उसका उदाहरण—

जस्स समोणत्थि रसो, सो इह णअरे घरे घरे होइ ॥३५॥

अत्र यस्य समो नास्तीत्युपमानलोपो धर्मलोपश्च। इय वाक्यगा। इहैव 'जच्छरिसो णत्थि रसो' इति पाठे समासगा। धर्मेव-वादि लोपे क्विप् सम सगतत्वेन द्वैध यथा--

'अशनयति कुसुमम्' इत्यादौ 'हन्त कदाचिदपि तासाम्' इति चतुर्थे चरणे 'यदि स्यात्तदा' इवादि लोपे धर्म लोपे च क्विब्गा।

राधे शारदपीयूषमयूखमुखि मौनताम्।
मुञ्चपीयूषवचनैं सिञ्च मे कर्णयोर्युगम् ॥३६॥

बद्धो राधिकयाऽपाङ्गलतया कृष्ण कुञ्जर।
तत् केलिसाधनीभूतो न गन्तु क्वचिदर्हति ॥३७॥

अत्रधर्मेव--वादिलोपे समासगा।

उपमेय लोपे क्यचि तु एका यथा--

कोमलासि प्रकृत्यैव शिरीषादपि राधिके।
अहो मानस्य माहात्म्य येनत्वमशनीयसि ॥३८॥

अत्रात्मानमशनीयसीति वक्तव्ये आत्मशब्दस्योपमेयस्य लोप ॥

अत्र यस्यसमो नास्तीत्युपमान लोपो धर्म लोपश्च, यत् सदृशो नास्ति रस इति पाठे यत् सदृश इति समासगा उपमा ज्ञेया। अशनयतीत्यत्र पद्ये चतुर्थ चरण दुःख सुखदत्व रूप धर्म बोधक पद विहाय हन्तेत्यादि चतुर्थ चरणे सति धर्म लोपोऽप्यस्मिन् पद्ये ज्ञेय। शरत् कालीन चन्द्रमुखीत्यत्र समासगा तथा धर्म लोप इव लोपश्च, तथा 'कृष्ण कुञ्जर' इवेत्यत्र धर्मलोप इवादि लोपश्च। तत्तस्मात् तव केलिसाधन भूत कृष्णो गन्तु नार्हतीति ॥३५ ३७ ३८॥

हे कृष्ण! काष्ठ रसपान पूर्वक मुरली वादन मे क्यों इतना क्लेश उठा रहे हो? जिस के तुल्य रस और है ही नहीं, वह इस नगर के गृह गृह मे विद्यमान है।

इस श्लोक मे "जिसके तुल्य" यहा 'यत् सदृश पाठ करने पर समासगा होती है।

कुसुम भी अशनि के तुल्य एव अमृत भी हलाहल के तुल्य आचरण करता है, इत्यादि पूर्व श्लोक में कृष्ण विच्छेद रूप दुःखकर समय मे, एव "सम्मिलन रूप सुखद समय मे" इस अंश को परित्याग कर "हाय! कभी उन सबो का" इस प्रकार पाठ करने से इवादि लोप एव धर्म्मलोप स्थल में क्विप प्रत्ययगा का उदाहरण होता है।

अयि शरच्चन्द्र मुखि! तुम मौनभाव को छोडकर वचनामृत से मेरे श्रवण युगल को सेचन करो।

राधिका ने अपाङ्गलता के द्वारा कृष्ण कुञ्जर को बन्धन किया है। अतएव वह तुम्हारा क्रीडा साधन होकर सम्प्रति अन्यत्र गमन करने मे अक्षम है। यहाँ धर्म एव इवादि का लोप से समासगा का उदाहरण हुआ है। क्यच प्रत्यय स्थल मे समासगा का उदाहरण,—राधिके! तुम स्वभावत ही शिरीष पुष्पाधिक सुकोमला हो, किन्तु मानका कैसा विचित्र माहात्म्य है कि—सम्प्रति तुम अशनि के तुल्य

धर्मोपमेयलोपे यथा–

जयतिमनोभवसिद्धि, कापि शरच्चन्द्रम सम दधती ।

इत्यत्र उपमेयलोपे धमलोपश्च, 'शरच्चन्द्रसमललितास्य' इति यतो नक्तम् ।

त्रिलोपे समासगा, पूर्वस्यैवोत्तरार्द्धम् ।

चकिन मृगशावनयना, नयनानन्द सकोरोच्च ॥३९॥

अत्र मृगशावस्य नयने इवायते नयने यस्या इति समासे उपमानम्, तद्द्योतकमिवादि च तद्धमश्च, त्रयाणा लुप्ततेत्येकविंशति । पूर्णाभि सह सप्तविंशति ॥

एकत्वमुपमेयानामुपमानामनेकता ।

धर्मैकरूप्य वैरूप्ये द्वेधा मालोपमा भवेत् ॥४०॥

उपमा प्रपञ्चोऽयम् । उदाहरणम्—

मूलस्थितेनेव महोरगेण, लता दवेनेव कुरङ्ग बाला ।

मनोभवस्य क दपस्य सिद्धि रूपा कापि व्रजसु दरी जयति । कथम्भूता ? 'शरच्चन्द्रम स दधती' इत्यत्र मुखपदस्य लालित्यरूप धम बोधक—पदस्य च लापो ज्ञेय । शरच्च द्र ललितास्येत्युक्त उभयारेव विद्यमानत्वात धर्मोपमेययो लोप । जयति मनो भवसिद्धि कापीति शरच द्रमस दधतीति, पूर्वाधस्योत्तराध चकित मग शावत्यादि ॥३९॥

यत्रोपमेयानामेकत्वमुपमानानामनेकत्वम्, तत्र मालापमाभवेत् । सा द्विविधा । यत्रोपमेयोपमानयोरेव एव धमस्तत्रका । यत्रोपमेयस्यको धम उपमानानामेको धम्म स्तत्रा या । लता यथा मूलस्थितेन महासर्पेण

आचरण कर रही हो ?

यहा 'अशनि के तुल्य आचरण कर रही हो' इस वक्तव्य मे उपमेयभूत आत्मन शब्दका लोप हुआ है ।३५ ३९

धर्मोपमेयलोप दृष्टान्त –मनोभव की सिद्धि स्वरूपा वह अनिवचनीया नारी है, जिसने शरच्चन्द्र को धारण किया है । उसकी जय हो ।

यहाँ "शारद च द्र सदश सुललित वदना" इस प्रकार नही कहा गया है । अत यहा उपमेय एव धम उभय का ही लोप हुआ है ।

त्रिलोप स्थल मे समासगा लुप्ता का उदाहरण—पूव श्लोक के उत्तरार्द्ध मे है । यथा—

वह चकित मृग शावक नयना निरतिशय नयनानन्द विधान किया । यहा मृग शावक के नयन के तुल्य आयत नयन है, जिस के इस प्रकार समास मे उपमान एव उपमानद्योतक इवादि एव तद् द्योतक धम, एतत् त्रय का ही लोप हुआ है । इस प्रकार लुप्ता के एकविंशति भेद होते है । पूर्णा के सहित मिलित होकर सप्तविंशति सख्या होती हैं ॥३९॥

उपमेय की एकता एव उपमान की अनेकता होने से मालोपमा होती है ।

उक्त मालोपमा धम की एक रूपता एव नाना रूपता हेतु द्विविध होती है । उदाहरण—

हिमागमेनेव सरोजिनी सा, भवद् वियोगेन दुनोति राधा ॥

—अत्र धर्मैकरूप्यम् ॥४१॥

त्रैलोक्यसम्पदिव निभरगवहेतु माध्वीकपीतिरिव विह्वलताविधात्री ।
प्रस्वापनास्त्रफलिकेव मनोभवस्य, त्व ज्ञानविप्लवकरी मम भासि राधे ॥

अत्र वैरूप्य नानाविधत्वात् ॥४२॥

उपमेयस्योपमात्वमुत्तरोत्तरतो यदि ।
अभिन्नभिन्नहेतुत्वे द्विधा सा रसनोपमा ॥४३॥

यथा—आकृतिरिव ते प्रकृति, प्रकृतिरिवव्यवहृति सुमुखि !
व्यवहृतिरिव सत् कीर्त्ती, रम्या रमणी सभासु सखि राधे ॥४४॥

—अभिन्नधर्म्मा ।

दुनोति एव कुरङ्ग बाला यथा दावानलेन दुनोति, तथा हे कृष्ण ! सा राधा भवद् वियोगेन दुनोतीति । अत्रोपमेयोपमानाना तापाश्रयत्वरूपकधर्मो ज्ञेय ॥४०-४१॥

त्रैलोक्य सम्पद् यथा निभराहङ्कार हेतु, एव माध्वीकस्य पीति पान यथा विह्वलताकर्त्री, तथामनो भवस्य कन्दपस्य जृम्भणास्त्रस्य फलिका यथा विह्वलताकर्त्री, तथा त्वमपि मम ज्ञानस्य पूर्वापरानुसन्धानस्य विप्लवकरी नाशकरी ॥४२॥

उपमेयस्योपमानत्वमुत्तरोत्तरे यदि भवति, तदारसनोपमालङ्कारो ज्ञेय । सा उपमा द्विधा। उपमानोपमेययोरभिन्न एको धमश्चेदुपमालङ्कारस्य हेतुस्तदका। एवमुपमेयोपमानाना भिन्ना नानाधर्मा श्चेद्धेतवस्तदा अ या। एव क्रमेण द्विधा रसनोपमा ॥४३॥

आकृतिरिव प्रकृती रम्या । प्रकृतिरिव व्यवहृति र्व्यवहारोरम्येत्यादौ सवत्र रम्यत्वरूप एकोधम्म ॥४४॥

मूलस्थित महोरग के उत्पीडन से लताके समान, दावानल के उपद्रव से हरिणी के समान, हिमागम से सरोजिनी के समान तुम्हारे विरह से राधा अतिशय विधुरा हो गई है। यहाँ धर्म की एक रूपता हुई है ॥४० -४१॥

त्रैलोक्य सम्पत्ति जिस प्रकार निरतिशय गवहेतु है, माध्वीक पान जिस प्रकार विह्वलता का निदान है, कन्दप के प्रस्वापनास्त्र की फलिका जिस प्रकार ज्ञान विप्लव करी है हे राधे ! मेरे पक्ष मे भी तुम उसी प्रकार हो। यहा धम की विविध रूपता हुई हैं ॥४२॥

उपमेय का उत्तरोत्तर उपमानत्व होने पर उस को रसनोपमा कहते हैं। अभिन्न धमता एव भिन्न धम्मता हेतु उक्त रसनोपमा द्विविधा होती हैं ॥४३॥

उदाहरण—सखि सुमुखि राधिके ! रमणी मण्डलमे तुम्हारी प्रकृति आकृति के अनुरूप है, व्यवहृति प्रकृति के समान है, एव सत् कीर्त्ति व्यवहृति के समान रमणीया है। यहाँ धम अभिन्न हुआ है ॥४४॥

वपुरिव मधुर रूप, रूपमिवानन्ददायि गुणवृन्दम् ।
गुणविन्दमिव विशुद्ध, यश कृशाङ्गी सभासु तव राधे ।।४५।।
— भिन्नधर्म्मा।

एकस्यैवोपमानोपमेयमेयत्वेऽनन्वयोपमा ।

एक वाक्ये,

उपमानान्तराऽसम्बन्धोऽनन्वय ।।४६।।

यथा—आलोकि सा बालकुरङ्गनेत्रा, राधेव राधा भुवनेऽद्वितीया।
अद्यापि मे सन्ति मनोनिखाता--स्ते तत् कटाक्षा इव तत् कटाक्षा ।।४७।।

विपर्य्यास उपमेयोपमा द्वयोः ।।४८।।

द्वयोरुपमानोपमेययो विपर्य्यासे उपमेयोपमा ।

यथा—तनुरिव शोभा शोभेव तनुर्गरिमेव मधुरिमा तस्या ।
अथ मधुरिमेव गरिमा, राधाया किमपर ब्रूम ?।।३६।।

यथा वा—हरिरिव राधा राधेव हरिर्गरिमेव मधुरिम च तयो ।
अथ मधुरिमेव गरिमा, महिमेव कृपा कृपेव महिमा च ।।५०।।

इयमेवान्योन्योपमा ।

वपुरिवेति। वपुयथा तव प्रत्यङ्ग सौष्ठव तथा रूपमपिमधुरम् । रूप यथा मधुर तथा गुणवृन्दमपि आनन्ददायि । एव क्रमेणात्रोपमा भिन्न धर्मा नानाधर्म्मा इत्यथ ।।४५ ४६।।

तस्या राधायास्ते कटाक्षास्तस्या राधाया कटाक्षा इवाद्यापि मम मनसि निखाता निमग्ना सन्ति ।४७।
विपर्य्यासे उपमेयस्योपमानत्वे उपमानस्योपमेयत्वे सतीत्यर्थ ।।४८।।
इयमुपमेयोपमवान्यो योपमालङ्कारो ज्ञेय ।।४९ ५०।।

हे राधे ! कृशाङ्गी समाज मे तुम्हारा रूप तुम्हारे शरीर के समान मधुर है, तुम्हारी गुण राशि तुम्हारे रूप के समान आनन्द दायक है, एव तुम्हारा यश तुम्हारी गुण राशि के समान विशुद्ध है। यहा भिन्न धम है ।।४५।।

एक वाक्य स्थल मे यदि एक वस्तु का ही उपमानत्व एव उपमेयत्व होता है तो उसको अनन्वयोपमा कहते हैं। उपमानान्तर के सहित सम्बन्ध न होने के कारण ही अनन्वयनामक अलङ्कार होता है।।४६।।

सुन्दरी बाल कुरङ्ग नयना राधा के समान उस राधा को मै निरीक्षण किया हू, उसका कटाक्ष के समान ही उसकी कटाक्ष च्छटा अद्यापि मेरे मन मे निविष्ट होकर है ।।४७।।

उपमान एव उपमेय का परस्पर विपर्य्यास होने पर उपमेयोपमा होती है ।।४८।।

उस सुन्दरी की शोभा तदीय तनुके समान है, तनुभी शोभा के समान है, एव तदीय मधुरिमा

उपमानस्य निन्दायामयोग्यत्वे निषेधतः ।
प्रशंसा योपमेयस्य सोपमेयोपमाऽपरा ॥५१॥

यत्रेति शेष ।

यथा—कल्पद्रुमे स्थावरता दृढत्व, चिन्तामणौकामगवीषु गोत्वम् ।
स्वभक्तसङ्कल्प विधेर्विधाने, हे नाथ कृष्ण त्वमिव त्वमेव ॥५२॥

अत्रोपमानस्य निन्दा ।

इन्दीवर वा दलिताञ्जन वा, नवाम्बुदो वा मघवन्मणिर्वा ।
कृष्णस्य धाम्न सदृश न किञ्चित्तदीयधामेव तदीयधाम ॥५३॥

अत्रायोग्यत्वे निषेध ।

एवमन्येऽपि बहव सन्ति, ग्रन्थ गौरव भयान्नोदाह्रियन्ते ॥

असम्भाव्य समुद्भाव्योपमानेऽसम्भवोपमा ॥५४॥

या क्रियते इति शेष ।

उपमानस्य नि दाया सत्या यत्रोपमेयस्य प्रशसा एवमुपमानस्ययोग्यत्वे सति तस्य निषेधादुपमेयस्य प्रशसा, सा अपरा उपमेयोपमा ॥५१-५२॥

मघवन्मणिरिन्द्रनीलमणि । श्रीकृष्णस्य घ म्न का ते सदश न किञ्चिदस्ति ॥५३॥

असम्भाव्यमिति । उपमाने ऽसम्भाव्य यद्वस्तुन सम्भावना नास्ति तस्य सम्भवना कृत्वा योपमाक्रियते साऽसम्भवोपमा ॥५४॥

तदीय गरिमा के समान है, उसकी गरिमा भी उसकी मधुरिमा के समान है ॥४६॥

उदाहरणान्तर—राधा—हरि के तुल्य है हरि भी राधा के सदश है, उभय की मधुरिमा उभय की गरिमा के समान है, उभय की कृपा उनकी महिमा के समान है, दोनो की महिमा भी दोनो की कृपा के तुल्य है । यही अन्यो योपमा है ॥५०॥

जहा उपमान की नि दा के द्वारा उपमेय की प्रशसा होती है, अथवा उपमान की अयोग्यता हेतु उसके निषेध के द्वारा उपमेय की प्रशसा होती है वहाँ और एक प्रकार उपमेयोयमा होती है ॥५१॥

उदाहरण—कल्पद्रुम मे भी स्थावरत्व, चिन्तामणि मे भी दृढत्व एव काम धेन मे गोत्व है, अतएव स्वकीय भक्त के सङ्कल्प पूण हेतु हे नाथ श्रीकृष्ण ! तुम तुम्हारे ही सदशी हो । यहा उपमान की नि दा हुई है ॥५२॥

इ दीवर हो, अथवा दलिताञ्जन हो, नवाम्बुद हो वा इ द्रनीलमणि हो श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग के सदृश क ई भी पदाथ नही है तदीय तनु तदीय तनुके सहित ही तुलनीय है ।

यहाँ और भी अनेक भेद हो सकते हैं, ग्रन्थ विस्तार हेत वे सब उदाहृत नहीं हुये ॥५३॥

यथा—पूर्ण सदैवास्तु सुधामयूख, कलङ्क हीनश्च सदैवभूयात्।
नाय चकोरैरपिपीयता च राधे त्वदास्येन तुला विभत्तु ॥५५॥
अय चन्द्र सदा चकोरै पीतोऽपि यदि कदाचिच्चकोरै न पीयता तुला न विभर्त्तु ॥५५॥

सम्भावनोपमानेनोपमेयोत्कर्षहेतुका।
उत्प्रेक्षा नूनमित्यादि, शब्दद्योत्या ॥५६॥

उत्प्रेक्षानामालङ्कार। सम्भावना हेत्वन्तरोपन्यासेन वितर्कणम्। नून,-मन्ये, शङ्के, इव, ध्रुवम्, नु, किम्, किमुतेत्यादयोनूनमादय।

यथा—नष्टो नष्ट प्रतिकुहु मुहु पूर्णतामेति चन्द्रो
राका राका प्रति न तु भवेदन्यरूप कदापि।

सुधामयूखश्च द्र सदा अपूर्णोऽपि यदि कदाचित् सदापूर्णो भवति। हे राधे! तदा त्वदास्येन तुला बिभर्त्तु। अय चन्द्रोऽमृतमयत्वेन चकोररपि सदा पीतोऽपि यदि कदाचिच्चकोर न पीयताम्, तथापि तुला न बिभर्त्तु॥"५५॥

उपमेयस्योत्कर्ष हेतुका या उपमानेन सह सम्भावना, सोत्प्रेक्षा ॥५६॥

प्रतिकुहु प्रति अमावस्याया मुहु सवस्य मेवामावास्यायामित्यर्थ। चन्द्रो नष्टो नष्ट, अवश्य नश्यत्येव एव राका राका प्रति सवस्यामेव पूर्णिमाया चन्द्र पूर्णता प्राप्नोति।

कदापि कस्यामपि अमावास्यायां पूर्णिमाया वा चन्द्रोऽन्यरूपो न भवति। अत्र सवस्यामावास्याया नाशे सवस्यामेव पूर्णिमाया पूर्णिमाया च पुराणादौ योऽयो हेतु श्रूयत, स न, किन्तु मयेद सम्भाव्यते—हे ललिते! त्वन्मुख वीक्ष्यवीक्ष्य विधाता अनुमास मासे मास त चन्द्र निर्मिमीते।

अय भाव —सवजगन्निर्म्माण कृत्वा ललितामुख दृष्ट्वा एतत् सदृश किञ्चिद् वस्तु निर्म्माणे विधातु

उपमान मे जो असम्भाव्य है, उस वस्तु की सम्भावना करके जो उपमा प्रयुक्त होती रहती है, उसको असम्भावनोपमा कहते हैं॥५४॥

उदाहरण—राधे! सदा अपूर्ण एव सकलङ्क सुधाकर भी यदि कदाचित् सदा पूर्ण एव निष्कलङ्क होता है, एव चकोर निकर भी तदीय सुधापान मे विरत होते है, तो वह तुम्हारे मुख की तुलना हो सकती है॥५५॥

उपमेय के उत्कर्ष हेतु उपमान के सहित जो सम्भावना अर्थात् हेत्वन्तर उपन्यास द्वारा जो वितर्क करण है, उसको उत्प्रेक्षा कहते हैं।

वह उत्प्रेक्षा नून, मन्ये, शङ्के, इव, ध्रुव, नु, किं, किमुत, प्रभृति शब्द द्वारा द्योतित होती है॥५६॥

उदाहरण—चन्द्र प्रति अमावस्या मे विनष्ट होकर प्रति पूर्णिमा मे सम्पूर्ण होता है। किसी अमावस्या वा पूर्णिमा मे अन्यरूप नही होता है। हे ललित! इस विषय मे अपर कोई हेतु है यह प्रतीत नहीं होता है। मै विचार करता हू—सुचतुर विधाता निश्चय ही तुम्हारे मुखमण्डल को निरीक्षण करके

नान्यो हेतु स्तदिह ललिते वीक्ष्य वीक्ष्य त्वदास्य

नून धाता तमति चतुरो निर्मिमीते ऽनुमासम् ।।५७।।

यथा वा (द्वितीय किरणे २८) 'उत्कीर्णरिव' इत्यादि ।

यथा वा – जृम्भानुब ध विकसद वन्दनोदराणा

चन्द्र करेण कृपयेव कुमुद्वतीनाम् ।

निर्वाप्य गाढ विरहानल मुज्ज्वलन्त

मङ्गार पुञ्जमिव कर्षति भृङ्गसङ्घम् ।।५८।।

यथा वा—श्रीवत्सस्य च कौस्तुभस्य च रमादेव्याश्च गर्हाकरो

राधापादसरोजयावकरसो वक्ष स्थलस्थो हरे ।

रिच्छा यदा अजनि तदा प्रतिपद्दिनमारभ्य पूर्णिमाया सम्पूर्ण चन्द्र निर्म्माय ललितामुख सादृश्यमदृष्ट्वा दु खेन पुन प्रतिपद्दिनमारभ्य किञ्चित् किञ्चिद् विखण्डय अमावस्याया पूर्ण निर्मित सम्पूर्ण च द्र दूरीकृत्य पुनश्च द्रा तर निर्म्माणे प्रवृत्तश्चतुरो विधाता इत्यादि मासे मासे एवमेव करोति, न तु निवृत्तो भवति ।५७।

यथा वेति । मुद्रित कलिकाना च द्र दर्शनेन मुद्रात्यागएव जम्भारम्भस्तेन प्रकाशित वदनोदराणा कुमुद्वतीना गाढ विरहानलरूपमुज्ज्वलन्तमङ्गार समूह च द्र कृपयेव स्वकिरण रूप करेण निर्वाप्य पश्चात् कुमुद्वतीगर्भस्थित ज्वालारहितम्, अतएव श्यामवर्णमङ्गार पुञ्जमिव भृङ्ग समूह कर्षतीत्युत्प्रेक्षा ।

अत्र कुमुद्वता भ्रमरयोर्व्यवहारो यथा रात्रौ विकसिताना कुमुद्वतीना मध्ये मकरन्दपान थ ये भ्रमरा प्रविष्टा आसन्, प्रात काले सूर्य्यदर्शनात् मुद्रिताना कुमुद्वतीना मध्ये त एव भ्रमरा बद्धा बभूवु । पुन सन्ध्याकाले च द्र दर्शनाद् विकसिताना तासा मध्या ते भ्रमरा निर्जग्मुस्त एवाङ्गार पुञ्जत्वेनोत् प्रेक्षिता इति भाव ।।५८।।

श्रीकृष्णस्य वक्ष स्थलस्य श्रीराधापाद सरोज यावकरसो वो युष्मान् पातु । कीदृश ? श्रीवत्स कौस्तुभ लक्ष्मी रेखाणा गर्हा तिरस्कार करोतीति श्रीकृष्णस्य वक्ष स्थ यावक शोभाया अग्रे कौस्तभादय स्तिरस्कृता भव तीत्यथ । अत्रोत्प्रेक्षामाह- वक्षस श्यामतारूपान्धकार व दीकृता प्रात कालीन सूर्य्यद्युति मण्डलीव ।

उसके अनुरूप निर्म्माण करने की इच्छा से प्रतिमास मे उक्त पूर्णचन्द्र का निर्म्माण करते हैं। अपर उदाहरण—द्वितीय किरण के २८ श्लोक मे उत्कीर्णरिव" है ।।५७।।

सुधाकर —जैसे कृपापर वश होकर ही जृम्भारम्भ हेतु विकसित वदना कुमुदिनी वृन्दक प्रज्ज्वलित गाढ विरहानल को करके द्वारा निर्वापित करके अङ्गार पुञ्जके समान भ्रमर सङ्घको समाकर्षण कर रहा है ।।५८।।

अन्य उदाहरण—श्रीहरि के वक्षस्थल स्थित राधापादसरोज शोभी यावक रस अलक्तक' जो समीपस्थ श्रीवत्स, कौस्तुभ एव कमलादेवी को भी पराजित करता है, जिसको देखने से बोध होता है, तिमिर समूह ही जसे चतुरता पूवक अरुण किरण पुञ्ज को ब दी किये हैं, अथवा-कालिन्दी का कृष्णवर्ण

बालार्कद्युति मण्डलीव तिमिरैश्छन्देन वन्दीकृता
कालिन्द्या पयसीव पीवविकच रक्तोत्पल पातु व ॥

अत्र इवोत् प्रेक्षायाम्, तुल्यादौ सवत्र सम्भावनमेव ॥५६॥

स सशयः ॥६०॥

भेदानुक्तौ यदुक्तौ तु सन्देहः, ॥६१॥

सन्देहनामालङ्कार ।

क्रमेणोदाहरणे–

राधे मुख तव विधुनु सरोरुह नु, नेत्रे च खञ्जन युग नु चकोरकौ नु ।
मूर्तिश्च काञ्चन लतैव नु चन्द्रिकानु, धाता नु पञ्चविशिखो नु रसो नु वाद्य ॥६२॥
मेघ किमेष स कथ धरणौ किमस्मि श्चन्द्रोऽयमस्य विगत क्वनु वा कलङ्क ।

ननु सूर्यमण्डलोदय नाश्यऽन्धकार कथ सूर्यद्युति मण्डलीं वन्दी करोति ? तत्र ह—छन्देनेति। श्रीकृष्णस्य वक्ष स्थल रूप महदाश्रयरूप चातुर्य्येणेत्यथ । उत्प्रेक्षान्तरमाह –कलिन्द्या पयसि पीव पुष्ट विकसित रक्तोत्पलमिव ॥५९॥

स इति। उपमेये उपमानस्य भेदानुक्तौ सत्या य सशय, स स देहा नामालङ्कार किं वा उपमेये उपमानस्य भेदोक्तो सत्या य सशय ' स सन्देह नामालङ्कार ॥६० -६१॥

हे राधे ! तव मुख विधुर्वा कमल वा नु विकल्पे । अत्र सशये उपमेये मुखेच द्रस्य भेदोक्ति र्नास्ति। हे राधे ! तव आद्य स्रष्टा किं विधाता, किंवा पञ्चवाण, कदप किंवा रस शङ्गारो एष श्यामसुन्दर पदाथ, किं मेघ ? अय मेघश्चेत् स धरणौ कथम् ? अतो मेघो न भवति, तथा च अय क इति सन्देहोऽत्र वत्तत एव। अत्रोपमेये उपमानस्य मेघस्य भेदोक्ति वत्तते ।

मुख वीक्ष्याह—अस्मिन्निति। अस्मिन् श्यामसुन्दरे कि च द्र ? अय च द्रश्चेत्तदा अस्य प्रसिद्धस्य सकलङ्कस्य च द्रस्य कलङ्क क्व गत ? अय निष्कलङ्को दृश्यते स तु स कलङ्क, अत प्रसिद्धच द्रो न

सलिल मे रक्तोत्पल जसे परिणत एव प्रफुल्ल हुआ है, वह तुम सबके विघ्ना धकार विदूरित करे ।

मूल श्लोक मे प्रयुक्त इव शब्द उत्प्रेक्षा व्यञ्जक है, इस रीति से सवत्र सम्भावना होती है ॥५९॥

उपमेय पदाथ मे उपमान भेद का अनुल्लेख स्थल मे जो सशय होता है—उसको स देहालङ्कार कहते हैं। किंवा उपमेय म उपमान का भेद विद्यमान होने पर भी जो सशय उपस्थित होता है, वह स देहनामक अलङ्कार है ॥६० ६१॥

क्रमश उदाहरण—राधे ! तुम्हारे मुखमण्डल क्या पूण चन्द्र है, अथवा प्रफुल्ल—अरवि द है ? नेत्रद्वय क्या खञ्जन युगल अथवा चकोर युगल है ? यह मूर्त्ति क्या काञ्चन लतिका अथ वा शारद चन्द्रिका है ? और तुम्हारे विधाता क्या पञ्चशर है, अथवा शृङ्गार रस है ।

यह क्या मेघ है ? मघ होने से धरातल मे उसका सञ्चार कसे सम्भव होगा ? पूर्णे दु भी वह कसे होगा ? ऐसा होने पर उसका कलङ्क कहाँ गया ? विद्यु माला क्या विलसित है ? उसकी भी स्थिरता

माला किमत्र तडित स्थिरता क्व तस्या, कृष्ण किमेष सुमुख सखि पीतवासा ।६३।

नात्र 'स कथं धरणौ' इति सन्देहोच्छेद, अपि तु तत् परिपोष एव, एतेन निश्चयान्तोऽय न भवति । कृष्ण किमेष' इति किं शब्दो निश्चय बाधते ।

स यथा—मेघो नाय व्रजपतिसुतोनापि सौदामिनीय
पीत वास सुरधनुरिद नव वर्हावतस ।
वालाकीय न खलु वितति पश्य मुक्तावलीय
विस्रब्धा त्व विहर शरदि प्रावृषि कोऽवकाश ? । ६४॥

रूपक तु तत् । यत्तादात्म्य द्वयोः ॥६५॥

द्वयोरुपमानोपमेययो, अतिशयभेदादपह्नुत भेदत्व तादात्म्यम् ।

तच्च द्विधैवेति विदुर्बुधाः
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च ॥६६॥
आरोप्यमाणश्चारोपविषयो यत्र शब्दगौ ।

भवति । तथा चाय क इति स देहो यथास्थित एव । पीताम्बरमालक्ष्याह—अत्र श्यामस् बरे किं तडिद्गतो विद्युल्लताया माल-श्रेणी, तस्या विद्युल्लत या स्थिरता क्व ? अथवा, एव सुन्दर मुखयुक्त पीतवस्त्र विशिष्ट कृष्ण किम् ? अत्रापि निश्चयो नास्ति । तस्मान्नाय निश्चया न्त सन्देह, अत्र स कथ धारणाविर्ति पदेन स देहच्छेदो न, अपि तु तस्य सन्देहस्य कस्यचिन्मत निश्चयान्तसन्देहोऽप्यलङ्कारविशेष ॥६२–६३॥

तन्मतेऽ यत्रोद हरणमाह—क्वचिदिति । वक्ष स्थले दृश्यमानेय वितति श्वेत वस्तुनो विस्तारा न वालाकी वकपङ्क्ति समूह । तस्मान्मेघादयो वर्षाकाले प्रादुर्भवन्ति, सम्प्रति शरदि प्रावृष वर्षाकालस्य कोऽवकाश ? एव सत्यय श्रीकृष्ण एवेति विस्रब्धा विश्वस्ता सतीत्वमनेन सह विहर ॥६४॥

द्वयोरुपमानोपमेययोयत्तादात्म्य तद् रूपक—रूपकनामालङ्कार । तथा च चन्द्रवन्मुखमित्यत्र उपमानोपमेययो भेद बाधक वति प्रत्ययाऽस्ति । अतो न रूपकम् किन्तु यत्र मुख चन्द्र इति मुखचन्द्रयोरभेद प्रतीति स्तत्रव रूपकमित्यथ । यत्र त्वारोपविषयोपमेयबोधक—शब्दो वर्त्तते किन्तु आरोप्य-माणोपमान बोधक शब्द काव्ये नास्ति, अपितु अर्थ मर्यादया स शब्दोऽनुमेय एव, तस्मिन्नेव पक्षे कुत्रचित्

कहा है ? हे सखि ! तब क्या यह हमारे वह पीताम्बरधर, सुमुख श्यामसुन्दर है ?

इस श्लोक मे 'मेघसे धरातल मे उसका सञ्चार कैसे सम्भव होगा ? इस उक्ति के द्वारा सन्देह का उच्छेद न होकर सन्देह का पोषण ही हुआ है । अतएव यह निश्चयान्त नामसे अभिहित नहीं हो सकता है । "तब क्या यह हमारे वही पीताम्बरधर है" यहाँ मूल श्लोकस्थ 'किम्' शब्द के द्वारा निश्चय का निषेध ही हुआ है ।

कतिपय व्यक्ति निश्चयान्त स्थल में भी सन्देहालङ्कार मानते हैं । ६२–६३॥

उसका उदाहरण—यह मेघ नहीं है, यह व्रजराज तनय है, यह सौदामिनी भी नहीं है, तदीय पीत

तदादिः, ॥६७॥

आदि समस्तवस्तुविषयम् ।

आरोप्यमाणः शाब्द आर्थश्च तत्परम् ॥६८॥

परम् एकदेशविवर्त्तित्वम् ।

शाब्द शब्दोपात्त, आर्थोऽथगम्यश्च, कश्चिचश्छाब्द, कश्चिदथमर्यादयाऽसेय इत्येकदेश विवर्त्तित्वम् ॥

क्रमेणोदाहरणे—उदञ्चद् वक्षोजस्तवकनमिता बाहुविटप,
द्वयी दोले रम्या स्मितकुसुमसौरभ्य-सुभगा ।
इय सन्ध्यारागच्छविल-मृदुपाण्यङगुलिदला,
नवीना ते राधे विलसति तनूरत्नलतिका ॥६९॥

अत्र समस्तवस्तुविषयम्,-आरोप्यमाणारोपविषययो शब्दोपात्तत्वात् ॥

चरणे उपमान बोधक शब्दोऽप्यस्ति, तत्रैकदेश विवर्त्ति रूपक ज्ञेयम् । एव क्रमेण भेदद्वय भवतीत्यथ ॥६५ ६८॥

इय तनुरूपा रत्नलतिका विलसति । कथम्भूता ? स्तनरूप स्तवकेन नमिता । तनुरपि साहजिक लज्जया किञ्चि नम्रा भवति, पुनश्च बाहु एव शाखाद्वयी, तस्या दोलन विषये रम्या लतापि शाखाया किञ्चिच्चलने रमणीया भवति । हस्तयोरपि किञ्चिलने माधुर्य्यस्योत्कर्षो भवतीति ज्ञेयम । पुनश्च सन्ध्याकालीन रक्तच्छवि कान्ति गृह्णति या मृदुपाण्यङगुलयस्त एव पल्लवा यत्र ॥६९॥

बमनमात्र है, यह इद्र धनु नही है यह उनका बर्हावतस हे । यह बलाका—वक पङक्ति नही है, यह उनकी मुक्ताश्रेणी है । अतएव हे सखि ! तम विश्वस्ता होकर इनके सहित विहार करो, देखो, इस शरत् काल मे प्रावट कालकी सम्भावना कहा है ? ॥६४॥

उपमान एव उपमेय एतदुभय का जो तादात्म्य है, उसको रूपक कहते है । अतिशय अभेद हेतु भेदका अपह्नव करने का नाम तादात्म्य है ।

यह रूपक समस्त विषय एव एकदेश विवर्त्ति भेद से द्विविध हैं ।

जहाँ आरोप विषय उपमेय एव आरोप्यमाण उपमान—उभय ही शब्दोपात्त होते है, वहा समस्त वस्तु विषय रूपक होता है । एव जहा आरोप्यमाण उपमान समुह के मध्य मे कुछ शब्दोपात्त होता है, एव कुछ आथ अथवा तात्पर्य्य गम्य होता है, वहा एकदेश विवर्त्ति रूपक होता है । ६५ ६८॥

क्रमिक उदाहरण प्रस्तुत करते है—हे राधे ! तुम्हारी यह नवीना तनुरत्नलता—समुन्नत पयोधर स्तवकभार से अवनमिता है, बाहु विटप युगल के सञ्चालन से सुललिता है, स्मित कुसुम सौरभ से सौभाग्ययुक्ता है, एव सन्ध्याराग रक्त-मृदु कराङगुलि दल से विराजिता है ।

इस श्लोक मे आरोप्यमाण एव आरोप विषय शब्दोपात्त होने के कारण,—समस्त वस्तु विषय रूपक हुआ है ॥६९॥

प्रसूनै र्नानाभै स्मितमलिनिमारुण्यपिशुन
लसन्नानाभावा मधुपगणझङ्कारकलहा ।
श्रिया सार्द्धं स्पर्धां वत विदधति गोकुलपते
रुरस्यारुस्यानामुपरि वनमाला विजयते ।७०॥

अत्र वनमालाया नायिकात्वेनारोप, श्रिय प्रतिनायिकात्वेन, स चार्थ एव, प्रसूनाना स्मिताद्यारोपस्तु शाब्द, इति एकदेश विवर्त्ति ।

आरोपविषयाभावेऽप्यारोप्ययदि तत् परम् ॥७१॥

परमन्यप्रकार मित्यर्थ ।

यथा—मधुरिमरस व्यापीमत्तहसी प्रजल्प,
प्रणयकुसुम वाटी भृङ्गसङ्गीतघोष ।

नानाभ श्वेत–श्याम–रक्त नानावर्णै प्रसून लसन्नानाभावा, श्रीकृष्णस्य उरस्या उरसि भवा वनमाला रस्यानामास्वाद्याना वस्तूनामुपरि विजयते ।

प्रसून कीदृश ? स्मितेत्यनेन प्रसाद, मलिनिमेति वाम्यान्, आरुण्येत्यनुराम तथा चैतपा सूचकरित्यथ ।

अत्र श्वेत पुष्पे स्मितत्वारोप, श्याम पुष्पे वाम्यत्वारोप, रक्त पुष्पेऽनुरागत्वारोपा बोध्य । वन मालाया नायिकात्वारोप रेखा रूपायालक्ष्म्या प्रति नायिकात्वारोपश्चाथ एव, नतु शाब्द तयो र्बोधक शाब्दभावात् ।

स्मितादि बोधक शब्दाना विद्यमानत्वात् । अतोऽत्र शाब्द आर्थश्चोभयमपि वत्तत इति एकदेश विवर्त्ति । यत्र तु केवल शाब्द एव, तत्र समस्त वस्तु विषय रूपकमिति भेदो ज्ञेय ॥७०॥

आरोप विषयस्योपमेयस्याभावेऽपि यद्यारोप्यमुपमान वत्तत, तदा तद्रूपक परमन्यप्रकारमित्यथ ।७१।

मधुरिमाति- माधुर्य रसस्य वापी स्वरूपे श्रीकृष्णे या मत्तहसी तस्या प्रजल्प स्वरूपो दशी निनादो जयति, अत्रारोप विषयस्योपमेयस्य कृष्णस्य बोधक पदाभावादन्य प्रकार रूपक ज्ञेयम् ।

स्मित, मालिन्य एव आरुण्य सूचक विविधप्रभ प्रसून पुञ्ज से विविध भाव सङ्कुला एव मधुकर कुलके झङ्कार कलह से समाकुला होकर जो लक्ष्मी देवी के सहित सतत स्पर्द्धा करती है, अतिहृद्य आस्वाद्य समूह के शीषस्थान मे अवस्थान कारिणी, गोकुल पति के वक्ष स्थल विलासिनी इस वनमाला की जय हो

इस श्लोक मे वनमाला को नायिका रूप मे एव लक्ष्मी के प्रति नायिका रूपमे आरोप किया गया है। वह आथ वा तात् पर्य्य गम्य है, एव श्वेत पुष्पादि को स्मितादि रूप मे आरोप—शब्द गम्य है। इस रीति से एकदेश विवर्त्ति रूपक हुआ है ॥७०॥

आरोप विषय के अभाव से भी यदि आरोप्य की विद्यमानता हो तो वहा भी एक प्रकार रूपक होता है ॥७१॥

उदाहरण—माधुर्य्यरस सरसी का मत्त हसीरव स्वरूप, प्रणय पुष्पोद्यान का भृङ्ग सङ्गीत स्वरूप,

सुरतसमरभेरी—भाङ्कृति पूतनारे
जयति हृदयदशी कोऽपि वशीनिनाद ॥७२॥

अत्र मधुरिमरसवाप्यादीनामारोप्याणामारोपविषयो नास्तीति ॥

उक्त प्रसङ्गि,

प्रसङ्गि प्रकृष्टसङ्गवत् स जातीय बहुलमित्यर्थ । त्रिविध भेद मेव यदुक्तम् । ७३॥

निःसङ्गमेकमेव विवक्षितम् ।

एकमेव प्रधानत्वेन विवक्षित तथाविध सजातीयशून्य नि सङ्गम् ॥७४॥

यथा—न पश्यति न भाषते नच शृणोति न स्पन्दते,
निमीलति विधूणते पतति मूच्छतीय यत ।
तदेतदनुमीयते किमपि बाधते राधिका,
मुकुन्दविरह-व्यथा विषविसप-विस्फूजितम् ॥७५॥

वशी निनाद पुन कथम्भूत ? प्रणय रूप कुसुमस्य वाटी स्वस्वरूपे श्रीकृष्णो ये भ्रमरा स्तेषा सङ्गीत घोषस्वरूप । पुनश्च राधा कृष्णयो सम्भोग एव सुरत समर स्तत्र य भेरी तस्या भाङ्कार शब्द स्वरूप ॥७२॥

उक्त प्रसङ्गीति सूत्रम् । तत्र प्रसङ्गीत्यस्य व्याख्या प्रकृष्टसङ्ग वदिति । उक्त मित्यस्य व्याख्या त्रिविधमिति ।

तथा च पूर्वोक्त त्रिविधरूपकस्योदाहरण पद्यत्रयमनेकरूपकविशिष्टमित्यथ । अत्र मधुरिमेति पद्ये उक्त वशी निनादस्य हसीप्रजल्पत्वादिना रूपक सजातीयानेक रूपकालङ्कार विशिष्ट त्रयमस्त्यतः प्रसङ्गि, प्रकृष्टसङ्गविशिष्टमित्यथ । यत्रकमेव रूपक प्रधानत्वेन विवक्षित पूववत् सजातीय रूपका तर नास्ति, तत्र नि सङ्गमेव तद्रूपक ज्ञेयम् ॥७३—७४॥

तस्मादेतदनुमीयते—श्रीकृष्ण विरह जन्य—व्यथारूपविषस्फोटस्य किमप्यनिवचनीय विस्फूजित माटोपो राधिका बाधते । अत्र केवल व्यथाया विषविसपत्वारोप , नतु सजातीय रूपकान्तरमस्तीति ॥७५॥

सुरतसमर भेरी का गभीर भाङ्कार 'शब्द' स्वरूप, पूतनाध्वसी का वह हृदयदशी अपूव वशी निनाद विश्व विजयी हो ।

इस श्लोक मे माधय्य रस सरसी प्रभृति आरोप्य का आरोप विषय का उल्लेख नही है ॥७२॥

रूपके जो तीन भेद एव उसके उदाहरण उल्लि खत हुये है । उसके प्रत्येक मे सजातीय अनेकरूप का समावेश है । उस की प्रसङ्गी नाम से कहा जा सकता है । जहा एक ही रूपक प्रधान रूप से विवक्षित होता है, तादश सजातीय शू य रूपक को नि सङ्ग कहते है ॥७४-७४॥

जब राधिका कुछ भी नही देख रही है कुछ नहीं सुन रही है, कहती नहीं है स्पन्दित नहीं हो रही है, केवल नयन निमीलन करके है, घूर्णित हो रही है, गिर रही है, मूर्च्छित हो रही है, इस से अनुमान होता

माला रूपकमन्यत्तु ज्ञेयं मालोपमानवत् ॥७६॥

यथा—श्रवसो कुवलयमक्ष्णो, रञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावनरमणीना, मण्डनमखिल हरिर्जयति ॥७७॥

यथा वा—सौटीर्यं स्मरभूपते र्मधुमदो लावण्यलक्ष्म्या स्मय
सौभाग्यस्य विलासभूमधुरिमोल्लासस्य हास प्रिय ।
अद्भुत गुण सम्पदामुपनिषत् केलिविलासावले
सेय लोचनचन्द्रिकाचयचमत्कारश्चकोरेक्षणा ॥७८॥

श्लिष्टस्य वाचकस्यानुरोधादारोप एव चः ।
सोऽन्यस्यारोप हेतुश्चेत् परम्परित नामकम् ॥७९॥

अन्यस्याश्लिष्टस्यारोपे यदि हेतु स्यात्तदा रूपक परम्परिताख्यम् ॥

अत्र यथा मालोपमान पूर्वमुक्तम्, तथैव मालारूपकमप्य यजज्ञेयम्, ॥७६॥

व्रज सुन्दरीणामखिलमण्डन रूपो हरि जयति । कथम्भूत ? श्रवसो नीलोत्पलरूप ॥७७॥

सेय चकोरेक्षणा राधिका मम लोचनचन्द्रिका चयज यो यश्चमत्कारस्ततुल्य चमत्काररूपा । तथात्र चमत् कार विशिष्टेत्यनुक्त्वा चमत्कार इति धर्म निर्देश आधिक्य विवक्षया । यथा देवदत्त पण्डित इत्यनुक्त्वा साक्षात् पाण्डित्यमेवेत्युक्ति पाण्डित्यातिशय बोधयतीति बोध्यम् तथात्र चमत्काररूप धर्म निर्देशश्चमत्कारातिशय बोधयतीति बोध्यम् । तथा कन्दर्प भूपते शौटिर्य्य पराक्रमस्तद्रूपा इत्यर्थ ।

अत्रापि पराक्रमातिशयविवक्षया धर्म निर्देश । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । पुनश्च लावण्य सम्पत्ते मधुपान जन्य मत्ततारूपा, सौभाग्यस्य स्मयो गर्वरूपा, माधुर्य्योल्लासस्य विलास भू, श्रिय शोभा सम्पत्ते हास, गुण सम्पदामद्भुत द्वैताभाव अस्या गुण सम्पत्तुल्या कस्या अपि गुण सम्पन्नास्तीत्यर्थ ॥७८-७९॥

है कि वनमाली के विरह वेदना रूप विषविसर्प ही विस्फूर्जित हो रहा है ॥७५॥

मालोपमा के समान मालारूपक भी एक प्रकार होता है ॥७६॥

उदाहरण—श्रवण युगल का नीलोत्पल, नयन युगल का अञ्जन वक्ष स्थल का इन्द्रनील मणिदाम अधिक और क्या-व्रज रमणी वृन्दके अखिल मण्डन स्वरूप न द नन्दन की जय हो ॥७७॥

उदाहरण—मदीय लोचन युगल की सुचारु चन्द्रिका राशि के तुलयचमत्कार कारिणी वह चकोराक्षी राधिका, क दर्प भूमि के पराक्रम स्वरूप, लावण्य लक्ष्मी के मधुमद स्वरूप, सौभाग्य समूह क गर्वस्वरूप, मधुरिमोल्लास के विलास भूमिस्वरूप शोभा सम्पत्ति का हास स्वरूप, गुण सम्पद का अद्भुत स्वरूप एव केलि विलासावलिका उपनिषत् स्वरूप है । अर्थात् इस की गुण सम्पत्ति के तुल्य अपर किसी की भी गुण सम्पत्ति नही है ॥७८॥

श्लिष्ट वाचक के अनुरोध से जो आरोप है, वह यदि अपर का अर्थात् अश्लिष्ट का आरोप मे निमित्त

यथा—पद्माननोत्सुकतया भ्रमर कलाभि, सर्वाभिरन्वित तया त्वम खण्ड इन्दु ।
त्वन्मानसे कनकपङ्कजिनीतयाऽसो, सा राधिका सुररमणी निकराधिकव ।८०।

अत्र पद्म पद्मा च, कलाश्चतु षष्टि कला चन्द्रस्य षोडशो भागश्च, मानस चित्त मानससरश्च, सा राधिका सारेणाधिका साराधिका च । इत्येषा वाचकानामनुरोधाद् भ्रमरादि-शब्दानामारोप ।।

भेदे सत्यपि तत् ।।८१।।

तत् परम्परितम् ।

यथा—रत्न स्तम्भौ व्रजमृगदृशा चित्तदोलोत्सवस्य
　　श्रीराधाया रतिजयकला-तोरणोत्तानदण्डौ ।
दत्येन्द्र णा परिभव-महायज्ञ-नीलेन्द्र यूपौ
　　शुण्डे कामप्रमद-करिणो कृष्ण बाहु स्मराम ।।

पद्माननेति श्लिष्ट पदम् । पद्मानामेव पद्मानन तत्रोत्सुकतया हे कृष्ण ! त्व भ्रमर । अत्र पद्मा लक्ष्मी, तस्या आनने कमलारोप अतोऽत्र परम्परित रूपकम् । तथा कलाभिरेव कलाभि, अत्र चतु षष्टि कलाया च द्रस्य षोडश भाग रूप कलारोपस्तेनारोपेणा श्लिष्टस्य च द्रस्य कृष्णे आरोप । एव त्व मानसमेव मानस तत्र कनक पङ्कजिनीतया स्वण कमलिनीत्वेन सौ सा प्रसिद्धा राधिका स्वर्गाङ्गना निकरेभ्यो-ऽधिकव । अत्र मानस चित्त तन मानस सरोवरारोप स्तनारोपेणाश्लिष्टाया स्वणकमलि या राधिकायामारोप ।।८०।।

वेदेऽश्लिष्टे सत्यपि तत् परस्परित—रूपक भवति ।।८१।।

बाहु कथम्भूतौ ? चित्तदलनमेवोत्सवस्तस्य रत्न स्तम्भौ । श्रीराधाया रतेर्या जयकला उत्कष वदर्धो—स्व तोरण व वनमाला, तस्य बन्धनाथ मुक्तानदण्डौ । भिन्न शब्दस्याश्लिष्ट शब्दस्य वाच्यस्य

होता है तो उसको परम्परित रूपक कहते है ।।७१।।

उदाहरण—हे कृष्ण ! पद्मानन क प्रति उत्सुकता हेतु तुम भ्रमर हो, सकल कला समन्वित होने के कारण तुम पूण चन्द्र स्वरूप हो, एव सुरनणी निकराधिका वह राधा भी त्वदीय मानस मे कनक पङ्कजिनी नाम से प्रसिद्धा है ।

इस श्लोक मे पद्मानन शब्द से पद्म का आनन बोध होता है, पक्ष मे पद्म । अर्थात् लक्ष्मी का आनन है, कला शब्दसे चतु षष्टि कला है, पक्ष मे च द्र की षोडश कला है, मानस शब्द से चित्त का बोध होता है, पक्ष मे मानस सरोवर है मूलस्थ सा राधिका शब्द से सार मे अधिका अथ है, पक्ष मे वह राधिका अथ है । ये सब श्लिष्ट वाचक शब्द के अनुरोध से अश्लिष्ट भ्रमरादि शब्द का आरोप श्रीकृष्ण मे होने के कारण—परम्परित रूपक हुआ है ।।८०।।

भेद स्थल मे—अर्थात् अश्लिष्ट शब्द स्थल मे भी उक्त परम्परित रूपक होता है ।।८१।।

उदाहरण—व्रजसुन्दरी वृन्द के चित्त दोलोत्सव के रत्न मय स्तम्भ युगल स्वरूप श्रीराधाकी रति

अत्र चित्तदोलादे श्लिष्टशब्द वाच्यस्योत्सवाद्यारोपेण बाह्वो रत्न-स्तम्भत्वाद्यारोप सिद्धएव । आद्ययोर्मिश्रत्वम्, उत्तरयो शुद्धत्वम् । रसना-रूपकमन्ये पठन्ति ॥८२॥

यथा—कुसुमस्मितैर्लतानां, स्मित कुसुमै र्गोपरमणीनाम् ।
किसलय करै रमूषां, स करकिसलयैश्च पिप्रिये तासाम् ॥

स कृष्ण, अमूषां लतानाम्, तासां गोपरमणीनाम् ॥८३॥

यातु प्रकृतस्यान्यथाकृतिः । सापह्नुतिः ।

अपह्नुति-नामालङ्कार । अन्यथाकृति - प्रकृत निषिध्या यग्य स्थापनम् ॥८४॥

यथा—ताम्राधरोष्ठदलमुन्नतचारुनासमत्यायतेक्षणमिद तव नास्यमास्यम् ।
बन्धुकयुग्म तिलपुष्प सरोजयुग्म, स पूजित स्वयमसौ विधिनैव चन्द्र ॥८५॥

चित्तदोलनादे आद्ययो रत्न स्तम्भ दण्डयोर्मिश्रत्व माल रूपकेन सह मिलन ज्ञेयम् धर्मैवरूप्य तु । तद् यथा चित्तस्यदोलनेन य उत्सव स्तस्य रत्नस्तम्भौ रते र्या जयकला उत्कष वदन्धी, तत्र तोरणेति व्याख्याने मालारूपकम् ॥८२॥

लताना कुसुम रूपस्मितै कत्त भि स कृष्णोऽपि पिप्रिये, प्रीतियक्तो बभूव । तथा गोपरमणीना स्मित रूप कुसुमै कत्तृ भि श्रीकृष्ण पिप्रिये । एवममूषा लताना पल्लव कर, तथा तासा व्रजसुन्दरीणा कर किशलय स कृष्ण पिप्रिये ॥८३-८४॥

अधर-नामेक्षणादि विशिष्ट मिद तवास्य मुख मुख न भवति । बन्धुकेत्यादि पुष्प करण विधिना चन्द्र पूजित ॥८५॥

विजय वदन्धी क समुन्नत तोरण दण्ड द्वय स्वरूप, दत्ये द्र वृन्द के परिभवरूप महायज्ञ के इन्द्र नीलमणि निर्म्मित यूपद्वय स्वरूप एव काम तथा प्रमद रूप कुञ्जर द्वयक शुण्ड द्वय स्वरूप, श्रीकृष्ण के बाहुद्वय का स्मरण हम सब सतत करते हैं ।

यहाँ अश्लिष्ट शब्द वाच्य चित्तद लनादि के उत्सवादि रूप मे आरोप हेतु बाहु का रत्न स्तम्भादि रूप मे आरोप सिद्ध हुआ है । उसके मध्यमे प्रथमोक्त दो मिश्र हैं, एव शेषोक्त दो शुद्ध हैं । कतिमय व्यक्ति रसनारूपक नामक का एक भेद स्वीकार करते हैं ॥८२॥

लतावली का कुसुमरूप स्मित के द्वारा एव गोपरमणीमण्डली का स्मित रूप कुसुम के द्वारा एव उक्त लतावली का किसलय रूप करके द्वारा तथा उक्त गोपीमण्डली का कर रूप किसलय के द्वारा श्रीनन्दन दन अतिशय आनन्दित हुये थे ॥८३॥

प्रकृति की अन्यथाकृति—अर्थात् प्रकृत वस्तु का निषेध पूवक अप्रकृत का स्थापन को अपह्नुति अलङ्कार कहते है ॥८४॥

उदाहरण—राधे ! अरुणाधरौष्ठ पल्लव से सुललित समुन्नत सुचारु नासिका सुशोभित, सुदीर्घ विलोचन विराजित तुम्हारे मुखमण्डल जो दृष्टि गोचर हो रहा है, यह तुम्मारे मुख मण्डल नहीं है । स्वय

यथा वा—इद ते लावण्यवततिफलयुग्य नतु कुचौ
मते रज्जून्माथो नभसि तव राधे न वलय ।
इय नाभी मग्न स्मर फणिफणा नील मणित
समुद् यान्ती कान्तिस्तव तनुरुहाणा न लतिका ॥८६॥

यथा वा—क्षीराब्धे कतिवीचय कतिलसद्रक्तोत्पलाना दल—
द्रोणो सञ्चय--वृष्टय कतिमधून्मत्तालि बिञ्छोलय ।
हेलोदञ्चदवाञ्चतोर्नयनयो कृष्णस्य नीलेक्षण—
व्यापारे कतिनो भवन्ति विविधज्योतिविलासच्छलात् ॥८७॥

अनेकार्थप्रतिपादकता यदि ।
एकार्थस्य तु शब्दस्य तदाश्लेषः स कथ्यते ॥८८॥

हे राध ! तव मध्यदेश रूपेनभसि वलयस्त्रिवल्यो न भवन्ति किन्तु मते श्रीकृष्ण बुद्धे र्बन्धनार्थं रज्जुरूप उन्माथ कूटय त्र भवति ।

तथैव तनुरुहाणा लतिका रोमावली न भवति किन्तु नाभीरूप ह्रदे मग्न कन्दपरूप सपस्तस्य फणास्थ-नीलमणे सकाशात् समुद् गच्छ नी कान्तिर्भवति ॥८६॥

हेलयोदञ्चत्तिरश्चीनयो श्रीकृष्ण नयनयोनीलेक्षण व्यापारे सति विविधाना श्रीकृष्ण नेत्रस्थ श्वेत-रक्त-श्याम ज्योतिषा विलासच्छलात् क्षीर समुद्रस्य कतितरङ्गा नोद्गच्छन्ति अपि तूद्गच्छ त्येव ।

तथा च श्रीकृष्णस्य तिरश्चीनाव लोकन समये नेत्रस्थमिद श्वेतरूप न भवति किन्तु क्षीर समुद्रस्य तरङ्गा एव दश्यमाना भवन्तीत्यपह्नुति । एवमुत्तर त्रापि ज्ञेया । तथव नेत्रस्य मिद रक्तरूप न भवति, कि तु प्रफुल्लरक्तोत्पलाना दला येव द्रोणी समूहा स्तेषा वृष्टय कति नो निर्भवन्ति वस त समये उ मत्तभ्रमर श्रेणय ॥८७॥

एकार्थस्य शब्दस्यानेक पदघटित--वाक्यस्य यद्यनेकार्थ प्रतिपादकता ॥८८॥

विधाता ने बधुक युगल तिलपुष्प एव सरोज युगल से उस पूर्ण चन्द्र की पूजा किये हैं ॥८५॥

उदाहरणान्तर—हे राधे यह तुम्हारी लावण्य लतिका के फल युगल कुच युगल नहीं है, मध्यदेश रूप नभोदेश मे श्रीकृष्ण की बुद्धि का बन्धन करने के निमित्त यह रज्जु रचित कूट यन्त्र है । त्रिबलि भङ्ग नहीं है, नाभि निमग्न फणी के फणामण्डल स्थित नीलमणि से उद्गत नील कान्ति है, तुम्हारी पल्लविता-लोमलतिका नहीं है ॥८६॥

अन्य उदाहरण—अवलीला क्रमसे उन्नमित एव अवानमित श्रीकृष्ण नयन युगल मे जब विलास विलोकन व्यापार समारब्ध होता है, तब उक्त नयन युग्म की श्वेत, रक्त, एव श्याम प्रभा का प्रसार छल से क्षीर समुद्र की कितनी तरङ्ग उठती रहती हैं कितना ही रक्तोत्पलदलरूप द्रोणी का वारि वर्षण होता है, कितनी मधुमत्त मधुव्रतावली विलसित होती है ॥८७॥

यथा—उदयति यस्मिन्नुदयति, तिरोभवत्यपि तिरोभवति ।
जगदेव तन्नतमसा, नाशिनि के कृष्ण तन्यता कोप ?

अत्रार्थस्यैवश्लेषो, न शब्दस्य, परिवृत्तिसहत्वात् । अत्र वाक्यमेकार्थमेव, तच्च सूर्य्य प्रतिपादकम्, तत्रापि श्रीकृष्ण प्रति काप्यभिमानवती विचारेणाभिमानखण्डन- पूवक वदति- यस्योदये सर्वोदय , यस्य तिरोभावे सर्वतिरोभाव , तत्र त्वयि, तत्र त्वयि को नाम मे कोप-- इत्यर्थान्तरम् । यथा (सप्तकिरणे ७४) -'विलोलसफुल्लकदम्बमाल ' इत्यादि ॥८९॥

श्लिष्टैर्विशेषणैरेव विशेष्यस्यान्यथास्थितिः
समासोक्तिः,

विशेष्यस्य केवलस्य श्लिष्टै विशेषणैरन्यथा स्थितिरन्यथा भाषण समासोक्ति नामालङ्कार ॥९०॥

यथा—त्वदङ्ग सङ्गेन विनैव राधे, क्षणे क्षणे ग्लायति नन्दसूनु ।
सदव वक्ष स्थल- केलि योग्या, न रोचतेऽस्मै वनमालि कापि ॥

हे कृष्ण ! यस्मिन् सूर्य्ये उदयति सति जगदुदयति, एवम्भूते तमसा नाशिनि सूर्य्ये क कोपस्तन्यताम् ? अत्रोदय तिरोध नादि-पदाना परिवृत्तिसहत्वान्न शब्द श्लेष , अपित्वर्थ श्लेष एव । एवमत्रोदयाद्यनेक पद घटितमेक वाक्य सूय्य रूपकाथ प्रति प्रा तकम्, तत्रापि काप्यभिमानवती व्रजसु दरी विचारेण स्वस्या अभिमान खण्डन पूवक श्रीकृष्ण प्रति वदति । अतएवतद् वाक्यस्य श्लेषेण कृष्णरूपार्था तरमपिबुध्यते ।८९।

विशेष्यस्य—केवलस्य,श्लिष्टस्य ॥९०॥

अत्र सदज वक्ष स्थल केलियोग्येति पदेन यथा वनमाला बोधो जायते, तथा श्लेषेण प्रतिनायिका बोधोऽपि जायते॥९१॥

एकाथ शब्द की अनेकाथ प्रतिपादकता स्थल मे श्लेषालङ्कार होता है ॥८८॥

उदाहरण—जो तमोराशि विनाशी के उदय से इस जगत् उदित होता है एव तिरोभाव से तिरोहित होता है, हे कृष्ण ! उसके प्रति कौन कोप विस्तार कर सकता है ?

यहा शब्द का परिवृत्ति सहत्व प्रयुक्त शब्द का श्लेष हुआ है । वाक्य भी एकाथक हुआ है, एव उक्त वाक्य से सूर्य्य प्रतिपादित हुआ है तथापि उक्त वाक्य से अन्य एकअथ प्रतिपादित हो रहा है कि-- जसे श्रीकृष्ण के प्रति अभिमानवती किसी व्रज युवती विचार पूवक अभिमान खण्डन कर कहती रहती है । जिसका उदयसे सबका उदय होता है, तिरोभाव से सब का तिरोभाव होता है । इस प्रकार तुम्हारे प्रति हम सब के कोप की सम्भावना कहा है ? 'कृष्ण एव मेघ समकाल मे ही उदित है । उभय ही" विलोल सफुल्ल कदम्ब माल हैं" इस प्रकार सप्तम किरण मे उदाहरण है ॥८९॥

श्लिष्ट विशेषण के द्वारा केवल विशेष्य का अन्य प्रकार भाषण होने पर समासोक्ति अलङ्कार होता है ॥९०॥

अत्र वनमालिकाया प्रतिनायिका त्व केवलेन वनमाला शब्देन नायाति, अपि तु सदैव वक्ष स्थलकेलीत्यादिना विशेषणेनैव समास - सक्षेप स्तेनोक्ति ॥९१॥

असम्बन्ध रूप यत्तूपमाकृति ॥९२॥
निदर्शनैषा दृष्टान्तप्राया, ॥९३॥

निदर्शना–नामालङ्कार ।

यथा—क्व नाम कृष्णस्य कृपाकटाक्ष, क्वतावदस्मिन् वत नोऽभिलाष,
रत्नाकरस्योदरवर्त्ति रत्न, वय करेणैव जिहीषव स्म ॥९४॥

यथा वा–आकृष्यता तक्षकमौलिरत्नमुल्लास्यता हेमगिरि करेण।
आच्छिद्यता केशरकेशराली, न स्पृश्यता केशव मत्सखीयम् ॥९५॥

मालारूपाप्येषा।

यत्र क्रियैव हि। वक्ति स्वरूप हेतु च साऽन्या,

यत्र एकैव क्रिया स्वरूप हेतुश्च वक्ति, सा अन्या निदशना ॥९६॥

यदुपमा कृत्यसम्ब धरूपम्, एषा निदशना, किन्तु दृष्टान्तप्राया च ॥९२ ९३॥

अस्मिन् कृपा कटाक्षे नोऽस्माकमभिलाष क्व। अत्यन्तासम्भ दनाया क्व द्वयम् समुद्रस्योदरवर्त्ति रत्न वय करेण जिहीषवो हर्तु मिच्छवो भवामइत्यत्र दृष्टा त प्रायत्वमुपमा कृतित्व च वर्त्तते ॥९४॥

हेमगिरि सुमेरु करेणोल्लास्यता ध्रियताम्। अस ध्ये तक्षक फणास्थ रत्नाकर्षणे साहस क्रियताम्। ततोऽपि असाध्ये मम सखी स्पशने कदापि साहस मा कुर्विति भाव। एषा निदशना मालारूपापि भवति ॥९५ ९६॥

उदाहरण—हे राधे! न दनन्दन, त्वदीय अङ्ग सङ्ग व्यतीत क्षण क्षणमे ग्लानि को प्राप्त करते रहते हैं। सतत वक्ष स्थल मे केलि योग्या वनमालिका भी सम्प्रति उनकी रुचिकरी नहीं हो रही है।

इस श्लोक मे वनमालिका के प्रति नायिकात्व की उपलब्धि केवल वनमाला शब्द नहीं होती है। सतत वक्ष स्थल मे केलियोग्या' इस विशेषण के द्वारा उपलब्ध होता है। समास से अर्थात् सक्षेप से उक्ति का नाम समासोक्ति है ॥९१॥

असम्बन्धरूप उपमाकृति अलङ्कार विशेष को निदशना अलङ्कार कहते है। निदशना अलङ्कार अनेकाश मे दृष्टान्त रूप मे प्रतीयमान होता है ॥९२ ९३॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण की कृपा कटाक्ष कहाँ, एव उक्त कृपा कटाक्ष को प्राप्त करने की इच्छा हम सब कहा? हाय! रत्न राजि रत्नाकरके अभ्यन्तर मे विराजित हैं, हम सब दूर से उस सब को प्राप्त करने की कामना कर रहे हैं ॥९४॥

उदाहरण—भुजगराज तक्षक के फणामण्डल से वर रत्नाकर्षण करो, अथवा गिरिवर सुमेरु को

यथा—अभिवन्द्यवन्दनविपर्ययं सदा, विदधाति, नूनमियतीं हि यातनाम् ।
अधिकण्ठ सीम परिधाय राधिका, रमणीमणि र्नहि मणीकृता यत ॥

अत्र यातना विदधातीति क्रियास्वरूप रमणीमणेर्मणीकरण विपर्ययरूप हेतुञ्च वक्ति ॥९७॥

अप्रासङ्गिकस्य वाक्।
प्रासङ्गि कथायां स्यादप्रस्तुतप्रशंसनम् ॥

अप्रासङ्गिकस्याप्राकरणिकस्यार्थस्य वाक कथन यत् प्रासङ्गिक कथाया तदप्रस्तुत प्रशसा स्यात् ॥९८॥

कदाचित् श्रीकृष्ण श्रीराधिका सङ्केत निकुञ्जस्था विधाय तस्या प्रतिक्षण रमणी च द्र वलीकृत प्रतिब धक वशात्तन्निकटे ग तु न शशाक ।

तदा श्रीराधिका मानिनी बभूव । तस्या मान भङ्गार्थं कृतेऽपि नानायत्ने यदा मानशान्ति न बभूव, श्रीकृष्णस्तदा खिन्न सन् साहाय्यार्थ ललिता निकटे जगाम । त प्रति ललिता प्राह—अभिव द्येति । 'वदि अभिवादनस्तुत्यो' । स्तुत्यर्हाणा वन्दन विपर्यय, अनादरादिर्हि निश्चितमियतीं यातना विदधाति ,यतस्त्वया गत रात्रौ अधिकण्ठसीम कण्ठसीमाया परिधाय राधिकारूप रमणी मणि न हि कौस्तुभ मणिवत् कृता । अत्र यातना विधानरूपक्रिया स्वहेतु वक्ति -बोधयति । तथा च यातनाविधान क्रिया रूप कार्य्य लिङ्गेन रमणीमणेर्मणीकरणाभावरूप कारणमनुमीयते- इत्यथ ॥९७।

प्रासङ्गिक कथायामप्राकरणिकस्य यत् कथन तदप्रस्तुत प्रशंसा स्यात् स पञ्चधा भवति । अतस्तस्या पञ्चविधत्वमेवाह—कार्य्येति कार्य्ये प्रस्तुते अप्रस्तुतस्य कारणस्य प्रशसेत्यर्थ ॥९९ ९९॥

करके द्वारा उत्क्षेपण करो, किंवा कुपित केशरि को केशरावली को उत् पाटित करो, तथापि हे केशव ! मेरी सखी को स्पश न करो यह निदशना मालारूपा भी हुई है ॥९५॥

एकमात्र क्रिया ही जहाँ स्वकीय हेतु को व्यक्त करती है, वहाँ और एक प्रकार निदशना अलङ्कार होता है ॥९६॥

उदाहरण—वन्दनीय व्यक्ति की वन्दना विपर्यय ईदश यातना का विधान करता है । कारण, राधिका रूप रमणी मणि को कण्ठदेश मे स्थापन करके कौस्तुभ मणि के समान आचरण तुमने नहीं कर पाया यहा यातनाविधानरूपक्रिया, स्वकीय रूपको एव रमणीमणि का मणीकरण रूप विपर्यय रूप हेतु को प्रकाश करती रहती है ॥९७॥

प्रासङ्गिक विषय मे अप्रासङ्गिक -अर्थात् अप्राकरणिक अथ का कथन होने पर अप्रस्तुत प्रशसा अलङ्कार होता है । कार्य्य मे कारण का कथन कारण मे कार्य्य का कथन, विशेष मे सामान्य का कथन, तुल्य मे तुल्य का कथन, ये पञ्च प्रकार अप्रस्तत के द्वारा प्रस्तुतार्थ व्यञ्जित होकर पञ्चविध अप्रस्तुत अलकार होते हैं ॥९८॥

कार्य्यकारणसामान्यविशेषेषु तदन्यधीः
प्रस्तुतेषु च तु तुल्ये च तुल्यगीः पञ्चधैव तत् ॥

तदप्रस्तुत प्रशसन प्रस्तुतेषु कार्य्यादिषु तदन्यगी, कारणादि निरुक्ति चकारादन्येषाम-प्रस्तुतत्व प्रसङ्ग, तुल्ये प्रस्तुते तुल्यस्याप्रस्तुतस्य गीश्चेति पञ्चम।

कार्य्ये कारणकथन, कारणे कार्य्यकथनम्, सामान्ये विशेषकथन, विशेषे सामान्य-कथनम्, विशेषे सामान्यकथनम् तुल्ये प्रस्तुते तुल्यस्याप्रस्तुतस्य कथनमित्यर्थ ९९॥

क्रमेणोदाहरणानि—

गेहेन किं तेन सदासितेन, दिनैर्वृथा त किमु यापित र्वा।
न यत्र मे चन्द्रकशेखरस्य, यागोदय सिध्यति साधु साध्व्य ॥

अत्र गृहान्निशि कश्चिद् वनाय गच्छसीति कार्य्यै प्रश्ने प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य तत् कारणस्य प्रशसा ॥१००॥

यथा वा—कुत समागच्छसि राधिके त्व यत्र स्थिता तस्य मुख निरीक्षे।
क्व यासि मुग्धाक्षि सम सखीभि, न कस्य पुष्पावचयो ह्यभीष्ट ।

सदासितेन बद्धेन ब धनाधिकरणेन तेन गृहेण किम्? 'सिञ बन्धने' अधिकरणे क्त। हे साध्व्य! यत्र गृहे दिवसे वा मम चन्द्रशेखरस्य महादेवस्य, पक्ष—कृष्णस्य यागोदय—पूजोदय। पक्षे कदप यागोदयो न साधु सिध्यति। अत्रेति—कश्चित् प्रश्ने। तथा च हे सखि! रात्रौ गृहान्निसत्य किं वनाय गच्छसीति प्रस्तुतस्य कार्य्यस्य प्रश्ने अप्रस्तुतस्य तस्मिन् वनगमने कारणस्य गृहे कदप यागाभावस्य सिद्धे प्रशसा कथन मित्यर्थ ॥१००-१०१॥

कार्य्यमे कारण का कथन, कारण मे कार्य्य का कथन, सामान्य मे विशेष कथन, विशेष मे सामान्य कथन, तुल्य मे तुल्य का कथन ये पञ्च प्रकार से अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुतार्थ व्यञ्जित होकर पञ्चविध अप्रस्तुत प्रशसा अलङ्कार होता हैं ॥९९॥

क्रमश उदाहरण—हे साध्वी वृन्द! मेरा वह सदासित अर्थात् सर्वदा ही जिस मे ब धन है, इस प्रकार गृह का क्या प्रयोजन है? वृथा अतिवाहित दिन समूह का भी क्या प्रयोजन है? जिस गृह मे वा जिस दिवस समूह में मेरा चन्द्रकशेखर का यागोदय सम्यक रूपसे सिद्ध नही होता है? यहा रात्रि काल मे घरसे निर्गत होकर क्या वनको कोई जाते हैं? इस प्रकार प्रस्तुत प्रश्न रूप कार्य्य मे अप्रस्तुत उक्त वन गमन रूप कारण की प्रशसा की गई है ॥१००॥

राधिके! तुम कहाँ से आरही हो? एव कहा जाऊगी? श्रीराधा की उक्ति यह है। जहाँ रहकर उनका मुख दर्शन कर सकूँगी। हे मुग्धाक्षि! तुम सखी वृन्द के सहित कहा जा रही हो? उत्तर मे राधा बोली-पुष्प चयनकरना किस का अभीष्ट नही है?

इस श्लोक मे कहाँ से आरही हो, कहा जाऊगी? इस प्रश्न से प्रस्तुत मे अप्रस्तुत की उसका कारण

अत्र कुत आगच्छसि क्व यासीति कार्य्ये प्रश्ने प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य तस्य तत् कारणस्य तन्मुखावलोकनस्य पुष्पावचयस्य च प्रशंसा । यत्र तन्मुखावलोकनं भवति, तत्रैव यामः, पुष्पावचयस्तु व्याज इति ध्वनिः ॥१०१॥

अस्ताचलं चुम्बति भानुबिम्बे गृहे गृहे गोकुल सुन्दरीणाम् ।
दिव्यानुलेपाभरणाम्बराणि, कृष्णाह्रियन्ते परितः सखीभिः ॥

अत्र तदागमने प्रस्तुते कारणे कार्य्यमुक्तम् ॥१०२॥

अन्तर्लतागृहमनल्पतमं तमिस्त्र, मालिङ्ग्य सा तव तनुभ्रमतो वसन्ती ।
दैवोदितेन्दुकिरणं विरतेऽथ तस्मिन् मागाः प्रिय त्वमिति सीदति कृष्ण राधा ॥१०३॥

अनुरागिवधूमनोज्वर,—क्षतये त्वं ननु कृष्णभेषजम् ।
स कृती स सुहृत् स वत्सलः सुहृदाधि- प्रतिकारको हि यः ॥

हे कृष्ण ! दूतीं प्रति वनाद् गोष्ठं कृष्ण कदा आगमिष्यतीति त्वदागमन—कारण प्रश्ने कृते सति भानुबिम्बे अस्ताचलं चुम्बति सर्वे अस्तं गच्छति सति गृहे गृहे यूथेश्वरीणां सखीभिरतासां वेशाथ वस्त्राभरणादी याह्रियन्ते इत्यप्रस्तुतस्य वस्त्राभरणाद्याहरणरूपकार्य्यस्य प्रशंसा तया दूत्या कृता । तथा च सन्ध्या काले वस्त्राभरणादि विशिष्टास्ताः सर्वाः श्रीकृष्णं मिलिष्यन्तीति भावः ॥१०२॥

अन्तर्लतागृहं लतागृहमध्येऽनल्पतमं गाढं तमिस्त्रं तव तनुभ्रमतः आलिङ्ग्य वसन्ती राधा दैवादुदित चन्द्रस्य किरणस्तस्मिन् तमिस्त्रे विरते सति, हे प्रिय ! त्वमस्माद् गृहान्न आगाः' इत्युक्त्वा सीदति । अत्र त्वदाकार सामान्ये सा रज्यतीति सामान्ये प्रस्तुते अप्रस्तुतस्य विशेषस्यान्धकारस्य वचनम् ॥१०३॥

सा न भविष्यति न जीविष्यति, तद्रूपेण भेषजेन औषधेन विना तस्या मनोज्वर शमनं न सम्भवम्

तन्मुखावलोकन की एवं पुष्प चयन की प्रशंसा हुई । जहाँ उनका मुखावलोकन होगा, वहाँ जाऊँगा, पुष्पावचयन छल मात्र ही है । यही ध्वनि है ॥१०१॥

हे कृष्ण ! भानुबिम्ब अस्ताचल चूडावलम्बी होने पर सम्प्रति सखीवृन्द, गृह गृह मे गोकुल सुन्दरीवृन्द के निमित्त दिव्य अनुलेपन एवं वसनाभरण संग्रह कर रही हैं ।

इस श्लोक मे हे कृष्ण ! तुम वनसे कब गोष्ठ मे आओगे ? इस आगमन का कारण प्रश्न के द्वारा अप्रस्तुत वस्त्राभरणादि संग्रह रूप कार्य्य की प्रशंसा की गई है । सन्ध्या समय मे वे वस्त्राभरणादि से भूषित होकर श्रीकृष्णके सहित सम्मिलित होगी, यही श्लोक का भावार्थ है ॥१०२॥

हे कृष्ण ! लतागृह के अभ्यन्तर मे श्रीराधा त्वदीय तनुभ्रमसे अनल्पतमतमोराशिके आलिङ्गन कर निवास कर रही थी । सहसा समुदित चन्द्र किरण मे उक्त तमोराशि अपसृत होते देखकर कहने लगी—"हे प्रियतम ! तुम इस कुञ्जगृह चले न जाओ" यह कह कर राधा अत्यन्त विषादापन्ना होने लगी ।

यहाँ तुम्हारे अनुरूप आकार मे भी राधा अनुराग प्रकाश करती है, इस प्रस्तुत सामान्य मे अप्रस्तुत अन्धकार रूप विशेष का कथन हुआ है ॥१०३॥

हे कृष्ण ! अनुरागिणी कामिनी का मानस ज्वर विनाश के सम्बन्ध मे तुम भेषज स्वरूप हो, और

अत्र त्वा नीत्वा तस्या विरह ज्वर नाह शमये, तदा सापि न भविष्यति, अह च न कृतिनी, न सुहृत्, न वत्सला। तस्या मनोज्वर- शमन विनात्वद्रूपेण भेषजेन न सम्पत्स्यते तस्मात्त्व शीघ्रमेव तत्र गन्तु महसीति विशेषे प्रस्तुते सामान्य कथनम्। तुल्ये प्रस्तुते तुल्यस्या प्रस्तुतस्याभिधाने त्रय प्रकारा श्लेष समासोक्ति--सादृश्यरूपा ॥१०४॥

क्रमेणोदाहरणानि—

लीलोऽपि पानविवशोऽपि तम स्वरूपोऽप्याक्षिप्यता न सुमुखि भ्रमर कदापि।
जात्यैव खेलनपरो व्रततीर्भजन् य, सारग्रही भवति तासु महागुणज्ञा ॥१०५॥

किं चातकीरपि रसस्पृहयकतानाः, वर्षन्तमम्बुदमपि स्ववशे नयन्ती।
वात्येविधाय दृगगोचरमेतमासा, छन्नेन राजसि रजोभरनैन कामम् ॥

अत्र रासे त्यक्ताना गोपसुभ्रुवा कृष्णेन सभुक्तायाश्च मुख्यतमाया प्रस्तावे चातकीना नायिकात्व वात्यायाश्च प्रतिनायिकात्व विशेषणमाहात्म्यादवगतमिति समासोक्तिरूप ।१०६।

किं केतकीं पुनरपि श्रयता विदग्ध, भृङ्गो ययाश्वभिपतन्नतिनम्रएव।

स्यते। अप्रस्तुतस्य य सुहृदा मन पीडा प्रति कारका न भवति स कृती न भवतीति सामान्यस्य कथनम् ॥१०४–१०५ १०८।

वे ही यथार्थ कृती, सुहृत् एव वत्सल हैं, जा सुहृज्जनो की मनोवेदना का प्रतीकार करने मे तत्पर होत हैं।

इस श्लोक मे "यदि तुमको ल जाकर मै उसका विरहज्वर उपशम कर न सकूँ, तो वह जीवित नहीं रहेगी एव मै कृती, सुहृत्, वा वत्सल हूँ' इस प्रकार गण्य नहीं हो सकती हू, उसका मानसज्वर प्रशमन भी औषधिस्वरूप तुम को छोडकर हो ही नहीं सकता है। अतएव आशु गमन करना कत्तव्य है।

यहाँ प्रस्तुत विशेष स्थल मे सामान्य का कथन हुआ है। प्रस्तुत तुल्य स्थल मे अप्रस्तुत तुल्य का कथन से जो अप्रस्तुत प्रशसा होती है। वह भी श्लेष है, समासोक्ति भी सादृश्याकार से त्रिविध होती हैं ॥१०४॥

क्रमश उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—साधुवृ द मे शरीर धर्म हेतु यदि किसी प्रकार दोष दृष्ट होता है तो—विद्वान् व्यक्ति कभी भी तद् दोष दर्शी नही होते हैं। किन्तु महागुणज्ञ व्यक्ति उस मे सार ग्रहण ही करते हैं। लता मे देखो! चञ्चल, मधु पान विवश, तम स्वरूप अर्थात् कृष्ण काय एव जाति से ही खेलन परायण भ्रमर के प्रति आक्षेप गुणज्ञ व्यक्ति आक्षेप नही करता है। यहाँ कृष्ण एव मानिनी के प्रस्ताव मे भ्रमर एव मालती का तुल्य कथन से श्लेष हुआ है ॥१०५॥

रस स्पृहयैकतना चातकी होकर भी वषु क अम्बुद को क्या निजवश मे ले आती है, कि तु पवन के द्वारा परिचालित होकर अम्बुद कदाचित् दृगगोचर होने पर यथेष्ट स्वच्छन्द रूप से आनन्दित करता है।

यहा कृष्ण के द्वारा परित्यक्त गोपललना वृ द एव कृष्ण के द्वारा सभुक्ता मुख्यतमा गोपाङ्गना के प्रस्ताव मे चातकी समूह का नायिकात्व एव वात्या का प्रतिनायिकात्व का बोध विशेषण की महिमा से हुआ, इस रीति से यह समासोक्ति है ॥१०६॥

विद्ध सकण्ठकभरैरवदानयव, सङ्ग तदेष नलिनीषु ययौ विहर्त्तुम् ॥

अत्र कलहान्तरितायाः कृष्णस्य च प्रस्तावे केतकी भृङ्गयो रभिधाने सादृश्यरूप । इयञ्च वाच्य प्रतीयमानस्यानध्यारोपेण काचित्त्वध्यारोपेणैव ॥१०७॥

सा यथा—त्व कोऽस्यूषरदेशमेव सुधियो जानीत किं मा भवा
न्निर्वेद तनुते शृणुध्वमभितोराजन्ति ता भूमय ।
या अम्भोधर–वृष्यमाणपयसाशस्यैरपूर्य्यन्तम
प्युप्त सद्भिरपि प्ररोहति कदाप्येक न बीज यत ॥

अत्राचेतनस्योषर देशस्य प्रस्तुत- निर्विण्ण हरिभक्त पुरुषे आरोपेनैव प्रतिवचनोपपत्ति ।२०८।

न दोषदर्शी भवितैव विद्वान् वपु स्वभावेन सता वपुषु ।
युज्येत फेनादिभि रम्बुदोषै रघोघ विध्वस्यपि गाङ्गमम्भ ॥"

अत्र श्लेषरूप । तुल्ये प्रस्तुते तुल्यस्याप्रस्तुतस्याप्रस्तुतस्य कथनम् ॥१०९॥

साधूनां शरीरेषु वपु स्वभावेन कामादि दोषा दृश्यमानाअपि पण्डितस्त तत्तद् दोषदर्शी न भन्ति । गङ्गाजले जलस्वभावेन फेनादि दोषा दृश्यमाना अपि तज्जल ब्रह्मद्रवरूपमघसमूहविध्वस्यपि ।

अत्र दोषदर्शि शब्दो नाना वाचकत्वात् श्लिष्ट । अत्रप्रस्तुते साधु शरीरे दोष दशनाभावेऽप्रस्तुतस्य साधु शरीर तुल्यस्य गङ्गाजलस्य पाप समूह नाशकत्व कथनम् ॥१०९॥

अतिमत्र निपतित भृङ्ग कण्टक क्षत होकर पुनर्वार क्या केतकी का भजन करता है, कि तु वह नलिनी समूह मे विहार करने के निमित्त आन द से चला जाता है ।

यहाँ कलहान्तरिता नायिका एव कृष्ण का प्रस्ताव मे केतकी भृङ्ग का वणन हुआ है अतएव उभय का सादृश्य यहाँ है, यह वाच्य प्रतीयमान रूप है, स्थल विशेष मे अध्यारोप विहीन तथा अध्यारोप के द्वारा सम्पन्न है ॥१०७॥

तुम कौन हो ? ऊषर भूमि हो, तुमको सुधी व्यक्ति गण क्या नहीं जानते हैं ? क्या तुम मुझको निर्विण्ण कर रहे हो ? सुनो ! अनेक भूमि जगत् मे विद्यमान है, जो अम्भोधर के जलसिञ्चन के द्वारा शस्य श्यामला हो जाती है, किन्तु सज्जन गणो के द्वारा बीज वपन होने पर भी कभी भी एक बीज से अङ्कुरोद्गम ऊषर भूमि मे नहीं होता है ।

यहाँ अचेतन ऊषर देश का वर्णन प्रस्ताव मे निर्विण्ण हरि भक्त पुरुष मे आरोप के द्वारा ही प्रतिवचन की उपपत्ति हुई है ॥१०८॥

साधु वृन्दके शरीर मे शरीर धर्म हेतु यदि किसी प्रकार दोष देखने आता है तो विद्वान् गण कभी तद् दोष दर्शी नहीं होती हैं । देखो ! जलस्वभाव हेतु फेणादि दोष दृष्ट होने पर भी भागीरथी के जल तो पापराशि को विनष्ट करने मे समर्थ होता ही है ।

यहाँ प्रस्तुत तुल्यस्थल मे अप्रस्तुत तुल्य का कथन श्लेष रूपमे सम्पन्न हुआ है ॥१०९॥

हहो प्रेम तवायशो विरचितं सद्योऽविनिगच्छता
येनानेन हतेन जीवितमिदं तदयेन सन्धार्य्यते ।
तस्यैवावधि वासरस्य सुमहान् दोष शरीरान्तरे
तत् प्राप्तौ समयोऽधिक किमवधावित्थ येनोह्यते ॥

अत्र समासोक्तिरूप । ॥११०॥

चन्द्रादि–नानाविधरम्य वस्तुन, सौन्दर्य्यमादाय मुखादि निर्म्ममे ।
यस्या स्मरेण स्वयमेव तामसो, हिनस्ति तरद्य हरेस्त्वया विना ॥१११॥

अत्र सादृश्यरूप ।

प्रतीयमानस्यारोपानारोपाभ्यां पुनर्द्विधा ।

पुनरिदमप्रस्तुत प्रशसन द्विधा, प्रतीयमानस्यार्थस्यारोपानारोपाभ्याम् ॥११२॥

यथा—का त्व पृच्छसि दुखिनी किमिति मा कस्मादय ते महान्
निर्वेदो ननु मुक्तिरस्मि तदहो सर्वोत्तमा त्व नहि ।

माथुर विरहेण व्याकुला श्रीराधा स्वप्रेमाण सबोध्याह हहो खेदे हे प्रेम ! स्वद्य श्रीकृष्णविच्छेद क्षणे ऽनिगच्छता येन जीवितेन तवायशो विरचितम् तज्जीवित येनावधि वासरेण धार्यते, तस्यवावधि वासरस्य सुमहान् दोष यत शरीरान्तरे तस्य कृष्णस्य प्राप्तौ अवधौ अवधि वासरे किमधिक समयो भावीति येनावधि- वासरेण नोह्यत, न वितक्यते, तथा च देहान्तर सद्य सुत्यजत्वाद् देहान्तरस्यापि शीघ्र भावित्वात् शरीरान्तरे तत्र स्वल्प समयो विचारलब्ध इति भाव । अत्रेति श्रीकृष्ण विच्छेद समये प्राण गमन प्रतिबन्धकत्वरूप विशेषणेन विशेष्यस्यावधिवासरस्य वरित्वारोप इति समासोक्ति रूप इत्यर्थ ।११०।

यस्या राधाया मुखादि, ता राधिकां तामसौ स्मर कन्दर्प चन्द्रादिभि करणैरद्य हिनस्ति ।१११–११२।

माथुर विरह में व्याकुला राधा निज प्रेम को सम्बोधन कर कहती है– हाय ! प्रेम, मेरा यह जीवन कृष्ण विच्छेद के समय निगत न होकर तुम्हारा जो अयश किया है, वह जीवन जिस अवधिदिन की अपेक्षा से रह रहा है, उस अवधिदिन का ही सुमहान् दोष है, इस प्रकार मै मानती हू । कारण, शरीरान्तर ग्रहण कर कृष्ण सङ्ग लाभ करने के निमित्त अधिक समय लगेगा, इस सम्बन्ध मे उसने विचार कर क्यो नहीं देखा है ?

यहा कृष्ण विच्छेद समय मे प्राण प्रयाण की प्रतिबन्धकतारूप विशेषण के द्वारा विशेष्यभूत अवधिवासर मे वरता आरोप हेतु समासोक्ति अलङ्कार हुआ है ॥११०॥

कन्दर्प चन्द्रादि विविधरम्यवस्तु सौन्दर्य समूह को ग्रहण कर जिसके मुखादि का निर्म्माण किया गया हैं हे कृष्ण ! तुम्हारे विरह मे निर्म्माण कर्त्ता ने स्वय हो उस उस वस्तुओ के द्वारा उसका प्राणापहरण करना आरम्भ किया है । यहाँ सादृश्यरूप हुआ है ॥१११ ।

प्रतीयमान अर्थ का आरोप एव अनारोप हेतु उक्त अप्रस्तुत प्रशसालङ्कार दो प्रकार होते है ।११२।

दूरस्थामपि सादरोऽनुभजते भक्ति मुकुन्दप्रियो
नोपेत्याथन कारिणीमपिदृश कोणेन मा वीक्ष्यते ।

अत्र मुक्तेरपि भक्ति सुरसेति प्रतीयमानस्यारोप ॥११३॥

वहिश्चेदभ्यान्तभवति यदि चान्तवहिरहो,जन स्वस्मिन् देहे भवति घृणयाथूत्कृतिपर ।
अभद्र भद्र वा विरचिति विशेषोपधि नहि, स्वतो भद्र किञ्चिन भवतिभगवत् भागवशत ।

अत्र प्रतीयमानार्थस्यानारोपो वाच्यस्यैव प्राधान्यात् । अत्र प्रतीयमानाथस्य देहे हेयत्वस्यानारोपोऽप्राधान्येन कथनम्,—वाच्यार्थस्यैव चमत्कारत्वेन प्राधान्यात् ॥११४॥

निगीर्णस्योपमानेनोपमेयस्य निरूपणम्

काचिद् देवता मुक्ति पच्छति – त्व का ? मुक्तिराह दु खिनी मामित्थ किमिति पृच्छ स ? पुन पच्छति—कस्मात्तवाय निर्वेद ? ननु भो अह मक्तिरस्मि । तत्तस्मादहो त्व सर्वोत्तमासवसि, कुतस्त निर्वेद सम्भावना ? मक्तिराह—हि निश्चितमह सर्वोत्तमा न, तत्र हेतु -दूरस्थामपि भक्ति मकन्दप्रिय सादर सन् भजते । एत्यनिकटे गत्वा पाथनाकारिणीमपि मा दश कोणन न वीक्षते । मुक्त सकाशाद् भक्ति सुरसेति प्रतीयमानस्यारोप प्राधान्येन कथनम् ॥११३॥

देहस्य वहिर्भागो यदि अन्तभवति, तथा अन्तर्भागो यदि वहिभवति, तदा जन स्वस्मिन देहे घृणया। रचना विशेष एव उपाधि यत्र एवम्भूत जगत् स्वतोऽभद्र भद्र न हि भवति । कि तु उपाधिकृत भद्रा-भद्रात्मकम् यरूप भवति,— उपाधेरुभयात्मकत्वात् । सवथा किञ्चिद् भद्र तु भगवदश वशादेव भवति,-भगवद् भजनान दे सवथा भद्ररूपत्वात् । अत्र प्रतीयमानाथस्य देहे हेयत्वस्यानारोपोऽप्राधान्येन कथनम्, वाच्याथस्यव चमत्कारत्वेन प्राधान्यात् ॥११४॥

एक देवताने मुक्ति को पूछा,—तुम कौन हो ? उत्तर मे उसने कहा—मै अति दु खिनी हूँ, क्यो मुझ को पूछ रहे हो ? तुम्हारे मन मे इतना निर्वेद क्यो ? उत्तर—"उसको क्या कहू ? मेरा नाम मुक्ति है" "यदि तुम मुक्ति हो तो सर्वोत्तमा हो" "मैं सर्वोत्तमा नहीं हूँ । देखो, मुकुन्द प्रिय भक्त वृन्द दूरवर्त्तिनी भक्ति का भी भजन, सादर से करते हैं । और मै समीप मे आकर स्वय प्रार्थना करती रहती हूँ, तथापि मेरे प्रति वे नयन कोण से भी नही देखते हैं ।

यहा मुक्ति की अपेक्षा भक्ति सुरसा है, इस प्रतीयमान अथ का आरोप हुआ है ॥११३॥

शरीर का वहिभाग यदि अभ्यन्तर गत होता है, एव अभ्यन्तर भाग यदि वहि प्रकाशित होता है तो सभी व्यक्ति निज शरीर मे घृणा हेतु थूत्कार करने मे तत् पर होते हैं।

फलत रचना विशेष से ही भद्र अभद्र उपाधि का प्रयोग होता है, अन्यथा इस जगत् मे भद्राभद्र कुछ भी नहीं है । केवल भगवान् के भजन प्रभृति सवथा भद्र रूप होने के कारण भद्रवृन्द ही सवथा भद्र नामसे अभिहित होते हैं ।

यहाँ वाच्याथ का ही प्राधान्य हेतु प्रतीय मानाथ का अनारोप हुआ है, अर्थात् अप्राधान्य कथन हुआ है ॥११४॥

यत् स्यादतिशयोक्तिः सा, ॥११५॥

यथा—क्षितौ शोणाम्भोजे तदुपरि नवौ हेम कदली
तरू नीचोनाग्राविह कनकसिंहासनमिदम् ।
तत शून्य तस्योपरि सुमिलित कोकमिथुन
ततश्चन्द्रस्तस्मात्तम इति विधे का नु घटना ॥११६॥

तदेवान्यतया यदि । निरूप्यते सा द्वितीया,

तदेव प्रकृत वस्तु उपमान वा ऽन्यदेवेदमिति यदि निरूप्यते, तदासाऽतिशयोक्तिर्द्वितीया भवति ॥११७॥

यथा—अन्ये श्रुति ते रसना च साऽन्या, चेत सता तत् पुनरन्यदेव ।
श्रीकृष्ण शीतद्युति-नाम-लीला, रूप मृत यानि सदा धयन्ति ॥११८॥

यथा वा—अन्यैवेय कनक लतिका चन्द्रमाश्चायमन्य
स्तस्मिन्नेत मदमदिरयोर्युग्मक चान्यदेव ।

उपमानेन निगीर्णस्योपमेयस्य यन्निरूपणम्, सातिशयोक्ति । निगीर्ण ग्रस्तम्, तथाचोपमानस्यैव प्रयोग नतूपमानेन ग्रस्तस्योपमेयस्य । यथापमानस्य रक्तकमलस्यैव प्रयोग, न तूपमेयस्य चरणस्येत्यर्थ ॥११५॥

क्षितौ पृथिव्या चरणद्वयस्थानीये रक्तकमले तदुपरि ऊरुद्वयस्थानी नवीन स्वर्ण कदलीवृक्षौ । कथम्भूतौ ? नीचानाग्रौ ऊरुदेशस्योपरि स्थूलत्वमध काश्यमित्यभिप्रायात् । इह तदुपरि नितम्ब स्थानीय कनक सिंहासनम् । ततस्तस्योपरि मध्यदेशोपरि स्तनद्वयस्थानीय चक्रवाक मिथुनम् मुखस्थानीयश्चन्द्र स्तस्मात् केश स्थानीय तम इति विधे काप्यनिर्वचनीया रचना घटना ॥११६ ११७॥

प्रकृत वस्तु उपमेयम् । तदादावुपमेयस्य यत्वमाह - अन्ये इति । यानि श्रवणेन्द्रियादीनि श्रीकृष्णस्य स्निग्ध का त्यादि अमृत पिबन्ति । ११८॥

उपमान के द्वारा यदि निगीर्ण अर्थात् शब्दोपात्त न होने से लुप्त प्राय उपमेय का निरूपण होता है तो उसको अतिशयोक्ति अलङ्कार कहते हैं ॥११५॥

उदाहरण—विधाताकी कैसी विचित्र घटना है ? देखो भूतल मे दो रक्तोत्पल है, उसके ऊपर अधोमुख नव कनक कदली तरु युगल है, तदुपरि स्वर्ण सिंहासन है, तत् पश्चात् शून्य है तदूर्ध्व मे सुसम्मिलित कोकमिथुन है, उसके ऊपर पूर्ण चन्द्र है, तत् पश्चात् तम पुञ्ज विराजित है ॥११६॥

उक्त प्रकृत वस्तु स्वरूप उपमेय अथवा उपमान यदि 'यह अन्य वस्तु ही है" इस प्रकार निरूपित होता है, तो द्वितीय प्रकार अतिशयोक्ति होती है । ११७ ।

उदाहरण—श्रीकृष्ण चन्द्र के नाम लीलारूप अमृत पान जो सदा करते है उनके ध्रुव ही के श्रवण भी अन्य प्रकार है, उनकी रसना भी पृथक रसना है एव उनके चित्त भी स्वतन्त्र एक प्रकार चित्त है ।११८

अन्यवेय तदुपरि मनोज मनश्चापवल्ली,

राधानाम स्फुरतु मनस केयमुन्मादवीथी ॥११९॥

यद्यर्थेन तु कल्पना ॥१२०॥

यद्यसम्भविनोऽर्थस्य सा तृतीया ॥१२१॥

यथा—पूर्णो यदि स्यादनिश सुधाशु, स चेत् कलङ्केन भवेद्विहीन ।

चकोर पेयोऽपि न चेदय स्यात्त्वदास्य दास्याय तदैव राधे ॥१२२॥

विपर्य्यये कार्यकारणयोरन्या,

अन्या चतुर्थी ॥१२३॥

यथा—अविद्ध एव प्रविवेश यत्कृता, सरोरुहाक्ष्या हृदि कृष्ण वेदना ।

उपमानस्यान्यत्वमाह—अन्यवेति । मदिरयो खञ्जनयो भ्रू वल्लीस्थानीयाकन्दपस्य च पवल्ली धनुलता। राधा नाम विशेष्यम् काप्यनिवचनीया मनस उन्मादश्रेणी, तथा च राधा नाम श्रवणेन तत्र श्रीकृष्णस्य मनस उन्मादपरम्परा जायत इत्यर्थ ॥११९॥

यद्यसम्भावितार्थस्य यदि शब्द न कल्पना स्यात्तदा तृतीयातिशयोक्तिर्ज्ञेया ॥१२० १२१॥

अय च द्रश्चकोरेण न पेयो भवेद्धि यनेन माधुर्य्य सम्पूर्णत्वमुक्तम् । हे राधे । तदा एष चन्द्रस्त्वन्मुखस्य दास्याय स्यात् ॥१२२॥

आदौ कारण विनव कार्य्योत्पत्ति, पश्चात् कारणोत्पत्ति, अयमेव कार्य्य—कारणयोर्विपर्य्यय । तत्र चतुर्थी अतिशयोक्तिर्ज्ञेया ॥१२३॥

हे कृष्ण ! सरोरुहाक्ष्या श्रीराधायास्तव कटाक्ष शरेणाविद्ध एव हृदि यत्कृता तव कटाक्ष शरकृता

यह अन्य एक प्रकार का कलतिका है, यह चन्द्र भी अन्य प्रकार चन्द्र है, एव उस मे जो प्रमत्त युगल दृष्ट होते हैं, वे भी अन्यविध खञ्जन है, उक्त खञ्जन युगल के उपरि भाग मे मनोभव की जो धनुलता देखी जाती है, वह भी अन्यविध धनुलता होगी, फलत श्रीराधानाम श्रवण मात्र मे ही श्रीकृष्ण के मनम एक उन्माद परम्परा की सृष्टि होती है ॥११९॥

यदि अर्थ के द्वारा यदि असम्भावित अर्थ की कल्पना की जाती है, तो— तृतीय प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है ॥१२० १२१॥

हे राधे ! यदि सुधाशु निरन्तर पूर्ण रहता है एव कलङ्क स्पर्श शून्य होता है चकोर कुल भी कदाचित् तदीय सुधापान नही करते हैं, तब वह चन्द्र तुम्हारे आस्यमण्डल के दास्य कर्म्म के उपयुक्त है, विवेचित हो सकता है ॥१२२॥

कार्य कारण का विपर्य्यय होने पर चतुर्थ प्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है ॥१२३॥

हे कृष्ण ! सरोरुहाक्षी श्रीराधा के हृदयदेश विद्ध न होते ही उसकी विषम वेदना प्रविष्ट हुई थी। सम्प्रति वही तुम्हारा कटाक्षशर उनके सुकुमार हृदय को गाढतर रूपसे विद्ध किया है ॥१२४॥

पर ततोऽनेन विलोचनाञ्चली, शरेण बिद्ध हृदय तदास्या ॥१२४॥

प्रतिवस्तूपमा तदा ॥१२५॥

सामान्यस्य स्थिति र्वाक्य उपमानोपमेययोः ॥

उपमान वाक्ये उपमेय–वाक्ये च सामान्यस्य साधारण धर्मस्य यदा स्थितिरित्यर्थ ॥१२६॥

अहमिव कथमिव सहते, राधा निबिडानुरागभर- बाधाम् ।
नहि नव कुङकुमवाटी, दहन ज्वालेन भवति नो दग्धा ॥१२७॥
बिभर्त्ति सर्वानमरात् समेरु स्तञ्चापर ञ्चापि धरैव धत्ते ।
धराञ्च धत्ते भुजगाधिनाथो, धुरन्धररेव धुरो ध्रियन्ते ॥१२८॥

एषा माला प्रतिवस्तूपमा ।

सर्वेषामेव धर्माणां दृष्टान्तः प्रतिविम्बवत् ।

सर्वेषामेव साधारण धर्माणा प्रतिविम्बवद् भासन यत् तद दृष्टान्त नामालङ्कार ॥१२९॥

स च साधर्म्म्य–वैधर्म्म्य भेदेन द्विविधो मतः ।

स च साधर्म्म्येण वैधर्म्म्येण च ॥१३०॥

वेदना प्रविवेश । तत पर तत् पश्चात् त्वया अनेन कटाक्ष शरेण करणेनास्या राधाया हृदय बिद्धम् । अत्र कटाक्ष शरजन्य हृदय वेधरूप कारणोत्पत्ते पूर्वमेव तादृश वेध जन्यवेदनारूप कार्य्योत्पत्तिरित्यर्थ ॥१२४ १२५ १२६॥

मथुरास्थ श्रीकृष्णो व्रजादागतमुद्धव प्रत्याह—अहमिति । नवीनकुङकुमस्य केशरस्याति सुकुमारत्वात् तस्य वाटी दहन ज्वालेन नहि दग्धानो भाति, अपि त दग्धा भवत्येव । अत्रोपमेय वाक्ये राधति उपमान वाक्ये दहन ज्वालेति एक एव साधारण धर्म शब्दभेदेनोक्त ॥१२७॥

सर्वान् देवान् सुमेरुर्बिभर्त्ति, तञ्चसुमेरुमपरञ्च पर्वत वह ती धरा पृथ्वी अस्ति । भुजगाधिनाथ

उपमान वाक्य मे एव उपमेय वाक्य मे यदि साधारण धर्म की स्थिति होती है, तो उसको प्रतिवस्तूपमा कहते हैं ॥१२५ १२६॥

राधा किस प्रकार मेरे समान उस निबिडानुराग जनित बाधा को सहन करती रहती है । नवकुङकुम वाटिका तो दहन ज्वालासे दग्ध न होकर रह ही नही सकती है ॥१२७॥

सुमेरु यावतीय अमरमण्डली का धारण करता रहता है, धारा उस समेरु को धारण करती है, एव अन्य पर्वत समूह को भी धारण करती है । भुजगाधिराज तो उस धरा को धारण करते रहते है, अत गुरुतर व्यक्ति वृन्द ही उस प्रकार गुरुतर भार को वहन करते है ।

यह माला प्रति वस्तूपमालङ्कार है ॥१२८॥

क्रमेणोदाहरणे—हरिस दर्शनसमये, द्रवति मनो मे कठोरमपि सुमुखि !
उदये सति च द्रमस-श्चन्द्रमणे स्यन्दते स्वरस ॥१३१॥
प्रेयसि नयन विदूरे, सति मम समुपतिनयनयोरान्ध्यम् ।
उदये नहि तुहिनाशो मीलति नीलोत्पलश्रेणी ॥१३२॥

कारकैक्ये क्रिया बह्व्यो व्यत्ययेऽपि च दीपकम् ॥

व्यत्यये क्रियैक्ये बहूनि कारकाणीत्यर्थ ।

यथा—(अष्टम किरणे ७३) 'न दृश्यति न भाषते, न च शृणोति न स्पन्दते' इत्यादौ पूर्वार्द्धम् ॥१३३॥

कारकबाहुल्ये क्रियैक्य यथा—

सुहृद्वियोगश्च महाज्वरश्च, विषश्चपाकोन्मुखहृद्व्रणश्च ।

शेष । धुर धररेव जनधु रो मारा म्रियन्त । १२८—(१२९ १३०)॥

हरि स दर्शनेति । च द्रस्योदये सति चन्द्रमणेश्च श्च द्रका त शिलाया स्वीयरस स्य दते स्रवति । अत्र मनस कठोरत्व कृष्णसन्निधौद्रवत्वञ्चेति धमद्वय दार्ष्टा ते दृष्टा तेऽपि शिलाया कठोरत्व च द्र सन्निधौ द्रवत्वञ्चेति धमद्वयम् । अतोऽत्र धमद्वयस्यामयत्र प्रतिबिम्बवद् भासनमेकमजाताय—भासनमेव प्रतिबिम्बवद् भाषणमित्यर्थ ॥१३१॥

तुहिनाशोश्चन्द्रस्योदये सति नहि नीलोत्पल श्रेणी मीलति नहि मुद्रिता भवतीत्यर्थ । तथा च यथा च द्रोदये सति नीलोत्पलानामा ध्या भावस्तथा प्रेयसि श्रीकृष्णे नयनयो विदूरे सति मम नयन रूपाधिकरणे आ ध्य समुपतीति वधर्म्यम् । एव सति तासा यथा चन्द्रोदये आन्ध्याभाव स्तथा कृष्णस्योदये ममाप्यान्ध्याभाव । अत साधारण धमस्यैक जातीय भासनमिति ज्ञेयम् ॥१३२॥

कारकस्यकत्व क्रियाणा बहुत्वम् अथवा क्रियाया एकत्व कारकाणा बहुत्वमित्युभयत्रव दीपकालङ्कारो ज्ञेय । पूर्वार्धमिति—कारकस्यकत्व क्रियाणामनेकत्वमित्यर्थ ॥१३३॥

समस्त साधारण धर्म—प्रतिबिम्ब के समान प्रतिभात होने से उसको दृष्टान्त अलङ्कार कहते हैं । उक्त दृष्टान्त साधर्म्य वैधर्म्य भेद से द्विविध होते हैं ॥१२९ १३०॥

क्रमश उदाहरण – हे सुमुखि ! हरि स दर्शन के समय मे मेरे यह कठोर चित्त भी द्रवित होता है । चन्द्रमा का उदय से चन्द्रकान्त मणि स्वत ही स्यंदित होती रहती है ॥१३१॥

प्रियतम दूरवर्त्ती होने से ही मदीय नयन युगल मे अन्धता उपस्थित होती है, देखो ! हिमांशु का उदय से नीलोत्पल श्रेणी कभी भी निमीलित नहीं रहती है । यहाँ साधारण धम का एक जातीय प्रतिभासन हुआ है ॥१३२॥

एक कारक स्थल मे अनेक क्रिया होने पर अथवा एक क्रियास्थल मे अनेक कारक होने से दीपक अलङ्कार होता है । उदाहरण— 'जब राधिका कुछ भी नही देख रही हैं, नही सुन रही है, कुछ नही कह रही है" इत्यादि पूर्वोल्लिखित श्लोक का प्रथमार्द्ध है ॥१३३॥

गहद्विनिन्दा च खलोदितञ्च, षडेव मर्म्माण्यवसादयन्ति ।१३४॥

मालास्यात् पूर्वं पूर्वञ्चेदुत्तरोत्तर मृच्छति ॥१३५॥

माला—मादीपकम् ।

यथा—आलोके सति सम्मदामृतनिधौ स्वान्त तदैवाविशत्

स्वान्ते मन्मथ एष मन्मथ इव क्रूरत्वमुच्चस्तरम् ।

क्रूरत्वेऽपि च तस्य धैर्यहरता तस्या समस्तेन्द्रिय

ग्लानि का सखि सुस्थित।भिलषति श्रीकृष्णमालोकितुम् ॥१३६॥

प्रकृतानां चैकदोक्तिरुच्यते तुल्ययोगिता

चकारादप्रकृतानाञ्च, प्राकरणिकानामप्राकरणिकाञ्चेत्यर्थ ॥१३७॥

यथ —दृष्टि शून्या गमनमलस मानस निव्यवस्थ,

देह क्षामस्तव सखि मुख केतकीगर्भपाण्डु ।

सुहृद् वियोगादय षडेव कर्त्तार साधूना मर्माण्यवसदयन्ति, छिन्दन्तीत्यर्थ ॥१३४॥

पूव पूव वस्तु उत्तरोत्तर वस्तु ऋच्छति प्राप्नोति चेत्तदामालादीपक स्यादित्य वय ।१३५॥

यस्य श्रीकृष्णस्य दशने सति आनन्द समुद्रे स्वान्तमन तदवाविशत्, मनसि कन्दर्पोऽविशत्, कन्दर्पे चेद क्रूरत्वमुच्चस्तारामतिशयेनाविशत् क्रूरत्वेऽपि च तस्य कन्दपस्य च धैर्य हरता अविशत् ।

तस्या च कन्दपस्य तथा क्रूरत्वमजनि, यथा सोऽधीर सन् सदा बाण वष करोतीति भाव । तस्या धैर्य हरताया सर्वेन्द्रिय ग्लानिराविशत् । तथा च स बाण वर्षेण तथा अधीरो जात, यथा सर्वेन्द्रियाणा ग्लानिरभवदिति भाव । एव सति हे सखि ! सुस्थिता प्रकृतिस्थिता सती का तथाभूत श्रीकृष्णमालोकयितु मभिलषति ॥१३६ १३७॥

कारक अनेक होने पर क्रिया का ऐक्य । दृष्टान्त—सुहृद्वियोग, सुदारुण ज्वर, सुतीक्ष्ण हलाहल, पाकोन्मुख हृदय व्रण, महत् व्यक्ति की निन्दा एव खल का वाक्य ये छ पदाथ ही हृदय के मर्म्म भेद करते हैं ॥१३४॥

पूर्व पूर्व वस्तु यदि उत्तरोत्तर वस्तु को प्राप्त करती है तो मालादीपक अलङ्कार होता है ।१३५॥

उदाहरण—जिनका दशन मात्र से ही अन्तःकरण आनन्द सागर मे निमग्न होते हैं अन्तःकरण मे मदन आविष्ट होता है, मन्मथ मे क्रूरता प्रविष्ट होती है क्रूरता मे काम जनित धैर्य हरता का आविर्भाव होता है, धैर्य हरता मे निखिलेन्द्रिय की ग्लानि उपस्थित होती है, हे सखि ! कौन व्यक्ति प्रकृतिस्थ होकर तादृश नन्दनन्दन का दशन करना चाहेगा ? ।१३६॥

प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक पदाथ समूह की एकदा उक्ति होने पर उसको तुल्ययोगिता कहते हैं ॥१३७॥

श्वासोदीर्घ परिजनगणे मौनमायामि राधे,
सर्वो धर्म्म कथमयमभूदकदैवान्यथैव ।।१३८।।

कुवलयहरिणाङ्कनादृगन्त स्मरशरमीन चकोर खञ्जरीटा ।
नयन विलसितेन राधिकाया, युगपदपास्त समस्तसौभगा स्यु ।।१३९।।

चकारेणापि साक्षेप्या, ।।१४०।।

सा तुल्ययोगिना ।

यथा—दृष्ट श्रीकृष्णवदन हारित च निज मन ।
लब्ध कोऽपि परानन्दो निपीत च महाविषम् ।।१४१।।

व्यतिरेको विलक्षणः । उपमानात् ।।१४२।।

विलक्षण इति गुणेन दोषेण च ।

क्रमेणोदाहरणानि–(तृतीय किरणे १३) 'आशामात्रे विलसदुदय' इत्यादि ।

यथा वा—राधे सुधांशुरेवाय सत्यमेव तवाननम् ।

दृष्टिरिति । मानस मन सर्म्बाध धर्य्यादिक निव्यर्वस्थ लौकिक व्यवस्थारहित मुख कतकी गभस्येव श्वेतम्, मौनमायाम दोघम् । अत्र सव एवार्था प्रकृता ।।१३८।

कुवलय नीलोत्पलम्, हरिणाङ्क नाना दगन्तम्, क दपशरा, खञ्जरीट खञ्जन, एते राधिका नयन विलसित करणरपास्त समस्त सौभगा स्यु । अत्र सव एवार्था अप्रकृता ।।१३९।।

सा तुल्ययोगिता चकारेणाप्याक्षेप्या ज्ञेया भवत्यथ । श्रीकृष्ण वदन दृष्टम्, निज मनश्च हारितमिति चकार सहिता तुल्य योगिता ज्ञेया ।।१४०-१४१।।

उपमानाच्च द्राडुपमेयस्य श्रीकृष्णस्य गुणन दरणेन वलक्षण्यमाधिक्य चेत्तदा व्यतिरेक लङ्कारो ज्ञेय ।
अथवा,उपमानाद् विषादुपमेयस्य कृष्णेऽनुरागस्य दोषण वलक्षण्य चेत्तदा व्यतिरेकालङ्कारो ज्ञेय ।

हे सखि ! तुम्हारी दृष्टि शून्य, गमन अलस मानस, अव्यवस्थ, देह क्षीण, मुख—कतकी गभ के समान पाण्डु, निश्वास दीघ एव परिजन गण के प्रति सुदीघ काल मौनभाव,इस प्रकार य वतीय स्वभाव-एक समय मे अन्य प्रकार हो गये ? ।।१३८।।

राधिका के नयन युगल के विलास वभव से नीलोत्पल, हरिणी नयन मन्मथशर एव मीन, चकोर एव खञ्जन के समस्त सौभाग्य विलुप्त हो गये है ।।१३९।।

समुच्चयार्थक चकार के द्वारा भी तुल्य योगिता बोधित होती है उदाहरण—

हाय ! श्रीकृष्ण के मुखमण्डल दृष्ट हुआ निज चित्त भी अपहृत हुआ एव उससे जिससे परमानन्द हुआ उसी प्रकार विषपान भी हुआ ।।१४०-१४१।।

उपमान मे गुण वा दोष हेतु उपमेय का वलक्षण्य प्रतीत होने पर व्यतिरेकालङ्कार होता है ।

उदाहरण—तृतीय किरण के १३ श्लोक - आशामात्रे विलसदुदय" अन्य उदाहरण—राधे ! तुम्हारे

किन्त्वसौ मलिनोऽङ्केन सुनिर्म्मलमिद सदा ।।१४३।।

दुरापलोके च नवानुरागो, हालाहलञ्चापि सम विशाखे ।
अन्त्यन्तु मन्त्रौषधिरत्नसाध्य, हा हन्त केनापि कदापि नाद्य ।।१४४।।

द्वयोरुत्कर्षापकर्षार्थ शसिनोः ।।१४५।।

हेत्वोरुक्तौ त्रयाणां वाऽनुक्तौ शब्दार्थशक्तिभिः ।
आक्षिप्ते सति न श्लेषे स स्याद् बहुविध. पुनः ।।

द्वयोरुपमेयोपमानयोरुपमेयस्योत्कर्ष उपमानस्यापकर्ष, तयोरुक्तौ द्वयोरुपमेयोपमानयो स्तुकर्षापकर्षयोरनुक्ति, उपमेयस्योत्कर्षस्य वाऽनुक्ति, उपमानस्यापकर्षस्य वाऽनुक्तिरिति-त्रितय मिलित्वा चत्वारो भेदा । एते च शब्दप्रतिपादिता अथ प्रतिपादिताश्चेत्यष्टौ । आक्षिप्तेऽप्यौपम्ये चत्वार, एव द्वादश । पुन श्लेषे द्वादशेति चतुर्विंशति भेदा ।।१४६।।

आशामात्रे दिक साम ये एव श्रीकृष्णस्योदय, लक्षेण, भक्ताना प्राप्त्याशा न त्र एव तत्योदय । च द्वस्य तु आशामात्र उदय अपितु एकस्या पूर्वस्यामेव दिशि ।

कि त्वसौ च द्रोऽङ्केन कलङ्कन मलिन, इद तवानन तु सदा निर्म्मलम् । दुष्प्रापलोके श्रीकृष्णेन नु रागश्च हलाहलश्च द्वय समम् । अ त्य हालाहल मन्त्रादिभिर्या चिकित्सा तदा साध्यम् । आद्य कृष्णे नवानुरागस्तु ।।१४२ १४४।।

द्वयोरुपमेयोपम नयोरुत्कर्षापकर्ष बोधकयो हेत्वोधर्मयोर्यत्रोक्तिस्तत्रको व्यतिरेकालङ्कार । त्रितयमिति । एव यत्र द्वयोरुपमेयोपमानयोरुत्कर्षापकर्ष बोधक धमय रनुक्ति स त्रको व्यतिरेक । तथा यत्रोपमेयस्योत्कर्षबोधक धमस्य वा अनुक्तिस्तत्रको व्यतिरेक । एवमुपमानस्यापकर्षबोधक धमस्य वाऽनुक्ति स्तत्राप्येको व्यतिरेक । एव मिलित्वा चत्वारो भेदा । औपम्ये उपमान धर्मे आक्षिप्ते उपमान बोधकेवादि शब्द न तरेणाक्षेपालभ्ये सतीत्यथ । तथा चौपम्य बोधकवादिशब्दाभाव विशिष्टस्य पुनश्चत्वारो भेदा ।।१४६ १४६।।

वदन मण्डल सत्य ही सुधाशु है, तब सुधाशु सतत कलङ्क से मलिन है, और तुम्हारे मुखच द्र सवदा सुनिर्म्मल है । यही भेद है ।

हे विशाखे ! दुल्लभ जनके प्रति नवानुराग एव हलाहल उभय ही तत्य पद थ हैं कि तु द्वितीय जो अन्तिम है—वह तो म त्र औषधि एव रत्नसाध्य है किन्तु प्रथम किसी प्रकार से किसी भी समय मे साध्य नही है ।।१४२–१४४।।

उक्त व्यतिरेक अलङ्कार अनेक प्रकार के होते हैं । अर्थात् उपमान- उपमेय एतदुभय का उत्कर्ष एव अपकर्ष बोधक धर्म की उक्ति स्थल मे एक प्रकार, उपमानोपमेय के उत्कर्ष की अनुक्ति एव उपमान के अपकर्ष की अनुक्ति इस रीति से चार प्रकार हाते हैं । उक्त चार प्रकार—शब्द प्रति पाद्यत्व एव अर्थ

क्रमेणोदाहरणानि—आह्लादकस्य सुरभेर्मुखस्य तव राधिके !

चन्द्रस्य कमलस्येव नाङ्को न जलजन्मता ॥१४७॥

अत्रोपमेयस्योत्कर्ष, उपमानस्यापकर्ष । द्वयोरेवोक्ति ।

तवाननस्योपमान न चन्द्रो न च पङ्कजम् ।
अक्ष्णोरप्युपमान ते न राधे खञ्जनादय ॥

अत्र द्वयोर्ह्यनुक्ति ॥१४८॥

मुखस्य तव पद्माक्षि कलङ्की न सम शशी ।
वचसो न च तुल्य माक्षिकत्वेन माक्षिकम् ॥

अत्रोपमेयस्य नोत्कर्षोक्ति ॥१४९॥

आह्लादकस्य सुरभेर्मुखस्य तव राधिके ! नोपमान भवेदिन्दु न च पङ्केरुह प्रिये ॥

अत्रोपमानस्यापकर्षोऽनुक्ति एते चत्वारो भेदा ॥१५०॥

आह्लादक सौरभवद्वदन तव राधिके !
सकलङ्केन्दुवन्नैव स्थलजलाब्जवत् ॥

हे राधे ! आह्लादकस्य तव मुखस्य चन्द्रस्येव न कलङ्क । चन्द्रे यथा कलङ्कस्तथा तव मुखे नास्तीत्यर्थ । एव सौरभयुक्तस्य मुखस्य कमलस्येव न जल जन्मता ॥१४७-१४८॥

अत्रेति—द्वयोरुपमानोपमेययोर्द्वयनुक्ति । उत्कर्षापकर्षानुक्ति । माक्षिक मधु, माक्षिकत्वेन—मक्षिका कृतत्वेन ॥१४९॥

प्रतिपाद्यत्व भेद से आठ प्रकार होते हैं । उपमान का धर्म आक्षेपलभ्य होने पर चार प्रकार होते हैं । इस प्रकार द्वादश, एव श्लेष हेतु द्वादश—के योग से चतुर्विंशति भेद होते है ॥१४५ १४६॥

क्रमश उदाहरण—हे राधिके ! तुम्हारे यह सर्वाह्लादक सुरभिमुख मण्डल मे चन्द्रके समान कलङ्क नही है पद्म के समान जल जन्मता भी नहीं है ।

यहाँ उपमेय का उत्कर्ष एव उपमान का अपकर्ष--दोनो की उक्ति हुई है ॥१४७॥

हे राधे ! चन्द्र वा पङ्कज, तुम्हारे आनन का उपमान नहीं है । एव खञ्जन युगल को भी उपमान नहीं कहा जा सकता है ।

यहाँ उपमान एव उपमेय- उभय का ही उत्कर्ष एव अपकर्ष की अनुक्ति हुई है ॥१४८॥

हे कमलाक्षि ! कलङ्की शशाङ्क कभी भी तुम्हारे मुख सदश नहीं है, एव मक्षिका सञ्चित मधुभी कभी तुम्हारे वाक्य के समान नहीं हो सकता है ।

यहाँ उपमेय क उत्कर्ष की उक्ति नहीं हुई है ॥१४९॥

हे राधिके प्रिये ! पङ्कज अथवा पूर्णेन्दु कभी भी तुम्हारे यह परम प्रह्लादन सुरभि मुखमण्डल का उपमान नहीं हो सकता है । यहाँ उपमान का उपकर्ष की अनुक्ति है, ये चार भेद हैं ॥१५०॥

अत्र तुलार्थेन वतिनाऽर्थं प्रतिपाद्यमौपम्यम्। एतच्च पुनस्त्रयाणामनुक्तौ पूर्ववत् अनेन सह चत्वार इत्यष्टौ ॥१५१॥

शनश्चलन्ती चरण द्वयेन सा, दासीकृताम्भोरुह काननश्रिणा।

मुखेन राधा सहजामलत्विषा, जिगायचन्द्र समल कलङ्कत ॥

अत्रेवादि शब्दमन्तरेणाक्षिप्तोपमा। इयमपि पूर्ववदुत्कर्षाद्युक्त्यनुक्ति, श्चतुर्धा। तेन द्वादश भेदा। एते च पुन श्लेषगतत्वेन द्वधेति चतुर्विशति। १५२॥

कियन्त उदाह्रियन्ते—

कामकामु कमेवेद राधे तव युग भ्रुवो। गुणस्या योगसयोगौ यत्रनैवान्य चापवत्।

अत्रेवार्थे वति, गुणशब्द श्लिष्ट ॥१५३॥

सौरभवद वदन सौरभयुक्त वदनम्। अत्रौपम्यमथ प्रतिपाद्यम् नतु शब्द प्रतिपाद्यम्, शब्द प्रतिपाद्यन्तु वति प्रत्ययभिन्न स्थले पूर्वमुक्तमेव। त्रयाणामिति—कुत्र चद् वति प्रत्ययस्थले उत्कर्षापकर्षयो द्वयोरनुक्ति। एव कुत्रचिद् वतिप्रत्यय स्थले उपमानस्यापकर्षानुक्ति रिति त्रयाणामित्यथ। पूर्वोक्ताह्लादकमिति पद्य द्वयोरेवाक्ति रित्यनेन सह चत्वारो भेदा ज्ञेया ॥१५१॥

दासीकृता कमल काननस्य श्री शाभा येन तथाभूतेन चरण द्वयेन शनैश्चलन्ती सा राधा सहजामल त्विषा मुखेन करणेन कलङ्कात् समल चन्द्र जिगाय ॥१५२।

हे राधे! तव भ्रुवोयुग कन्दर्पस्य काम क धनुरेव, किन्तु नान्य चापवत् अन्य चापे गुणस्य प्रत्यञ्चाय कदाचिद्वियोग, कदाचित् सयोग। यत्र तव भ्रुधनुषि तौ नस्त, किन्तु सदा गुणस्य सयाग एव। श्लेषेण, गुणस्य माधुर्यादे ॥१५३॥

राधिके! तुम्हारे यह सौरभवत् एव आह्लाद जनक वदन मण्डल स कलङ्क सुधांशुवत् अथवा कमल वा स्थल कमलवत् है-इस प्रकार बोध नहीं होता है।

यहाँ तुल्याथ मे विहित वति प्रत्यय द्वारा औपम्य तात्पर्य गम्य हुआ है।

वति प्रत्ययस्थल मे कही पर उत्कर्षापकर्ष उभय की अनुक्ति कही पर उपमेय का उत्कर्ष की अनुक्ति, कहीं उपमान का उपकर्ष की अनुक्ति, इस रीति से तीन प्रकार, एव अयि राधिके! तुम्हारे यह सौरभवत् एव आह्लादक मुख मण्डल इत्यादि श्लोक मे कथित एक प्रकार मिलित होकर चार प्रकार है पूर्वोक्त चार प्रकार के सहित मिलित होकर आठ प्रकार होते हैं॥१५१॥

कमल कानन की कान्ति -जिस से दासी कृत हुई है, इस प्रकार तुम्हारे सुकुमार चरण युगल से मन्द मन्द सञ्चरण पूर्वक श्रीराधाने सहज सुन्दर वदन मण्डल के द्वारा कलङ्क मलिन पूर्ण चन्द्र का पराजय सम्पादन किया है।

इस श्लोक मे सादृश्य बोधक शब्द के अभाव से उपमा आक्षिप्त हुई है, यह भी उत्कर्षादि की उक्ति अनुक्ति के भेद से पूर्ववत् चतुर्विध है। इस प्रकार द्वादश भेद सिद्ध हुआ। पुनर्वार श्लेष गतत्वरूप से द्विधा विभक्त होकर समष्टि में चतुर्विशति भेद हैं ॥१५२॥

सदादानस्निग्धकर श्रीकृष्ण परवारण । नान्यवारणवद्बालेपद्मिनीगण भञ्जन
अत्रतुल्यार्थे वति, दानकर वारणादि शब्दा श्लिष्टा ॥१५४॥

यथा वा— हरवन्न तनुशिवोऽय, रविवन्न कुमुद्वतीग्लपन ।
शशिवन्नाप्यनवस्थित, कलाकलाप स एष सखि कृष्ण ॥
अत्रापि तुल्यार्थे वति । तनुशिवादय शब्दा श्लिष्टा ॥१५५॥

हे बाल अज्ञे ! अय श्रीकृष्ण परवारण —परान् शत्रून् वारयतीति, पक्षे मत्तहस्ती । कृष्ण कथम्भूत ? सदा दान यस्य तथाभूत, हस्तिपक्षे घन मद जलम् कर शुण्ड । किन्तु श्रीकृष्णोऽन्यवारणवन्न भवति, यत स पद्मिनीगण भञ्जन, कृष्ण रूप वारणस्तु न पद्मिनीगण भञ्जन । श्लेषेण पद्मिनी सल्लक्षणा क्रा तान्वी ॥१५४॥

हे सखि ! अय श्रीकृष्णो महादेववन्न तनुशिव, तनौ देहे शिवा दुर्गा यस्य तथाभूतोऽर्धनारीश्वरो यथा महादेवस्तथाभूतो नेत्यर्थ । श्लेषेण तनु कृश कल्याण यस्य तथाभूतो न, अपितु वृहत् कल्याण विशिष्ट इत्यर्थ । तथा सूर्यवन्न कुमुद्वतीग्लपन, अपितु कुमुद्वतीना हर्षकर । श्लेषेण कौ पृथिव्या मत् प्रीति र्विद्यते आसां कुमुद्वतीना हर्षवतीना स्त्रीणामानन्दकर इत्यर्थ । शशी यथा नावस्थित एक रूप कला कलापो यस्य तथाभूत, तस्य तु कला कदाचित ह्रसति, कदाचिद् वर्धते, अतएव न सदैक रूप, कृष्णस्तु तथाभूतो न अपितु सदैक रूप एव । श्लेषेण कलावद्वर्ध्यादय ॥१५५॥

कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते है—राधे ! तुम्हारे भ्रूयुगल निश्चय ही काम कार्मुक हैं, किन्तु अन्य कार्मुकवत् इस मे गुण का सयोग नहीं है, कभी असयोग भी नहीं है, यह सवदा ही गुणयुक्त है ।

इस श्लोक मे गुण शब्द श्लिष्ट है, एव इवार्थ मे वति प्रत्यय हुआ है ॥१५३॥

अयि बाले ! पर वारण श्रीकृष्ण सदा दान शील एव स्निग्ध कर है, वह अन्य वारणवत् पद्मिनी भञ्जन नहीं है ।

यहाँ तुल्यार्थ मे वति प्रत्यय हुआ है, एव वारणादि शब्द श्लिष्ट है, अर्थात् श्रीकृष्ण पर वारण, अर्थात् शत्रुनिवारक है पक्ष मे पर वारण श्रेष्ठ हस्ती है, इस प्रकार दान शील—धनदाता, पक्ष मे दानशील मद स्रावी है, कर शब्द से हस्त एव शुण्ड का बोध होता है । पद्मिनी पद्मलता, एव विशिष्ट लक्षणाक्रान्ता रमणी है ॥१५४॥

उदाहरणान्तर—हे सखि ! हमारे यह कृष्ण, हरवत तनु शिव, किंवा रविवत् कुमुद्वती ग्लपन, अथवा शशिवत अनवस्थित कलाकलाप नहीं है ।

तात्पर्य्य यह है कि—महादेव जिस प्रकार तनु शिव है, अर्थात तनु वा शरीर मे शिवा है, जिनकी, तादृश अर्द्ध नारीश्वर है श्रीकृष्ण, उस प्रकार तनुशिव नही है । अथ च श्लेष पक्ष मे—तनुशिव वा अल्प कल्याण विशिष्ट भी नही है, वह रवि के समान कुमुद्वती के ग्लानि जनक नहीं है । किन्तु कु वा पृथिवी मे मुद्वती वा हर्षवती नारीगण के आनन्द जनक है । एव शशि के कलासमूह जिस प्रकार अनवस्थित है, अर्थात् ह्रास वृद्धि शील है उसकी चतुःषष्टि कला उस प्रकार अनवस्थित अर्थात् अस्थिर रूप नहीं है । इस श्लोक मे तनु शिवादि शब्द श्लिष्ट है ॥१५५॥

राधाश्लेषादिषु सदा निरत सततोदय ।
पूर्ण कलाभिरनिम जिग्ये कृष्ण सुधाकरम् ॥१५६॥

अत्राक्षिप्तोपमा । राधादि--शब्दा श्लिष्टा । इत्यादयोऽनुसन्धेया ।

आक्षेपो वक्तुमिष्टस्य जो विशेष विवक्षया ।
निषेधो वक्ष्यमाणत्वेनोक्तत्वेन च स द्विधा ॥१६७॥

स आक्षेप- नामालङ्कार ।

क्रमेणोदाहरणे—

दुर्लीललीलया त्व, हरसि कटाक्षेण जीवित सुदृशाम् ।
अविमृष्य कारिणीनामुचितमिद कि भणिष्याम ? ॥१५८॥

हिमकरकिरणासारो, घनसारो गन्धसारोऽपि ।
तव विरहे निर्दय ता, दहति किमेभिस्त्वयि प्रोक्तै ॥१५९॥

अय श्रीकृष्ण सुधाकर चन्द्र जिग्ये। जये कारणमाह राधायामाश्लेषाधरपानादि कर्मस सदा नितरा रत। चन्द्रस्तु कदाचिद् राधानक्षत्रे कदाचिदश्लेषानक्षत्रे रत, नतु सदा। अय सततोदय, चन्द्रस्य तु कदाचिदुदय, कदाचिदनुदयश्च । अय कलाभि वदग्ध्यादिभिरनिश सदापूर्ण, चन्द्रस्तु पूर्णिमायामेव ॥१५६॥

वक्तुमिष्टस्य सख्या कृष्णे प्रीत्यतिशयस्य जो निषेध । हे सखि! निर्दये श्रीकृष्णे त्वया प्रीति कथ कृतेति यो निषेध, स निषेध एवाक्षेप । सत्वाक्षेपो वक्ष्यमाणत्वेनोक्तेन च द्विधा भवति ॥१५७॥

हे दुर्लील! लीलया अवहेलया जीवित हरसि, अविमृश्यकारिणीना परामर्श विना त्वयि प्रीति कारिणीनामिद जीवन हरणमुचितमेव, किं भविष्याम इति वक्ष्यमाणत्वेनाक्षेप उक्त ॥१५८॥

हिमकर किरण श्चन्द्रस्तस्य किरणानामासार धारासम्पात, घनसारश्चन्दनो गन्धसार, सुगन्धमात्र पदार्थ । ता मम सखीम् । त्वयि निर्दयत्वेन प्रसिद्धे एभिरतस्या दाहक पूर्ण प्रोक्तै किं किं प्रयोजनमित्यर्थ ।

सर्वदा राधाश्लेषादि निरत, निरन्तर निखिल कलापरिपूर्ण, सततोदय श्रीकृष्ण-सुधाकरके पराजय सम्पादन किये है ।

इस श्लोक मे श्रीकृष्ण, श्रीराधा का आश्लेष अर्थात् आलिङ्गनादि विषय मे निरत एव सुधाकर कदाचित् अनुराधा, कदाचित् अश्लेषा प्रभृति नक्षत्र विशिष्ट है, इस प्रकार व्याख्या करके शब्द समूह की श्लिष्टता को समझना होगा। यहाँ आक्षिप्तोपमा हुई है ॥१५६॥

विवक्षित विषय का विशेष प्रतिपादन हेतु जो निषेध है, उसको आक्षेप कहते है। वक्ष्यमाणग एव उक्तग होकर उक्त आक्षेप अलङ्कार द्विविध होते है ॥१५७॥

क्रमश उदाहरण– हे कठोर लीलाकारिन्! तुम अवलीला क्रमसे कटाक्षबाण के द्वारा सुलोचनागण के जीवन हरण करते रहते हो। अविमृष्य कारिणी के पक्ष उस प्रकार होना ही उचित है। इस विषय मे

हेतुरूपक्रिया भावे फल यत् मा विभावना ॥

विभावना नामालङ्कार । फल–प्राकटचम्, अभावे निषेधे ॥१६०॥

यथा—प्रियालोके राधा कुसुमचयने कौतुकवती,
धुनीते सत्रास करतलगतमदष्टापि मधुपै ।
अखिन्नापि श्रान्त्याश्रयति भुजयालीभुजशिर ।
परावृत्त्या पश्य-यधृत वसनापि व्रततिभि ॥१६१॥

विशेषोक्ति कारणेषु सत्सु कार्य्यस्य नोदयः ॥१६२॥

विशेषोक्ति–नामालङ्कार —

यथा—उदेतीन्दु पूर्णो वहति पवनश्चन्दनवनात्,
कुहूकण्ठ कण्ठात् कलमविकल निर्गमयति ।

अत्राक्तत्वेनाक्षेप उक्त ॥१५६॥

कारण रूप क्रियाया अभाने सति यत् फल भवति, तथा च कारणाभावे कार्य्योत्पत्तिविभावनालङ्कार इत्यथ ॥१६०॥

वृ दावनमध्ये स्थिता श्रीराधिका अकस्मात्तत्र श्रीकृष्ण दर्शने सति पुष्पावचयने कौतकवती प्रवृत्तेत्यथ । भ्रमरदष्टावि रूप सत्रास यथा स्यात्तथा भ्रमर विद्रावणार्थं करतल धुनीते कम्पयते । अत्र भ्रमर दशनरूप कारण विनव कार्य्यस्य करतल कम्पनस्योत्पत्ति, श्रमजन्य स्वेद रूप कारण विनव श्रमदूरीकरणाथ भुजया सखीस्क ध श्रयति ।

व्रततिभिलताकण्टक रनाकृष्ट वसनापि वस्त्राकषणाथ परावृत्या सती पृष्ठ देश पश्यति । प्रथमतोऽकस्मात् का तमिलने सति नायिकाया स्वभाव एवायमिति भाव ॥१६१–१६२॥

इन्दुरुदेतीत्या दिनोद्दीपन द्वारा मान भङ्ग कारणमुक्तम् । कुहूकण्ठ कोकिल । तथा प्रियसखीना

अधिक और हम सब क्या कह सकते है ॥१५८॥

हे निदय ! तुम्मारे विरह मे च दन, ग धसार एव हिमकर किरणासार भी सखी को स तप्त कर रहे है। तुम्हारे समीप मे ये सब कहना निष्प्रयोजन है ॥१५६॥

हेतु व्यतीत कार्य्योत्पत्ति होने से उसको विभावना अलङ्कार कहते हैं ॥१६०॥

उदाहरण—प्रिय सन्दशन समय मे श्रीराधा कुसुम चयन कौतकवती होकर मधुकर कत्तृ क अदष्टा होकर भी सत्राससे करतल कम्पन करने लगी,अखिन्ना होकर भी श्रमोपनोदन कामनासे बाहु द्वारा सखीके स्कन्ध देश को अवलम्बन करने लगी, एव लताजाल से अलग्ना होकर भी मुह फेर कर अवलोकन करने लगी ॥१६१॥

कारण की विद्यमानता मे भी कार्य्योदय न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार होता है ॥१६२॥

उदाहरण—पूर्णे दु परमानन्द से उदित हो रहा है, च दन वन से सुमन्द पवन प्रवाहित हो रहा है,

प्रियालीना मूर्ध्नि शपथरचना दन्ततृणता,
पादोपान्ते कृष्णस्तदपि तव मानो न विरत ॥

एवानुक्तोक्ताचिन्त्य निमित्तत्वात् त्रिविधा । अनुक्तनिमित्तता, तूक्ता, -अन्ये दर्श्येते ॥१६३॥

भक्तानुकम्पार्थमजोऽपि जातो, लीलाकृते गर्भ जगच्चगर्भे ।
जगद्धितायव जगत्त्रयस्य, पिता यशोदा तनयो बभूव ॥

अत्राजत्वादे कारणत्वेऽपि उक्त निमित्तत्वादजत्वादि-कार्य्याभाव ॥१६४॥

कृष्णस्यचञ्चल कटाक्षशरेण भिन्न शूलाकरोषि हृदय त्वमनङ्ग किम् ।
भस्मीकृतस्य भवती वृषभध्वजेन, किं भस्मसान्नहि कृतोवत बाहु दर्प ॥

अत्राचिन्त्य निमित्तता ॥१६५॥

यथा सख्य यथा सख्य क्रमिकाणां यदन्वयः ।

क्रमिकाणा वाचकाना यथा सख्य यद्यन्वयस्तदा ॥१६६॥

मूर्द्ध्न शपथ रचना, तासा दन्त तृणता च । कृष्णोऽपि तव पादाब्जे पतित । एषाविशेषोक्ति ।

अनुक्तेति—पूर्व श्लोके कारणसत्त्वेऽपि मानविरामरूपस्य कार्य्यस्यानुक्तौ किञ्चिन्निमित्त नोक्तमित्यतोऽनुक्त निमित्तताक्ता ॥१६३॥

लीलाकृते लीलाकरणाय जोऽपि जात इत्यजत्व रूप कारण सत्त्वेऽपि जन्माभाव रूप कार्य्यस्याभाव । तत्र निमित्त जगद्धितायेति । तथा गर्भ जगद् यस्य तथाभूतोऽपि गर्भे जात , एव जगत् त्रयस्य पिता सन्नपि यशोदासुतो बभूवेति सर्वत्र निमित्त जगद्धितमित्यर्थि ॥१६४॥

शूला करोषीति—"शूलात् पाके डाच" शूलाग्रेण विद्ध्वा पचसीत्यर्थ । महादेवेन भस्मीकृतस्य तव

कोकिल कुल कलकण्ठ द्वारा कुहुध्वनि करते रहते हैं। प्रियसखि वृन्द शिर स्पर्श करके शपथ प्रदान एव दन्त मे तृण धारण कर शपथ कर रहा है प्रिय कृष्ण चरणो मे निपतित है, मानिनि ! तथापि तुम्हारा निदारुण मान का अवसान नहीं हुआ ।

यह विशेषोक्ति अनुक्तनिमित्ता, उक्त निमित्ता एव अचिन्त्य निमित्ता भेद से त्रिविधा होती है, उस के मध्य मे अनुक्त निमित्ता का उल्लेख पूर्व मे हुआ है, अवशिष्ट दो का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ॥१६३॥

उदाहरण—निखिल जगत जिनके कुक्षिके कोण मे निविष्ट होते है वह भगवान् वासुदेव अज होकर भी भक्त गण के प्रति अनुकम्पा करने के निमित्त लील च्छल से जन्म ग्रहण किये थे, एव स्वय जगत् पिता होकर भी जगत् त्रय के हित हेतु यशोदा तनय रूप मे आविर्भूत हुये थे ।

यहाँ अज स्वरूप कारण होने पर भी जन्माभाव रूप कार्य्य का जो अभाव हुआ है, उस पक्ष में जगत् त्रय का हित साधन रूप निमित्त उक्त हुआ है ॥१६४॥

हे अनङ्ग ! श्रीकृष्ण के सतीक्ष्ण कटाक्षशर से सभिन्न इस हृदय को क्यो तुम शूलाकृत कर रहे हो ? हाय ! भगवान् वृषभध्वज तुम्हारे सर्वाङ्ग को जो भस्मसात् किये थे, उससे तुम्हारे भुजवीर्य क्यों

क्रमिकाणां वाचकानां यथासङ्ख्यं यदन्वयस्तदा यथासङ्ख्यमित्यलङ्कारः ॥

यथा—गोपीश्च गोपतनयांश्च सुरद्विषश्च, रूपेण च प्रियतया च भुजौजसा च।

सम्भोहयंश्च रमयंश्च निसूदयंश्च श्रीगोकुलेन्द्रतनयो व्रजमध्यवात्सीत् ।१६७॥

यस्मिन् विशेषः सामान्य समर्थ्यते परेण यत्।

साधर्म्म्यादथ वैधर्म्म्यात् स न्यासोऽर्थान्तरस्य हि॥

सोऽर्थान्तरन्यास-नामालङ्कार इत्यर्थः। परेणेति विशेषः सामान्येन, सामान्यं विशेषणेत्यर्थः, साधर्म्याद्विशेषः ॥१६८॥

सामान्येन यथा—त्वमेवाद्या सृष्टिस्त्वयि भगवतः केलिशयनं,

त्वया सर्वोलोकः परिहरति तृष्णापरिभवम्॥

बाहुदर्पो नहि भस्मसात् कृतः। अत्र देहस्य भस्मीभाव रूप कारण सत्त्वेऽपि देहैक देश बाहुदर्प भस्मीभाव कार्यस्याभावः। तत्र निमित्तमज्ञेयम् ।।१६५-१६६॥

गोपी रूपेण मोहयन्, गोप तनयान् सखीन् प्रियतया प्रेमणा रमयन् सुखयन् सुरद्विषोऽसुरान् बाहुबलेन सूदयन् ध्वंसयन् ॥१६७॥

यस्मिन् स्थले विशेष पदार्थः परेण विशेष पदार्थ भिन्नेन सामान्येन यत समर्थ्यते तथा च सामान्येन विशेष पदार्थो यत सिद्धो भवति, तादृश विशेष पदार्थ सिद्धिरेव अर्थान्तरन्यासालङ्कार इत्यर्थः ॥१६८॥

हे घन रस जल ! आद्यासृष्टिरिति—प्रथमतो गर्भोद जलस्य सृष्टत्वात्। केलिशयन—केलिशय्यात्वम्, भगवतो जलशायित्वेन प्रसिद्धेः। त्वया हेतुनाऽपूतोऽपवित्रो जनः पूतो भवति। नीचं र्भावनोचस्वभाव प्राप्नोषि—जलस्य नीचगामित्वप्रसिद्धेः। एतादृश सामान्यधर्मेण विशेष धर्म रूपार्थान्तर न्यासः। महतामिति—एष सर्वोत्कृष्टत्वेऽपि नीचस्वभावः, अहं निकृष्ट इति महिमा उत्कर्ष एवेत्यर्थः। वैधर्म्यादपीति अस्मिन् पक्षे सवगुण विशिष्टस्य नीचस्थल गामित्वरूप एषधर्मो महतां न महिमा नोत्कर्ष,--इत्यर्थः।१६९।

नहीं दग्ध हुआ ? यहाँ अचिन्त्य निमित्तता हुई है।१६५॥

क्रमशः उद्दिष्ट पदार्थ समूह का यदि यथाक्रम से अन्वय होता है, उस को यथा सङ्ख्य अलङ्कार कहते हैं ॥१६६॥

उदाहरण—गोकुलेन्द्र नन्दन श्रीगोविन्द,—गोपी वृन्द को, गोप कुमार को, एवं गीर्वाण वरिवृन्द को अर्थात् असुरगण को, रूपलावण्य, प्रियता एवं भुजवीर्य्य से सम्मोहित सुखित एवं निसूदित करके व्रज मण्डल मे अधिष्ठित थे ॥१६७॥

साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से जहाँ सामान्य से विशेष अथवा विशेष के द्वारा सामान्य समर्थित होता है, वहाँ अर्थान्तर न्यास अलङ्कार होता है ॥१६८॥

साधर्म्य मे सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन का उदाहरण—

हे घनरस ! तुम्ही विधाता की आद्य सृष्टि हो, तुम्हारे मे ही भगवान् की केलिशय्या आस्तत है, तुम से ही

त्वयाऽपून पूतोभवति तदपित्व घनरस,
क्रमान्नीचैर्भाव व्रजसि महतामेष महिमा ॥

महता नैष महिमेति वैधर्म्म्यादपि । साधर्म्म्यात् सामान्यम्, ॥१६६॥

विशेषेण यथा—सक्षेपतस्त्वा ललिते भणामो, दु ख हि नान्यत् प्रिय विप्रयोगात् ।
ते पामराहन्त सुहृद्वियोगात् प्रागेव येषा न समाप्तमायु ॥

किन्तु ते तूत्तमा एव सुहृद्वियोगात् प्रागेव येषामपयातमायुरिति वधर्म्येऽपि ॥१७०॥

विरोधः स विरोधाभः,

विरोदाश इति वस्तुतो न विरोध, विरोध इव भासत इत्यर्थ ॥१७१॥

जाति र्जात्यादिभिर्गुणः ।
त्रिभिर्द्वाभ्यां क्रिया द्रव्य द्रव्येणेति ते दश ॥

जात्यादिभिश्चतुर्भिर्जातिर्विरुध्यते । गुणो गुणक्रियाद्रव्यै, क्रिया क्रिया द्रव्याभ्याम् द्रव्य द्रव्येणेति दश ॥१७२॥

सुहृद श्रीकृष्णस्य वियोगात्ता यद् दु खं । ते पामरा दु खिन । अत सुख दु खयो साधर्म्य । तेतूत्तमा इत्यत्र सुखदु खयो वैधर्म्यम् ॥१७०॥

विरोध इति—जाति गुण क्रिया द्रव्याणा परस्पर यद् विरोध इव प्रतीयते, स विरोधाभासालङ्कार इत्यर्थ ॥१७१॥

निखिल लोक पिपासा क्लेश से मुक्त होते है । तुम्हारी प्रसन्नता से अपवित्र व्यक्ति पवित्र होता है । कि तु आश्चर्य यह है कि—तथापि तुम निरन्तर निम्नभाव को ही प्राप्त करते हो महत लोको की यही महिमा है । श्लोक के शेषाश मे "यही महिमा महत लोकों की है, अर्थात "उत्कष सूचक नही है" इस प्रकार पाठ होने पर वधर्म्य मे अर्थान्तर न्यास होता है ॥१६६।

साधर्म्य मे विशेष के द्वारा सामा य का समथन इस प्रकार है—ललिते ! मै सङक्षेप से सारकथा तुमको कहती हू, प्रिय वियोग की अपेक्षा दु खकर अपर और कुछ भी नही है । हाय ! सुहृद् वियाग के पहले ही जिस की आयु समाप्त नहीं होती है, वे सब पामर होते हैं ।

इस श्लोक के शेषाश मे ' वे ही पुण्यात्मा है, जिनकी आयु सुहृद् वियोग के पूर्व मे ही समाप्त हो जाती है । इस प्रकार होने पर वधर्म्म मे अर्था तर न्यास होता ॥१७०॥

जहाँ विरोध के समान आभास होता है, वहाँ विरोध नामक अलङ्कार होता है ॥१७१॥

जाति, गुण, क्रिया, एव द्रव्य के सहित जाति का, गुण क्रिया एव द्रव्य के सहित गुण का, क्रिया एव द्रव्य के सहित क्रिया का एव द्रव्य के सहित द्रव्य का परस्पर विरोध प्रतीत होने से उक्त विरोधालङ्कार दशविध होते है ॥१७२॥

क्रमेणोदाहरणानि— हिमकर किरणासारो, घनसारो गन्धसारोऽपि ।
त्वयि मनसोऽन्तर्वर्त्तिनि, सम्प्रति दावानलस्तावान् ॥

इति जातिर्जात्या ॥१७३॥

गुणरत्नरोहणभुव , कृष्ण तवाग्रे स्मरोऽपि बीभत्स ।
रत्नाकरोऽपि गाधो, न रत्नसानुस्तथोन्नतिमान् ॥

अत्र जातिर्गुणेन ॥१७४॥

यदङ्कमासाद्य विधूसराश्च, गोधूलयो भूषणतामुपेयु ।
विभूषणाना मणयश्च जग्मु विधूसरत्व स उपैति कृष्ण ॥

अत्रजाति क्रियया ॥१७५॥

हे कृष्ण ! त्वयि मनमोऽन्तर्वर्त्तिनि स्मरणावस्थां प्राप्ते सति चन्द्रकिरणादयस्तावान् सर्वोऽपि शीतलपदार्थ सम्प्रति दावानलो बभूव । हिमकरकिरणत्वजातिवावानलत्व जात्योर्विरोध । स आभास रूप एव नतु वस्तुतो विरोध । श्रीकृष्ण विरहे तेषामुद्दीपकत्वेन दावानलवत्तासा प्रतीति भवति, नतु वस्तुतो दावानलोभवतीति भाव ॥१७३॥

हे कृष्ण ! गुण रत्नस्य रोहणभुव उत्पत्ति स्थानस्य तवाग्रे क दर्पोऽपि बीभत्स । अत्र कन्दर्पत्व जाति र्बीभत्सत्व गुणेन विरुध्यते ।

नहि कन्दर्प कदापि बीभत्सो भवतीति विरोध । गाम्भीर्य्यगुणेन समुद्रोऽपि न तत्तुल्य इत्याह— रत्नाकरोऽपि त्वदग्रे गाधोऽल्प एव, नत्वगाध । अत्रसमुद्रत्वजातिरल्पत्व गुणेन विरुध्यत ।

नहि समुद्र कदापि गाधो भवतीति विरोध । तथा रत्नसानु सुमेरुपर्वतस्तवाग्रे नोन्नतिमान्— नोच्चतर , अपि तु क्षुद्रतरएव, अत्र पर्वतत्व जाति क्षुद्रत्व गुणेन विरुध्यते । नहि पर्वत कदापि क्षुद्रतरो भवतीति विरोध ॥१७४॥

यस्याङ्कमाश्रित्य धूसरा विवर्णा गोधूलयो भूषणतां भूषणधर्मं चाकचिक्यमुपेयु , स श्रीकृष्ण , हे सखि ! उप समीपएति आगच्छति । अत्र धूलित्व जाति र्भूषणस्यरत्न निष्ठ सदोत्पद्यमान चाकचिक्य क्रियया विरुध्यते ।

नहि धूलय कदाचिदपि रत्ननिष्ठ नेत्रचमत्कारि चाकचिक्य क्रियाश्रया भवन्ति, यथा दीपाना प्रति क्षण ज्वलनक्रिया उत्पद्यन्ते, तथोत्कृष्ट पद्मराग प्रभृति मणीनामेव, नतु धूलीनामिति ज्ञेयम् ॥१७५॥

क्रमश उदाहरण—हे कृष्ण ! तुम, सम्प्रति चित्तमात्र के अन्तवर्त्ती अर्थात् स्मृतिपथवर्त्ती होने से हिमकर के किरणासार, घनसार, गन्धसार, समस्त पदार्थ ही दावानल हो गए हैं ।

यहाँ जाति के सहित जाति का विरोध हुआ है ॥१७३॥

हे कृष्ण ! गुणरत्न के उत्पत्ति क्षेत्र स्वरूप तुम्हारे समीप मे कन्दर्प भी बीभत्स है, रत्नाकर भी गाध है, अर्थात् तल स्पर्श योग्य एव सुमेरुपर्वत भी अनुन्नत बोध होता है ।

यहाँ गुण के सहित जाति का विरोध हुआ है ॥१७४॥

गत्वा कलावान् गुरुगोष्ठ्य लक्षित,
कृष्णोऽपि विप्रोऽजनि भास्कराध्वरे।
यन्मन्त्रपाठो मधुरोऽप्यभूत् कटु,
स्तस्या समुद्यत्स्मरसज्वरस्पृश ॥

अत्र पूर्वार्द्धे जाति र्द्रव्येण, उत्तरार्द्धे गुणो गुणेन ॥१७६॥

शीतलमपि मुरलीरुत मन्तर्मम सन्तत दहति।
तीक्ष्णोऽपि तव कटाक्ष, शीतलयति मानस कृष्ण ॥

गुण क्रियया ॥१७७॥

कठिन शिलामयत्वाद् गोवर्धन एष भूभृता नाथ।
कृष्ण करे कुसुममय, कन्दुक इव कोमलो भाति ॥

अत्र गुणो द्रव्येण। गोवर्धनो द्रव्यम्, नहि गोवर्धनत्व जाति ॥१७८॥

भास्कराध्वरे सूर्य्यपूजास्थाने गत्वा गुरुगोष्ठीभि जटिलादिरलक्षित। श्रीकृष्णो वश्यजातिरपि विप्रोऽजनि।

नहि वश्यजाति कदापि ब्राह्मणो भवतीति विरोध। म न्त्रपाठ श्रुत्वा समुद्यद् य क दर्प ज्वरस्तेन स्पृष्टायास्तस्या राधाया मधुरोऽपि कटुरभूत्। अत्र माधुर्य्य गुणस्य कटुतागुणेन सह विरोध ॥१७६॥

शीतलोऽपि मुरली शब्दो ममा त दहति। अत्रशीतल गुणो दाहक्रियया विरुद्धो भवतीति ज्ञेयम् ।१७७।

पर्वतानां नाथो गोवर्धन.। अत्र काठिन्य गुणस्य कोमल द्रव्येण सह विरोध ॥१७८॥

हे सखि! जिनके अङ्ग सङ्ग को प्राप्तकर धूसर वर्ण गोधूलि पुञ्ज भी भूषण हो जाती हैं, एव विभूषण स्थित समुज्ज्वलमणि समूह भी विधूसरत्व हो गई हैं, वह कृष्ण तुम्हारे समीप मे समागत हो रहे हैं।

यहाँ क्रिया के सहित जातिका विरोध हुआ है ॥१७५॥

कलाकुशली श्रीकृष्ण, गुरुगोष्ठी के अलक्षित रूपसे भास्कर पूजास्थल मे गमन करके अपने को विप्र घोषित किये थे। एव उस समय तदीय मन्त्र पाठ अतिमधुर होने पर भी उसको सुनने के निमित्त समुद्यत कन्दर्प बाधा राधाके पक्ष मे वह अति कटुतर हुआ था।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध मे द्रव्य के सहित जाति का एव उत्तरार्द्ध मे गुण के सहित गुण का विरोध हुआ है ॥१७६॥

हे कृष्ण! तुम्हारे मुरलीरव सुशीतल होने पर भी निरन्तर मेरा अन्त करण दहन कर रहा है, एवं कटाक्ष सुतीक्ष्ण होने पर भी मेरा चित्त को सुशीतल कर रहा है।

यहाँ क्रिया के सहित गुण का विरोध है ॥१७७॥

शिला सङ्गति हेतु सुकठोर गोवर्धन गिरि कृष्णकर में कुसुममय कन्दुक के समान कोमल प्रतिभात हो रहा है।

जीवयति मूर्च्छयति च, पीवयति च सूक्ष्मयत्यपि च ।
तव मुरलीरव खुरली, नो जाने किं विजानाति ॥

क्रिया क्रियया ॥१७९॥

अनङ्गो यत्कटाक्षेण साङ्गीभवति तत्क्षणात् ।
ईक्षण क्षणद कृष्णो वीक्षित क्षणदामुखे ॥

क्रिया द्रव्येण, अनङ्गो द्रव्यम् ॥१८०॥

त्वयि नयन वर्त्म वर्त्तिनि, सरसयति रतिं य एष रमणीनाम् ।
सति मनसोऽन्तर्वर्त्तिनि, कृष्ण स एव स्मर. कुलिश ॥

द्रव्य द्रव्येण । एव दशभेदा ॥१८१॥

हे कृष्ण ! तव मुरलीरवस्य खुरली अभ्यास पुन पुनर्वादनमिति यावत् अस्मान् जीवयति मूर्च्छयति च । एकस्मिन् काले जीवनक्रिया मूर्च्छन क्रिययो परस्पर विरोध । प्राणाना सम्यक चलन जीवनम्, किञ्चित्-मात्र चलन मूर्च्छेति भेदो ज्ञेयो । पीवयति पुष्टयति, सूक्ष्मयति कृशयति । अत्र स्थौल्य-कार्श क्रिययो परस्पर विरोध ॥१७९॥

अनङ्गमङ्गरहित वस्तु साङ्ग मङ्गजन्यक्रियायुक्त करोतीति विरोध । वस्तुतस्तु अनङ्ग कन्दर्प साङ्ग सम्भोगस्य यावन्त्यङ्गानि तद्विशिष्ट करोतीत्यर्थ । क्षणदामुखे सन्ध्यायाम् । अस्माभिर्वीक्षित सन् नेत्राणा क्षणद उत्सवदो भवतीत्यथ ॥१८०॥

हे कृष्ण ! सन्ध्याकाले व्रजागमन समये त्वयि नेत्र वर्त्मवर्त्तिनि सति य क दर्पो व्रजसुन्दरीणा रतिं रमण चाक्षुषसम्भोगमिति यावत् सरसयति आस्वाद विशिष्टा करोति, स एव स्मरस्त्वयि नेत्र द्वारा व्रजसुन्दरीणा मनसोऽन्तर्वर्त्तिनि सति त्वत्स्पर्शोत्कण्ठया अशनिरभवत् । नहि रसास्वाद हेतु कन्दर्प कदापि वज्रो भवतीति विरोध ॥१८१॥

यहाँ द्रव्य के सहित गुणका विरोध हुआ है । गोवर्धन एक द्रव्य है, किन्तु गोवर्धनत्व जाति नहीं है ।१७८

हे मुरलीधर ! तुम्हारी मुरली वादन लीला—हम सब को कभी जीवित कभी मूर्च्छित, कभी स्फीत, कभी तो कृशीकृत कर रही है,हे सखि ! मैं नहीं जानती हूँ, तुम्हारे वह यन्त्र क्या मोहनमन्त्र विज्ञात है ?

यहाँ क्रिया के सहित क्रिया का विरोध है ॥१७९॥

जिस की कटाक्षच्छटा अनङ्ग को भी साङ्ग करके विराजित है, उस लोचन लोभन नन्दनन्दन को मैंने आज निशामुख मे देखा है ।

यहाँ द्रव्य के सहित क्रिया का विरोध हुआ है । अनङ्ग द्रव्य है ॥१८०॥

हे कृष्ण ! तुम नयन पथ वर्त्ती होने पर जो स्मर रमणी वृन्दकी रतिको उल्लसित करता है, तुम चित्त मध्यवर्त्ती होने पर वही उसी समय अनिवार्य वज्र होता हरता है ।

यहाँ द्रव्य के सहित द्रव्य का विरोध हुआ है । इस प्रकार विरोधालङ्कार होते हैं ॥१८१॥

स्वभावोक्तिः स्वभावस्य वर्णन यत्,

यथा (पञ्चम किरणे ३३) 'आराज्जानुकरोपसर्पण पर' इत्यादि ॥१८२॥

यथा वा—जृम्भस्व तात मुखमाकलयामि दन्ता, कत्युद्गतामवत इत्युदिते जनन्या।
स्मित्वा विकाशित मुखस्य हरेजयन्ति, द्रोण प्रसूनकलिका इव केऽपि दन्ता ।१८३।

यथा वा—स्वभावसुन्दर कृष्णो राधा सहज सुन्दरी।
अन्योऽन्यमनयो प्रीतिरखिलोत्सवकारिणी ॥१८४॥

मुखे स्तुतिः ।

निन्दा वा हृदये व्याजस्तुति स्यात्तत्तदन्यथा ॥

मुखे स्तुति र्निन्दा वा हृदये तत्तदन्यथेति स्तुतेर्निन्दा, निन्दाया स्तुतिरित्यर्थ ।१८५॥

क्रमेणोदाहरणे—न निस्पृह स्तत् सदृशो विरक्त, स्वकीय कीर्त्तावपि नानुरक्त ।
दृङ्मात्र निष्पाद्य परोपकारे, न कृष्णकीर्त्ति यदुरीकरोषि ॥

अत्र मुखे स्तुति रन्तर्निन्दा ॥१८६॥

आराविति श्लोकस्य पूर्व एव व्याख्या कृता ॥१८२ १८३ १८४॥

अति स्तुतिरिति—स्तुतिस्थाने निन्दा, निन्दा स्थाने स्तुति रित्यर्थ। तथा च मुखे स्तुति हृदये निन्देत्येक पक्ष, एव मुखे निन्दा, हृदये स्तुतिरिति द्वितीयपक्षरिति भाव ॥१८५॥

स्तुतिरिति—स्तुति स्थाने निन्दा, निन्दास्थाने स्तुति रित्यर्थ। तथा च मुखे स्तुति हृदये निन्देत्येक पक्ष, एव मुखे निन्दा, हृदये स्तुतिरिति द्वितीय पक्ष इति भाव ॥१८६॥

स्वभाव के वर्णन को स्वभावोक्ति कहते हैं ॥१८२॥

हे वत्स! जम्भा त्याग करो, अर्थात् जँमाई लो, मै तुम्हारा मुख देखूँ। दाँत कितने निकले है! जननी इस प्रकार कहने पर शिशु वेशी भगवान् हँसकर मुख विकास किये थे। उस समय उनके विकसित मुख मण्डल मे द्रोण पुष्प कलिका के समान अति धवल क्षुद्र क्षुद्र कतिपयदन्त कितने शोभित हुये थे ।१८३।

उदाहरणान्तर—श्रीकृष्ण जिस प्रकार सहज सुन्दर, राधिका भी उस प्रकार स्वभाव सुन्दरी है, उनकी पारस्परिक प्रीति निरुपमा है, एव अखिलोत्सव कारिणी है ॥१८४॥

मुख मे स्तुति वा निन्दा, एव हृदय मे उस उस विषय की अन्यथा होने पर अर्थात् स्तुति स्थान मे निन्दा एव निन्दा स्थान मे स्तुति प्रतीति होने पर व्याज स्तुति अलङ्कार होता है ॥१८५॥

हे कृष्ण! तुम्हारे समान निस्पृह एव वैराग्य शाली और कोई नही है। तुम स्वकीय कीर्त्ति मे भी अनुरक्त नहीं हो, देखो कटाक्ष मात्र निक्षेप से भी जो परोपकार सम्पादित होता है, तुम तो उस प्रकार कीर्त्ति उपार्ज्जन करने मे भी पराङमुख हो।

इस श्लोक मे बाहर स्तुति -अन्तर मे निन्दा हुई है ॥१८६॥

त्वदङ्घ्रि मूल भजता मुकुन्द, लाभोऽस्तु दूरे वपुषो निजस्य ।
चिरन्तनस्यापि भवेद्विनाश, स्वभाव एवैष तव प्रसिद्ध ॥

अत्र मुखे निन्दा, अन्त स्तुति । उभयथैव व्याजस्तुति ॥१८७॥

यत्तु—वक्त्र वो द्विजराज हिंसिमदिरालोल दृशोयु ग्मक
कान्ति काञ्चन हारिणी विहरण गुर्वङ्गनासङ्गतम् ।
सङ्गी पञ्चम एष पञ्च विशिख शुद्धिस्तथापीह वो
दैत्य यन्नचवधीद् वृषाकृतिमघ तेनैष दुष्टो हरि ॥

इति यद्यपि व्याजस्तुतिस्तथापि शब्दालङ्कार एवासौ, तेनायमुभयत्रैव । इय विदूषकस्यवोक्ति ॥१८८॥

त्वदङ्घ्रीति । चिरन्तनस्यानादि कालत एव प्राप्तस्य स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयस्य नाश देहद्वयनाश एव मोक्ष । तथा च त्वद् भजनस्य कोऽप्यचिन्त्य प्रभावो यदय भजनारम्भ कालएव भक्तस्य ससार नाशयति ॥१८७॥

कदाचिदरिष्टासुर वधानन्तर श्रीराधिका यूथ गत श्रीकृष्ण मालोक्य श्रीराधिका ललिता प्रभृती स्वसखी सम्बोध्य आह—(भो सख्य ! सम्प्रत्यद्य श्रीकृष्णेन गोवध कृत, तस्मादस्य स्पर्शो भवतीभिन कर्त्तव्य ' इति ब्रुवाणा राधिका प्रति विदूषक श्रीकृष्णस्यसखा मधुमङ्गल आह—यत्त्विति । भो राधिके ! यूय महा पातकिन्य श्रीकृष्णेन तु जन्ममध्ये एक पाप कृतम् । तदपि पापाभास एव यतोऽयमसुरीमायया वृषाकृति र्भवतीति । तत्रतासा पञ्चमहापातकानि हृदये प्रशसा सत्त्वेऽपि निन्दामलेनाह— वक्त्रमिति । वो युष्माक वक्त्र द्विजराजो ब्राह्मण श्रेष्ठस्तस्य हिंसकमिति ब्रह्महत्या, प्रशसा, पक्षे,द्विजराज श्च इस्तस्य निन्दा

हे मुकुन्द ! जो तुम्हारे चरणाविन्द का भजन करते हैं, उनको अन्य लाभ होने की कथा तो दूर है, उनके चिरन्तन निज निज स्थूल सूक्ष्म शरीर भी विनष्ट होते है । इस प्रकार प्रसिद्ध स्वभाव तुम्हारा है । इस श्लोक मे मुख से निन्दा एव अन्तर से स्तुति हुई है। उभय यथा ही व्याजस्तुति है ॥१८७॥

हे सुन्दरी वृन्द ! तुम्हारे मुखमण्डल द्विजराजहिंसक है, नयन युगल मदिरालोल हैं, कान्ति काञ्चन हारिणी है, विहार भी गुर्वङ्गना सङ्गत है, पञ्चम—महापातक रूप—पञ्चविशिख—तुम्हारे सङ्गी है, तथापि तुम सब पवित्र हैं, और मेरा सखा श्रीकृष्ण—वृषाकृति धारी अरिष्टासुर को विनष्ट किया है, इस हेतु वह सब दोष दुष्ट कसे हुआ—यह आश्चय है ।

इस श्लोक के स्तुति पक्ष मे द्विजराजहिंसक अर्थात् चन्द्र तुल्य, मदिरालोल अर्थात् मदिरा वा खञ्जन तुल्य चञ्चल, काञ्चन हारिणी- काञ्चन के तुल्य मनोहारिणी, गुर्वाङ्गना सङ्गत, गुरु जनके अङ्गन मे ही आसङ्गत, पञ्च विशिख कन्दप ।

निन्दा पक्ष मे—द्विजराज हिंसक—ब्राह्मण हिंसक, मदिरालोल मद्यपान द्वारा चञ्चल काञ्चन हारिणी—सुवर्ण अपहरणकारिणी, गुर्वङ्गना सङ्गत-गुरुपत्नीगमन, पञ्चविशिख--पञ्चविशिख नामा किसी दस्यु ।

सहोक्तिः सा सहार्थेन शब्देनैका क्रिया यदि ॥१८९॥

यथा—श्वासैः सार्धं विरहि सुदृशां दैर्घ्यमापू रजन्यः

साकं देहैरहह कृशतां वासरा स प्रतीयुः ।

बाष्पाम्भोभिः सह हिमपयःप्रस्रवाः पेतुरुच्चै-

र्हा धिक् प्राणैः सह कमलिनीकाननं म्लानमासीत् ॥१९०॥

विनोक्तिः सा विनैकेनान्यस्य चेत् सदसत्कृतिः ।

विनोक्ति-नामालङ्कारः । सत्कृतिः शोभनता, असत्कृतिस्तदन्येति द्विधा ॥१९१॥

क्रमेणोदाहरणे—विरहेण विनैव शोभते, ललिते प्रेमनिसर्गशोभनम् ।

प्रयोजकत्वेन हिंसकम् । युष्माकं दशायुगलं मदिरया लोलमिति सुरापानम् । पक्षे, मदिरं खञ्जन इतद्वदाचञ्चलम् । काञ्चनहारिणीति स्वर्णस्तेयम्, पक्षे, सुवर्णमिव मनोहारिणी । गुर्वङ्गना सङ्गतमिति गुर्वङ्गनासङ्गमः । पक्षे गुरूणामङ्गणे एवासङ्गतम्, कुलवतीत्वाद् बहिर्गमनाभावात् । अतो दूषोवा दत्यो वेति तत्त्वं न जानीथेति ध्वनिः ।

पञ्चविशिख, कश्चिन्महादस्युर्युष्माकं सङ्गी एव पञ्चमो महापातकरूपः । पक्षे पञ्चविशिखः कन्दर्पः । उभयत्रेति—व्याजस्तुतौ शब्दालङ्कारे चास्य प्रयोगो ज्ञेयः ॥१८८-१८९॥

विरहि सुदृशामिति विरहविशिष्टव्रजसुन्दरीणां रजन्यः श्वासैः सार्धं दैर्घ्यमापुः विरहेण तासां रात्रयोऽपि दीर्घा बभूवुः, श्वासा अपि दीर्घा बभूवुरिति सहार्थकसार्धशब्देनैका क्रियेत्यतः सहोक्त्यलङ्कारः वासरा इति कान्त—विच्छेदजया, यादृशी पीडा रात्रौ, तादृशी दिवसे न भवति, अतस्तासां दिवसाः शीघ्रं यान्ति, तस्मादेव दिवसानामल्पत्वम् । हिमपयःप्रस्रवाः रात्रिसम्बन्धि-नीहारप्रवाहाः, रात्रिशेषे प्राणैः सहेति कमलिनीनां म्लानत्वं हिमघटाभिरेव ज्ञेयम् ॥१९०॥

विनोक्तिरिति—एकेन विना अन्यस्य शोभनता, तथैकेन विनान्यस्याशोभनता चेति द्विधेत्यर्थः ॥१९१॥

निसर्गशोभनं स्वभावसिद्धशोभनं प्रेम । अतोऽत्र विरहाद्यपेक्षा नास्ति का तेन सह विरहश्चेत्तदा

विदूषकोक्त इस श्लोक में जिस प्रकार व्याजस्तुति हुई है, उसी प्रकार शब्दालङ्कार भी हुआ है । अतएव उभयत्र ही इस का प्रयोग हो सकता है ॥१८८॥

सहार्थक शब्द के सहित यदि एक क्रिया का सम्बन्ध होता है तो सहोक्ति अलङ्कार होता है ॥१८९॥

उदाहरण—विरहिणी व्रज कामिनी वृन्द के निश्वास के सहित रजनी दीर्घ हो गई । उन सब के शरीर के सहित दिनमान भी कृश हो गया, वास्प धाराके सहित शिशिर धारा भी धरातल को प्राप्त हो गई । हा धिक ! कमल कानन भी उन सब के प्राण के सहित म्लान हो गया था ॥१९०॥

एक को छोड़कर यदि अन्य की शोभनता वा अशोभनता होती है, तो विनोक्ति नामक अलङ्कार होता है । शोभनता एवं अशोभनता भेद से उक्त विनोक्ति अलङ्कार द्विविध होते है ॥१९१॥

क्रमशः उदाहरण—निसर्ग सुन्दर प्रेमपदार्थ विरह व्यतीत ही शोभित होता है, और यदि विरह

असुभिश्च विनैव शोभते, विरहश्चेद्दत सम्भवद्दश ॥१९२॥

विना राधा कृष्णो न खलु सुखद सा न सुखदा
विना कृष्ण द्वाभ्यामपि वत विन्याल्या न सरसा ।
विना रात्रि नेन्दु स्तमपि न विना सा च रुचिभाक्
विना ताभ्या जृम्भां दधति कुमुदिन्योऽपि नतराम् ॥१९३॥

समासमाभ्यां निमयः परिवृत्तिरुदीर्य्यते ॥

अनयोरर्थाना वा समेनासमेन वा निमय परिवृत्ति ॥१९४॥

यथा—हारादिभि सन्त्रुटितै निजाङ्गाद् विभूषयामास पतङ्गपुत्रीम् ।
तस्या सरोजादिभिरात्मनोऽङ्ग, राधालिवर्गो जलकेलि काले ॥१९५॥

यथा वा—एकाददुनू पुरनादशोभा, मन्या प्रयाणक्रम मन्थरत्वम् ।
आभीर बाला कल हस बाला समूहयो किञ्चन सख्यमासीत् ॥१९६॥

प्राण विनव प्रेमशोभते । विरहेऽपि प्राणास्तिष्ठन्ति चेत्तदा प्रेमव नास्ति कुतस्तस्य शोभनता चेति द्विध दश । विरह कथम्भूत ? सम्भवन्ती मरण पर्यन्ता दशायत्र तथाभूत ॥१९२॥

द्वितीय पक्षमाह—विनेति । द्वाभ्या राधा कृष्णाभ्या विनासख्योऽपि न शोभन्ते । तत्र दृष्टान्तमाह सा रात्रिस्त चन्द्र विना न रुचिभाक्, ताभ्या विना कुमुदिन्योऽपि जृम्भां फुल्लता न दधति । इय दृष्टान्त मिश्रा विनोक्ति ॥१९३॥

अथ द्वयस्य बहूनामर्थानां वा समेन वस्तुना असमेन वस्तुना वा निमयो विनिमय परिवृत्ति नामालङ्कार ॥१९४॥

पतङ्ग पुत्रीं यमुनाम्, तस्या यमुनाया कमलरात्मनोऽङ्ग विभूषयामास ॥१९५॥

होता है, तो वह प्राण व्यतीत शोभित होता है । कारण, जिस प्रिय विरह मे दशम दशा की सम्भावना नहीं हैं, वह विरह पद वाच्य नहीं होता है ॥१९२॥

द्वितीय पक्ष को कहते हैं—राधिका व्यतीत कृष्ण भी इष्ट प्रद नहीं हैं, कृष्ण व्यतीत राधिका भी सुख साधिका नहीं है, एव उभय व्यतीत सखी गण भी सुख कारण नहीं हैं । देखो, रजनी के बिना रजनी कर शोभाकर नहीं है, रजनी कर के बिना रजनी भी शोभाजननी नहीं है, एव उभय को छोड़कर कुमुदिनी कभी भी प्रमोदिनी नहीं होती है ॥१९३॥

समान अथवा असमान पदार्थ के सहित दो वा अनेक पदार्थो का विनिमय होने से परिवृत्ति अलङ्कार होता है ॥१९४॥

उदाहरण—श्रीराधिका के सखीवृन्द,—जलकेलि के समय निज अङ्ग से परिच्युत हारादि भूषणो से यमुना को भूषित किये । यमुना ने भी निज सरोजादि अलङ्कारो के द्वारा उन सब के अङ्ग समूह को अलङ्कृत कर दिया ॥१९५॥

असमेन यथा—मनोराग दत्त्वा चरणदल रागो मृगदृश,
त्त्वयादत्तो वक्ष स्थलमलति य कौस्तुभ इव ।
रस दत्त्वानोना त्वदधर पुटेनेक्षणमसी,
सम त्वद्वैदग्ध्य त्वदवयववदग्ध्यमपि च ॥१९७॥

अतीतानागतार्थानां साक्षात्त्वमिवभाविकम् ॥

भाविक नामालङ्कार ॥१९८॥

क्रमेणोदाहरणे—प्रात सखीना पुरत शुकीभि, कथा तथा वल्लमयोरुदारा ।
व्यधायि तौ सा च निशा तयो सा, केलिश्च साक्षादभवन् यथासाम् ॥१९९॥
इदानी मेव राधाया भ्रू यथागुणवत्यभूत् ।
तथा मन्ये स्मरस्येय स्व चाप त्याजयिष्यति ॥२००॥

एका व्रजबाला स्वीय नूपुर नादशोभां बालहस बालाभ्यो ददु, तासा नूपुर शब्द समानाकार शब्दोच्चारण प्रसिद्धे । अ या कलहस बाला व्रजबालाभ्य स्वीय गमन मन्थरत्व ददु ॥१९६॥

हे कृष्ण ! त्वया स्वीयमनोऽनुराग राधिकाय दत्त्वा तस्या मगदृश्चरण सम्बन्धयङगुलि दलान्। भावन्तराग आदत्त जगृहे, यो यावकराग, कौस्तुभ इव तस्य वक्ष स्थलमलति भूषयति ।

एव त्वदधर पुटेन स्वीय ताम्बूल रस तस्या ईक्षणाय दत्त्वा ईक्षणस्य कज्जल रूप मसी त्वय जगृहे । अतस्तद् वदग्ध्य तवाधर रूपावयव वदग्ध्यञ्चानयो साम्यमेव ज्ञेयम् ॥१९७–१९८॥

प्रात काले सखीनामग्रे कुञ्ज गृहे स्थिताभि शुकीभि पक्षिणीभी राधाकृष्णयो रात्रि सम्बन्धि विलास कथा तथा व्यधायि, यथा आसा सखीनामेते साक्षादभवन् । तौ राधाकृष्णौ ॥१९९॥

अनागतार्थानां साक्षात्त्वमाह—इदानी यौवनारम्भ एव यथा गुणवती अभवत्, तथा यौवने सतीय भ्रू कन्दर्पस्य स्वीय चापमपि त्याजयिष्यतीत्यह म ये ॥२००॥

उदाहरण—व्रज बाला एव कलहस बाला का उस समय परस्पर सखिभाव सघटित हुआ था, एकजन अपर को नूपुर ध्वनि माधुर्य्य प्रदान किया अपर व्यक्ति ने भी उसको गमन क्रम मन्थरवितरण किया ॥१९६॥

हे माधव ! तुमने राधिका को मनो राग प्रदान करके तदीय पादपल्लव राग को ग्रहण किया है, जो अभी भी तुम्हारे वक्ष स्थल मे कौस्तुभ मणि के समान समुज्ज्वल है ।

एव निज अधर पुट के ताम्बूल रस उनके नयनो मे देकर, तदीय नयनो की कज्जल कालिमा को लिया है, अतएव तुम्हारा वदग्ध्य एव तुम्हारे अधर पुटका वदग्ध्य उभय ही समान है ॥१९७॥

अतीत एव अनागत पदाथ का साक्षात्कार के समान प्रतीयमान होने से भाविक अलङ्कार होता है ॥१९८॥

क्रामिक उदाहरण—प्रभात मे शुकाङ्गना सखी गण के समक्ष मे राधाकृष्ण को महती केलि कथा के

पद वाक्यार्थता हेतोः काव्यलिङ्गं प्रकीर्त्त्यते ॥२०१॥

पदार्थता, वाक्यार्थता च । पदार्थता च द्विधा,—एक पदार्थताऽनेकपदार्थता चेति ।

क्रमेणोदाहरणानि—संसारालर्कदंष्ट्रात पापाशीविषदंशत ।

कृष्णनाम्निमहामन्त्रे सति माभैष्ट साधव ॥२०२॥

अपारकरुणाम्बुधौ स्मरणमात्र सानुग्रहे,

विधि प्रभृति--पामरावधि समान सम्भावने ।

तवाहमिति जल्पतामखिलकामकल्पद्रुमे,

हरौ निहित मानसा स्त्यजत देहबन्ध जना ॥२०३॥

वाक्यार्थता यथा वपु स्थित्या ज्ञात कपटरहित प्रेम नहि मे

सति प्रेम्णि प्रायो न भवति वियोग प्रणयिनो ।

पदार्थता रूप हेतो सकाशाद् यत्र कार्य्यसिद्धिस्तथा वाक्यार्थता रूप हेतो सकाशाद् यत्र कार्य्य-सिद्धि स्तत्र काव्यलिङ्गालङ्कारो ज्ञेय ॥२०१॥

संसार रूप उन्मत्त कुक्कुरदंष्ट्रात स्तथा पापरूप सर्पदंशतो मा भैष्ट । भयाभावे कृष्ण नाम्नि इत्येकस्य पदस्य हेतुता । 'उन्मत्त श्वा अलर्क स्यात्' इत्यमर ॥२०२॥

हे जना ! यूयमेवम्भूते हरौ विहितमानसा सन्तो देह सम्बन्ध त्यजत । कथम्भूते हरौ ? ब्रह्म प्रभृति पामर—पर्य्यन्त सर्व जीवेषु समान सम्भावने तुल्य दृष्टावित्यर्थ । देह सम्बन्ध त्यागे अपारेत्यादीनां चतुर्णां पदानां हेतुता ॥२०३॥

इस प्रकार बोली थी, जिस से सखीगण,— चरित्र नायक नायिका, उभयके उस रस क्रीडा एव उस रात्रि का प्रत्यक्षवत् अनुभव किये थे ॥१९९॥

श्रीराधिका की भ्रू लता सम्प्रति इस प्रकार गुणवती हुई, उस से प्रतीत होता है—कि समय मे वह रतिपति के शरासन को परित्याग करावेगी ॥२००॥

हेतु की पदार्थता अथवा वाक्यार्थता होने से काव्य लिङ्ग अलङ्कार होता है । पदार्थता भी एक पदार्थता एव अनेक पदार्थता भेद से द्विविध होती हैं ॥२०१॥

क्रमिक उदाहरण-जब कृष्ण नामरूप महामन्त्र निरन्तर जागरूक है, तब हे साधु वृन्द । संसार रूप उन्मत्त कुक्कुर दंष्ट्रा से एव पाप रूप आशीविष के दंशन से और तुम सब को कोई भय नहीं है ॥२०२॥

जो अपार करुणा के पारावार स्वरूप है जिनका स्मरण मात्र से जिनका अनुग्रह उच्छलित होता है जो ब्रह्मादि पामर पर्य्यन्त सर्वत्र समदृष्टि सम्पन्न हैं हे नाथ ! "मैं तुम्हारा ही हू" इस प्रकार स्तव करने से ही जो उसकी कामना को पूर्ण करने मे कल्पद्रुम होते हैं, साधुगण ! तुम सब उन श्रीहरि के चरणारविन्द मे अन्त करण निहित करके विनश्वर देह बन्ध से विमुक्त हो जाओ । यहाँ देह सम्बन्ध त्याग मे अपरेत्यादि चारो पदो की हेतुता है ॥२०३॥

अत. प्रेमणोऽकीर्त्तिप्रकटननिमित्ता मम जनि

कथ नु श्रोतव्य द यत इति भूयो हरिवच ॥२०४॥

विना वाचक--वाच्यत्व यत्र वस्तु प्रतीयते। पर्य्यायोक्त तत् ॥२०५॥

जहौ श्रीकृष्णमालोक्य स्थिति स्वाभाविकीमपि।

दर्प कन्दप हृदये मानो मानवती हृदि ॥

अन कन्दर्पो निदर्प, मानवत्योऽपि मानरहिता, इति यद्यपि वस्तु शब्देनव प्रतीयते, तथापि न वाचकमुखेन, न च वाच्यमुखेन। वाचकमुखेन चेदभविष्यत्तदा तस्यान्यार्थो ऽभविष्यत्। अत्र वाचका एव शब्दा, न तूक्ताथव्यञ्जका। एव वाच्यमुखेन चेदभविष्यत्तदा अन्योऽप्यर्थोऽभविष्यत्। अय तु वाच्य एवाथ, नतु व्यङ्ग्य, तर्हि

माथुर विरह पीडया व्याकुलासती श्रीर धिका आह- वपुरिति। हे दयित' इति सदर्शित श्रीकृष्णस्य स देश वचन मया कथ श्रोतव्यम्? यतो मयि तस्य दयितात्वमपि नास्ति। तद् विच्छेदेऽपि प्राणाना विद्यमानत्वादिति भाव। अत्र जने प्रेमाकीर्त्ति प्रकटन निमित्तत्वे वपु स्थित्येत्यादि प्रथमाधस्य हेतुता। ०४।

विनेति— शब्दस्य शक्तिरूप-वाचकत्व विना तथा शब्दज याथस्य वाच्यत्वरूप स मथ्य विना यत्र किमपि वस्तु प्रतीयते, यत्र पर्य्यायोक्ति नामालङ्कारो ज्ञेय ॥२०५॥

श्रीकृष्णमालोक्य कन्दपस्य हृदिस्थो दप सर्वापेक्षया कन्दर्पोऽतिसु दर इति सवजन प्रसिद्धा या स्वाभाविकी स्थितिरासोत्तामपि जहौ। एव मानवती हृदि मान, सु दरा स्त्री सवदा मानवती भवतीति या स्वाभाविकी स्थितिरासोत्तामपि जहौ। अत्र क दर्पो निदप, मानवत्यो मानरहिता इति बोधस्तु शक्ति विनव जायते।

नहि एतादृशार्थे पद्यस्थस्य कस्यापि शब्दस्य शक्तिरस्ति। शक्तेरभ वे वाच्यस्य सामथ्य सुतरामेव नास्तीति। यदि शक्ति विना वाचक शब्देन तादृशार्थ बाध स्वीक्रियते, तदतन्द्रिप्रा तर वस्तु प्रतीतिरपि स्वीक्रियताम्। नतु शक्ति व्यञ्जनयो रभावेऽपि मुख्याथस्य बाधादेव लक्षणया क दर्पो निदप एतादृगाथ बोधो भविष्यति।

माथुर विरह मे व्याकुला राधा बोली—मेरा शरोर जब अक्षत भाव से अवस्थित है, तब मेरा प्रेम कपट शून्य नही है, वास्तव प्रेम विद्यमान होने पर क्या प्रणयि युगल को वियाग सम्भावना हाती है? फलत प्रेमकी अकीर्त्ति का विस्तार करने के निमित्त ही मेरा जन्म हुआ था। हाय! 'अयि दयिते!" इस प्रकार प्रियतम के सम्बोधन रूप सन्देश वाक्य क्या मै सुन सकूँगी' मझ मे उस प्रकार दयितत्व कहा है, जिस से मै उस प्रकार आशा कर सकती हूँ? यहाँ जगत् मे प्रेमाकीर्त्ति प्रकटन निमित्त मे 'वपु स्थित्येत्यादि" प्रथमाध की हेतुता है ॥२०४॥

शब्द की शक्तिरूप वाचकता व्यतीत एव अथ की वाच्यता रूप स मथ्य व्यतीत वस्तु की प्रतीति होने से पर्य्यायोक्ति नामक अलङ्कार होता है ॥२०५॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण की मधुर मूर्त्ति को अवलोकन कर कन्दर्प हृदय मे दप एव मानवती हृदय मे

सबाधमिदमित्यपि न वक्तव्यम् ।

तथाहि, गवि शुक्ले चलति दृष्टे गौ शुक्लश्चल इति त्रितयं विकल्पो यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति । तच्चाभिन्नासंसृष्टत्वेन दर्शनं भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति ॥२०६॥

तथा हीति—दर्पस्याचेतनत्वे न स्वाभाविकी स्थिति त्याग कर्त्तृत्वासम्भवात् मुख्यार्थस्य बाधस्तत्रैव लक्षणाया प्रवृत्ति सम्भवनीत्याह—गवीति । शुक्लगुणविशिष्टेचलनक्रिया विशिष्टे गविदृष्टे सति गौ शुक्लश्चल इति शब्द प्रयोगात् गोत्व जाति शवल गुण चलन क्रियाणा विकल्प बोधो भवति । तत्र यदेव पिण्डमात्र पूर्व दृष्टम् तदेव विकल्पयति, तादश बोधे विषयी करोतीत्यर्थ ।

अत्र गोपदस्य गोत्व—जाति रूपेण शक्ति, न तु सास्नादि रूपेण पिण्डे शक्ति । तत एव लक्षणादीना सुतरा नावकाश । एव सति यथा शक्ति लक्षणा व्यञ्जना विना शब्द सामर्थ्यात् तादृश गोरूप वस्तु प्रतीयते, तथात्रापि कन्दर्पो निदर्प इति वस्तु शब्द सामर्थ्यादेव प्रतीयते ।

यन्मते गो शब्दात् सास्नादि रूपेणादि पिण्ड बोधो भवति, त मतमालम्ब्योक्तम् । यथा जाति शक्ति वादिमते व्यक्तौ शक्ति विनाप्याक्षेप बलाच्छब्द बोधे व्यक्ति भान भवति, तथवात्रापि शक्त्या ८क विनापि शब्द सामर्थ्यादेवतादृशार्थ भान भावतीति ज्ञेयम् ।

अय भाव —सामान्यत पिण्डमात्रत्वेन प्रथम दर्शन क्षणान्तरे च गौरिति जात्यन्तरात् शुक्ल इति गुणान्तरात् चल इति क्रियान्तर द् भेदेन तत् त्रितय संसर्गेण च तस्य विकल्प स्यात् ।

ततश्च किमपि वस्तुमात्रमिदमित्यनेन यदेव व्यधायि तदेव गौ शुक्लश्चलोऽयमित्यनेनाप्यभिधीयते, नतु जाति गुण क्रिया । तत्र जात्यादिना भेद संसर्गयोरेव प्रतीतिमात्रमित्येत मात्रमधिकम । एवमेव कन्दर्पमानवत्यौ दर्पमान रहिते अभूतामिति योऽयमर्थ, स एव दर्प कन्दर्प हृदये इत्यादिनाप्यभीर्धायते, किन्तु वचन वचित्र्यमात्रमत्राधिकम् । तदेवाश्रित्यालङ्कार प्रवर्त्तते ।

यथा चतुर्थ्यातिशयोक्त्यलङ्कारस्थले शक्त्यादिक विनैव कवि निर्माणस्य विधिकृत नियम राहित्येन कारणोत्पत्ते प्रागेव कार्य्योत्पत्तिरुक्ता तथात्रापि पर्य्यायोक्त्यलङ्कार शक्त्यादिक विनैव कन्दर्पो निदर्प इति वस्तु प्रतीति भवतीति सकमनवद्यम् ॥२०६॥

मान निज स्वाभाविक स्थिति को परित्याग किया । इस श्लोक मे कन्दर्प निदर्प हुआ है, एव मानवती मान रहिता हुई है । इस प्रकार वस्तु शब्द के द्वारा ही प्रतीत होती है, तथापि वाचक मुख से अथवा व्यङ्ग्य मुख से प्रतीति नही हुई है । वाचक द्वारा प्रतीति होने से उसका अन्य प्रकार अर्थ होता ।

यहाँ शब्द समूह वाचक होने पर भी उल्लिखित अर्थ का व्यञ्जक नहीं हुये हैं । एव वाच्य रूपसे प्रतीति होने पर भी अन्य प्रकार अर्थ होता, किन्तु अर्थ से भी यहाँ वाच्य हुआ है, किन्तु व्यङ्ग्य नहीं है । कहा जा सकता । स्वभावत अचेतन दर्प एव मान पदार्थ का स्थान त्याग कर्त्तृत्व सम्भवपर नहीं हैं, अत मुख्यार्थ बाधको स्वीकार कर लक्षणा को अङ्गीकार किया जाय, ऐसा नहीं कह सकते हैं । कारण, शुक्ल गुण विशिष्ट गुण क्रिया विशिष्ट गोत्व जाति विशिष्ट गो पिण्ड को देखकर शुक्ल गो गमन कर रहा है, इस प्रकार प्रयोग तो प्रचलित है । गोपिण्ड को देखकर उस प्रकार प्रयोग मे जिस प्रकार प्रथमत गोत्व जाति, द्वितीय क्षण मे शुक्ल गुण का बोध होता है, अनन्तर गमन क्रिया, इन तीनों का भेद एव एकस्थान मे उन तीनों का संसर्ग हेतु विकल्प उपस्थित होता है, एव अव्यवहित परक्षण मे ही शुक्ल गो गमन कर

समृद्धिरुदात्तं वस्तुनः परा ॥२०७॥

यथा—मान कामगवीषुनैव नतरा कल्पद्रुमेष्वादरो
लोष्टाणीवलुठन्ति हन्त परित श्चिन्तामणीनां गणा ।
शम्बूका इव वापिका परिसरे मुक्ताकिर शुक्तयो
वीक्ष्यन्ते न जनस्त्वमेव नगरि श्रीद्वारके निस्पृहा ॥२०८॥

प्रधानमपि यत्राङ्गम् ॥

यत्र प्रधानमप्युपलक्षण तच्चोदात्तम् ।

यथा—सेय मथुरानगरी, सुरगुरुभिर्याचितो भगवान् ।
यत्रावतीर्य्यशतश, सुरद्विषो हेलया न्यवधीत् ॥२१०॥

अत्रसमस्तदैत्यहनन रूपो वीररसो गुणीभूत ।

यत्र वस्तुन परा सर्वोत्कृष्टा सम्पत्ति स्तत्रोदात्तनामालङ्कारो ज्ञेय ॥२०७॥

हे द्वारके नगरि ! त्वमेव निष्पृहा, त्वन्नगरस्था जनाना निष्पहत्वेन तव निस्पहत्वम् । त्व परिसरे 'ढिमा'इति प्रसिद्धानि लोष्टाणीव चिन्तामणीना गणा लुठन्ति । अतएव कामधेनुषु जनाना नवमान आदर । वापिका तडागादि परिसरे 'सामुक' इति प्रसिद्धा शम्बुका इव शक्तयोजन न वीक्ष्यन्ते । कथम्भूता ? मुक्ताकिर, तथा च याभ्यो मुक्ता उत्पद्यन्ते, ता शक्तयोऽपि नवीक्ष्यन्त इत्यर्थ ॥२०८ २०९॥

सुरगुरुभि ब्रह्मादिभियाचित सन् यत्र मधुपुर्य्याम् । अत्र मथुराया उत्कर्षार्थ प्रधानीभूतस्यापि श्रीकृष्णनिष्ठ वीर-रसस्य गुणीभूतत्व ज्ञेयम् ॥२१० २११॥

रहा है, इस वाक्य से एक वस्तु मात्र का ज्ञानोत्पन्न होता है, उस ज्ञान मे लक्षणा व्यञ्जना प्रभृति अवसर नहीं रहता है । उस प्रकार प्रस्तावित श्लोक मे भी शब्द सामर्थ्य से ही उल्लिखित रूप वस्तु वा तात्पर्य्य की प्रतीति होगी, लक्षणा का प्रयोजन नही होगा ॥२०६॥

वस्तु की परम समृद्धि का वर्णन स्थल मे उदात्तालङ्कार होता है ॥२०७॥

उदाहरण—हे श्रीपति राजधानि श्रीद्वारावती नगरि ! तुम्ही धन्य हो जो सब सुकृती यहाँ निवास करते रहते है, उन सब की नृस्पहता भी धन्य है, यहाँ कोई भी कामधनु की कामना नही करते है, कल्पद्रुम के सङ्कल्प मे कोई भी समाकुल नहीं है, चिन्तामणि गण ढेल के समान इधर उधर लुकडते रहते हैं, वीथिका परिसर मे मुक्तागर्भ शुक्ति समूह शम्बूक के समान यथेच्छ विकीर्ण है, कटाक्षपात के द्वारा भी कोई निरीक्षण नहीं कर रहे हैं ॥२०८॥

प्रधान पदार्थ गुणीभूत होने से वहाँ पर भी उदात्तालङ्कार होता है ॥२०९॥

उदाहरण—वह यह मथुरा नगरी है, जहा भगवान् वासुदेव ब्रह्मादि सुरवृन्द की सविनय अभ्यर्थना से अवतीर्ण होकर शत शत बार देवद्वेषी दुर्दान्त दैत्यवृन्द को अवलीला क्रमसे विदलित किये थे ।

यहा मथुरा के उत्कर्ष हेतु श्रीकृष्ण के समस्त दैत्यदलन रूप वीररस गुणीभूत हुआ है ॥२१०॥

एकस्मिन् यत्र साधके ।
साधकान्तर निर्देशः स समुच्चय इष्यते ॥

प्रकृत कार्य्यस्य एकस्मिन्नेव साधके सिद्धे सिद्धत्वोपयोगार्थं साधनान्तरनिर्देश समुच्चय ॥२११॥

यथा—दुरापोऽय कृष्ण सहजतरल मानसमिद, सुदुर्व्वार कामोगुरुतर करालो गुरुजन ।
नवीनैषोत्कण्ठा नवमपि वयोनाति चतुर, सखीलोको हा धिक् भवतु कथमाधेरुपशम ?
अत्राधेरुपशमाभावस्य कृष्णदुरापत्वमेव मुख्य साधकम । तत्रान्येषा साधकानामुपादानेनाय समुच्चय । एष च सदसदुभययोगात् त्रिधा । सत् शोभनम्, असदशोभनम्, उभय शोभना शोभनम् ॥२१२॥

सद्योगे यथा—रूप कूल वल्लभदुर्लभत्व, शील कला कान्तिरुदारता च ।
एकेन चैषामपरा सगर्वा, राधे समस्तैरपि ते न गर्व ॥२१३॥

अत्राधेमन पीडाया उपशमाभावे श्रीकृष्णस्य दुरापत्वमेव मुख्य कारणम् ननु श्रीकृष्णस्य दुरापत्वे सति तस्मिन् मनो न देयमित्यपि न सम्भवतीत्याह-मम मानस चञ्चलम् मद्वारण मनो न स्वीकरोतीत्यर्थ । मन पीडाया शान्त्यभावे गुणीभूत कारणान्तराण्यप्याह—सुदुर्वार इत्यादि । गुरुतर कराल कटूक्तिविष वर्षाकारी ॥२१२॥

एव समुच्चय—नामालङ्कारस्त्रिधा भवति । रूपमिति—स्त्रीणा गर्वे रूप मुख्य कारणम् । अन्येषाम् कुलादीना गौणकारणत्व ज्ञेयम् । वल्लभस्य कान्तस्य स्वनिष्ठ दुर्लभत्वम् । अपरा स्त्रिय ॥२१३॥

प्रकृत कार्य्य का साधक विद्यमान होने पर उसका सिद्धत्व के उपयोगार्थ साधकान्तर का निर्देश होने पर समुच्चयालङ्कार होता है ॥२११॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण अति दुल्लभ हैं, चित्त स्वभावत चञ्चल है, कन्दर्प अति दुर्वार है, गुरु जन वृन्द भी गुरुतर कठोर प्रकृति के हैं उत्कण्ठा भी नवीना, वयस भी अभिनव है, सखी गण भी सम्पूर्ण चतुर नहीं हैं, हा धिक् ! इस प्रकार अवस्था मे कैसे मेरी मनो वेदना का उपशम होगा ?

इस श्लोक मे मनोवेदना का उपशम न होने के प्रति श्रीकृष्ण का दुर्लभत्व ही मुख्यसाधक है, यहाँ तद्भिन्न और भी कतिपय साधको का निर्देश होने के कारण -समुच्चय अलङ्कार हुआ है । यह समुच्चय त्रिविध होते हैं ।

सत् अर्थात् शोभन का योग, असत् वा अशोभन का योग, एव सदसत् का शोभन एव अशोभन का योग है ॥२१२॥

सद् योग का उदाहरण—कुल, शील, सौन्दर्य, कला, कान्ति, उदारता एव वल्लभ दुल्लभता, इसके मध्य मे एक गुण की विद्यमानता से ही नारी गर्विता होती है, हे राधे ! तुम्हारे मे इसके समुदाय विद्यमान होने पर भी तुम्हारे मे कुछ भी गर्व नहीं है, यह कैसा चमत्कार व्यापार है ? ॥२१३॥

असद् योगे यथा—

ससारमार्गो ह्यधम स्वभावात् कर्म्माणि तस्मिन् कटुकण्टक नि ।
गता गताभ्यामिह खेद एव, तथापि नास्मिन् कुजनो विरज्येत् ॥२१४॥

सदसद्योगे यथा—प्रिय प्रणय कोविद प्रणयिनी सदवोत्सुका,
खल क्षतपराक्रमो गुरुजन खलोक्ता सह ।
गृह गृहपतिच्युत मनसिजस्य पञ्चषव ।
कलावति वहिश्चरा इव लसन्त्यमी पञ्च न ॥

अत्र प्रियादय सन्त , खलोऽसन् ॥२१५॥

गुणो गुणक्रियाभ्याञ्च क्रियया च क्रियापरः ॥२१६॥

अपर समुच्चय इत्यथ ।

ससारम गस्याधमत्वे तस्य स्वभाव एव मुख्य कारणम् । यथा हिस्रज तूना क्रूरत्वे तेषां स्वभावएव कारणम् । कर्म्मादीना तु गौण कारणत्व ज्ञेयम् ॥२१४॥

प्रिय श्रीकृष्णो मम प्रणय कोविद । प्रणयिनी अह सदैवोत्सुका क्षतो नष्ट पराक्रमो यस्य तथाभूत खलजन , यतो गुरुजन खलस्यतस्य दुर्वादोक्ति न सहते । युष्माभिर्मिथ्यव प्रवादो दीयते ममबधू सा दुष्टेति पौणमासी मुखाच्छ्रुत गृहपतिना स्वामिना । अतोमद् गृहे श्रीकृष्णस्याप्यानयनेऽवसर । तस्मात् हे कलावति सखि ! नोऽस्माकममी पञ्च कन्दर्पस्य वहिश्चरा पञ्चवाणा इव लसन्ति । यत्रामीषां पञ्चाना समागमस्तत्रव कन्दर्पस्य प्रादुर्भावस्तत्र मुख्य कारण श्रीकृष्णस्य प्रणयकोविदत्वमन्येषा गौणकारणत्व ज्ञेयम् ॥२१५॥

यत्र गुणेन सह गुणो निर्दिष्टो भवति, एव क्रियया सह गुणो निर्दिष्टो भवति, तत्रापर पूर्वोक्त लक्षण युक्तात् समुच्चयाद् भिन्न समुच्चय इत्यथ ॥२१६॥

असद् योग का—दृष्टान्त—यह ससार माग स्वभावत अधम है, उस मे विविध कमब ध कटु कण्टक सदश हैं, ईदृश कण्टकाकीण पथ से गमनागमन केवल क्लेशभोगमात्र ही है, तथापि इस मे पामर लोकों मे विराग उत्पन्न नही होता है ॥२१४॥

सदसदयोग का दृष्टान्त—मेरा प्रियतम प्रणयरसज्ञ , प्रणयिनी मैं भी सतत उत्सुका हूँ । खलजन भी हत विक्रम है गुरुजन भी खलोक्ति के प्रति दृष्टि पात नहीं करते है । गृहपति भी मतत गृह के बाहर रहते है । हे कलावति ! ये पञ्च वाण जसे मनसिज के वहिश्चर पञ्चवाण के समान विराजित है, इस प्रकार बाध ह ता है ।

इस श्लोक मे प्रियतमादि सत् हैं खल—असत् है ॥२१५॥

गुणके सहित गुण का अथवा क्रिया के सहित योग से एव क्रिया के सहित क्रिया का योग से और एक प्रकार समुच्चय अलङ्कार होता है ॥२१६।

गुणेन गुणो यथा—

व्रजपतिनन्दन हृदय राधायामेधिताभिलाषञ्च ।
सापि च भृशमनुरक्ता, तस्मिन्निति सहजभाव मावज्ञघम् ॥

अत्र साभिलाषत्वानुरक्त वे गुणौ । अञ्चलेनान्यालङ्कार, शुद्धोऽय तथा न चमत्करोति । अत सङ्कूरतयोदाहृतम् ॥२१७॥

गुण क्रियया यथा—अरुणञ्च नील ललिन, प्रभमपि नयन प्रियेमयि ते ।
आमन्नश्च ममाय, हृदि कम्पश्चम्पकद्योते । २१८॥

क्रियया क्रिया यथा—हरिरभियास्यति मथुरामितिवार्त्ता न श्रुती च विनिहन्ति ॥
मम तु सखी भवति न वेत्यपि शङ्का मे मनश्च मूर्च्छयति ॥२१९॥

एधितोऽभिलाषो यत्र, एवम्भूत श्रीकृष्णस्य हृदय श्रीराधिकायाम् एव सा राधापि तस्मिन् कृष्णेऽनुरक्ता । चकाराभ्यामभिलाषानुरागयो साहित्यस्यापि बोधो भवति ।

ननु राधिका कथ स्वविषयक श्रीकृष्णस्य अभिलाष जानाति ? श्रीकृष्णो वाक्य स्वविषयक राधाया अनुराग जानाति ? तत्राह—सहजेति । राधामाधवयोय स्वभावसिद्धो भाव प्रेमातेन सावज्ञधमित्यथ ।

तथा च यथा योगिनो योग नेत्रेग अतीतानागतान् पश्यन्ति, तथा एतौ प्रेमनेत्रेण परस्परानु राग पश्यत इति भाव । एतत् पद्यस्याञ्चलेनान्य समनामालङ्कारोऽपि ज्ञेय ॥२१७॥

हे प्रिये चम्पक द्योते राधे ! तवनीलकमल प्रभ नयन मयि विषये क्रोधवशादरुणञ्च, तद्दृष्ट्वा मया मम हृदि कम्प आसन्नश्च । अत्र हृदयनिष्ठ कम्प क्रियया सह नयननिष्ठ रूप्य गुणो निर्दिष्ट ॥२१८॥

अक्रूरे व्रजे आगते सति ललिता स्वसखीमाह—श्रुती चेति । श्रुती कर्णौ । ममतु सखी श्रीराधिका एतद् वार्त्ता श्रुत्वा जीवति नवेति शङ्का कर्त्री मे मनो मूर्च्छयति । अत्र हनन क्रियया सह मूर्च्छन क्रिया निर्दिष्टा ॥२१९-२२०॥

व्रजेन्द्र न दन का हृदय भी राधिका मे अनुरक्त था राधिका भी व्रजेन्द्रन दन मे एकान्त अनुरक्ता थी, उभय की पारस्परिक प्रीति को उभय ही जानते थे ।

यहाँ साभिलाषत्व एव अनुरक्तत्व—गुण द्वय का योग हुआ है । इस श्लेषके शेष भ ग मे समनामक अलङ्कार हुआ है । वह तादृश—चमत्कारकारक न होने के कारण सङ्कर रूपमे ही उसका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । ॥२१७॥

क्रिया के सहित गण का उदाहरण—हे चारु चम्पक दाम गौरि ! तुम्हारे नीलनलिन प्रभा नयन अरुणवण होकर मेरे प्रति निपतित हुआ, मेरा हृदय मे समकाल मे कम्प भी उपस्थित हुआ ॥२१८॥

क्रिया के सहित क्रिया का दृष्टान्त—श्रीहरि मथुरा पुरी गमन करेंगे, यह कठोर वार्त्ता भी मदीय कर्ण पथ को आहत कर रही है, मेरी सखी भी और जीवित रहेंगी अथवा नहीं, यह शङ्का भी साथ साथ मदीय चित्त को मूर्च्छित कर रही है ॥२१९॥

अनेकस्मिन् क्रमेणैक पर्य्यायः,

एक वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् यदि भवति, आरोप्यते वा, तदापर्य्याय ॥२२०॥

तत्र भवतीति पक्षे यथा—

एकस्त्व निखिलबधू हृदि प्रविष्ट, सक्षोभ जनयसि गोकुलेन्द्र सूनो !
त्वामेक नहि सकला प्रवेष्टुमर्हा कि क्षोभ वत जनयन्तुचेतसस्ते ? ॥२२१॥

आरोप्यते इति पक्षे यथा—

मदनेनोज्झित वाम्य राधे गृह्णाति ते मन ।
मनस्त्यजति ते राग लोचने परिगृह्णत ॥२२२॥

यथा वा—त्वयात्यक्ता राधे रुषमहह गृह्णाति मदन
स्त्वदक्षिभ्या त्यक्त परिवहति राग तव मन ।

कलहान्तरिता श्रीराधा कृष्ण प्रति भङ्गया तस्या कृतज्ञत्वमाह—एक स्त्वमिति । त्वमेक सन् सर्वासा हृदि प्रविष्ट । वय बह्व्योऽपि तवैकस्मिन् हृदि प्रवेष्टु न शक्या । तस्मात्त्वव सामर्थ्याधिक्यम् । एताश्च प्रेमशून्य येन त्वया सहास्माक प्रीतिरनुचिते ते ध्वनि ॥२२१॥

मानिनीं श्रीराधिका प्रति श्रीकृष्ण आह— मदनेनेति । त्वया मयि क्रोध वशान्मदनो वाम्य ग्राहित । तत एव त्वद् धदये क दपावेशाभावा मानोऽपि वर्त्तते, सम्प्रति मद्दु खदर्शनात् करुणेन मदनेन त्वामना दत्य वाम्य त्यक्तम् ।

अतस्तद् हृदि सम्प्रति कन्दर्पाविशो दृश्यते । तदपि यत्त्व मया सह न मिलसि, तत्र मद् दु ख दर्शनेऽपि कठोर तव मन एव कारणम् । अतो मदनेन त्यक्त वाम्य जग्राह । तथा तव मनाराग मद विषयकानुरागम्, श्लेषेण राग रक्तिमान तव लोचने गृह्णत । मद् विषयकस्य तव क्रोधस्यानु भावरूपमिति ज्ञेयम् । अत्र मदन निष्ठ वाम्य मनस्यारोप्यते ॥२२२॥

मान भङ्गानान्तर कहलान्तरिता श्रीराधा प्रति श्रीकृष्ण आह—त्वयेति । रुष क्रोध मदनो जग्राह । अतएव क्रुद्ध सन् त्वन्मिलनमप्राप्त मा शरेण विद्ध करोतीति भाव । अक्षिभ्यां त्यक्त राग मन परिवहति

यदि एक वस्तु क्रमश अनेकस्थानो मे स्थित वा अन्य कर्त्तृक आरोपित होती है तो, तादशस्थल में पर्य्याय अलङ्कार होता है ॥२२०॥

क्रमिक उदाहरण—हे गोकुलेन्द्र नन्दन ! एकमात्र तुम्हीं निखिल व्रजबधू के हृदय मे प्रविष्ट होकर क्षुब्ध करते हो, किन्तु असख्य वे एकमात्र तुम्हारे मे प्रवेश करने के योग्य कभी भी नहीं है, कसे तुम्हारे हृदय को क्षुब्ध करेंगी ? ॥॥२२१॥

निदारुण मदन जो वामता वितरण कर रहा है—हे राधे ! तुम्हारा चित्त उसको ही ग्रहण कर रहा है, एव तुम्हारे चित्त जो राग को परित्याग कर रहा है, तुम्हारे नयन द्वय उसी को ही परिग्रह कर रहे हैं ॥२२२॥

धिया कौटिल्य ते परिहृतमपाङ्गोऽधिकुरुते ।

पुन सन्धानार्थं किमुचित पदे न्यस्तमखिलम् ? ॥२२३॥

अन्यो विपर्य्ययात् ॥२२४॥

विपर्य्ययादुक्त प्रकारस्य वैपरीत्यादेकस्मिन्ननेकमित्यर्थ ।

यथा भवतीति पक्ष--

एकस्मिंस्तव हृदये व्रजेन्द्रसूनो, भूयस्योनलिनदृश कृत प्रवेशा ।

नास्त्यस्मिन्नवसर एव गाढ पूर्णे, तादृश्यो गुण बहुला कथ विशन्तु ? । २२५॥

आरोप पक्षे तु यथा—

शशिमुखी तव राधिके कटाक्ष, प्रथममभूदमृतद्रवातिवर्षी ।

अथ हृदि विनिविष्ट एव हालाहल परिदिग्ध शरायमाण आस्ते ॥२२६॥

अत्रैकस्मिन् कटाक्षेऽनेकस्यारोप ॥

स्वीकरोतीत्यर्थ । तथा च क्रोधाभावान्नेत्रयो रागोगत मनसि चानुराग प्रादुर्बभूवेति भाव । बुद्धया परिहृतत्यक्त कौटिल्यमपाङ्गोऽधिकुरुते, जग्राहेत्यर्थ । पूर्वं मानसमये श्रीकृष्ण दर्शनमपि न कृतम् अधुना तु प्रसन्नासती तथा तमपाङ्गेन पश्यतीति भाव ।

अत्रोत्प्रेक्षामाह—पुनर्मानसमये एतेषा पुन. सन्धानार्थं स्व स्वस्थाने स्थापनार्थमुचित पद योग्यस्थाने किं त्वया अखिल न्यस्तम् ॥२२३॥

अन्य पर्य्यायालङ्कार ॥२२४॥

श्रीराधिकाया मानभङ्गार्थमुद्यत श्रीकृष्ण प्रति ललिता आह—एकस्मिन्निति तादृशी गुण बहुला राधा कथ विशतु ? गौरवे बहुवचनम् ॥२२५॥

परिदिग्धो लिप्त ॥२२६॥

भिन्न निदर्शन—हे राधे ! तुमने जो रोष को परित्याग किया है मदन को ग्रहण किया है, तुम्हारे नयन युगल जो राग को परित्याग किये हैं, तुम्हारे मन उसी को ग्रहण किया है, तुम्हारी बुद्धि ने जो कौटिल्य परिहार किया है, तुम्हारे अपाङ्ग उसको अधिकार करलिया है । हे सखि ! तुम पुनर्वार मान ग्रहण समय मे सन्धानार्थ क्या तुमने--उन सब को निज निज स्थान में पुनर्वार स्थापन किया ? ॥२२३॥

उक्त प्रकार के वैपरीत्य से अर्थात् अनेक वस्तु के एकस्थान में घटना का आरोपण होने पर और एक प्रकार पर्य्यायालङ्कार होता है ॥२२४॥

क्रमश उदाहरण—हे व्रजेन्द्र कुमार ! तुम्हारे एकमात्र अन्त करण मे अनेक सख्यक सीमन्तिनी का प्रवेश हुआ है । वहाँ अणुमात्र भी अवकाश और है ही नहीं । तादृश गाढ़ पूर्ण स्थल मे अनन्त गुण गौरव सम्पन्ना श्रीराधा का प्रवेश कसे हो सकता है ? ॥२२५॥

हे शशि मुखि राधिके ! तुम्हारे नयन निक्षिप्त कटाक्ष प्रथमत अमृत द्रववर्षी हुआ था, अनन्तर

साध्यसाधनसद्भावेऽनुमानमनुमानवत् ।।२२७।।

अनुमाने यथा त्रिविधो हेतुस्तथात्रापि ।।

यथा—इन्दीवराक्षि भवदक्षि मनोभवस्य, वाण सुधाशु मुखि मानस भेदकत्वात् ।
येनाहतो मनसि गोकुलराज सूनु, सन्धुक्षते नहि वहि कुरुतेऽवहित्थाम् ।।२२८।।

अत्र भवदक्षि पक्षो मनोभवस्य वाण इति साध्यम्, मानस भेदकत्वादिति हेतु ।

यथा वा—नाभी गृह तव कलावतिमन्मथस्य लीलाग्नि होत्रभुज दपकृशानुशालि ।
एतद्वलग्न गगनाञ्चलचुम्बिचारु, गन्धोल्लसत्तनुरुहावलिधूमहेतो ।।२२६।।

अत्र रूपक गर्भानुमानम् ।

अनुमानवदित्यस्य व्याख्या—अनुमानेत्यादि ।।२२७।।

हे इन्दीवराक्षि ! येन भवदक्षिरूपवाणेनाहतो विद्ध श्रीकृष्ण नहि स धुक्षत, न हि जीवति । हे सखे श्रीकृष्ण ! कथ भवान् मत्त इव दृश्यते—इति सखीभि पृष्टोऽपि वहिस्त्ववहित्थामाकार गोपन करोति, नतु तत्त्व कथयति ।।२२८।।

कलावत्या नाभी एव मन्मथस्य गृहमिति रूपक तदेव पक्ष, सम्भोगरूप लीला एव अग्निहोत्रम्, श्रीकृष्णस्य भुजदर्प एव तादशाग्नि होत्रस्य कृशानुरग्नि, स एव साध्यम् । एतस्या कलावत्या अवलग्नो मध्यदेश, "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो । आपञ्चापि हलन्ताना यथा वाचा निशा दिशा" इत्यनेनाल्लोप ।

स एव अत्यन्त क्षीणत्वेन गगन प्रदेश स्तत्सम्बर्धि घनी चारुगन्धेनोल्लसल्लोमावलिरेव धूम, स एव हेतु । तथा च याज्ञिक ब्राह्मणा यथा गृहादुत्थित गगन प्रदेशे उडडीयमान सुगन्ध धूम विशेष हेतु कृत्याग्निहोत्रीय वह्नेरनुमान कुर्वन्ति, तथव सख्योऽपि नाभिरूप गृहादुत्थित मध्य प्रदेश रूप गगन स्पर्शि सुगन्धरोमावलिरूपधूमविशेष हेतु कृत्य सम्भोगरूपाग्निहोत्रीयस्य भुजदपरूप वह्नेरनुमान कुर्वन्तीत्यथ ।।२२६।।

हृदय मे निविष्ट होकर सम्प्रति विषलिप्त शरके समान आचरण कर रहा है ।

यहाँ एकमात्र कटाक्ष रूप वस्तु मे अनेक का आरोप हुआ है ।।२२६।।

अनुमान मे जिस प्रकार त्रिविध हेतु होते हैं, उस प्रकार कार्य्य कारण के सद्भावस्थल मे अनुमान अलङ्कार होता है ।।२२७।।

हे फुल्लेन्दीवर नयने ! चन्द्र वदने ! तुम्हारे नयन, मानस भेदकता हेतु साक्षात् मनोभाव के वाण स्वरूप हैं । जिस से आहत होकर गोकुले द्रन दन जोवन आशा को छोडकर बाहर केवल आकार गोपन कर हैं । इस श्लोक मे राधिका के नयन पक्ष, मनाभव का वाण साध्य, मानस भेदकता हेतु है ।।२२८।।

उदाहरण—अयि कलावति ! तुम्हारी नाभि-मन्मथ का आश्रय निकेतन है । उस निकेतन मे स्मर लीला अग्निहोत्र स्वरूप है, एव श्रीहरि के भुजवीर्य्य कृशानु स्वरूप है । कारण, समुन्नत एव सुगन्धि लोमावलि रूप धूमशिखा, मध्यदेश रूप गगन तल को स्पर्श कर रही है यहा रूपक गर्भ अनुमान अलङ्कार

विशेषोक्तिः परिकरः स्यात् साकूतैर्विशेषणैः ॥२३०॥

यथा—आत्मारामैर्विगत हृदय ग्रन्थिभिर्मुक्तबन्धै,
देहाध्यास प्रशमशर्मिभि र्ब्रह्मभूयव्रजद्भि ।
चित्ते चिन्त्य कथमपि चिर धामयच्छ्यामल तद्,
गोपस्त्रीणा कुचकलसयोर्नीलरत्न बभूव ॥

अत्रात्मारामैरित्यस्य विशेष्यस्य सर्वाण्येव विशेषणानि साकूतानि ॥२३१॥

प्रकृतस्थगन छद्मव्याजोक्तिरनिषेधभाक् ॥

अपह्नुति स्तुनिषेध पूर्वा, इय तु न तथेत्यनिषेध भागित्युक्तम्, छद्म पूर्वैव ॥२३२॥

यथा—अहो शैत्यस्य महिमा हिमानिल तवेदृश ।
न शक्यते गोपयितु कृतो येनाधर व्रण ॥२३३॥

यत्र साकूत विशेषण विशेष्ययोरुक्त कथन तत्र परिकरनामालङ्कार ॥२३०॥

देहाध्यासस्य प्रशमेन शान्त्या शर्मिभिर्जितेर्दियै । अतएव ब्रह्म स्वरूप प्राप्नुवद्भिरात्मारामैः कथमपि यथाकथञ्चिच्चित्ते चिन्त्य तत् श्रीकृष्ण स्वरूप श्यामल धाम कान्ति विशेषस्तदेव गोपस्त्रीणा नीलरत्न बभूव ॥२३१॥

यत्र प्रकृतस्य स्थगन सवरणम्, तत्तु छद्म मिषमात्रम्, किन्तु प्रकृतार्थ एव वक्तु स्तात् पर्यम्, तत्र व्याजोक्ति ज्ञेया । एषा अनिमेषभाक । अपह्नुति स्थले तु प्रकृतार्थस्य निषेध पूर्वक सवरणम् । अत्र तु प्रकृतार्थस्य निषेध विनैव सवरणमिति भेदो ज्ञेय ॥२३२॥

हे शीतकालीन—हिमानिल ! तव शैत्यस्ये दृशो महिमा कियान् वक्तव्यस्तथापि गोपयितु न शक्यते । येन तव शैत्येन जन नामधरे व्रण कृत । अत्र हिमपवनस्य सर्वेषामधर व्रण-जनकत्वेन

हुआ है ॥२२९॥

साभिप्राय विशेषण के द्वारा विशेष्य की उक्ति होने पर परिकर अलङ्कार होता है ॥२३०॥

उदाहरण—जिन की हृदय ग्रन्थि विनष्ट हुई है, जो ससार बन्ध से विमुक्त हैं, देहाध्यास का प्रशमन से जो शमदमादि सम्पन्न एव ब्रह्म भाव मग्न हैं इस प्रकार आत्माराम व्यक्ति गण जिनकी श्यामल कान्ति का ध्यान चिरकाल चित्त क्षेत्र मे करते रहते है, वह श्रीहरि व्रजसुन्दरी वृन्द के कुचरूप काञ्चन कलसो परि नीलरत्न रूप मे विराजित हैं ।

इस श्लोक मे "आत्माराम व्यक्ति गण" विशेष्य के अन्यपद समूह साभिप्राय विशेषण हुये हैं ।२३१॥

जहा निषेध व्यतीत छल क्रमसे प्रकृत का आच्छादन किया जाता है, वहा व्याजोक्ति नामक अलङ्कार होता है ।

अपह्नुति—निषेध पूर्वक होती है, यह उस प्रकार न होकर छद्म पूर्वक होता है ॥२३२॥

उदाहरण—हे हिमानिल ! तुम्हारे शैत्य की ईदृश अपूर्व महिमा है । कि—जन गण के अधर में वह

यथा वा—अलमलमभिलाषेणामुना वारिखेला कुतुकिनि कमलानामाहृते कौतुकस्य ।
कलय कलितमङ्ग कण्टकैर्नालिलग्नै, शिव शिव परिदृष्ट षट्पदेनाधरोष्टम् ॥२३४॥

प्रश्नपूर्वकमाख्यानं तत् सामान्य-व्यपोहनम् ।
तस्य तस्यापि च ज्ञेये व्यङ्ग्यत्वे स्यादथापरम् ।
अप्रश्नपूर्वकं वाच्यं परिसंख्या चतुर्विधा ॥

तस्य तस्य चेति प्रश्न पूर्वाख्यानस्य तत् सामान्यव्यपोहनस्य च व्यङ्ग्यत्वमप्रश्नपूर्वकस्य तत् सामान्य व्यपोहनस्य च वाच्यत्व चेति चतुर्धा ॥२३५॥

क्रमेणोदाहरणानि—किं गेयं व्रजकेलिकर्म्म किमतिश्रेयः सतां सङ्गतिः
किं स्मर्त्तव्यमनन्त नाम किमनुध्येयं मुरारेः पदम् ।

दुःखदायित्वादमाहात्म्यरूपप्रकृतार्थस्य संवरणम् । तत्तु मिषमात्रम्, किन्तु दुःखदत्वादमाहात्म्ये एव वक्तुस्तात्पर्य्यम् ॥२३३॥

श्रीराधिका काश्चित् स्वसखीं स्तनाधरादौ सम्भोग चिह्नं दृष्ट्वा परिहसन्ती आह—हे जलखेला कुतुकिनि कमल हरण रूप कौतुकस्याभिलाषेण अलमलं कण्टक कलित विद्धमङ्गं पश्य । तथा च त्वया कुञ्ज मध्ये जलक्रीडार्थमेव गतं, तत्र जलमध्ये स्थितानां कमलानामाहरणार्थ गतायास्तवाङ्गस्य कमल नालस्य कण्टक करणे क्षतादिकं जातम् । एवं कमलस्थ भ्रमर स्तवाधरोष्ठं दष्टम् । अत्र प्रकृतार्थस्य श्रीकृष्णेन सह सम्भोगस्य संवरणमात्रम्, किन्तु तात्पर्य्यं तत्रैवेति भावः ॥२३४॥

यत्र प्रश्न पूर्वकमाख्यानम्, तत्र परिसंख्येत्येकम् । यत्र सामान्य धर्मस्य व्यापोहनं निषेधस्तत्रापि परिसंख्येति द्वितीयम् । एवं यत्र प्रश्न पूर्वकाख्यानस्य तत् सामान्य व्यापोहनस्य च व्यङ्ग्यत्वमेव, न तु वाच्यत्वम्, तत्रापरं तृतीयम् । यत्राप्रश्नपूर्वकस्य सामान्य व्यपोहनस्य च वाच्यत्वम्, प्रश्नपूर्वकत्वस्य व्यङ्ग्यत्वम्, तत्र चतुर्थम् । एवं क्रमेण चतुर्धा परिसंख्या ज्ञेया ॥२३५॥

राधा कृष्णाभिधे महसी पीतश्यामकान्ती उपास्यमित्यर्थः ॥२३६॥

सत्य कर्त्तृक समुत्पादित व्रज को किसी प्रकार से ही गोपन किया नहीं जा सकता है ॥२३३॥

उदाहरण—हे सलिल क्रीडा कुतुकिनि ! तुम को कमलाहरण रूप कौतुक का और प्रयोजन नहीं है । देखो, तुम्हारे सुकुमार अङ्ग कमल नाल लग्न कण्टक विद्ध हो गया है, एवं अधरोष्ठ मधुकर कर्त्तृक परिदष्ट हुये हैं ॥२३४॥

जहाँ प्रश्न पूर्वक आख्यान होता है, अथवा उसका सामान्य धर्म्मका निषेध किया जाता है, जहाँ उक्त प्रश्न पूर्वक आख्यान वा तदीय सामान्य धर्म निषेध व्यङ्ग्य होता है किंवा जहाँ अप्रश्न पूर्वक का वाच्यत्व होता है, तादृश स्थल मे परिसङ्ख्या अलङ्कार होता है । उल्लिखित स्थल चतुष्टय भेद से परिसंख्या अलङ्कार चतुर्विध होते हैं ॥२३५॥

क्रमशः उदाहरण—कीर्त्तनीय क्या है ? व्रज केलि कथा, अति श्रेयस्कर क्या है ? साधु सङ्ग,

क स्थेय व्रज एव किं श्रवणयोरानन्दि वृन्दावन

क्रीडैका किमुपास्यमत्रमहसी श्रीकृष्णराधाभिधे । २३६।।

का विद्या हरि भक्तिरेव, न पुनर्वेदादि निष्णाततता ।

कीर्त्ति का भगवत् परोऽयमिति या ख्याति र्न दानादिजा ।

का श्री कृष्णरति र्न वै धन-जन-ग्रामादि-भूयिष्ठता

किं दु ख भगवत् प्रियस्य विरहो नो हृद् व्रणादि व्यथा ।।२३७।।

वक्रता मृगदृशा कचपाशे, पाणिपाद--नयनादिषु राग ।

नीविकेश रसनादिषु बन्ध , सान्द्रचन्दनरसादिषु पङ्क ।।२३८।।

अत्र क्व वक्रतेत्यादि प्रश्न पूर्वकाख्यानस्य तत् सामान्य व्यपोहनस्य च व्यङ्ग्यता।
तथाहि क्व वक्रता ? मृगदृशा गोपीना कचपाशे एव, नान्त करणादौ कस्यापीत्यादि ।

वेदादिषु निष्णातता—पारङ्गतता ।।२३७।।

व्रजे वक्रता शब्द स्त्रीणा केशपाशे एव श्रूयते, ना यत्र । तथा च कुटिलान्त करणजना व्रजे न सन्तीति ध्वनि । राग शब्दो जनाना पाणि पाद नेत्रेष्वेव श्रूयते, नान्यत्र, तथा च व्रजे कस्यापि निगडादि बन्धन नास्ति । तथा मृत्तिकादीना पङ्क कर्दमो नास्तीति ज्ञेयम् । २३८।।

हरि चरणयो सानुराग वष्णवे आसक्ति न विषयरागे, न योगे, न ज्ञान कर्म्मादौ । प्रणयरभसस्य

स्मरणीय क्या है ? अनन्त देव के अनन्त नाम, ध्येय क्या है ? मुरारि के पाद पद्म, अवस्थान कहाँ करना चाहिये ? व्रज मे, श्रवण युगल को परमानन्द प्रदायक कौन है ? वृन्दावन क्रीडा । उपास्य क्या है—राधा श्याम कान्ति धारी पीत एव कृष्ण कान्ति ।।२३६।।

विद्या क्या है ? श्रीहरि भक्ति ही विद्या है, वेदादि मे विचक्षणता विद्या नहीं है। कीर्त्ति क्या है ? यह परम भागवत है—इस प्रकार जो ख्याति-वही कीर्त्ति है, दानादि हेतु ख्याति कीर्त्ति नहीं है, श्रीक्या है ? श्रीकृष्ण मे रति ही श्री है, धन जन ग्रामादि बहुलता श्री नहीं है। दुःख क्या है ? भगवत् प्रियव्यक्ति का विरह ही दु ख है, हृदय व्रणादि व्यथा- दु ख नहीं है ।।२३७।।

व्रज मे हरिण नयना ललना वृन्द के केश पाश मे ही कुटिलता थी, कुटिलान्त करण के मानव वहाँ नहीं था। उनके कर चरण -नयनादि मे ही राग था, अ यत्र नहीं, अर्थात् व्रज मे विषय मे रागयुक्त जन नहीं था। नीवि केश वसनादि मे ही बन्धन था, अर्थात् व्रज मे किसी के निगडादि बन्धन नहीं थे । निविड चन्दन रसादि मे ही पङ्क था—अर्थात् मृत्तिका प्रभृति का पङ्क--कर्दम वहाँ नहीं था। इस प्रकार जानना होगा।

यहाँ 'कुटिलता कहाँ है ?' इस प्रकार प्रश्न पूर्वक आख्यान के एव ललनागण के केश पाश मे कुटिलता थी,अर्थात् किसी के अन्त करणादि मे कुटिलता नहीं थी-यह सामान्या धर्म्म निषेध की व्यङ्गता हुई है ।।२३८।।

श्रीहरि के चरणारविन्दो मे जिमका अनुराग है, इस प्रकार व्यक्ति मे जिनकी आसक्ति है, विषय

प्रत्यासक्तिर्हरिचरणयो सानुरागे न रागे
प्रीतिः प्रेमातिशयिनि हरेर्भक्ति योगे न योगे ।
आस्था तस्य प्रणयरभसस्योपदेहे न देहे
येषा ते हि प्रकृति कृतिनो हन्त मुक्ता न मुक्ता० ॥२३९॥

अत्र प्रश्न पूर्वक व्यङ्ग्य तदन्य व्यपोहन वाच्यमिति भेद ।

यथोत्तर पूर्व पूर्व हेतुकस्य तु हेतुता
तदा कारण माला स्यात्,

पूर्व पूर्वस्य हेतुकाख्यस्य उत्तरोत्तर पदार्थस्य यदा हेतुता तदा तदैवेत्यर्थ ॥२४०॥

यथा—सत्सङ्गमेनैव भवेद्विरागो, विरागत स्यान्मनसो विशुद्धि ।
मनोविशुद्धयैव हरे प्रकाशो, हरे प्रकाशेन कृतार्थता स्यात् ॥२४१॥

क्रिययान्योऽन्य कारणम्　　　॥२४२॥
वस्तुद्वय तदान्योऽन्यम्,　　　॥२४३॥

वस्तुद्वय यदि क्रिययाऽन्योऽन्य कारण स्यात्तदाऽन्योन्यमित्युच्यते ।
यथा—राधाभासो मरकतमयी कुवते कृष्ण कान्ति
कृष्णस्याभा अपि च हरिती कुवते धामलस्या ।

प्रेमातिशयस्योपदेहे उपयोगि सिद्धदेहे आस्था नित्यत्व बुद्धि, न तु पाञ्चभौतिके साधक देहे । तथा च क मुक्ता इति प्रश्नो व्यङ्ग्य, तत्रोत्तरम्—येषा वर्णवादिष्वासक्त्यादि रते एव प्रकृत्या स्वभावेन कृतिनो मुक्ता । न मुक्ता, मुक्ताभिमानिनो मुक्ता न भवन्तीत्यर्थ,—तेषा भक्त्यभावात् तथाचोक्त श्रीदशमे-(भा० १०।२।३२) 'येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन " इत्यादौ तेषामध पतनमेवोक्तम् ।२३९ २४० २४१।

यदि वस्तुद्वय स्वस्व क्रियाया परस्पर कारण भवति, तदा अन्योन्य नामालङ्कार ।।२४२-२४३।।

मे आसक्ति नहीं है, प्रेम प्रकाशशाली भक्ति योग मे ही प्रीति है, योग मे प्रीति नहीं है, भगवान् मे प्रेमातिशय के उपयुक्त सिद्धादि देह मे ही आस्था है, पाञ्चभौतिक देह मे आस्था नही है, वे ही प्रकृतकृती एव मुक्त पुरुष हैं, मुक्ताभिमानी व्यक्ति गण मुक्त नहीं होते हैं ।

यहाँ प्रश्नपूर्वकत्व व्यङ्ग्य एवं सामान्य धर्म का निषेध वाच्य हुआ है ॥२३९॥

पूर्व पूर्व हेतुका पदार्थ को यदि उत्तरोत्तर हेतुता हो तो कारण माला अलङ्कार होता है ॥२४०॥

उदाहरण—सत् सङ्ग से ही विराग उत्पन्न होता है, वैराग्य से ही चित्त शुद्धि होती है, चित्त शुद्धि हेतु ही श्रीहरि का प्रकाश होता है श्रीहरि प्रकाश से ही कृतार्थता प्राप्ति होती है ॥२४१॥

वस्तु यदि क्रिया के द्वारा परस्पर के प्रति कारण होती है—तो वहाँ अन्योन्य अलङ्कार होता

स्थाने स्थाने यदि निवसत स्तौ तदा गौरनीला
वेकस्थाने यदि वत तदा तुल्यभासौ विभ.त ॥२४४॥

प्रश्नस्योन्नयन यदि ।
उत्तर श्रुतिमात्रेणोत्तर स्यात्,

प्रतिवचनश्रवण'देव पूर्व वचनस्योत्तरस्य यद्युन्नयन भवति, तदाउत्तरालङ्कार ॥२४५॥

यथा—भम कण् ह अण्णघर, विरमदु दे कावि व अण परिपाडी ।
अम्ह सही इध एक्का, ण एत्थ तुह ओसरो ठादु ॥
"भ्रम कृष्णान्य गृह विरमतु ते कापि वचन परिपाटी ।
मम सखी अत्रैका नात्रत्वावसर स्थातुम् ॥"

अत्र सख्या प्रति वचने कृष्णस्य कोऽपि प्रश्न पूर्व जात इति बुध्यते, न चैतदनुमान

यदि श्रीकृष्णाद् दूर वर्तिन्या श्रीकृष्ण कान्तौ अकस्माद् दूरादेव राधाकान्तय स्वक्रियया लगन्ति, तदा कृष्णकान्ति मरकतद्वयी कुर्वन्ति । एव तस्या राधाया धाम कान्ति दूरादेव श्रीकृष्णस्याभा का तय स्व क्रियया हरितो कुर्वन्ति । यदि तौ राधाकृष्णौ पथक तया स्व स्वस्थाने निवसत स्तदा गौर नीलोभवन कान्तीनां परस्पर मिलनाभावाद् राधाकान्ति गौरवर्णा, श्रीकृष्णस्य कान्तिर्नील वर्णेत्यथ ।

यद्येकस्मिन् स्थाने तौ निवसत स्तदा कान्तिना परस्परप्राधान्येन स्वस्वक्रिययोपमर्दाभावाद् वर्णान्तराभावेन तुल्यभासौ तौ विभात ॥२४४-२४५॥

मेति । "भ्रमकृष्णा य गृह विरमतु ते कापि वचन परिपाटी ।
मम सखी अत्रका नात्र तवासर स्थातुम् ॥"

न चात्रानुमानालङ्कारो वक्तव्य —प्रति वचन प्रश्नयो परस्पर व्यभिचारेण व्याप्त्यभावात् । नाप्यत्र काव्यलिङ्गालङ्कारो वक्तव्य,—हेतो जनकरूप हेतोस्तत्व च पदवाक्यार्थता निष्ठजनकरूप हेतुत्वाभावादित्यथ ।

है ॥२४२-२४३॥

उदाहरण—श्रीराधा की कान्ति च्छटा श्रीकृष्ण कान्ति को मरकतमयी करती है। श्रीकृष्ण की आत्मा भी श्रीराधा के प्रभापुञ्ज को हरित वर्ण कर देती हैं। यदि पथक स्थान मे, वे उसका अवस्थान होता है तो, दिव्य गौर एव नील कान्ति विलसित होती है। एव यदि एकस्थाने स्थित होती है—तो तुल्य प्रभा से प्रभासित होती है ॥२४४।

उत्तर श्रवण मात्र से प्रश्न का उन्नयन होने से उत्तरालङ्कार होता है ॥२४५॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! तुम अन्य निकेतन मे भ्रमण करो तुम्हारी वचन परिपाटी से और प्रयोजन नहीं है, मेरी सखी यहाँ एकाकिनी है यहाँ तुम्हारा अवस्थान का अवसर नहीं है।

इस श्लोक मे सखी के प्रति वचन श्रवण से बोध होता है कि- इसके पहले श्रीकृष्ण ने प्रश्न किया

वाप्त्यभावात् । न चापि काव्यलिङ्गम्, हेतो पद वाक्यार्थताभावात् । नतु प्रश्नस्य प्रति वचनजनके हेतु तेनेदमलङ्कारान्तरमेव ॥२४६॥

प्रश्नतोऽपि वा ॥

प्रश्नत पश्चादुत्तर वा उत्तरम् ॥२४७॥

यथा—किं दुलभ यन्मनसो न गोचर , किं प्राथनीय क्वच यन्नलभ्यते ।
किं ह्लादक यत् स्मरणेऽपि स स्यात्, तत्तच्च तत् किं व्रजराजनन्दन ॥

अत्र चर्तुविध-परिसख्यातो विलक्षणता । तत्र तत्र सर्वान्यव्यपोहे तात्पर्य्यं क्वचिद्वाच्यमुखेन क्वचिद् व्यङ्ग्यमुखेन । इह तु शुद्ध मुत्तरमिति भेद ॥२४८॥

आकारेणेङ्गितेनापि सूक्ष्मार्थो यत्र लक्ष्यते ।
प्रकाश्यते वाऽन्यस्मै च स सूक्ष्मः कीर्त्त्यते द्विधा ॥२४९॥

एतदेवाह—नत्विति । प्रश्न प्रतिप्रतिवचन न जनको हेतु, अपितु ज्ञापक एव हेतु । काव्य लिङ्गे जनक रूपस्य हेतोरेव ग्रहणात् ॥२४६॥

प्रश्नानन्तर यत्रोत्तर करोति तत्रोत्तर नामालङ्कार ॥२४७॥

स ह्लाद, तथा च यस्य केवलस्मरणमात्रादेवानन्द स्यात् स एवानन्द जनक इत्यथ । तत्तच्च वस्तु किमिति प्रश्नत्रयस्योत्तर श्रीकृष्ण एवेति । तथा च घट पटादयो मनस सामर्थ्यादेव मनोगोचरा-भवन्ति यथा, तथा श्रीकृष्णो न, किन्तु यदि स कदापि मनो गोचरीभवति तदातस्य कृपयवेति ज्ञेयम् ।२४८।

आकारेण सम्भोगचिह्नेन यत्र सूक्ष्मोऽर्थो लक्ष्यते, अथवेङ्गितेन सूक्ष्मोऽर्थोऽ यस्म प्रकाश्यते तत्र सूक्ष्मनामालङ्कारो ज्ञेय ॥२४९॥

होगा । यहाँ यह अनुमान अलङ्कार नहीं है, कारण प्रति वचन एव प्रश्न का परस्पर व्यभिचार हेतु व्याप्ति का अभाव हुआ । काव्य लिङ्ग भी नही है, कारण, हेतु की वाक्यार्थता वा पदार्थता नहीं हुई है । एव प्रति वचन प्रश्न के प्रति जनक हेतु भी नहीं है । सुतरा यह पथक अलङ्कार ही है ॥२४६॥

प्रश्न के अनन्तर जहा उत्तर होता है वहाँ उत्तरालङ्कार होता है ॥२४७॥

उदाहरण—दुल्लभ पदार्थ क्या है ? जो मनो गोचर नहीं है वही दुल्लभ है । प्रार्थनीय क्या है ? जो कहीं भी उपलब्ध होता है, वही प्रार्थनीय है । आह्लादक पदार्थ वही है, जिसका स्मरण मात्र से ही आनन्द होता है वही आह्लादक है । तादश तत्तत् वस्तु क्या है ? व्रजराजनन्दन ही तादश तत्तद् वस्तु हैं, यहा पूर्वोक्तम चतुर्विध परिसख्या से इस उत्तर लङ्कार की विभिन्नता हुई है । परिसख्या के उक्त चतुर्भेद मे अन्य तात्पर्य है । वह निषेध कहीं तो अ यङ्ग्यमुख से होता है, कहीं तो व्यङ्ग्य मुख से होता है । यहाँ शुद्ध प्रश्न का शुद्ध उत्तर होने के कारण—उस से भेद हुआ है ॥२४८॥

जहा आकार के द्वारा सूक्ष्मार्थ लक्षित होता है, अथवा ईङ्गित से अपर के निकट सूक्ष्मार्थ प्रकाशित

क्रमेणोदाहरणे—राधाया कर कमले, शिखण्डदलपक्ष्म लग्नमालोक्य ।
प्रात सखी विदग्धा, लिलेख तत्रव कामुक सशरम् ॥

अत्र हि विपरीतरते कृष्णकेशाकर्षणलग्न तद्वर्हावतस पक्ष्म दर्शनेन पुरुषायित तवेद मयावगतमिति सख्या स्ववैदग्ध्यप्रकटयितु पुरुषस्यव धनुर्धरत्व सङ्कच्छत इति सशर क मुक लिखितमिति सूक्ष्म ॥२५०॥

भवन प्राङ्गण सङ्गत मनङ्गरसमङ्गल कृष्णम् ।
सकृदवलोक्य सलील, राधा पिदधेऽव गुण्ठनेन मुखम् ।

अत्र चन्द्रास्त समये समागन्तव्यमिति कृष्ण प्रति सङ्केतोऽनया प्रकटित., स सूक्ष्मः ।२५१।

सारः सावधिरुत्कर्षोयद् भवेदुत्तरोत्तरम् ॥

सारोऽलङ्कार ॥२५२॥

यथा—वर्षेषु भारताभिधमिह सारो भारते च तीर्थानि ।
तीर्थेषु च मथुरेका, वृन्दारण्य च मथुरायाम् ॥२५३॥

राधाया कर कमले शिखण्डदलपक्ष्म मयूरपिच्छ लग्नमालोक्य, तत्रव राधा करकमले तथा च राधा मूर्ति लिखित्वा पश्चात्तस्या करे शर सहित धनुर्लिलेख । विपरीतरते—विपरीतरमणे । तस्य श्रीकृष्णस्य चूडास्थ मयूरपिच्छ रूपस्यावतसस्य शिरोभूषणस्य, सखी श्रीराधायां स्व वैदग्ध्य प्रकटयितु तथा काम्मुक लिखितमित्यथ ॥२५०- १५१ -२५२॥

वर्षेषु मध्ये भारताभिद वर्षं सारो भवति । भारतभूमि सर्वोत्कृष्टा भवतीत्यथ ॥२५३॥

होता है, तत्तत् स्थल में सूक्ष्मालङ्कार होता है ॥२४९॥

क्रमश उदाहरण—सुचतुरा सखीने प्रभात मे श्रीराधा के कर कमल में मयूर पुच्छ पक्ष्म सलग्न देखकर, उस कर पल्लव मे स शर शरासन लिख दिया ।

इस श्लोक मे विपरीत सुरत के समय श्रीकृष्णकेशा कषण समय में तदीय वर्हावतस पक्ष्म पाणि पल्लव मे सलग्न हुआ है । इस प्रकार विचार कर सखी स्वय उसकी पुरुषायित चेष्टा को समझ गई है, इस को विदग्धता के सहित समझाने के निमित्त उसने राधिका के उस हस्त में धनुर्वाण लिख दिया। कारण, धनुर्वाण धारण—पुरुष के पक्ष मे ही सङ्गत है ॥२५०॥

अनङ्गरस का मङ्गलमय निकेतन नन्द नन्दन को निजभवन प्राङ्गण में सङ्गत देखकर श्रीराधाने उनके प्रति एकवार मात्र सविलास दृष्टिपात पूवक—अवगुण्ठन के द्वारा मुख मण्डल को आवृत किया,

इस श्लोक मे राधिका ने श्रीकृष्ण के प्रति चन्द्रास्त समय मे जो समागमन सङ्केत को प्रकाश किया, वह अतिसूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मालङ्कार हुआ है ॥२५१॥

उत्तरोत्तर जो सावधि उत्कष है, उसका नाम सार अलङ्कार है ॥२५२॥

उदाहरण—वर्ष के मध्य मे भारत वष ही श्रेष्ठ है, भारत वष में तीथ समूह श्रेष्ठ हैं, तीथ समूह के

अत्यन्तभिन्नाधारत्वे युगपद् भाषण यदि ।
धर्मयोर्हेतुफलयो स्तदा सा स्यादसङ्गतिः ॥

यदाधारो हेतुस्तदाधार फलमिति नियम यथा—पाप पुण्य कृते एकाधारे एव सुख दु खे, तदन्यथा भावादसङ्गति स्तत्रापि युगपदेव हेतु फल च, नतु पापादिकृत दु खादिवत् कालान्तरव्यवधानम् ॥२५४॥

यथा—तवाधरौष्टेक्षतमञ्जनञ्च, मम व्यथार्त्त मलिनञ्च चेत ।
पीतस्त्वया ते वदनासवस्त्व, मत्त कुतोऽनर्थ परम्परेयम् ।
नाय विरोध, सत्वेकाश्रय ॥२५५॥

हेतु फल रूप धमयोरत्यन्तभिन्नाधारत्वे सति युगपदेकस्मिन्नेव काले यदि तयोर्भाषण भवति, तदा असङ्गति नामालङ्कार । यस्मिन्नेवाधारे हेतुस्तथा स एवाधारो यस्य तथाभूत फल भवतीति, तथा च यस्मि नेव धिकरणे हेतु स्तस्मि नेवाधिकरणे फलोत्पत्तिरिति सवत्र नियम । तदन्यथाभाव कारणस्याधिकरण भिन्न कार्य्यस्योत्पत्ते रधिकरण भिन्नमित्यन्यथाभाव इत्यथ । यथा पाप पुण्य ज ये दु ख सखे एकस्मिन्नवात्मनि भवत, तस्यान्यथाभावेऽसङ्गति स्यादिति । अत्रापि असङ्गतावपि असङ्गत्यन्तरमाह युगपदिति एकस्मिन्नेव काले हेतु फलञ्च भवति ॥२५४॥

काचि मानिनी प्रात काले मानभङ्गार्थमागत कृष्ण तस्याधरे सम्भोगचिह्न क्षतादिक वीक्ष्याह—हे कृष्ण ! तवौष्ठाधरे क्षतमुत्पन्नम्, मम चेतो व्यथया आत्त भवति । तथा तवौष्ठेऽञ्जन लग्नम्, ममचेतो मलिन भवति अतोऽसङ्गति । अत्रापि रात्रौ यस्मि नेव क्षणे तवाधरे तयाक्षत कृतम् तदव तस्य स्मरणात् मम मनसि व्यथा जाता, नतु पाप दु खयोरिव कालव्यवधानमित्य सङ्गतिरपि ज्ञेया ।

मध्यमे मथुरा श्रेष्ठ है—मथुरा के मध्य मे वृन्दारण्य श्रेष्ठ पदाथ है ॥१५३॥

हेतु एव फल रूप धमद्वय का अत्यन्त भिन्नाधारत्व स्थल मे यदि समकाल मे उत्पत्ति का कथन होता है, तो असङ्गति नामक अलङ्कार होता है ।

हेतु का जो आधार है, फलका भी वही आधार होता है, यही नियम है । जिस प्रकार पाप पुण्य हेतु आत्मारूप एकमात्र आधार मे ही सुख एव दु ख होते है, उक्त नियम का जहा व्यतिक्रम होता है वहाँ असङ्गति अलङ्कार होता है ।

किन्तु पुण्य पाप कृत सुख दु ख जिस प्रकार काला तर मे होता है, असङ्गति स्थल मे उस प्रकार न होकर समकाल मे ही कार्य्य कारण की स्थिति आवश्यक है ॥२५४॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! तुम्हारे अधरोष्ठ मे क्षत एव अञ्जन विद्यमान है । कि तु मेरा चित्त व्यथित एव मलिन हुआ है । उसने तुम्हारा अधर पान किया है, किन्तु तुम मत्त हो गये हो, यह क्या अनथ परम्परा है ?

यह विरोधालङ्कार नहीं है कारण,—एकाश्रयत्व स्थल मे ही विरोधालङ्कार होता है ॥२५५॥

कारणान्तर साहाय्यात् कार्य्यं यत् सुकरं भवेत् ।
कर्त्तुर्विना प्रयत्नेन स समाधिरितीर्य्यते ॥२५६॥

यथा—मयि व्यग्रे तस्या प्रणयकलहम्लानमनस,
प्रसादे राधाया पद पतनगारिप्सितवति,
अकस्मादम्भोद व्यतिकरकृत स्फुर्जथुरभूत,
सखे आसादेषा सपदिममकण्ठ धृतवती ॥२५७॥

श्लाघ्यत्वेन भवेद् योग्यो यदि योगस्तदा समम् ॥
समभित्यलङ्कार ॥२५८॥

यथा—ललाम नारीणामियमहह पु सामयमहो,
वयोऽस्या अस्यापि प्रकृति नव कैशोरकमिदम् ।
प्रसूनेषोर्भाग्यान्मिलितमिव रत्नद्वयमिव,
न राधा कृष्णाख्य भजतु कथमाद्योऽपि च रस ॥

एवमश्लाघ्यत्वेऽप्यूह्यमुदाहरणम् ॥२५९॥

एव तया तवाधरासव पीतस्त्व मत्त सम्भोगचिह्न धृत्वा मान भङ्गायमागत मिथमेव मत्तता चिह्नमिति भाव ॥२५५-२५६॥

मयीति । हे सखे सुबल ! मानिन्या श्रीराधाया प्रसादे प्रसन्नतानिमित्त तस्या पादे पतन मद्यारिप्सितवति सत्यकस्मात्मेघ समूह कृत स्फूर्जथुमहान् गर्जन शब्दोऽभूत् ॥२५७॥

श्लाघ्यत्वेनोभयोर्यदि योग्यो योग सयोगो भवेत्, तदासम नामालङ्कारो भवेत् ॥२५८॥

इय राधा नारीणा ललाम शिरो भूषणम् । अय श्रीकृष्ण पु साललामम् । अस्या श्रीराधाया तथा अस्या श्रीकृष्णस्यापि प्रकृत्या स्वभावेनव सदा नव कैशोरकमिद वय । कन्दर्पस्य भाग्यान्मिलितमिद राधाकृष्णाख्य रत्नद्वयम् । आद्य शृङ्गारो रस कथ न भजतु, अपितु भजत्वेत्यर्थ । एवमश्लाघ्यत्वेनोह्य यदुदाहरण तत्तु श्रीकृष्णसम्बन्ध राहित्येन विभीतत्वाद् ग्रन्थ कारेण परिहृतम् ॥२५९॥

कर्त्ताके प्रयत्न के बिना कारणान्तर के साहाय्य हेतु कार्य्य यदि सुकर होता है, तो तादृशस्थल मे समाधि नामक अलङ्कार होता है ॥२५६॥

उदाहरण—हे सखे ! प्रणय कलह से कलुषित चित्ता राधिका की प्रसन्नता सम्पादनार्थ मैं व्यग्र होकर उनके चरण स्पर्श करने का उपक्रम करने पर अकस्मात् नभो मण्डल में मेघ मण्डली का इस प्रकार प्रबल गर्जन हुआ, जिस से भीता होकर राधिका ने तत् क्षणात् मेरी कण्ठालिङ्गन किया ॥२५७॥

श्लाघ्यत्वरूप में उभय वस्तु का अनुरूप संयोग होने पर सम नामक अलङ्कार होता है ॥२५८॥

उदाहरण—श्रीराधा,- रमणी वृन्द की शिरोमणि स्वरूपा हैं, कृष्ण भी पुरुष वृन्द के शिरोरत्न

अत्यन्त वैसादृश्येन योगो यदति दर्घटः ।
कर्त्तुः क्रियाफलाभावः प्रत्युतानर्थ सम्भवः ॥२६०॥
गुण क्रियाभ्यां ते एव कार्य्य कारणयोश्चयत् ।
परस्पर विरुध्येते विषमः सचतुर्विध ॥२६१॥

ते—एव, गुणक्रिये—एव ।

क्रमेणोदाहरणानि—शिरीष कुसुमादपि प्रकृति कोमल तद्वपु
कुकूलविषशूलयोर्व्यतिकरोऽनुरागज्वर ।
तथापि सहतेतरां तममुनैव राधा चिर
न वाड्मनस गोचर सहजभाव बन्धक्रम ॥२६२॥

ससार दावग्लपित मनो मे, शिश्राय ताप प्रशमाय कृष्णम् ।

यत्र धमद्वयोरत्य त वसावश्येनाति दुघटो योगो भवति तावश दुघट मपि योग कत्तु अास्य द्वयोर्योग करणरूा क्रियाया सुखरूप फलाभाव, प्रत्युत दुखरूपानथस्य सम्भवश्च तत्र विषम नामालङ्कार । चतुर्विधो भवति । चतुर्विधत्वमेवाह—गुणक्रियाभ्यामिति ॥२६० २६१॥

तस्या राधाया वपु प्रकृत्या स्वभावेन यदा कोमल भवति । कुकूल विषशूलयोस्तुषाग्नि विषाक्त शूलयो समूह रूप श्रीकृष्ण विषयकानुरागज्वर । तथाप्यमुना वपुषा तमनुरागज्वर सहते नतुत्यर्जात । अतएव न वाडमनसेत्यादि सहज भाव स्वभाव सिद्ध प्रेमा । अत्र कोमल स्वशगुणेनानुरागरूप गुणो विरुध्यते ॥२६२॥

ससार रूप दावाग्निना ग्लानि युक्त मम मन श्रीकृष्ण शिश्राय । स श्रीकृष्ण निर्घृण कृपारहित

सदृश हैं, उभय के ही वय क्रम स्वभावत नव कशोर है पुष्पवाण के सौभाग्य हेतु ये रत्नद्वय परस्पर सुसम्मिलित हुये हैं। क्यो नहीं आद्य रस इन दोनो का भजन करेगा ?

अश्लाघ्यस्थल मे भी इस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत करना कत्तव्य है ॥२५६॥

धमद्वय का अत्यन्त वसादृश्य हेतु जहाँ योग मिला त दुघट है, वहा उक्त योजन क्रिया हेतु सुखादि फलोत्पत्ति न होकर अत्यन्त अनथ की उत्पत्ति है, तो वहाँ विषम नामक अलङ्कार होता है । उक्त विषम अलङ्कार चार प्रकार हाते है । गुण एव क्रिया के सहित यदि गुण एव क्रिया का विरोध होता है—तो दो प्रकार एव काय्य कारण निष्ठ गुण एव क्रिया के सहित यदि काय्य कारण निष्ठ गुण एव क्रिया का विरोध होता है, तो दो प्रकार समष्टि से चार प्रकार होते हैं ॥२६० २६१॥

क्रमश उदाहरण—श्रीराधा का शरार स्वभावत शिरीष कुसुम से भी सुकुमार है, श्रीकृष्ण विषयक अनुरागज्वर भी तुषाग्नि एव विषाक्त शूल के समान सुदारुण है । तथापि श्रीराधा उसी शरीर के द्वारा ही उस प्रकार विषम अनुराग ज्वर को सुचिरकाल सहन करती रहती है । स्वभावसिद्ध सद्भाव व धन क्रम इस प्रकार ही वाक्य मन के अगोचर है ।

स निर्घृणस्तद्व्रत लब्धमात्र, समूलमुन्मूलितमेव चक्रे ॥२६३॥

अत्र क्रिया क्रियया ।

पीयूष वीरुधो वीजमेकमेवममान्तरे ।
अङ्कुरा किममीतस्माद्बहवोविषवीरुधाम् ? ॥२६४॥

अत्र कार्य्यं भूतानामङ्कुराणा बहुत्वेन गुणेन कारणभूतस्य वीजस्यैकत्व गुणो बाध्यते । पीयूष विषयोश्च कार्य–कारण रूपत्वात् वैधर्म्यम् ॥

प्रेमवीज परमानन्दस्यन्दि रोपितमन्तरे तस्याङ्कुरा कुकूलस्य स्फुलिङ्गाइवदाहका । अत्र कार्य्यस्य दहनक्रियया कारणस्य परमानन्दस्यन्दनक्रिया विरुध्यते ॥२६५॥

आधेयाधारयो र्भूयो मिथस्तत् प्रतियोगिनौ ।
ततोऽप्यधिकभूमानौ स्यातां यदधिकं भवेत् ॥

अधिकनामालङ्कार ।२६६॥

शरणाय लब्धमात्र तन्मन समूल वासनासहितम् मुलित चकार । तथा च श्रीकृष्णश्चरणार विन्दाश्रयण मात्रेण ससारज्वालाया मूलभूतस्य मनो घटित लिङ्गदेहस्य नाश चकारेत्यहो तस्यकृपालुतेति व्याजस्तुतिरपि ज्ञेया । अत्राश्रयण क्रिययो मूलनक्रिया विरुध्यते ॥२६३॥

पीयूष वीरुध्य वीज प्रेम, तत्तु एकमेव, तस्याङ्कुरा विरह जन्य ज्वालारूपा बहव । एकस्य वीजस्य बहवोऽङ्कुरा न सम्भव त्यतोविरोध पीयूष विषयोरपि विरोधश्च । तस्य प्रेमणोऽङ्कुरा अनुरागाद्या दाहका, श्रीकृष्णेन सह विच्छेदादिति भाव ॥२६४- २६५॥

भूम्नो र्व्यापकयो । तत् प्रति यागिनौ इति—आधेयस्य प्रतियोगी आधार , आधारस्य प्रतियोगी आधेय इत्यथ । तथा चाधेयापेक्षया यद्याधारो व्यापको भवति अथवा, आधारापेक्षया यद्याधारो व्यापको

इस श्लोक मे गुण के सहित गुण का विरोध हुआ है ॥२६२॥

ससार दावानल से ग्लानि प्राप्त होकर मेरा चित्त ताप प्रशमन हेतु श्रीकृष्णके पाद पल्लव की छाया को आश्रय किया, किन्तु आप इस प्रकार निष्करुण हैं कि—आश्रय ग्रहण करने से ही उस चित्त को मूलत उन्मूलित कर दिये हैं ।

इस श्लोक मे क्रिया के सहित क्रिया का विरोध हुआ है ॥२६३ ।

मेरा हृदय में अमृतलता का एक ही बीज था उस बीज से विषलता विषलता के ये असख्य अङ्कुर कसे उद्भूत हुये ?

इस श्लोक मे प्रेम अमृत लतार बीज है, उस से विरह हेतु ज्वालादि विविध अङ्कुर उत्पन्न हुये हैं, किन्तु काय्य भूत अङ्कुर के बहुत्व गुण के सहित कारण भूत बीजका एकत्व गुण की बाध्य बाधकता हुई है । अमृत एव विषका काय्य कारण भाव हेतु वैधर्म्य हुआ है ॥२६४॥

परमानन्द निस्यन्दी प्रेम बीज को अन्त करण मे रोपण किया था । उसी के ही अङ्कुर समूह तुषाग्नि के स्फुलिङ्ग के समान दाह कारी हुये हैं । यहाँ काय्य भूत दहन क्रिया के सहित कारण भूत

क्रमेणोदाहरणे— अहो ते मनस सुभ्रुविशालत्वमिद महत् ।

त्रिलोकचया यो न मात्येष यत्र मातिरमापति ॥

अत्राधेयस्य भूयस्त्वेऽपि आधारस्य ततोऽपि भूयस्त्वम् ॥२६७॥

आ वेद्मि यस्या प्रतिरोमकूप, ब्रह्माण्डभाण्डानि समुल्लसन्ति ।

तस्या तनौ ते न ममौ मुकुन्द, तस्या समालोक महोत्सवोऽयम् ।

अत्राधार भूयस्त्वेऽपि आधेयस्य ततोऽपि भूयस्त्वम् ॥२६८॥

अपकार्य्यपकारार्थमसामर्थ्येन तत् प्रियम् ।

हिनस्ति यत्तदोयोक्तिः प्रत्यनीक स्तवो यदि ॥

अपकारिणोऽपकारासमर्थ्येन तत् प्रियस्य योऽपकारस्तदुक्ति स्तवरूपा यदि भवति, तदा प्रत्यनीकम् ॥२६९॥

यथा—माधुर्य्यमादाय तवाननेन, कलङ्कसारो विहित शशाङ्क ।

तेनष राधे तव वल्लभत्वादसन्निधाने तव मा हिनस्ति ॥२७०॥

भवति, तदा—अधिक नामालङ्कार ॥२६६॥

अत्राधेयस्य श्रीकृष्णस्य, आधारस्य श्रीराधिका मनस ॥२६७॥

पूर्व रागान तर श्रीर धया सह मिलनाज्जात श्रीकृष्णस्यात्युत्सव दृष्टवा पौणमासी स परिहासमाह आमिति । हे मुकु द ! तस्या तव तनौ तस्या राधाया दशन ज य महोत्सवो न ममौ स्थातुमवकाश न लभत इत्यथ ॥२६८॥

अपकत्तु रपकारासामर्थ्येन तत् प्रियस्य यत्रापकारवणनम्, एव तदुक्तिस्तद् वणनरूपोक्ति स्तवरूपा भवति चेत्तदा प्रत्यनीकनामालङ्कार ॥२६९॥

परमान वस्यन्दनक्रिया विरुद्ध हुई है ॥२६५॥

व्यापक अधेय आधार के प्रतियोगी द्वय भी यदि इस से भी अधिक व्यापक होते हैं, तो अधिक नामक अलङ्कार होता है ॥२६६॥

क्रमिक उदाहरण—हे सुभ्रु ! तुम्हारे अन्त करण का विशालत्व क्या विस्मयकर नहीं है ? त्रिलोक मे भी जिनका परिमाण नहीं होता है, वही त्रिलोकी तिलक रमापति उस अ त करण मे परिमित होकर हैं । यहाँ आधेय का अनेक विस्तार होने पर भी आधार की विपुलता उससे अधिक हुई है ॥२६७॥

हे मुकु द ! मै समझ गई हूँ, तुम्हारे शरीर के प्रतिरोम कूप मे अनन्त ब्रह्माण्ड विराजित हैं, वहाँ आज राधावलोकन जनित विपुल महोत्सव स्थान प्राप्त करने मे असमर्थ है ।

यहाँ आधार का बाहुल्य होने पर भी आधेय की ततोऽधिक विपुलता हुई है ॥२६८॥

अपकारि व्यक्ति का अपकार करण मे असामथ्य हेतु उसके प्रिय व्यक्ति का यदि अपकार करण वर्णित होता है, एव उक्त वण । यदि स्तव रूप होता है तो वह प्रत्यनीक अलङ्कार होता है ॥२६९॥

तुल्येन लक्ष्मणाऽस्तोकेनान्यद् यदि निगूह्यते ।
सहजेनेतरेणापि तन्मीलितमपि द्विधा ॥

एकेन वस्तुनान्यद् वस्तु यदि तुल्येन अस्तोकेन चिह्नेन निगूह्यते, सहजेन स्वाभाविकेनेतरेणागन्तुकेन वा, मीलित नामालङ्कार ॥२७१॥

क्रमेणोदाहरणे—स्वतश्चपल लोहिते सुमुखि राधिके ते दृशौ,
गत सहज सालस प्रकृतिमन्दमन्द स्मितम्
स्वभाव मृदु वक्रता- ललितमधमर्धं वचो,
मदश्च मदनश्च वा मधुमदश्च कैलक्ष्यताम् ? ॥२७२॥

सञ्जातकम्पोत् पुलका हिमागमे, स्नानोत्थिता कृष्णदृगन्त पातनीम् ।
शोनार्दिता भाववती नु वेति ता विज्ञापि न ज्ञातवती सखीं सखी
पूर्वत्र महजमुत्तरत्रागन्तुकम् ॥२७३॥

हे राधे ! तवानेन च द्रस्य माधुर्य्यमादाय च द्र क्लङ्क सारो विहित कृतस्तेन हेतुनैष च द्र स्तव प्रियत्वा मा तवासन्निधाने हिनस्ति, विच्छेद च द्रस्योद्दीपकत्वेन पीडाकरत्व ज्ञेयमिति भाव ॥२७०॥

एकेनास्तोकेन महता तुल्येन चिह्नेन । कथम्भूतेन ? स्वाभाविकेन, अथवा, आगन्तुकेन, अन्यद् वस्तु निगूह्यते सवरण क्रियते यदि, तदा स मीलित नामालङ्कार । २७१॥

हे राधे ! तव नेत्र स्वभावत श्चञ्चल तथा आरक्तश्च भवति । एव मत्तता जन्यमपि नेत्रस्य तद्द्वय भवति । अतस्तव मदो यौवन मत्तता मदन कन्दप विकार मधुमदो मद्यपान जन्यमत्तता, तथा चतत्त्रय क लक्ष्यतामित्यथ । अत्र च स्वभाव सिद्धेन महता नेत्रस्य चाञ्चल्येनारुण्येन च यौवन मत्ततादि ज य त्रय सवृत बभूव । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । गत गमन स्वभावादेव तव मृदुता कदाचिद् वक्रता च, मत्तस्यापि एव भवति ॥२७२॥

श्रीकृष्ण दृगन्त पातिनीम् । तथा च स्नानादुत्थिता श्रीराधा यदा श्रीकृष्ण पश्यति, तदा द्विविध

उदाहरण—हे राधे ! तुम्हारे वदन मण्डल शशाङ्क के समग्र माधुर्य्य स ग्रहपूवक उसकी कलङ्क सार किया है उस हेतु वह शशाङ्क तुम्हारे असन्निधान मे तुम्हारे प्रिय होने के कारण मुझ को अत्य त व्यथित कर रहा है ॥२७०॥

स्वाभाविक अथवा आग तुक, सदृश एव अस्पृष्ट चिह्न के द्वारा एक वस्तु के द्वारा यदि अन्य वस्तु निगूहित होती है तो मीलित नामक अलङ्कार होता है ॥२७१॥

क्रमश उदाहरण— अयि राधिके ! तुम्हारे नयन युगल स्वभावत चञ्चल एव लोहित हैं, गमन - सहज म थर है, हास्य स्वभावत मृदुम द है, वाणी भी प्रकृति सुकुमार, वक्रता -ललित एव असम्यक उच्चारित है । अत हे सुमुखि ! राधिके । तुम्हारे यौवनमद, मधुमद एव मदन -कौन इन सब को लक्ष्य करने मे समर्थ होगा ? ॥२७२॥

स्थाप्यते खण्ड्यते वापि पूर्वं पूर्वं परेण यत्।
विशेषणतया वस्तु सा द्विधैकावली भवेत् ॥

परेण परेणेत्यर्थः ॥२७४॥

क्रमेणोदाहरणे— यस्या रजन्य सगणि प्रदीपा, मणि प्रदीपाश्चरतेऽप्यहार्य्या ।
रतञ्च कृष्णप्रणयैकसार, कृष्णश्च सर्वास्वबलासु तुल्य ॥

अत्र स्थापनम् ॥२७५॥

प्रीति र्न सा प्रति न या पर जन्तु र्न तज्जनुर्यन्न महाकुलोद्भवम् ।
महाकुल तच्च न यत्र वैष्णव, न वैष्णव सोऽपि न यो व्रज प्रिय ॥

अत्र खण्डनम् ॥२७६॥

कम्पो जात । किन्तु स्नानादुत्थितन गन्तुकेन कम्पेन श्रीकृष्ण दर्शन जन्य कम्प आवृतोबभूव अत परम विज्ञापि सखी किमपि न ज्ञातवती ॥२७३॥

यदि परेण परेण विशेषणेन पूर्व पूर्व वस्तु स्थाप्यते, किं वा खण्ड्यते तत्रैकावली नामालङ्कार ।२७४।

यस्या पूर्यां रात्रौ मणि प्रदीपा सदा तिष्ठन्ति, अतस्तेषा नायिका कर्त्तृक निर्वाणा सामर्थ्यात् रतेऽपि रमणसमयेऽपि अहार्य्य निर्वाण कर्त्तुमशक्या । रमणञ्च श्रीकृष्णेन सह प्रणयक मूलम्, न तु कामोपाधिकम् ॥२७५॥

या अपर स्वभिन्न जीव मात्र न प्रति, न व्याप्नोति, सा प्रीतिरेव न भवति। तथा च स्वस्मि नेव सर्वे प्रीतिं कुर्वन्ति । अत सा प्रीतिरेव न भवतीति भाव । तज्जन्मैव न, यज्जन्म यन्महाकुलमवष्णव वष्णव सम्बन्धि न भवति । स वष्णवोऽपि व्रज प्रियोयस्य तथाभूतो न भवति ॥२७६॥

स्नानोत्थिता एव तदनन्तर श्रीकृष्ण के लोचन गोचर मे निपतिता होकर श्रीराधा कम्प एव रोमाञ्च परिव्याप्ता हो गई । किन्तु वह शीतातुरा अथवा भाववती होकर उक्त कम्प एव रोमाञ्च से अन्विता हो गई है, विज्ञा सखी भी उसको जानने मे समर्थ नहीं हुई । यहाँ प्रथमोदाहरण मे चिह्न सहज है, द्वितीय उदाहरण मे आगन्तुक है ॥२७३॥

यदि उत्तरोत्तर विशेषण के द्वारा पूर्व पूर्व वस्तु स्थापित वा खण्डित होती है तो तादृशस्थल में एकावली अलङ्कार होता है, उक्त एकावली अलङ्कार द्विविध हैं ॥२७४॥

क्रमिक उदाहरण— रजनी मे जो नगरी मणिमय प्रदीप से शोभिता होती है, मणिमय प्रदीप पुञ्ज सुरतसमय मे निर्वापण के अयोग्य होते हैं । उक्त सुरत समूह भी कृष्ण प्रणय सर्वस्व है श्रीकृष्ण भी समस्त प्रणयिणी मे तुल्य दृश्य होते हैं ॥२७५॥

जिस जन्म मे निज शरीरवत् अपर के प्रति प्रीति न हो वह प्रीति ही नहीं है, जो जन्म महाकुल मे गृहीत नहीं होता है, वह जन्म ही नहीं है । जो महाकुल सम्भूत व्यक्ति विष्णु परायण नहीं है, वह महाकुल ही नहीं है एव वह व्यक्ति विष्णु परायण नहीं है— जो व्रजप्रिय नहीं है ।

यहाँ उदाहरण द्वय मे प्रथम स्थापन एव द्वितीय मे खण्डन हुआ है ॥२७६॥

पूर्वानुभूय स्मरणं तत्समाने विलोकिते।
स्मरणम्, ॥२७७॥

उदाहरणम्—विशकलमेकमदता, विलोलदीर्घंरथाङ्गयुगलेन।
छिन्नार्धं हारराधा स्तन घटयो स्मारित कृष्ण ॥२७८॥

भ्रान्तिमां स्तद्धीर तस्मिन् साम्यभाजि यत्॥
साम्य सादृश्यम् ॥२७९॥

यथा—ताविञ्छद्रुमम ञ्जरीति नखरं शिछत्वा श्रुतौ कुवते
या काश्चित् कवरीभरे कुवलयश्रेणीति या काश्चन।
गाहन्ते कुलसुभ्रुवोऽपि यमुनावन्येति यामञ्जने
कृष्णस्य व्रज रञ्जनी जयति सा तेजस्तरङ्गावलि ॥२८०॥

यथा वा—पृष्ठे मणीन्द्रमहास प्रतिविम्बमेव, केशस्य केशपरिशेष इति भ्रमेण।
उल्लासयन्त्य सकृदङ्गुलिपल्लवेन, सा व्यग्रधीरजनि केशव केशबन्धे ॥२८१॥

यत्र तत्सादृश्य वस्तु दर्शनात् तस्य स्मरण भवति, तत्र स्मरणनामालङ्कार ॥२७७॥

एक विसशकल मृणाल खण्डमदता भोजन कुवता चक्र वाक द्वयेन छिन्नाध हार विशिष्टयो राधास्तन घटयो श्रीकृष्ण स्मारित। अत्र स्मरणार्थक धातु योगे कर्मणि षष्ठी। अत्र मृणाल खण्ड दर्शनेन छिन्नाध हारस्य स्मरण चक्रवाकद्वय दर्शनेन स्तनद्वय स्मरण ज्ञेयम् ॥२७८॥

अतस्मिन् तद्भिन्ने अथच तत् सदृशे वस्तुनि यत्र तस्य बुद्धिस्तत्र भ्रान्तिमानलङ्कार ॥२७९॥

श्रीकृष्णस्य तेजोरूप नद्या दूरदेश व्यापिनी तरङ्गावलिजयति या तेजस्तरङ्गावलि काश्चिद् व्रजस्त्रिय स्तमाल वृक्षस्य मञ्जरीति बुद्धया कर्णे कुवते, कश्चित् नीलोत्पलश्रेणीति बुद्धया काश्चिद् यमुनाया व या जल समूह इति बुद्धया स्व स्वाङ्गने एव गाहन्ते, अवगाह ते स्नान कुवन्ति ॥२८०॥

सा व्रज सुन्दरी श्रीकृष्णस्य कश बन्धने कर्मणि व्यग्रधीरजनि। व्यग्रत्वे कारणमाह-मणीन्द्र इ द्र

सदृश वस्तु विलोकन से पूर्वानुभूत पदार्थका स्मरण होने से स्मरण नामक अलङ्कार होता है।२७७।

उदाहरण—चक्र वाक युगल सुदीघ एव सुचञ्चल मृणालखण्ड भक्षण कर रहे हैं, यह देखकर श्रीकृष्ण के अन्त करण मे छिन्नार्द्ध हारधारी राधापयोधर युगल का स्मरण हुआ ॥२७८॥

सादृश्य हेतु अतद् वस्तु मे तद् वस्तु बुद्धि होने पर भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है ॥२७९॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण की वह व्रजरञ्जन कारिणी, दिगन्त व्यापिनी श्रीदेहदीप्ति लहरी, जिसको तमालतरु के तरुण पल्लव मानकर गोपी ने नखर के द्वारा छेदन करके कर्णावतंस किया, किसी गोपी ने कवरी मे स्थापन करने के निमित्त उद्यम किया, कतिपय गोपीने यमुना जल राशि भ्रम से अङ्गन मे अवगाहन स्नान करने का उपक्रम किया, वह इस त्रिलोक मे अतुल उत्कर्ष को प्राप्त करे ॥२८०॥

उपमानस्य धिक्कार उपमेयस्तुतौ यदि ।
प्रतीपमुपमानस्य धिक्कृत्यै चोपमेयता ॥

उपमेयस्तुत्यर्थमुपमानधिक्कारो यदि, तदा प्रतीपम्, यदि वा धिक्कारायैव उपमानस्यैवोपमेयता, तदा चेति द्विविधम् ॥२८२॥

क्रमेणोदाहरणे—

तव जयति जगत्या राधिके भ्रू विभङ्गे, किमिति कुसुमचापश्चापमन्य विभर्त्ति ।
विलसति मुखबिम्बे वेधसा वा किमर्थं व्यरचि विधु विधाने निष्फलोऽय प्रयास ।२८३।
वरतनु ननु कृष्णो हन्तवदग्ध्यमुग्ध शिव शिव भुवि भद्र । शद्र भावेऽनभिज्ञ ,
तव विगतकलङ्केनाननेव योऽय शशिनमुपमिमीते नैवलज्जा करोति ॥२८४॥
मम वदनमेव नयनानन्दकमिति माकृथा सुतनु गर्वम् ।

नीलमणि स्तद्व महस्तेजो यस्य तथाभूते पृष्ठे केशस्य प्रतिबिम्बमेव केशस्य परिशेषाऽग्र भागा इति भ्रमेण स कुतुल्लासय ती ऊध्व नयन्ती ॥२८१॥

तवेति । हे राधिके ! तव भ्रूविभङ्गे चापे विजयति सति किमथ कुसुमचाप कन्दर्पोऽ य चाय धनुर्विभर्ति । अत्र राधिकाया भ्रूचापस्य स्तुत्यर्थं कन्दपचापरूपोपमानस्य धिककार कृष्णेन कृत । विधाना किमथ च द्र निर्म्माणेऽति निष्फलप्रयासो व्यर च चक्र ? अत्राप्युपमानस्य धिककार ॥२८३॥

हे वरतनु राधे ! वैदग्ध्येन रहितो योऽय श्रीकृष्णस्तव विगत कलङ्कन मुखेनचन्द्रमुपमिमीते नतु लज्जा करोति । तथा च तवमुखमुपमान कृत्वा चन्द्रमुपमेय करातीत्यथ सवत्र मुखस्योपमानरूप चन्द्र अत्र तु तस्य नि दार्थं स उपमेय कृत ॥२८४॥

उदाहरण—इन्द्रनीलमणि प्रभ पृष्ठ देश मे निपतित केश प्रतिबिम्ब को देखकर वह केश राशि का ही अग्रभाग है, यह मानकर व्रजाङ्गनाने आग्रहवती होकर अङगुलि दल से उठाकर केशव के उक्त केश कलाप को ब धन करना प्रारम्भ किया ॥२८१॥

उपमेय के प्रशसार्थ यदि उपमान को तिरस्कार किया जाय, अथवा तिरस्कार के अभिप्राय से उपमान का ही उपमेय रूप मे कल्पना की जाय तो उस उस स्थल मे प्रतीप नामक अलङ्कार होता है। वह द्विविध हैं ॥२८२॥

क्रमिक उदाहरण—हे राधिके ! तुम्ह रे भ्रू भङ्ग भुवनमे विद्यमान रहते कुसुम शरासन क्यो कुसुम शरासन को धारण करते हैं ? एव तुम्हारे मुखमण्डल विद्यमान रहते विधाताने क्यो विधु विधान मे वृथा प्रयास परम्परा को स्वीकार किया ? । २८३॥

आयि वरतनु ! श्रीकृष्ण—वैदग्ध्य विहीन एव वस्तु के उत्कर्षापकर्ष विज्ञान मे नितान्त अनभिज्ञ है, देखो, कलङ्क शू य तुम्हारे मुख मण्डल के सहित कलङ्क पूर्ण पूर्णच द्र की उपमादेते है, एव उससे लज्जित नहीं होते हैं । २८४॥

अपरोऽपि कश्चिदेव, राकाया शरदि शीतांशु ॥२८५॥

अहमेव दारुणतम, इति माकुरु कालकूट मुरुगर्वम् ।
त्वत्तोऽपि दारुणतमो दुर्लभलोके मनाराग ॥

इत्याद्यपि तद् भेदान्तर्गतम् ॥२८६॥

प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेन गुणैकत्व-विवक्षया ।
ऐक्यं निबध्यते योगाद् यत् सामान्य तदिष्यते ॥२८७॥

यथा–राधे तडिद् गौरि तवैष गण्डयो, कर्णान्तलम्बीनवकेतकीच्छद ।
न सौरभेणापि गतो विभिन्नता, मधुव्रतेनैव विविच्य बोधित ॥२८८॥

हे सुतनु ! शरत् काले राकाया पूर्णिमाया शीतांशुश्च द्र, अतिशयोक्तया श्रीकृष्ण । १८५॥

हे कालकूट ! अत्यन्तदु खदत्वेन दारुणतमस्त्यधिकगर्वम् । दुर्लभलोके श्रीकृष्णे । इत्यादि पद्य द्वयोक्तमुदाहरणमपि तद् भेदान्तर्गत प्रतीप भेदा तर्गतम् ॥२८६॥

यत्र प्रस्तुतस्या प्रस्तुतेन सह योगाद्गुणेनकरणेनैकत्वविवक्षयैक्य निबध्यते वर्ण्यते, तत्र सामान्य नामालङ्कार ॥२८७॥

हे तडिद् गौरि राधे ! तव गण्डद्वये कर्णप्रान्तलम्बी नव कनक केतक्याश्छद पातु । गण्ड केतकी पत्रयो रुभयो सुगन्धत्वेन सौरभेणापि केतकीच्छदो भिन्नता न प्राप्त, किन्तु भ्रमरेणव गण्डस्थलात् केतकी पत्र भिन्नमिति विविच्य बोधित, तथा च पूर्वानुभूते कर्णोत्पले पतितुमागतो–भ्रमर पश्चात् कर्णस्य केतकी पत्र गन्धेनान्ध सन् पलायित, तद्दृष्टवा सर्वेषामिद केतकी पत्रमिति ज्ञान जातमिति भाव, केतकी ग धो भ्रमरस्यासह्य इति सर्वत्र प्रसिद्ध ।

अत्र प्रस्तुतस्य गण्डस्थलस्याप्रस्तुतेनाग तुकेन केतकी पत्रेण सह योगात् पीतवर्ण—रूपगुणेनैकत्व विवक्षयैक्य वर्णितम्, अत सामान्य अलङ्कार ॥२८८॥

हे सुतनु ! मदीय वदन ही सर्व नयनो का आनन्द सदन है—यह मान कर गर्व न करना, और भी एक पदार्थ नयनानन्द कर है, वह है—शरत् कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा ॥२८५॥

"इस जगत् मे मै ही दारुणतम हू" हे कालकूट ! तुम इस प्रकार गर्व न करो । दुर्लभ जन श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग तुम से भी अधिक दारुणतम है ।

ये सब पद्य भी प्रतीप भेद के अन्तर्गत हैं ॥२८६॥

अप्रस्तुत के सहित प्रस्तुत के गुण के द्वारा एकत्व विवक्षा से जो ऐक्य वर्णित होता है, उसको सामान्य अलङ्कार कहते हैं ॥२८७॥

उदाहरण—हे विद्युद् दाम गौरि श्रीराधिके ! तुम्हारे कर्णान्त विलम्बी जो कनक केतकी दल गण्ड युगल मे विराजित है, वह वर्ण सौरभ से गण्डस्थल से भिन्न नहीं है, कि तु केवल भ्रमर ही उसके भेद की उपलब्धि करके असह्य गन्धातिशय से पलायन परायण होकर सब को उस भेद को समझा देता है ।२८८।

यथा वा— द्विरद रदन क्लृप्ते चारुपर्यङ्कराजे
कृतकशिपुनि तल्पे मल्लिका पत्रिकाभि ।
शशिमहसि निदाघे प्राङ्गणे निर्विताने,
जयति निरवलम्ब–स्वापशालीव कृष्ण ॥२८९॥

आधारस्य प्रसिद्धस्याभावेऽप्याधेय दर्शनम् ।
एकस्य युगपद् वृत्तिरनेकत्र स्वरूपतः ॥२९०॥
एकस्यैवातिचित्रस्य वस्तुनः करणेन हि ।
तत् सामान्यान्य वस्तूणां करण स भवेत् त्रिधा ॥२९१॥
विशेषः, ॥२९२॥

येन प्रयत्नेन चित्र वस्तु करणारम्भ स्तेनैव प्रयत्नेन तथाविधोऽशक्य वस्त्वन्तर मप्यारभत इति केचित् ।

क्रमेणोदाहरणानि—लोकान्तरान्त सुहृदा गताना, गिरश्च रूपाणि च केलयश्च ।
तथैव सन्तीह सुहृज्जनाना, मनस्यहो सौहृद ते प्रभाव ॥

निदाघ काले शशिनश्चन्द्रस्य श्वेतकिरणयुक्ते एव निर्विताने उपरि चन्द्रातप रहिते प्राङ्गणे श्वेततल्पे श्रीकृष्णो जयति । कथम्भूत ? चन्द्रिका प्राङ्गण शय्याना सर्वासा श्वेतत्वनकथाभिरवलम्ब-स्वापशालीव, तथा च सर्वेषा श्वेतत्वेन रदनादीना विशेष ज्ञानाभावात् श्रीकृष्ण शून्यप्रदेशे स्वपितीति बुध्यत इत्यर्थ । तल्पस्य श्वेतत्वमाह–द्विरदस्य हस्तिन श्वेत दन्तेन कलृप्ते पुनश्च मल्लिकायाश्च श्वेत पुष्प कृत. कशिपुस्तूलिका यत्र तथाभूते ॥२८९॥

विशेष इति—विशेष नामालङ्कार इत्यर्थ । केचिदिति—केषाञ्चिन्मते येन प्रयत्नेनेत्यादि लक्षणाक्रान्तस्तृतीय विशेष नामालङ्कार इत्यर्थ ॥२९० २९२॥

लोकान्तरान्त परलोक मध्ये गताना सुहृदा वाक्य रूपादय सुहृज्जनाना मनसि तथैव विद्यमानत्वेनैव

उदाहरण – विशद शशि किरणोज्ज्वल निदाधकाल मे निर्वितान प्राङगण मे द्विरद दन्त रचित, मल्लिकाञ्चल मे विचित्रित सुचारु पर्यङ्कोपरि श्रीहरि का शयान देख कर बोध होता है कि– आप अवलम्बन शून्य शून्योपरि ही शयन करते है ॥२८९॥

प्रसिद्ध आधार के अभाव से भी यदि आधेयका दर्शन होता है, अथवा एक वस्तु की अनेक स्थान मे समकाल मे स्वरूप मे अवस्थिति होती है कि वा किसी विचित्र वस्त के करण के द्वारा यदि तत् साधारण अन्य वस्तु समूह का करण होता है, तो उक्त तीन स्थलो मे त्रिविध विशेष नामक अलङकार होते हैं ॥२९० २९२॥

अत्र प्रसिद्ध आधार सुहृदेव, तदभावेऽपि आधेयाना रूपादीना स्थिति, नाय विरोध, पूर्ववदेक विषयत्वाभावात् ॥२६३॥

द्वितीयो यथा—राधाग्रतश्च परतोऽपि च पार्श्वतश्च, श्रोत्रे च चक्षुषि च वाचि च मानसे च।
केनाध्वनैष मदनो हृदिमे प्रविश्य, मा हन्ति हन्त किमिय न निराचकार ॥
अत्रैकस्यैव वस्तुनो युगपदेवानेकत्रस्थिति ॥२६४॥

तृतीयो यथा—आनन्द निधिरमृत, ह्री श्रीर्विद्या धृति पुष्टि।

अनुकूलेन हि विधिना, त्वा ददता हन्त कि मे न दत्तम्? 'करणेन' इति करण मत्र क्रिया मात्रम्, नतु निर्म्माणमेव। तेन प्रतिकूलेन हि विधिना त्वा हरता हन्त कि हृतम्। अति निपुणेन हि विधिना, त्वा सृजता भुवि न कि सृष्टम्?" इत्यादौऽप्यपि। सर्वत्र चैव

सन्ति। हे सौहृद! हे प्रेम! तवाय प्रभाव। अत्र विरोधाशङ्का नो न सम्भवति,—एकस्मिन्नेवाधिकरणे सुहृज्जनमनसाञ्च भिन्नत्वाच्च न दोष ॥२६३॥

मम सर्वेन्द्रियेषु राधा वर्त्तते, अत इय राधा कथ मदन न निराचकार? अत्र वक्रोक्तिरपि ज्ञेया।२६४।

अनुकूलेन विधिना मह्य त्वा ददता कि न दत्तम्? अपित्वानन्द पद्म निधि प्रभृति सर्वमेव वस्तु मह्य दत्तमित्यर्थ अत्र लक्षणस्थ करणेन हि पदेन क्रिया सामान्यमेव तत्तम् न तु निर्म्माण मात्रम्। एव सति अत्राद्भुत वस्तुनो दानक्रियया तत् सामान्यस्यैव दान क्रिया सिद्धि! एवञ्च त्वा हरतेत्यनेन तद्धरण क्रियया सर्वेषा हरण किया सिद्धि।

ननु त्रिविधविशेषालङ्कारस्थले सर्वत्र वक्रोक्ति नामालङ्कार एव सम्भवति, किमत्र स्वत त्रालङ्कार

क्रमश उदाहरण— लोकान्तर प्रस्थ सुहृद वृन्दके वाक्य, रूप, एव केलि विलासादि पूर्ववत् अविकल भाव से तदीय सुहृज्जन के अन्त करण मे रहते है। हे सौहार्द! हे प्रेम! तुम्हारा प्रभाव वयसा विचित्र है। यहा सुहृद ही प्रसिद्ध आधार है किन्तु उसका अभाव होने पर भी आधेयस्वरूप तदीय रूपादि की अवस्थिति हुई है। यहाँ विरोध अलङ्कार है, नही कहा जा सकता है। कारण—यहाँ पूर्ववत् एकाधिकरण का अभाव है।।२६३॥

द्वितीय निदर्शन—श्रीराधा, अग्र मे पार्श्व मे श्रवण, नयन वाक्य एव मन मे सर्वत्र ही विराजित है, अथच कन्दर्प किस पथ से मदीय हृदय मे प्रविष्ट होकर प्रहार कर रहा है। राधा जानकर भी प्रतीकार नहीं करती है।

यहाँ एक वस्तु की युगपत् अनेक स्थलो मे अवस्थिति है। यहाँ वक्रोक्ति भी है। जानना होगा।२६४।

तृतीय का उदाहरण—अयि राधे! तुम आनन्द, निधि,-अमृत, ह्री श्री विद्या धृति, एव पुष्टि स्वरूपा हो, अतएव अनुकूल विधाताने तुमको मुझे देकर क्या नहीं दिया है?

इस मे 'किसी विचित्र वस्तु के करण के द्वारा' इस स्थल मे करण पद का जो उल्लेख है उसका अर्थ क्रियामात्र है, केवल निर्म्माण उसका अर्थ नहीं है। अतएव प्रतिकूल विधाता ने तुम को हरण करके मेरा क्या नही हरण किया है? अति निपुण विधाता ने तुम को सृष्टि करके भूतल मे क्या नहीं सृष्टि की

विधेषु स्थलेषु वक्त्रोक्ति रेवान्तर्भूता। तथापि किञ्चिद् वैलक्षण्यमाश्रित्य भेद क्रियते। वस्तुतस्तु सर्वेष्वेवालङ्कारेषु वक्त्रोक्तिरेव वैचित्र्य कारिणी। यथोक्तम् 'वक्त्रोक्ति काव्य-जीवितम्" इति ॥२६५॥

अन्यैश्चोक्तम्—"वक्त्रोक्तिरेव काव्याना सर्वालङ्कार मार्जिका।
तस्मादेषा प्रयत्नेन सम्पाद्या कविपुङ्गवै ॥"२६६॥

स्वगुणं त्यक्त्वा प्रगुणस्य समीपगम्।
तस्यैव गुणमादत्ते यद्वस्तु स्यात् स तद्गुणः ॥२६७॥

बिम्बाधरौष्ठमहसा समुदित्वरेण, वर्णान्तरे लसति दाडिमवीजबुद्धया।
नासावलम्बि गजमौक्तिकमुल्लिलेख, खेलाशुक करमुपेत्य स राधिकायाः ॥२६८॥

न गृह्यते यदि गुणस्तस्य स स्यादतद् गुणः ॥२६६॥

करणेनेति ? तत्राह—सवत्रेति। तथापि किञ्चिद् वलक्षण्य स्वीकृत्य विशेषालङ्कार कृत। अधुना वक्त्रोक्त्यलङ्कार सर्वेष्वेवालङ्कारेषु वत्तत, अतोऽत्र न दोष इत्याह वस्तुतस्त्विति ॥२६५॥

कविपुङ्गवै —कविश्रेष्ठ ॥२६६॥

प्रकृष्ट गुणस्य पदार्थस्य समीपग वस्तु तस्यव प्रकृष्ट गुण पदार्थस्यव गुण मादत्ते ॥२६७॥

समुदित्वरेण सम्यगदय शीलेन बिम्बाधरौष्ठयोमहसा कान्त्या राधिकाया नासावलम्बि गजमौक्तिके वर्णान्तरे लसति सति खेलाशुको गृह पालिता शुको मौक्तिक मुल्लिलेख, स्वचञ्च्वा उल्लिखित चकारेत्यथ ॥२६८-२६६॥

है ? इत्यादि उदाहरण उक्त सूत्र के अनुसार सिद्ध होगा। यहाँ वक्रोक्ति अन्तभूत है।

तथापि किञ्चित् वलक्षण्य स्वीकार करके विशेषालङ्कारादि का भेद स्वीकृत हुआ है। वस्तुत समस्त अलङ्कार मे ही वक्रोक्ति वचित्र्य विधयिनी है।

पण्डित वृन्द के मत मे वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन स्वरूप है ॥२६५॥

अपर व्यक्ति के मत मे वक्रोक्ति ही सर्वालङ्कार मार्जिका है। अतएव सुकविकुल--प्रयत्न पूवक उसका समावेश सम्पादन करें ॥२६६॥

गुणातिशय शाली वस्तु क समीपवर्त्ती होकर किसी वस्तु उक्त वस्तु का गुण ग्रहण करती है तो तद् गुण अलङ्कार होता है ॥२६७॥

उदाहरण—नासाग्र विलम्बी गज मौक्तिक, पक्व बिम्बवत् अधरौष्ठ से उद्गत सरक्त प्रभाच्छटा से रक्तिमा प्राप्त होने पर क्रीड़ शुक मे उसके प्रति परिणत दाडिम बीज बुद्धि उदित होने से वह सत्वर श्रीराधा के कर मे उपस्थित होकर चञ्चपुट के द्वारा उस को स्पर्श करने लगा ॥२६८॥

उत्कृष्ट गुण शालि वस्तु क सन्निहित होकर भी यदि किसी वस्तु उसका गुण ग्रहण नहीं करती है

यथा—सदानुरक्ते मनसीह वत्से तथापि च त्वं न दधासि रक्तताम् ।
सदानुषक्तं त्वयि नाथ कृष्ण हे, मनोऽपि नैव बिभर्त्ति कृष्णताम ॥३००॥

यथा वा—क्षीरोदधि-जठर भव, सहजन्मा कालकूटस्य ।
तदपि च न सितो न शिति, कौस्तुभ एकोस्वभावतोरक्त ॥३०१॥

यद्वस्तु साधित येन करणेन तदन्यथा ।
तेनैव यदि तस्य स्यात्तदा व्याघात इष्यते ॥३०२॥

यथा—सन्तापयामास य एव चित्त, स एव भूय शिशिरीचकार ।
न कालकूटो न सुधातरङ्ग, स कीदृश केशिकृष कटाक्ष ॥३०३॥

भक्तानामनुरक्ते मनसि सदा त्व वत्से, तथापि रक्तता न दधासि, कि तु श्यामत्वमेव । तथा त्वयि सदासक्त मम मनस्त्वदीय कृष्णतां न बिभर्त्ति, किन्तु रक्तत्वमेव ॥३००॥

क्षीर समुद्र जठर भव कौस्तुभा न सितो न श्वेतवर्ण तथा कालकूटस्य सह जन्मापि न शिति—न श्याम, कि तु स्वभावतोरक्त एव । ३०१॥

येनैव करणेन यद् वस्तु साधित भवति, तेनैव करणेन तस्यान्यथाभाव स्याद् यदि, तदा व्याघात-नामालङ्कार ॥३०२॥

कालकूटो वस्तु सामान्य सन्तापयति न शीतलीकरोति, तथा सुधातरङ्गोऽपि शीतली करोति न सतापयति । किन्तु य एव चित्त सन्तापयामास, स एव भूय शीतलाचकार । एवम्भूत स कीदृश पदार्थ इ त प्रश्ने केशिकृष केशिहन्तु श्रीकृष्णस्य कटाक्ष इत्युत्तरम् ॥३०३ ।

तो उसको अतद् गुण अलङ्कार कहते हैं ॥२९९॥

उदाहरण—हे नाथ श्रीकृष्ण ! तुम सतत इस अनुरक्तचित्त में रहते हो, तथापि तो रक्तभाव को धारण नहीं करते हो, एव चित्त भी सतत तुम्हारे मे आसक्त है, तथापि वह तो कुछ भी कृष्ण भावको प्राप्त नहीं किया ॥३००॥

निदर्शन—कौस्तुभमणि धवलोज्ज्वल क्षीरोद समुद्र के जठर से उत्पन्न हुआ है, एव विकट कालकूट के सहित सहोदर भाव से सदा सम्पर्कान्वित है, तथापि वह धवल वा श्यामल कुछ नहीं हुआ है, वह स्वभावत जिस प्रकार सुरक्त है, उसी प्रकार सुरक्त ही है ॥३०१॥

जिस के द्वारा जो वस्तु साधित होती है, उसके ही द्वारा यदि उस वस्तु का अन्यथा भाव साधित होता है तो उसको व्याघात अलङ्कार कहते हैं ॥३०२॥

उदाहरण—जिसने चित्त को सतापित किया था, उसीने पुनर्वार उसी को इस प्रकार सुशीतल किया । हे सखि ! केशव के कटाक्ष जो किस प्रकार गुण सम्पन्न है, वह समझने मे नहीं आता, वह कालकूट भी नहीं है, सुधा तरङ्ग भी नहीं है ॥३०३॥

उपमादय एतेऽमी व्याघातान्ताः क्रमेण हि।
द्विषष्टि सख्या एवैतेऽलङ्कारा बहवः पुनः ॥३०४॥
ससृष्ट्या सङ्करेणापि भूय. स सृष्टिरप्यसौ ।
क्रिया शब्दार्थोभयभू' सा क्रमेण प्रदर्श्यते ।

शब्द शब्दालङ्कार ,अर्थोऽर्थालङ्कार , उभय शब्दार्थालङ्कार । एते त्रय क्रिया प्रधाना इत्यथ । एतेषामन्योन्य निरपेक्षत्वेन विशकलिततया अवस्थान ससृष्टि ।

तत्र शब्दालड्कार ससृष्टियथा—(सप्तम किरणे ३६) (सुरतरु) इत्यादौ यमकानुप्रासयो ससृष्टि ॥३०५॥

अर्थालड्कार ससृष्टि यथा—

आलुम्पतीव परीतो मनस प्रसादमालुञ्चतीव पदवी नयनद्वयस्य ।
उद्वेलकज्जल महादधि वद गभीरो, मोहान्धकार इव मोह इवान्धकार ।

अत्रोत्प्रेक्षा समासगाऽन्योन्योपमाभि ससृष्टि ॥३०६॥

एते द्विषष्टि सख्या अलड कारा पुन ससृष्ट्या सड्करेण च करणेन बहवो भवन्ति । असौ ससृष्टिरपि शब्दालड कारभूरर्थालड कारभू शब्दार्थोभयालड कारभूस्त्रिरूपा ससृष्टि क्रिया प्रधानेत्यथ । सा ससृष्टि क्रमेण प्रदश्यत । ससृष्टे लक्षणमाह- एतेषामिति । नताना भक्ताना सुरतरु कल्प वृक्ष गोपरमणीना सुरते रुचियस्य तथाभूत । अत्र सुरत शब्दस्य सापेक्षत्वेनकदेशान्वयेऽपि न क्षति ॥३०४-३०५॥

उद्वेल उद्गत तीरमर्य्याद कज्जल महोदधि , श्याम समुद्रस्तद्वद् गभीर मोहान्धकारश्च, तथा च मोहोऽधकार इव, एवमन्धकारो मोह, इव, परस्परोपमालङ्कार , मोहोविषयेऽत्यासक्ति रन्धकारश्च, मनस प्रसाद लुम्पतीव । मोहे सति मनस प्रसाद लोपो भवति, तथा धकारेऽपि चौर सप वृश्चिकाद्यागमन शङ्कया मनस प्रसन्नता न निवृति ।

उपमादि व्याघातान्त ये द्विषष्टि सख्यक अलड कार का वणन कमश हुआ । ससृष्टि एव सड्कर द्वारा उक्त अलड कार अनेक प्रकार हैं । शब्दालड कार भ, अर्थालड कार भू एव शब्दार्थोभयालड कार भू होकर ससृष्टि विविध प्रकार होती हैं उक्त ससृष्टि-क्रिया प्रधान है, अलड कार समूह परस्पर निरपेक्ष रूपसे सम्मिलित होने के कारण उस की सज्ञा ससृष्टि होती है । शब्दालड कार ससृष्टि का उदाहरण सप्तम किरण के ३६ श्लोक मे है । "प्रणत जनके पक्ष मे सुरतरु स्वरूप, गोपतरुणी के सुरत रुचिशाली, त्रिभुवन जनक कमनीय आभीर राज युवराज की जय हो ।

यहा यमक एव अनुप्रास की ससृष्टि हुई है ॥३०४ ३०५॥

अर्थालङ्कार ससृष्टि का निदशन उद्वेल कज्जल महासमुद्र के समान सुगभीर मोह रूप अन्धकार एव तादृश अ धकार के समान सुगभीर मोह सब प्रकारसे मन प्रसाद का अपहरण कर रहा है । एव नयन

शब्दार्था लङ्कारयो संसृष्टि र्यथा—

(पञ्चम किरणे २२) 'मेघे माधवनेमणावपि' इति । अत्रानुप्रासविरोधौ ॥३०७॥

सङ्करस्त्वङ्गाङ्गि भावः,

एषामलङ्कारानामङ्गाङ्गिभाव सङ्कर ॥३०७॥

स चानुग्राह्यानुग्राहक भावेन । यथा—

कपोलयो कुण्डल पद्मराग -मयूखविम्ब व्रजराजसूनो ॥
स्वचुम्बलग्नाधररागबुद्धया, स्ववाससा लुम्पति कापि मुग्धा ॥

अत्र तद् गुणोऽङ्गी, भ्रान्तिमानङ्गम्, उभयो रनुग्राहकानुग्राह्य भावेन सङ्कर ॥३०८॥

एव नेत्र द्वयस्य पदवी मालुम्पतीव । अ धकारे नेत्रद्वयस्य पदवी लोपाज्जनोऽ धा भवति, तथा मोहे सति विषयेण जनोऽ ध सन् पुर सताऽपि साधून् न पश्यति, दण्डपाणि यममपि न पश्यतीति भाव ३०६॥

मेघे इत्यादि पूर्वोक्त सम्पूर्ण श्लोक स्याध श्लोकोऽयमिति ज्ञेयम् । मघवा इ द्रस्तत् सर्बा द्र मणौ इ द्र नीलमणौ घृणाजनक श्रीकृष्ण नीलिमा । अनुप्रास शब्दालङ्कार ॥३०७॥

स च सङ्करोऽनुग्राह्यानुग्राहक भावेन भवति कपोलेति । कुण्डलस्य पद्मरागस्य रश्मिमान कपोलौ गृह्णात्यतस्तद् गुण नामालङ्कार । तादृशरश्मिन मुग्धाया स्वीयाधररागस्य भ्रान्त्या भ्रान्तिमानलङ्कार ॥३०८॥

युगल की पदवी को विलुप्त कर रहा है ।

यहा समासगा उत्प्रेक्षा एव अ योन्योपमा की ससृष्टि हुई है ॥३०६॥

शब्दालङ्कार एव अर्थालङ्कार ससृष्टि का दृष्टा त—हे सखि ! यह कसा विचित्र है ? अन्धकार एव तेज —ये दो परस्पर विरुद्ध पदाथ यह श्रीकृष्ण रूप एकमात्र अधिकरण मे एक समय मे अवस्थान कर रहे हैं, देखो, इनकी अद्भुत नीलिमा असख्य सुधाकर एव प्रभाकर की प्रभा को अपहरण पूवक एव मेघमण्डल एव महे द्र नीलमणि मे भी घृणा उत्पादन पूवक लोक लोचन के अपूव प्रीति विस्तारकारी आलोक रूप मे विराजित है । यहाँ उत्प्रेक्षा समासगा- अन्योन्य उपमा के द्वारा ससृष्टि हुई है ।

मेघे माधवने मणावपि घृणानिर्वाहिको नीलिमा ।
सामानाधिकरण्यमत्र किमहो चित्र तमस्तेजसो ॥

यहा अनुप्रास एव विरोधालङ्कार का समावेश हुआ है ॥३०७॥

ये सब अलङ्कार के अङ्गाङ्गि भाव को सङ्कर कहते हैं ॥३०७॥

वह सङ्कर अनुग्राह्यानुग्राहक भावस्थल मे ही होता है । निदर्शन—व्रजराज कुमार के कपोल युगल मे कुण्डलस्थित पद्मराग मणि की किरणच्छटा प्रतिफलित होने से किसी मुग्धा कामिनी निज चुम्बन लग्न अधर राग मानकर वसन के द्वारा अपनीत करने का प्रयत्न कर रही थी ।

यहाँ तद्गुण अङ्गी एव भ्रान्तिमान् अङ्ग है एतदुभय के अनुग्राह्य अनुग्राहक भावसे सङ्कर हुआ है ॥३०८॥

यथा वा—निरस्य करलीलयातिमिरनील चेलाञ्चली,
रथाङ्ग मिथुनस्तनावपि निपीडय जातस्मित ।
ह्रियेव निमिषत् कुशेशय दृश स रागा प्रिय ।
प्रियामिव सुधाकरो हरि हरिद्वधू चुम्बति ।।

अत्र रूपकमुत्प्रेक्षा, श्लेष, उपमा, समुच्चयश्चेति परस्परमङ्गाङ्गि तयव पञ्चालङ्कारा । तथाहि तिमिरस्य नीलचेलत्वारोपाद्रूपकम्, ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा, करलीलयेति श्लेष , प्रियप्रियामिवेत्युपमा, निरस्य निपीडेचति समुच्चय । एषु यो मुख्य , सोऽङ्गी अन्ये अङ्गानि ।

एव शब्दालङ्कार पक्षेऽपि यथा (सप्तम किरणे ६६) 'ससार साससारसा ' इत्यादौ यमकानुप्रासद्व्यक्षरमुरजबन्धगोमुत्रिकाबन्ध- बन्ध कवाट- शृङ्खलादय ।।३०६।।

बहूनां वा द्वयोश्च वा ।
सहावस्थानबाधेन भवेन्नो वेत्यनिश्चये ।
सङ्करोऽनिश्चयाख्यः स्याद् यथास्थान प्रदर्श्यते ।।

द्वयो बहूना वा अलङ्काराणा सहावस्थानबाधेनाय भवेन्न वा भवेदित्यनिश्चयेऽनिश्चयाख्यो द्वितीय सङ्कर ।।३१०।।

सुधाकरश्चन्द्र , हरेरि द्रस्य, हरित् पूर्वदिक, सा एव वधूस्त्वा चुम्बति । अन्यो नायको मस्तकस्य पट दूरीकृत्य चुम्बति, चन्द्रोऽपि सन्धाकालीनान्धकाररूप नील चेलाञ्चली, किरण एव करस्तस्य लीलय निरस्य दूरीकृत्य चुम्बति । पूर्वदिक स्थित चक्रवाक मिथुन रूपस्तनावपि कर स्पर्शेन निपीडय जातस्मित ज्योत्स्नैव च द्रस्य स्मितम् । अ या नायिका चुम्बन समये मुद्रित नेत्रा भवति इयमपि चन्द्रदर्शना मुद्रित कुशेशय कमलमेव, लज्जया मुद्रितादक यस्यास्तथाभूता ।।३०६- ३१०।।

उदाहरणा तर—करलीला से तिमिर रूप सुनील वसनाञ्चल निरास एव चक्रवाक मिथुनरूप पयोधर युगल को निपीडन पूवक सुधाकर, प्रियतम -जिस प्रकार प्रियतमा को चुम्बन करता है, उसी प्रकार लज्जा हेतु जैसे निमीलित नयन कमला स रागा प्राचीनवधू को परिचुम्बन करता है ।

यहाँ रूपक, उत्प्रेक्षा श्लेष, उपमा एव समुच्चय अलङ्कारो का परस्पर अङ्गाङ्गि भाव से सङ्कर हुआ है ।

तिमिर का आरोप नील वसन रूप मे होने के कारण—रूपक, "लज्जा हेतु जसे" यहाँ उत्प्रेक्षा प्रियतम जिस प्रकार प्रियतमा को यहाँ उपमा, "निराश एव निपीडन पूवक" यहा समुच्चय है । इन सब के मध्य मे जो मुख्य है वही अङ्गी है, अ यान्य अङ्ग हैं ।

शब्दालङ्कारस्थल मे भी, उसी प्रकार है । जसे "स सार सा ससारसा" इत्यादि मूलस्थ श्लोक मे यमक, अनुप्रास, द्वयक्षर, मुरज बन्ध, गोमुत्रिकाब ध, बन्धकवाट, मुक्तकवाट एव शृङ्खलादि का

यथा—यथानन्दस्यन्दी दृशि दृशि यथाय बहुकलो,
यथा नक्षत्राणां पतिरपि यथा तापहरणः ।
यथायं भानोरप्युपरि परिसर्त्ता कथमथो,
तथा नायं धात्रा विधुरनिशपूर्णो विरचितः ।

अत्र विशेष्यस्य प्रस्तुतस्य चन्द्रस्य श्लिष्टैरेव विशेषणै रप्रस्तुतस्य कस्यचिद् धर्मस्य प्रतीति रूपा किं समासोक्तिः, किं वा तस्यैव चन्द्रस्याप्रस्तुतस्य शंसनमुखेन कस्यचित् साधो स्तथाविधस्य कस्यचित् क्षीणतादि धर्मस्य प्रस्ततत्वप्रत्यायिन्यप्रस्तुतप्रशंसेति—निश्चया-भावादनिश्चयसङ्कर । यत्रानुकूलता प्रतिकूलता वा स्फुटतया स्फुरति, तत्र निश्चयान्न ॥३११॥

अनुकूलता साधकत्वम्, प्रतिकूलता बाधकत्व यथा इद ते रदन द्योतरेतरुपचित स्मितम् । ज्योत्स्नेऽमुखचन्द्रस्य काममामोदक दृशो ॥

आनन्दस्य दीति । अयं चन्द्र सर्वेषां दृशि दृशि आनन्दस्यन्दी, तथा बहु कलायुक्त । एवं भानो सूर्यस्याप्युपरि परिभ्रमण कर्त्ता, सूर्यमण्डलस्योपरि चन्द्रमण्डलमिति पञ्चमस्कन्धोक्ते । एवम्भूतोऽपि चन्द्रो विधात्रा सदा परिपूर्णो न कृत ।

श्लिष्टैरेत विशेषणैश्च द्रनिष्ठस्याप्रस्ततस्य तस्य कस्यचिद् धर्म विशेषस्य प्रतीत्या किं समासोक्ति नामालङ्कार, किं वा तयव चन्द्र निष्ठ तादृशधर्म प्रतीत्यव तथा विधस्य चन्द्रनिष्ठ तादृश धर्म विशिष्टस्य साधोर्देह निष्ठ क्षीणत्वादि धर्मस्य प्रस्तुतस्य प्रतीत्या अप्रस्तुत प्रशंसेति निश्चया भावादनिश्चय सङ्करो इय ।

यत्रेति—यत्र साधकता किंवा प्रतिकूलता स्फुटतया स्फुरति, तत्र एकतरालङ्कारस्य निश्चयान्न अनिश्चय सङ्कर ॥३११॥

एतरेव रदनद्यो त द तकिरण रुपचित शोभातिशय प्राप्त स्मित दृशो रामोद जनकम । मुख चन्द्रस्य

सङ्कर हुआ है ॥३०९-३१०॥

दो अथवा अनेक अलङ्कारो का एकत्र अवस्थान मे बाधा हेतु यह अलङ्कार होगा, अथवा नहीं होगा, इस प्रकार अनिश्चय स्थल मे अनिश्चय नामक द्वितीय सङ्कर होता है ॥३१०॥

उदाहरण—जसे यह प्रतिनयनो से प्रीति धारा वर्षण कारी एव सन्ताप हारी, बहु कलाशाली एव अति बहु सख्यक नक्षत्र पति, जसे भानुबिम्ब के ऊपर यह परि भ्रमण करता रहता है, विधाता ने तैसे इस सुचारु चन्द्रमण्डल को निरन्तर परिपूर्ण मण्डल करके सजन नहीं किया ।

इस श्लोक मे विशेष्य एवं प्रस्तुत जो चन्द्र मण्डल है, उसके श्लिष्ट विशेषण समूह के द्वारा किसी अप्रस्तुत धर्म की प्रतीति रूपा समासोक्ति हुई है ।

अथवा चन्द्र मण्डल गत तादृश धर्म्म प्रतीति हेतु अप्रस्तुत चन्द्र की प्रशंसा द्वारा तादश धर्म विशिष्ट किसी साधु के देहादि निष्ठ क्षीणतादि धर्म का कथन से अप्रस्तुत प्रशंसा हुई है ।

इसका निश्चय न होने के कारण अनिश्चय सङ्कर हुआ है ॥३११॥

अत्र प्रधानतया स्मित मुख एवानुकूलम्, नतु चन्द्रे, तेनोपमाया साधकम्, न रूपकस्य अतो मुखचन्द्रस्येति रूपक न भवति तेन न सन्देह, तदभावात् सङ्करोऽपि न ॥३१२॥

अहो वत महत्यस्य धृष्टताऽभीरुतापि च ।
मुख चन्द्रे सत्यय ते यदन्यश्चन्द्र उद् गत ॥

अत्रान्यत्व चन्द्रस्यानुकूलम्, नतु मुखस्य, तस्य तु प्रतिकूलमेव । तेन रूपकस्य साधकम्, नतु उपमाया, तस्यास्तु बाधकम् ।

"शास्त्रज्ञ भास्कर सज्ञा त्वामालिङ्गति सवदा' इत्यत्रालिङ्गनमुपमा बाधकम् । न हि सती स्त्री पतिसदृशेऽनुरज्यति । अतो रूपकस्यव साधकम् । ३१३॥

ज्योत्स्ना इव ।

यत्रोपमानोपमेययोर्द्वयोरतिशयाभेदाद भेद ज्ञान न भवति, तत्र रूपकालङ्कार । तत्र तु प्रधान तया निर्दिष्ट स्मित रूप धर्मोऽनुकूलतया मुख एव वत्तते, नतु च द्रे । अत स्मित रूप धर्मेण मुख च द्रयो र्भेद ज्ञानान्न रूपकम्, किन्त्वेकांशेन यथाकथञ्चित् सादृश्यादुपमालङ्कार एव ॥३१२॥

अस्य च द्रस्याभीरुतापि च तव मुखरूपे चन्द्रे सत्यत्र मुखच द्रयोर्भेदास्फूर्त्या रूपकालङ्कार एव । अ योमुख भिन्न श्चन्द्र उद्गत इत्यत्र मुखच द्रयोरत्य ताभेदान्न सादृश्यम्, अतो नोपमालङ्कार । सज्ञा— सम्यग ज्ञानरूपा स्त्री, शास्त्रज्ञ रूप भास्कर सूय्य त्वामालिङ्गति । अत शास्त्रज्ञ सूय्ययो रूपकमेव न तूपमा। शास्त्रज्ञ रूप पति सदृशे सती स्त्रीणामालिङ्गनमनुचित मिति सादृश्याभावान्नोपमालङ्कार ॥३१३॥

जहा पर अनुकूलता वा प्रतिकुलता अर्थात् साधक वा बाधक धम परिस्फुट रूप से स्फुरित होता है, वहाँ उक्त अलङ्कार नहीं होता है ।

उदाहरण—तुम्हारी दन्तकान्ति से उप चत यह मृदुहसित मचच द्र ज्योत्स्ना के समान नयनो को प्रचुर आन द दायक हुआ है ।

यहाँ प्रधान रूप मे निर्दिष्ट हास्य मुख का ही अनुकूल है च द्र का अनुकूल नहीं है, अतएव उपमा का ही साधक हुआ है । रूपक का साधक नही हुआ है । इस रीति से मुखच द्र स्थल मे रूपक न होने से स देह नहीं हुआ है एव सङ्कर भी नही हुआ है ॥३१२॥

तुम्हारे मुखचन्द्र विद्यमान हाने पर अपर एक च द्र उदित हुआ है, यह इसकी धष्टता एव निर्भीकता प्रशसनीय है ।

यहा अन्य च द्र का अनुकल है, मख का अनुकूल नही है वस्तुत उसका प्रतिकूल है । अतएव वह यहा रूपक का ही साधक है, एव उपमा का बाधक हुआ है । 'तुम शास्त्रज्ञ भास्कर हो, सज्ञा तुमको सवदा आलिङ्गन करके है ॥"

सज्ञा शब्द से सम्यक ज्ञान एव सूय्य प्रिया का बोध होता है । शास्त्रज्ञ भास्कर यहा आलिङ्गन पदाथ उपमा का बाधक है । कारण, सती स्त्री पति तुल्य पुरुष मे अनुरक्त नही होती है । अत वह रूपक का ही साधक हुआ है ॥३१३॥

कृशोदरि मुखेन्दुस्ते स्फुरत् कनककुण्डल ।

दृशोरकृशमानन्दमुल्लासयति मे भृशम् ।

अत्र स्फरत् कनककुण्डलत्वमि दौ प्रतिकूलम्, असम्भवात् । इति रूपकस्य बाधकम्, उपमायास्तु साधकमिति न सङ्कर । एवमन्यद प्यूह्यम् ।।३१४।।

एकत्र विषये व्यक्तमुभयालङ्कृति र्यदि ।

तदापरः सङ्करः स्यादिति त्रिविध एव सः ।।

एकत्र विषये एकस्मि नेव पदे व्यक्त स्फुट यथा भवति ।।३१५।।

यथा—शैवाललक्षण विलक्षण लक्ष्म लक्ष्मीरुद्दण्डरश्मिविसमण्डलमण्डचमान ।

मग्नश्चिर हरि हरित् सरसीरसेभ्य, प्रत्युन्ममज्जशशनकैरमृताशु हस ।

अत्र रूपकानुप्रासावेकपदविषयौ, नतु ससृष्टिवत् पृथग्विषयौ । इति त्रिविध सङ्कर । तेन शब्दालङ्कारोऽर्थालङ्कार उभयालङ्कारश्च ससृष्टि सडकरत्वेन बहुविधा भवन्ति ।।३१६।।

अकृशमानन्द—महान दम्" ।।३१४।।

सन्ध्या काले पूर्वदिश सकाशादुद्गच्छन्त चन्द्र वर्णयति -शैवालेति हरि हरित् -पूर्वदिक सैव सरसी तस्या रसेभ्यो जलेभ्य श्चन्द्ररूपो हस उ ममज्ज । आदौ चिर काल व्याप्य सरोवर जले निमग्न, पश्चात्तस्मादुद्गत इत्यर्थ ।

अन्यो हस शैवाल मृणालाभ्यां शोभित सन् सरोवरादुद्गच्छति, अयन्तु शवाल मृणालाभ्या शोभित सन् सरोवरादुगच्छति, अय तु शवाल लक्षण शवाल स्वरूप विलक्षण लक्ष्म चन्द्रनिष्ठ कलङ्क रूप चिह्न तस्य लक्ष्मी शोभा यस्य तथाभूत । एवमुद्दण्ड रश्मय एव बिसमण्डल मृणाल समूहस्तेन मण्डयमानश्चन्द्र ।।३१६।।

हे कृशोदरि ! कनक कुण्डलसे कमनीय तुम्हारे मुखचन्द्र मदीय नयन युगल को आनन्दित करता है।

इस श्लोक मे कनक कुण्डल से कमनीयत्व असम्भविता हेतु चन्द्र मे प्रतिकूल होने के कारण रूपक का बाधक एव उपमा का साधक हुआ है। अतएव सङ्कर नहीं हुआ है। इस रीति से अन्यान्य उदाहरण भी प्रस्तुत करना चाहिये ।।३१४।।

अपर इति पूर्वोक्त सङ्कराद् भिन्न सङ्कर इति । स सङ्कर स्त्रिविध ।।३१५।।

एक ही पद मे यदि दो अलङ्कार परिस्फुट भावसे रहते हैं, तो वह भी एक प्रकार सङ्कर होता है। वह सङ्कर तीन प्रकार होते हैं ।।३१५।।

उदाहरण— अमृतांश हस बहुक्षण निमग्न रहकर सम्प्रति शैवाल कलङ्क कलित कलेवर एव उद्दण्ड मरीचि मृणाल मनोहर होकर प्राची सरसी सलिल से शन शनै उ मज्जन कर रहा है।

इस श्लोक मे एक पद मे ही रूपक एव अनुप्रास हुआ है, ससृष्टि के समान पृथक् पृथक् पद मे नहीं

शब्दालङ्कृतय शुद्धास्त्रिचत्वारिंशदीरिता (४३)।
ता परस्पर ससृष्टया तावता गुणनेन हि ॥३१७॥
षड् विन्दु वसु चन्द्रा (१८०६) स्यु श्चित्र चेत्तत्र गण्यते।
तदा तस्य बहुत्वेऽपि स्यादेकत्व तेन तद्युतौ ॥५१८॥
मुनिविन्द्विभचन्द्रा (१८०७) स्यु सङ्करेण त्रिधा पुन ।
चन्द्रपक्षाब्धिवाणा (५४२१) स्यु शब्दालङ्कार सग्रहे ॥३१६॥
अर्थालङ्कृतय शुद्धा द्विषष्टि स्तत् प्रभेदत ।
अश्वनाग शशाङ्का (१८७) स्यु स्तावता गुणनेन ते ॥३२०॥
इतरेतरससृष्टया ग्रहत्तु ग्रहसिन्धुभि ।
युतोऽग्नि (३४६६६) रेते च पुन सङ्करेण त्रिरूपिणा।
अश्वविन्दु ग्रहाम्भोधिविन्दुचन्द्रा (१०४६०७) प्रकीर्त्तिता ॥३२१॥
शब्दालङ्कार ससृष्टया वाजिसिन्धु मतङ्गज ।
विन्दु वाजीभषड वाणा (५६८७०८४७) उभयालङ्कृतिग्रहा ॥३२२॥

रसवत् प्रेयऊर्जस्वि समाहित समाख्यया।
रसालङ्कृतयोऽप्यन्याश्चतस्रो रसपोषिका ॥

चित्र चित्रमिति। अत्र शब्दालङ्कारे चित्र चित्र काव्य चेद् गण्यते, तदा चित्रस्य बहुत्वेऽपि चित्रत्व रूपेण ऐकध्यमेव विवक्षितम्। अत एकाङ्कस्यव वृद्धिरित्याह—मुनीति ॥३१७-३२२॥

रस वदिति—ते चतस्रो रसालङ्कारा पूर्वोक्त द्विषष्ट्यलङ्काराद् भिन्ना ज्ञेया। अयो रसवत्

हुआ है। इस रीति से त्रिविध सङ्कर का उदाहरण प्रस्तुत हुआ।

शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार एव उभयालङ्कार की ससृष्टि एव सङ्कर के योग से विविध अलङ्कार होते हैं ॥३१६॥

उदाहरण—शुद्ध शब्दालङ्कार ४३ है उसकी पारस्परिक ससृष्टि के द्वारा उक्त सख्यक गुणन से १८०६ होते है। चित्र काव्य को यदि शब्दालङ्कार के मध्य मे गण्य किया जाय तो बहुत्व स्थल मे एकरूप मान लेने पर भी १८०७ होगे। त्रिविध सङ्कर के द्वारा उसके त्रिगुणन से ५४२१ सख्यक शब्दालङ्कार का सग्रह होता है।

शुद्ध अर्थालङ्कार ६२ हैं। कि तु उक्त सख्यक प्रभेद से १८०७ सख्यक होते हैं। परस्पर ससृष्टि के द्वारा उसका तावत् सख्यक गुणन से ३४६६६ होते है, पुन त्रिविध सङ्कर से १०४६०७ होते हैं। शब्दालङ्कार ससृष्टि के सहित मिलित होकर समुदाय मे ५६८७०८४७ सख्यक होते हैं ॥३१७ ३२२॥

जहा शब्दालङ्कार एव अर्थालङ्कार का विषय परिस्फुट रूप से नहीं हो पाता है केवल रस सामग्री

यत्र रसे स्फुटतया शब्दालङ्कारोऽर्थालङ्कारो वा निर्णेतु न शक्यते, केवल रस सामग्री स्फुरति, तत्र रसालङ्कारा एव बोद्धव्या । ते च यथायोग्यमेव सम्भवन्ति । शृङ्गारे प्रेय-ऊर्जस्वी, वीर–बीभत्स–रौद्रेषु अन्यावन्येषु एतेऽपि सति सम्भवे शब्दार्थालङ्काराभ्या ससृष्टौ भवन्तीत्यपि ज्ञेयम् ॥३२३॥

अथैषां कथ्यते दोषः,

एषां शब्दार्थालङ्काराणाम्–३२४॥

वैफल्य वृत्त्ययोग्यता ।
प्रसिद्धेश्च विरुद्धत्वमनुप्रासे मलत्रयम् ॥

मलोदोष ॥३२५॥

क्रमेणोदाहरणानि—

द्वन्द्व द्वन्द्व वादयद् दुन्दुभीना नन्दद् वृन्द व्योम्निवृन्दारकाणाम् ।
हर्षोत्कर्षान्नाकमाकन्दवर्षै, सान्द्रानन्द नन्दसूनु ववन्दे ॥

अत्र माकन्द-शब्दो निष्फल । अत्रैव 'हर्षोत् कर्षादिन्दुकुन्द द्युतीनाम्' इति पाठे सर्वेषां देवाना शुक्लत्वमप्रसिद्धम् । तेन 'शीधुस्यन्दानन्दमन्दारवर्षै' इति न्याय्य पाठ ॥३२६॥

समाहितौ अन्येष्वलङ्कारेषु ज्ञेयौ । एतेसामलङ्काराणामुदाहरणे सम्भवे सति एते रसालङ्कारा शब्दार्थालङ्काराभ्या सह ससृष्टौ सत्या बहवो भवन्ति । वफल्यमपुष्टार्थत्वम्, वृत्त्ययोग्यता प्रतिकूल—वर्णन्यास । प्रसिद्धि विरुद्धत्व स्पष्टम् ॥३२३ ३२५॥

असुर बधानन्तर देवाना श्रीकृष्णे भक्तिमाह -द्वन्द्वमिति--वृन्दारकाणा देवाना नन्दद् वृन्द समृद्धिमान् समूह । देवाना तादशवृन्द कीदृशम् ? दुन्दुभीनां युगल युगल वादयत्, तथा च एवम्भूत देवाना वृन्द हर्षोत्कर्षात् नन्दसून ववन्दे नाकमानन्द वर्षै स्वर्गस्थाम्रफलाना वर्षै सहैत्य पुष्टार्थत्वेन व्यर्थोऽस्य प्रयोग । इन्दु कुन्द द्युतीनामिति प्रयोगाऽपि सर्वेषा देवाना शुभ्रत्वा प्रसिद्धया न सम्भवति, तस्मात् सीधु स्यन्दामन्दम दार वर्षैरिति पाठोन्याय्य । एव सति देवैर्यथा दुन्दुभि वादन कृतम्, एव वन्दन कृतम् तथा श्रीकृष्णोपरि पारिजात पुष्पवृष्टि रपिकृतेति भाव ॥३२६॥

की स्फूर्त्ति की अनुभूति होती है, वहाँ रसालङ्कार जानना होगा । यथा योग्यस्थान मे रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वी एव समाहित नामक रस पोषक चतुर्विध रसालङ्कार होते हैं, उसके मध्य मे शृङ्गार मे प्रेय, वीर बीभत्स रौद्र मे ऊर्जस्वी एव अन्यान्य रस मे अन्य भी होते हैं, शब्दालङ्कार एव अर्थालङ्कार के सहित ससृष्टि की सम्भावना होने से उसके अनेक भेद होते हैं ॥३२३--३२५॥

क्रमश उदाहरण—असुर नाश हेतु हर्षोत्कर्ष के कारण वृन्दारक वृन्द,— आकाश मार्ग मे युगल युगल दुन्दुभि वादन पूर्वक स्वर्गीय माकन्द वर्षण के सहित सान्द्रानन्द नन्दनन्दन की वन्दना करने लगे ।

वृत्ति विरोधो यथा—

प्रकाण्डभुज दण्डोऽय पुण्डरीकेक्षण क्षणी।
कुण्डलोद्भासि गण्ड श्री स्त्रीमण्डलममण्डयत् ।।

अत्र शृङ्गाररसे या वृत्तिस्तत्राऽयोग्यत्वम् ॥३२७॥

पादत्रयगतत्वेन यमन यमकस्यतु ।
अप्रयुक्ततया दोषः, ॥३२८॥

यथा—राधैव सौभाग्यविधौ समाना न कापि तस्या रमणी समाना ।
मयूख जालेन हि हीरकाणा, भवन्ति मुक्तारुचय समा न. ॥३२९॥

उपमायान्तु हीनता ।
आधिक्यञ्च भवेज्जाात प्रमाणाभ्यां तदापि सः ॥३३०॥

क्षणीति क्षणो-वसरस्तद्वान् तथा च स्त्री मण्डल सह विहारे पाप्तावसर इत्यर्थ । वृत्तिर्माधुर्य व्यञ्जक पद यास । अयोग्यत्वमिति ओजोगुणाहृ वण यासात् ॥३२७॥

पादत्रय गतत्वेन यमकस्य यमनमुपरमो व ष । अप्रयुक्ततयेति—केनापि तस्याप्रयुक्तत्वादित्यर्थ ।३२८।

समाना मानसहिता राधव सौभाग्य विधौ याग्या, सौभाग्याधिक्ये मानस्याप्य धिक्यम्, अतोऽस्या सौभाग्यमप्याधिक्यम्, मानोऽप्यधिक । तत एवा या रमणी अस्या समाना न । तत्र दृष्टान्त—हीरकाणा किरण जालेन सह मुक्ताना कान्तय समा न भवन्ति । अत्र निषेधार्थको ना शब्द ॥३२९॥

जाति प्रमाणाभ्या उपमाया हीनताया स दोष । एव जाति प्रमाणाभ्याना धिक्येऽपि स । तथा

यहाँ आम्रवाचक माकन्द शब्द निरर्थक हुआ है। इस श्लोक मे इन्दुकुन्द द्युति वृन्दारक वृ द इस प्रकार पाठ होने पर प्रसिद्धि विरुद्धता होती है। कारण समस्त देवो की शुक्ल वर्णता अप्रसिद्ध है। उक्त श्लोक मे "शोधुस्यन्दी अमन्द मन्दार वर्षण के सहित सा द्रान दन दन दन की वन्दना करने लगे" इस प्रकार पाठ से किसी प्रकार दोष नहीं होगा ॥३२६॥

वृत्ति विरोध का उदाहरण—प्रकाण्ड भुज दण्डशाली कुण्डलोद् भासित गण्ड, पुण्डरीकेक्षण-समुचित अवसर प्राप्त होकर स्त्री मण्डल को मण्डित करने लगे, यहाँ शृङ्गार रसोचित वृत्ति अर्थात् माधुर्य व्यञ्जक पद यास न होने के कारण वृत्त्ययोग्यता दोष हुआ है ॥३२७॥

यमक केवल पादत्रय गत होने से अप्रयुक्तानामक दोष होता है ॥३२८॥

उदाहरण—समाना वा मानवती, राधिका ही सौभाग्यांश प्रधाना अ या ललना तद्विषये उनकी समाना नहीं है। उदाहरण—मौक्तिक प्रभा कभी भी हीरक प्रभावली की समा नही हो सकती है ॥३२९॥

जाति, प्रमाण एव धर्म के द्वारा हीनता वा आधिक्य स्थल मे एव लिङ्ग, वचन, काल, पुरुष एव विध्यादि के भेदस्थल मे एव असाम्य एव असम्भाव्य स्थल मे उपमालङ्कार के अयोग्यशविध दोष होते हैं।

लिङ्गस्य वचनस्यापि कालस्य पुरुषस्य च।
विध्यादेरपि भेदे चासाम्यासम्भाव्ययोरपि ॥३३१॥

चकाराद्धर्म गतापि हीनताऽधिकता चेति त्रयोदशोपमा दोषा ॥

क्रमेणोदाहरणानि—

'देवोऽय पुष्पकोदण्डश्चण्डाल इव दारुण ।' अत्र जात्या हीनता। 'चण्डांशुरिव तापकृत्' इति युक्तम्।

'इन्दुरेष सुधाबिन्दुरिव सर्वरसायन ।'—अत्र प्रमाण हीनता। 'इन्दुरेष सुधासिन्धो स्तरङ्ग इव नन्दद' इति युक्तम्।

'चण्डाल माखिदस्त्वन्तु भूदेव इव पावन' अत्र जात्याधिकच्यम्।

'चण्डाल मा खिदस्त्वन्तु विष्णुभक्ततया शुचि' इति शुद्धम् ॥

स्तनौ ते हिमवद् विन्ध्यौ पावन मध्यमेतयो ।
सत्यमेतत् किन्तु भूरि तयो र्नैवाणु चानयो ॥

अत्र प्रमाणाधिकच्यम् ॥३३२॥

पातालमिव नाभिस्ते सत्य सुमुखि राधिके।
तस्या उत्थित कालाहि रेव ते लोममञ्जरी ॥

अत्रापि तथा ॥३३३॥

लिङ्गादीना भेदेऽपि स । एवमसाम्ये चासम्भाव्ये च दोष इत्यथ । पुष्पकोदण्ड कन्दप ॥३३०-३३१॥

तवस्तनौ हिमालयविन्ध्यपवताविव । एतयो पवतयोर्मध्यस्थान पावनमिति सत्यमेव, कि तु तयोमध्यम तर भूरि अनयो स्तनयोस्तु अण्वप्यन्तर नव। एतेन स्तनयो परमनविडत्वमायातमिति भाव। 'आर्य्यावत्त पुण्य भूमिमध्य विन्ध्यहिमागयो" इत्यमर ॥३३२॥

रोममञ्जरी रोमावली। तथा प्रमाणाधिक्यम् ॥३३३॥

मूल मे लिखित चकार के द्वारा धमगत हीनता एव अधिकता को भी जानना होगा ॥३३० ३३१॥

क्रमिक उदाहरण—यह देव कुसुमायुध चण्डाल के समान निदारुण है। यहाँ जातिगत हीनता हुई है। चण्डांशु के समान तापकारी है—इस प्रकार प्रयोग होना उचित है।

यह इन्दु मण्डल, सुधाबिन्दु के समान सब का रसायन है। यहाँ प्रमाण हीनता है। यह "इन्दुमण्डल सुधासिन्धु की तरङ्ग के समान रङ्ग दायक है" इस प्रकार प्रयोग होने से सुन्दर होता।

हे चण्डाल! तुम खिन्न न होना, तुम भी ब्राह्मण के समान पवित्रता कारक हो, यहाँ जाति गत आधिकच्यरूप दोष हुआ है।

हे चण्डाल! तुम खेद न करना, कारण, विष्णु भक्ति हेतु तुम भी पवित्र हो, इस प्रकार कथन होने

सत्य कूप इवाय ते राधिके नाभिमण्डलम् ।
रोमराजीरपीय ते तज्जलोद्धाररज्जुवत् ।।

इति शुद्धम् ।।३३४।।

'कल्पवल्लीव राजन्ते राधासख्यो गुणाधिका' इति वचन भेदेऽशुद्धम् । "कल्पवल्लय इवाभान्ति" इति शुद्धम् ।

चिन्तारत्नाणीव राधे गुणास्ते खञ्जने क्षणे' अत्र लिङ्ग भेद ।
'चि तामणीना खनिवद्राधे तव गुणावलि' इति शुद्धम् ।
व्रज विशन्नन्दसुत प्रदोषे, व्रजाङ्गनाना मुदमाततान ।
रथ्या बलाराति दिगङ्गनाया, कुमद्वतीनामिव शीतरश्मि ।।

अत्र काल भेदस्तेनाशुद्धम् । 'व्रजाङ्गनाना भवति प्रमोदी' इति शुद्धम् । 'भासि त्व कल्प वल्लीव सवकामफलप्रदा'-अत्र पुरुष भेद स्तेनाशुद्धम् । 'कल्पवल्लीव भवती भाति सव फलप्रदा' इति शुद्धम् । 'कृष्णे प्रवहतु प्रीति स्तव गङ्गेव सन्ततम्,' इत्यत्र विध्यादिभेद, तेनाशुद्धम् । 'गङ्गेव प्रवहद्रूपा तव कृष्णे सदा रति' इति शुद्धम् । आदि शब्दादनुमतिरपि ।

तस्य कूपस्य जलोद्धाररज्जुवत् । गुणाधिकचराधिका सख्य कल्पवल्लीव अतो वचन भेद ।।३३४।

बलाराति दिगङ्गनाया पूव दिशो रथ्या माग विशन् शीतरश्मिश्च द्रो यथा कुमुद्वतीना मुदमातनोतीति वत्तमानकालस्तथा कृष्णोऽपि गोपिकाना मुदमाततानेत्यतीतकाल इति काल भेद । कल्पवल्ली यथा भाति तथा त्वमपि भासीति मध्यमपुरुषत्वेन कल्पवल्ल्या प्रथम पुरुषाहत्वात् पुरुषभेद । गङ्गा यथा सदा वहति,

---

से शुद्ध हाता है।

उक्त पवत द्वय के मध्य भाग पावन होने पर भी वह अत्यन्त विशाल है, किन्तु तुम्हारे स्तन द्वय के मध्य मे अणुमात्र भी अवकाश नहीं है। यहाँ प्रमाणाधिक्य हुआ है ।।३३२।।

हे सुमुखि राधिके ! तुम्हारे नाभितल मे पाताल के समान निम्न है एव उससे लोमावली भी काल सप के समान उत्थित हुई है। यहा पर भी उक्त दोष हुआ है ।।३३३।।

हे राधिके ! तुम्हारे नाभि मण्डल कूप के समान गभीर एव उस नाभि क ऊपर रोमावली भी जलोद्धार रज्जु के समान शाभित है। इस प्रकार कथन होने से निर्दोष होता है ।।३ ४।।

श्रीराधिका के गुणवती सखी समूह कल्पलता क तुल्य शोभित है, यहा वचन भेद से अशुद्ध हुआ है, कल्पलता वली क समान शोभित है, कहने पर निर्दोष हाता है।

हे खञ्जनाक्षि राधिके ! तम्हारे गुण समूह चि तामणि श्रणी के समान है। यहा लिङ्गभेद से दोष हुआ है। हे राधे ! तुम्हारी गुणावली चि तामणि श्रेणी की खनि के समान है, इस प्रकार कथन हाने से शुद्ध होगा।

च द्रमा पूवदिग मे उदित होकर जसे कुमुदिनी वृन्द को आनन्दित करते है, तसे मुकु द प्रदोष मे

असाम्ये यथा-(काव्यालङ्कारे ४।२।१६) "ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थं रश्मिम्" इत्यत्र काव्यशशिनो केनाप्यंशेन साम्यं नास्ति । एवमर्थरश्म्योश्च । ३३५॥

असम्भाव्ये यथा—तवाननादिव राधे निर्गतं मधुरं वचः ।
आनन्दयति मे कर्णौ चन्द्रादिव मधु क्षरत् ॥

चन्द्रान्मधुक्षरणमसम्भाव्यम् कर्णयोरपि मधुन आनन्दकत्वमसम्भाव्यम्, कर्णयोरपि मधुन आनन्दकत्वमसम्भाव्यम् । 'आस्वाद्यत्वमतीवैति पद्मादिव मधु क्षरत्' इति शुद्धम् ।३३६।

धर्म हीनता यथा—स पीतवासा शिखिपिच्छ मौलि र्विलोलहारोहरिरुच्चकाशे ।
तडिल्लताशक्र शरासनाभ्यां, विभूषितो नव्य इवाम्बुवाहः ॥

अत्र 'विलोल हार' इत्यस्य बलाका रूप धर्म हीनता । तेन "विभूष्यमाणः क्षण रोचिरिन्द्र धनुर्बलाकाभिरिवाम्बुवाहः । "इति युक्तम् । ३३७॥

तथा कृष्णे तव प्रीति र्वहतु, आदिशब्दादनुमति र्विभक्तिरपि । विततोऽर्थरूपो रश्मिर्यत्र तथाभूतं काव्य ग्रन्थं ग्रथ्नामि । एवमर्थरश्म्योरपि केनाप्यंशेन साम्यं नास्ति ॥३३५॥

चन्द्रात् क्षरन् मधु यथा कर्णयोरिति उपमानस्य मधुत्वेनोपमेयस्य वचसोऽपि मधुत्व मारोपितं भवति । तथा सति मधुन कर्णानन्दकत्वमसम्भवमित्यर्थः । तवचोऽतीव स्वाद्यत्वमेति प्राप्नोति ॥३३६ ३ ७।

व्रज मण्डल मे प्रविष्ट होकर व्रजाङ्गना गण को आनन्दित करते हैं ।

यहा काल भेद से अशुद्ध हुआ है, व्रजाङ्गना गण का प्रमोद वर्द्धन हो रहा है, कहने से शुद्ध होगा ।

कल्पवल्ली जिस प्रकार सवकाम फलप्रदा होकर शोभित है तुम भी उसी प्रकार सवकाम फलप्रदा होकर शोभित हो रही हो । यहा पुरुष भेद है अतएव अशुद्ध है । 'कल्पवल्लीव भवती भाति सवफल प्रदा इति शुद्धम । श्रीराधिका कल्पवल्ली के तुल्य सवकाम प्रदा होकर शोभित है इस प्रकार प्रयोग शुद्ध है ।

श्रीकृष्ण मे तुम्हारी प्रीति गङ्गा के समान सतत प्रवाहित हो, यहाँ विध्यादि दोष हुआ है । गङ्गा जिस प्रकार अविच्छिन्न प्रवाहा है, कृष्ण पाद पद्म मे भी तुम्हारी प्रीति वसी हो । इस प्रकार कहने से शुद्ध होता है ।

विध्यादि' यहा आदि पद से अनुमति का भी ग्रहण होगा । असाम्यस्थल का उदाहरण काव्यालङ्कार ग्रन्थ के ४।२।१६ मे इस प्रकार है । 'ग्रथ्नामि काव्य शशिन विततार्थरश्मिम्' जिस की अर्थ रूप रश्मि विस्तृत है, इस प्रकार काव्य चन्द्र का ग्रथन मै कर रहा हूँ । यहाँ काव्य के सहित चन्द्र का एव अर्थ के सहित रश्मि का साम्य नहीं है ॥३३५॥

असम्भाव्य का निदर्शन—हे राधे ! चन्द्र मण्डल से क्षरित मधु धारा के समान तुम्हारे मुख निर्गत मधुर वाक्यपरम्परा मदीय कर्णयुगल को आनन्दित कर रही है ।

यहा चन्द्र से मधु क्षरण असम्भव होने के कारण, दोष हुआ है । पद्मसे क्षरित मधु धारा के समान अतीव आस्वाद्य हुआ है । इस प्रकार होने से निर्दोष होगा ॥३३६॥

धर्म हीनता का उदाहरण—इन्द्र धनु एवं विद्युल्लता से विभूषित नवाम्बुवाह के समान शिखिपुच्छ

धर्माधिक्य यथा—चामीकराभ वसन वसान , शिखण्ड चूडो हरिरावभासे ।
विभूष्यमाण क्षणरोचिरिन्द्र धनुर्बलाकाभिरिवाम्बुवाह ॥

अत्र बलाकारूप धर्माधिक्यम् ॥३३८॥

सारूप्ये लिङ्ग भेदस्तु न दोषो न च वा गुणः।

सारूप्य भिन्नलिङ्गत्वेऽपि एकाकारत्वम् ॥३३९॥

यथा—महारत्नैरिव गुणै कृष्णरत्नाकरो भवान् ।
तवामृतमिवस्वादु व्याहार वेद्मि राधिके ॥३४०॥

उत्प्रेक्षायां यथा शब्द ।

दुष्ट इत्यर्थं । यथा शब्दस्य केवल साधर्म्यमात्रपर्यवसायित्वादवाचकत्वमुत्प्रेक्षाया । तस्यास्तु 'नून' 'मन्ये' 'ध्रुवम्' इत्यादयो वाचका ॥३४१॥

विद्युदिन्द्रधनुर्भ्या भूषितो मेघ इव। अत्र श्रीकृष्ण निष्ठ विलोल हार रूपोपमेयस्योपमारूपस्य मेघनिष्ठ बलाकाधम हीनत्वाद्धम हानता। क्षणरोचि विद्युत, बलाका बकपक्ति , चामीकराभ सुवर्णाभम् ।

अत्रोपमेये श्रीकृष्णे विलोलहार पदाभावात् उपमाया बलाकारूप धमस्य सत्त्वाच्च धर्माधिक्य ज्ञेयम् ॥३३८ ३३९॥

हे कृष्ण ! महारत्नैरिव गुणैर्भवान् रत्नाकर , अत्र रत्न शब्दोन पु सकलिङ्ग , गुण शब्द पुलिङ्ग । तथापि ततीयाया पु नपु सकयोरेकरूपत्वाद् रत्नै गुणैरित्येका कारत्वम् । हे राधे ! तव व्याहार वचा ममृतरिव स्वादुमह वेद्मि । अत्रामृत शब्दो नपु सक लिङ्ग , व्याहार—शब्द पु लिङ्ग । तथापि द्वितीयायाममृत व्याहारमित्येकाकारत्वम् ॥ ४०॥

यथेति यथा—शब्द केवल साधर्म्यमात्र वाचक , नतूत्प्रेक्षावाचक । तस्यास्तु उत्प्रेक्षायास्तु ।३४१।

मौलि, विलोलहारशाली वह पीताम्बर परम शोभित है।

यहा विलोल हार का उपमान भूत बलाका रूप धम न होने के कारण धम हीनता हुई है। 'इ दु धनु" विद्युल्लता एव बलाकावली विभूषित नवाम्बुवाह के समान" इस प्रकार होने से शुद्ध होगा ॥३३७॥

धर्माधिक्य का उदाहरण—सुवण वण वसन परिधान पूवक वह शिखि पुच्छ शेखर श्यामसुन्दर, इन्दु धनु , विद्युल्लता एव बलाकावली से विभूषित नवाम्बुदवाह के समान शोभित हुये थे ।

यहा बलाका रूप धम का आधिक्य हुआ है ॥३३८॥

भिन्न लिङ्ग होने पर भी समान रूपता स्थल मे उसका दोष वा गुण नहीं होता है ॥३३९॥

उदाहरण—हे कृष्ण महारत्न के समान असख्य गुण के द्वारा तुम रत्नाकर सदश हो। हे राधिके ! तुम्हारी उक्ति अमृत के समान स्वादु है ॥३४०॥

उत्प्रेक्षालङ्कार मे—यथा शब्द प्रयोग दोषावह है। कारण, यथा शब्द का केवल साधर्म्य

उदाहरणम् – चित्ते द्रवति तोयेन पूर्य्यते नयन द्वयम् ।
प्रिययोश्चित्तनयने सवादचतुरे यथा ॥

अत्र यथा–शब्द उत्प्रेक्षाया अवाचक । तेन 'सवाद चतुरे इव' सवाद चतुरे ध्रुवम्' इति वा शुद्धम् ॥३४२॥

एवमन्येऽपि सूक्ष्मतः ॥

एवमन्येऽपि सूक्षतमा अलङ्कारदोषा सन्ति, तेषा केचिदग्रे दोष विवरणे दर्शयिष्यन्ते ।३४३।

इति श्रीमदलङ्कारकौस्तुभे अर्थालङ्कार निरूपणा नाम अष्टम किरण ॥८॥

चित्ते द्रवति सति नयनद्वय जलेन पूयते । अत प्रियाप्रिययोश्चित्त नयने सवाद चतुरे इव । तथा च यथा प्रीत्यापन्नयो सवाद चतुरयोमध्ये एकस्यानन्द ज्ञात्वा अन्यो हृष्टो भवति, तथा चित्तस्य द्रौत्य ज्ञात्वा नयन जलपूर्ण भवतीत्यथ ॥३४२-३४३॥

इति सुबोधिन्यामष्टम किरण ८

पद्यवसायिता हेतु वह उत्प्रेक्षा वाचक नहीं हो सकता है । नून, मन्ये, ध्रुव इत्यादि शब्द ही उत्प्रेक्षा वाचक है ॥३४१॥

चित्त द्रवित होने पर नयन युगल भी वारि पूर्ण होते हैं । प्रिया के चित्त एव नयन जसे परस्पर सवाद निपुण हैं ।

यहाँ मूल श्लोक मे यथा शब्द के परिवत्त मे इव, ध्रुव, इत्यादि शब्द वि यास करने से ही शुद्ध प्रयोग होता है । इस प्रकार और भी अलङ्कार दोष सूक्ष्म रूप मे होता है, उस का प्रदर्शन अग्रवर्त्ती दोष प्रकरण मे होगा ॥३४३ ३४३॥

इति अलङ्कारकौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रि कृतानुवादे अर्थालङ्कार निरूपणो नाम अष्टम किरण ॥८॥

—✻✻—



नवमः किरणः

अथ रीतिनिर्णयः

—**—

अथ (प्रथमकिरणे ५) 'सुसम्थान रीति' इति यदुक्तम्, सा किं लक्षणा किंयत् प्रकारा वेति तामेव दर्शयति ।

रीतिः स्याद्वर्णविन्यासविशेषो गुणहेतुकः ॥

गुणास्तूक्ता । वर्ण विन्यासविशेष इति वर्णाना रसानुगुणगुणानुरोधोपाधिकरचना विशेष इत्यर्थ यद्यपिगुणविवेकेनैव स लभ्यते, तथापि तद्विशेषबोधार्थं रीति किरण आरभ्यते ॥१॥

वैदर्भ्यादि-विशेषेण-चतुर्धा सा निगद्यते ॥

सा रीति, वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडी, लाटीति चतुर्विधा । तासा क्रमेण लक्षणमाह ।२।

अवृत्तिरल्प वृत्तिर्वा समस्तगुणभूषिता ।

अथ रीतिनिर्णय

सा रीति किं लक्षणेति रीतेर्लक्षण किमित्यर्थ । कियत् प्रकारावेति रीते कियत प्रभेदा सम्भवन्तीत्यर्थ प्रथमतो लक्षणमाह— रीतिरिति । गुण हेतुका गुण व्यञ्जक ।

एतदेवोक्त गुण किरणे (६।२१) 'माधुर्य्याणा व्यञ्जका स्यु वर्णाश्च रचना अपि" इति । गुणा माधुर्य्यौज प्रसादा गुणकिरणे उक्ता, वर्णाना रचना विशेषो वर्ण विन्यास विशेष, रसानामनुकूलोयो माधुर्य्यादि गुणस्तस्यानुरोध उदय, स एव उपाधि प्रयोजन यस्य तथाभूतो रचना विशेष इत्यर्थ । स रचना विशेषस्तस्य गुणस्य विशेषबोधार्थमित्यर्थ ॥१ २॥

अवृत्तिरिति । वृत्ति समासस्तद्रहित केवलासमस्तपदघटित— वर्णनमेवोचितमित्यर्थ ।

रीति सुसस्थ न स्वरूप है, इस का कथन पहले हुआ है, उसका लक्षण क्या है ? वह कितने प्रकार हैं ? उसका विवरण प्रथम किरण मे नही हुआ है । अधुना उसका वर्णन करते है ।

यद्यपि गुण विवेचन के द्वारा ही उक्त रचना विशेष का लाभ होता है तथापि उसका विशेष बोधार्थ यह रीति किरण आरम्भ हुआ । वैदर्भी पाञ्चाली गौडी, लाटी भेद से उक्त रीति चतुर्विध हैं, क्रमश उसके लक्षणो को कहते हैं ॥१ -२॥

वैदर्भी, सा तु शृङ्गारे करुणे च प्रशस्यते ॥

समस्त गुणेति गुणास्त्रयो वा दश वा ॥३॥

यथा—आलोकनङकुटिलितेन विलोचनेन, सम्भाषणञ्च वचसा मनसार्धमर्धम् ।
लीलामयस्य वपुष प्रकृतिस्तवेय राधे क्रमो न मदनस्य न वा मदस्य ॥

अत्रावृत्तिरल्पवृत्तिश्च । ङ्कु–म्भाञ्चति माधुर्य्यव्यञ्जका वर्णा, अर्धमध मित्योजो व्यञ्जकौ द्वौ, अर्थ वैशद्य प्रसाद, अनिष्ठुरत्व सुकुमारत ा–इत्यादि समस्त गुणा ॥४॥

न केवलमिय तथाविधवणविन्यासाद् वृत्त्यभावाच्च वदर्भी, अपितु अथगतौदार्येणाप्यन्यथा—

मदनेन मदेन चालसो, वनितानि जनितातिलालस ।
अतिमञ्जुनि कुञ्जमन्दिरे, रमतेऽसौ सखि नन्दनन्दन ॥

इत्यत्राल्पवृत्तित्वात् तथाविधोपाधिगुणत्रयवत्त्वाच्च वैदर्भी यद्यपि, तथापि तथाविधार्थौदार्य्याभावान्न तथा शोभते ॥५॥

अल्पवृत्तिरिति – अल्पपद घटित समास एवोचित नतु बहु पद घटित दीघवृत्तिरिति भाव । समस्तेति - माधुर्यौज प्रसादास्त्रय एव गुणतया तभूता इति गुण किरणे उक्तम् । अति स्तन्मतमालम्ब्य दश गुणा अपि समस्त गुणा इत्यथ ॥३॥

हे राधे ! तव वचसा सम्भाषण तथा मनसा च सम्भाषणमधमधमेव । इय प्रकृत, स्वभाव एव, कि तु तव मदनमत्तयो क्रमोनास्ति कुटिलावलोकनादौ तयो कारणत्वात् ।

अय भाव – मूर्च्छित जनोऽधरसुधा पाययित्वा जीवयितुमेव योग्य नतु कटाक्षशरेण हतुम् । एवञ्च तस्य जीवने सति पश्चाल्लीलया कुटिलावलोकनरूप शरप्रहारे कृतेऽपित्तदोष इति क्रमस्तयो र्नास्तीत्याक्षेप उक्त ॥४॥

अधुना वैदर्भी लक्षणे अथ निष्ठ सौष्ठव वशिष्ट्यरूप विशेषणा नर देयमित्याह—न केवलमिति । स्त्रोभिर्जनिता अतिलालसा यस्य तथ भूतो म दन दनोऽतिमञ्जुनि मनोज्ञे कुञ्जमन्दिरे न शोभत इत्यथ ।५

समास रहिता वा अल्प समास युक्ता एव समस्त गुण गुम्फिता रीति का नाम वदर्भी है। वह शृङ्गार एव करुण रस मे प्रशस्त है गुण त्रिविध हैं मतान्तर मे दशविध हैं ॥३॥

उक्त गीति का उदाहरण यह है—हे राधे ! कुटिलीकृत नयन विलोकन एव वाक्य एव मनके द्वारा अध अध सम्भाषण, यह तुम्हारे लीलामय शरीर मे प्रकृति सिद्ध है, मदन वा मद का वह क्रम नहीं है ।

उदाहरण श्लोक मे ङ्क म्भ, ञ्च,–माधुर्य्य व्यञ्जक वर्ण हैं अध अर्ध— ओजो व्यञ्जक वण है, एव अथ वशद्यरूप प्रसाद एव अनिष्ठुराक्षरतारूप सुकुमारता– इत्यादि समस्त गुण ही विद्यमान है ॥४॥

केवल इस पकार वण विन्यास एव समासाभाव हेतु जो यह वदभी रीति है, यह नहीं, अथ गत औदार्य्य भी इस रीति के प्रति कारण है ।

पाकोऽप्यस्याः सहायः स्यादाम्रवार्त्ताकुपाकवत् ॥

अस्या वैदर्भ्या पाको निर्वाह । सच द्विविध—रसालपाको वार्त्ताकुपाकश्चेति । रसाल पाक एव सहाय स्यात्, शोभाकरत्वात्, नेतर ॥६॥

पूर्वं पूर्वं दशायाश्चेदुत्तरोत्तर--रम्यता ।
तदा रसालपाकः स्याद्विपरीते तदन्यकः ॥७॥

क्रमेणोदाहरणानि—(४थ श्लोक) 'आलोकनङ्कुटिलितेन' इत्यादौ चतुर्थचरणे रसाल पाक । तत्रैव यदि 'लीलामयस्य वपुषस्तव राधिके य, कोपक्रमो नु सहज किमुकृत्रिमो वा ॥' अत्र सत्यामपि वैदर्भ्या पाकेन वार्त्ताकु पाकता तेनास्या विरसत्वम् । एव छन्दोऽप्यस्या सहायता व्यनक्ति, तच्च वसन्ततिलकोपेन्द्रवज्रादि ॥

रसाल आम्रस्तस्य पाक एवोत्तर काले शोभाकर नेतर न वार्त्ताकुपार वार्त्ताको प्रथमदशायामेव सौ दय्यम्, पक्वदशायामत्यन्तवरूपत्वात् स न शोभाकर इत्यथ पूव पूव दशाया सकाशादुत्तरोत्तर रम्यता सुन्दरता यदि भवति, तदाम्रपाक स्यात् । विपरीते पूवदशात उत्तर दशायामसुन्दरत्वे तद यको वात्तकुपाक । 'राधे क्रमो न मदनस्य नवा मदस्य' इति चतुथ चरणे रसालपाक । यद्येतादृश चतुथ चरण स्थाने 'कोपक्रमो नु सहज किमु कृत्रिमो वा' इति प्रयुज्यते, तदा पूव पूव-चरणापेक्षया चतुथ चरणस्य रमणीत्वाभावात् तस्य वार्त्ताकुपाकत्व तस्य वार्त्ताकुपाकताया विरसत्वमेव । एव सति वदर्भी लक्षणे रसालपाक वशिष्ट्यमपि विशेषण देयमिति ज्ञेयम् ।

अन्यथा—हे सखि ! मद एव मदन वश से अलस एव वनिता गण कत्तृ क जनित लालस नन्द नन्दन अति वञ्जुल कुञ्जमन्दिर मे रमण कर रहे हैं ।

इस श्लोक मे भी अल्पसमास हेतु एव तथाविध वण विन्यास जनित गुणत्रय सद् भाव हेतु वदर्भो रिति को स्वीकार करना पडता है । कि तु तथाविध अथौ दाय्य के अभाव से वह वदर्भी तादृश शोभाकरी नही है ॥५॥

अतएव पाकको भी उस रीति का सहायक मानना आवश्यक हैं । पाक दो प्रकार होते हैं, आम्रपाक एव वार्त्ताकुपाक । शोभाकरत्व हेतु रसालप क को ही सहायक कहना पडेगा वार्त्ताकुपाक नहीं ।

कारण, पूव पूव दशासे उत्तरोत्तर रमणीयतास्थल मे ही प्रथमोक्त पाक होता है, एव उसक विपरीत स्थल मे द्वितीय पाक होता है ॥६ ७॥

प्रथमोदाहरण मे "यह तुम्हारे लीलामय शरीर मे ही प्रकृति सिद्ध है । मदन वा मद का वह क्रम नहीं है " यहा "यह तुम्हारा स्वाभाविक कोपक्रम है, अथवा कृत्रिम कोपक्रम है ?" इस प्रकार होने पर यद्यपि वदर्भी रीति को स्वीकार किया जाता है, तथापि वार्त्ताकु पाक वशत उसकी विरसता ही हुई है, इस प्रकार कहना पडेगा ।

इस प्रकार वसन्त तिलक, उपेन्द्र वज्रादि छ द भी वदर्भी रीति का सहायक होते हैं, "एतानि तानि

यथा (पञ्चम किरणे २०१) "एतानि तानि नलिनी विपिनानि वाप्याम्' इत्यादि, यथा (४थ श्लोक) आलोकनङकुटिलितेन इत्यादि च ॥७॥

यथा च— न वाग्मिन सन्ति कतीह भूतले, भवन्ति सर्वे न हितप्रियोक्तय ।
मयूर मुख्या कति भान्ति पत्रिण , पर पिका एव रुवन्ति पञ्चमम् ॥

अत्रापि रुवन्ति पञ्चमम्' इत्यनुस्वारस्तथाविध नौजो बध्नाति, गुरुरप्यय क्लीववद् भासते । तेन 'न भान्ति कि केकिमुखा खगा पिका, परञ्चते, पञ्चमगान चञ्चव ॥" इत्येव शोभते । आदि शब्दात् रथोद्धतादि च ॥८॥

यथा—गाहते गहन मीहतेतरा मर्धमधममभि राममीहितम् ।
भासते वचन मुन्मदाकुल, कोऽयमिन्दुमुख मेघमेदुर ? ॥९॥

यथा वा— इन्दु निन्दि वदन मृदुस्मित, कञ्जगञ्जि नयन सु नासिकम् ।
स्निग्ध मुग्ध वचन नव नव, मेघ मेदुर मुपास्महे मह ॥१०॥

एवमस्या वद यश्छ दोऽपीति, तथा च वदर्भी लक्षणे वसन्त तिलकोपे न्द्रवज्रादि वशिद्वयमपि विशेषण देयमित्यथ । वसन्ततिलकोपे न्द्रवज्रयोरुदाहरणमाह- एतानीत्यादि ॥६ ७॥

भूतले कति वाग्मिन प्रशस्त वचन युक्ता न सन्ति, अपि तु सन्त्येव । एव हितप्रियोक्तय सर्वे न भवन्ति, अपितु भवन्त्येव । किन्तु पर केवल पिका एव पञ्चम रुवन्ति । अयमनुस्वार क्लीववद् व्यर्थं भाति । ते पिका एव पञ्चम गाने ख्याता इत्यथ ॥८॥

हे इन्दुमुखि ! मेघ इव मेदुर स्निग्ध कोऽय गहनवन गाहते । एवमीहित वाञ्छितमध मध यथा स्यात्तथा ईहते चेष्टते ॥९॥

मेघमिव स्निग्ध नव नव महस्तेज स्वरूप वस्तु वयमुपास्महे । कथम्भूतम् ? कमलगञ्जि नयन मुग्ध सुन्दरम् ।

नलिनी विपिनानि वाप्या" इत्यादि श्लोक एव 'आलोकितङ्कुटिलितेन विलोचनेन" इत्यादि श्लोक वसन्त तिलक छन्द बद्ध है ॥७॥

भूतल मे कितने वाग्मी वर्त्तमान है, किन्तु वे सभी प्रिय एव हितभाषी नहीं हैं, देखो ! मयूर प्रमुख कितने पक्षी ही देखे जाते हैं, किन्तु पञ्चमध्वनि केवल कोकिल से ही होती है ।

यहा 'रुवन्ति पञ्चमम्" अनुस्वार तादृश ओजो व्यञ्जक नहीं है, गुरु होकर भी क्लीव के समान प्रतीत होता है । अतएव उक्तस्थल मे "परञ्च ते पञ्चम गान चञ्चव " इस प्रकार पाठ होने पर सुन्दर होगा।

उपेन्द्र वज्रादि—आदि पद से रथोद्धतादि वृत्तको जानना होगा ॥८॥

उदाहरण—हे इन्दुमुखि ! नव घन स्निग्ध कान्ति यह किशोर कुञ्ज कानन को जा रहे हैं, गमन समय मे अति रमणीय भाव से निज अभिप्रेत विषय की ईषत् ईषत् चेष्टा कर रहे हैं, एव उन्मद-आकुल भावमय सुधा मधुर वाक्य प्रयोग कर रहे हैं यह कौन हैं ? ॥९॥

अन्यत्र छन्दसि तथाविध रचनायामपि वैदर्भी न तथा चमत्करोति। यथा वैदर्भी गर्भिणीव स्फुरति रसमयी कामसू रुक्मिणीव' इति छन्दोदोषान्न तथा सुरसेति। एतच्छन्दस्तु गौड्यनुकूलम् ॥

यथा—'गौडी गाढोपगूढ प्रकटहठघटागर्व गर्भेव गौरी।"

कथा प्रायो हि यत्रार्थो माधुर्य्य प्रायको गुणः।
न गाढता न शैथिल्य सा पाञ्चाली निगद्यते ॥११॥

यथा—कान्ते का प्रतिते बभूव मधुर सम्बोधन त्वा प्रति।
ज्ञात कि कमनीयतानुगमिद कि वा प्रियत्वानुगम्।

अन्यत्रेति—वन त तिलकादि भि ने छ दसि वदर्भी न चमत् करोति। गर्भिनी वदर्भी सीता इव, तथा कामसू रुक्मिणीव रसमयी स्फुरति। अत्र छ दोदोषादेव न वदर्भी।

एव छ दसोऽनुकूलत्व गौडारीत्यामाह—यथेति। गाढ यथास्यात् तथोपगूढो गुप्त प्रकट हठरूप गर्वो गर्भे यस्यास्तथाभूना इव ॥१०-११॥

मानिना श्रीराधिका प्रति श्रीकृष्ण आह—हे का ते! राधाह—का प्रति तव सम्बोधनम् ? श्रीकृष्ण आह-त्वा प्रति। श्रीराधिकाह-ज्ञातमिति। का ता कमनीया भवति, प्रियापिभवत्यतो मयि कमनीयतानुग

उदाहरणा तर—इन्दु विनि दी वदन मण्डल से विराजित मृदु मधुर हास्य प्रभासे प्रभासित नीलोत् पल स्पर्द्धी नयन एव सु दर नासिका से समलङकृत, स्निग्ध मुग्ध वचन विन्यास विलसित, मेघ मदुर तरुण तेज पुञ्ज का हम सब हृदय मे स्थापन पूवक पूजन करने मे प्रवृत्त होते हे।

अ य छ दो के द्वारा उस प्रकार रचना हाने पर भी यह रीति तादश चमत्कार कारिणी नही होती है।

उदाहरण—गर्भिणी वदर्भी क समान, तथा कामप्रसविनी रुक्मिणीके तुल्य कामप्रदा रसमयी यह वदर्भी रीति अतिसन्दर स्फूत्तिशालिनी होती है।

यहा छ दोदोष के कारण तादृश सुरसा नही हुई है यह श्लोक स्रग्धरा छ दो नि बद्ध है, एव गौडी रीति का ही अनुकूल है।

गाढ रूपमे गूढ, प्रकट हठघटा रूप गव जिसके गभमे सवदा वत्तमान हे, तादशी गौराङ्गी के समान गौडीरीति भी गभार रूप से सुशोभित होती है।

जहाँ कथा प्राय एव गुण माधुय्य प्राय होता है, वहा ब धकी गाढता भी नही है, शथिल्य भी नही है, यह रीति पाञ्चाली नामसे अभिहिता है ॥१० ११॥

उदाहरण—श्रीकृष्ण,—का ते, यह कर सम्बोधन करने से राधिका बोली, किस के प्रति तुम्हारा यह मधुर सम्बोधन हे ? यह सम्बोधन तुम्हारे प्रति है। उत्तर प्रामकर श्राराधिका बाली, समझ गई, किन्तु कान्ता शब्द का अथ रमणीया एव प्रिया, इन दोनो अथ के मध्य मे कमनीयता के अनुसार अथवा प्रियताके अनुसार मेरे प्रति सम्बोधन हुआ है ? उभयत ही मेरा तात्पय्य है।

तात्पर्य्यं तु ममोभयत्र न न न भ्रान्तोऽसि नाहं तु सा
कासौ या हृदये तवास्ति हृदये नित्यं त्वमेवासि मे ।

इत्येवमनुसत्तव्यम् ॥१२॥

निष्ठुराक्षर विन्यासाद्दीर्घवृत्तियुंतौजसा ।
गौडी भवेदनुप्रास बहुला वा,

यथा—'किं रे कष्ट मरिष्ट दुष्ट तनुषे गोष्ठस्य नस्तिष्ठ रे इत्यादि । न केवल निष्ठुराक्षर प्रायत्वमेकस्या लक्षणम्, अपित्वनुप्रासबाहुल्यमपि । तेन यस्य तस्य गुणस्यानुगुणो भवत्वनुप्रासस्तस्य बाहुल्यमेव गौडी रीतिमनुबध्नाति । अतो (अष्टम किरणे ३२६) "द्वन्द्व द्वन्द्व वादयद् दुन्दुभीनाम्' इत्यादावपि गौडीत्वम् ॥१३॥

एवम्—(सप्तमकिरणे १७)—

अनङ्ग सङ्गरासङ्गे भङ्गिमेव स जङ्गम । सङ्गीतरङ्गी तन्वङ्गीसङ्गी रासङ्गतो हरि । किन्त्वत्र न गौडीत्वम् ॥१४॥

सम्बोधन किम्वा प्रियत्वानुगम् ? श्रीकृष्ण आह—तात्पर्य्यमिति । पुन श्रीराधाह—न नेति । अहं सा कमनीया न, तव प्रियापि न । श्रीकृष्ण आह— असौ कमनीया प्रिया का ? श्रीराधाह—चेति । श्रीकृष्ण आह—हृदये इति ॥१२॥

निष्ठुराक्षराणा विन्यासो यत्र, दीर्घा वृत्तियत्र एवम्भूता गौडी ओजसा गुणेन युता, तथानुप्रास बहुला वा भवेत । अत्र वा शब्दो विशेषणसमुच्चयबोधक, नतु विकल्पार्थक । तनेति— माधुर्य्यादि-गुण गताना मध्ये यस्य गुणस्यानुकूलोऽनु प्रासो भवतु, तस्यानु प्रासस्य ॥१३॥

अनङ्गेति । रास गत सहार कथम्भूत ? कन्दर्पयुद्धासङ्गे जङ्गमो भङ्गिमा इव । पुन कथम्भूत सङ्गाते रङ्गिण्यो या व्रज सुन्दर्य्य स्तासा सङ्गी । अत्र निष्ठुराक्षराणामभावान्न गौडी ॥१४॥

श्रीकृष्ण के इस उत्तर से श्रीराधा बोली, ना ना ना तुमको भ्रम हो गया है, मै कभी कमनीया नहीं हू, प्रिया भी नहीं हू । यदि तुम न हो तो कौन है ?—इस प्रकार जिज्ञासा-श्रीकृष्ण करने पर श्रीराधाने उत्तर दिया—जो तुम्हारे हृदय मे निवास करती है, वह श्रीकृष्ण बोले—तुम्हीं तो नित्य मेरे हृदय मे अवस्थित हो । इस प्रकार उदाहरण—अनुसरणीय है ॥१२॥

ओजो गुण शालिनी, दीर्घ समासयुता, अनुप्रास बहुला एव कठोर वर्ण विन्यास मयी रीति को गौडी रीति कहते हैं । उदाहरण—रे दुष्ट अरिष्टासुर ! तू क्यो हमारे गोष्ठ मे कष्ट विस्तार कर रहा है । इत्यादि ।

केवल निष्ठुराक्षर बाहुल्य ही इसका लक्षण नहीं है, अनुप्रास बाहुल्य भी इसके लक्षण के अन्तर्गत हैं । अतएव अनुप्रास जिस गुणके अनुकूल हो अनुप्रास का बाहुल्य ही गौडी रीति का अनुबन्धी है । 'द्वन्द्व द्वन्द्व वादयन् दुन्दुभीना" इत्यादि श्लोक मे गौडी रीति ही स्वीकार्य है ॥१३॥

किन्तु "अनङ्ग देव के मङ्गलमय आसङ्ग विषय मे जङ्गम भङ्गिमा के तुल्य रास सङ्गत श्रीहरि,

वल्गद् वल्गुवतंसमसविगलत् मन्दारमालामिलद्रोलम्बद्रुतिलम्बमानसुमनोधूलिभिराधूसर ।
लीलाबन्धुरकन्धराञ्चलचलच्छ्रीकौस्तुभ भ्राजते धावन् धूतधर धराधरधरो धाराधर श्यामल ॥

अत्र सत्यप्योजोगुणभूयिष्ठत्वे वृत्तिबाहुल्येऽपि अथकौमल्यप्रसादादिभिर्वैदर्भी माग-पतितैवेयम् ॥१५॥

यथा वा—दाक्षिण्योत्सुकया गुणरधिकया प्रेमणा गतालीकया
लीलाकेलि पताकया कृतकया चित् कौमुदीराकया ।
दृक कर्पूर शलाकया नवकया लावण्यवापीकया
कृष्णो राधिकायाऽन्वरञ्जि न कया जात निरातङ्कया ॥१६॥

अधुना भीष्मेण सह युद्धे पाण्डवपराभवमर्जुन वीक्ष्य क्रोधेन भीष्म बध थ शीघ्र गच्छत श्रीकृष्णस्य धावन क्रिया वर्णयति—वल्गदिति । धाराधरो मेघस्तत्तुल्यश्यामल श्रीकृष्ण धावन् सन् भ्राजते । धावन क्रियाया विशेषणत्रयमाह—वल्गत् चाञ्चल्य प्राप्नुवन् वल्गुवतसो मनोहर कर्णभूषण शिरोभूषणञ्च यत्र तद् यथा स्यात्तथा । अवेत्यस्याकार लोप । पुनश्च धावन लीलया बन्धुरा उन्नता या कन्धरा तस्या अञ्चले चलत् श्रीकौस्तुभो यत्र, तद् यथा स्यात्तथा । श्रीकृष्ण कथम्भूत ? असाद् स्कन्धाद् विगलन्ती या मन्दार माला तस्या मिलन्तो ये रोलम्बा भ्रमरास्तेषा मालाया श्लाञ्छल्येन एकत्र स्थातुमसर्थाना द्रुत्या मलया सह धावनेन लम्बमानाना पुष्पाणा धूलिभिरीषद् धूसर पुनश्च धृतधर । इय गौडी वदर्भो मार्ग पतिता वदर्भी लक्षण घटकीभूत विशेषण-विशिष्टापीत्यर्थ ॥१५॥

राधया कृष्णोऽन्वरञ्जि, राधा श्रीकृष्ण मनुरक्त चकारेत्यर्थ । अत कया सख्या निरातङ्कया नि शङ्कया न जातम् ? अपितु सर्वा एव सख्यो नि शङ्का बभवुरित्यर्थ । श्रीकृष्णो राधायानुरक्तो भविष्यति न वेति पूर्व सखीना या शङ्का आसीत्, साशङ्काऽधुना गतेति पर्यवसितार्थ ।

राधया कथम्भूतया ? वाम्य त्यक्त्वा दाक्षिण्ये उत्सुकया । पुनश्च प्रेमणा हेतुना गतालीकया निष्कपटया । पुनश्च लीलारूप ध्वजस्य केलि पताकया । पुनश्च कृत क सुख यया तथा भूतया । पुनश्च

सङ्गीत रङ्गिणी रूप कृशाङ्गी वृन्द के सहित केलि प्रसङ्ग मे परम शोभित हुये थे ।

इस श्लोक मे गौडी रीति नही हुई है, कारण इस मे कठोराक्षर का प्रयोग नही हुआ है ॥१५॥

नव नीरद सुन्दर गोवर्द्धन धर भगवान् वासुदेव पदभरसे धरातल को विकम्पित कर धावित हो रहे हैं, धावन वेग से उनके शिर शेखर कम्पित हो रहा है, स्कन्ध देश से स्खलित मन्दार माला मे जो भ्रमरावली मिलित हैं उसक भरसे लम्बमान पुष्प पुञ्ज की धूलि राशि से श्याम शरीर धूसरित हो रहा है, एव धावनोन्नत कन्धरा प्रान्त मे स्पृष्ट होकर कौस्तुभ मणि कीदशी कान्तिच्छटा से छुरित हो रही है ।

यहाँ ओजो गुणो का प्राचुर्य एव वृत्ति बाहुल्य होने पर भी अथगत कोमलता एव प्रसादादि गुण के द्वारा इस कविता को वदर्भी मार्गान्त पातिनी कहनी पडेगी ॥१५॥

उदाहरण तर—केलि पताका स्वरूपा गुणालिका श्रीराधिका, अधुना दाक्षिण्य हेतु समुत्सुका एव अकृत पक्ष मे प्रेमाधीन हेतु कापटय परिशून्या, कदाचित् क्रीडाच्छल से कैतव पूर्णा होकर श्रीकृष्ण को

समन्ततः ।

शैथिल्यं यत्र मृदुलैर्वर्णैर्लादिभिरुत्कटम्

सा लाटी स्याल्लाटजनप्रियानुप्रासनिर्भरा ॥

लाटो विदग्ध ॥१७॥

उदाहरणम्—लीला विलास लुलिता ललनावलीषु, लीलालकासु ललितालिरल ललामम् ।
कीलालकेलिकलयाऽनिलचञ्चलाया, काले ललौ मृदुलता लवलीलताया ॥

अत्र केवल शथिल्यम्, लाटानुप्रास—बाहुल्येऽपि तथा ॥१८॥

उदाहरणम्—स्मेरारविन्द वदना—वदनारविन्द-सौन्दर्यकाम इव शारदशीतरश्मि ।

चिच्छक्तिरेव कौमुदी तस्या राकया पूर्ण चन्द्रस्वरूपया नवकया नवीनया, स्वार्थे क । लावण्यस्य वाण्यौ यस्या इति बहुव्रीहौ । ह्रस्वत्व निषेध ॥१६॥

समन्तत सर्वत्र लकारादिभिर्मृदुलवर्णैर्यत्रोत्कट शथिल्य सा लाटी रीति । अनुप्रासाना निर्भरोऽतिशयो यत्र तथाभूता ॥१७॥

ललिता अलियस्या सा राधा चञ्चल लकास ललनासु मध्ये श्रीकृष्णेन सह लीला विलास लुलिता मर्दिता सर्वापेक्षया अतिशयविलासवतीत्यथ । अतोऽलमतिशयेन ललाम सर्वासा शिरोरत्नम् एवम्भूता राधा जलकेलि कलया हेतना अनिलेन चञ्चलाया लवलीलाताया मृदुलता ललौ गृहीतवती ॥१८॥

लाट कोमल, तथा च कोमल वर्णानुप्रासेऽपि तथा शथिल्य ज्ञेयम् । ईषद् विकसितारविन्द तुल्य वदनाया राधाया वदनारविन्द सौन्दर्य कामना विशिष्ट इव शरत् कालीन चन्द्र आकाश वास रूप तपसा

परम अनुरञ्जित कर रही है, क्यो नही अनुरञ्जित करेगी ? वह विचित्र चित् कौमदी पूर्णिमा को समाना, वय क्रम से नवीना, लावण्य की पूर्ण व्यापिका एव लोचन युगल की कर्पूर शलाका स्वरूपा । इन सब कारणो से सम्प्रति सखी वृन्द भी उनके सम्बन्ध मे शङ्का शून्य हो गई है ।

इस कविता को भी वदर्भीमार्गानुसारिणी ही कहनी होगी ॥१६॥

सर्वत्र लकारादि मृदुल वर्ण का बाहुल्य होने के कारण—जहा नितान्त बन्ध शथिल्य अनुभूत होता है, अनुप्रास बहुला तादृशी रीति लाट अर्थात् विदग्ध जन प्रिय होने के कारण लाटी नाम से अभिहिता होती है ॥१७॥

उदाहरण - लीलालका ललनावली के मध्य मे ललाम स्वरूपा, ललिता सङ्गिनी श्रीराधा ही वनमालि कर्तृक लीला विलास बाहुल्य से विलुलिता हुई थी, एव वह जल केलि कला से अनिलचञ्चला लवलीलताकी मृदुलता को अवलम्बन करी थी ।

यहाँ केवल शथिल्य हुआ है । लाटानुप्रास के बाहुल्य स्थल मे उस प्रकार शथिल्य होता है ॥१८॥

उदाहरण—फुल्लारविन्द वदना श्रीराधा के वदनारविन्द के सौन्दर्य लाभ हेतु शारद सुधाकर आकाशवास रूप तपस्या के सहित कलङ्कच्छल से जसे धूमपान करना सुरु कर दिया है ।

आकाश वासतपसा सह सविधत्ते, धूमस्य पानमिव लक्ष्मलक्षणस्य ॥

एष लाटानुप्रास, एषापि लाटी रीति ॥१६॥

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे रीति निरूपणो नाम नवम किरण ॥६॥

सह धूमस्य पानमिव विधत्ते। कथम्भूत तस्य लक्षणम्? कलङ्क रूप चिह्न तल्लक्षणस्य—तनु स्वरूपस्य, तथा च चन्द्र स्वनिष्ठ कलङ्क चिह्न व्याजेन धूमपान रूप तपश्चकारेत्यथ ॥१६॥

इति सुबोधिन्या नवम किरण ॥६॥

इसका नाम लाटानुप्रास है। उक्त कविता लाटी रीति से निबद्ध है।

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे श्रीहरिदासशास्त्रि कृतानुवादे

रीति निरूपण नाम नवम किरण ॥६॥

—*—

दशमः किरणः

अथ दोष निर्णयः

अथ (प्रथम किरणे ५) "यदस्मिन् दोष स्याच्छ्रवण कटुतादि स न पर" इत्युद्दिष्टस्य दोषस्य लक्षण परीक्षे दर्शयितु दोष किरणमारभते। कोऽसौ दोष? इत्याह—

रसापकर्षको दोषः ॥१॥

अपकर्षक स्थगनकारी। ननु रसस्यात्मन स्थगनमित्याशङ्क्याह,—

अथ दोष निर्णय

अस्मिन् काव्यपुरुषे स श्रवण कटुतादिरेव दोष, न पर। तस्मादन्य क्षुद्रतरदोषो न दोषो भवतीत्यथ। इति प्रथम किरणे उद्दिष्टस्य दोषस्य लक्षणोदाहरणे दर्शयितु दोषकिरणमारभत नर्वात। काव्य पुरुषस्य रस एवात्मा, तस्य कथ स्थगनमित्यथ। तत्तदिति-शब्द र्थाश्रयेण दोषेणास्वादस्यैव सङ्कोच क्रियते। नतु शब्दार्थस्य वेत्यथ।

इस ग्रन्थ के प्रथम किरण मे लिखित है—काव्यपुरुष मे श्रुति कटुतादि ही दोष पदवाच्य है, तद्भिन्न क्षुद्र दोष—दोष नही है, इस प्रकार उल्लेख के अनुसार दोष का लक्षण एव परीक्षा प्रदर्शन हेतु दोष किरण का आरम्भ करते हैं।

रसोऽत्रास्वाद उच्यते ॥२॥

अत्र दोष लक्षणे रस शब्देनास्वाद एवोच्यते। रस्यत इति रस, नतु शृङ्गारादिक आत्मभूता रस। यथा न काणत्वखञ्जत्वादिकमात्मन कौरूप्य कारणम् अपितु देहस्यैव, तथात्र शब्दार्थयोरेव दोष नात्मभूतस्य रसस्य। तर्हि शब्दार्थापकषको दोष' इत्येवास्तु लक्षणमित्याशङ्क्याह—

अपकर्ष स्तत्स्थगनम् ॥३॥

तस्यास्वादस्य स्थगन सङ्कोच। नहि शब्दाथस्य वा तेन सङ्कोच क्रियते, अपितु तत्तदाश्रयेण सता आस्वादस्यव।

अत सम्यगुक्त 'रसापकषकोदोष' इति। आस्वादश्च सहृदयान्तगत एव, येन शब्दाश्रयेणाथाश्रयेण वा अपकर्षकेण तेषा जायमान आस्वाद सङकुच्यते, स एव दोष ॥

स च द्वेधा निरूप्यते।

यावदास्वादापकर्षको यत् किञ्चिदास्वादापकर्षकश्च। यत्र सहृदयानामसहिष्णुता—भवति, स त्वाद्य, यत्र सहिष्णुता स्यात्, सोऽन्त्य ॥४॥

तथासति दोषस्य निकृष्ट लक्षण माह—येनेति। स च दोषश्च द्विधा निरूप्यते—यत्रेति। दोषस्योत्कटत्वे सहृदयानामसहिष्णुता, स यावदास्वादापकषक, दोषस्याल्पत्वे सहृदयाना यत्र सहिष्णुता, तत्र स

दोष का स्वरूप क्या है ? उत्तर मे कहते है—रसका जो अपकष कारक वा स्थगित कारक, वही दोष है।

यहा शङ्का हो सकती कि—आत्म स्वरूप रसका स्थगित करण कसे सम्भव होगा ? इस प्रकार शङ्का समाधानाथ कहते हैं—रस शब्द से यहा रसास्वाद को जानना होगा।

काव्य के आत्मभूत शङ्गारादि—यहा रस शब्दके वाच्य नही हैं। जिस प्रकार काणत्व खञ्जत्वादि, वह वरूप्य के कारण है, आत्मा का नहीं उस प्रकार दोष भी यहा शब्द एव अथ का ही है,—आत्म स्वरूप रस का नहीं है। ऐसा होने पर शब्दाथ का अपकषक ही दाष है, इस प्रकार दोष लक्षण होता है। इस हेतु अपकष शब्द का स्थगित करण इस प्रकार अथ किया गया है।

आस्वादन का स्थगन अर्थात् सङ्कोचन है। दोष—शब्द का अथ का सङ्कोच सम्पादन नहीं करता है, किन्तु शब्दार्थाश्रित होकर आस्वादन का ही अपकष साधन करता है।

अतएव जो रसका अपकर्ष कारक है—वही दोष है, यह लक्षण सुदर ही हुआ है। उक्त आस्वादन भी सहृदय हृदय गत है।

स्थूल कथा यह है कि—जो शब्दाश्रित वा अर्थाश्रित होकर उसके आस्वाद को सङ्कुचित करता है, वही दोष है।

उक्त दोष, यावदास्वाद का अपकषक एव किञ्चिदास्वाद का अपकर्षक होकर द्विविध होते हैं, उसके

श्रुति कट्वादयस्तत्रादावुच्यन्ते समासतः ।
पदे वाक्ये पदांशेऽमी अर्थेचेति चतुर्विधाः ॥

अमी श्रुतिकट्वादयः ॥५॥

श्रवण कठोरमसं कृतं मसमर्थञ्चाप्रयुक्तनिहतार्थे ।
व्यर्थमवाचकमपि चानुचितार्थं ग्राम्यमप्रतीतञ्च ॥६॥
अश्लील सन्दिग्ध नेयार्थमथो समासग क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांश विरुद्धमतिकृच्च षोडशैतानि ॥७॥

एतानि षोडश पदानि दुष्टानीत्यर्थः । 'अथो' इत्यारभ्य क्लिष्टादि-त्रितय समासगमेव-असमस्तस्य क्लिष्टत्वासम्भवात् । श्रवणकठोर श्रुतिकटु, असस्कृत च्युतसस्कृति, व्यर्थ निरर्थकम् । अश्लीलन्तु त्रिविधम्-व्रीडा-जुगुप्साऽमङ्गलदायित्वात् ।

क्रमेणोदाहरणानि—शिरीष पुष्पादपि कोमलानि, राधे तवाङ्गानि कुरङ्गनेत्रे ।
स्तनद्वय ते हृदयस्य शिष्य, कठोर्यमुच्चै र्यदिद बिभर्त्ति ॥

अत्र कठोर्यमिति श्रुतिकटु, तेन काठिन्यमिति पाठ्यम् ॥८॥

यत् किञ्चिदापकर्षक ॥१-५॥

समासतः सक्षेपतः श्रुति कटवादि दोषाणा षोडश भेदानाह-से ग्रथेति व्रीडेति -अ लील व्रीडादायि, तथा जुगुप्सादायि तथा मङ्गलदायि । इत्येव क्रमेण त्रिविध मित्यर्थ ॥६-७॥

स्तनद्वयमिति । यद् यस्मात् कठोरस्य हृदयस्य शिष्यम्त इद स्तनद्वय कठोरत्व बिभर्त्तीत्यर्थ ॥८॥

मध्य मे सहृदय वृन्द की असहिष्णुता जहा होती है वही प्रथम प्रकार है एव जहा सहिष्णुता होती है—वही द्वितीय प्रकार है ।

उसके मध्य मे प्रथमत श्रुति कटुतादि दोष का वर्णन सङक्षेप मे कहते है उक्त श्रुति कटुतादि दोष समूह पदगत वाक्यगत, पदाश गत, एव अथगत होकर चतुर्विध होते हैं ॥१ ५॥

उक्त दोष समूह षोडशविध होते है, श्रुतिकटु, च्युत सस्कृति, असमथ, अप्रयुक्त, निहताथ, व्यथ, अवाचक, अनुचिताथ, ग्राम्य, अप्रतीत अश्लील, सन्दिग्ध, नेयाथ, क्लिष्ट, अविमृष्ट विधेयाश एव विरुद्ध मतिकृत ।

इन सबके मध्य मे व्रीडा जुगुप्सा एव अमङ्गलदायित्वभेद से अश्लील त्रिविध एव क्लिष्टतादि असमस्तपद मे नही होते है, अत क्लिष्ट अविमृष्ट विधेयाश एव विरुद्धमति कृत् नामक दोषत्रय समासगत स्थल मे ही होते हैं ॥६ ७॥

क्रमश उदाहरण समूह प्रस्तुत करते है—हे कुरङ्ग नेत्रे राधिके तुम्हारे अङ्ग शिरीष कुसुम से भी

ब्रूम किमन्यं व्रजसुन्दरीजनं, सम समत्व तव देवि राधिके।
वैदग्ध्यमध्यापयते वयोऽपरा वयस्त्वमध्यापयसे विदग्धताम् ॥

अत्राध्यापयत इत्यात्मनेपद च्युत सस्कृति । तेन 'वदग्ध्यमध्यापयतीतरा वयस्तदध्यापयसि त्वमग्रत' इति पाठचम् ॥६॥

हसीव हसि मदमेदुरमन्दमन्द, मालोकसे सचकित हरिणाङ्गनेव ।
आभाषसे मृदुकल ललिते पिकीव, लक्ष्मी बिभर्षि सरसश्च वनस्य च त्वम् ।

अत्र यद्यपि हसीति 'हन् हिंसागत्यो' इति हन्तिगत्यर्थेऽपि वत्तते, तथापि श्लेषादिक विनाऽत्र गमनार्थेऽसमर्थमिदम् । तेन 'हसीव यासि' इति पठनीयम् ॥१०॥

राधे तवाङ्घ्रि पद्मोऽय सत्य दोहद दवत ।
अकालेऽपि पदाघातादशोक. पुष्पितोऽभवत् ॥

हे देवि राधिके ! अ य सम तव समत्व कि ब्रूम । यतोऽपरा व्रज सुन्दरीं वय कत्त वदग्ध्य मध्यापयते त्व तु वयःऽपि निदग्धतामध्यापयसे । अध्यापयत इति विशेषसूत्र बलात् परस्मपदेऽप्राप्ते आत्मनेपद च्युतसस्कृति । तेनेति—तद्वय कम एतद् बदग्ध्य त्वमध्यापयसि ॥६॥

हे ललिते ! त्व सरसस्तडागस्य वनस्य च शोभा बिभर्षि । तडागस्य शोभामाह—मदन मेदुर स्निग्ध यद्वाक्यात्तथा त्व हसीव हसि गच्छसि । वनस्य शोभामाह—हरिणाङ्गनेत्यादि ॥१०॥

वृक्षाणा शीघ्र वृद्धौ तथा अकाले पुष्प फलोत्पत्तौ च कारण मौषधविशेषो दोहद तथा च पादपद्मो दोहद रूप देवता विशेष । यस्य पाद पद्मस्याघातात् ॥११॥

कोमल है किन्तु तुम्हारे स्तनद्वय कठार हृदय के शिष्य होने के कारण इस प्रकार कठोर हैं। यहाँ 'कठोर्य्य' पद श्रुति कटु है अतएव यहा काठि य' पाठ ही समीचीन है ॥८॥

हे देवि राधिके ! अन्य व्रजाङ्गना वृ द के सहित तुम्हारी तुलना कसे दे सकता हूँ ? यौवन उनसब को वदग्ध्य अध्यापन करता है, कि तु तुम तो यौवन को बदग्ध्य अध्ययन कराती रहती है।

इस श्लोक मे अधिपूवक अध्ययनार्थक इङ धातु के उत्तर आत्मनेपद प्रयोग करने से च्युत सस्कृति दोष हुआ है ॥६॥

हे ललिते तुम हसीके समान मदस्निग्ध मन्द म द गमन शीला हो, हरिणी के समान सचकित विलोकन एव कोकिल के तुल्य मृदुकल स्वर से भाषण पूर्वक युगपत् सरोवर एवं कानन की धारण कर रही हो।

हन् धातु के अथ हिंसा एव गति—उभय अर्थ हाने पर भी श्लेषादि व्यतीत गमन अथ मे प्रयुक्त "हनन्" पद का स्वारसिक अथ बोध न होने के कारण-असमर्थता दोष हुआ है, अतएव हसी के समान गमन,—इस प्रयोग करना ही उचित है। १०॥

हे राधे ! तुम्हारे ये पाद पद्म—यथाथ ही दोहद—देवत हैं। कारण -इस में आघात से अशोकतरु अकाल मे कुसुमित हुआ है।

यहाँ मूल श्लोक के पद्म एव दवत शब्द मे पुरुषोत्तम लिङ्ग का प्रयोग हुआ है, यद्यपि उक्त शब्द

अत्र 'वा पुंसि पद्म नलिनम्' 'दैवतानि पुंसि वा' इति यद्यप्यनुशासनं वर्त्तते, तथापि कविभिरप्रयुज्यमानत्वादप्रयुक्तम्। तेन 'राधे तव पदाम्भोजं सत्यं दोहदं दैवतम्' इति पाठ्यम् ॥११॥

लाक्षारसेन तव शोणितमद्य वक्षः स्तस्य पदाम्बुरुहतो गलितेन कृष्ण।
आभाति फुल्लनवकोकनदावलीक, शान्तोर्मिको ह्रद इव द्युमणे सुतायाः ॥

अत्र यद्यप्यरुणितादि पद—समानार्थकं शोणितपदम्, तथापि प्रसिद्धेन क्षतजार्थत्वता प्रसिद्धार्थो व्याहन्यत इति निहतार्थं। तेन लोहितमिति पाठ्यम् ॥१२॥

गुणास्त्वनेनैव तवोहिता हरे, प्राणेश्वरी जीवित वल्लभोऽसि यत्।
दोषोऽप्ययं किन्तु कुलाङ्गनातते, मनोमणिस्तेयकरत्वमेव च ॥

अत्र चकारं केवलं पादपूरणार्थत्वाद् व्यर्थं पदम्। तेन 'मनोगणिस्तेयकरत्वमेव ते' इति पाठ्यम् ॥१३॥

काचित् मानिनी मानभङ्गार्थमागतस्य श्रीकृष्णस्य वक्षःस्थले सम्भोग चिह्नं दृष्ट्वा सक्रोधमाह लाक्षेति। तव वक्षः शोणितमरुणितं सत् आभाति। तत्र दृष्टान्त—फुल्लकोकनदस्य रक्तोत्पलस्य श्रेणी यत्र तथाभूतो द्युमणेः सुतायाः यमुनायाः ह्रद इव। तथापीति शोणित पदस्य प्रसिद्धेन रक्तार्थत्वेनाऽप्रसिद्धो ऽरुणितार्थो बाह्यते ॥१२॥

प्राणेश्वरी श्रीराधिका, तस्याः जीवित वल्लभो यत् यस्मात्त्वं भवति। अनेनैव तव गुणा अहितास्तर्किताः। किन्तु तव दोषोऽप्ययमस्ति, यत् कुलाङ्ग' नेत्यादि ॥१३॥

इसका पुंलिङ्ग प्रयोग विकल्प मे कोष ग्रन्थ मे विहित है, तथापि कविगण कदापि उस का प्रयोग न करने के कारण—उस से अप्रयुक्तता दोष हुआ है, अतएव क्लीबलिङ्ग मे परिवर्त्तित करके पाठ करना ही समीचीन है ॥११।

उदाहरण—हे कृष्ण ! अद्य तदीय चरणारविन्दसे विगलित लाक्षारस से तुम्हारे वक्ष स्थल शोणित होने के कारण प्रतीत होता है कि जैसे यमुना किसी तरङ्ग शून्य ह्रद मे नव कोकनद समूह प्रफुल्ल हुये हैं।

यहाँ शोणित पद यदि अरुणितादि पद के समानार्थक है, तथापि उस का रुधिर यह अर्थ प्रसिद्ध है, एवं प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा उक्त अप्रसिद्धार्थ व्याहत होने के कारण यहाँ निहतार्थता दोष हुआ है। इस हेतु उक्त श्लोक मे प्रयुक्त शोणित पद के परिवर्त्त मे 'लोहित' इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ॥१२॥

हे कृष्ण ! इस से ही तुम्हारे अगणित गुणगण की सत्ता अनुभूत हो रही है, कि—तुम तुम्हारी प्राणेश्वरी के प्राण से भी प्रियतम हो गये हो, किन्तु कुलाङ्गना गण की मनोरूप मणिका अपहरण कारित्व रूप जो दोष है, वह भी विलक्षण रूप मे तुम्हारे मे व्यक्त हुआ है।

यहाँ के श्लोक मे केवल पाद पूरणार्थ चकार प्रयुक्त होने से वह व्यर्थ हुआ है, एवं उससे व्यर्थ पदता दोष हुआ है। अतएव चकार स्थान में 'ते' इस प्रकार पाठ करना चाहिये। १३॥

यस्यामीक्षण कौमुदीयमुदिता हा हन्त साऽभून्निशा
योऽय त्वद्विरहान्धकार गहन सोऽभूदहो वासर ।
तद्रूपस्मरणे य इन्द्रियलय सोऽभूदहो मूर्च्छन
किं ब्रूयामविवेकता तव विधे वामाय तुभ्य नम ॥

अत्र पूर्वार्धे 'निशा' पद केवलान्धकारेऽवाचकम् । एव 'वासर' शब्दोऽपि केवल प्रकाशे ऽवाचक । ते नेदमवाचकम् । अतो 'हा हन्त सा तामसी, येय तद्विरहान्धकार गहना ज्योत्स्नावती साऽभवत् ।'

बिभर्षि नील वसन यदेतद्धलञ्च पाणौ न कथ करोषि ?
जानातु लोक स्तवकृष्ण वेषाद् वर्षीयसि भ्रातरि भक्तिमत्त्वम् ॥

अत्र 'हल' पद कृष्ण प्रति साकूतत्वेनोचितमपि कृषकत्व-व्यञ्जनयाक्षेपेण तदेव बलदेव प्रत्यनुचितमित्यनुचितार्थम् । तेन प्रकृत भङ्ग्यव 'कथ न पाणौ मुषल करोषि' इति प्रकृतार्थं प्रत्युचितमेव अत्रापि ध्वन्यन्तर सद्भाव ॥१५॥

मथुरास्थ श्रीकृष्ण श्रीराधिका विरहेण व्याकुल सन् स्वगतमाह--ममेक्षणस्य कौमुदी रूपेय राधिका यस्या निशि उदिता, सा निशा अन्धकारोऽभूत् । तस्या विरहा धकारेण गहनो निविड़ो योऽभूत् स मम वासर प्रकाशोऽभूत् जरासन्धेन सह युद्धोद्यमाद्यनेक विषये सदेन्द्रियाणा विक्षेप एव तिष्ठति, कथ लय सम्भवतीति भाव । अत इति - सा ज्योत्स्नावती निशा तामसी अन्धकार बहुला अभूत् । राधाया विरहान्धकार गहना या निशा सा ज्योत्स्नावत्यभवत् ॥१४॥

भ्रमेण स्वीय पीतवसन विहाय विपक्षाया नीलवस्त्रमङ्गे निधाय मानभङ्गार्थं मागत श्रीकृष्ण काचित् मानिनी साकूत माह—बलदेवस्य परिधेय वस्त्र भक्त्या यदि स्वीयाङ्गे करोषि, तदातस्य हलमपि पाणौ कथ न करोषि ? वर्षीयसि ज्येष्ठे भ्रातरि । ध्वन्यन्तरेति— तद्यथा, वर मुषलाघातोऽपि सह्य नतु विपक्षरमणी वस्त्रधारित्वमिति ध्वनि ॥१५॥

श्रीकृष्ण — राधिका विरह से व्याकुल होकर आप ही आप कह रहे हैं—हाय ! मेरी नेत्र कौमुदी स्वरूपा प्राणाधिका जिस समय उदित होती, वह अभी निशा हो गई है । तदीय विरहान्धकार से जो निविड है, वही सम्प्रति वासर हो गया है । तदीय रूप राशि का स्मरण से जो इन्द्रिय लय होता, वही अधुना मूर्च्छा हो गई है ॥१४॥

भ्रमसे निज पीत वसन को छोडकर विपक्ष के नील वस्त्र धारण कर मान भङ्गार्थ आगत श्रीकृष्ण को एक मानिनी कही थी— हे कृष्ण ! जब तुम नीलवसन धारण किये हो, तब हल धारण क्यो नहीं किये ? ऐसा होने पर तुम्हारे वेश को देखकर अनायास लोक जान जाते कि— ज्येष्ठ भ्राताके प्रति तुम्हारी भक्ति यथेष्ट है ।

यहाँ कृष्ण के प्रति निगूढ़ अभिप्राय से हल पद प्रयुक्त होने पर—वह उचित होने पर भी कृषकत्व व्यञ्जना प्रयुक्त बलदेव के प्रति उक्त प्रयोग अनुचित हुआ है । अतएव हल पद के परिवर्त्त मे "करतल में

वक्षोरुहौ काञ्चन पद्मकोरकौ, मुष्टि प्रमेय तव सुभ्रु मध्यमम् ।
कटिश्च ते हेमशिलाविलासिनी, शशी मुख पद्मजमङ्घ्रियुग्मकम ।।

अत्र 'कटि' शब्दो ग्राम्य । एवमुत्तमनायके नागरादि-शब्दोऽपि नागरिक-नागरयो रेकार्थत्वात् । तेन श्रोणिश्च ते हेमशिलाविलासिनी' इति पाठचम् ।।१६।।

नामे न पच्यमाने वा न पक्वेऽप्ययमाशये । याति प्रेमरस कि तुदुज्वरोऽङ्ग विमर्दक ?

अत्राशयशब्दस्तस्य त्रविध्यञ्च वैद्यकश स्त्रे एव प्रतीतम् । अन्यत्र अप्रतीतमिति तथा । तेन 'नामोऽसौ पच्यमानश्च न पक्वश्च भवत्यसौ । एकावस्थ प्रेमरसो दुजर प्राणपीडक ।।' इति पाठचम् ।।१७।।

अश्लीलन्तु त्रिविधमिति यदुक्त तस्य भेदमाह । व्रीडादायी यथा—
लावण्य मन्याद्दशमन्यथैव, माधुर्य्यमन्यद्गिय वपुश्च ।

हे सुभ्रु ! तव मुख शशीचन्द्र । नागरिक—शब्दा नगर सम्बन्धि वाचक , तथा नागर-शब्दोऽपि अत उभयोरेकार्थत्वान्नागरादि--शब्दो ग्राम्य एव ।।१६।।

ज्वर जनको रस आमाशय तिष्ठति । पच्यमानाशये सति किं वा पक्वाशयेसति याति । काश्चिद् रस आमाशयेऽपि यातीति वैद्यक शास्त्रे कथितम् । अयन्तु प्रेमरस आशये आमे सति न याति, एव पच्यमाने सति न याति, तथा पक्वेऽपि सति न याति ।।१७।।

यस्य कृष्णस्य योगे वियोगे वा या दश लावण्यादयो भवन्ति, स श्रीकृष्णस्तवानुवर्त्ती । अतस्तव

भूषण धारण क्यो नही किये" इस प्रकार प्रयोग करने से ही वह प्रकृतार्थ के अनुकूल होता, एव उसमे ध्वन्यन्तर का भी सद्भाव होता ।।१५।।

हे सुभ्रु ! तुम्हारे पयोधर युगल कनकमय कमल कोरक सदृश हैं, मध्यभाग-मुष्टि प्रमेय है, कटिदेश स्वर्णमयी शिला के समान है, मुख मण्डल शशधर के समकक्ष है, एव चरण युगल-सरोरुह सदृश सु शोभन हैं । यहा कटि' शब्द प्रयोग से ग्राम्यता दोष हुआ है, अतएव कटिके परिवर्त्त मे श्रोणि शब्द प्रयोज्य है, इस प्रकार उत्तम नायक मे नागरादि शब्द प्रयोग भी दोषावह है, नागरि एव नागर—उभय शब्द ही नगर सम्बन्धी – एकविध अर्थ प्रकार करते हैं।।१६।।

ज्वर जनक रस आमाशय मे रहता है । पच्यमानाशय कि वा पक्वाशय होने पर भी वहा नहीं जाता एव किसी रस आमाशय को जाता है । कि तु दुजर एव अङ्ग विमदक प्रेमरस आशय आम वा पच्यमान, अथवा पक्व होने पर भी गमन नहीं करता है ।

यहाँ आशय शब्द एव उसके तीन भेद— वैद्यक शास्त्र मे सु प्रतीत है अ यत्र अप्रतीत होने के कारण अप्रतीत नामक दोष हुआ है ।

अतएव 'दुजर प्राण पीडक प्रेमरस आम भी नहीं होता है, पच्यमान भी नही होता है एव पक्व भी नहीं है, एक प्रकार ही रहता है" इस प्रकार पाठ करना चाहिये ।।१८।।

पहले जो त्रिविध अश्लील की कथा कही गई है, उदाहरण के द्वारा उसके भेद को व्यक्त करते हैं

योगे वियोगे च भवन्ति यस्य स तेऽनुवर्त्ती किमतोभग ते ?

अत्र 'भग' श्रीकाममाहात्म्य' इत्यादिषु यद्यप्यने केष्वर्थेषु वर्त्तते, तथाप्यत्रव्रीडाकरम्, किन्तु सुभगा, दुर्भगा—भगिनी–भगवतीत्यादिषु न तथा, शब्दस्य तथैव मर्य्यादा। तेन स एष कृष्णस्तव पार्श्ववर्त्ती' इति पाठ्यम्।

एव लिङ्गपदमपि क्वचिद् व्रीडाकरम्, नतु सर्वत्र। उक्तञ्च 'शिवलिङ्गस्य सस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना' एव योन्यादि--शब्दोऽपि क्वचिन्नापि यथात्मयोनि प्रभृति ॥१८॥

ब्राह्मण क्षत्रिय विट वा शूद्रो वा निज धर्मत ।
न निस्तरति ससार विना कृष्णाङ्घ्रिसेवननात् ॥

अत्र विश विशोर्भिन्न प्रकृतिकत्वेऽपि आकारैकत्वे न विडिति जुगुप्साकरम्। तेन 'वैश्य' इति पाठ्यम् ॥१९॥

एव वायु प्रभृति पदमपि, यथा—

रज प्रसूनस्य ममाक्षिलग्नामिति व्यथा कापि तथाप्यमैषीत्।

भग माहात्म्य किमु वक्तव्यम्। एव योन्यादि—शब्दोऽपि क्वचिन्नापि व्रीडाकर ॥१८॥

विश शब्दो वैश्यवाची, तथा विष शब्दोऽपि विष्ठा वाची अतस्तालव्य शकार मूर्धन्य षकारयोभदेन विश विषोर्भिन्न प्रकृत्ति कत्वेऽपि प्रथमाया एक वचने उभयो विडित्येकाकार एव प्रतीति रिति जुगुप्साकरम् ॥१९॥

उसके मध्य मे व्रीडादायक का उदाहरण—

जिसके सयोग एव विच्छेद से तुम्हारा लावण्य अन्य प्रकार होता है। यह माधुर्य अन्यथाभूत है, और यह शरीर भी भिन्न प्रकार होता है वह कृष्ण ही तुम्हारे अनुगत होकर है। तुम्हारा भग अर्थात् माहात्म्य के सम्ब ध मे अधिक वक्तव्य क्या है ?

यहाँ भग शब्द श्रीकाम माहात्म्यादि नानार्थ का वाचक होने पर भी व्रीडाकर हुआ है। किन्तु सुभगा, दुभगा, भगिनी, भगवती प्रभृति स्थल मे भग शब्द तादृश व्रीडाकर नहीं है। शब्द की मर्य्यादा ही इस प्रकार है। अतएव 'वह कृष्ण ही तुम्हारे पार्श्ववर्त्ती है, इस प्रकार पाठ करना कत्तव्य है। इस प्रकार लिङ्ग पद भी क्वचित व्रीडाकर होता है, कि तु सर्वत्र नहीं, कहा भी है 'शिव लिङ्ग के सस्थान मे किस व्यक्ति के मन मे असभ्यत्व चिन्ता का उदय होता है ? इसी प्रकार यो यादि शब्द भी कहीं पर व्रीडाकर नहीं है, जिस प्रकार आत्म योनि शब्द लज्जाकर नहीं है ॥१८॥

जुगुप्साकर का उदाहरण— ब्राह्मण, क्षत्रिय, विट् वा शूद्र जो कोई वर्ण हो, श्रीकृष्ण के पादपद्म की सेवा न करने से केवल निज धम पालन रूप धर्माचरण से ससारोद्धार नहीं होता है।

यहाँ वैश्य वाचक तालव्य 'श' कारान्त विश एव विष्ठा वाचक मूर्ध य षकारान्त विष एतदुभय की प्रकृति भिन्न भिन्न होने पर भी उभयका ही प्रथमाका एक वचन मे 'विट' एकविध रूप होने से जगुप्साकर होता है। अतएव "वैश्य वा शूद्र" इस प्रकार पाठ करना ही समीचीन है ॥१९॥

मुखस्य वायु ददता मुकुन्देनोदस्य तत्तत्र च सा चुचुम्बे ॥

अत्र 'वायु' प्रभृति शब्दो जुगुप्साजनक शब्दमर्यादया, तेन मुखानिलेनव निरस्यता तत्, कृष्णेन सा तत्र चिर चुचुम्बे' इति पाठ्यम् ॥२०॥

अमङ्गलदायि यथा—

अहह हृदयबन्धो कोऽपि शोक कुकूलो ज्वलति किमपि मन्द मन्दमेवातितीक्ष्ण ।
अपितु दहति सर्वाण्येव मर्माणि गाढ, धगिति भवति दीप्तस्तज्जनस्यावलोके ॥

अत्र शोक इति करुण रसस्यायित्वादमङ्गल मरण रूप प्रत्यापर्यात, अतोऽमङ्गल–स्मरणादश्लीलम् तेन 'प्रिय विरह कुकूल कोऽपि नोच्चै शिखोऽपि' इति वाच्यम् । एव नाशादि शब्दोऽप्यदर्शनवाच्यपि तथा ॥२१॥

कालिन्द्या पुलिनाप्लावि काञ्चन सतरङ्गकम् ।
द्योतने सुरतस्रस्ता वेणि श्रोणिगतेव ते ॥

रज इति कापि व्रजसुन्दरी पुष्पस्य रजो ममाक्षिलग्नमित्युक्त्वा पीडा तथा अभ्यनयीत, पीडाभिनय तथा कृतवती, यथा मुखस्य वायु ददता मुकुन्देन तद्रज । उदस्य दूरीकृत्य सा व्रजसुन्दरी चुचुम्बे ॥२०॥

हृदय बन्धा श्रीकृष्णस्य शोक कुकूलस्त अग्निरत एवातितीक्ष्ण किमपि मन्द मन्दमेव ज्वलति, अपितु सर्वाण्येव मर्माणि दहति । किन्तु तस्य प्रिय जनानामालोके सति 'धक' इति कृत्वा महान् दीप्तो भवति । तेनेति प्रिय विरह रूप तुषाग्निर्नोच्च शिख किमपि मन्द मन्द ज्वलति । एव श्रीकृष्णस्य दर्शन स्थले श्रीकृष्णस्य नाश इति प्रयोगो न कर्त्तव्य ॥२१॥

श्रीकृष्ण आह—हे प्रिये ! यमुना पुलिनाप्लावि तथा च तरङ्ग सहित काञ्चन द्योतते ते तव श्वेत

वायु प्रभृति शब्द के सम्बन्ध मे भी उस प्रकार जानना होगा । दृष्टान्त—पुष्प पराग भरे नयनो मे गिर गया है, यह कह कर एक व्रजसुन्दरीने तज्जनित पीडा से इस प्रकार अभिनय किया कि- मुकुन्द मुख वायु प्रदान के द्वारा उसको विदूरित करके तदनुसार बिम्ब को सुचिर काल चुम्बन करने लग ॥२०॥

अमङ्गल दायक का दृष्टान्त—हाय ! हृदय बान्धव के वह निदारुण शोकरूप तुषाग्नि धीरे धीरे ज्वलित होकर निखिल मर्मस्थल को गाढ दग्ध कर रही है, एव तदीय प्रियजनगण दर्शन समय मे धक धक कर प्रज्वलित हो उठती रहती है ।

यहाँ शोक शब्द करुण रस का स्थायिभावत्व प्रयुक्त मरण रूप अमङ्गल प्रतीत कराता है अतः अमङ्गल स्मरण हेतु अश्लील हुआ है । अतएव ' प्रिय विरह एक अनिर्वचनीय तुषाग्नि स्वरूप है । वह उच्च शिखा विशिष्ट नहीं है, अथच अति तीक्ष्ण है" इस प्रकार पाठ करना पडेगा । एव नाशादि शब्द भी अदर्शन वाचक होने पर भी उस प्रकार अश्लील के मध्य मे परिगणित है ॥२१॥

श्रीकृष्ण कहे थे—हे प्रिये ! यमुना पुलिनप्लावी तरङ्ग रङ्ग नर्त्तित काञ्चन किस प्रकार अपूर्व कान्ति मण्डित है, जिस प्रकार तुम्हारे विशद वसनावृत श्रोणिबिम्ब मे सुरत समय मे स्खलित श्याममणि वेणि विलम्बित हुई है ।

अत्रकस्य जलस्य अञ्चन गति किं वा काञ्चन कनकमिति सन्देहात सन्दिग्धम् । तेन 'पुलिनाप्लाविनी धारा घनवीचि यमस्वसु' इति पाठे दोषान्तरञ्च नश्यति ॥२२॥

यथा वा–कृष्णोऽस्या वशवर्त्तीति वदनाद्वदन गता ।

चन्द्राच्चन्द्रे पद कृत्वा स्तुत्या कीर्त्ति प्रयाति ते ॥२३॥

अत्र स्तत्येति तृतीयया किं स्तवेन किंस्तवार्हेति वा सन्देह । तेन 'कीर्त्ति भ्रमति ते भुवि' इति वाच्यम् ॥२३॥

तव नयन चकोरी–पुच्छकच्छाभिघात, व्यथित हृदयवृत्तीनीव नीलोत्पलानि ।

कमलमुखि जनेभ्यो लज्जया न प्रकाश दधति दिवसमध्ये मुद्रितान्येव सन्ति ॥

अत्र पुच्छकच्छाभिघातेत्यादिना निर्जितत्वमेवलक्ष्यते । सा च लक्षणा दुष्टैव । उक्तञ्च 'कुमारिल भट्टस्य श्लोक वार्तिके' ।

वस्त्र युक्त श्रोणि गतासुरतस्रस्ता श्यामवर्णा वेणिरिव । दोषान्तरञ्चेति काञ्चनमिति शब्दो नपु सक, वेणिरिति शब्द स्त्री लिङ्ग । अत उपमाया लिङ्गभेद रूपो यो दोष, सोऽप्यत्र पक्षे नास्तीत्यथ ॥२२॥

काञ्चनस्य कनकार्थत्वेन श्लोकार्थ सङ्गच्छत इत्यपरितुष्यन्नाह–यथा वे त । अत्र जलाञ्चनस्यार्थस्या प्रसिद्धत्वात् निहतार्थत्वमेवेत्यत आह—यथा वेति । ललिता श्रीराधा प्रत्याह कृष्णो राधावशवर्त्तीति कीर्त्तिवदनाद् वदन गता सती एकस्या मुखचन्द्राद यस्या मुखच द्रे परमास्पद कृत्व सर्वेषा मुखचन्द्र प्रयाति कीर्त्ति कथम्भूता ? स्तुत्यास्तवार्हा, किं वा स्तुत्या स्तवेन सह प्रयातीति सन्देह ॥२३॥

रात्रौ विकसितानि नीलोत्पलानि दिवसे मुद्रिता येव सन्तीत्यत्र हेतु श्रीकृष्ण प्रिया प्रत्याह तवेति । हे कमलमुखि ! तव नयन रूप चकोर्य्यो पुच्छ देशाभिघातेन व्यथिता हृद् वृत्तयो येषा तथाभूतानीव नीलोत्

"यहाँ काञ्चन शब्द से व्यक्ति का अञ्चन अर्थात् गमन अर्थ का बोध होता है । अथवा काञ्चन शब्द से सुवर्ण का बोध होता है । इस प्रकार सन्देह होने से सन्दिग्ध होता है । अतएव 'पुलिन प्लाविनी तरङ्ग भङ्गमयी यमुना धारा' इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है । ऐसा होने पर उपम न उपमेय का लिङ्ग भेद रूप दोष भी परिहृत होता है ॥२२॥

उदाहरणान्तर—हे सखि राधिके ! श्रीकृष्ण तुम्हारे वशवर्त्ती मानकर तुम्हारी स्तुति के द्वारा कीर्त्ति, वदन से वदनान्तर में सञ्चरण शीला होकर एक मुखचन्द्र से अपर के मुखचन्द्र में पदार्पण पूर्वक सर्वत्र विचरण कर रही है ।

यहाँ मूल श्लोकस्थित स्तुत्या इस पद से स्तुति के सहित यह अर्थ अथवा स्तुति योग्या यह अर्थ है, इसका निश्चय न होने के कारण सन्दिग्ध दोष हुआ है । अतएव "तुम्हारी कीर्त्ति, भूतलमें भ्रमण कर रही है, इस प्रकार समुचित पाठ है ॥२३॥

हे कमलमुखि ! नीलोत्पल समूह तुम्हारे नयन चकोरी के पुच्छ देश के व्यथित हृदय होकर ही जैसे लज्जा हेतु दिवस मे जनगण के समीप मे प्रकाशित नहीं होते हैं, मुद्रित भाव से ही अवस्थान करते हैं ।

यहाँ "पुच्छ देश के अभिघात से" इस के द्वारा पराजितत्व ही लक्षित हो रहा है । किन्तु उस

"लक्षणा सा न कर्त्तव्या कष्टेनार्थागमो यत । न यत्र शक्यसम्बन्धो न रूढिर्न प्रयोजनम् ॥"

तेन 'नेयार्थमिदम् ।' तेन 'तव नयन युग श्रीसाहचर्य्यं न लब्धा' इति पाठ्यम् ।२४ २५।

अथ क्लिष्टादीनि समासगतान्येव ।

यमुनाजनकज्योति रुदयस्मित शालिभि । त्वन्मुखस्य तुलामाप्तुमुदवासतपोदधे ।

अत्र यमुना जनक सूर्य्य स्तस्य ज्योतिष उदयेन- स्मित शालिनि पद्मानि तैरिति क्लेशत एवार्थविगतिरिति क्लिष्टम् ॥२६॥

नाय पौष्पो न खलु धनुषो नापि मौर्व्याश्च निघ्नो
मुग्धे दिग्ध किममृतरसेनैव किं वा विषेण ।
निर्मुक्तोऽपि, प्रकटमसकृद् वीक्ष्यते मुच्यमानो ।
राधे कोऽय तव रति पते, षष्ठुवाण कटाक्ष ?॥

पलानि दिवसे लज्जया ऽकाश न वर्धति । अत्र उत्पलाना दिवसे मद्रने कारण लज्जा, तस्या कारण प्रिया नयन कर्त्तृक तेषां निर्जितत्वम्, तस्य बोध पुच्छ कच्छाभिघातेत्यादिना न भवति ।

अत पुच्छ कच्छ भिघातेत्यादिना लक्षणया निर्जितत्वबोधो भविष्यति । तत्र निर्जितत्वरूपेऽर्थे कस्यापि पदस्य शक्य सम्बधाभावाद्म लक्षणा भवति । यदि यथाकथञ्चित् कष्टेन शक्य सम्ब ध स्वीकरोति तदा कष्ट गम्यत्वेय लक्षणा दु टेत्यथ । चकोर्य्या पुच्छाघातो नीलोत्पलेन सम्भवतीति लक्षणाभाव वीज ज्ञेयम् ॥२४-२५॥

यमुनेति । कमलस्त्वन्मुखस्य तुलनामाप्तु जल वासरूप तपोदधे ॥२६॥

हे राधे ! तवाय कटाक्ष रूपो वाणो न पौष्प पुष्प सम्ब धी न । न वा धनुषो निघ्नो वश नापि मौर्व्या ज्यायावश । किममृतरसेन दिग्धो लिप्त, किं व विषेण लिप्त, त्वया सकृन्निर्मुक्तोऽपि स

प्रकार लक्षणा दुष्ट है, पूर्वाचार्य्योने कहा है—जहाँ कष्ट से अथ बोध होता है, एव जहाँ शक्य का सम्ब ध नहीं है, अथवा रूढि का प्रयाजन भी नही है वहाँ लक्षणा करना उचित नहीं है ॥२४॥

अतएव यहा नेयार्थता दोष हुआ है 'तुम्हारे नयन युगल की लावण्य लक्ष्मी के सादृश्य लेश को प्राप्त करने मे अक्षम हे" इस प्रकार पाठ कल्पना श्रेयस्कर है ॥२५॥

क्लिष्टादि दोष समासगत होते हैं । क्रमिक उदाहरण—यमुना जनक ज्योति पुञ्जोदय से स्मित विशिष्ट गण तुम्हारे मुख मण्डल की तुलना को प्राप्त करने के निमित्त जल वासरूप तपस्यारम्भ किये हैं ।
यहा यमुना का जनक सूर्य हैं, उनके ज्योति पुञ्ज के उदय से स्मित विशिष्ट अर्थात् पद्म, इस प्रकार कष्ट से अर्थावगति होने के कारण क्लिष्ट है ॥२६॥

हे मुग्धे राधिके ! तुम्हारे कुटिल कटाक्ष, रतिपति के अपूव षष्ठ वाण स्वरूप है । देखो, वह पुष्प निर्मित नहीं है एव धनु वा मौर्वी का भी अधीन नहीं है, वह विषदिग्ध वा अमृत रससिक्त है, कुछ समझने में नहीं आता है, उस वाण को तुम एकवार छोडने पर भी पुन पुन मुच्यमान दृष्ट होता है ।
यहाँ वाण का षष्ठत्व विधेय है वह समास मे गुणीभूत होने के कारण अविमृष्ट विधेयाश नामक दोष

अत्र षष्ठत्व विधेयम्, तत्तु समासे न गुणीभूतमित्यविमृष्टविधेयाश । तेन मुग्धे' इत्यत्र 'राधे' इति कृत्वा 'षष्ठ कोऽय नयनमयि ते पञ्चबाणस्य बाण " इति पाठे साधु ।२७।

यथा वा—अकृत सुकृत किञ्चिद् तपश्च तथा तप
भवेय येन ते नाथ करुणालव भाजनम् ॥

अत्र नञ पाधान्यम, तस्य समासेन गुणीभाव । एव लवस्य विधेयत्वेन समासेन गुणीभाव । तेन 'न कृत सुकृत किञ्चिन्न तपश्च तथातप । मयि येन भवेन्नाथ करुणाया लवोऽपि ते ॥" इति साधु ॥२८॥

तथा—(पञ्चम किरणे ७२) 'उदयति शशि श्रीराधाया न तन्मुख मण्डलम्' इत्यत्र न कारस्य प्राधान्याद् गुण । यत्र तु विशेषाभिधान तत्र नञ समासोऽपि न दुष्यति । २८॥

बाणोऽनर्थ मुच्यमान एव दृश्यते । कन्दर्प स्तावत् पञ्चबाणत्वेन प्रसिद्ध । तव कटाक्ष रूप षष्ठो बाण कोऽयमनर्थकारक इत्यर्थ ॥२७॥

येन सुकृतेन तव करुणालवभाजनमह भवेयम्, तत् सुकृत किञ्चिदपि न कृतम् । अत्रोत्तरवाक्यगत यत् पदेन तत् पदापेक्षा न स्तीति भाव । अत्र नञ् तत् पुरुषे उत्तर पद प्राधान्याद् विधेयस्य नञोऽप्राधान्य दोष ॥२८॥

कदाचिद् विरहजन्योन्मादेन चन्द्रादीन् श्रीराधावयवत्वेन ज्ञात्वा विधीर्षया धावन्त श्रीकृष्ण प्रति मधुमङ्गल आह । कृष्ण पक्ष चतुर्थ्यां च द्र उदयति न राधाया मख मण्डलम् । एव चन्द्रोदयात् तिमिर स्खलति, न तस्या कोमलनीलवस्त्रम् । हरिता दिशा चक्र समूहो हसति प्रकाशते, न तस्या सखी समूह-, वेष्टिता राधा न भवतीत्यर्थ अत्र न कारस्य प्राधान्याद् गुण एव नतु दोष इत्यर्थ । यत्र नञ सहित समस्त पदार्थस्य विशेषाभिधानमपेक्षित भवति, तत्र नञा सह समासोऽपि न दोष ॥२८॥

हुआ है। अतएव मुग्धे—यहाँ राधे इस प्रकार परिवर्त्तन करके "तुम्हारे कटाक्ष पञ्चबाण के यह कया अपूर्व षष्ठबाण हैं। इस प्रकार पाठ करना ही कर्त्तव्य है ॥२७॥

उदाहरणान्तर—हे राधे ! जिससे मैं तुम्हारे करुणा भाजन हो सकूँ, इस प्रकार किसी प्रकार सुकृत भी अकृत है, एव तप भी अनाचरित है।

यहा नञ का प्राधान्य है, किन्तु समास मे उसका गुणीभाव हुआ है, एव कणा का विधेयत्व ही समुचित है, किन्तु समास मे वह भी गुणीभूत हुआ है।

अतएव हे नाथ ! जिससे मै तुम्हारी करुणा के लेश भाजन हो सकूँ, इस प्रकार सुकृत भी कुछ भी नहीं किया गया है एव तदनुरूप तप का आचरण भी नहीं हुआ है। इस प्रकार पाठ ही साधु है ॥२८॥

पञ्चम किरण के ७५ श्लोक मे उक्त है—

उदयति शशी श्रीराधाया न तन्मुखमण्डल
स्खलति तिमिर सारसाक्ष्या न नील निचोलक ।
हसति हरिता चक्र तस्या ननाम सखीगणो
भ्रमति भुवने ज्योत्स्नैवास्या न साङ्गरुचिच्छटा ॥"

यथा—अमार्जित सुचिक्कणैरनभिषिक्त धौतोज्ज्वल, रभूषित मनोहरैरननुलिप्त सत् सौरभैः ।
तमालदल कोमलैर्नयनकौमुदीकन्दल रहो किमिदमङ्गकैः स्फुरति नीलमाद्य महः ॥

अत्र सुचिक्कणादि विशेषाभिधाने ऽमार्जितादिषु नञ समासो गुण एव, तद्रूपत्वमेव-- विधेयम् । न तेन विधेयाविमर्ष । यथा (काव्यादर्शे २।२००) "अपीत क्षीवकादम्बम्" इति दण्डिण ॥२९॥

यथा वा—अनासक्त कर्म कुर्वन्नसक्तो विषयान् जुषन् ।
अप्रमत्तो भजन् कृष्ण न स तैस्तैर्निबध्यते ॥३०॥

यथा वा—अपूत पूतता गच्छेदविज्ञो विज्ञता व्रजेत् ।

अहो आश्चर्यम्, किमिद श्रीकृष्ण स्वरूपमाद्य नील महः कमलाङ्गकरण स्फुरति । कथम्भूत ? अमार्जितञ्च तत् सुचिक्कणञ्चेति, तथा च माजन विनव सुचिक्कणरित्यथ । अभिषेक विनव धौतोज्ज्वल, अनुलेप विनव सुगन्ध, नेत्राणा प्रकाशिका या कौमुदी तस्या कन्दलरङ्कुरस्वरूप ।

तद्रूपत्वमिति—अमार्जित सुचिक्कणत्वमेव विधेयम्, न माजनाभावोविधेय इत्यथ । अपीतेति-मद्यादि पान विनव क्षीवाण मत्त कादम्ब कल हस मित्यादावपि पूववत् पानाभावो न विधेय ,अतो नञा सह समासे न दोष ॥२९॥

अनासक्त इति । अत्राप्यासक्त्यभावो न विधेय, किन्तु आसक्त्यभावविशिष्ट कमकत्त त्वमेव विधेयमिति भाव ॥३०॥

सुधाकर ही उदित हो रहा है, वह श्रीराधा का मुख मण्डल नहीं है । तिमिरभार ही स्खलित हो रहा है, वह हरिणाक्षी का नील निचोल नहीं है, दिग् बधू गण ही हास्य करती रहती है वे श्रीमतीके सखी वृन्द नही है, ज्योत्स्ना जाल ही जगत् मे व्याप्त है, वह तवीय अङ्ग की कान्तिच्छटा नही है ।

इस श्लोक मे नञ का प्राधान्य होने के कारण वह गुणीभूत हुआ है । अतएव दोष नहीं हुआ है । जहा नञ् के सहित समस्त पदाथ का विशेष अभिधान प्रयोजन होता है, वहाँ नञ के सहित समास होने से दोष वह नहीं होता है ॥२८॥

उदाहरण—अहो कितना सुन्दर नीलोज्ज्वल ज्योति अङ्ग विशिष्ट होकर स्फुरित है, अङ्ग समूह अमार्जित सुचिक्कण, अनभिषिक्त धौतोज्ज्वल, अविभूषित मनोहर, अननुलिप्त-सुसौरभ एव तमालदल सुकोमल एव निखिल जन नयन के कौमुदी कन्दल स्वरूप हैं ।

यहाँ सुचिक्कणादि रूप विशेष का अभिधान हेतु अमार्जितादि पद मे नञ के सहित जो समास हुआ है, वह गुण ही हुआ है । तद्रूपत्वविधेय होने के कारण यहा विधेयाविमर्ष दोष नही हुआ है । दण्डी ने भी काव्यादर्श मे "मद्यादि पान न करके भी कलहस कुल जहा उन्मत्त है" इस अथ मे अपीत क्षीव कादम्ब' प्रयोग किया है ॥२९॥

जो अनासक्त होकर भी कर्माचरण, अलिप्त होकर विषय सेवन, अप्रमत्त होकर श्रीकृष्ण भजन करते हैं, उनको उस उस विषयो मे निबद्ध नही होना पड़ता है ॥३०॥

अगुणी गुणितामेति कृष्णे भक्तो भवेद् यदि ॥

यथा–(रघुवशे १।२१) "अगृध्नुराददे सोऽर्थान्" इत्यादि कालिदास ।

यत्र नञ प्राधान्येन दोषान्तरमापतति, तत्र दोष एव। यथा 'गिरो न हरि तत् परा दृगपि नो हरीक्षोत्तरा' इत्यादौ किं गिरो न हरि तत् परा, कि तत् परा गिरो न, कुत हरितत् पराश्चेत्' इति सन्देह स्यात्। तेन 'गिरस्त्वहरिततपरा दृगपि चाहरीक्षोत्तरा' इति साधु ॥३१॥

विना शपथमालीना विना कृष्णस्य नम्रताम्
न सम्मुखीनासीत्येष राधे कस्तव दुर्ग्रह ?

अत्र 'दुर्ग्रह' इति दुराग्रहार्थ वाची च, ग्रह वैगुण्यप्रतिपादकत्वेन विरुद्धमतिकृत्। 'विना शपथम्' इत्यत्रापि विनाश–शब्दोऽपि विरुद्धता। तेन 'ऋते शपथ मालीनाम्' इति पठित्वा 'राधे कोऽय दुराग्रह' इति पाठ्यम् ॥३२॥

अगृध्नुराकाङक्षा रहित, तथा चाकाङ्क्षाभावो विधेय इति भाव। नञ इति—यत्र नञ प्राधान्यम्, तत्राविमृष्ट विधेय रूप दोषाभावेऽपि दोषान्तरमापतति, तत्र स एव दोष। तदेवाह—गिर इति। किं गिरो हरितत् परा न, किंवा हरितत् परायास्ता गिरो न, किंवा एता गिरो न भवन्ति, यतो हरितत् परा इति सन्देह रूपो दोष। तेनेति। तत्र हरितत् परत्वाभावो न विधेय, किन्तु हरितत् परत्वाभाव विशिष्ट–वाक्यत्वमेव विधेयम्। एव हरिदर्शनाभावविशिष्ट दृक्त्वमेव विधेयम्। एव हरि दर्शनाभाव - विशिष्ट दृक्त्वमेव विधेयम्। अतो नाविमृष्टविधेय दोषो नापि सन्देह दोष ॥३१॥

आलीना शपथ विना, एव श्रीकृष्णस्य नम्रता विना त्व सम्मुखीनाम्—इना श्रेष्ठा भासि, तथा च पूर्व सम्मुखीनामानुकूल्यवतीना प्रियाणा मध्ये त्व श्रेष्ठा आसी, इदानीं तु तथा न भवसीत्येष एव को दुराग्रह इत्यर्थ ॥३२॥

उदाहरणान्तर—श्रीकृष्ण मे भक्तियोग होने पर अपवित्र भी पवित्र अविज्ञ भी विज्ञ, अगुणी भी गुणी होता है, "वह अगृध्नु होकर वा अलुब्ध होकर अर्थ सग्रह करते थे—इत्यादि उक्ति कालिदास की है।

जहा नञ का प्राधान्य हेतु दोषान्तर की उपस्थिति होती है, वहा वह दोष के मध्य मे गण्य होता है।

वाणी हरि तत् पर नहीं है दृष्टि भी हरिदर्शन परायण नहीं हैं, इत्यादि स्थल मे वाणी हरितत् परा नही है, यह अर्थ, अथवा जो हरि तत् परा, वह वाणी नहीं है, यह अर्थ, कि वा वह वाणी ही नहीं हो सकती है वह हरि तत् परा इस प्रकार अर्थ, इस प्रकार विविध सन्देह उपस्थित होता है, अतएव अ हरि तत् परा वाणी एव अ-हरि परायणा दृष्टि—इस प्रकार पाठ ही साधु हैं ॥३१॥

हे राधे! यह क्या तुम्हारा दुराग्रह हैं? सखी वृन्द के बिना शपथ से एव श्रीकृष्ण की विना नम्रता से तुम कभी भी सम्मुखीना नहीं होना चाहती हो।

दुराग्रह अर्थ मे यहा दुर्ग्रह पद का प्रयोग हुआ है। किन्तु वह ग्रह वैगुण्य प्रतिपादकत्व हेतु–विरुद्ध मतिकृत् हुआ है।

यथा वा— समासमीनावलिरुारयद्भि ग०ा कुल वल्लव बालवृन्दै ।
वृन्दावने कौतुक केलिलोल , पुनातु व श्रीव्रजराज सूनु ॥

अत्र मासमीनावलिसहितमिति विरुद्धमतिकृत् । एव 'मकाषमित्र भवानीपतिरम्बिका रमण' इत्यादयोऽपि विरुद्धमति कृत ! किं बहुना ? प्रियतमवल्लभतमा इत्यादयोऽपि प्रियान्तर वल्लभान्तर च प्रतिपादयन्ति, तेन तेऽपि तथा । प्रियतमाप्रभृतयस्तु न तथा, औचित्यादिति केचिदाहु । वृषणकान्तादिशब्द स्तु न तथा, कविप्रयुक्तात् ॥३३॥

एषा समासगतत्वेन दिङमात्रमुदाहरण क्रियते । समासगत श्रुतिकटु यथा—

प्रचक्रमे विक्रमविक्रयभ्रुवा, सुवक्रयाऽसौ रतिचक्रमक्रमात् ।
सुनिष्ठुरष्ठ्युत कटाक्षसौष्ठवा, गोष्ठाधिराजस्य सुते विसष्ठुले ॥

समासमीनेति । गवा कुल चारयद्भि गोपबाल वृ दै सह केलिलोल श्रीकृष्णो वो युष्मान् पुनाति । गवा कुल कथम्भूतम् ? समासमीनावलि प्रतिवर्ष प्रसूता गो श्रेणायत्र तथाभूतम् । "समासमीना सा प्रोक्ता सूते या प्रतिवत्सरम्" इति शब्दाणव ।

न कार्यं किन्तु स्वत सिद्ध मित्रम्, भवस्य पत्नी भवानी, तस्या पतिरिति भवभिन्नोपपति बोधो जायते—इति विरुद्ध मतिकृत् । एव रमण शब्दोऽपि उपपत्ति व्यनक्ति । अतएव राधारमण इत्युच्यते, नतु रुक्मिणी रमण । तेऽपि प्रियतमादयोऽपि तथा विरुद्धमतिकृत औचित्यात् कवि प्रयुक्तत्वेनोचितत्वात् ।३३।

प्रचक्रमे-इति । असौ राधिका श्रीकृष्णे स्व विक्रमस्य विक्रयोव्ययो यत्र तथाभूत रति चक्र विपरीत सयोग समूह प्रचक्रमे । अक्रमादिति-अक्रम स्वक्रमविरुद्ध पुरुषक्रम मारह्येत्यथ । ल्यब्लोपे पञ्चमी राधा कथम्भूता ? सुनिष्ठुर यथास्यात्तथा ष्ठ्युत निक्षिप्त कटाक्ष सौष्ठव यया तथाभूता । श्रीकृष्णे

विना शपथ से—यहाँ भी विना शब्द उस प्रकार विरुद्ध है, अतएव "सखीगण के शपथ के विना तुम सम्मुखीना नही होती है । "हे राधे ! तुम्हारा यह कैसा दुराग्रह" इस प्रकार पाठ ही कत्तव्य है ॥३२॥

उदाहरण—वृन्दावन मे समासमीनावलि विशिष्ट गोकुल के चारण मे तत् पर गोप बालक वृ द के सहित जो केलि कौतुक मे सतत समुत्सुक है, वह व्रजराज तनय तुम्हारी रक्षा करे ।

यहा यद्यपि "प्रति वत्सर प्रसव करने वाली धेनु, उसकी श्रेणी" इस अर्थ मे समासमीनावलि पद प्रयुक्त हुआ है, किन्तु वह मासमीनावलि—इस प्रकार अथ शिष्ट गण के चित्त मे उदित होता है, अत निरुद्ध मतिकृत् हुआ है ।

इस प्रकार अकार्यमत्र, भवानीपति, अम्बिका रमण प्रभृति शब्द भी विरुद्ध मतिकृत् है ।

अधिक तु प्रियतम वल्लभतम, इत्यादि शब्द भी प्रियान्तर एव वल्लभान्तर को प्रतिपादन करते है, अत उक्त दोष समूह उक्त दोष दुष्ट हैं । किन्तु प्रियतमा प्रभृति शब्द औचित्य प्रयुक्त उक्त दोष दुष्ट नहीं है । यह मत आलङ्कारिक विशेष का है । कवि प्रयोग हेतु वृषण-कान्तादि शब्द को भी उस प्रकार जानना होगा ॥३३॥

अत्र परार्धे समासगत श्रुतिकटु समुदायेनप्रतिकूल वर्णत्वात् प्रकृत रसाननुगुण, विसष्ठुल इति समासपुनरात्त चेति परिवृत्तौ मूलनाश । एवमन्येऽपि यथास्थलमनुमेया ।।३४।।

एवमन्ये यथास्थलं ज्ञेया वाक्ये तथैव च ।।

च्युत संस्कृत्यसमर्थं निरर्थक वर्जयित्वैवैते श्रुतिकटुत्वादयो दोषा अनुमेया ।

क्रमेणोदाहरणानि—'प्रचक्रमे विक्रमं विक्रयम्' इत्यादि वाक्यमेव श्रुतिकटु ।।३५।।

यथा वा—कष्टमष्टापदस्येदं दौष्ठवञ्च सुधांशुच । वर्ष्मणो घृणिपाड्क्त्यातुण्डेन च तव प्रिये ।।

सुधांशुश्चन्द्रस्य, घृण्या किरणेन, अत्र वाक्य मेव तथा ।।३६।।

लेख दुश्च्यवन प्रष्ठ सुरज्येष्ठादिकैरपि । व द्यमानो विधू रातु शं तद्वत् च दुष्कृतम् ।।

कथम्भूते ? विसष्ठुले पुरुषक्रम विहाय स्त्री सस्थयास्थित । शृङ्गार रसस्य प्रतिकूल वर्णत्वात् प्रकृतरसस्य शृङ्गारस्याननुगुण । परिवृत्तौ निर्दूषण पद प्रयोग मूलस्य समस्त श्लोकस्यैव न श स्यात् । ३४।।

पदे दोषाणामुदाहरणमुक्त्वा वाक्येऽप्याह-वाक्य इति च्युत संस्कृतादि त्रयाणामुदाहरण पद एव सम्भवति न तु वाक्य इत्याह च्युतेति ।।३५।।

हे प्रिये राधे ! तव वर्ष्मणो देहस्यान्या घृण्या किरणेन अष्टापदस्य सुवर्णस्य कष्टम् । एव तव तुण्डेन मुखेन सुधांशुश्चन्द्रस्य दौष्ठव दुष्ठुता, सौष्ठववत् दौष्ठवमित्यपि व्याकरण सिद्धम् ।।३६।।

दुश्च्यवन इन्द्र प्रष्ठोऽग्रेसरो येषा तथा सुरज्येष्ठो ब्रह्मा आदि प्रधान येषातथाभूत लेख देव व द्यमानो

ये सब दोषो का समासगतस्वरूप मे दिङमात्र उदाहरण प्रस्तुत करत हैं—

समास गत श्रुतिकटुका उदाहरण—श्रीराधिकाने विसष्ठुल गोष्ठ धीरानन्दन श्रीकृष्ण के प्रति कुटिल भ्रू निष्ठ्युतस्तुनिष्ठुर कटाक्ष सौष्ठव वृष्टि के सहित तदीय विक्रम विक्रय कारिणी सुरत क्रिया का विपरीत क्रमसे उपक्रम किया।

यहाँ भी श्रुति कटुदोष समासगत हुआ है, एव प्रतिकूल वर्ण के बाहुल्य हेतु वह प्रकृत शृङ्गार रस का पोषण नहीं हुआ है, अपि च मूल श्लोक मे विसष्ठुल' स्थल मे समास पुनरात्त नामक दोष हुआ है। ये सब परिवर्त्तन पूवक निर्दोष पद विन्यास करने से भी समस्त मूल श्लोक का विनाश होगा।

इस रीति से अवशिष्ट उदाहरण समूह का अनुमान करना कर्त्तव्य है ।।३४।।

च्युत संस्कृति, असमर्थ एव निरर्थक भिन्न ये श्रुति कटुतादि दोष समूह वाक्य गत भी होते हैं। श्रीराधिका विसष्ठुल गोष्ठाधीशनन्दन इत्यादि पूर्वोदाहरण सत्य वाक्य ही श्रुतिकटु हुआ है ।।३५।।

उदाहरण- हे प्रिये ! तुम्हारे वर्ष्म के घृणि सङ्घात से अष्टापद को कष्ट हुआ है, ऐव तुण्ड के द्वारा सुधांशु जीवनकारिचन्द्रका भी दौष्ठव हुआ है।

यहाँ समग्र वाक्य ही श्रुतिकटु दोष दुष्ट हैं, इस वाक्य मे वर्ष्म अर्थ देह है, घृणि सङ्घात-किरण समूह हैं अष्टापद सुवर्ण है, तुण्ड-मुख है, दौष्ठव दुस्थिता, अथवा सौष्ठव का अभाव को समझना होगा ।।३६।।

लेख देवै, दुश्च्यवन— इन्द्र, सुरज्येष्ठो— ब्रह्मा विधु श्रीकृष्ण, रातु-ददातु, श्यतुकृश करोतु। अत्र लेखादि शब्दा सुरादि वाचका अपि श्लेषादिक विनाऽन्यत्र कविभिर प्रयुक्तत्वादप्रयुक्तास्तेन वाक्यमेवेदमप्रयुक्तम् ॥३७॥

क्षमा क्षमाधरानन्तमकरध्वजलङ्घिन। प्लवन्ते शैव्यसुग्रीव मेघपुष्प बलाहका ॥

अत्र क्षमादयो बलाहकान्ता शब्दा क्षान्त्यादिभि प्रसिद्धैर्निहतार्था। तथा हि—क्षमा-क्षान्ति, क्षमाधर क्षमी, अनन्त परमेश्वर, मकरध्वज काम, शैव्य शिविपुत्र, सुग्रीवो वानरराज, मेघपुष्प जलम्, बलाहको मेघ। एतै प्रसिद्ध पृथ्वी— पर्वत -व्योम- समुद्रा भगवतो हयाश्चत्वारश्चाप्रसिद्धा व्याहन्यन्ते ॥३८॥

यथा वा—सामुद्र नवनीत च महारिष्टिश्चनन्दक।
हरिवत्स शयासन्नौ गता शात सदैव व ॥

विधु श्रीकृष्णो युष्माक शात सुख रातु ददातु, दुष्कृत श्यतु कृश करोतु, नाशयतित्यर्थ। "पुरोगाग्रेसर प्रष्ठा" -इत्यमर ॥ ७॥

क्षमादीन् लङ्घिन शैव्यादयो भगवन श्चत्वारोऽश्वा प्लवन्ते। तथा हि क्षमा पृथ्वी, क्षमाधर पर्वत नास्ति अन्त यस्यान न व्योम, मकरध्वज समुद्र। क्षमाशब्द शान्ति परत्वे प्रसिद्ध। क्षमा धरतीति क्षमाधर क्षमी शान्तजन। शिविराजस्य पुत्र शैव्य। क्षान्त्यादिभिरेत प्रसिद्धैरप्रसिद्धा पृथ्व्यादयस्तथा भगवतश्चत्वारोऽश्वा व्याहन्यन्ते ॥३८॥

हरे श्रीकृष्णस्य वत्स वक्षस्थल तत्रासन्न कौस्तुभ, एव तस्य शय पाणि स्तत्रासन्नो महारिष्ट

दुश्च्यवन प्रष्ठ सुरज्येष्ठादि लेखवृन्द वन्दित कमलनयन भगवान् विधु तुम सबके सम्बन्ध मे शात दान एव दुष्कृत दूर करे।

यहा दुश्च्यवन प्रष्ठ शब्द से दुश्च्यवन—अर्थात् इन्द्र का बोध होता है, 'प्रष्ठ' अग्रसर है, जिनका, इस प्रकार अर्थ बोध होता है। एव लेख शब्द से देवता सुरज्येष्ठ शब्द से ब्रह्मा, विधु शब्द से श्रीकृष्ण, एव शात शब्द से सुख को जानना होगा।

यहा लेखादि शब्द देवता वाचक होने पर भी श्लेषादि स्थल को छोडकर कविगण अन्यत्र प्रयोग नहीं करते है, अत इस वाक्य मे अप्रयुक्तता दोष हुआ है ॥३७॥

क्षमा, क्षमाधर, अनन्त एव मकरध्वज लङ्घनकारी शैव्य सुग्रीव, मेघपुष्प एव बलाहक धावित हो रहे हैं, अर्थात् भगवान् के शैव्यादि नामक अश्व चतुष्टय पृथिवी, पर्वत, आकाश एव समुद्र को लङ्घन कर धावित हो रहे हैं।

यहाँ क्षमाशब्द से क्षान्ति क्षमाधर क्षमाशाली, अनन्त-परमेश्वर, मकरध्वज काम एव शैव्य-शिवि पुत्र, सुग्रीव-वानर राज मेघ पुष्प जल, बलाहक मेघ, ये सब प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा उक्त श्लोक के अभिप्रेत पृथिवी, पर्वत, आकाश समुद्र एव भगवान् के अश्वचतुष्टय रूप—अप्रसिद्ध अर्थ समूह व्याहत होने के कारण निहतार्थता नामक दोष हुआ है ॥३८॥

अत्र सामुद्र नवनीत कौस्तुभ, महारिष्टि न दक खड्ग, वत्स वक्ष शय पाणि, एते सामुद्रलवण–नवनीत -महोत्पात- समृद्ध जनक–तर्णक- शयनै प्रसिद्ध निहत। इति वाक्यमेव निहताथम् ॥३८॥

विष्णुस्यन्दन पर्णाना पृषदश्वेन धाविता । निपेतु काश्यपी का ता कौण्डिन्या करपीडने ॥

अत्र विष्णु स्यन्दनादय शब्दा विष्णु रथादय इव गरुडाद्यर्थं न बोधयन्ति, तेनामी अवाचका इति वाक्यमेवावाचकम् । पर्ण पक्ष, धाविता कम्पित, काश्यपीकान्ता महीश्वरा, कौण्डि या रुक्मिण्या ॥४०॥

वलक्ष पक्षेऽप्र दिवसपरिणामे शशधरो, दिविष्ठु कुष्ठ वा न किरण कलाप विकिरति। तथापि द्रष्टृ णा नयनकुसुम व्योमसरसो, महाप्रोष्ठीवल्क्कृतिरपि कुलोकप्रियतम ॥

दायको न दकस्तन्नामा खड्गा विशेष । एतौ कौस्तुभ न दकौ वो युष्माक श त सुख एताम्, महारिष्टि महोत्पात नन्दक समृद्धि जनक, 'टु नदी समृद्धौ' इत्यस्यात् । वत्सस्तणका गोवत्स शय नयनम्, एत प्रसिद्ध । एतऽर्गतिद्धा कौस्तुभादयो निहता ॥ ६॥

कौण्डि या रुक्मिण्या विवाहे विष्णुस्य दनस्य गरुडस्य पर्णाना पक्षाणा पृषदश्वेन पवनेन धाविता कम्पिता काश्यपी का ता महीश्वरा राजाना निपेतु । यथा विष्णुरथ शब्दो गरुड वाची, न तथा विष्णस्य दन शब्द ॥४०॥

वलक्षे पक्षे शुक्लपक्षे दिवस परिणामे, अपराह्णे, अथ शशधरश्च द्रो दिविष्ठु यथाकुष्ठ पृथिवीस्थ किरणकलाप न विकिरति, तथापि द्रष्ट णा जनाना नयनयो सुखदायित्वाद् व्योमसरस आकाश रूप

उदाहरण—श्रीहरि के वत्स एव शय क समासन्न सामुद्र नवनीत एव महारिष्टि नन्दक, ये दोनो सतत तुम सब को सुखी करें, अर्थात् श्रीकृष्ण के पक्ष स्थल मे सन्निहित समुद्र सम्भव कौस्तुभमणि एव महारिष्टु प्रद न दक नामा खड ग तुम सब को सुखी करे।

यहा स मुद्र शब्द से सन्धव लवण, महारिष्टि- महोत् पात, नन्दक- समृद्धि जनक वत्स–गोवत्स, शय शयन ये सब प्रसिद्ध अथ के द्वारा उक्त श्लोक के अभिप्रेत– सामुद्र शब्द से कौस्तुभ, महारिष्टि प्रद न दक शब्द से नन्दक नामक खड ग, वत्स शब्द से वक्ष स्थल एव शय शब्द से हस्त ये सब अप्रसिद्ध अर्थ व्याहत होने से समस्त वाक्य निहताथता दोष दुष्ट हुआ है ॥३९॥

कौण्डिनी के पाणि ग्रहण समये काश्यपीका त गण विष्णुस्यन्दन पण के पृषदश्व से धावित होकर धरातल मे निपतित हुये थे। अर्थात् रुक्मिणी के विवाह समय मे भूपति वृन्द गरुड के पक्षपवन वेग से विकम्पित होकर धरातल मे निपतित हुये थे।

यहाँ पर्ण शब्द से पक्ष धावित कम्पित काश्यपी का त—भूपति कौण्डिणी- रुक्मिणी। किन्तु विष्णु रथादि शब्द जिस प्रकार गरुडादि बोधक हैं, विष्ण स्यन्दनादि शब्द उस प्रकार बोधक नहीं हैं अत वे वाचक नही हो सकते हैं। सुतरा उस प्रकार पद बाहुल्य से वाक्य अवाचक हुआ है ॥४०॥

अत्र पृथिवीस्थादि–वाचिनोऽपि कुष्ठादयो शब्दा कुष्ठ व्याधि, नयन कुसुम- नयन व्याधि, कु लोक —कुजन । इत्यनुचिताथ प्रतिपादका, तेनेद वाक्य मनुचितार्थम् ॥४१॥

खानापानादिसामग्री नाद्यादि वत साधिता
कृष्णोऽयमागत प्रायो भल्ल ते गल्लचर्वणम् ॥

अत्र खानपानाद्य शब्दा ग्राम्या ।४२॥

कोषेभ्योऽन्नमयादिभ्यो विश्वादिभ्यश्च य पर ।
स ते प्राणपति कृष्ण सौभाग्य किमत परम् ॥?

अत्र अन्नमयादय पञ्च कोषा, विश्व तजस प्राज्ञाश्च त्रय आत्मान, केवल वेदान्त शास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वाद प्रतीता, तेनेदमप्रतीत वाक्यम ॥४३॥

सरोवरस्य कुसुम पुष्प तुल्य । प्रोष्ठी शफरी मत्स्य विशेष, तस्यावल्क त्वक । तथा च समुद्रस्थमहाप्रोष्ठी-वल्काकृतिश्च द्र कुलाकस्य पृथिवीस्थलोकस्य प्रियतम । अपराह्णे च द्रस्य शोभाया अभावात मत्स्यस्य वल्काकृतिर्ज्ञेयम् ॥४१॥

यशोदा प्रति श्रीनन्द आह—खानति । वनाद् गोष्ठे श्रीकृष्ण आगत प्राय । अद्यापि खानेत्यादि तव गल्ल चवण भल्लम्, अहमेव श्रीकृष्णस्य भक्ष्य -भोज्य- सामग्री सम्पादिकेति वागव्ययो वृथवेत्यथ ॥४२॥

अन्नमयादि पञ्चकोषेभ्य पर, एव विश्वाद्यवस्थात्रय विशिष्ट जीवेभ्य परस्तुरीयो य श्रीकृष्ण, स ते प्राणपति । अत्रेति—अन्नमय—प्राणमय -मनोमय विज्ञानमयानन्दमया इति पञ्चकोषा, तथा जीवात्मनो विश्वतजसप्राज्ञा इत्यवस्था त्रयम् । तत्र जाग्रद् दशाया जीवात्मनो विश्व इति सज्ञा, स्वप्नदशाया तजस इति सज्ञा, सुषुप्ति दशाया प्राज्ञ इति सज्ञा वेदान्त शास्त्रे एव प्रसिद्धा, नान्यत्र ॥४३॥

शुक्लपक्ष के दिवस परिणाम के समय मे शशधर आकाशस्थ वा कुष्ठ किरण निकर का विकिरण नहीं करता है। तथापि वह दशक वृन्द के नयन कुसुम स्वरूप एव गगन सरोवर स्थित महासफरी मत्स्य के वल्कल सदश आकृति विशिष्ट होने पर भी कुलोक के अत्यन्त प्रीति जनक होता है।

यहा कुष्ठ शब्द से पथिवीस्थ, नयन कुसुम शब्द से नयन सम्बन्धीय पुष्प तुल्य प्रीति जनक एव कुलोक शब्द से पथिवीस्थ लोक को समझाना अभिप्रेत होने पर भी कुष्ठ शब्द से व्याधि विशेष, नयन कुसुम शब्द से नेत्र व्याधि विशेष, एव कुलोक शब्द से कुत्सित व्यक्ति का बोध होता है।

ये सब अनुचिताथ प्रतिपादन हेतु वाक्य अनुचिताथ दोष दुष्ट हुआ है ॥४१॥

वन से श्रीकृष्ण का आगमन समय प्राय हो गया है। हाय ! खान पानादि सामग्री अभी भी प्रस्तुत नहीं हुई हैं। तुमने जो कहा है—श्रीकृष्ण की भक्ष्य भोज्य सामग्री मै ही सम्पादन करती हू यह वागजाल मात्र ही है, अर्थात् वृथा है।

यहाँ खान पानादि शब्द ग्राम्य हैं ॥४२॥

जो अन्नमयादि कोष पञ्चक से भिन्न है, एव विश्व तजस प्राज्ञ नामक अवस्थात्रय विशिष्ट जीव से पृथक् है, वह श्रीकृष्ण तुम्हारे प्राणपति है, इस से अधिक सौभाग्य और क्या हो सकता है ?

अपानेनाभोजनेनामेहनेनापि खिद्यसे । किं ते तपस्विन् कष्टेन भज कृष्णसुखीभव ॥

अत्रापानादय शब्दा पानाद्यभाववाचिनोऽपि अपानादिकमर्थं बोधयन्तोऽश्लीला, व्रीडा व्यञ्जकत्वात् । अमेहन स्नेहनाभाव ॥४४॥

वचो वान्तसम तस्य प्रवृत्तिस्तस्य दु खदा । उत्सर्गोऽपि विष तस्य यो वैष्णव विनिन्दक ॥

अत्र वान्तादय शब्दा जुगुप्सादायिन, प्रवृत्ति वार्त्ता, उत्सर्गो दानम् । पक्षे, विड् उत्सर्गबोधकम् इदन्तु जुगुप्सादायि । किन्तु वान्त शब्दो वम् धातु–प्रयोगान्तरञ्चार्थान्तर-सक्रमित -ध्वन्यादौ न दोष । यथा (अनघराघवे) "वान्तैरक्षरमूर्त्तिभि सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिता" इति मुरारि ॥४५॥

"स्तिमित मृदुलचीनोद्वान्त— कान्तोरुपीन
स्तन जघन नितम्बद्योतधारा प्रहारै ।

अपानेन पानाभावेन, पक्षे अधो वायुना एवमभोजननेत्यनेन शब्दशक्त्याऽमेध्यभोजन मेवोच्यते । तथा अमेहनेन मेहन स्निग्ध तैलादि सेचन तदभावेन । पक्षे, मूत्रासेचनेन ॥४४॥

तस्य प्रवृत्ति वार्त्ता, तस्य उत्सर्गो दानम्, पक्षे, विड् उत्सर्ग । किन्त्विति—वान्तशब्दस्तथा वमधातु प्रयोगान्तर वम उद्वान्त इत्यादि प्रयोगान्तरञ्च ध्वन्यादौ न दोष । सुकविना वान्तैरक्षरमूर्त्तिस्वरूपै मुक्ताफल कविता गुम्फिता ॥४५॥

गोपिभि सह श्रीकृष्णस्य जल क्रीडा वर्णयति–स्तिमितेति । जलेन स्तिमितकोमलसूक्ष्म परिधेय

यहाँ अन्नमयादि कोष पञ्चक एव जीवात्मा के विश्वादि अवस्थात्रय—हैं, उसकी प्रसिद्धि केवल वेदान्त-शास्त्र मे ही है, सुतरा अन्यत्र अप्रतीत होने से उल्लिखित वाक्य अप्रतीत नामक दोष दुष्ट है ॥४३॥

हे तपस्विन् ! तुम, अपान अभोजन एव अमेहन हेतु कष्ट उठा रहे हो, किन्तु कष्ट भोग से प्रयोजन क्या है ? कृष्ण भजन कर सुखी बनो ।

यहाँ अपान अर्थ से पानाभाव, एव अमेहन अर्थ से मेहन अथवा तैलादि स्नेह का अभाव, कविका अभिप्रेत होने पर भी अपान शब्द से अधोवायु एव मेहन शब्द से मूत्र क्षरण रूप अर्थ प्रसिद्ध होने से व्रीडा व्यञ्जकता प्रयुक्त उक्त वाक्य अश्लील हुआ है ॥४४॥

जो व्यक्ति वैष्णव निन्दा परायण है, उस का वाक्य,—वान्त सदृश है, उसको दु खदायिनी है, उस का उत्सर्ग भी विषतुल्य है ।

यहाँ वान्तादि शब्द जुगुप्सा दायक हैं, प्रवृत्ति का अर्थ—वार्त्ता है, उत्सर्ग का अर्थ दान होने पर भी मलोत्सर्ग का बोध होता है, अत वह भी जुगुप्सा दायक है ।

वान्त शब्द भी वमधातु निष्पन्न अन्यान्य पद का प्रयोग, अर्थान्तर सक्रमित ध्वन्यादि स्थल मे दोषा वह नहीं होता है । इस सम्बन्ध मे मुरारि कवि का प्रयोग भी इस प्रकार है—"सुकवि कर्त्तृक वान्त वा आविष्कृत अक्षर मूर्त्ति विशिष्ट मुक्ताफल निकर के द्वारा कविता रूप माला ग्रथित होती है ॥"४५॥

जितमपि भुजपाशै कान्तमाबध्य शृङ्गा
हरण कुतुकखेला सुभ्रुवो नाटयन्ति ॥"

इति कन्दर्पमञ्जरी ! "मा वम सवृणु विषमिदम्" इति सातङ्कं पितामहेनोक्तम्, (आर्य्यासप्तशत्याम्) "प्रातजयति सलज्ज कज्जलमलिनाधर शम्भु" इति गोवर्द्धन ॥४६॥

सङ्केत सा पितृवने चकाराद्य तपस्विनी। जीवितेशस्य सज्ञायै रङ्गिणी मङ्गलक्षये।

पितृवने—पितुरुद्याने, तपस्विनी—विरहिणी, जीवितेश कान्त, मङ्गलक्षये मङ्गलगृहे इत्यादिभि श्मशान–यम–मङ्गलाभावा प्रतीयन्ते, इत्यमङ्गलमश्लीलम् ॥४७॥

विद्वत् समाया भासित्व दोषाकर इवोज्ज्वल।
विद्यया च तथा धीर सुराचार्य्य सुरालये॥

वस्त्ररुद्ध वा ता या कान्तानामूरुदेशपीनस्तनजघननितम्बाना कान्तिधारा, तस्या प्रहार जितमपि श्रीकृष्ण भुजपाशै करण कण्ठदेशमाबध्य जलयन्त्राहरण खेला नाटयन्ति। "शृङ्ग प्रधाने शिखरे विषाणे जलयन्त्रके" इति। "विष मा वम, किन्तु सवृणु' इति पितामहेनोक्तम् ॥४६॥

पक्षे—पितृ वने श्मशाने, जीवितेशस्य यमस्य, मङ्गलक्षये मङ्गलाभावे ॥४७॥

विद्वदिति। तथा विद्यया च उज्ज्वल, सुरालये—देवगृहे सुराचार्य्यो वृहस्पतिरिव। अपरोऽपीति।

कन्दप मञ्जरी ग्रन्थ मे लिखित है—सलिलार्द्र सूक्ष्म सुकोमल वसन कत्त क- उद्भान्त, जो कम ीय ऊरुस्थल एव पीण स्तन जघन नितम्ब बिम्ब के कान्ति पुञ्ज हैं, उसके प्रहार से सुभ्रू गण श्रीकृष्ण को निर्जित करके उनको भुजपाश से बन्धन पूवक उनके हस्त से जलयन्त्र आहरण रूप कौतुक क्रीडा का विस्तार किये थे।

गोवर्धनाचाय की कविता भी इस प्रकार है—प्रभात मे भगवान् पावतीपति की वन्दना के समय म उनके कज्जल मलिन अधर बिम्ब दशन से भीत होकर पितामह जसे उनको कहे थे—"प्रभो नीलकण्ठ ! प्रसन्न हो जाओ ! कालकट वमन और न करो, सम्बरण करो" नील कण्ठ—उतने ही लज्जित होने लगे थे। कारण, पार्वती के कज्ज्वल रञ्जित नयन चुम्बन से ही जो निज अधर मलिन हुआ है, एव उससे ही पितामह को कालकूट उद्गिरण भ्रम हुआ है उस को आप समझ गये ॥४६॥

अद्य वह तपस्विनी रङ्गिवृन्द के मङ्गलक्षय स्वरूप पितृवन मे जीवितेश की सज्ञा के निमित्त सङ्केत किये। तात्पय्य यह है कि—अद्य वह विरहिणी रङ्गशालि जनके मङ्गल जनक गृह स्वरूप निज पिता के उद्यान मे कान्त की सज्ञा हेतु सङ्केत किये।

यहाँ पितृवन शब्द से श्मशान, जीवितेश- शब्द से- यम, एव मङ्गलक्षय शब्द से मङ्गल हानि अथ प्रतीत होने से अमङ्गल रूप अश्लील हुआ है ॥४७॥

विद्वत् समाज मे तुम दोषाकर के तुल्य उज्ज्वल रूपसे शोभित हो, एव सरालय मे सुराचाय्य के समान विद्याबल से विद्योतित होते हो।

अत्र किं दोषाणामाकरः किं वा दोषाकरश्चन्द्र, किं सुराणामाचार्य्य, किं वा सुरायामाचार्य्यं ? एवमपरोऽपि—इति सन्दिग्ध वाक्यम् ॥४८॥

हरिचरणरत्न किरणोज्जागरमम्भोदकुसुमजन्मना गहनम् ।
अनुहरति प्रसवाशुगकूर्दन निद्रोत्थयुवतिमुखसुषमाम् ॥

अत्र हरिचरण विष्णुपदम्बर तस्य रत्न मणि, द्युमणि सूर्य्य इत्यर्थ । उजागर प्रफुल्लना, अम्भोदकुसुमजन्मानि कमलानि, प्रसवाशुग काम, कूर्दन केलि — इति नेयार्था । इति वाक्य नेयार्थम् ॥४९॥

श्रीकृष्णस्य जनाना निरुपधि निहिता पदाम्भोजे ।
शमयति सुकृत जनयति, दुष्कृतमेकान्तनिमला हि मति ॥

अत्र श्रीकृष्णस्य चरणाम्भोजे निहिता जनाना मति दुष्कृत शमयति, सुकृत जनयतीति वक्तव्ये यथास्थित क्लिष्टामति वाक्यमेव क्लिष्टम् ॥५०॥

सुरालये मदिरालये ॥४८॥

सूर्य्योदयेन प्रफुल्लित कमलाना गहन वन कर्त्तृ कन्दर्प क्रीडा जन्य निद्राया सकाशादुत्थिता या युवतिस्तस्या मुखशोभा हरति । अम्भाद कुसुम मेघपुष्प जलमित्यथ तस्माज्जन्म येषा तथा भूतानि कमलानि ॥४९॥

श्रीकृष्णस्य पदाम्भोजे निहिता जनानाञ्च मतिदुष्कृत शमयति, सुकृत जनयति ॥५०॥

यहा दोष समूह का आकर इस अर्थ से दोषाकर अथवा दोषाकर चन्द्र है । सुरगण के आचार्य्य—इस अर्थ मे सुराचार्य्य है, अथवा सुरापान से आचार्य स्वरूप—इस अर्थ मे सुराचार्य एव सुरवृन्द के आलय अर्थ मे सुरालय, अथवा सुरा का आलय अर्थ मे सुरालय होता है, इस प्रकार सन्देह होने से वाक्य भी सन्दिग्ध हुआ है ॥४८॥

हरि चरण रत्न के किरण जाल से जागरित-अम्भोद-कुसुम जन्मा के कानन प्रसवाशुग कूर्दन जनित निद्रा से उत्थित युवति जन के वदन सौन्दर्य्य का अनुकरण कर रहा है ।

यहाँ हरि चरण शब्द से विष्णु पद वा आकाश है, उसकी रत्न वा द्युमणि के अर्थ से सूर्य्य का बोध होता है । उस सूर्य्य के किरण जाल से जागरित वा प्रफुल्ल जो अम्भोद कुसुम जन्मा वा मेघपुष्प जन्मा अर्थात् जलज पद वाच्य पद्म, उसका गहन, प्रसवाशुग वा पुष्पबाण धारी कन्दर्प का कूर्दन वा क्रीडा जनित निद्रा से उत्थित जो युवति जन उसका मुख सौन्दर्य्य का अनुकरण कर रहा है—इस प्रकार अर्थ है ।

किन्तु वाक्य के अधिकाश पद ही नेयार्थ होने के कारण--उक्त वाक्य नेयार्थ नामक दोष दुष्ट हुआ है ॥४९॥

श्रीकृष्ण के चरणाम्बुज मे जन गणके अकपट से निहित निता त निम्मला मति--दुष्कृत को विदूरित करके सुकृत सञ्चय कर देती है ।

नव वयस्तेऽधिकसौकुमार्य्यता, प्रियानुरागामृतसिन्धुरत्नता ।

यथोत्तर वृद्धिमती गुणावलि का ते समाना भवतीह राधिके ?

अत्राधिकसौकुमार्य्यता प्रियानुरागेत्यादि च विधेयम्, तच्च समास गतत्वेनाविमृष्टम् । तेन 'नव वयस्ते सुकुमारताधिका, प्रियस्य च प्रेम नव नव त्वयि' इति साधु । ५१॥

असमासगतत्वेऽपि वाक्याविमृष्टविधेयांशत्व द्रष्टव्यम् ।

यथा—सौभाग्य मम पुनरेतदेव कृष्ण, यत् कान्तागणगणने ममापि लेख ।

अत्राय यदधिक आदरस्तदेतन्माहात्म्य तव परमुत्तमकृपाया ॥

अत्र एतदेवेति विधेयम्, नत्वनुवाद्यम् । तत्तु पश्चान्निर्देशेनाप्यनुवाद्यमेव जातम् । तेन "अस्माक पुनरिदमेवसौभग यत्, कृष्ण त्वज्जनगणने ममापि लेख' इति पाठ्यम् ।

अत्रास्माकमिति बहुवचन स्थाने विधेयता याति, ममापीति एकवचनमपि स्थाने विधेयता याति ॥५२॥

अधिक सौकुमार्य्य यस्यास्तस्या भाव सौकुमार्य्यता सौकुमार्य्यमेव, तत्तु एव क्रमेण समासे गुणीभूत मेव । समास गतत्व विनापि वाक्येऽविमृष्टविधयांशत्व सम्भवतीत्याह—असमासेति ॥५१॥

एतदेव सौभाग्य मम पुनरित्य वये एतदित्यस्य विवक्षित विधयत्व न सम्भवति, पश्चान्निर्देशात् । किन्तु अनुवादत्वरूपत्वमेव तस्य जातम् । अत सौभाग्यमित्यस्य विधेयस्याविमष्ट विधेयांशत्वम् । "अनुवाद मनुक्त्वव न विधेय प्रयोजयेत्" इति वचनात् । तस्मादस्माक पुनरिदमेव सौभगमिति पाठे एतत् पदस्य पश्चान्निर्देशाभावाद् विधेयत्व सिद्धमितिभाव । अत्र विधेयान्तरमप्याह—स्थाने प्रकृति प्रत्यय मर्य्यादायाम्, अस्माकमित्यत्र बहु वचनस्यापि विधेयत्व ज्ञेयम् ।

इस वाक्य के मूलस्थित सस्कृत श्लोक मे पद समूह का सन्निवेश जिस प्रकार हुआ है, उसमे उक्त पद समूह का परस्पर सम्बन्ध, क्लिष्ट होने के कारण समग्र श्लोक क्लिष्ट हुआ है ॥५०॥

हे राधे ! तुम्हारे नवीन वयस, अधिक सौकुमार्य्यता एव प्रियानुरागामृत सि धु रत्नता एव उत्तरोत्तर वृद्धिमती गुणावली समस्त ही अलोक साधारण है इस ससार मे कौन तुम्हारी सदशी हो सकती है ?

यहा अधिक सौकुमार्य्यता इत्यादि विधेय है । कि तु अधिक हुआ है, सौकुमार्य्य जिसका वह अधिक सौकुमार्य्या है, उसका भाव अधिक सौकुमार्य्यता है इस तात्पर्य्य से समास करने से विधेयांश है, उस समास मे गुणीभूत हुआ है, एव उससे अविमृष्ट विधेयांश नामक दोष हुआ है । अतएव उस वाक्य मे 'हे राधे ! तुम्हारा नवीन वयस, समधिक सुकुमारता, प्रिय के प्रति नव नव प्रेम" इत्यादि रूप परिवर्त्तन ही साधु है ॥५१॥

समासत्व व्यतीत भी वाक्य मे अविमृष्ट विधेयांश दोष होता है । दृष्टान्त—हे कृष्ण ! मेरा सौभाग्य यही है कि—कान्तागण की गणना मे मेरा उल्लेख होता है, उस मे भी जो यह अधिक आदर है, यह तुम्हारी अपार कृपा का परम माहात्म्य है ।

यहाँ "यही मेरा सौभाग्य है" यहा "यही" यह एतत् पद विधेय है, किन्तु पश्चात् निर्देश हेतु वह

यथा वा—अपाङ्ग भङ्गेन धृतिंधुनोते कालेन वेणोश्च ह्रिय लुनीते ।
कुलञ्च शीलञ्च पुन पुनीते, स्पर्शेन योऽसौ पुरत प्रियस्ते ॥

अत्र योऽसावित्येतयो पदयो पूर्वमनुवाद्य द्वितीयन्तुविधेयम् सन्निकृष्टत्वेन द्वितीय मेवानुवाद्यवत् प्रतिभासते । तेन 'स्पर्शेन यस्ते सखि सोऽस्त्युपैत' इति वाच्यम् ।

एव प्रस्तावतो यत्तदो सम्बन्धोऽपि विचार्यते । तथा हि–यत्र हि प्रक्रान्त प्रसिद्धानु–भूतार्थ विषय स्तच्छब्द, तत्र हि यच्छब्दो नापेक्षित स्यात् ॥५३॥

यथा—वृन्दावने चन्दन वातशीते स चन्द्रिकाया निशि सुन्दरीभि ।
कलिन्द कन्या–पुलिनेऽतिरम्ये स रासलास्योत्सव मातताम ॥

अयमर्थ —मम एकस्या अपित्वज्जन मध्ये लेखश्चत्तदा सखी सहितानामस्म क बह्वीनामिद सौभगम् । अत्रास्मन्निष्ठ बहु वचनस्य विधान तथास्वनिष्ठकत्वस्यापि विधान ज्ञेयम् ॥५२॥

य पुन स्पर्शेन तव कुल शील च पुनीते असौ श्रीकृष्ण पुरताऽग्रे वर्त्तत । अत्र य इत्यनुवाद, असाविति विधेयम् । अत्र यत्तदोरत्यन्त सन्निकृष्टत्वेनासाविति पदमनुवादवद् भासते ।

यत्र हीति—यत्र तच्छब्द प्रक्रमवाची, तथा प्रसिद्धवाची, अथवा, अनुभूतार्थवाची, तत्तत्स्थले यच्छब्दापेक्षा नास्तीत्यर्थ ॥५३॥

चन्दन पवनेन शीलेत वृन्दावने तथा चन्द्रिका सहिताया निशि, एव यमुनाया रम्ये पुलिने स पूर्व

अनुवाद्य हो गया है । अतएव "हमारा यही सौभाग्य है कि त्वदीय जन गण की गणना मे मेरा उल्लेख होता रहता है । इस प्रकार पाठ करना होगा ।

यहाँ "हम सबके" इस अस्मद् शब्द के उत्तर मे जो बहु वचन प्रयुक्त हुआ है, उसका विधेयत्व समुचित ही है, मेरा भी ' इस अस्मद् शब्द के उत्तर एक वचन का भी विधेयत्व हुआ है ।

वाक्य का तात्पर्य्य यह है कि—"मैं" स्वरूप जो एक व्यक्ति है, इस एक व्यक्ति का भी गणन यदि त्वदीय जनगण क मध्य मे हो, तो सखी के सहित हम सब हैं हम सब का ही यह सौभाग्य है, सुतरा यहाँ अस्मन्निष्ठ बहु वचन एव स्वनिष्ठ एक वचन–उभय का ही विधेयत्व हुआ है ॥५२॥

उदाहरण—जो अपाङ्ग भङ्गि के द्वारा धर्य्य को विघूनित, वेणुके कलस्वर से लज्जापहरण, एव स्पर्श के द्वारा कुलशील पवित्र करता है, वही तुम्हारे प्रिय पुरोभाग मे वर्त्तमान है ।

यहाँ के श्लोक मे यद् एव अदस शब्द के प्रयोग से प्रथम अनुवाद्य, द्वितीय -विधेय, किन्तु अत्यन्त सन्निकृष्टता हेतु द्वितीय अनुवाद्य क समान प्रतीत हो रहा है अतएव मूलानुरूप यत्तत् पद का परिवर्त्तन कर पाठ करना ही कर्त्तव्य है ।

प्रस्तावक्रम से यहा यत्तद के सम्बन्ध मे विचार किया जा रहा है । जहाँ तद् शब्द प्रक्रम वाचक, प्रसिद्धि वाचक, अथवा अनुभूतार्थ वाचक होता है, वहा यद् शब्दको यद् शब्दकी अपेक्षा नहीं रहती है ।५३।

उदाहरण—चन्दन वातशीतल वृन्दावन धाम मे ज्योत्स्नोज्ज्वला यामिनी मे सुरम्य यमुना पुलिन मे वह व्रज सुन्दरी गण के सहित रास लास्य का उत्सव किया था ।

अत्र 'स' इति प्रक्रान्त श्रीकृष्णमेव प्रस्तौति। 'स रासलास्य विततान कृष्ण' इति पाठे स इति प्रसिद्धिमात्रद्योतकम् ॥५४॥

सा कान्तिरेकान्तरसायन दृश, स वाग् विलास श्रवसा सुधाश्रव ।
तद्वीक्षित प्रेमरसस्य दुर्दिन, कदा पुनर्मे विषयो भविष्यति ॥

अत्र तच्छब्दोऽनुभूतार्थ । एवमस्मिन्नर्थे वीप्सापि दृश्यते ॥५५॥

ते ते कटाक्ष स स वाग्विलास, स्तत्तत् स्मित तत्तदसीम धाम ।
ते ते गुणा हन्त समस्तमेव ममाधुना कृन्तति मम मम ॥

एव चोत्तर वाक्यस्थो यच्छब्द पूर्व वाक्यस्थ तच्छब्द प्रति न साकाङ्क्ष ॥५६॥

यथा—त्रैलोक्य लक्ष्मी मुकुटैकरत्न, श्रीकृष्ण एव प्रणयेन सेव्य ।
येन स्वकीय पदमादरेण, प्रदीयते मुक्त्यधिक भजद्भ्य ॥

प्रक्रान्त, श्रीकृष्ण उत्सव मातनान। ५४॥

सा अनुभूता कान्ति दृशामेकान्तरसायनम्। सोऽनुभूतो वाग विलास कर्णाना सुधा प्रस्रवण रूप। तद्वीक्षित प्रेमरूपस्य दुर्दिन वर्षक मेघ स्वरूपम्। एवम्भूत कान्त्यादि कदा पुनरिन्द्रियाणा विषयो भविष्यति। एवमिति अस्मिन्नर्थे अनुभूत्यर्थे ॥५५॥

अधुना माथुर विरहेण व्याकुला श्रीराधिका आह—तत्तत् सीमारहित धाम प्रभावादि, "गृह देह त्विट् प्रभावा धामानि" इति, समस्तमेव मम कृन्तति। शोके विषादादौ द्विरुक्ति न दुष्यति ॥५६॥

त्रैलोक्यस्य शोभारूपाया लक्ष्मया मुकुटस्यासाधारण रत्न स्वरूप श्रीकृष्ण एव सेव्य येन मुक्त्यधिक

यहाँ 'वह' शब्द से प्रकान्त श्रीकृष्ण का बोध होता है, वह श्रीकृष्ण रासलास्य किया था, इस प्रकार पाठ करने से 'वह' तद् शब्द प्रसिद्धिमात्र का द्योतक होता है ॥५४॥

उदाहरण—लोचन युगल के एकान्त रसायन वह कान्तिच्छटा, कर्ण कुहर के सुधानिष्पन्द स्वरूप वह वाग्विलास एव प्रेमरस वर्षण शील मेघसदृश वह विलोकन कब पुनर्वार मेरे इन्द्रिय वृन्द के विषय होगा? यहाँ कान्तिच्छटा, वह वाग विलास इत्यादि स्थल मे जो तद् शब्द है, वह अनुभूतार्थ बोधक होता है।

अनुभूतार्थ विषयक जो तद् शब्द—एव उस की वीप्सा अर्थात पुन पुन उच्चारण दृष्ट होती है ॥५५

उस उस कटाक्षच्छटा, उस उस वाग विलास, उस उस मृदुहास्य, उस उस असीम प्रभाव तत्तत् गुण राशि, हाय! समस्त ही अधुना मेरा मर्मच्छेद कर रहे है।

उत्तर वाक्यस्थ यद् शब्द पूर्व वाक्यस्थित तद् शब्द साकाङ्क्ष नही है ॥५६॥

त्रैलोक्य लक्ष्मी के मुकुटस्थित अद्वितीय रत्न स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण ही प्रणय पूर्वक सेवनीय है, जो सेवक के सम्बन्ध मे मुक्ति से अधिक स्वकीय पद प्रदान समादर पूर्वक करते रहते हैं।

यहाँ उत्तर वाक्यस्थ यद् शब्द तद् शब्द व्यतीत ही स्वच्छन्द से शोभित है।

अत्रोत्तरपदस्थो यच्छब्द स्वाच्छ देयनव श भते। पूव वाक्यस्था दच्छब्द उत्तर वाक्यस्थ तच्छब्द प्रति सापेक्ष। यथा-येन स्वकीय परमादरेण'इत्याद्य त्तरमर्घं पूर्वार्घं यदि भवति, तदैव तच्छब्दाकाङ्क्षा तेन 'श्रीकृष्ण एव प्रणयात् स सेव्य' इति चतुथ चरण पाठ्यम ॥५७॥

द्वयोरनुपादानेऽपि द्वयोरथ क्वचिदवगम्यते। यथास्मद् गुरव, (श्रीनाथ विरचिताया श्रीचैतन्यमतमञ्जुषायाम्)

न वादि निग्रह साध्यो न शिष्यानुग्रहोऽपि न
उभयायितरूपस्य मनसो ह्य भय मतम्।

अत्र यो वादी भाति तस्य जिगीषा मे नास्ति, य शिष्यो भवति, तस्मिन्ननुग्रहो नास्ति, किन्तु मन एव उभयायितम्। तेन तस्यवोभयय निग्रहानुग्रहौ इति वाक्यद्वये पूव-वाक्ये यत्तदोरभावेऽपि यत्तदर्थ प्रत्यायकत्वम् ॥५८॥

तथासाविति शब्द स इत्यस्यार्थं नाभिधत्ते। यथा—

असौ गुणाना निकषो गुणानामुत् पत्तिभूमिर्भवती च राधे।
जनस्तृतीय कथमत्र योग्यो, येन द्वयोर्दौत्यमुरी क्रियेत ॥

स्वकीयपद दीयते। तत् पद विनव स्वाच्छ देयन शोभते। द्वयोर्यत्तदोरनुपादानेऽपि ॥५७॥

अथ ये पण्डिता स्ते वादिषु निग्रह शिष्येष्वनुग्रह कुर्वन्ति, एतद्द्वयमेव तेषा साध्यम् मम तु तद द्वय साध्य न भवति, किन्तु मन्मन एव मम वादि। तथाहि 'रे मनस्त्व भगवच्छ्रवण कीर्तन स्मरणादौ तिष्ठ, विषयेषु सदा माति ष्ठ' इति मदाज्ञामस्वाकुवत् सदा विषयेषु तिष्ठ त। अतो भगवच्चरणाश्रयण रूप बन्धेन तन्मनो जित्वा शिष्य करिष्यामीति पश्चाद् भगव मधुर नाम कीर्तनादौ निमज्जन रूपानुग्रह मनोरूप शिष्ये विधास्यामीत्याह न वादीति। उभयायित रूपस्य वादिशिष्य स्वरूप मनस उभय निग्रहानुग्रहौ मत मम सम्मतम् ॥५८॥

पूववाक्यस्थ यद् शब्द उत्तर वाक्यस्थ तद् शब्द का साकाङ्क्षित होता है। जसे पूर्वोदाहरण मे 'जो स्वकीयपद प्रदान समादय पूव करते हैं" यह उत्तरार्द्ध यदि पूर्वार्द्ध होता है, तो तद् शब्द की आकाङ्क्षा उपस्थित होती है। तादृशस्थल मे चतुथ चरण परिवर्त्तन करके 'वह श्रीकृष्ण प्रणय पूवक सेवनीय हैं।।" इस प्रकार पाठ करना चाहिये ॥५७॥

यद् एव तद् एतदुभय के अनुपादान में भी स्थल विशेष में उभय की अर्थावगति होती है। जिस प्रकार गुरु चरण का उक्ति है – पण्डित गण के समान वादी क प्रति निग्रह एव शिष्य के प्रति निग्रह करना मेरा साध्य नही है। किन्तु वादी वा शिष्य एतदुभय स्वरूप जो निज मन है, उसके प्रति निग्रहानुग्रह उभय करण ही मेरा अभिप्रेत है।

यहाँ जो वादी है, उसके प्रति जिगीषा वा जो शिष्य है, उसके प्रति मेरा अनुग्रह नही है, किन्तु मन वादी एव शिष्य उभय स्वरूप होने के कारण उसके प्रति निग्रहानुग्रह करना ही मेरा अभिप्रेत है। इस

अत्र स इत्यर्थे नासौ शब्द अपितु प्रकान्त एवार्थे यद्यपि 'यस्ते प्रियोऽसौ न जहाति पार्श्वम्' इति यच्छब्दानन्तर व्यवहितोऽप्यसौशब्द स्तच्छब्द प्रतीतौ समथवद् भासते,तथापि विना तच्छब्दान्तर न वाक्यार्थपरिपोष, तच्छब्दोपादानेनैव स स्यात् । यथा–'यस्ते प्रियोऽसौ स तवैव पार्श्वे' इति ॥५९॥

यस्तेमनोरत्नहर सुनेत्रे, नवीन नीलाम्बुदवृन्द कान्त ।

राकेन्दु निन्दाकरवक्त्र बिम्बो, मयायमालोकि वन प्रयान्त्या ॥ इति ।

क्वचिदिद शब्दवदद शब्दोऽपि तच्छब्दार्थ मभिधत्त इति यत् तत्तुनैक वाक्यस्थम् उत्तर वाक्यस्थमेव तथा न तु योऽय सोऽसाविति यच्छब्द निकटत्वे सति प्रसिद्धार्थ बोधकमेव, यथा यच्छब्द निकटस्थ तच्छब्द प्रसिद्धार्थमेवाभिधत्ते ॥६०॥

असाविति—असौ प्रक्रान्त श्रीकृष्णो गुणा । स्वण स्थानायानां निकष परीक्षा प्रस्तर । हे राधे ! त्व गुणानामुत्पत्ति भूमि । अह तु गुण रहित स्तूर्त योजन । अत्र दौत्य कर्माणि कथ योग्यो भव मि ।

यद्यपि यस्ते प्रिय, असौ स श्रीकृष्ण पार्श्व न जहाति तथाप्यत्र तच्छब्दस्य प्रयोग विना केवलमसौ शब्देन स इत्यर्थ बोधो न भवति । तस्मात् यस्ते प्रियोऽसौ, स तव व पार्श्व इति शुद्धम् ॥५९॥

यस्ते मनोरत्नहरोऽय स श्रीकृष्णो मया आलोकि, इत्यत्र इद शब्दस्तच्छब्दार्थ बोधक तद्वदद शब्दोऽपि यदुक्तम्, तत्तु नक वाक्य थम् अपि तूत्तर वाक्यस्थमेव । न तु योऽय सोऽसाविति यच्छब्द निकटत्वे सति तादृशस्थले प्रसिद्धार्थ बोध एव भवतीत्यर्थ ॥६०॥

वाक्य द्वयके मध्य मे पूर्व वाक्य मे यत्तद् के अभाव मे भी उसकी प्रतीति होती है ॥५८॥

अदस् शब्द की प्रथमा विभक्ति के एक वचन मे निष्पन्न असौ यह पद- तद् शब्द के प्रथमा का एक वचन मे निष्पन्न स —इस पद का अर्थ प्रकाश नही करता है ॥ दृष्टान्त—

वह जिस प्रकार गुण राशि का निकष स्वरूप है, तुम भी गुणि गण खनि उत्पत्ति भूमि हो, मै गुण हीन हूँ । तृतीय व्यक्ति किस प्रकार मुझको तुम्हारे दौत्य कर्मके उपयुक्त मानकर स्वीकार करेगा ।

यहाँ मूल मे 'स' इस अर्थ मे असौ पद का प्रयोग नही हुआ है । प्रक्रान्त अर्थ मे ही हुआ है । ' यस्ते प्रियोऽसौ न जहाति पार्श्वं " यहाँ यद्यपि यद् शब्द के अनन्तर असौ यह पद व्यवहित रूप मे सन्निवेशित होकर तद् शब्द के प्रतीति विषय मे समर्थ के समान बोध होता है, तथापि और एक तद् शब्द का प्रयोग व्यतीत वाक्यार्थ का पोषण नहीं होगा । केवल तद् शब्द का उपादान से ही वह होगा । अतएव ' यस्ते प्रियोऽसौ स तवैव पार्श्वे" अर्थात् जो वह तुम्हारा प्रिय है वह तुम्हारे निकट है, इस प्रकार प्रयोग ही शुद्ध है । ५९॥

हे सुलोचने ! नव नील नीरद वृन्द सुन्दर पूर्ण इन्दुनिन्दि मुखमण्डल जो तुम्हारे चित्तरत्नचौर है, वन गमन समय मे यह मदीय नेत्र पथ के अतिथि हुआ ।

यहाँ इदम् शब्द जिस प्रकार तद् शब्दार्थ बोधक है, उस प्रकार क्वचित् अदस शब्द भी तद् शब्दार्थ का वाचक होता है, यह जो कहा गया है, वह एक वाक्यस्थ होने से नही होगा, उत्तर वाक्यस्थ होने से

यद् यथा—राधामाधवयोयत्तत् प्रेमक्षेमङ्कर महत् ।
तत् किं वर्णयितु शक्य गिरादेव्यापि कर्हिचित् ?

अत्र त ु किमिति पुनस्तच्छब्देनैव निराकाङक्षम् ।

एव प्रागुपात्तस्य यच्छब्दस्य वीप्मायामुत्तर वाक्यस्थ तच्छब्दस्यापि वीप्सा कर्त्तव्यैवेति न नियम,—तदकरणेऽपि दोषाभावात् । यतो वीप्सा प्रतिपाद्य यत् किञ्चिच्छब्दार्थ रूप तदेवोत्तर वाक्यस्थैक-तच्छब्देनैव समर्थ्यते, उत्तर वाक्यास्थित सामर्थ्यादेव । ६१ ।

यथा—गुण अपि क्वापि भवन्ति दोषा, दोषा अपि क्वापि गुणा भवन्ति ।
यो यो गुणस्ते स स तादृगेव दोषस्तु यो यो न च तस्य लेश ।।

अत्र तृतीय चरणे द्वयोरपि वीप्सा, चतुर्थ चरणे यच्छब्दस्यैव । उक्तोदाहरण द्वये क्रम ण्यम् ।

यच्छब्द निकटस्थ तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थ बोधकत्वे उदाहरणमाह—राधामाधवयोयत्तत् प्रसिद्ध प्रेम तत् किं वर्णयितु शक्यम् ।

अत्र द्वितीय—तच्छब्देन सह यच्छब्दस्याकाङ्क्षा, तेनव यत् पद निर काङक्षम् । अत प्रथम तत्पद प्रसिद्धार्थमेव । अथ यत्र पूर्वोक्तस्य यच्छब्द द्वयस्य वीप्साया पाठ स्तत्रोत्तरवाक्ये तच्छब्दस्य हि पाठ । कुत्रचित् पूर्ववाक्ये यच्छब्द स्य पाठद्वयेऽप्युत्तरवाक्ये तच्छब्दस्यक एव पाठ । अतो न नियम इत्याह एवमिति ।।६१।।

तदुभयस्योदाहरणमाह—गुणा इति । कस्यचित् पुरुषस्य पाण्डित्यादयो गुणा अप्यसत्सङ्गेन दोषा भवन्ति । उक्त हि चतुर्थस्कन्धे—(३।१७) 'विद्यातपोवित्तवपुर्वय कुलै, सता गुणै षड भिरसत्तमेतर" इति । एव स्त्री पुत्रादि-सहित गृहरूप दोषा अपि सत्सङ्गेन गुणा भवन्ति । उक्त हि दशमस्कन्धे—(१०।१४।३६) ब्रह्मणा 'तावद् रागादयस्तेनास्तवत् कारागृह गृहम्" इति । तव तु यो यो गुण स स तादृगेव गुणरूप एव, न कदाचिद् दोषरूप । अत्रोभयत्रैव वीप्सा ।

ही होगा। इस प्रकार जानना होगा। अन्यथा "योऽय योऽसौ" इस प्रकार यद् शब्द निकट वर्त्ति स्थल मे नहीं होगा। तादृशस्थल मे वह यद् शब्द निकटस्थ तद् शब्दके समान प्रसिद्धार्थ बोधक ही होता है ।।६०।।

उक्त विषय का दृष्टान्त—राधा माधव के जो वह क्षेमकर सुमहत् प्रेम है, भगवती सरस्वती भी कभी उसका वर्णन करने मे समर्थ हैं ? यहाँ "उसका वर्णन करने मे" यह द्वितीय तद् शब्द के द्वारा ही यद् शब्द की निराकाङक्षता हुई है। प्रथम तत् पद यहाँ प्रसिद्धार्थ मात्र है।

इस प्रकार पूर्व वाक्यस्थ यद् शब्द की वीप्सास्थल मे उत्तर वाक्यस्थ तद् शब्द की जो वीप्सा करनी ही पडेगी—इस प्रकार नियम नहीं है। कारण, वैसा न होने से भी दोष नहीं है। कारण, वीप्सा प्रतिपाद्य जो कुछ शब्दार्थ रूप वस्तु है, वह उत्तर वाक्यस्थ एक तद् शब्द के द्वारा ही समर्थित होती है। उत्तर वाक्य मे अवस्थिति प्रयुक्त ही तद् शब्द की उस प्रकार सामर्थ्य होती है ।।६१।।

गुण भी कहीं पर दोष होता है, दोष भी कहीं पर गुण होता है, किन्तु तुम्हारे गुण जो जो है, वह तादृश ही होता है, एव जो जो दोष शब्द से गण्य है, उसका लेश भी तुम्हारे मे नहीं है।

(रघुवंशे ६।६९) "य य व्यतीयाय पतिवरा सा, विवर्ण भाव स स भूमिपाल" इति कालिदास । (मालती माधवे प्रथमाङ्क) 'यद्यत् पाप प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे" इत्यादि भवभूति ॥६२॥

पदाम्बुजद्वन्द्व परागवाही, सुपावनोऽय तव मातरिश्वा ।
ललाग हे वैष्णव पुण्ययोगात्, पूत कृतार्थश्च कृतोऽस्मि तेन ॥

अत्र 'तव मातरिश्वाललाग' इति 'तव मातरि श्वा ललाग' इति विरुद्धत्वाद् विरुद्ध मतिकृद् वाक्यम् ॥६३॥

अथ पदाशेऽप्येते श्रुति कटुत्वादय इति यदुक्त तदुदाह्रियते ।
परमसहृदयत्वात् सर्वभूतप्रियत्वाद् भगवदनुगतत्वात् सर्वदा दुर्लभत्वात् ।
जगति कति न धन्या पुण्यदेहा दुरन्तरपिघनमघभाजामप्यघ नाशयन्ति ?

अत्र 'त्वात् त्वात् त्वात् त्वात्' इति पदाशे श्रुतिकटुत्वम् ॥६४॥

एव जो जो दोष स्तस्य त्वयि लेशोऽपि नास्ति, अत्र यच्छब्दे एव वीप्सा न तु तत् पदे । तच्छब्दस्य वीप्साकरणे तदकरणे च कविद्वयस्य पद्यद्वयप्रमाणमाह यमिति । हे जगन्नाथ ! नम्रस्य भक्तस्य यद् यत् पाप त्व जहि त मे इत्यादीत्यत्र एक एव तच्छब्द ॥६२॥

हे वैष्णव ! तव पद कमल परागवाही मातरिश्वा पवनो ममाङ्गे ललाग । तव मातरि कुक्कुरा ललागेति विरुद्धमतिकृत् ॥६३॥

टीका—परमेति । जगति भवद्विधा पुण्य देहा दुरन्त करण निविड पाप भाजा पाप न नाशयन्ति ? अपि तु नाशयन्त्येव ॥६४॥

उक्त उदाहरण श्लोकस्थ तृतीय चरण मे उभय की ही वीप्सा एव चतुर्थ चरण मे केवल यद् शब्द की वीप्सा हुई है ।

उस उदाहरण द्वय का प्रमाण प्रस्तुत करते है—कालिदास की उक्ति है— वह पतिश्वरा जिस जिसको अतिक्रम कर के चली उस उस भूपति विवर्ण भाव को प्राप्त किये थे ।

भवभूति ने भी लिखा है—हे जगन्नाथ ! इस विनत जनका जो जो पाप है, तुम उसको विनष्ट करो ॥६२॥

हे वैष्णव ! चरणारविन्द के परागवाही सुपावन त्वदीय यह मातरिश्वा पुण्य हेतु सलग्न है । अत मै पूत एव कृतार्थ हो गया हूँ ।

यहाँ "तव मातरि श्वाललाग" स्थल में तुम्हारे ऊपर श्वा-अर्थात् कुत्ता लगा है । इस प्रकार विरुद्ध बुद्धि का उदय होने के कारण वाक्य भी विरुद्ध मतिकृत् नामक दोष दुष्ट हुआ है ॥६३॥

कहा गया है—

पदाश मे भी श्रुति कटुतादि जो दोष होते है, उसका उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

परम सहृदयत्व, सर्वभूत प्रियत्व, भगवदनुगतत्व एव सर्वदा दुर्लभत्व हेतु इस जगत् मे पुण्यात्मा

सत् प्रीतिमत्तां तव किं वदाम, सर्वत्र ते कृष्ण समैव दृष्टि ।
स्वभावरागा न भवन्ति नून, क्वचिद्विरागा क्वचिदूढ रागा ॥

अत्र पदांशे 'मत्ता' शब्द क्षीवार्थेन निहतार्थं । तेन 'प्रीते प्रभाव तव किं वदाम' इति पाठ्यम् ॥६५॥

तव तन्वङ्गि तरलरपाङ्गाना तरङ्गकै । पञ्चेषोरिषव पञ्चराधे स्यु शतकोटय ॥

इति पदांश गतम्, 'अपाङ्गानाम्' इति बहुत्वमनर्थकम् । तेन तव तन्वङ्गि निकरै स्तरङ्गाण'मपाङ्गयो' इति पाठ्यम् । यथा वा (पञ्चम किरणे १७७) 'दूराद् द्राघयतेऽवगुण्ठन पट वामाङ्गुलि पल्लवै, रभ्यर्णं मयि सङ्गते कर युगेन' इत्यादि ।

हे कृष्ण ! तवसज्जनेषु प्रीति युक्तता किं वदाम, किन्तु सर्वत्र असज्जनेषु कसाविल्वापि मोक्षदायकत्वात् समैव तव कृपामयी दृष्टि । जगद्वर्त्तिनोजनास्तु सर्वत्र स्वभावसिद्धानुरागविशिष्टा न भवन्ति, किन्तु क्वचिद् द्वेषिषु विराग, क्वचिदनुकूलेषु जनेषु ऊढरागा भवन्ति ॥६५॥

हे राधे ! तवापाङ्गाना चञ्चलस्तरङ्ग करण पञ्चेषो कन्दर्पस्य पञ्चबाणा शतकोटय स्यु ।

सुवल प्रति श्रीकृष्ण | आह—दूरान्मयि दृष्टे सति स्वमस्तकस्थावगुण्ठन पट द्राघयते, दीर्घ करोति ।

कितने ही धन्य व्यक्ति,—कटाक्ष मात्र से ही पापि वृन्द के निविड पापराशि को विनष्ट करते हैं ।

यहाँ 'त्वात्, त्वात् त्वात् इस प्रकार पद का पुन पुन प्रयोग होने के कारण-श्रुति कटु दोष हुआ है ॥६४॥

उदाहरण—हे कृष्ण ! सज्जन के प्रति तुम्हारी प्रीतिमत्ता की कथा क्या कहूँ ? सर्वत्र ही तुम्हारी समदृष्टि है । साधारण जन गण स्वभावत सर्वत्र समराग कभी भी नहीं हो सकते हैं, वे प्रियाप्रियभेद से स्थल विशेष मे विरागशाली होते हैं ।

यहाँ प्रीतिमत्ता पदसे मत्ता इस अंश मे 'उन्मत्त' यह अर्थ निहत है, अत निहतार्थ दोष युक्त हुआ है । अत उक्त स्थल मे "तुम्हारी प्रीति का प्रभाव को क्या कहूँ ?" इस प्रकार परिवर्त्तन पूर्वक पाठ करना ही कर्त्तव्य है ॥६५॥

अयि कृशाङ्गि राधिके ! तुम्हारे अपाङ्ग समूह की तरल तरङ्ग से पञ्चेषु के पञ्चबाण जैसे शत शत कोटि होते है ।

यहाँ अपाङ्ग समूह के स्थल मे बहुत्व अनर्थक हुआ है । अतएव "तुम्हारे अपाङ्ग द्वय के तरल तरङ्ग समूह से" इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ।

पञ्चम किरण के १७७ मे उक्त है—

दूराद् द्राघयतेऽवगुण्ठन पट वामाङ्गुलि पल्लवै
रभ्यर्णं मयिसङ्गते कर युगेनाकल्पयत्यञ्जलिं
आपष्टानन पद्ममानमयति स्पष्टा समुत्कण्ठते
दाक्षिण्य किमु वामताथ सुदृशो नावेदि किञ्चिन्मया ॥

अत्र पल्लवैरिति बहुवचनमनर्थकम् । तेन "लीलाङगुलिमुद्रया प्रत्यासेदुषि मय्यसौ करयुगेन' इति पाठ्यम् ॥६६॥

विजेय कामसमरे राधया माधवो मुदा । सखीमण्डल मध्येऽपि प्रजगल भेन तत्रपे ।
अत्र विजित इति क्त प्रत्यये वाच्ये विजेय इति कृत्य प्रत्ययोऽवाचक, इति पदांशेऽवाचक । तेन 'जितोऽपि स्मर सग्रामे' इति पाठ्यम् ॥६७॥

शिरीष पुष्प दपि पेलव वपु, दुनोति यस्या शयनेऽपि कौसुमे ।
आदर्श वच्छवास समीरणादपि, प्रग्लायतीद सहते तथा व्यथाम ॥

अत्र पेलवमित्यश्लील व्रीडा जनकम् । तेन 'कोमलम्" इति पाठ्यम् ॥६८॥

दिविष्ठाना क्लेशकरा शतशोदितिनन्दना । हता ह्येकेन हरिणा हरिणा हरिणा इव ॥
अत्र दिविष्ठा इति पदांशेऽमङ्गलाश्लीलम् । तेन 'देवतानाम्' इति पाठ्यम् । एव पूयते

अभ्यण निकट मयि सङ्गते सति मयि मा मा स्पृशेत्यथ ज्ञापक करद्वयेनाञ्जलि करोति । हे प्रिये ! कुत आगत्य कुत्र यासीति मया आपृष्टा सती मुख पद्मीषन्नमयति ॥६६॥

कामक्रीडा प्रचुरे जलयुद्ध होलिकोत्सवादौ राधया विजेयो विजितोऽपि माधव 'अहमेव जितवान्' इति मिथ्या प्रजगलभे न तु तत्रपे, लज्जा चकारेत्यथ ॥६७॥

यस्या राधाया शिरीष पुष्पादपि पेलव कोमल वपु पुष्प शय्यायामपि दुनोति, दपणवत् श्वास पवनेनापि म्लायति, एवम्भूतमपीद वपु श्रीकृष्णे मथुरा गते सति तथाविध विरह व्यथा सहते ॥६८॥

उदाहरण—हे सखे ! सुनयना मुझ को दूर से देखकर वामाङगुलि पल्लव समूह से अव गुण्ठन वसन को दीघ करत करती रहती है । मै निकटवर्त्ती होने पर कर युगल के द्वारा विनय व्यञ्जक अञ्जलि रचना करती रहती है । जिज्ञासा करने पर मुख कमल अवनमित करती है, स्पश करने पर कम्पित होती है । फलत प्रिया के ये सब वामता अथवा दाक्षिण्य हैं, मैने कुछ भी समझ नहीं पाया ।

यहाँ "अङगुली पल्लव समूह के द्वारा" बहुत्व अनथक हुआ है । अतएव 'लीलामय अङगुलि मुद्रा क द्वारा अवगुण्डन वसन को विलम्बित करती रहती है" इस प्रकार पाठ करना कत्तव्य है ॥६६॥

श्रीकृष्ण,—स्मरसग्राम मे श्रीराधा के द्वारा विजेय होने पर भी सखी मण्डल के मध्य मे आन द से प्रगलभता करने लगी, कुछ भी लज्जिता नही हुई ।

यहाँ 'विजित यह 'क्त' प्रत्यय वाच्य स्थल मे विजेय यह कृत्य प्रत्यय अवाचक हुआ है । अतएव "श्रीकृष्ण काम सग्राम मे श्रीराधा के द्वारा विजित होने पर भी" इस प्रकार पाठ करना होगा ॥६७॥

शिरीष पुष्प से भी पेलव जिसका शरीर कुसुम शयन मे भी व्यथित होता, एव अ दश के तुल्य निश्वास पवन से भी म्लान होता, वही अधुना । तथाविध विरह व्यथा को सह्य कर रहा है ।

यहाँ 'पेलव' यह पद व्रीडा जनक अश्लील हुआ है । अतएव उसका परिवत्तन पूवक 'कोमल' इस प्रकार पाठ करना कत्तव्य है ॥६८॥

अभिप्रेतादि शब्दाश्च ॥६६॥

मृगाक्षीणा कामरणे निश्चेष्टाना वपुस्पृशन् । स दक्षिणो जगत् प्राण प्रणयी समपद्यत ॥

अत्र मरण इति पदांशेऽमङ्गलाश्लीलम् । तेन 'गोपिकाना रतिरणे निष्प दानाम्' इति पाठ्यम् ॥७०॥

नीलाश्महारो हरिणी दृशा वत्सरुहोपरि । सरोजकोरकगतो भृङ्गसङ्घ इवाबभौ ।

अत्र वत्स शब्देन वक्षो लक्ष्यते, तच्च नेयार्थं पदांशगतमेव । तेन 'वक्षोरुहोपरि' इति वाच्यम् ।

यद्यपि पूर्वपद परिवृत्तिसहमुत्तरपद परिवृत्ति सह मुभयपदपरिवृत्तिसहञ्चेति प्रागेवोक्तम्, तथापि तेषा यथा प्रसिद्धि परिवृत्ति कार्य्या । सा तु महाकवि प्रयोगत सहृदय हृदयाऽदूषणाच्च समुचिता भवति । नहि सर्वाण्येकपर्य्यायोक्तानि पदानि परिवृत्ति क्षमाणि । यद्यप्ययमप्रयुक्त एव दोष स्तथापि पूर्वैर्नेयाथतयाऽस्य भेदो लिखित इति लिखितम् ॥७१॥

दिविष्ठाना—देवानाम्, दितिज वना असुरा एकन श्रीकृष्णेन हता हरिणा सिंहेन हता हरिणा मृगा इव । पदांशे 'विष्ठा' इति निर्देशादश्लीलम् । पूयते इति, अभिप्रेत इत्यत्र प्रेत इति पदांशे अश्लीलम् ॥६६॥

दक्षिणो जगत् प्राणो दक्षिणानिलो मृगाक्षीणा रतिश्रमदूरी करणाथ वपु स्पशन् सन् प्रणयी समपद्यत, प्रणयीति सज्ञा प्रापेत्यथ ॥७०॥

हरिणी दृशामिन्द्रनीलमणिहारो वत्सरुहयो स्तनयोरुपर्य्याबभौ । कमल कलिका गतो भृङ्ग समूह इव । यद्यपि वत्सशब्दोवक्ष स्थलवाची, तथापि तस्य तत्र प्रयोगो नास्तीति नेयाथत्वम् ।

अथ पूर्वोक्त द्वितीय किरणे दोषरहित शब्दानामेव त्रिविधा परिवृत्ति कृता । अत्र तु श्रुतिकटवादि

दिविष्ठादि को दुःख दायक, शत शत दैत्य-हरि अर्थात् सिंह कर्त्तृक हरिण समूह के समान एक हरि कर्त्तृक निहत हुये थे ।

यहा दिविष्ठादि पद मे 'विष्ठा' यह पदांश जुगुप्सा जनक अश्लील है । अतएव उसके परिवर्त्त मे 'देवता वृन्द को पाठ करना कर्त्तव्य है ।

इस प्रकार 'पूयते' 'अभिप्रेत' इत्यादि पद से भी पूय एवं प्रेत इत्यादि पदांश उक्त दोष दुष्ट हैं ।६६।

काम सग्राम मे निश्चेष्ट मृगाक्षी वृन्द के वपु को स्पर्श करके यह दक्षिण पवन उन सब का प्रणय भाजन हुआ है ।

यहाँ निश्चेष्ट स्थल मे निष्पन्द' इस प्रकार पाठ करना होगा ॥७०॥

मृगाक्षि वृन्द के वत्सरुहोपरि नीलकान्त मणिमय हार कमल को वक्षस्थित भृङ्ग सङ्घ के समान शोभित हुआ था ।

यद्यपि पूर्व पद परिवृत्ति सह, उत्तर पद परिवृत्ति सह, एवं उभय पद परिवृत्ति सह है, इस प्रकार त्रिविध भेदका कथन पहले हुआ है, तथापि प्रसिद्धि के अनुसार उक्त परिवर्त्तन करना होगा,वह भी सहृदय

अथ वाक्येऽन्येऽपि दोषा सन्तीति तानाह—

प्रतिलोमाक्षरमाहतनष्ट विसर्गं च संहिता हीनम् ।
हतवृत्तं होनाऽधिक,–कथित पद प्रस्वलत प्रकर्षञ्च ॥७२॥
स समाप्त पुनरुपात्ते, नश्यन्मतयोग सङ्कीर्णे ।
अर्द्धान्तरैक वाचक मनभिहितार्थं प्रसिद्धिधूतमपि च ॥७३॥
अपदस्थपदसमास, गर्भित -भग्नक्रमाण्यपि च ।
अमत परार्थञ्चेति, ज्ञेय दोषान्वित वाक्यम् ॥७४॥

एवमेकविंशतिर्दोषा ।

प्रतिलोमाक्षरमुक्तरसानुगुणवर्णप्रतिकूलवर्णत्वम् यथा—

पुष्पकोदण्डकण्डूलपकाण्डभुजमण्डलम् । कम्बुकण्ठि समुत्कण्ठ कण्ठेऽकुण्ठा हरि कुरु ॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूल वर्णा । एते तु वीररौद्रादावनुकूला । एव वीररौद्रादौ माधुर्य्य

दोष विशिष्टानां पदाना प्रयोग एवानुचिता, कुतस्तेषा परिवृत्ति सम्भावनापीत्याह– यद्यपीति नहीति एक पर्य्यायोक्ताना सर्वेषा पदाना मध्ये यानि दुष्टानि पदानि, तानि न परिवृत्ति क्षमाणीत्यर्थ ।

ननु यद्यपि नेयार्थस्य स्वत अदोषत्व न सम्भवति, अप्रयुक्त दोषस्य लक्षण एव तस्यान्तर्भाव सम्भवति, तथापि पुर्व पण्डितै रय नेयार्थ रूप दोष स्तत ततया लिखित स्तदभिप्रायेण मयापि लिखितमित्याह, यद्यप्ययमिति ॥७१-७४॥

प्रतिलोमेति । उक्त रसाना शृङ्गारादीना माधुर्य्यादिव्यञ्जका ये अनुगुणा वर्णास्तेषा प्रतिकूलवर्णत्व दोष इत्यर्थ । पुष्पकोदण्ड कन्दप । एव सति कन्दप ण्डू यादि विशिष्ट प्रकाण्ड भज मण्डल यस्य,

---

हृदय का उद्वेग जनक न होने से एव कवि प्रयोग सिद्ध होने से करना कर्त्तव्य है । पर्य्यायोक्त यावतीय पद का परिवर्त्तन नहीं होगा । उक्त दोष अप्रयुक्त है । किन्तु प्राचीन गण उसको नेयार्थ नामक दोष कहते हैं । मैंने भी उसके अनुसार ही लिखा है ॥७१॥

अधुना वाक्य गत दोष समूह का उल्लेख करते हैं प्रतिलोमाक्षर, आहत नष्ट विसर्ग, संहिता हीन, हतवृत्त, होनाधिक कथित पद, स्खलत् प्रकर्ष, समाप्त पुनरात्त नश्यन्मत योग, सङ्कीर्ण, अर्द्धान्तरैक वाचक अनभि हितार्थ प्रसिद्धि धूत, अपदस्थ पद समास, गर्भित भग्नक्रम, अक्रम एव अमत परार्थ ये एक विंशति प्रकार दोष वाक्य गत होते हैं ॥७२-७४॥

पूर्वोक्त शृङ्गारादि रसके माधुर्य्यादि व्यञ्जक अनुगुण जो वर्णावली है उसके प्रतिकूल वर्ण वि यास होने से ही प्रतिकूल वर्णता नामक दोष होता है । उदाहरण—हे कम्बुकण्ठि ! तुम पुष्प कोदण्ड कण्डूल भुज दण्ड समुत् कण्ठ वैकुण्ठ पति को अकुण्ठित भाव से कण्ठ देश मे आलिङ्गन करो ।

व्यञ्जका वर्णा प्रतिकूला इति बोद्धव्यम् ॥७५॥

आहत ओत्व प्राप्तो विसर्गो यत्र । यथा—

श्यामोऽभिरामो रमणो मदनो मोदनो हरि ।
मनो विनोदनो भाति सतत गोप सुभ्रुवाम् ॥७६॥

नष्टोलुप्तो विसर्गो यत्र । यथा—

इत इत इत एहि देहि वाच शशिमुखि नापसर प्रसीद कृष्णे ।
अयमपि भवताद् भवत् प्रसादान्मनसि गतव्यथ उत्क उन्मदश्च ॥

अत्राद्यन्त्ययोलु प्ता विसर्गा ।७७।

सहिता सन्धिस्तया हीन विसन्धि रित्यथ । विवक्षितश्च स सन्धिभवतीति वाक्यबलात् कृतो विसन्धि, स सकृदपि दोषावह, प्रगृह्यादि हेतकश्चेदसकृदेव । सहितायां हीनमित्यर्थे

तथाभूत हरि हे कम्बुकण्ठि राधे । अकुण्ठा असङ्कु चता सता कण्ठे कुरु ॥७५॥

गोप सुभ्रूवा मनो विनोदनो हरि सतत भाति ॥७६॥

हे शशिमुखि राधिके ! इत इत इत अत्रागच्छ, अत्रागच्छ, नापसर, दूरे मा गच्छ । हे दूति ! त्वदुक्त मया कत्तव्यमिति वाच महच देहि । अय श्रीकृष्णोऽपि गतव्यथो भवतु । इति वाक्यबलात् स्वेच्छया कृतो यो विसन्धिस्तस्य सकृत् प्रयोगेऽपि दोष । प्रगृह्यादि सूत्र हेतुकश्चेद् विसन्धि स्तदातस्यासकृत् प्रयोग एव दोष, न तु सकृत् प्रयोगे इत्यर्थ ।

सहितायां हीनमिति सप्तमी तत् पुरुषेणार्थे कृतेसति हीन शब्दस्य निकृष्टार्थत्वाद् दुश्रवादि दोष द्वय पूर्वोक्त तृतीया तत् पुरुषे कृते सहितया रहितमित्यर्थेन विसन्धिरित्येको दोष, मिलित्वा त्रि वधो दोष ॥७७

तव निष्कलङ्केऽस्मिन् मुखचन्द्रे उदिते सति स कलङ्की स च द्र कथ न लज्जताम्, यत उदेति ॥७८॥

यहा शृङ्गार रसमे उक्त रस के प्रतिकूल वर्ण विन्यास होने पर उक्त दोष हुआ है। उस प्रकार वर्णन रौद्र वीरादि रस के ही अनुकूल है। उसी प्रकार रौद्र वीरादि रस मे माधुर्य व्यञ्जक वर्णावली प्रतिकूल हैं ॥७५॥

आहत अर्थात् जहा सन्धि मे विसर्ग के स्थान मे ओकार होता है उसको आहत विसर्गता कहते हैं। दृष्टान्त—गोपिका गण के मनोविनोदन, तपोधन जन—चेतो रमण मनोभव विमोहन पयोदश्याम यशोदा नन्दन सतत सर्वत्र विराजित हैं।।७६॥

जहाँ विसर्ग नष्ट अर्थात् लुप्त होता है, वहाँ नष्ट विसर्गता नामक दोष होता है। उदाहरण—हे इन्दु मुखि ! तुम इस ओर आओ, इस ओर आओ दूसरी ओर न जाओ, बात कहो, कृष्ण के प्रति प्रसन्ना हो, कृष्ण तुम्हारी कृपा से मनोव्यथा से मुक्त होकर तुम्हारे सम्बन्ध मे उन्मना एव उन्मद बनें।

यहाँ मूलश्लोक मे आद्यन्त विसर्ग लोप हुआ है ॥७७॥

सहिता शब्द से सन्धि का बोध होता है, उससे हीन अर्थात् विसन्धि होने से ही सहिता हीन नामक

सहिताया दु श्रवत्वमश्लील चेति त्रिविधोऽय दोष । क्रमेणोदाहरणानि—

तवैतद्वदनमिन्दुनिन्दक पङ्कजेक्षणे । सकलङ्को निष्कलङ्के कथमस्मिन्नलज्जताम् ? अत्र 'चन्द्र निन्दकम्' इति पाठ्यम् ॥७८॥

कलङ्किनश्चन्द्रमस सुभ्रवानन मिद तव ।
रुचि विभ्रदपि प्रायो निष्कलङ्कमितीर्य्यते ॥

अत्र सुभ्रवा इति दु श्रव्यम् । तेन राधे मुखम्' इति पाठ्यम् ॥७६॥

अलण्डमरुडाम्बर्य्यं तव मध्ये विराजिनि । स हरस्य कर ग्राह्यकर ग्राह्यमिद हरे ।
अत्र लण्डशब्दोऽश्लील । तेन 'वृथा डमरुडामर्य्यम्' इति पाठ्यम् ॥८०॥

हतवृत्त छन्दोगतवैरूप्य गुरौ लघुत्वम् । यथा—

शशिमुखि सखि राधिकेऽधिकासि, गुणविभवेन समस्तसुन्दरीभ्य ।
त्वयि निहतमना मनागपि श्रीव्रजपतिसूनुरुपैति नान्यपार्श्वम् ।

हे सुभ्रु ! कलङ्किनश्च द्रस्य रुचि विभ्रदपि तवानन प्रायो निष्कलङ्कमिति प्रतीयते ॥७६॥

अलमिति । तवमध्यदेशे विराजिनि सत्यहमेव मध्यक्षीणमिति प्रमर्गोर्डामय, प्रागलभ्यमल वृथा । यत सऽमरुमहादेवस्य कर ग्राह्य, तव मध्यन्तु श्रीकृष्णस्यकर ग्राह्यमिति महान् भेद ॥८०॥

गुरौ लघुत्वमेव छ दागत वैराप्यम । तथा च गुरुवण स्थलेलघुवण प्रयोग एव दोष इत्यथ । तत्तु

दोष होता है। इच्छाधीन सन्धि होती है, इस प्रमाण से स्वेच्छाकृत जो विसन्धि है, उसका एकवार मात्र प्रयोग भी दोषावह होता है। कि तु प्रगृह्यादि सूत्रहेतुक यदि विसन्धि होती है, तो—उसका पुन पुन प्रयोग ही दोषावह है। "सहिता मे हीन" इस प्रकार सप्तमीतत् पुरुष समास करने से उसमे दु श्रव एव अश्लीष ये दोषद्वय, एव ततीया तत् पुरुष समास लब्ध पूर्वोक्त विसन्धि नामक दोष समष्टि से तीन प्रकार दोष होते हैं। क्रमिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

हे अम्बुजेक्षणे ! तुम्हारे वदन मण्डल इन्दुनिन्दक है, निष्कलङ्क इस वदन मण्डल के समीप मे सकलङ्क वह इन्दु मण्डल क्यो नही लज्जित होगा ?

यहाँ मूलश्लोक मे—इन्दु निन्दक स्थल मे चन्द्रनिन्दक इस प्रकार पाठ करना होगा ॥७८॥

हे सुभ्रु ! तुम्हारे यह आनन सकलङ्क वाला निधि की कान्ति को धारण करने से भी प्राय निष्कलङ्क शब्द से अभिहित होता है।

यहाँ मूल मे "सुभ्र वानन" पद है, उसमे दु श्रवता रूप दोष होने से "हे सुभ्रु राधिके ! तुम्हारा वदन इस प्रकार पाठ करना होगा ॥७६॥

तुम्हारे मध्य देश विराजमान होते हुये डमरु का आडम्बर निरथक है। कारण, डमरु श्रीहरि के कर ग्राह्य है, तुम्हारे यह मध्य देश-श्रीहरि के कर ग्राह्य है।

यहाँ 'अलण्डमरु पद से 'लण्ड' यह अश, अश्लील है। अतएव मूलस्थ अल शब्द के परिवत्त मे

अत्र पादान्तो लघुर्गुरुर्वेति वाक्य बलात् कृतोलघुवर्ण विन्यासो हतवृत्तता व्यनक्ति। तत्तु द्वितीयपादान्ते शोभते, नतु चतुर्थपादान्ते, बन्धशैथिल्यात्। प्रथमतृतीयपादान्ते तु नैव। एवमार्य्यासु च-गणकृता विरुद्धता ॥८१॥

एवमार्य्यासु च गणकृता विरुद्धता। यथा—

गोकुल ललना मण्डल रतिरण पाण्डित्य मुग्धमधुरश्च
श्रीव्रजराज कुमारो रास विलासे कुमारयति॥

अत्र द्वितीय तृतीयगणौ स-कार भकारौ विरुद्धौ। तेन व्रज ललनामाणमालारतीत्यादि पाठ्यम् ॥८२॥

एव रसाननुगुण वृत्त च हतवृत्तम्। पज्झटिकादि शृङ्गार करुणादौ विरुद्धम्, हास्य शान्तादौ न।

शृङ्गारे यथा—हे सखि माकुरु मानमखर्वं, मान सौख्य ग्रसति हि सवम्।
कुरु सानन्द हृद्यममन्द, रसभरकन्द भज गोवि दम ॥८३॥

वाक्य द्वितीय पादा ते एव शोभते, नतु चतुर्थादिषु ॥८१॥

रति रणपाण्डित्येन मुग्धा मनोहरा मधुरा च शोभा यस्य स श्रीकृष्ण कुमारयति–क्रीडति ॥८२॥

हे सखि! अखवमत्युच्च मान माकुरु, अमन्द यथास्यात्तथा गोविन्द भज ॥८३॥

'वृथा' शब्द का पाठ करना आवश्यक होगा ॥८०॥

'हत वृत्त' शब्द से छ दोगत वैरूप्य को समझना होगा, अर्थात् गुरुस्थान में लघुत्व। उदाहरण—शशिमुखि सखि राधिके! तुम गुण विभव से समस्त व्रज सुन्दरी से समधिका हो। व्रजराज तनय, तुम्हारे में चित्त निहित करके एक मुहूर्त्त भी अन्यत्र गमन नहीं करते हैं।

यहाँ पादान्त मे स्थित गुरु विकल्प मे लघु होता है इस नियम से मूल श्लोक के प्रथम पाद के अत मे लघुवण का वि यास होने से हतवृत्तता दोष हुआ है। कारण, उक्त अनुशासन द्वितीय पादान्त मे ही प्रयोज्य है, चतुथ पादान्त मे वह होने से बन्ध शैथिल्य होने से नितान्त अशोभन होता है। प्रथम एव तृतीय पादान्त मे तो वह कत्तव्य नहीं है ॥८१॥

इस प्रकार आर्य्यादि मात्रावृत्त मे गण कृत विरुद्धता भी दोषावह ही होता है। उदाहरण—रास विलास मे गोकुल ललना मण्डली के सहित रतिरण पाण्डित्य मे मुग्ध मधुर श्रीधारण पूर्वक श्रीव्रजराज कुमार क्रीडा किये थे।

यहाँ द्वितीय एव तृतीय गण मे अन्त्यगुरु सकार एव आदि गुरु भकार होने से विरुद्ध हुआ है। अतएव व्रज ललनारूप मणि माला के सहित इस प्रकार पाठ परिवर्त्तन करना होगा ॥८२॥

इस प्रकार रस का प्रतिकूल वृत्त भी हतवृत्त है। पज्झटिकादि छन्द शृङ्गार करुणादि रस में विरुद्ध है, हास्य शान्तादि रस मे विरुद्ध नहीं हैं।

हीन पद यथा—'कमलमुखि विचित्रम्यावधि, कोऽपि पृष्ठे,–स्तरणि दुहितृ तीरोपान्तमद्य प्रयान्त्या'। अत्र मयेति हीनपदम। तेन 'तरणि दुहितृतीर' इन्त यान्त्या मयाद्य'इति पाठचम।

कथित पद यथा–'कलयति जलकेलि मत्तमातङ्ग केलि। अत्र केलि केलिरिति कथित पदम्। तेन 'मत्तमातङ्गलील' इति शुद्धम् ॥८३॥

प्रस्खलत् प्रकर्ष पूर्वार्धे उत्कर्ष उत्तरार्धेऽपकर्षश्चेत् तदा प्रस्खलत् प्रकषवाक्यम्। पतत् प्रकषमित्यर्थ।

यथा—हरि हरि हरिणाक्षी लक्षवक्षोजहार त्रुटन पटिमशाटीपाटन प्रौढदप।
अयमदयमुदारोऽलीकघट्टाधिपत्य, कलयति पथि गव्ये दान लीला दधान ॥

अत्र पूर्वार्धापुत्तरार्धे पतन्नेव प्रकष। अत्र समाप्त पुनरात्तत्वञ्च 'कलयतिपथिगव्ये' इ यनेनशाकाङ्क्षासमाप्ते, 'दान लीला दधान' इति पुनरुपात्तम्। तेनोत्तरार्धं पूर्वार्धीकृत्य

विचित्रस्याश्चर्यस्य कोऽप्यवधिर्दृष्ट। मत्तहस्तिन इव केलियस्य तथाभूतो जलकेलि कलयति-करोति ॥८३॥

हरिणाक्षी लक्षाणा स्तनोपरि हाराणा त्रुटन पटिम्ना, एव तदुपरि शाटीपाटनेन च प्रौढदर्पोऽय श्रीकृष्णोऽदय निदय यथा स्यात्तथा पथि गव्ये मिथ्याघट्टाधिपत्य करोति। अत्र पूर्वार्धे यथा कोमल समस्त पद तथोत्तरार्धे न, अ॰ पतत् प्रकष दोष इत्यथ ॥८४॥

मूल श्लोक मे शृङ्गार रस मे पजझटिका निबद्ध होने के कारण हतवृत्तता का जो दृष्टान्त प्रदर्शित हुआ है, उस का आशय यह है—

हे सखि! गुरुमान ग्रहण न करो, कारण, मान ही समस्त सुख को ग्रास करता है, अतएव हृदयको आनन्दित करो, एव रतिरसकन्द श्रीगोवि द का भजन करो ॥८३॥

हीन पद का दृष्टा त—हे कमल मुखि! यमुना पुलिन को प्रयाण करते करते अद्य आश्चर्य की एक शेष सीमा दिखाई पडी है। यहाँ 'मत्त' अर्थात् मेरे से—इस पद का प्रयोग नहीं हुआ है, अत हीन पद हुआ है। अतएव मूलानुरूप उक्त श्लोक का पाठ परिवर्त्तन करना चाहिये।

अधिक पद का दृष्टा त—यहाँ 'नव जलधर कान्ति श्यामल यह किशोर" यहा नवजलधरकान्ति इस पद से ही अभिप्रेत सिद्धि हुआ है, अत श्यामल पद अधिक दिया गया है। अतएव "नवकुवलय दाम श्यामल यह किशोर" इस प्रकार पाठ करना चाहिये।

कथित पद का दृष्टान्त—"मत्त मातङ्ग केलिकारी श्रीहरि जलकेलि करते रहते हैं।" यहा दोबार केलि पद का प्रयोग होने से कथित पदता दोष हुआ है। अतएव 'मत्तमातङ्ग लीला कारी'—इस प्रकार होगा ॥८३॥

प्रस्खलत् प्रकष का पतत् प्रकष का उदाहरण—हरि हरि! लक्ष लक्ष हरिणाक्षी के वक्षोज युगलस्थित यष्टि की छेदन पटुता से एव तदुपरि साटी का पाटन अर्थात् छेदन पारिपाटी से प्रौढ दप प्रकाश कारी यह श्रीहरि दान लीला विस्तार कर पथ मे गव्य द्रव्यके ऊपर मिथ्या घट्टाधिपत्य कर रहे है।

पाठ्यम् तथा सति दोषद्वयहानि ॥८४॥

नश्यन्मतयोगोऽसम्मतो योगो यत्र, अभवन्मत योग इत्यर्थ । यथा—

यस्याज्ञा विधिमौलि माल्यमधुपी य सेवते शङ्करो
यस्मिन् सर्वमिद चराचरगुरौ कृष्णे त्रिलोकीयत ।
येनाकारि समस्त दानव बधू वैधव्यमूर्वी भरम्
जो जह्रे बलिमपयन्ति बिबुधा यस्मै स पायाज्जगत् ॥

अत्र 'कृष्णे' इति पद विशेष्य प्रथमान्त यदि स्यात्,तदा भवन्मतयोगो भवति, यच्छब्दे निर्दिष्टस्य तच्छब्दार्थस्य कृष्ण पदस्य यच्छब्दार्थे एव प्रवेशेऽभवन्मतयोग ॥८५॥

तेन — यस्याज्ञा विधिमौलिमाल्यमधुपी य सेवते शङ्करो
येनाकारि समस्त दानवबधू वैधव्य मूर्वी भरम् ।
यो जह्रे वलिमपयन्ति विबुधा यस्मै त्रिलोकी यतो
यस्मिन् सवमिद चराचरमसौ कृष्ण स पायाज्जगत् ॥

इति शुद्धम् ॥८६॥

यस्याज्ञा ब्रह्मणो मस्तकस्थ मालाया मधुपी भ्रमरी, तथा सोऽपि यस्याज्ञा मस्तके बिभर्ति, दानव बधूना वधव्य येनाकारि, पृथ्व्या भार यो जहार, स श्रीकृष्ण पायादिति विशेष्य कृष्ण पद स्यात्तदा सम्मतयोगो भवति । अत्र तु कृष्णे इति सप्तम्य त पदस्य यस्मिन्निति सप्तम्यन्ते यच्छब्दार्थे प्रवेशेऽभवन्मत - योगरूपदोष स्यादित्यथ । तथापीति-आदौ प्रथमा पश्चाद् द्वितीयेत्यादि क्रमोऽपेक्षितो भवति, तदभावाद विभक्त्यक्रमो दोष स्यादित्यथ ॥८५ ८६-८७॥

मूल श्लोक मे पूर्वाध से उत्तराद्ध मे रचना प्रकर्ष पतित वा हीन हुआ है । एव "कलयति पथिमध्ये" अर्थात् पथ के मध्य मे मिथ्या घटाधिपत्य कर रहे हैं इसके द्वारा ही आकाङ्क्षा समाप्त होने के पश्चात् 'दान लीला दधान" अर्थात् दान लीला विस्तार करके "इस अश का पुनरुपादान हेतु समाप्त पुनरात्तता नामक दोष भी हुआ है । अतएव उक्त श्लोक के उत्तराद्ध को पूर्वाद्ध करके पाठ करना कत्तव्य है । उससे उक्त दोष द्वय का सशोधन होगा ॥८४॥

अभिमत योग वा सम्बन्ध जहाँ नष्ट नहीं होता है, वा नहीं रहता है, तादृश स्थल मे नश्यन्मत योग वा अभवन्मतयोग नामक दोष होता है । उदाहरण—जिनकी आज्ञा विधाता की मौलिम ला का मधुकरी स्वरूप शङ्कर जिनकी सेवा करते हैं, जिन चराचर गुरु श्रीकृष्ण मे दृश्यमान ये सब ही प्रतिष्ठित हैं, जिनसे त्रिलोक उद्भव हुआ है, जो समस्त दानव बधू का वैधव्य विधान पूर्वक भूभार हरण किये हैं, निखिल विबुध मण्डली जिन को बलि अपण करते हैं, वह जगत् की रक्षा करें ।

यहाँ 'कृष्ण' यह पद प्रथमान्त एव विशेष्य होने से मत योग होगा, यद् शब्दके द्वारा निर्दिष्ट जो तद् शब्दार्थ कृष्ण पद है, उसका प्रवेश यद् शब्दार्थ मे होने से अभवनमत योग हुआ है ॥८५॥

तथापि विभक्त्यक्रमदोष । तेन—

यो भक्त्यव वशीभवेत् पशुपति य सेवते येन भू ।।

निर्भारा वलिमपयन्ति विबुधा यस्मै त्रिलोकी यत ।

यस्याज्ञाविधि मौलि माल्य मधुपी यस्मिन् समस्त जगत्

सोऽय गोपवधू विलास रसिक कृष्णोऽस्तु व श्रेयसे ।

इति शुद्धम् ।।८७।।

यथा वा—मुञ्चति त्वयि दृशो पदवी मे, येन येन शृणु यद्यदवाप्तम्

जीवनेन कटुता मरणेन प्रार्थ्यता प्रियतया परिवाद ।।

अत्र शृण्विति क्रियाया कर्मापेक्षत्वे जीवनादे सर्वस्य कर्मत्वे द्वितीयान्तत्व मतम्,

---

यथा वेति । राधे ! रासे त्वा विहाय मय्य तर्हित सति तव कीदशी दशाभूदिति श्रीकृष्ण पृष्टा सा त प्रत्याह-मम दृशो पदवी त्वयि मुञ्चति सति मम देहस्थेन येन येन यद् यदाप्त तत्तच्छृणु । जीवितेन कटुता प्राप्ता, त्वद दर्शन ज्वालया जीवनोऽत्यन्त कटुरभूदित्यथ । मरणेन प्रार्थ्यता प्राप्ता, तादृश कटुताया, असहिष्णुत्वेनाधुना मम मरण भवत्विति जीवनकर्तृक प्रार्थ्यता मरणेन प्राप्तेत्यथ । प्रियतया प्रेमणा परिवाद प्राप्त, कान्तस्यादर्शनेऽपि या जीवति तस्या प्रेमाण धिगिति परिवाद प्रेमा प्राप इत्यथ ।

द्वितीयान्तत्वमिति—कटुता प्राप्त जीवनमित्येव सम्मत भवति । प्रथमान्तत्वमिति—जीवन कटुता प्राप्त इति शृणु, एतदपेक्षितो भवति । तदुभयाभावे कर्मत्व प्रथमान्तत्वाभावे सति । वाक्यार्थ श्चरितार्थ इति पाठात् केन किमवाप्तमित्याकाङ्क्षाया जीवनेनेत्यादि । लिङ्गस्य व्यत्यय विनापि दोषाभावमाह—अवाप्तमिति । येन येन यद यदवापि, तच्छृणु, केन किमवापि ? इत्याकाङ्क्षाया जीवनेन कटुता अवापीत्यन्वये लिङ्ग व्यत्यय विनव दोषाभावो ज्ञेय ।।८८।।

अतएव जिनकी आज्ञा विधाता की मौलीमाला को मधुकरी है, शङ्कर जिन की सेवा करते हैं, जिन के द्वारा समस्त दानव वधूओ का वैधव्य निर्हित हुआ है, जिन्होने वसुन्धराक भार हरण किया है । विबुध मण्डली, जिनको बलि अपण करते है, जिनसे त्रिलोक का उद्भव हुआ है, जिनमे ये निखिल चराचर प्रतिष्ठित हैं, वह कृष्ण इस जगत् की रक्षा करें ।

इस प्रकार शुद्ध पाठ करना होगा । किन्तु उस से भी प्रथमाविभक्त का क्रमभङ्गरूप दोष विद्यमान होगा ।।८६।।

अतएव जो भक्ति से ही वशीभूत होते हैं, पशुपति जिनकी सेवा करते है । जिनके द्वारा धरा भार शून्य हो गई है । जिनको उद्देश्यकर विबुध मण्डली वलि-उपहार अपण करते रहते हैं । जिनसे त्रिलोक का उद्भव हुआ है, जिनकी आज्ञा विधाता की मौलिमाला की मधुकरी है । जिनमे समस्त विश्व प्रतिष्ठित हैं, गोप वधू विलास रसिक वह कृष्ण तुम सब को मङ्गल प्रदान करें । यह पाठ ही शुद्ध है ।।८७।।

उदाहरण—हे नाथ ! आप मदीय दृष्टिपथ को परित्याग करने से देह सम्बन्धी गण जिस अवस्था को प्राप्त किये थे—उसको कहता हूँ, आप श्रवण करें ।

जीवन कटुता को प्राप्त किया था, मरण प्रार्थनीयता को प्राप्त किया एव प्रेम परिवाद को प्राप्त

वाक्यार्थे कर्मत्वे जीवनादे प्रथमान्तत्वमेव, तदुभयाभावेऽभवन्मत योग इति केचित् । वस्तुतस्तु वाक्यार्थे कर्मत्वे येन येन यद् यदवाप्त तच्छृणवित्यनेनैव वाक्यार्थ श्चरितार्थ । पश्चात्-जीवनेन कटुताऽवाप्तेत्यादिना लिङ्ग व्यत्यये नान्वयन नोक्त दोष । अवाप्तमित्यत्र अवापीति चेत् क्रियते, तदा सुतरा न दोष ॥८८॥

यथा वा—स्वाभिरूप्य–कमलाकरजाते, पङ्कजे इव मह भ्रमराभ्याम् ।
निःसरत्तर कृपामकरन्दे, माधवस्य नयने रुरुचाते ॥

अत्र स्व शब्दो माधवे विवक्षित । स तु वाक्यमर्य्यादया कर्त्तृगतत्वेन प्रतिभासमानो नयन भ्रमरगत एव जात । तेनाभिरूप्येत्येव शुद्धम् ॥८९॥

सङ्कीर्णं यथा— माकुरु मानिनि कृष्ण, पदगत मुत्थाप्य विषमविषतीक्ष्णम् ।
आलिङ्ग भुवन मङ्गल, मङ्गलमन्तमल मानम् ॥

अत्र वाक्यद्वयस्य पदानि व्यत्ययेन वाक्यद्वयान्त गतानि । एक वाक्यगत

स्फटिक वत् परकीय रूप ग्रहण समर्थ आभिरूप्य शब्दार्थ तथासति स्व श्रीकृष्णस्तत् स्वरूपो य आभिरूप्यस्य कमलाकर सरोवरस्तत्र जाते तारास्थानीय भ्रमर विशिष्टे पङ्कजे इव श्रीकृष्णस्य नयने । अत्रेति—यत्र स्वपुत्र पश्यतीतिवत् सवत्र स्वशब्द प्रथमान्तपदार्थ वाची । अत्र तु प्रथमान्त पदार्थो भ्रमर विशिष्ट नयने एव । अतोदोष इत्यर्थ ॥८९॥

हे मानिनि ! अन्तर्मल स्वरूप मान मा कुरु । एव भुवनस्थमङ्गलानामपि मङ्गल श्रीकृष्णमालिङ्ग । अत्र पूर्वार्धे उत्तरार्धे च वाक्य द्वयस्य पदाना व्यतिक्रमेणान्वयात् सङ्कीर्ण रूपोदोषो ज्ञेय ।

ननुकथ सङ्कीर्णस्य स्वतन्त्र दोषत्वमुक्तम् ? क्लिष्टदोषमध्य एव तस्यान्तर्भाव सम्भवादित्यत आह एकेति । क्लिष्ट स्थले एक वाक्य गतार्थ पदाना क्लेशान्वये दोष । अत्र तु वाक्यद्वय गताना पदाना

किया था ।

यहा कोई कोई व्यक्ति कहते हैं,— श्रवण करें' इस क्रिया मे कर्म की आकाङ्क्षा विद्यमान है अत जीवन, मरण, एव प्रेम पद की कर्मता प्राप्ति स्थल मे उक्त पद समूह मे द्वितीया विभक्ति होना समीचीन है । और यदि वाक्यार्थ की कर्मता हो तो जीवनादि की प्रथमान्तता सम्मत है, उक्त उभय का ही अभाव होने पर यहाँ अभवन्मत योग हुआ है । वस्तुत जो जो व्यक्ति, जिस जिस को प्राप्त किये थे— श्रवण करें, इस से ही वाक्यार्थ चरितार्थ हुआ है । पश्चात् जीवन के द्वारा कटुता को प्राप्त किये थे, इत्यादि लिङ्ग व्यत्यय कर अन्वय करने से उक्त दोष नहीं होता है । मूलोक्त अवाप्त, इस क्रिया के स्थान मे अवापि इस प्रकार पाठ करने से सुतरा दोष नहीं होगा ॥८८॥

उदाहरण— स्व स्वरूप जो रमणीय सरोवर, उस मे अविर्भूत भ्रमरालिङ्गित कमल युगल के समान करुणामकर द निष्यन्दशाली श्रीकृष्ण के नयन युगल परम शोभित हुये थे ।

यहाँ स्व शब्द से श्रीकृष्ण ही विवक्षित है, किन्तु स्व शब्द वाक्य मर्य्यादा से स्वतन्त्र ही कर्त्तृ गत रूप

पदानामन्योन्यसङ्कुलत्वेन तु क्लिष्टमिति भेद ॥९०॥

अर्थान्तरकवाचक यथा —

किमिन्दु कि सरसिज किमास्य ललिताङ्गि किम् ?
खञ्जनौ किं स्मरशरौ राधे कि लोचने तव ?

अत्रोत्तराधस्यैव किमिति वाचक पूर्वार्धान्ते ॥९१॥

पदान्तपतित राधे पश्य कृष्ण रुषत्यज । तन्मम श्रूयता वाणी गाढो मान पर विषम् ।

अत्र तच्छब्द पूर्वाध वाक्यस्थ, तत् तस्माद् रुष त्यजेत्यथ । स तूत्तरार्धादिस्थ इति तथा ॥९२॥

अनभिहित वाच्य यथा—

क्वासौ हरिर्मम मनोरथ दूरवर्त्ती क्व ह न मे गुणलवो न कलाणुकश्च ।
किं दूति दूनयसि मा त्वमलीकयैव, वाचा विचारय कथ स वशो मम स्यात् ?

व्यतिक्रमणान्वये दोष इति भेदा न य ॥९० ।

किं खञ्जनौ किं स्मरशराविर्यत्र पूर्वाधस्यान्तस्थेन किं शब्देन सहोत्तरवाक्यस्थ खञ्जना-- विरयस्या वयादर्थान्तरक वाचक दोष ॥९१॥

हे राधे ! तत्तस्माद्रुष त्यजेत्यत्र उत्तराधस्य तच्छब्देन सह पूर्वार्धान्तस्थत्व न शब्दस्यास्तथा स एव दोष ॥९२॥

स हरिमम मनोरथस्यापि दूरवर्त्ती मम गुणस्य लवोऽपिनास्ति । तथा कलाया अणुरपि नास्तीति

मे भासमान होने से यहाँ रक्त भूत जो नयन भ्रमर, तद् गत होकर भासमान हो रहा है । अतएव स्वशब्द को परित्याग पूवक—मूलस्थ रमणीयता वाचक आभिरूप्य शब्द प्रयुक्त होने से ही परिशुद्ध होता है ।८९।

सङ्कीण का उदाहरण प्रस्तुत करते है—हे मानिनि ! अन्तमल स्वरूप विषमविष तीक्ष्ण मान को अवलम्बन न करो, त्रिभुवन के मङ्गल के मङ्गल स्वरूप चरण मे पतित श्रीकृष्ण को उत्थापन कर आलिङ्गन करो ।

यहाँ वाक्यद्वय गत पद कदम्ब का विन्यास विपरीत रूप से वाक्य द्वय के अन्तगत हो गये है, यदि एक वाक्य गत पद समूह का उस प्रकार परस्पर व्यत्यय पूवक विन्यास होता तो क्लिष्टता दोष होता । अतएव क्लिष्टता से इसका भेद सुस्पष्ट उपपन्न होता है ॥९०॥

अर्थान्तरक वाचक का दृष्टान्त—अयि ल लताङ्गि राधिके ! यह इन्दु बिम्ब, कि वा सरसिज, अथवा, तुम्हारा आस्य है ? एव ये दो क्या खञ्जन है, कि वा स्मरशर हैं अथवा त्वदीय नयन हैं, कुछ भी निश्चय नहीं हो रहा है ।

यहा श्लोक के उत्तराध मे आकाङ्क्षित एक किम शब्द श्लोक के पूर्वार्ध के अन्त मे सन्निविष्ट हुआ है ।९१।

हे राधे ! देखो, श्रीकृष्ण, तुम्हारे चरणोपान्त मे निपतित हैं अतएव मेरी बात सुनो, रोष त्याग

अत्र मनोरथस्यापि दूरवर्त्ती गुणस्यापि लव कलाया अप्यणुक इत्यवश्यवाच्य मनभिहितम् ।।९३।।

रणितादि नुपुरादिषु, विहगादिषु कूजितादीनि ।
स्तनितादि च जलदादौ, भेर्य्यादिषु भाङ्कृतादीनि ।।९४।।
मणितादीनि च सुरते, रवादि भेकादिषु प्रसिद्धिरियम् ।
अस्या विपर्य्यये स्यात्, प्रसिद्धि धूत दूषण वाक्ये ।।९५।।

यथा—धिनोति राधे मच्चित्त मणि मञ्जीरयोस्तव ।
रवो नवघनस्येव सन्तप्ताना श्रुतिद्वयम् ।।

अत्र रवशब्दो वचन निष्ठ एव ।।९६।।

अपदस्थमस्थानस्थ पद यथा—

विवाह वेषेण तदा मुरारे र्बभूव या श्री कवयस्तु के ताम् ।
सपत्न भावादिव साभ्यसूया, सरस्वती क्वापि न ता व्यनक्ति ।।

पद श्रीकृष्णस्य सवथा ऽवश्य वमुक्तम् । तत्तुनायिकाया नाभिमतम्, कथ स मम वश स्याद् विचारयेत्युक्ते ।।९३ ९४-९५।।

रव शब्द इति । सचेतनाना प्राणिना वचने एव रव शब्दस्य प्रयोग साधु, नतु मञ्जीरयो शब्दे । तत्र तु रणित शब्द एव साधु । अतो दोष एव ।।९६।।

करो, कारण, गाढ़मान विषमविष स्वरूप है ।

यहा मूल श्लोक के पूर्वार्द्ध मे आकाङ्क्षित तद् शब्द--उत्तरार्ध के आदि मे सन्निवेशित होने से उक्त दोष हुआ है ।।९२।।

अनभिहित वाच्य का उदाहरण— मदीय मनोरथ दूरवर्त्ती है, हरि कहा है ? मै कहाँ हूँ, मुझ मे गुणलेश--कला कणिका कुछ भी नहीं है । हे दूति ! क्यो तुम मुझको अलीक वाक्यसे व्यथित कर रही हो ? तुम इस समय विचार करो, किस से वह मेरा वशीभूत हो सकता है ।

यहाँ हरि मेरा मनोरथ से भी दूर मे है, मुझ मे गुण लेश भी नहीं है, कला कौशल की कणिका भी नहीं है यही अवश्य वक्तव्य है, किन्तु वह अभिहित नहीं हुआ है, अत अनभिहित वाच्यनामक दोष हुआ है ।।९३।।

नूपुरादि स्थल मे रणितादि, विहगादि मे कूजितादि, मेघादि मे स्तनितादि, भेरी प्रभृति मे भाङ्कृतादि, सुरते मणितादि एव भेकादि मे रवादि पद प्रयोग प्रसिद्ध है, उसका व्यतिक्रम होने से काव्य मे प्रसिद्धि धूत नामक दोष होता हैं ।।९४- ९५।।

उदाहरण—हे राधे ! नवघनरव जिस प्रकार सन्तप्त जन गण के कर्ण युगल को आप्यायित करता

अत्र ता न व्यनक्तीति स्थानस्थितत्वम्, तदभावे तथा। तेन 'वाण्येव ता क्वापि च न व्यनक्ति' इति वाच्यम्। यथा वा न मे वाणी वृन्दावन रमण लीलामृत ह्रदे, निमग्नाप्युत्थातु प्रभवति कथ य तु परित।' इत्यादि। यत्तु (किरातार्जुनीये, ८।३७) स्रज न काचित्'' इति, तत्र 'न काचिज्जहौ, अपि तु सर्वैव जहौ' इति विरुद्धार्थ जननम् ॥६७॥

अस्थानस्थसमास यथा—

> कि लूमेन घनावलीं विधुनुषे कि रे क्षुरक्षोदनै
>
> क्ष्मा क्षुम्नासि वितुद्यता निजमह -कण्डू समासाद्य माम्।
>
> इत्थ दोस्तट घट्टनो भट-करध्वान-प्रति ध्वानित-
>
> क्ष्माभृत् कन्दर वृन्दगर्भ मयते गोष्ठादरिष्ट हरि ॥

विवाहेति। के पण्डितास्ता शोभा कवयस्तु वणय तु ? स पत्नी भावात् शत्रु भावाद्धिव साम्यसूया सरस्वती ता न व्यनक्ति। यदि सरस्वती ता कुत्रापि न व्यक्तीचकार, तदा पण्डिताना कुतस्तद् वणने सामर्थ्यमिति भाव ॥

यत्त्विति। अत्र 'काचिन्न जहौ' इत्यनुक्त्वा 'न काचिज्जहौ' इत्युक्तेऽपि न दोष। यतशिरश्चालनेन न ञा अभावरूपोऽर्थो न जात, अपितु अभावविरुद्धार्थस्य भावरूप थस्य ज नमुत्पत्ति ॥६७॥

श्रीकृष्ण आह—किं लूमेन लाङ्गुलेन मेघश्रेणी विधूनुषे कम्पयसि, क्ष्मा पृथ्वीं क्षुम्नासि क्षुब्धा करोषि, किन्तु मा समासाद्य निज तेजस कण्डूया वितुद्यता दूरी क्रियताम्। इत्थमनेन प्रकारेण वामहस्ततटे दक्षिण हस्तस्य घट्टनेन चालनेन जातो य उद्भट करध्वानस्तेन प्रतिध्वनिता गोवधन क दर समहाना गर्भा

है, उस प्रकार तुम्हारा ये मणिमय मञ्जीर युगल का रव मदीय चित्त को परितृप्त कर रहा है।

यहाँ रव शब्द प्राणि वृन्द के वचन को समझ ने के निमित्त प्रयुक्त होता है ऐसा न होकर मेघ मञ्जीरादि स्थल मे प्रयुक्त होने से उक्त दोष हुआ है ॥६६॥

उदाहरण—विवाह वेष धारण क ने उस समय मुरारि की जो अपूर्व शोभा हुई थी—उसका वणन कौन कर सकता है ? स्वय सरस्वती भी जसे सा पत्य भाव हेतु असूया क कारण व्यक्त नही किये।

यहाँ मूल श्लोक मे "न तां व्यनक्ति" स्थल मे "ता न व्यनक्ति" इस प्रकार होने से ही स्थान स्थितत्व होता, वसा न हाने से उक्त दोष हुआ है, अतएव उक्त श्लोक के शेष चरण का परिवत्तन जिस प्रकार किया गया है, उसके अनुरूप पाठ ही साधु पाठ है।

सन्निकर्ष स्थल मे ही यथास्थान मे वि यास के वैजात्य से उक्त अस्थानस्थ पदता दोष होता है, विप्रकष स्थल मे नहीं। मूलस्थ "वाणी न कुत्रापि' इत्यादि चरण मे उसका उदाहरण समझना होगा।

उदाहरण—मेरी वाणी वृन्दावन रमण के लीलामृत ह्रद मे निमग्ना होकर उठने मे भी समर्था नहीं होती है, कसे वह चतुर्दिक मे गमन करने मे समर्थ होगी। मूल श्लोक मे अनुस धान करना आवश्यक है। किन्तु 'काचिन्न जहौ" इस प्रकार वक्तव्य स्थल मे 'स्रज न काचित् जहौ" इस प्रकार उक्ति मे भी दोष नहीं हुआ है, कारण, कोई भी रमणी माला को परित्याग क्या नहीं करती है ? उक्त वाक्य का इस

अत्र क्रुद्धस्य भगवत उक्तौ न समास । अक्रुद्धस्य तु वक्तृन्तरस्योक्तौ स इति तथा, तेन 'किं लाङगुल विघटनक्षनघनव्यूह क्षुरक्षोदन,--क्षुभ्यत् क्ष्मातटमुक्षलक्षयुगपत् सराव मभ्येषि रे। इत्थ दोस्तट–इत्यादि यदि स्यात्तदा न दोष ॥६८॥

गर्भित प्रकृत वाक्येऽप्राकृत वाक्यस्य गर्भस्थिति ।

यथा—झञ्झानिलमिव लवली, प्रणयलता न सहते दीर्घाम् ।
प्रतिघा प्रियसखि तत्त्व, वदामि तव मानि कोपिनी भूया ॥

अत्र 'तत्त्व वदामि तव' इति वाक्यान्तर गर्भितम् । अत 'प्रतिघा मानिनि राधे तेन त्व माति कोपिनी भूया' इति साधु ॥६६॥

यत्र तद् यथा स्यात्तथा अरिष्टासुर गोष्ठात् अयते प्राप्नोति । वक्त्रन्तरस्य वणन वक्तृजनस्योक्तौ न समास । रे अरिष्टासुर ! किमुक्ष लक्षणस्य मत्तवृषभ समूहस्येव युगपत् सरावो घोरशब्दो यत्र तद् यथा स्यात्तथा अभ्येषि, अभिमुख गच्छसि । तथा लाङ्गुल विघट्टनेन क्षता मेघ समूहा यत्र तद् यथा स्यात्तथा । एव क्षुर क्षोदनेत्यादि ॥६८॥

अति कोमला लव लीलता यथा झञ्झानिल न सहते, तथव प्रणय लतापि दीर्घा प्रतिघा रुष न सहते । अतस्तव तत्त्व वदामि, नाति कोपिनी त्व भूया ॥६६॥

प्रकार अनुवाद होने पर उसके तात्पर्य्य से माला को परित्याग ही किया है, इस प्रकार अथ बोध होता है। उससे नञर्थ अभाव का विपरीत भाव पदार्थ प्रतीत होने से दोष नहीं होगा ॥६७॥

अस्थानस्थ समास का उदाहरण—क्यो लाङ्गुल चालन क द्वारा मेघमाला को कम्पित कर रहे हो, खुराघात से पृथिवी को क्यो क्षुब्ध कर रहे हो ? मुझ को प्राप्त कर तुम्हारा तेजोमद प्रशमित हो, यह कह कर भगवान् श्रीकृष्ण दो दण्ड द्वय क परस्पर विघटनोद्भूत उद्भट ध्वनि से गिरि गुहा गभ को गम्भीर रूप प्रतिध्वनित करके गोष्ठ से अरिष्टासुर को आक्रमण किये थे ।

यहा कोपान्वित भगवान् की उक्ति मे समास नहीं किया गया है । अथच इसकी रचयिता कुपित न होने पर भी, उनकी उक्ति मे समास किया गया है। अतएव निम्नोक्त रूप मे परिवत्तन करके उक्त दोष का सशोधन करना होगा ।

हे दुरात्मन् ! क्यो तू प्रचण्ड लाङ्गुल सघष के द्वारा मेघमण्डल को विखण्डित एव प्रखर क्षुर क्षोदन के द्वारा पृथ्वीतट को क्षुब्ध करके युगपत् वृषभनाद से—सगर्व गजन के सहित अभिमुख मे धावित हो रहा है ? ॥६८॥

प्रकृत वाक्य के अभ्यन्तर मे जो अप्राकृत वाक्य का अवस्थान उसको गर्भित दोष कहते हैं।

उदाहरण—लवलीलता जिस प्रकार झञ्झा वायु का वेग को सहन नहीं कर सकती है प्रणयलता भी उस प्रकार दीर्घ कालस्थायी रोष को सहन नहीं कर सकती है। अतएव प्रियसखि ! मैं वास्तविक कहती हू, तुम कोपवती न बनो ।

यहाँ "तुम को वास्तविक कहती हूँ, यह जो वाक्यान्तर है, यह गर्भित हुआ है। अतएव उक्त अश

भग्नक्रमो भग्नप्रक्रम इत्यर्थ । स च कारणवचनपर्य्यायादि क्रमभङ्गादित्वेन बहुधा भवति । यथा—

काचिद्वीणा मूरजमपरा कापी वशी दधाना, काश्चित्ताल कर किशलये तालधारित्वमाप्ता ।
चक्रु सङ्गीतकविरचना रासमध्ये कयाचिद् गान नानास्वरपरिमलामोद मुच्चैर्वितेने ॥

अत्र काचिदिति कारकक्रमभङ्ग । काश्चिदिति वचनक्रम भङ्ग । तेन काश्चिदिति स्थाने काचिदित्येव पाठ्यम् । आप्ता इत्यत्र विसर्गा भावश्च, चक्रुरित्यत्र चक्रे इति च । कयाचिदित्यत्र'रासमासाद्य काचिद् गान नानास्वर परिमलामोदमाविश्चकार'इति पाठ्यम् ।

पर्य्यायक्रमभङ्गो यथा–'हरेकृपा कापि समुज्जिहीते, मुकुन्द भक्तेषु न चापरेषु ।" अत्र पर्य्यायक्रमभङ्ग । तेन 'हरिप्रियेष्वेव न चापरेषु' इति वाच्यम्' इद मे प्राचीना देवतादि विषये रस न मन्यन्ते, तेषा मतानुरोधेन लिखितम् । ते तु सत्य व्याहरन्ति, श्रीभगवन्त विना अन्येषा नामान्तराभावाद् भेद प्रतीति स्यादेव, तत्तन्नाम्ना प्रसिद्धस्य श्रीभगवतस्तु नामान्तराख्याने न पर्य्याय क्रमभङ्ग दोष,—तस्य नाम्नामनन्तत्वात् । अत्रतु सुतरा नदोष, हरिमुकुन्दयोर्भेद प्रतीते रभावात् । अत्र कथित पदाशङ्कापि न कार्य्या' ॥१००॥

यथा च—

विषादे विस्मये हर्षे कोपे दैन्येऽवधारणे ।

नानास्वराणा परिमलो यत्र एवम्भूत गान वितेने । हरेरिति । हरे कृपा कापि समुज्जिहीते हरिभक्तेष्वित्येव पर्य्याय क्रम । मुकुन्द भक्तेष्विति पदेन तु तस्य भङ्गोज्ञेय । अत्र कथित हरि पदस्य पुन कथनात् या पौनरुक्त्या शङ्का साप्यत्र न कार्य्येत्याह–अत्रेति । उत्कर्ष वर्णन उद्देश्यस्य हरेरेव पुन प्रतिनिर्देश । अतोऽत्र न दोष ॥१०० -१०१॥

को परिवर्त्तन करने से ही वाक्य साधु होगा ॥९९॥

भग्नक्रम—अर्थात् भग्नप्रक्रम । यह दोष कारक वचन एव पर्य्यायादि के क्रमभङ्ग हेतु अनेक प्रकार होते है । उदाहरण—किसी ने वीणा, किसीने मुरज, किसीने वशी एव किसीने करतल से ताल प्रदान कर ताल धारिणीत्व प्राप्तकर रास के मध्य मे सङ्गीत गोष्ठी की रचना की, किसी कामिनी के द्वारा विविधस्वर परिमल पूर्ण सङ्गीत आरम्भ हुआ है, एव प्रचुर प्रमोदामृत परिवेशित हुआ है ।

यहाँ "किसी कामिनी के द्वारा" इस स्थल मे कारक क्रमभङ्ग एव "किसीने वा यहा वचन क्रमभङ्ग हुआ है । अतएव मूलस्थ श्लोक के काश्चित् स्थान मे काचित्, 'प्राप्ता' यहा विसर्ग लोप करके प्राप्ता इस प्रकार एव चक्रु स्थान मे चक्रे, इस प्रकार पाठ करना होगा । एव कारकादि क्रम भङ्ग भी मूल के प्रदर्शित उपायो से सशोधन कर पाठ करना कर्त्तव्य है ॥१००॥

पर्य्याय क्रमभङ्ग का उदाहरण—हरि की अनिर्वचनीय कृपा मुकुन्द भक्त के प्रति ही होती है, अ य

उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य-विषये च प्रसादने ॥
अनुकम्पादिके चापि पौनरुक्त्यं न दुष्यति ॥ इति ॥१०१॥

अत्र उद्देश्य-प्रति निर्देश्यविषयतैव।

यथा—न भजति तपसाक्लम क्लमत्व, विषयभव न सुख सुखत्वमेति।
विषमपि च विषस्य नाशक स्यान्नहि सदृशे सदृशत्वमेव नित्यम् ॥

इत्यादौ पौनरुक्त्य तच्छब्देन निर्देषो वा गुण । आदि-शब्दादर्थान्तर-सक्रमितेऽपि।
यथा—(तृतीय किरणे ५) 'फलमपि फल माकन्दानाम्' इत्यादि ॥१०२॥

यत्र तु आरम्भ एव क्रमोनास्ति, तत्र भग्नक्रमदोषो नास्ति। यथा—

आलिङ्गन् बाहुदायास्तनुमनुरमयन् नमदा तुङ्गभद्रा
चुम्बन् भद्रा विकषन् निरवधि सुरसो देविकाया रसेन।

उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्यस्योदाहरणान्तरमाह—यथेति। तपसा करणेन जातो य क्लमोदु ख तस्य वैषयिक दु खसदृशत्वेऽपि न दु खत्वम्। एव विषय जन्यसुखस्य पारमार्थिक सुख सदृशत्वेऽपि न तस्य सुखत्वम्।

तथा विष दु ख जनकत्वेन द्वेष्यमपि कदाचिद् विषान्तरस्य नाशक मपि भवति। अत सदा द्वेष्यमपि न भवति। एव सति सदशे सदृशत्वमेव नित्यमिति नियमो न कदाचिद् व्यभिचरति चेत्यथ। इत्यादौ पौनरुक्त्य गुण एव। तथा पूर्वोक्तस्य पुन सवनाम—तच्छब्देन निर्देशोऽपि गुण एव ज्ञेय। आदि-शब्दादर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनावपि पौनरुक्त्य न दोष इत्यथ ॥१०२॥

रमणी मण्डले श्रीकृष्ण रूप सिन्धु, कावेरी वारि खेला करोति। "कावेरी स्यात्दंभेदे हरिद्रापण्य योषितो" इति। अत्र कृष्ण पक्षे हरिद्रा, सिन्धु पक्षे—नदी। किं कुर्वन्नित्याकाङ्क्षायामाह—बाहु ददातीति

के प्रति नहीं, यहाँ पर्य्याय क्रमभङ्ग हुआ है, अतएव हरिभक्त के प्रति कृपा समुचित होती है" इस प्रकार कहना ही ठीक है। यहाँ दो बार हरिपद का उल्लेख होने के कारण—कथित पदता नामक दोष की आशङ्का नही है। इस विषय मे पूर्वाचार्य्यो की उक्ति यह है—

'विषाद विस्मय, हर्ष कोप, दैन्य अवधारण, प्रसादन उद्देश्य प्रति निर्देश्य स्थल में एव अनुकम्पादि स्थल मे पुनरुक्ति दोषावह नहीं हैं॥ यहाँ उद्देश्य प्रति निर्देश्य की विषयता हुई है ॥१०१॥

अपर उदाहरण—तपो जनित क्लेश कभी भी वैषयिक क्लेश के सहित तुलित नहीं हो सकता है। वैषयिक सुख भी पारमार्थिक सुखसदृश नहीं हो सकता है। विष भी कदाचित् विषका नाशक हो सकता है, अतएव सदृश वस्तु मे सदृशत्व सवदा ही रहेगा—इस प्रकार नियम नहीं है।

यहाँ पुनरुक्ति गुण है, एव पूर्व कथित पदका सवनाम तद शब्द के द्वारा निर्देश भी गुण है। "अनुकार्य्यादि" यहाँ के आदि शब्द से अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि को जानना होगा। जिस प्रकार तृतीय किरण के पञ्चम श्लोक में उक्त है—रसाल फल ही फल है—॥१०२॥

वाङ्मत्या केलिलुब्धो मुख निकट मिलच्चन्द्र भागोऽयमुच्चै
कावेरी वारिखेला कलयति रमणी मण्डले कृष्णसिन्धु ।

एवमन्यदप्यूह्यम् ॥१०३॥

न विद्यते क्रमोयत्र तदक्रमम् । यथा—

इह मयि सुख निद्रामाप्ते कया मम चोरिता
मणि मुरलिका हार कण्ठात् स चाधिक दुर्लभ ।
निगदितमिति श्रुत्वा पत्युर्विहस्य विहस्य सा
निभृत निभृत चेलाञ्चलया मुखेन्दुमपावृणोत् ॥

अत्र 'हारश्चाय मणीन्द्र कुलोज्ज्वल' इति चकारास्थितौ क्रमस्तदन्यथाऽक्रम । एवम् 'इति निगदित श्रुत्वा' इति क्रमस्तदन्यथाऽक्रम । अस्थानस्थपदादत्राय भेद । तत्तु तथाभूतमप्यन्वय बोध झटिति करोत्येव, इदन्तु न तथा ॥१०४॥

बाहुदा गोपी, तस्यास्तनु स्तनु मालिङ्गन् पक्षे—बाहुदा नदी । नमदा तुङ्गभद्रा भद्रेत्यादयो गोपीना नाम विशेषा, समुद्र पक्षे—नमदा प्रभृतय प्रसिद्धनद्य । दिव्यतीति—देविका प्रेयसी तस्या शृङ्गार रसेन सुरस, पक्षे देविका—न दी विशेष स्तस्या रसेन जलेन । वाङ्मती—प्रकृष्ट वचोयुक्ता काचिद् गोपी, तस्या केलिषु लुब्ध । पक्षे वाङ्मती नदी । मुख निकटे मिलन्ती च द्रभागा नाम्नी काचिद् गोपी यस्य स । पक्षे—च द्र भागा नदी ॥१०३॥

पत्यु कुञ्जमध्ये गान्धर्वरीत्या विवाह कर्त्तु श्रीकृष्णस्येति निगदित श्रुत्वा, सा कात्यायनी व्रतपरा न दव्रजकुमारिका ॥१०४॥

जहाँ आरम्भ मे क्रम देखने मे आता है, वहाँ भग्न प्रक्रमता दोष नहीं होता है । उदाहरण—

श्रीकृष्ण रूप सिन्धु बाहुदा का अङ्ग आलिङ्गन नर्म्मदा के सहित विहरण, तुङ्ग भद्रा को चुम्बन एव भद्रा को आकर्षण पूवक देविका का रसास्वाद मे नितान्त मुग्ध, एव वाङ्मती के केलि विलास मे एकान्त लुब्ध होकर एव मुखारविन्द मिलन से चन्द्र भागा को आनन्दित करके रमणी मण्डल मध्य मे कावेरी वारि क्रीडा मे रत हुये हैं ।

यहाँ बाहुदा शब्द से बाहु दान कारिणी गोपी, पक्ष मे बाहुदा नाम्नी नदी है । नर्म्मदा तुङ्ग भद्रा, भद्रा, देविका, वाङ्मती, चन्द्रभागा ये सब सिन्धु गामिनी एक नदी के नाम हैं पक्षान्तर मे कतिपय गोपिका के नाम हैं, कावेरी भी नदी विशेष है, पक्षान्तर मे हरिद्रा है । कावेरी वारि अर्थात् हरिद्रारञ्जित वारि है ।

अन्यान्य उदाहरण भी अनुसधेय है ॥१०३॥

जहाँ क्रम नहीं रहता है, उसको अक्रम नामक दोष कहते है । उदाहरण—

यहाँ मैं सुख पूर्वक निद्रागत होने पर किस रमणीने मेरी मणि मुरली एव कण्ठसे हार हरण किया है, वह हार अति दुर्लभ है । प्रिय के वाक्य को सुनकर शशिमुखीने निभृत भावसे हँसते हँसते वसनाञ्चल

अमतो विरुद्ध परार्थ परस्य रसस्यार्थोयत्र तदमत परार्थम् । यथा—

हरिपरिचयान्नीवी मोक्ष गता गतबन्धन श्चिकुरनिकरो हारश्चाय गुणेन वियोजित ।
दशन वमन निर्लेपत्व जगाम मृगीदृशा, सुरत रभसो ज्ञानाभ्यासादतीव विशिष्यते ॥

अत्र परार्थ शान्तरस शृङ्गाररसे विरुद्ध इत्यमत परार्थम् । तेन 'इह विहरणे नीवी' इत्यादि पठित्वा चतुथ चरणे 'घनरसमयीभाव कामोत्सवश्च समोऽभवत्' इति पाठ्यम् ।१०५

एव वाक्य दोषानुक्त्वा अर्थ दोषानाह—

कष्टोऽपुष्ट व्याहत,—पुनरुक्त—ग्राम्य—दुष्क्रमा अपि च ।
सशयितो हेतुरतः, प्रसिद्धि विद्या विरुद्धश्च ॥१०६॥

हरिपरिचयादिति । हरे श्रीकृष्णस्य परिचयात् निविड सयोगात् मृगीदृशा नीवी मोक्षपदवीं गता, पक्षे, हरेर्नारायणस्य परिचयाद तद्ध दये ध्यानाज ज्ञानाभ्याम लिशिष्टा योगो मोक्षपदवीं गता । किन्तु श्रीकृष्णस्य परिचयान्नीव्यादीना मोक्ष पदवी प्राप्तत्वे सति प्रकटितो य सुरत-सम्भ ध्यान द समुद्रस्तस्य परमाणुरपि ज्ञानाभ्यास जन्य—ब्रह्मानन्देनास्ति । एतदेवाह सुरत रभस इति । तथा चोक्त श्रीभक्ति रसामृतसि धु धत (१।१।३८)

पुराण वचनम् – "ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्ध गुणीकृत ।
नैति भक्ति सुखाम्भोदे परमाणु तुलामपि ॥" इति ।

घन रसमयी भाव सा आनन्दमयो भाव एव कामोत्सव कामक्रीडा रूपो य उत्सव उत्कृष्ट यज्ञ, समोऽभवत् । तथा च काम क्रीडा जन्य सान्द्रान द कामक्रीडा च, अनयो साम्यन्तु यथा कारण तथैव कार्य्योत्पत्तिरित्यकारकानुरूपत्वमेव ज्ञेयम् ॥१०५॥

से मुख मण्डल को आवृत किया ।

यहाँ 'मेरी मणि मुरली एव मणि गणोज्ज्वल कण्ठ हार" इस प्रकार समुच्चय वाचक अव्यय प्रयुक्त होने से ही क्रमकी रक्षा होती है । उसकी अन्यथा होने पर अक्रम नामक दोष हुआ है । एव मूल मे 'निगदित मि श्रुत्वा" इस प्रकार होने से ही क्रमरक्षा होती है । अस्थानस्थ पद नामक दोष इस प्रकार होकर भी झटिति अन्वय बोध करा देता है, यह उस प्रकार नहीं है, यहीं उसके सहित इसका भेद है ।१०४।

पराथ मे जहाँ अपर रस का अथ अमत वा विरुद्ध होता है, वहाँ अमतपराथ नामक दोष होता है ।

उदाहरण—श्रीहरि के सहित परिचय होने से हरिणाक्षी वृन्द की नीवी मुक्त हुई, केश कलाप भी बन्धन मुक्त हो गये एव हार भी गुणत्यक्त हो गया । एव अधर बिम्ब भी निर्लेप हुआ, अतएव सुरत सम्भूत आनन्द ज्ञानाभ्यास हेतु ब्रह्मानन्द से सवथा उत्कृष्ट है ।

यहाँ परार्थ शान्त रस है, उसका प्रवेश शृङ्गार रस मे होने के कारण विरुद्ध हुआ है, अत यहाँ अमत पराथ दोष हुआ है । अतएव श्रीहरि क सहित विचार से इस प्रकार पाठ करके शेष चरण मे "घनरसमयीभाव एव कामोत्सव तुल्य हुआ था" इस प्रकार पाठ करना कत्तव्य है ॥१०५॥

अनवी कृत, सनियमोऽनियमे ऽनियमस्तथा सनियमे च ।
सामान्ये सविशेषः, सामान्ययुतो, विशेषे च ॥१०७॥
साकाङ्क्षो निर्वाहे पूरणकारी विरूप सहचरितः ।
व्यङ्ग्यविरुद्धो विध्यनु-वादाऽयुक्त स्तथाऽश्लीलः ।
त्यक्त पुनः स्वीकृत इति, दुष्टा अर्थास्तु विंशतिस्त्रियुताः ।१०८।

प्रत्यकेनोदाहरणानि व्यस्तेन (सप्तम किरणे ५७) 'नव शीकरमासाद्य' इत्यादि ।
अत्र यमानुजनियमुना पक्षे- नियम यम नियमेति गणना क्रमादिति कष्टोऽथ ॥

किन्त्वय चित्र काव्यादौ न दोषो न च वा गुणः ॥१०९॥

अपुष्टो यथा—कौस्तुभ महसा वक्ष,-स्थलमिदम भाति राधिका जाने ।
उद्यद्दिनमणिकिरणै, रति वितता गगन सरणीव ॥
अत्रातिविततत्वमपुष्टम् ॥११०॥

प्रत्येकेनेति-व्यस्तेन यथाक्रम विनापि व्युत् क्रमेण प्रत्येकेन श्लोकेन कष्टादि दोषानानुदाहरणमाहेत्यथ ।
नव शीकरमिति—पूर्व व्याख्यातमेव ॥१०६ १०९॥

राधिका जाने राधिका जाया प्रेयसी यस्य तस्य श्रीकृष्णस्यातिविस्तृतागगन रूपा सरणि पथा

वाक्य दोष समूह का वर्णन करने के पश्चात् अर्थ दोष समूह का वर्णन करते हैं । कष्ट, अपुष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, ग्राम्य दुष्क्रम सशयित हेतुहत, प्रसिद्धि विरुद्ध, विद्या विरुद्ध, अनवीकृत, अनियम मे सनियम, सनियम मे अनियम, सामान्य मे सविशेष, विशेष मे सामान्य, आकाङ्क्ष, निर्वाह मे पूरण कारी विरूप सह चरित, व्यङ्ग्य विरुद्ध, विध्ययुक्त, अनुवादायुक्त, अश्लील एव त्यक्त पुन स्वीकृत ये त्रयोविंशति प्रकार अर्थ दोष होते है। प्रत्येक का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

सप्तम किरण के ५७ श्लोक मे उक्त है—

नवशीकरमासाद्य यमानुजनिमज्जत ।
कस्य विशदता याति मनोमानपरिप्लवम् ॥"

वंशी ध्वनि श्रवण कर यम एव नियम भङ्ग होने से किस कामिनी का मान परिप्लव चित्त विषद् ग्रस्त नहीं होता है ? एव यमुना तरङ्ग के नव शीकर स्पर्श से किस का मान परिप्लव चित्त अविशद भाव को प्राप्त नहीं करता है ।

यहाँ यम की अनुजा शब्द से यमुना, पक्षे मे अर्थ है। नियम इस प्रकार गणन क्रमहेतु अर्थ-अतिकष्ट साध्य हुआ है। किन्तु चित्र काव्य मे यह दोष वा गुण नही है ॥१०६ १०९॥

अपुष्ट का उदाहरण—उदय कालीन दिनमणि के किरण से अति विस्तृत गगन सरणि के समान

व्याहतो यथा — यस्याश्चन्दन चन्द्रिका सरसिज प्रालेयवर्षोपल-

स्पर्शादप्यधिक त्वचा सुखकर स्पर्शो निदाघाहनि ।

सेय लोचन कौमुदी मम सखे राधा हिमस्यागमे

वक्षोज द्वितयोष्मणैव हरते शीतस्य भीतिं च मे ॥

अत्र चन्द्रिकाया अप्यधिको यस्या स्पर्श ' इति तस्या अपकर्ष सूचित , पुन सेय 'लोचन कौमुदो' इति तस्या एवोत्कर्षे व्याहतोऽर्थ । तेन सेय चित्तरसायनम्' इति पाठ्यम् ॥१११॥

पुनरुक्तो यथा – प्रेयसि राधिके कथ मम्मोरौ सति भूमावुपदिश्यते । तथाहि—

ऊरु पीठमुरो विलास शयन लीलोपधान भुजौ

खेलाब्ज करपल्लवो मणिमयादर्श कपोलस्थली ।

आचम्य वदनाम्बुजासवरस स्वेच्छोपदशोऽधरो

मन्मूर्त्तिस्तव वल्लभे मधुमती सिद्धि स्वय साधिता ॥

यशोदय कालीन रक्तसूर्य्य किरणैर्भाति ॥११०॥

सरसिज कमलम् पालेय हिमकणा निदाघाहनि--ग्रीष्मे, हिमस्यागमे शीतकाले वक्षोजद्वयस्योष्मणा शीतस्य भय हरते । तस्याश्चन्द्रिकाया अपकर्ष सूचित ॥१११॥

हे राधे ! मम वक्ष स्थल तव विलास शय्या, एव मम भुजौ सम्भोगलीलार्थ तकिया' इति प्रसिद्ध-मुपधानम् । मम कर पल्लव खेलाब्ज तव लीलाकमलम् । मम वदन कमलस्याधरामृत स्वरूपा च आसवो रस , मादक मधु स एव तवाचम्यमाचमनीयम्, पेयमिति यावत् । मधु पानानन्तर किञ्चिद् द्रव्य भक्षण - मपेक्षित भवति, तत्रस्थ नीया ममाधर एवेत्याह स्वेच्छेति । तव स्वेच्छ यथेष्ट भोजनीयोपदशो ममाधर , भर्जित गोधूमादय उपदशपद वाच्या । अतएव म मूर्त्तिस्तव मधुमती सिद्धि , कामो मत्तता जनक यन्मादक

कौस्तुभ मणि किरण से राधिका रमण का यह वक्ष स्थल अतिशय शाभित हुआ है । यहा अति विस्तृतत्व अपुष्ट हुआ है ॥११०॥

व्याहृत का उदाहरण—हे सखे ! निदाघ दिवस मे जिस का सुकोमल त्वक का स्पर्श —चन्दन, चन्द्रिका, सरसिज, तुषार एव करका स्पर्श से भी अधिक सुखकर है, वह मेरी लोचन चन्द्रिका श्रीराधा-हिमागम मे पयोधर युगल की उष्णता के द्वारा ही मेरी शीत भीति को हरण कर रही है ।

यहाँ जिस का स्पर्श चन्द्रिका से भी सुखकर होने के कारण—चन्द्रिका का अपकर्ष सूचित हुआ है, उसका ही लोचन चन्द्रिका कहकर पुनर्वार वर्णन करने पर—उसका उत्कर्ष व्याहत हुआ है । सुतरा यहा व्याहतार्थता दोष हुआ हैं । अतएव 'रसायन स्वरूपा वह राधा" इस प्रकार पाठ करना होगा ॥१११॥

पुनरुक्त का उदाहरण—प्रेयसि राधिके ! मेरे ऊरुद्वय विद्यमान रहते हुय भूतल मे क्यो उपवेशन कर रही हो ? देखो प्रियतमे ! मेरा ऊरुस्थल तुम्हारा पीठ स्वरूप है, वक्ष स्थल—विलासशय्या है भुज युगल -लीलामय उपधान हैं, कर पल्लव-लीलाकमल है कपोलद्वय मणिमय मुकुर हैं मुखारविन्द का आसव ही पानीय एव अधर विम्ब ही स्वेच्छालभ्य उपदेश है । अतएव मेरी मूर्त्ति तुम्हारी स्वय साधित

अत्र कन्दपमञ्जरी नाटिकाया चूणिकाया 'प्रेयसि राधिके' इति सम्बोधने सति पुन 'वल्लभ' इति सम्बोधनमथपौनरुक्तयम् । तेन चूणिकायाम 'अयि' इति सम्बोधने सति दोषहानि । 'मधुमती सिद्धि' इत्यत्रैव समाप्यते चेत्, तथापि 'स्वय साधिता' इति निर्वाहे पूरणकारी दोष । एव 'मधुमत' इति सामान्ये सविशेष । 'मन्मूर्त्तिरेव' इति विवक्षिते सति सनियमेऽनियम । तेन 'मधुमती काऽप्येत्र सिद्धि परा' इति चेन् क्रियते, तदा पुरणकारि-दोष हानि । किन्त्वनियमे सति सनियमे दोष । तन्त्रेण चत्वारो दोषा दर्शिता । तेन 'स्वेच्छोपदशोऽधर, प्रायोऽय मम विग्रह खलु तव क्रीडोपहार पर' इति पाठे सर्वदोष हानि । किञ्चास्य तृतीय चरण चेच्चतुथ चरण भवति, तदा दुष्क्रमदोषोऽपीति । किञ्च, प्रायोऽय मम काय एव हि मया भोगाय ते कल्पित ' इति ग्राम्येऽपि । ११२॥

सशयितो सन्दिग्धो यथा—

नृदेह मासाद्य निषेवणीय, किमत्र तत्रोपदिशन्तु भव्या ।

वस्तु, तत् सम्पादनीया सिद्धिस्तद्रूपेत्यथ ।

कथम्भूता मूर्ति ? स्वय साधि।ा स्वत सिद्धेत्यथ । सामा ये- इति, पीठ शय्या लीलाकमलादि वस्तु सम्पादिनी या सिद्धि, तद्रूपा श्रीकृष्ण मूर्त्तिरिति सामा ये वक्तव्ये मधुमतीति विशेष निर्देशात् सामा य विशेष रूपो दाष जात्यथ । म मूर्त्तिरेवेत्येवशब्दी नियमाथ । मधुमती सिद्धिरित्यत्र एव शब्दा भावादनियम । एव सति सनियमेऽनियम रूपोदोषोज्ञेय ।

मधुमती सिद्धि स्वरूप है ।

यहा क दप मञ्जरी नाटिका के चूणक मे उक्त है—"प्रेयसि राधिके" इस प्रकार सम्बाधन करने के पश्चात् पुनर्वार 'देखो, प्रियतमे" सम्बोधन करने मे पुनरुक्ति हुई है ।

अतएव चर्णकाश मे 'अयि' सम्बोधन होने से ही निर्दोष होगा । मधुमती सिद्धि कहने से ही पर्य्याप्त होता, किन्तु – उसका विशेषण स्वय साधित पद का प्रयोग होने से वहा "निर्वाह मे पूरण कारी" दोष हुआ है । एव केवल सिद्धि न कहकर मधुमती सिद्धि कहने से सामा य मे सविशेष नामक दोष हुआ है ।

मेरी मूर्त्ति ही तुम्हारी मधुमती सिद्धि है— वक्तव्य स्थल मे उस प्रकार निश्चयाभिधान न होने पर सनियम मे अनियम नामक दोष हुआ है । यहा "मेरी मूर्त्ति तुम्हारे सम्ब घ मे अनिवचनीया एक मधुमती सिद्धि है, इस प्रकार जानना" इस प्रकार पाठ परिवत्तन करने से पूरण कारी दोष का निरास तो होता है, कि तु उस से भी अनियम मे सनियम रूप दोष रहता है । इस रीति से एक वाक्य मे ही दोष चतुष्टय का उदाहरण प्रदर्शित हुआ ।

यहा मेरा यह विग्रह तुम्हारे परम क्रीडोपहार स्वरूप हुआ है । इस प्रकार पाठ करने से समस्त दोष का परिहार होता है । मूलस्थ श्लोक क ततीय चरण को यदि चतुथ चरण किया जाय तो उक्त स्थान मे दुष्क्रम दोष भी होता है । एव "मदीय समग्र शरीर तुम्हारे भोग सम्पाद । हेत मेरे द्वारा कल्पित हुई हैं" इस प्रकार पाठ करने से ग्राम्यता दोष भी होता है ॥११२॥

गोविन्द पादाम्बुहासव किं, स्त्रीरत्न वक्त्राम्बुरुहासव किम् ?

अत्र शान्त शृङ्गारयो शान्तस्यैवोपदेश्यत्वादसन्दिग्धत्वे प्रश्नो दोष ॥११३॥

हेतुहतो यथा—अपिदेश स किमास्ते, श्रवणशलाकेव कोकिलालप्ति ।

दावानलकीला इव, न यत्र सखि चन्द्रमस पादा॰ ॥

अत्र कोकिल लपयादे श्रवणसलाकादित्वे हेतुर्नोक्त । तेन 'प्रियविरहेण स देश , श्रवण शलाकेव यत्र न पिकोक्ति । न च ववदहनज्वाला, इव वा यत्रेन्दु दीधितय ।' इति पाठ्यम् ।

अपि देश स किमास्ते, श्रवण शलाकेव कोकिलालप्ति । दावानलकीला इव, दयित वियोगे न यत्र शशिभास ' ॥ इति चेत्तदाव्यङ्ग्यो विरुद्धो भवति, यस्मिन् देशे वल्लभान्तर लभ्यते इतिव्यङ्ग्ये विरुद्धम् ॥११४॥

प्रसिद्धि विरुद्धो यथा—

त्वमनाकुलवकुलतरो, मम खलु सुभग एवासि ।

मधुमती काप्येवेत्यत्र नियम । मन्मूर्त्तिरित्यत्र एवशब्दाभावादनियम । अतोऽ नयमे सनियमरूपोदोषोऽय ।

किञ्चास्येति—मन्मूर्त्ति स्तवेत्यादि चतुर्थ चरणस्य पश्चाद् यद्याचम्य वदनाम्बुजेत्यादि तृतीय चरण पठ्यते, तदा दुष्क्रमो रूपो दोषो ज्ञेय ॥११२-११३॥

अपि देश । इति । यस्मिन् देशे प्रिय विच्छेदे सति कोकिलालाप , श्रवण शलाका इव पीडा जनको न भवति, स देश उपदेश उपविश्यतामित्यत्र तद्देशे जिगमिषा नायिकाया अभिप्राय । किन्तु तत्र पुरुषान्तरेण सह सङ्गे सत्येव कोकिलापादि दु ख जनको भविष्यतीति ध्वन्यर्थ । सतु रसशास्त्रे महान् विरुद्ध इत्यर्थ ।११४

श्रीकृष्ण आह—त्वमिति । हे अव्याकुलतरो ॥११५॥

हे साधुवृन्द ! आप सब मुझ को उपदेश करें कि—इस ससार मे मनुष्य शरीर प्राप्तकर श्रीगोविन्द के चरणार विन्द ही सेवनीय है, अथवा स्त्रीरत्न के मुखारविन्दमाध्वीक ही सेवनीय है ?

यहाँ शान्त एव शृङ्गार क मध्य मे शान्त ही उपदेष्टव्य है, इस मे सन्देह नहीं है । इस प्रकार नि सन्दिग्ध विषय मे सशयजनक प्रश्न करना ही दोषावह हुआ है ॥११३॥

सशयित अर्थात् सन्दिग्ध का उदाहरण हे सखि ! उस प्रकार देश कहीं है क्या ? जहाँ कर्ण शलाका स्वरूप कोकिलालाप एव दावानल ज्वाला स्वरूप इन्दु किरणावली विद्यमान नहीं है ।

यहाँ कोकिलालापादि की एव श्रवण शलाकादि की स्वरूपता के प्रति हेतु का कथन नहीं हुआ है । अतएव "प्रिय विरह हेतु कोकिलालाप जहाँ कर्णशलाका स्वरूप एव इन्दु किरणावली दावानल शिखा स्वरूप प्रतीयमान नहीं होता है । इस प्रकार देश नहीं है । इस प्रकार पाठ होना ही वाञ्छनीय है ।

"तादृश देश विद्यमान है क्या ? जहाँ प्रिय वियोग समय मे भी कोकिलालाप श्रवण शलाका स्वरूप एवं इन्दु किरणावली दावानल ज्वाला स्वरूप प्रतीयमान नहीं होती है, इस प्रकार पाठ करने से व्यङ्ग्य विरुद्ध होता है ।"

अर्थात् जिस देश मे वल्लभान्तर के सहित समागम की सम्भावना है, इस प्रकार रस शास्त्र मे व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है ॥११४॥

राधाया पदकमलज, घाताद् यदकाले फुल्लोऽसि ॥

अत्र पद्मिन्याश्चरणाघातेन रक्ताशोक एवाकाल फुल्लति, मुखमदिरा गण्डूषेण हि वकुल इति कविप्रसिद्धि । तदन्यथा चेत् प्रसिद्धि विरुद्धोऽथ । तेन 'राधाया मुखमदिरा गण्डूष बलादकालफुल्लो यत्' इति वाच्यम् ।

विद्या विरुद्ध शास्त्र विरुद्धो यथा–'अय महात्मा परमतपस्वी, स्नायी निशीथेषु निशीथ भोजी' इत्यादौ ग्रहोपरागादिकमन्तरेण रात्रिस्नान विरुद्धम् । निशीथभोजनमपि तथा, यद्युपहास परमिद तदा न दोष, । स्तुतिपरत्वे दोष एव ॥११५॥

यथा वा—नखाङ्कित दोस्तदमङ्गदस्यारोपेण गोपायति कापि गोपी ।

उरोजयो काचन चुम्बलग्न, ताम्बूलराग घुसृण पिनष्टि ॥

इत्यादाङ्गदस्थाने नखक्षत स्तनयोश्च चुम्बन कामशास्त्र विरुद्धम् । एव यस्य यच्छास्त्र तस्य तद्विरुद्धत्व दोष' ॥११६॥

दोस्तटे स्थित नखरूप चिह्नमङ्गदरूपालङ्कारेण गोपायति, कापि गोपी घुसण कुङकुम पिनष्टि ॥११६-११७॥

हे वकुल पादप ! तुम मेरे समान आकुल चित्त नहीं हो, कारण, मुझ से तुम निश्चय ही सौभाग्य शाली हो, कारण—श्रीराधा के चरण कमल के आघात से तुम अकाल मे प्रफुल्लित हुये हो ।

यहा पद्मिनी के पाद पद्म के आघात से रक्ताशोक ही अकाल मे प्रफुल्ल होता है, एव मुख मदिरा गण्डूष मे वकुल वृक्ष ही विकसित होता है, इस प्रकार कवि सम्प्रदाय की प्रसिद्धि होने के कारण, उसकी अन्यथा करने से प्रसिद्धि विरुद्धता हुई है । अतएव "श्रीराधा के मुखारविन्द के मदिरा गण्डूष से तुम असमय मे प्रफुल्ल हुये हो' इस प्रकार पाठ परिवर्त्तन करना होगा ।

विद्या विरुद्ध एव शास्त्र विरुद्ध का उदाहरण-यह है— यह महात्मा परमतपस्वी, यह निशीथ स्नायी एव निशीथ भोजी है

यह उदाहरण—चन्द्र सूर्य्यादि उपराग व्यतीत रात्रि स्नान धमशास्त्र विरुद्ध है, निशीथ काल मे भोजन भी इस प्रकार धम शास्त्र विरुद्ध है । उपहास हेतु उक्त कथन होने से उक्त प्रयोग दुष्ट नहीं होगा । स्तुति पर होने से ही दोषावह होगा ॥११५॥

उदाहरण—किसी गोपी निज भुजतट को सखा के नखर से अङ्कित देखकर अङ्गदारोपण पूर्वक उसकी गोपन कर रही थी, अपर गोपी स्तन तट मे चुम्बन सलग्न ताम्बूल राग को कुङकुमलेपन के द्वारा आवृत कर रही थी ।

इस श्लोक मे अङ्गद के स्थान मे नखक्षत एव स्तनतट मे चुम्बन काम शास्त्र विरुद्ध है । इस प्रकार जिस का नियामक जो शास्त्र है, उसका विरुद्ध आचरण करने से दोष होता है ॥११६॥

अनवीकृतो यथा—

जात कुले धनवता महता तत किं, शास्त्रेषु बुद्धि रखिलेषु कृता तत किम् ?
पुण्यान्युरुणि विहितानि जनैस्तत किं, विस्तारित च भुवनेषु यशस्तत किम् ?

अत्र "तत किम्" इत्येतैरर्थोऽनवीकृत । तेन 'कृष्णे रतिर्हि परम पदमातनोति' इति नवीकृत स्यात् ।

सनियमेऽपि दोष 'मधुमती काप्येव सिद्धि परा' इत्यत्र दर्शित अनियमश्च म मूर्त्तिरेव इति यन्न कृत तेन तत्रैव दर्शित । सामान्ये विशेषश्च (११२ श्लोके) 'मधुमती सिद्धि' इत्यत्रैव मधुमतीति विशेष निर्देशो दर्शित । वस्तुत सिद्धि सामान्यमेव निर्देष्टु युज्यते ।११७

विशेषे सामान्य यथा—

भाग्याधिक्यत उत्तरोत्तर समुत्कर्षावधिभ्यो गुण
ग्रामेभ्योऽपि बलाधिकस्तनुमता कोऽपि स्वभावोदय ।
जन्मक्षीरनिधौ श्रिय सहगता श्रीकृष्ण वक्ष स्थले
वासोहन्त तथापि तस्य न मणेरश्मेति वादो हत ॥

भाग्याधिक्ययात्, एव गुण समूहेभ्योऽपि देहधारिणा कोऽपि स्वभावोदयो बलाधिक्यो भवति ।

अनवीकृत का दृष्टा त—धनवान् एव महान् वशमे ज म ग्रहण हुआ है, उससे क्या हुआ ? निखिल शास्त्र मे निपुणता प्राप्त किया है, उस से भी क्या हुआ ? भूरि पुण्य सञ्चय हुआ है, उससे भी क्या हुआ ! त्रिभुवन मे यशोराशि का विस्तार हुआ, उससे क्या हुआ ?

यहा उससे क्या हुआ ? इस प्रकार वाक्य का प्रयोग पुन पुन होने से अनवीकृत हुआ है। अतएव मूल श्लोक के चतुथ चरण मे "कृष्ण मे रति ही एकमात्र परम पद प्राप्ति का निदान है" इस प्रकार परिवत्तन करके अनवीकृत दोष का परिहार करना होगा।

अनियम मे सनियम रूप दोष का दृष्टा त—यह है—"मधुमती काप्येव सिद्धि परा" अर्थात् मेरी मूर्त्ति तुम्हारे सम्बन्ध मे अनिवचनीया एक मधुमती सिद्धि जानना यहाँ उक्त दोष प्रदर्शित हुआ है। सनियम मे अनियम रूप दोष भी 'म मूर्त्तिरेव" अर्थात् मेरी मूर्त्ति ही तुम्हारी मधुमती सिद्धि स्वरूप है। इस प्रकार नहीं कहा गया है, उक्त स्थल मे इसका कथन हुआ है।

सामान्य मे विशेष नामक दोष भी "मधुमती काप्येव सिद्धि" अर्थात् तुम्हारे सम्बन्ध मे अनिवचनीया एक सिद्धि है। यहाँ केवल सिद्धि न कहकर "मधुमती सिद्धि" विशेष्य निर्देश का फल पहले कहा गया है। वस्तुत साधारण रूप से सिद्धि निर्देश करना उक्त स्थल में युक्ति युक्त है ॥११७॥

विशेष मे सामान्य का उदाहरण—भाग्यातिशय अथवा उत्तरोत्तर उत्कषशाली गुण समूह हो, सर्वापेक्षा देहिवृ द के पक्ष मे स्वभाव ही बलवत्तर होता है। देखो ! क्षीर समुद्र मे जन्म, भगवती कमला के सहित सोदरता, श्रीकृष्ण के वक्ष स्थल मे अवस्थान है, तथापि मणि का प्रस्तर अपवाद अपगत नहीं हुआ।

अत्र विशेषे कौस्तुभे सामान्यस्य मणेर्निर्देश । तेन 'वासे । यस्य तथापि कौस्तुभमणे स्तस्याश्मता नो गता' इति पाठ्यम् ॥११८॥

साकाङ्क्षो यथा—वृथाऽकृथा मानिनि मानमुच्चै, कृष्णोऽयमेताश्च वय समस्ता ।
प्रसीद राधे विनिधेहि चित्ते, कृपामपारो गुणवारिधिस्ते ॥

अत्राय कृष्णो नोपेक्षितु योग्य, नापि वय क्लेशयितु योग्या इत्याकाङ्क्षामपेक्षत इति साकाङ्क्ष ।

निर्वाहे पूरणकारी तु (११२ तम श्लोके) 'मधुमती सिद्धि स्वय साधिता' इत्यत्र स्वय साधितेति पूरणकारी मधुमती सिद्धिरित्येतावतैव निर्वाह स्यात् । इममेव दोषमपदयुक्त इति पूर्वे पठति ॥११९॥

विरूपसहचरित सहचरभिन्न इत्यर्थ । स यथा—

स्तवेन लज्जा द्रविणैरमत्तता, श्रुतेन धैर्यं यशसाति नम्रता ।
दोषेण ताप प्रणयेन वश्यता, सतामिय स्वारसिकी हि रीति ॥

अस्योदाहरणमाह—ज मेति । अस्य मणे प्रस्तर इति प्रवादो न गत ॥११८॥

हे राधे ! चित्ते कृपा निधेहि,यतस्ते तवापारा गुण समुद्र । उक्तमिममेव दोष पूर्वे पण्डिता अपदयुक्त इति सज्ञया पठन्ति ॥११९-१२०॥

यहा कौस्तुभ रूप विशेष का निर्देष समुचित होने पर भी सामान्य मणिरूप मे निर्देश किया गया है, अतएव उक्त पाठ सामान्य मणि रूप मे निर्देश किया गया है, अतएव उक्त पाठ परिवर्तन कर 'तथापि वह मणिका प्रस्तर प्रवाद अपगत नहीं हुआ है । इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है ॥११८॥

साकाङ्क्ष का दृष्टान्त-हे मानिनि ! वृथा गुरु मान कर रही हो,यह कृष्ण एव हमसब सखी दुखी है, हे राधिके ! तुम प्रसन्ना हो चित्त क्षेत्र मे कृपा नदी प्रवाहित हो, कारण, तुम्हारे गुण समूह पारावार सदृश अपार हैं ।

यहाँ कृष्ण हैं, उनको उपेक्षा करना उचित नहीं है, एव हम सब सखी हैं, हम सब को क्लेश देना कर्त्तव्य नही है । इस प्रकार वाक्य अपेक्षित है-अत साकाङ्क्षा हुआ है ।

निर्वाह मे पूरण कारी का दृष्टान्त—'मधुमती सिद्धि स्वय साधिता" यहा मधुमती सिद्धि' कहने से ही, प्रयोजन निर्वाह हुआ, पुनर्वार स्वय साधिता इस विशेषण का प्रयोग करने पर वह पूरण कारी दोष हुआ है । पहले पण्डितो ने इस दोष को अपदयुक्त कहा है ॥११९॥

विरूप सह चरित अर्थात् सहचरभिन्न का उदाहरण—

साधु वणकी स्वाभाविक रीति यह है कि—वे स्तुति वाद से लज्जित होते है, धन राशि से मत्त नही होते हैं, किन्तु शास्त्र ज्ञान द्वारा धैर्य लाभ करते है यश कीर्त्तन से नम्रता को प्राप्त करते हैं, कदाचित् दोषाचरण से परिताप करते हैं, एव प्रणय के द्वारा वश्यता प्राप्त करते हैं ।

अत्र स्तवादिभिरुत्कृष्टैः सहचरैः दोषतापयोर्निकृष्टयोः वैरूप्यम्। तेन 'दाने तृप्ति' इति पाठ्यम्। व्यङ्ग्य विरुद्धस्तु (११४ श्लोके) 'अपिदेश स किमास्ते स किमास्ते श्रवण शलाका' इत्यादौ प्रागेवदर्शित ॥१२०॥

विध्ययुक्तो विधेयस्यान्यथा स्थितिमत्ता। यथा—

मुहुर्ललितया राधे त्व प्रयत्नैः प्रबोधिता। त्वयाऽसमीक्ष्य कारिण्या तथापि क्रियते हठ।

अत्र 'त्व प्रयत्नैः प्रबोध्यसे' इत्येव विधेयम्, तदन्यथा स्थितौ विध्ययुक्त ॥१२१॥

अनुवादायुक्तो यथा—

अपि परभृत तस्याः कण्ठनादेन तस्यां तव निपतितमक्षि प्रायसो विस्मयेन।

विरहि हृदय कालव्याल मा वञ्चयेथा, कथय कथमिदानीं लप्स्यते कुत्र राधा?

अत्र 'विरहि हृदयकालव्याल' इति नानुवाद्यम्, कुत कथयेति प्रार्थना फलाभावात्। तेन 'मम रुचि सदृशत्वान्मित्र' इत्यनुवाद्यम् ॥१२२॥

प्रबोधितेति। सर्वत्र विधेयस्य मुख्यत्वेन हि स्थितिरपेक्षिता भवति अत्र तु विधेय रूपाया प्रबोधन क्रियाया गौण कृत न प्रत्यय समभिव्याहाराद् गौणत्वमायाति अतो विध्ययुक्त दोषो ज्ञेय ॥१२१॥

हे परभृत! कोकिल! तस्या राधाया कण्ठनादेन तस्या राधाया विस्मये न तवाक्षि निपतितम्, अत कथय कुत्र राधा वर्तते। अथात्र पूर्वोक्त परभृत पदस्यानवाद रूप हे विरहि हृदय काल सर्पेति पदम्,

---

इस उदाहरण मे स्तुति प्रभृति उत्कृष्ट सहचर के सहित दोष एव परिताप रूप निकृष्ट वस्तु के सम्मिलन हेतु विरूप सहचरित दोष हुआ है। अतएव 'दोषाचरण से परितप्त होना" यहाँ 'दान मे अतृप्त होते हैं' इस प्रकार पाठ करना कर्त्तव्य है।

व्यङ्ग्य विरुद्ध का उदाहरण—"अपि देश स किमास्ते" अर्थात् तादृश देश विद्यमान क्या है? जहाँ प्रिय वियोग के समय भी कोकिलालाप श्रवण रूप मे प्रतीयमान नहीं होता है, इसका प्रदर्शन पहले हुआ है ॥१२०॥

विध्ययुक्त अर्थात् विधेय की अन्यथा स्थिति का दृष्टान्त हे राधे! तुम ललिता के द्वारा अतिशय यत्न से पुन पुन प्रबोधिता हो। तथापि तुम असमीक्षाकारिणी होकर उसके ऊपर हठ कर रही हो!

यहाँ तुम अतिशय यत्न से प्रबोधिता होती रहती हो यही विधेय है, अर्थात् यहाँ विधेय भूत प्रबोधन क्रिया की मुख्यत्व मे स्थिति ही समीचीन है। वैसा न होकर गौण कृदन्त प्रत्यय के साहचर्य से गौणत्व प्राप्त होने से विध्ययुक्त हुआ है ॥१२१

अनुवादायुक्त का निदर्शन—हे परभृत! वह सुकण्ठी प्रिया का कण्ठरव श्रवण से विस्मित होकर तुम्हारे नयन उनके ऊपर प्राय ही निक्षिप्त होते रहते हैं। अतएव हे विरहि हृदय दशन लोलुप काल विषधर! मुझे वञ्चना न करके कह दो, कैसे किस स्थान मे मैं प्रियतम को प्राप्त कर सकूँगी।

यहाँ 'विरहि हृदय दशन लोलुप काल विषधर" यह सम्बोधन पद कभी भी अनुवाद्य नहीं हो

अश्लीलो यथा—आदित्सयाऽशुकाना-मुन्नभुज विरुधा कुमारीणाम् ।
पश्यति हरौ विरेजे, गतवसनानानामधोदृष्टि ॥

अत्र 'नम्रादृष्टि' इति विवक्षितम् । तत्राधो दृष्टिरिति यत् प्रतीयते, तदेवाश्लीलम् । तेन 'गत वसनाना नताद्दृष्टि' इत्येव शुद्धम् ॥१२३॥

त्यक्त-पुन स्वीकृतो यथा—

न चन्द्रेण स्यन्ते तुलयितुमिद साहसमहो, ममान्ते तेनषा स्तुतिरपि न च द्रानन इति ।
न चन्द्रो लज्जावास्तदपि यदुदेति स्मितमुखो, धिगेन य शश्वद् ग्लपयति कुहुरात्रिरसती ॥

अत्र 'स्तुतिरपि न चन्द्रानन' इत्येवोपसहार कृत तथापि 'न च द्रा लज्जावान्' इति यदपरमुपक्रम्यते, तेन त्यक्त पुन स्वीकृतता ॥१२४॥

उक्तास्त्रयोविंशतिर्दोषा । येषु येष्वेते दोषा दर्शितास्तेषु तेष्वन्येऽपि दोषा बोद्धव्या । तेन दोषा अपि सङ्करेण द्विरूपेण ससृष्टया चकरूपया उक्त सख्या शब्दादिगता दोषा बहवो

तत्तु अयुक्तम्, अपकर्ष बाधकसम्बोधनपदान तर कथयेति प्रार्थनाया असङ्गतत्वादेवाह । अत्रेति- य च द्रमाभावास्या रात्रि शश्वत् प्रतिमासे ग्लपयति, हीन तेजस्क करोति ॥१२२ १२३ १२४॥

सकता है । कारण उस प्रकार अपकष बाधक सम्बोधन करके उसके निकट प्रिया प्राप्ति हेतु प्रार्थना नहीं की जा सकती है । अतएव ' मेरे काति सादृश्य हेतु हे मेरे मित्र ! तुम मुझ वञ्चना न करके कह दो ' इस प्रकार पाठ परिवत्तन कर वहा पाठ करना होगा ॥१२२॥

अश्लील का दृष्टान्त- वसन ग्रहण की वासना से व्रज कुमारी गण निज निज भुजलता को उन्नमित किये थे इस समय मे श्रीहरि उन सब के समीप मे नेत्र पात करने से उन विवसना वृन्द की तत्महूत्तजात अधोदृष्टि परमरमणीय हुई थी ।

यहाँ नम्र दृष्टि कहना ही अभिप्रेत है, कि तु प्रयुक्त पद की सामथ्य से "अधोदेश मे दृष्टि" इस प्रकार प्रतीत होने पर अश्लील हुआ है । अतएव वहा 'अवनत दृष्टि' इस प्रकार पाठ करना समीचीन होगा ॥१२३॥

त्यक्त पुन स्वीकृत का उदाहरण—च द्र के सहित तुम्हारे आनन की तुलना करने मे मै साहस नहीं करता हूँ, अतएव ' च द्रानने" कह कर तुम्हे जो सम्बोधन करता रहता हूँ यह भी तुम्हारे स्तुतिवाद नही है, कि तु इस से भी च द्र लज्जित नही होता है, कारण, नित्य ही वह हस मख होकर उदित होता रहता है। हाय ! असती अमावस्या रजनी जिसको प्रतिमास मे ही विषम ग्लानिग्रस्त होना पडता है, उसके हृदय मे क्या कुछ भी धिक्कार बोध नहीं होता है ।

यह भी तुम्हारा स्तुति वाद नही है" यह कह कर उपसहार करना उचित था । कि तु इस से भी चन्द्र लज्जानुभव नहीं करता है" कहकर तात्पर्य्यान्तर की प्रस्तावना होने से त्यक्त पुन स्वीकृत नामक दोष हुआ है ॥१२४॥

भवन्ति । तथाहि—श्रुतिकटवादय षोडश पद दोषा । एते समास गतत्वेऽपि पुन षोडश । तेन पुनर्द्वात्रिंशत् । पदांशे त्रयोदश, वाक्ये षोडशैव, एवमूनर्त्रिंशत् । पुनर्वाक्यमेव यद् दुष्ट तत्र प्रतिलोमवर्णादित्वेनैकविंशति । पुनरर्थ दोषास्त्रयो विंशति । एव चतुश्चत्वारिंशत् । सर्वैकत्वे पञ्चोत्तर शत दोषा । एते यथास्थिति सङ्कर संसृष्ट्या बहुधा वेति ॥

कर्णावतंसादिषु यत् कर्णादि शब्द ईक्ष्यते ।
तत् मान्नियादि बोधार्थं तज् ज्ञेय न प्रयोजयेत् ॥

अवतंसादि शब्द कर्णाद्याभरणार्थक एव तथापि तेषु कर्णादि शब्दो यदीक्ष्यते, तत्तदा रूढ वादि प्रतिपत्त्यर्थं ज्ञेयम् । न तद दूष्यमित्यर्थ । नतु प्रयोजयेत् स्वय कविना अप्रयोज्यम्, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन वरम्" इति न्यायात । यदि दृश्यते क्वापि तदा न दूषयेदिति यावत्, आदि शब्दात् शिर शेखर श्रवण कुण्डल धनुर्ज्या-एषु सारूढार्थं । मुक्ताहार, पुष्पमाला, अनयो रत्नरत्नामिश्रत्वोत्कृष्ट पुष्पनिर्मितत्वे,—केवलहार—शब्देन केवलमाला शब्देनैव तत्तत् प्रतीते । न प्रयोजयेदित्यस्यायमर्थो वा-इत्यादीना कवि प्रयुक्तत्वात् कदाचित् प्रयोक्तव्यत्कञ्च न त्वित्यादिदिशा पादनूपुर जघन-काञ्च्यादि प्रयोक्तव्यमिति,

---

तत्तदा रूढेति—भूषणस्य कर्णादिसलग्नत्वज्ञापनार्थकर्णादि पद ज्ञेयमित्यर्थ । शेखर शब्देनैव शिरोभूषण मुच्यते, शिर पदमाधिकम् । एव कुण्डल शब्देनैव कर्णभूषण मुच्यते, कर्णपदमधिकम् । एव

वाचमिति—त्रयोविंशति दोष का उल्लेख हुआ । जहाँ उक्त दोष होगा, वहा अन्य दोष भी होगा । इस रीति से त्रिविध दोष सङ्कर एव एकविध संसृष्टि के द्वारा उक्त दोष समूह अनेक होते हैं, कारण, श्रुति कटु प्रभृति षोडश प्रकार पद दोष हैं, वे समासगत रूप मे षोडश विध होकर द्वात्रिंशत् होते हैं, पदांश मे त्रयोदश एव वाक्य मे षोडश सम्यक-समष्टि मे ऊनत्रिंशत् होते हैं । जहाँ वाक्य दुष्ट है वहाँ प्रतिकूल वर्णादि रूप मे एकविंशति एव अर्थ दोष भी त्रयोविंशति इस प्रकार चतुश्चत्वारिंशत्, दोष होते हैं समस्त दोष को एकत्र करने से पञ्चोत्तर शत सम्यक दोष होते हैं, उक्त दोष समूह सकर संसृष्टि क्रम से अनेक प्रकार होते हैं ।

अवतंसादि पद से यद्यपि कर्णाभरणादि अर्थ प्रतीत होते हैं, तथापि जहाँ "कर्णावतंस" प्रयोग होता है, वहाँ कर्णादि शब्द तदारूढ वा उस मे अवस्थित है । इस प्रकार अर्थ बोध हेतु प्रयुक्त हुआ है इस प्रकार जानना होगा । वह दुष्ट न होने पर भी कवि स्वय प्रयोग न करें । कारण, पङ्क मे मग्न होकर पश्चात् उस पङ्क को प्रक्षालन करने की अपेक्षा दूरसे उसको स्पर्शन करना ही उत्तम है ।

इस प्रकार शिर, शेखर, श्रवण, कुण्डल, धनु ज्या ये सब स्थल मे आरूढत्वादि अर्थ बोध हेतु उस प्रकार प्रयोग हुआ है, जानना होगा ।

वाच जगादेत्यादिषु वाग्विशेषणार्थमेव वाचमित्यादि प्रयोग, विशेषणाभावे तु वाच जगादेदि दोष एव, धात्वर्थेनव तत् प्रतीते तत्रापि क्रिया विशषणेनैव तदवगतेन दातव्य वाच मित्यादि पदमिति केचित्। तन्न। बहु विशेषणे क्रिया विशेषक न चमत् कारि। एव पद्भ्यां गच्छतीत्यादिष्वपि विशेषणे सति न दोष। ख्यातेऽर्थे निर्हेतता न दोष, ख्यातेरेव झटिति बुद्धेऽर्थे हेतुर्नापेक्षते।

श्रुति कटुवादीना दोषाणा पर कथितानुकथने न दोष। क्वचिद् वक्त्राद्यौचित्येनानु-कथन विनापि गुणोऽपि, क्वचिन्न दोषो न गुणश्च।

वयाकरणादौ वक्तरि रौद्रादौ रसे च गुण। नीरसे न गुणो न दोषश्च। अत्राप्रयुक्त-निहतार्थौ श्लेषादौ न दुष्टौ। अश्लील तु शाते वक्तरि न दुष्टम्। यत्तु "द्व्यर्थ पदं पिशुनयेच्च रहस्य वस्तु" इति मुनिवचनबलात् 'करिहस्तेन सम्बाधे" इत्यादि केचित् पठन्ति, तदसत्, तस्याश्लीलत्व दथ दोष एव। किन्तु रहस्यवस्त्वीति यस्य शब्दवाच्यताया दोषस्तदेव नत्वश्लीलम्।

ज्याशब्देनव धनुष प्रत्यञ्च च्यते, धनु पदमधिकम्। एव ज्याशब्देनव धनुष प्रत्यञ्चोच्यते, धनु पद

मुक्ताहार पद मे अन्य रत्न मिश्रित न करके केवल मुक्ता ग्रथित हार एव पुष्प माला पद से उत्कृष्ट पुष्प रचित माला का बोध होगा। कारण—केवल हार एव केवल माला शब्द से भी मुक्त एव पुष्प की प्रतीति होती है। कविकृत प्रयोग के अनुसार उक्त मुक्ता हारादि पद का भी कभी कभी प्रयोग किया जाता है। किन्तु उक्त दृष्टान्तानुसार पाद नूपुर, जघन–काञ्ची इत्यादि पद कभी भी प्रयोगार्ह नहीं होते है।

"वाच जगाद" अर्थात् वाक्य कहा' इत्यादि स्थल मे वाक्य के विशेषणदान थ उस प्रकार प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार 'उसने अतिमधुर वाक्य कहा" प्रयोग होता है। विशेषण के अभावस्थल मे तादश प्रयोग अर्थात् "वाक्य कहा' इस प्रकार प्रयोग नहीं होगा। उसने कहा—इस प्रकार प्रयोग ही करना होगा। कारण, कथनार्थ धातु के द्वारा ही उक्त तात्पर्य्य की उपपत्ति होती है।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं कि—क्रिया विशेषण के द्वारा ही जब चरितार्थता होती है, तब वाक्य की कमना स्वीकार पूर्वक उसका विशेषण प्रयोग नहीं किया जा सकता है। देखो, उसने अति मधुर भाव से कहा' इस वाक्य मे क्रिया विशेषण के द्वारा ही उक्त तात्पर्य्य की सम्यक उपपत्ति हुई है, किन्तु बहु विशेषण स्थल मे क्रिया विशेषण चमत्कार जनक नहीं होता है अत उक्त मत सर्वथा युक्ति युक्त नहीं है। विख्यात अर्थ मे हेतु शून्यता दोषावह नहीं है अर्थात् ख्याति हेतु झटिति अर्थ प्रतीति होने के कारण, वहाँ हेतु की अपेक्षा नहीं होती है।

श्रुति कटु आदि दोष की परोक्ति का अनुकथन स्थल मे दोष नहीं होता है। कहीं पर वयाकरणादि वक्ता होने से अथवा रौद्रादि रस वर्णनीय होने से अनुकरण व्यतीत भी श्रुति कटु आदि गुण होते हैं। क्वचित् नीरस प्रबन्ध मे वह दोष भी नहीं होता है, गुण भी नहीं होता है। अप्रयुक्तता एव निहतार्थ

सन्दिग्धमपिक्वचिदप्रस्तुत प्रशंसा व्याजस्तुत्यादि प्रतिपादकं यदि भवति, तदा न दोष, प्रत्युत गुण एव। प्रतिपाद्य प्रतिपादकयोर्ज्ञापकत्वे सत्यप्रतीतो गुण। अधम-प्रकृतिषु विदूषकादौ च ग्राम्यो गुण। न्यूनपद हर्ष-शोक-मत्ततांधिक्ये सति गुण। क्वचिन्न गुणो न दोष। अधिक पद विषादादौ गुण, प्रायुक्तमेतत्, मत्ततायान्तु विशेषत एव। कथित पद लाटानुप्रासेऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये विहितस्यानुवादे च गुण।

पतत् प्रकर्ष क्रमेण क्रोधादि ह्रासे गुण, भिन्न वाक्यतया रसभेदे च। समाप्त पुनर त्त क्वचिन्न दोषो न गुण। क्वचिदिति यत्र झटिति रसापकर्षं न स्यादिति विशेषण दानार्थ मेव, यत्र पुनर्दीयते न वाक्यान्तरत्वेन प्रकृत-वाक्य-परिदोषकत्वे सति गुण। अन्येसर्वे दुष्टा एव ॥१२५॥

अथ रस दोषानाह—

रसानां शब्द वाच्यत्व स्थायिनां व्यभिचारिणाम्।

मधिकम्। एव तेषु शिर आदिषु आरूढत्वाद्यार्थ शिर आदि पद प्रयोग।

वाचमिति-मधुरा कोमला वाच जगादेत्यत्र मधुरादि विशेषणार्थमेव वाचमिति प्रयोग। तत्रापीति मधुर यथा स्यात्तथा, कोमल यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणेनैव तदवगतेर्वाचमिति पद न दातव्यमिति केचिद्वदन्ति। ख्यातेरेव हेतोर्झटिति अर्थे बुद्धे सति हेतुर्नापेक्षित इत्यर्थ।

श्रुतीति। न दोष, न दोषत्वम्। क्वचिद्वैयाकरणादौ वक्तरि तथा रौद्रे च रसे श्रुतिकटुरनुकथन विनापि गुणोऽपि भवति। किन्त्विति। यस्य शृङ्गाररसादे शब्दवाच्यतायामिति। तथा च काव्ये शृङ्गार इति शब्दश्चेत्तदा दोष एवेत्यर्थ, न तु अर्थे दोष। अत शृङ्गारादि रहस्यवस्तु द्व्यर्थैं पदैं पिशुनयेत्। न त्वश्लीलमिति--काव्ये अश्लीलशब्दश्चेत्तदा दोष।

एवमश्लीलार्थ बोधक द्व्यर्थपद प्रयोगोऽपि दोष इत्यर्थ। अतो मुनिवचनबलात् काव्येऽश्लीलार्थ बोधक द्व्यर्थपद प्रयोगोऽपि न कर्त्तव्य इति भाव। झटितीति—यत्र वाक्येसमाप्तावपि पुर्नविशेषण पद वर्त्तते, अथच झटिति रसापकर्षो नास्ति तत्र न दोष इत्यर्थ ॥२५॥

श्लेषादि स्थल मे दोषावह नहीं होता है, एव शान्त रस के वक्तास्थल मे अश्लील भी दुष्ट नहीं है। परन्तु "द्व्यर्थ पद प्रयोग से रहस्य वस्तु की सूचना न करे" मुनि के अनुशासन से कतिपय व्यक्ति उसका उदाहरण—'करिहस्तेन सम्बाध' श्लोक का पाठ करते हैं। वह सङ्गत नहीं है। तब मुनिने जो द्व्यर्थ पद द्वारा रहस्य वस्तु सूचना की कथा कही है, उसका तात्पर्य्य यह है कि—जिसकी स्व शब्द वाच्यता से दोष होता है, उस शृङ्गारादि रहस्य वस्तु को द्व्यर्थ पद प्रयोग से सूचित करे। अश्लीलार्थ बोधक द्व्यर्थपद प्रयोग करना उस अनुशासन का तात्पर्य्य नहीं है। अप्रस्तुत प्रशंसा एवं व्याजस्तुति प्रभृति का प्रतिपादक होने पर सन्दिग्धता दोष न होकर गुण ही होता है। प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादक का ज्ञापकत्व स्थल मे अप्रतीत नामक दोष भी गुण होता है। अधम प्रकृति विदूषकादि के वाक्य मे ग्राम्यता दोष गुण के मध्य मे गणनीय होता है हर्ष, शोक एवं मत्तता का आधिक्य स्थल मे न्यून पदता गुण ही है। विषादादि स्थल

विभावस्यानुभावस्य व्यक्तौ कष्टा च कल्पना ॥१२६॥
प्रतिलोमविभावादि ग्रहो दीप्तिरभीक्ष्णशः ।
वृथा विस्तार ह्रासो तथाङ्गस्यातिविस्तृतिः ॥१२७॥
अङ्गिनोऽनभिसन्धानं प्रकृतीनां व्यतिक्रमः ।
अनङ्गस्य प्रकटन रसदोषा इमे स्मृताः ॥१२८॥

तत्र रसाना शब्द वाच्यत्व यथा—

आधा माधवयोरेव शृङ्गार श्रुति रोचन ।
वैदग्ध्य यत्र पर्याप्त कृतार्थश्च मनोभव ॥

अत्र शृङ्गार शब्द किन्तु 'विलास श्रुतिरोचन' इति पाठ्यम् । एव रसादि शब्दश्च । एव वीरादयश्च । रसादीना शृङ्गारादि परत्व एव दोष, नत्वास्वादादि परत्वे तस्य नानार्थत्वात् तेन सरसो रसवान् रसिक इत्यादौ न दोष ॥१२६॥

अथेति । विभावस्येति रस साक्षात्कारे रसा त पातितया विभावादि त्रयाणा समतया अभिव्यक्ति-रपेक्षिता भवति । यत्र तु अनुभावस्य चमत्कारातिशयेन तस्यवरसे प्राधान्येनाभिव्यक्ति न तु विभावादे, विभ वादय स्त्वनुभाव पयवसायिनो भवन्ति, तत्र विभावस्याभिव्यक्तौ कष्ट कल्पना, अतो रसादयो दोषो

मे अधिक पदता गुण ही होता है । स्थल विशेष मे वह गुण एव दोष नहीं होता है । विषादादि स्थल मे अधिक पदता गुण ही होता है । उसका कथन पहले हुआ है । मत्तता स्थल मे वह विशेष रूप से गुण ही होता है । लाटानुप्रास, अर्था तर सक्रमित वाच्य एव विहित के अनुवाद स्थल मे कथित पदता गुण होता है । क्रमश क्रोधादि का ह्रास स्थल मे पतत् प्रकर्षता गुणत्व मे पर्यवसित होता है । भिन्न वाच्यता हेतु रस भेदस्थल मे समाप्त पुनरात्तता भी गुण होता है । कहीं पर गुण भी नहीं होता है दोष भी नही होता है, अर्थात् जहा झटिति रसापकष नहीं होता है । वहाँ दोष नही कहा जा सकता है । और जहा वाक्या तर रूप मे प्रयुक्त न होकर केवल विशेषण हेतु प्रयुक्त होता है, तादृशस्थल मे वह दूषण होता है । अस्थानस्थ समासता क्वचिद् गुण होता है, अर्थात् क्रोधादिक अयोग्यस्थान मे भी क्रोधादिका अनुकरण करने से वह गुण मध्ये गण्य होता है, अवश्य विधेय रूप मे प्रकृत वाक्य का परिपोषक होने पर गर्भितत्व गुण होता है, इसके अतिरिक्त स्थल मे वे दोष ही होते हैं ॥१२५॥

अनन्तर रसदोष समूह का वर्णन करते हैं । रस समूह की एव स्थायिभाव एव व्यभिचारि भाव की स्व शब्द वाच्यता, विभाव एव अनुभाव की अभिव्यक्ति के सम्बन्धमे कष्ट कल्पना, प्रतिकूल विभावादिकाग्रह एक ही रस की पुन पुन दीप्ति अर्थात् उज्ज्वलता वृथा विस्तार वृथा ह्रास, अङ्ग की अति विस्तति अङ्गी का अनभिसन्धान, प्रकृति का व्यतिक्रम अनङ्ग अर्थात् अङ्गभिन्न का प्रकटन, ये सब रस दोष होते हैं।
उसके मध्य मे रसादि की स्वशब्द वाच्यता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—राधामाधव के शृङ्गार

चन्दनानिलचन्द्रांशु पुंस्कोकिल कलस्वनैः । माधव्यां रजनौ राधा कृष्णयो रतिरैधत ॥

अत्र रतेः स्थायिनः शब्द वाच्यत्वम्, ते 'प्रीतिरैधत' इति पाठ्यम् । यत्र रति शब्दस्य स्थायिता न प्रतीयते, तत्र न दोष , यथा भगवति रतिरस्तु ॥१३०॥

आदर्शे स्वमुखालोके विस्मयोत्फुल्ल लोचना । दैवादागतमालोक्य कृष्ण राधा ह्रियं दधे ॥

अत्र ह्री व्यभिचारि भाव । दैवादागत हरिं वीक्ष्य राधा नत मुखी बभौ' इति शुद्धम् ।१३१।

यत्र तु स्व स्व व्यापारेण लज्जादयो व्यभिचारिणो बोधयितु न शक्यन्ते, स्व शब्द वाच्यतयैव प्रतीय ते, तत्र न दोष । यथा (पञ्चमकिरणे २८३) ''तस्यास्त्रपाभय' इत्यादि ।

ज्ञेय । एव विभावस्य चमत्कारातिशये अनुभावस्याभिव्यक्तौ कष्ट कल्पना ज्ञेया । दीप्तिरिति । पुन पुनरेकस्यैव रूपस्यदीप्तिरौज्ज्वल्यमित्यथ ।।१२६ -१२९॥

माधव्यामिति—वशाख सम्बन्धिन्या रात्रावित्यर्थ ॥१३०॥

यत्र त्विति । यत्र वाक्ये व्यञ्जक पदानि व्यञ्जना वृत्तिरूप स्व स्व व्यापारेण लज्जादि व्यभिचारि भावान् बोधयितु न शक्नुवन्ति, किन्तु लज्जादि शब्देनाभिधया लज्जादीना प्रतीतिर्भवति, तत्र न दोष इत्यथ ॥१३१॥

ही प्रकृत श्रुति रसायन स्वरूप है, जहा वदग्ध्य भी पर्य्याप्त है, एव मनोभव भी कृताथ हुआ है ।

इस उदाहरण मे शृङ्गार शब्द दुष्ट हुआ है, उसके परिवत्तन मे विलास शब्द का प्रयोग ही समुचित है । इस प्रकार वीरादि शब्द प्रयोग भी दुष्ट है, रसादि शब्द नानार्थ वाचक हैं, उसके मध्य मे शृङ्गारादि वाचक होने से हो दोषा वह होता है, आस्वादादि वाचक होने से दोषा वह नहीं होता है । सुतरा सरस, रसवान् रसिक इत्यादिस्थल मे रस शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है ॥१२६–१२९॥

च दन–पवन, चन्द्र रश्मि एव पुंस्कोकिल के कल कूजन से माधवी रजनी मे राधाकृष्ण की रति अतिशय वर्द्धित हुई थी ।

यहाँ रति स्थायि भाव है, अथच उसका उल्लेख स्वशब्द से हुआ है, सुतरां वह दुष्ट है । रति शब्द के परिवत्त मे उक्त स्थल मे प्रीति परिवर्द्धित हुई थी, इस प्रकार पाठ करना समीचीन है ।

जहाँ रति शब्द से स्थायिभाव की प्रतीति नहीं होती है, वहाँ दोष नहीं होता है । जिस प्रकार - भगवान् श्रीकृष्ण मे रति हो यह दोषावह है ॥१३०॥

दपण मे निज मुख कमल अव लोकन पूवक राधिका विस्मय से उत्फुल्ललोचना हुई थी, इसी समय सहसा श्रीकृष्ण को सम गत देखकर वह नितान्त लज्जिता हो गई ।

इस उदाहरण मे लज्जा व्यभिचारि भाव है, उस की स्वशब्द वाच्यता दोषा वह है, अतएव सहसा श्रीकृष्ण को समागन देखकर वह अवनत मुखी हो गई, इस प्रकार पाठ परिवत्तन करना ही समीचीन है ॥१३१॥

जहा निज निज प्र न के द्वारा लज्जादि व्यभिचारि भाव समूह के द्वारा बोध नहीं होता है, स्व वाच्यता के द्वारा ही उन सबका समझाया जाता है, वहाँ वह दोष जनक नहीं है ।

अत्र त्रपादीना व्यञ्जक शब्दोपादाने उन्मादादिभि सहारोप्यरोपकभ वो न घटते यत्रान्योन्य हेतु हेतुमद्भावस्तत्र च न दोष ।

यथा—औत्सुक्येनाजनि चपलता ह्रीस्तया प्रादुरासी
चित्ते ग्लानि समजनि तयाचेतयाभूद्विमर्श ।
हर्षस्तेन व्यजनि सुदृशा तेन चावेग एव
प्रादुर्भूत प्रविशति हरौ कौण्डिनी राजधानीम् ॥

अत्र गुण एव ॥१३२॥

विभावानुभावयो कष्टकल्पना व्यक्ति यथा—

सा दक्षिणे मरुति वाति समुद्यतीन्दौ, कृष्ण विलोक्य रचनामवगुण्ठनस्य ।
द्राघीयसी विदधती भुजवल्लिमूल-व्यक्ता पयोधरतटी पुनरावरार ॥

यथेति । तस्या राधाया लज्जादय एव किरका कलिका स्त कोरकित कटाक्ष रूप दाहक पुष्पबाण विशेष, सत् मादादि विशिष्टोज्वर इव मे मम मनसि प्रविष्टा । औत्सुक्येनेति । रुक्मिणी विवाहार्थ कुण्डिनी हरौ प्रविशति सति सुन्दरीणामौत्सुक्येन चपलता अजनि, तया चपलतया लज्जा प्रादुरासीत् । तया लज्जया, एतया ग्लान्या तेन हर्षेण, एव रीत्या हेतु हेतु मद् भाव ॥१३२॥

अवगुण्ठनस्येति । अत्रानुभावोऽवगुण्ठनस्य दीर्घीकरणम् । एव पयोधर तस्या पुन सवरणम्,

---

यथा—लज्जा, भय, विषाद विवेक, धैर्य, द य एव अभिलाष भरसे मुकुलित उस व्रज सुन्दरी की कटाक्षच्छटा उ माद, मोह, मद, दाह, विसप, शूल एव तृष्णाविशिष्ट ज्वर रोग के समान मेरी आत्मा मे प्रविष्ट हुई है ।

यहा लज्जा प्रभृति का व्यञ्जक प्रयोग से उन्मादादि के सहित आरोप्य आरोपक भाव सम्पादित नहीं होता है ।

जहाँ परस्पर कार्य्य कारण भाव की प्रतीति नहीं होती है वहाँ भी वह दाषा वह नहीं होता है ।

उदाहरण—रुक्मिणी के पाणि ग्रहणाभिलाष से भगवान् चक्रपाणि कुण्डिन राजधानी मे प्रवेश करने से सुन्दर वृन्द के औत्सुक्य हेतु चपलता उपस्थित हुई । समकाल मे हो चपलता से लज्जा, लज्जा से ग्लानि एव ग्लानि से विमर्ष का उदय हुआ एव विमर्ष से हर्ष तथा हर्ष से आवेग आविर्भूत होकर उन सब को व्याकुल किया था ।

यहा उत्तरोत्तर हेतु हेतुमद् भाव हेतु उस प्रकार वर्णना गुण ही हुआ है ॥१३२॥

विभाव एव अनुभाव की कष्ट कल्पना का दृष्टान्त इस प्रकार है-मलय गन्ध वह मन्द मन्द प्रवाहित एव चन्द्रबिम्ब गगन मण्डल मे समुदित हाने से सुन्दरी श्रीराधाने कृष्ण चन्द्र को अवलोकन कर अवगुण्ठन की दीर्घता का विधान करते करते भुजलता के मूलदेश मे व्यक्तीभूत स्तन तट की पुनर्वार आच्छादित किया ।

इस उदाहरण मे अवगुण्ठन को दीर्घीकरण एव स्तन तट का पुन पुन सम्वरण रूप अनुभाव के

अत्रोद्दीपनविभावा आलम्बनविभावाश्चानुभावपर्य्यवसायिन स्थिता इति कष्ट कल्पना । एवमनुभावाश्चालम्बन विभाव पर्य्यवसायित्वे दुष्टा । ऊह्यमुदाहरणम् ॥१३३॥

प्रतिलोम विभावादिग्नहो यथा—

मुग्धे मा कुरु मान, कलय कटाक्षेण पुण्डरीकाक्षम् ।

अनिल तरल नलिनीदल, जलकणमिव यौवन विद्धि ॥

अत्र शृङ्गारे प्रति लोमस्य शान्तस्या नित्यता प्रकाशन रूपो विभावस्तत् प्रकाशितश्च निर्वेद इति दुष्टम् । एव शृङ्गारे शान्तानुभावश्च प्रति लोमतया दुष्ट ।

अभीक्ष्णशो दीप्ति, पुन पुनरेकस्यैव रसस्यौज्ज्वल्य कुमारसम्भवेरति विलापे वृथा विस्तारोऽकाण्डे प्रथन वेणी सहारे द्वितीयेऽङ्के अनेक सक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्य्योधनस्य शृङ्गार वर्णनम् ।

तयोश्चमत् कारातिशयेन प्राधान्येन रसेऽभिव्यक्ति, दक्षिणानिल चन्द्रोदय रूपोद्दीपनादयोऽनुभाव पर्य्यवसायिन , स्थिता इति कष्ट कल्पनया रस दोषो ज्ञय ॥१३३॥

श्रीकेशवयो लक्ष्मीनारायण यो रित्यथ । विपरीअ रए लच्छी- विपरीत रते लक्ष्मीरित्यर्थ ॥ उक्त

चमत् कारातिशय हेतु प्राधा य रूप मे अभिव्यक्त होने के कारण चन्द्रोदयादि उद्दीपन विभाव अनुभाव पर्य्यवसायी हुआ है । इस प्रकार कष्ट कल्पना रूप रस दोष को जानना होगा । इस रीति से अनुभाव भी यदि आलम्बन विभाव पर्य्यवसायी होता है तो, वह दुष्ट होता है उसका उदाहरण अनुस धेय है ॥१३३॥

प्रति कूल विभावादि का उदाहरण—अयि मुग्धे ! मान परिहार पूवक पुण्डरीकाक्षको कटाक्ष द्वारा भी निरीक्षण करो । यौवन पवन कम्पित—पद्म पत्र गत जलबि दु के तुल्य चञ्चल जानना चाहिये ।

इस उदाहरण मे शृङ्गार विरोधी शा तरस की अनित्यता का ख्यापन रूप विभाव एव तद् द्वारा निर्वेद की अभिव्यक्ति होने मे दुष्ट हुआ है । इस प्रकार शृङ्गार मे शा त रस का अनुभाव भी प्रति कूलता हेतु दुष्ट है ।

एक ही रस की पुन पुन दीप्ति का उदाहरण- कुमार सम्भव के चतुथ सग के रति विलाप मे है ।

वृथा विस्तार अर्थात् अनवसर मे विस्तार—जिस प्रकार वेणी सहार नाटक के द्वितीयाङ्क मे अनेक सशय उपस्थित होने पर राज्ञी भानुमती के सहित राजा दुर्य्योधन का शृङ्गार वणन किया गया है ।

वृथा ह्रास वा अनवसर मे विच्छेद —जिस प्रकार महावीर चरित नाटक के द्वितीयाङ्क मे राघव एव भागव का वीरत्व वणन प्रारम्भ होने से "मै कङ्कण मोचनाथ जा रहा हूँ " राघव की इस प्रकार उक्ति के द्वारा अनुचित समय मे वीर रस का भङ्ग किया गया है । अङ्ग की अतिविस्तति-जैसे हयग्रीव वध मे हयग्रीव का वणन हुआ है । अङ्गी का अनभिसन्धान,— जैसे रत्नावली नाटिका के चतुर्थाङ्क मे बाभ्रव्या गमन से सागरिका की विस्मृति हुई है ।

अन तर प्रकृति का व्यतिक्रम प्रकार का वणन करते हैं, प्रथमत प्रकृति त्रिविध हैं—दिव्य, अदिव्य एव दिव्यादिव्य । एव धीरोदात्तादि चतुर्विध नायक के मध्य मे उत्तम,, मध्यम, एव अधम है उस के मध्य

वृथा हासोऽकाण्डे छेदो यथा वीर चरिते द्वितीयेऽङ्के राघव—भार्गवयो वीररसे "कङ्कण मोचनाय गच्छामि" इति राघवोक्तौ।

अङ्गस्याति विस्तृति यथा—हयग्रीववधे हयग्रीवस्य।

अङ्गिनोऽनभिसन्धान रत्नावल्या चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिका विस्मृति।

प्रकृतीना व्यतिक्रमस्तु यथा— प्रकृतयस्तावत् दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च। तथा धीरोदात्तादीना प्रागुक्ताना चतुर्णाम्—उत्तमा मध्यमा अधमाश्च।

अत्रोत्तमप्रकृते र्मध्यमाधमत्वेन च वर्णन दुष्टम्।

उत्तमदेवताना पार्वतीपरमेश्वरादीना शृङ्गार वर्णन च न कार्यम्। यत्तु कृत कालिदासादिभि स्तद् दुष्टम्। तद्वर्णन हि स्वपित्रो शृङ्गार वर्णनमिव। एव श्रीकेशवयोरपीति केचित्। केचित्तु वर्णयन्ति तयोरीश्वरत्वाद्देवतात्व नेति। वर्णन यथा (काव्य प्रकाशे पञ्चमोल्लासे १३७) "विपरीतरतेलक्ष्मी ब्रह्माण दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।

हरे र्दक्षिणनयन रसाकुला झटिति ढौकते॥" इत्यादि, "अन्धत्वमन्ध समये" इत्यादि च।

राधामाधवयोस्तु वर्णनीयमेव,—सर्वेश्वरत्वेन देवतात्वाभावात्, विधिवाक्यञ्च (भा० १०। ३३।३९) "विक्रीडित व्रजवधूभिरिद च विष्णो,

श्रद्धान्वितोऽनु शृणुयादथ वर्णयेद् य॥ इत्यादि।

हीति। प्रसिद्धे श्रीकृष्णे औचित्य बन्धस्तु रसस्य परा सर्वोत्कृष्टोपनिषत् परमप्रमाणीभूत—वेद तुल्य इत्यर्थ॥१३४॥

मे उत्तम प्रकृति का मध्यम एव अधम रूप मे वर्णन, मध्यम एव अधम प्रकृति का उत्तम रूपमे वर्णन, अधम का मध्यम प्रकृति रूपमे वर्णन एव मध्यम प्रकृति का अधम प्रकृति रूप मे वर्णन को प्रकृति व्यतिक्रम कहते है। वही दुष्ट है।

उत्तम देवता पार्वती परमेश्वर प्रभृति का शृङ्गार वर्णन भी कर्त्तव्य नही है, कालिदासादिने जो उस प्रकार वर्णन किया है, वह दूषणीय है। कारण, वह स्वीय जनक जननी के शृङ्गार वर्णन के समान है, एव अनास्वाद्य है, इस प्रकार लक्ष्मी न रायण का उक्त विध वर्णन भी दोषवह है कतिपय पण्डित का मत यही है, किन्तु उन सब के ईश्वरत्व प्रयुक्त देवता के मध्य मे गणन न करके कुछ व्यक्ति उस प्रकार वर्णन किये हैं। जिस प्रकार। 'विपरीत रते लक्ष्मी" 'अन्धत्वमन्ध समये" इत्यादि श्लोक हैं।

किन्तु राधा माधव का उक्त वर्णन सर्वतोभावेन करणीय है, कारण उनके सर्वेश्वरत्व प्रयुक्त साधारण देवता के मध्य मे गणन अकर्त्तव्य है। इस विषय में विधिवाक्य भी है। श्रीमद् भागवत के १०।३३।३९ मे उक्त है। हे राजन्! भगवान् विष्णु की व्रजवधू वृन्द के सहित यह क्रीडा परम पवित्र है,

किन्तु यत्र यत्रानौचित्यं प्रतीयते, तत्तदेव न वर्णनीयमिति भाव । १३४॥

उक्त हि ध्वनिकृता—

'अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् । प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

इत्यनङ्गस्य रसानुपकारकस्य प्रकटन दुष्टम् । ऊह्यमुदाहरणम् ॥१३५॥

एकाश्रयत्वे रसयोर्न विरोधः प्रवर्त्तने ।
भिन्नाश्रयत्वे विरोध शान्त–शृङ्गारयोर्यथा ॥

एकाश्रयत्वे हास शृङ्गारयो, अद्भुत हासयोश्च, अद्भुत शृङ्गारयोर्वीर करुणयो न विरोध एव । शान्त शृङ्गारयो शृङ्गार करुणयो, शृङ्गार बीभत्सयो केवल विरोध एव । शृङ्गार करुणयोरङ्गाङ्गिभावे न दोष । यथा वनवासस्य सीताया गर्भ दर्शनात् प्राक्शृङ्गार स्मृति । अत्र करुणोऽङ्गी, शृङ्गारोऽङ्गम् । शान्त शृङ्गारयो क्वचिन्न दोष । यथा—

निर्वाण निम्बरसमेव पिबन्ति केचिद् भव्या न ते रस विशेष विदो वयन्तु ।

उक्त हीति, प्रसिद्धे श्रीकृष्णे औचित्यबन्धस्तु रसस्यपरा सर्वोत्कृष्टोपनिषत् परमप्रमाणीभूत वेद तुल्य इत्यर्थ ॥१३५॥

एकाश्रयत्व इति । एक विषये हास शृङ्गारयोर्न विरोध भिन्न विषये तु सुतरामेव विरोधो नास्ति ।

श्रद्धान्वित व्यक्ति यदि इस का श्रवण अथवा वर्णन करता है तो, श्रीविष्णु चरणे मे पराभक्ति लाभ करता है तथा उस के हृदय से काम वासना विदूरित हो जाता है ।

कि तु जहापर अनौचित्य प्रतीत होता है, वहा उस उस विषयो का वर्णन न करे ॥१३४॥

ध्वनि कारने भी कहा है— अनौचित्य व्यतीत रसभङ्ग का कारण और कुछ भी नहीं है । प्रसिद्ध वस्तु के विषय मे औचित्य के अनुसार निबन्धन रस का परम उपनिषत् स्वरूप है ।

अनङ्ग,—अर्थात् रसका अनुपकारक वस्तु का प्रकटन दुष्ट होता है, उदाहरण का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है ॥१३५॥

एक विषय को आश्रय करके उभय रसकी उद्भावना करने से उसक परस्पर विरोध नहीं होता है । जसे हास्य एव शृङ्गार की, अदभुत एव हास्य की, शङ्गार एव अद्भुत की, एव वीर एव करुण की एकाश्रयता के स्थल मे विरोध नहीं है । कि तु शान्त एव शृङ्गार का शृङ्गार एव करुण का तथा बीभत्स शृङ्गार का परस्पर विरोध होता है । शान्त एव शृङ्गार का विरोध भिन्न विषय मे भी होता है ।

शृङ्गार एव करुण के अङ्गाङ्गि भावस्थल मे दोष नहीं होता है । जसे वन वासस्था सीता का गर्भ को देखकर पूर्व शृङ्गार की स्मृति होती है । तादृश स्थल मे करुण रस ही प्रधान है, शृङ्गार उसका अङ्ग है ।

कही कही शान्त एव शृङ्गार की एकत्रावस्थिति दोषावह नही होती है, उदाहरण—कोई कोई

श्यामामृत मदन मन्थर गोपरागा, नेत्राञ्जलीचुलुकितावसित पिब म ॥

अत्र पूर्वार्धे शान्त, परार्धे शृङ्गार, तथापि शुद्धम्। शान्तस्य व्यककृतत्वात् शृङ्गार एवपुष्ट॰।

प्रागुक्त लक्षणस्य रसस्यानन्दस्वरूपत्वेन प्रतिपादिते चैक्ये रसस्य रसेन विरोध इति यदिह प्रतिपाद्यते, तत्तु सामग्री भूतस्य स्थाय्यादेरेव, न तु रसस्य। १३६-१३७॥

इति श्रीमदलङ्कार कौस्तुभे दोष प्रदशनो नाम दशम किरण ॥१०॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थ ॥

—※—

श्रीमत कर्णपूरस्य चरणावनिश भजे। निर्मित कृष्ण कण्ठार्हो येनालङ्कारकौस्तुभ॰।

पक्षाकाश युते नवाङ्क सहिते च द्रस्य चाङ्केन व,
श्रीमद् राजवरस्य विक्रमरवे राज्यस्य वर्षाङ्कके।
मासि प्रौष्ठ पदे तथातिशुभदे पक्षे तु कृष्णे शुभे,
स्वीयार्थं तु विलेखिता व्रजयुता मोहन–नाम्ना तु वै।

भिन्न विषये शान्त शृङ्गारयो विरोध, एक विषये तु सुतरामेव विरोध ॥१३६॥

निर्वाणेति। उष्ट्रा यथा आम्र मुकुल विहाय कटु कषाय कण्टकितायां लता स्वादन्ति, तथा केचिद् भगवद् रूप गुण माधुर्य्यादिक विहाय निर्वाण रूप निम्बरस पिबन्ति, ते भव्या न रस विशेष विज्ञा। वय तु मदनेन मन्थरा या गोपाङ्गना नेत्राञ्जलि रूपा रसना तया चुलुकितमास्वादित तत एवावसित तासि॰ स्वीयत्वेन निश्चित यत् श्यामामृत तत् पिबाम ॥१३७॥

सदावाद निवासि श्रीविश्वनाथाख्य शमणा।
चक्रवर्तीति नाम्नेय कृताटीका सुबोधिनी ॥

इति सुबोधिन्या दशमकिरण ॥१०॥

इति समाप्तेयं श्रीमदलङ्कार कौस्तुभ टीका श्रीसुबोधिनी ॥

व्यक्ति निर्वाण रूप निम्बरस का ही सेवन करते हैं, वे भव्य वा रस विशेषविज्ञ नहीं हैं किन्तु मदन मन्थरा गोपललनावली की नयनाञ्जलि के द्वारा जो गण्डूषीकृत होकर निःशेषित हुआ है हम सब उस श्यामामृत पान से चरितार्थ होते हैं।

इस उदाहरण के पूर्वार्ध मे शान्त, एवं परार्ध मे शृङ्गार होने पर भी वह शुद्ध हुआ है। कारण, यहाँ शृङ्गार कर्त्तृक शान्तरस व्यककृत एवं शृङ्गार परिपुष्ट हुआ है।

पहले रसका जिस प्रकार लक्षण किया गया है उस मे उसको आनन्द स्वरूप कहा गया है। एवं उसके द्वारा यावतीय रस का ऐक्य ही प्रतिपादित हुआ है। सुतरां एक रस के सहित अपररस का विरोध

द्वितीयायां तिथौ भूयो भूमिपुत्रयुते दिने। श्रीमद्राधाकुण्डनीरदक्षिणदिशि वासिना।
भूदेवेन मया ह्यत्र श्रीमद्गोस्वामिख्यातिना। कौस्तुभाख्यमिदं रत्नं निर्मितं हस्तविद्यया।

श्लोक चतुष्टय लिपिकारमहोदयस्य
१६०२ तम विक्रमाब्दे लिखितेयं करलिपि ॥

कैसे सम्भव होगा ?

इस विषय में सिद्धान्त यह है कि-रसके सामग्री स्वरूप स्थायिभावादि को लेकर ही विरोध होता है। वस्तुत रस गत कोई विरोध नहीं है ॥१३६ १३७॥

इति श्रीकवि कर्णपूरकृतालङ्कार कौस्तुभे दोष प्रदर्शनोनाम दशम किरण ॥

वृन्दावननिवासि श्रीहरिदासाख्यशर्मणा
शास्त्रीतिख्यातनाम्नेयं कृता टीका विनोदिनी ॥

शकसवत्सरा १९०६। श्रीगौराङ्गाब्द ५०२



শ্রীশ্রীমদলঙ্কার-কৌস্তুভে চিত্রকবিত্বানি

মুরজবন্ধঃ

সসার সা সসারসাঽঽস-সার-সাস সারসা।
সসার সাসসার সা স সারসাস-সার সা॥

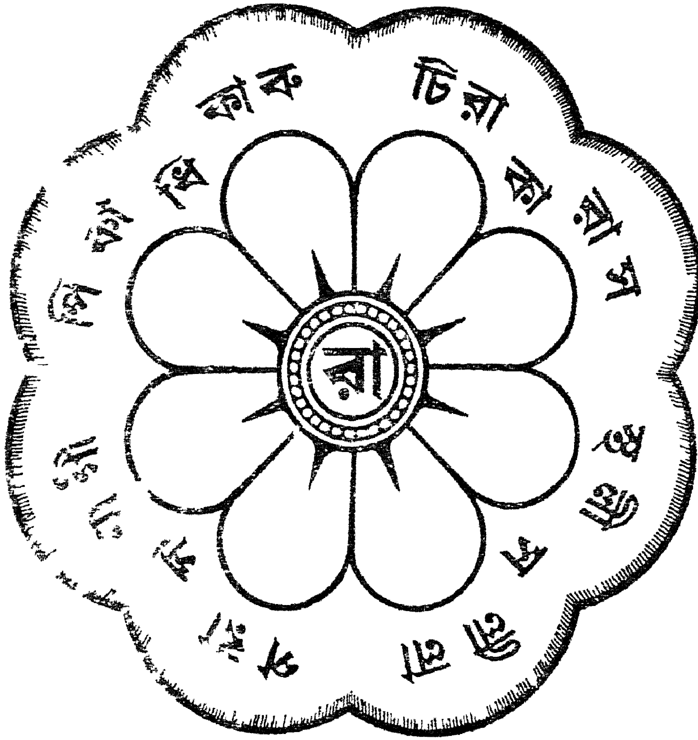
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম পৃষ্ঠে)

শঙ্খবন্ধঃ

ধেয়মাধুর্যমর্যাদা রাধা মাধবমার সা।
সারমাঽবধমাধারা ধেয়মাধুর্যসৌভগা॥

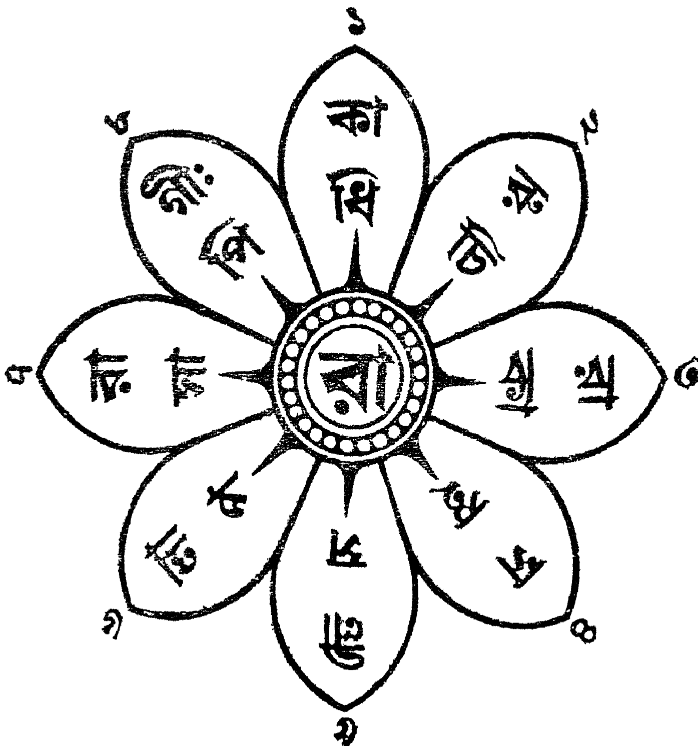
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম পৃষ্ঠে)

পদ্মবন্ধঃ



বাধিকা রুচিবাকাবা বাকাবাসম্প্লীসবা।
বাসলীলাপবা সাবাবাসাবা গী পিকাবিবা॥
(শ্রীমদা্ন ব কৌস্তুভে ৮৪তো পৃষ্ঠ

পদ্মবন্ধঃ



বাধিব। রুচিবাকা। বাকাবাসম্প্লীসবা।
বাসলীলাপবা সায়াবাসায়া গী পিকাধিবা॥
(শ্রীমদলঙ্কাবকৌস্তুভে ৮৪তম পৃষ্ঠে)

মহাসর্বতোভদ্রম্

সা	ধা(ং)	বা	শ্রী(ঃ)	শ্রী(ঃ)	বা	ধা(ং)	সা
ধা(ং)	মা	কা	মা	মা	কা	মা	ধা(ং)
বা	কা	ধী	মা	মা	ধী	কা	বা
শ্রী(ঃ)	মা	মা	নে	নে	মা	মা	শ্রী(ঃ)
শ্রী(ঃ)	মা	মা	নে	নে	মা	মা	শ্রী(ঃ)
বা	কা	ধী	মা	মা	ধী	কা	বা
ধা(ং)	মা	কা	মা	মা	কা	মা	ধা(ং)
সা	ধা(ং)	বা	শ্রী(ঃ)	শ্রী(ঃ)	বা	ধা(ং)	সা

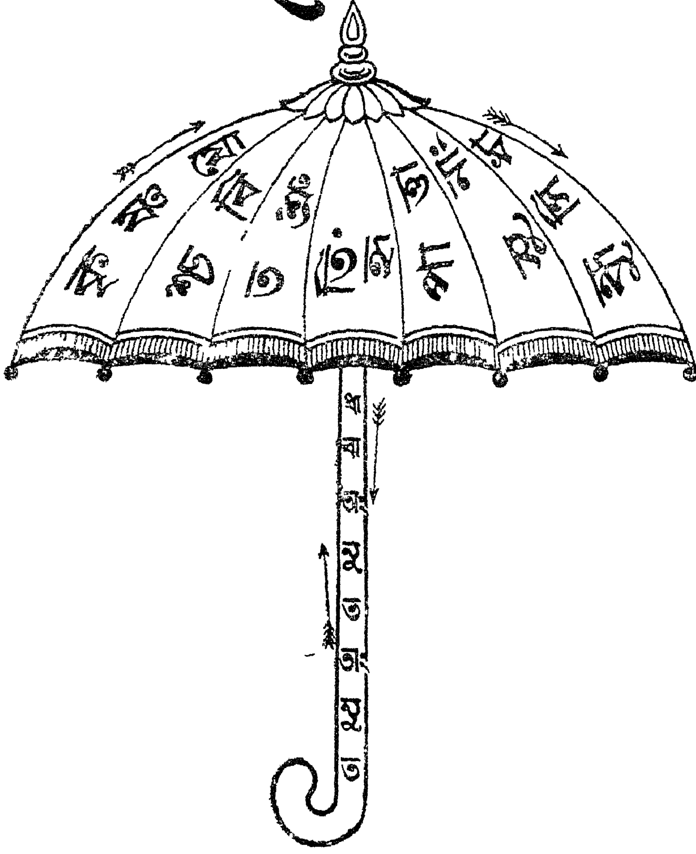
সাধাবাশ্রীঃ শ্রীবাধা সা।
ধামাকামা মা-কামাহধাং।
বাকা ধীমা মাহধীকাবা
শ্রীমা মানেনেমামাশ্রীঃ॥
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৮তম-পৃষ্ঠে)

সর্বতোভদ্রম্

ধা	বা	সা	র	ব	সা	রা	ধা
বা	স	লা	স্তু	স্তু	লা	স	বা
সা	লা	কা	ব	ব	কা	লা	সা
ব	স্তু	র	স্তু	স্তু	র	স্তু	ব
র	স্তু	ব	স্তু	স্তু	ব	স্তু	র
সা	লা	কা	ব	ব	কা	লা	সা
বা	স	লা	স্তু	স্তু	লা	স	বা
ধা	বা	সা	ব	ব	সা	বা	ধা

ধারাহসাবরসা বাধা বাসলাস্তুস্তু লাসবা।
সালাকাব বকালাসা বস্তু-রস্তুস্তু বস্তুর॥
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৩তম-পৃষ্ঠে)

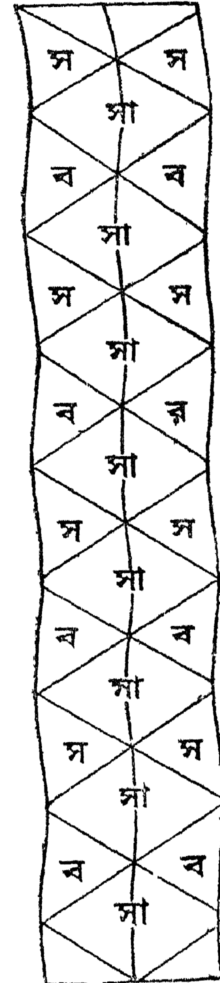
ছত্রবন্ধঃ



ভন্মুতা৲ তন্মুতা৲ রাধাকৃষ্ণয়োশ্চবিতশ্রুতি ।
স্বত্বাপানা৲ সুধাসিন্ধুধাবা তা৲ নু তভা৲ নুত ॥

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম পৃষ্ঠে)

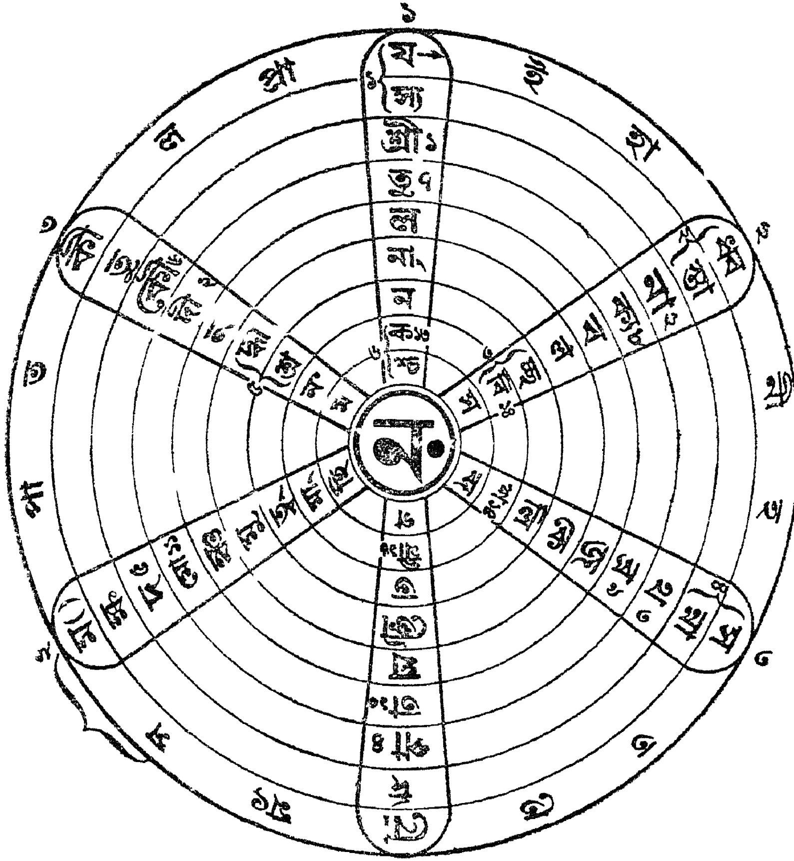
গোমূত্রিকাবন্ধঃ



সসার সা সসারসাহহস-সার-সাস-সারসা ।
সসার সাসসার সা স সারসাস সার সা ॥

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪তম পৃষ্ঠে)

চক্রবন্ধঃ



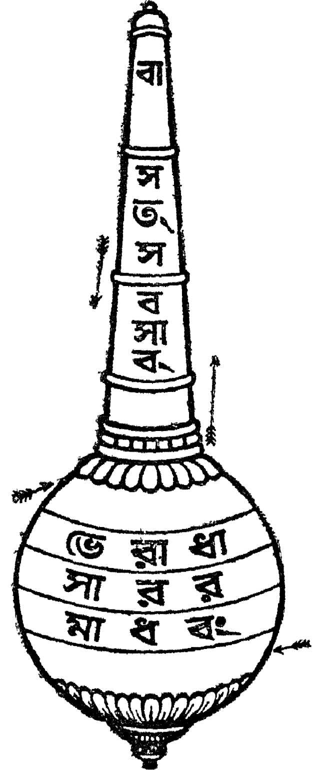
যস্য শ্রীতনশা, ন কশ্চন গগী ভক্তৌঘতাপার্দনো
ধ্বস্তানাক্যবলচ্ছবি স ন হি মা, ত্বং মুঞ্চ মোদক্ষম।
সন্নাথ ব্রজকেলিশঙ্কনমন শ্রদ্ধানন্দী কৌতুকী
কীলপ্রায় ইহাধ্বনীহ সততে নো মৎসম পাতকী ॥

অত্র—

শ্রীনাথপাদকৌতুক্যব্রতামোদী কবি শর্মী।
যস্য ধ্বস্তাহচ্ছবি সন্নাহশ্রদ্ধা কশ্চন মৎসম ॥

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তভে ৮৪তম পৃষ্ঠে)

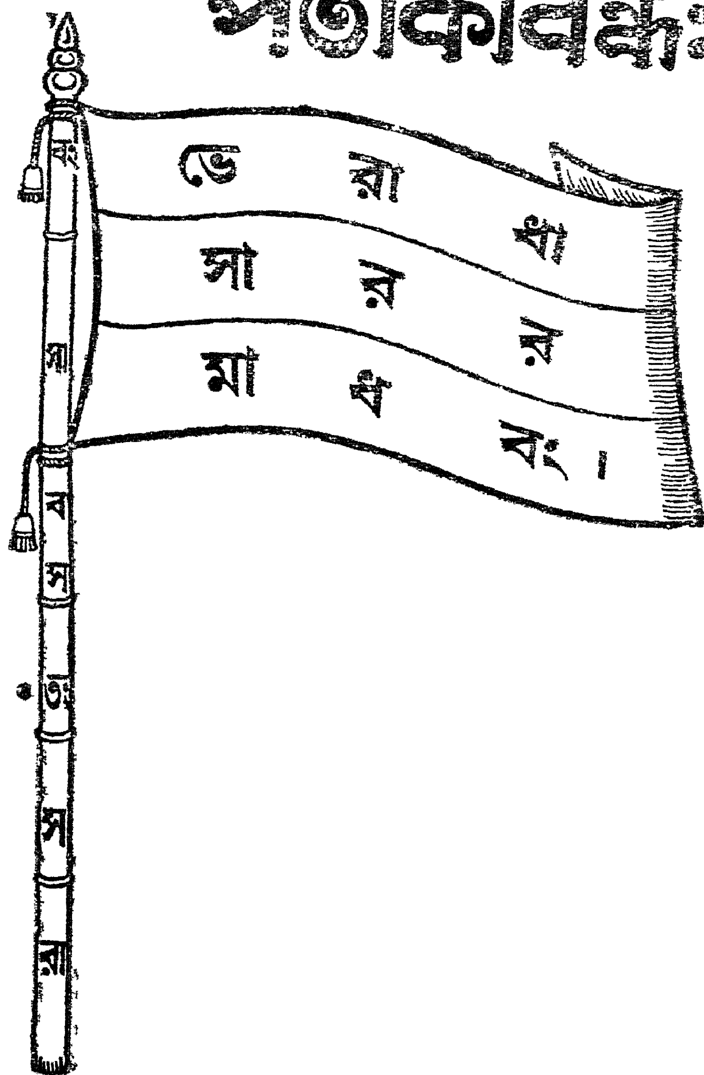
গদাবন্ধঃ



রাসতংসবসাবক্তে রাধা সাররমাধবম্।
ভজমার-বসাধারাভেহর, সারসত,সবা ॥

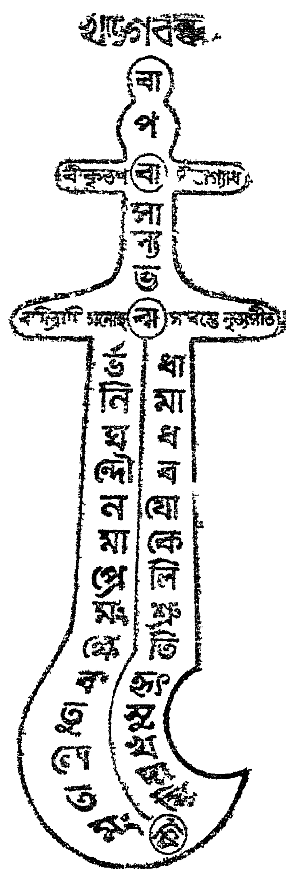
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তভে ৮৪তম-পৃষ্ঠে)

পতাকাবন্ধঃ



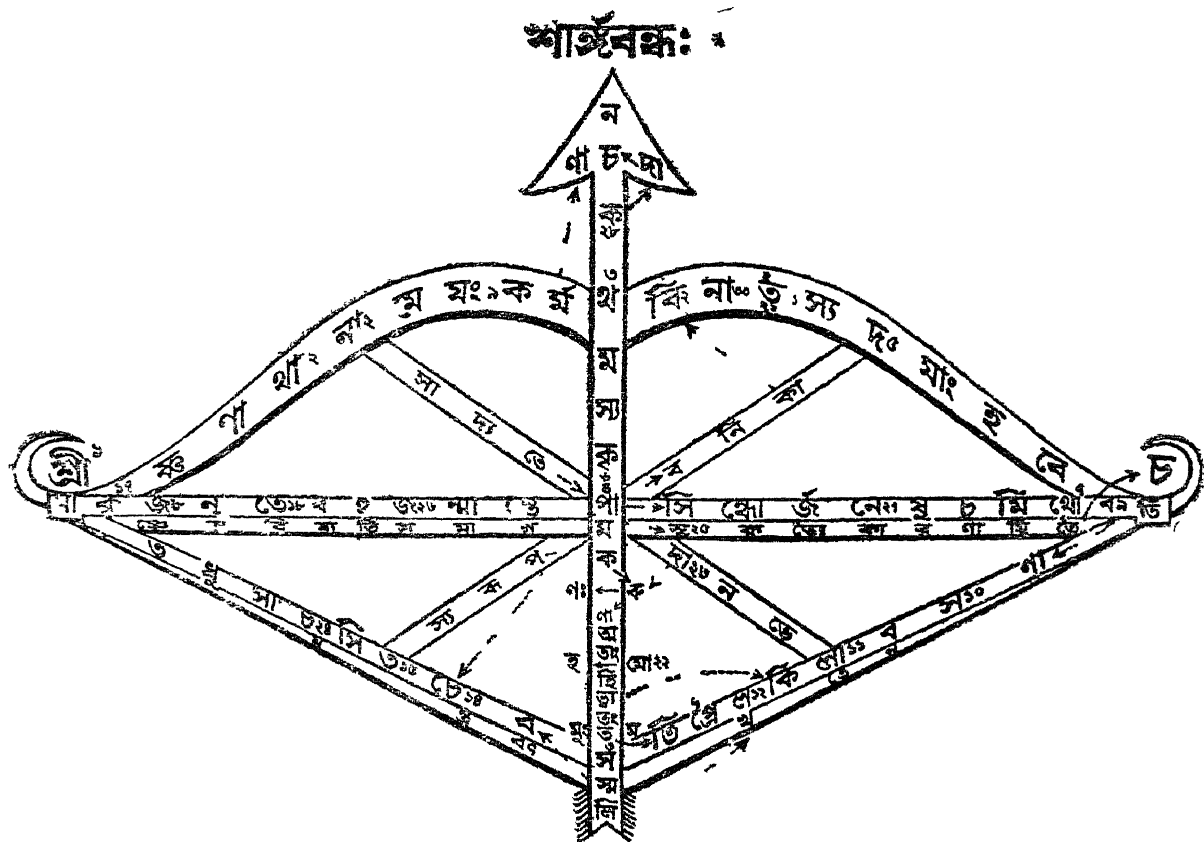
রাসভংসরসারম্ভে রাধা সারবমাধবম্ ।
বন্ধমার রসাধারাভেহরং সারসভংসরা ॥
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তভে ৮৪তম পৃষ্ঠে)

খড়্গবন্ধঃ



রাধামাধবযোঃ কেলিঃ প্রতিষ্ঠং সুখদায়িকা ।
কামং তনোতু বঃ ক্ষেমং প্রেমানন্দৌঘনির্ভরা ॥
রাসারম্ভে নৃত্য-গীত-বাদিত্রাদি মনোহরা ।
রাতস্যসারা সৌভাগ্যাহধরীকৃতপরাহপরা ॥
(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তভে ৮৪তম পৃষ্ঠে)

শার্ঙ্গবন্ধঃ *



শ্রীকৃষ্ণগাথা নাশ্যেয়ং কর্ম্মণা চ কদাচন। নাসাদ্যতে পাবনিকা বিনা তস্য দয়াং হরেঃ ॥
কথমস্ত কৃপা সিন্ধোর্জনেষু চ মিথো বতি । জন্যতে বহুজন্মান্তে সুকৃতৈঃ কারণান্বিতৈঃ ॥
চরণাসবলাভেন মাক্রুণং বরুণাত্মতাম্। মোহং হিত্বা কিল চৈপ্রেতি তমস্মু সততং স্মর ॥
তস্য রূপং চেতসি চ মন্ত্রবৎ সততং লিখ। তেন সাধুতয়া কৃষ্ণে ভবিষ্যতি সমাগম ॥

এষু—

শ্রীনাথপাদপাথোজ রসলালস চেতসা। কৃতেয়ং ভক্তমোদা চ সুজনে কবিনাস্তথা ॥

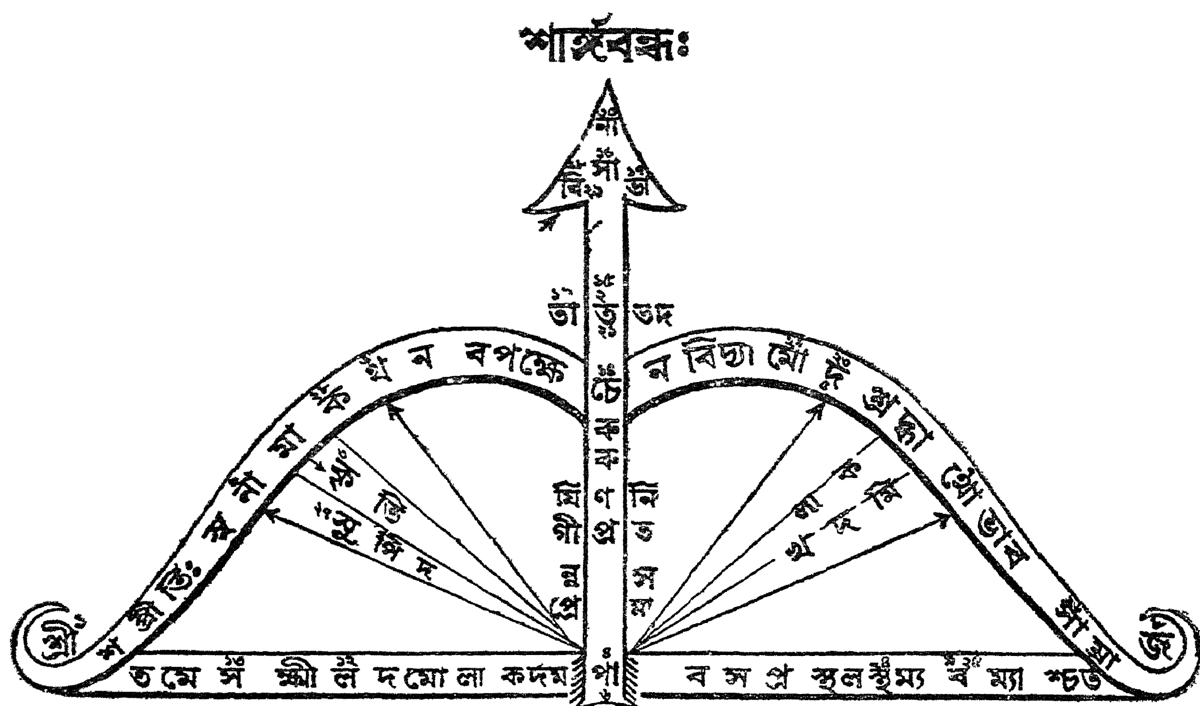
ইতি শ্লোকাত্তরম

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তভে ৮৪তম পৃষ্ঠে)

---

* শার্ঙ্গবন্ধোঽয়ং ভট্টপল্লীবাস্তব্যেন পণ্ডিতপ্রবরেণ এম্ এ ন্যায়তীর্থোপাধ্যায়েন শ্রীজীবদেবশর্ম্মণা রেখাভিরক্ষর বিন্যাসৈশ্চ সমুট্টঙ্কিত তদনুজ্ঞ সৌজন্যেন চ মুদ্রিত ।

শার্ঙ্গবন্ধঃ



শ্রীশপ্রীতিঃ স্বনামাকৃতি কথনবিনাভাব-পক্ষে ন বিস্থা-
হহমোদশ্রদ্ধাকলাপাদপি সুখদমিথোভাব-সাম্রাজতশ্চ।
রম্যা রম্যস্থলস্থ-প্রসরমদকলামোদ-লক্ষ্মী সমেত-
প্রেমাসম্ম প্রগীত-প্রণয়িনি রুরুচে তাত তদৃষ্টা বিসাভা॥

অত্র চ—

শ্রীনাথপাদপাথোজ-রসলালসচেতসা।
ভাবিতা তত্তমোদস্থরসা সুকবিনা কৃতিঃ॥

ইতি শ্লোকান্তরম্।

(শ্রীমদলঙ্কারকৌস্তুভে ৮৪ ৮৫তম পৃষ্ঠয়ো)

---

* শার্ঙ্গবন্ধোহয়ং ভট্টপল্লীবাস্তব্যেন পণ্ডিতপ্রবরেণ এম্ এ ন্যায়তীর্থোপাহ্বয়েন শ্রীজীব দেবশর্ম্মণা রেখাভিরক্ষর বিন্যাসৈশ্চ সমুট্টঙ্কিত তদনুজ্ঞয়া সৌজন্যেন চ মুদ্রিত ;

